कल्याण
मत्स्यपुराणाङ्क
उत्तरार्ध
वर्ष ५६
संख्या १

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१–'कल्याण'के ५९वें वर्ष (सन् १९८५ ई०)का यह विशेषाङ्क 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्ध) पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें अध्याय १३३ से २२७ के कुछ अंश तककी विषय-सामग्री, क्षमा-प्रार्थना और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि हैं। प्रसङ्गानुसार कई बहुरंगे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं। विशेषाङ्कके इस सीमित कलेवरमें 'मत्स्यपुराण'का सम्पूर्ण उत्तर भाग (मूल एवं अनुवादसहित) समायोजित न हो सकनेके कारण शेषांश—अध्याय २२७ (अपूर्ण) से आगेकी पूर्णसामग्री 'कल्याण' के आगामी कतिपय साधारण अङ्कों (अनुमानतः फरवरी ८५ से मई ८५ तक)में क्रमशः प्रकाशित करनेकी योजना है। सम्पूर्ण ग्रन्थके प्रकाशनकी सम्पन्नताके पश्चात् 'कल्याण'के शेष प्रकाश्य साधारण (मासिक) अङ्कोंमें 'कल्याण'की रीति-नीति और परम्पराके अनुसार विशेषाङ्कसे सम्बद्ध अथवा विषयान्तरित (स्वतन्त्र) आध्यात्मिक सामयिक उद्बोधक लेख तथा रचनाएँ क्रमशः पूर्ववत् प्रकाशित होती रहेंगी।

२–जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके साधारण अङ्कके साथ रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जा रहा है। जिनके रुपये प्राप्त नहीं हुए हैं, उनको विशेषाङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार २७.०० (सत्ताईस)रुपये की वी०पी०पी०से भेजा जा सकता है। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी०पी०पी०द्वारा विशेषाङ्कके भेजनेमें डाकखर्च ३.०० रुपये अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वी०पी०पी० की प्रतीक्षा न कर वार्षिक शुल्क-राशि २४.००(चौबीस) रुपयेमात्र कृपया मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। इससे उनकी तीन रुपयोंकी बचत होगी।

३–सभी ग्राहकोंको मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये। ऐसा न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामें 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्ध) नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी०पी०पी० भी यहाँसे जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप शुल्क-राशि मनीआर्डरसे भेज दें और उसके यहाँ पहुँचनेके पहले ही आपको इधरसे वी०पी०पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया वी०पी०पी० लौटायें नहीं; अपितु प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर वी०पी०पी०से भेजे गये 'कल्याण'के अङ्क उन्हें दे दें और उनका नाम तथा पूरा पता सुस्पष्ट, सुवाच्य अक्षरोंमें लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

४–विशेषाङ्क–'मत्स्यपुराणाङ्क'का यह उत्तर भाग यद्यपि ग्राहकोंकी सेवामें (शीघ्र और सुरक्षित मिलनेकी दृष्टिसे) रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है, तथापि यथाशक्य तत्परता और शीघ्रता करनेपर भी ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार सभी ग्राहकोंको अङ्क भेजनेमें लगभग ६-७ सप्ताहका समय तो लग ही सकता है। अतः कुछ ग्राहक महानुभावोंको यदि अङ्क विलम्बसे मिले तो वे अपरिहार्य परिस्थिति समझकर कृपया हमें क्षमा करेंगे।

५–आपके विशेषाङ्कके लिफाफे (या रैपर) पर आपकी ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, जिसे कृपया खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी०पी०पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार इनके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार करनेपर कार्यकी सम्पन्नतामें सुविधा और शीघ्रता होगी एवं व्यर्थमें शक्ति तथा समय नष्ट होनेसे बचेगा।

६–'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' एवं गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागको अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि पृथक्-पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५(उ०प्र०)भी लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५ (उ० प्र०)

म० पु० अं० क्र०—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक—दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है, अतः धर्म-प्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग पचास हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम—२४९,२०४, (वाया—ऋषिकेश) जिला-पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्-परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३७वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। इसका कोई सदस्यता-शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसे डाक-टिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये।

पता—संयोजक-'साधक-संघ' द्वारा 'कल्याण-सम्पादकीय-विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षाकेन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय-स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया—ऋषिकेश) जिला—पौड़ी गढ़वाल (उ०प्र०)

मत्स्यमहापुराणाङ्क (उत्तरार्ध) की विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

(बहुरंगे-चित्र)

(सादा चित्र)

उपदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, जनवरी १९८५ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६९०

शिव-पार्वतीका ध्यान

क्षोणी यस्य रथो रथाङ्गयुगलं चन्द्रार्कबिम्बद्वयं
कोदण्डः कनकाचलो हरिरभूद् बाणो विधिः सारथिः ।
तूणीरो जलधिर्हयाः श्रुतिचयो मौर्वी भुजङ्गाधिप-
स्तस्मिन् मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥

'(त्रिपुरदाहके समय) जिनके लिये पृथ्वी रथ, चन्द्रमा और सूर्य—ये दोनों उस रथके दोनों पहिये, सुमेरुगिरि धनुष, भगवान् विष्णु बाण, ब्रह्मा सारथि, समुद्र तूणीर, चारों वेद घोडे और वासुकिनाग प्रत्यञ्चा बने, उन परब्रह्मस्वरूप पार्वतीसहित परमेश्वरमें मेरा हृदय सुखपूर्वक रमण करता रहे ।'

मनुद्वारा भगवान् मत्स्यका स्तवन

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च। यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः॥

मनुने कहा—आपने जो एक ही दिनमें चार सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको घेर लिया—ऐसे पराक्रमी जलचर जीवको तो हमने न कभी देखा था और न सुना ही था।

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः। अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम्॥

अवश्य ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं। आपने जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये जलचरका रूप धारण किया है।

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर। भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो॥

पुरुषोत्तम! आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है। विभो! आप हम शरणागत भक्तोंके लिये आत्मा और आश्रय हैं।

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः। ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम्॥

यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि आपने यह रूप जिस उद्देश्यसे धारण किया है, उसे मैं जानना चाहता हूँ।

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद् वपुरद्भुतं हि नः॥

कमलनयन प्रभो! जैसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें अपनेपनका अभिमान करनेवाले संसारी पुरुषोंका आश्रय व्यर्थ होता है, वैसे आपके चरणोंकी शरण तो व्यर्थ हो नहीं सकती; क्योंकि आप सबके प्रेमी, परम प्रियतम और आत्मा हैं। आपने इस समय हमलोगोंको जो शरीर दिखलाया है, वह बड़ा ही अद्भुत है।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥

प्रलयकालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी सो गये थे और उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय दैत्य हयग्रीवने उनके मुखसे निकली हुई श्रुतियोंका अपहरण कर लिया था, तब जिन्होंने उसे मारकर उन श्रुतियोंको ब्रह्माजीको लौटाया तथा सत्यव्रत और सप्तर्षियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश दिया, उन समस्त जगत्के कारणभूत लीलामत्स्य भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ।

(संकलित—श्रीमद्भा० ८। २४। २६–३०, ६१)

एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय

त्रिपुर-विध्वंसार्थ शिवजीके विचित्र रथका निर्माण और देवताओंके साथ उनका युद्धके लिये प्रस्थान

सूत उवाच

ब्रह्माद्यैः स्तूयमानस्तु देवैर्देवो महेश्वरः। प्रजापतिमुवाचेदं देवानां क्व भयं महत्॥ १ ॥
भो देवाः स्वागतं वोऽस्तु ब्रूत यद् वो मनोगतम्। तावदेव प्रयच्छामि नास्त्यदेयं मया हि वः॥ २ ॥
युष्माकं नितरां शं वै कर्ताहं विबुधर्षभाः। चरामि महदत्युग्रं यच्चापि परमं तपः॥ ३ ॥
विद्विष्टा वो मम द्विष्टाः कष्टाः कष्टपराक्रमाः। तेषामभावः सम्पाद्यो युष्माकं भव एव च॥ ४ ॥
एवमुक्तास्तु देवेन प्रेम्णा सब्रह्मकाः सुराः। रुद्रमाहुर्महाभागं भागार्हाः सर्व एव ते॥ ५ ॥
भगवंस्तैस्तपस्तप्तं रौद्रं रौद्रपराक्रमैः। असुरैर्वध्यमानाः स्म वयं त्वां शरणं गताः॥ ६ ॥
मयो नाम दितेः पुत्रस्त्रिनेत्र कलहप्रियः। त्रिपुरं येन तद्दुर्गं कृतं पाण्डुरगोपुरम्॥ ७ ॥
तदाश्रित्य पुरं दुर्गं दानवा वरनिर्भयाः। बाधन्तेऽस्मान् महादेव प्रेष्यमस्वामिनं यथा॥ ८ ॥
उद्यानानि च भग्नानि नन्दनादीनि यानि च। वराश्चाप्सरसः सर्वा रम्भाद्या दनुजैर्हृताः॥ ९ ॥
इन्द्रस्य वाह्याश्च गजाः कुमुदाञ्जनवामनाः। ऐरावताद्यापहृता देवतानां महेश्वर॥ १० ॥
ये चेन्द्ररथमुख्याश्च हरयोऽपहृतासुरैः। जाताश्च दानवानां ते रथयोग्यास्तुरंगमाः॥ ११ ॥
ये रथा ये गजाश्चैव याः स्त्रियो वसु यच्च नः। तन्नो व्यपहृतं दैत्यैः संशयो जीविते पुनः॥ १२ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! ब्रह्मा आदि देवताओं-द्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर देवाधिदेव महेश्वरने प्रजापति ब्रह्मासे यह कहा—'अरे! आप देवताओंको यह महान् भय कहाँसे आया? देवगण! आपलोगोंका स्वागत है। आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा हो, उसे कहिये। मैं उसे अवश्य प्रदान करूँगा; क्योंकि आपलोगोंके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है। श्रेष्ठ देवगण! मैं सदा आपलोगोंका कल्याण ही करता रहता हूँ। यहाँतक कि जो महान्, अत्यन्त उग्र एवं घोर तप करता हूँ, वह भी आपलोगोंके लिये ही करता हूँ। जो आपलोगोंसे विद्वेष करते हैं, वे मेरे भी घोर शत्रु हैं। इसलिये जो आपलोगोंको कष्ट देनेवाले हैं, वे कितने ही घोर पराक्रमी क्यों न हों, मुझे उनका अन्त और आपका श्रेयः सम्पादन करना है।' महादेवजीद्वारा प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित समस्त भाग्यशाली देवताओंने महाभाग शंकरजीसे कहा—'भगवन्! भयंकर पराक्रमी उन असुरोंने अत्यन्त भीषण तप किया है, जिसके प्रभावसे वे हमें कष्ट दे रहे हैं। इसलिये हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। त्रिलोचन! (आप तो जानते ही हैं) दितिका पुत्र मय स्वभावतः कलहप्रिय है। उसने ही पीले रंगके फाटकवाले उस त्रिपुर नामक दुर्गका निर्माण किया है। उस त्रिपुरदुर्गका आश्रय लेकर दानव वरदानके प्रभावसे निर्भय हो गये हैं। महादेव! वे हमलोगोंको इस प्रकार कष्ट दे रहे हैं, मानो अनाथ नौकर हों। उन दानवोंने नन्दन आदि जितने उद्यान थे, उन सबको विनष्ट कर दिया तथा रम्भा आदि सभी श्रेष्ठ अप्सराओंका अपहरण कर लिया। महेश्वर! वे इन्द्रके वाहन तथा दिशा-गज कुमुद, अञ्जन, वामन और ऐरावत आदि गजेन्द्रोंको भी छीन ले गये। इन्द्रके रथमें जुतनेवाले जो मुख्य अश्व थे, उन्हें भी वे असुर हरण कर ले गये और अब वे घोड़े दानवोंके रथमें जोते जाते हैं। (कहाँतक कहें) हमलोगोंके पास जितने रथ, जितने हाथी, जितनी स्त्रियाँ और जो कुछ भी धन था, हमारा वह सब दैत्योंने अपहरण कर लिया है और अब हमलोगोंके जीवनमें भी संदेह उत्पन्न हो गया है' ॥ १—१२ ॥

त्रिनेत्र एवमुक्तस्तु देवैः शक्रपुरोगमैः। उवाच देवान् देवेशो वरदो वृषवाहनः॥ १३॥
व्यपगच्छतु वो देवा महद् दानवजं भयम्। तदहं त्रिपुरं धक्ष्ये क्रियतां यद् ब्रवीमि तत्॥ १४॥
यदीच्छथ मया दग्धुं तत्पुरं सहदानवम्। रथमौपयिकं मह्यं सज्जयध्वं किमास्यते॥ १५॥
दिग्वाससा तथोक्तास्ते सपितामहकाः सुराः। तथेत्युक्त्वा महादेवं चक्रुस्ते रथमुत्तमम्॥ १६॥
धरां कूबरकौ द्वौ तु रुद्रपार्श्वचरावुभौ। अधिष्ठानं शिरो मेरोरक्षो मन्दर एव च॥ १७॥
चक्रुश्चन्द्रं च सूर्यं च चक्रं काञ्चनराजते। कृष्णपक्षं शुक्लपक्षं पक्षद्वयमपीश्वराः॥ १८॥
रथनेमिद्वयं चक्रुर्देवा ब्रह्मपुरःसराः। आदिद्वयं पक्षयन्त्रं यन्त्रमेताश्च देवताः॥ १९॥
कम्बलाश्वतराभ्यां च नागाभ्यां समवेष्टितम्। भार्गवश्चाङ्गिराश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च॥ २०॥
शनैश्चरस्तथा चात्र सर्वे ते देवसत्तमाः। वरूथं गगनं चक्रुश्चारुरूपं रथस्य ते॥ २१॥
कृतं द्विजिह्वनयनं त्रिवेणुं शातकौम्भिकम्। मणिमुक्तेन्द्रनीलैश्च वृतं ह्यष्टमुखैः सुरैः॥ २२॥

इन्द्र आदि देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर त्रिनेत्रधारी, वरदायक, वृषवाहन, देवेश्वर शंकरने देवताओंसे कहा—'देवगण! अब आपलोगोंका दानवोंसे उत्पन्न हुआ महान् भय दूर हो जाना चाहिये। मैं उस त्रिपुरको जला डालूँगा, किंतु मैं जो कह रहा हूँ, वैसा उपाय कीजिये। यदि आपलोग मेरेद्वारा दानवोंसहित उस त्रिपुरको जला देनेकी इच्छा रखते हैं तो मेरे लिये समस्त साधनोंसे सम्पन्न एक रथ सुसज्जित कीजिये। अब देर मत कीजिये।' दिग्वासा शंकरजीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित उन देवताओंने महादेवजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर तो वे एक उत्तम रथका निर्माण करनेमें लग गये। उन्होंने पृथ्वीको रथ, रुद्रके दो पार्श्वचरोंको, दोनों कूबर मेरुको रथका शिरःस्थान और मन्दरको धुरा बनाया। सूर्य और चन्द्रमा रथके सोने-चाँदीके दोनों पहिये बनाये गये। ब्रह्मा आदि ऐश्वर्यशाली देवोंने शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—दोनोंसे रथकी दोनों नेमियाँ बनायीं। देवताओंने कम्बल और अश्वतर नामक नागोंसे परिवेष्टित कर दोनों बगलके पक्ष-यन्त्र बनाये। शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल तथा शनैश्चर—ये सभी देवश्रेष्ठ उसपर विराजित हुए। उन देवताओंने गगन-मण्डलको रथका सौन्दर्यशाली वरूथ बनाया। सर्पोंके नेत्रोंसे उसका त्रिवेणु बनाया गया, जो सुवर्ण-सा चमक रहा था। वह मणि, मुक्ता और इन्द्रनील मणिके समान आठ प्रधान देवताओंसे घिरा था॥ १३—२२॥

गङ्गा सिन्धुः शतद्रुश्च चन्द्रभागा इरावती। वितस्ता च विपाशा च यमुना गण्डकी तथा॥ २३॥
सरस्वती देविका च तथा च सरयूरपि। एताः सरिद्वराः सर्वा वेणुसंज्ञा कृता रथे॥ २४॥
धृतराष्ट्राश्च ये नागास्ते च रश्म्यात्मकाः कृताः। वासुकेः कुलजा ये च ये च रैवतवंशजाः॥ २५॥
ते सर्पा दर्पसम्पूर्णाश्चापतूणेष्वनूनगाः। अवतस्थुः शरा भूत्वा नानाजातिशुभाननाः॥ २६॥
सुरसा सरमा कद्रूर्विनता शुचिरेव च। तृषा बुभुक्षा सर्वोग्रा मृत्युः सर्वशमस्तथा॥ २७॥
ब्रह्मवध्या च गोवध्या बालवध्या प्रजाभयाः। गदा भूत्वा शक्तयश्च तदा देवरथेऽभ्ययुः॥ २८॥
युगं कृतयुगं चात्र चातुर्होत्रप्रयोजकाः। चतुर्वर्णाः सलीलाश्च बभूवुः स्वर्णकुण्डलाः॥ २९॥
तद्युगं युगसंकाशं रथशीर्षे प्रतिष्ठितम्। धृतराष्ट्रेण नागेन बद्धं बलवता महत्॥ ३०॥
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदस्तथापरः। वेदाश्चत्वार एवैते चत्वारस्तुरगाऽभवन्॥ ३१॥
अन्नदानपुरोगाणि यानि दानानि कानिचित्। तान्यासन् वाजिनां तेषां भूषणानि सहस्रशः॥ ३२॥

पद्मद्वयं तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ। नागा बभूवुरेवैते हयानां वालबन्धनाः ॥ ३३ ॥
ओङ्कारप्रभवास्ता वा मन्त्रयज्ञक्रतुक्रियाः। उपद्रवाः प्रतीकाराः पशुबन्धेष्टयस्तथा ॥ ३४ ॥
यज्ञोपवाहान्येतानि तस्मिँल्लोकरथे शुभे। मणिमुक्ताप्रवालैस्तु भूषितानि सहस्रशः ॥ ३५ ॥
प्रतोदोङ्कार एवासीत्तदग्रं च वषट्कृतम्। सिनीवाली कुहू राका तथा चानुमतिः शुभा ॥ ३६ ॥
योक्त्राण्यासंस्तुरङ्गाणामपसर्पणविग्रहाः ॥ ३७ ॥
कृष्णान्यथ च पीतानि श्वेतमाञ्जिष्ठकानि च। अवदाताः पताकास्तु बभूवुः पवनेरिताः ॥ ३८ ॥
ऋतुभिश्च कृतः षड्भिर्धनुः संवत्सरोऽभवत्। अजरा ज्याभवच्चापि साम्बिका धनुषो दृढा ॥ ३९ ॥
कालो हि भगवान् रुद्रस्तं च संवत्सरं विदुः। तस्मादुमा कालरात्रिर्धनुषो ज्याजराभवत् ॥ ४० ॥
सगर्भं त्रिपुरं येन दग्धवान् स त्रिलोचनः। स इषुर्विष्णुसोमाग्नित्रिदैवतमयोऽभवत् ॥ ४१ ॥
आननं ह्यग्निरभवच्छल्यं सोमस्तमोनुदः। तेजसः समवायोऽथ चेषोस्तेजो रथाङ्गधृक् ॥ ४२ ॥
तस्मिंश्च वीर्यवृद्ध्यर्थं वासुकिर्नागपार्थिवः। तेजः संवसनार्थं वै मुमोचातिविषो विषम् ॥ ४३ ॥

गङ्गा, सिन्धु, शतद्रु, चन्द्रभागा, इरावती, वितस्ता, विपाशा, यमुना, गण्डकी, सरस्वती, देविका तथा सरयू—इन सभी श्रेष्ठ नदियोंको उस रथमें वेणुस्थानपर नियुक्त किया गया। धृतराष्ट्रके वंशमें उत्पन्न होनेवाले जो नाग थे, वे बाँधनेके लिये रस्सी बने हुए थे। जो वासुकि और रैवतके वंशमें उत्पन्न होनेवाले नाग थे, वे सभी दर्पसे पूर्ण और शीघ्रगामी होनेके कारण नाना प्रकारके सुन्दर मुखवाले बाण बनकर धनुषके तरकसोंमें अवस्थित हुए। सबसे उग्र स्वभाववाली सुरसा, देवशुनी, सरमा, कद्रू, विनता, शुचि, तृषा, बुभुक्षा तथा सबका शमन करनेवाली मृत्यु, ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या और प्रजाभय—ये सभी उस समय गदा और शक्तिका रूप धारण कर उस देवरथमें उपस्थित हुईं। कृतयुगका जूआ बनाया गया। चातुर्होत्र यज्ञके प्रयोजक लीलासहित चारों वर्ण स्वर्णमय कुण्डल हुए। उस युग-सदृश जूएको रथके शीर्षस्थानपर रखा गया और उसे बलवान् धृतराष्ट्र नागद्वारा कसकर बाँध दिया गया। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये चारों वेद चार घोड़े हुए। अन्नदान आदि जितने प्रमुख दान हैं, वे सभी उन घोड़ोंके हजारों प्रकारके आभूषण बने। पद्मद्वय, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय—ये नाग उन घोड़ोके बाल बाँधनेके लिये रस्सी हुए। ओंकारसे उत्पन्न होनेवाली मन्त्र, यज्ञ और क्रतुरूप क्रियाएँ, उपद्रव, उनकी शान्तिके लिये प्रायश्चित्त, पशुबन्ध आदि इष्टियाँ, यज्ञोपवीत आदि संस्कार—ये सभी उस सुन्दर लोकरथमें शोभा-वृद्धिके लिये मणि, मुक्ता और मूँगेके रूपमें उपस्थित हुए। ओंकारका चाबुक बना और वषट्कार उसका अग्रभाग हुआ। सिनीवाली (चतुर्दशीय अमा), कुहू (अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवी), राका (शुद्ध पूर्णिमा तिथि) तथा शुभदायिनी अनुमति (प्रतिपद्युक्ता पूर्णिमा)—ये सभी घोड़ोंको रथमें जोतनेके लिये रस्सियाँ और बागडोर बनीं। उसमें काले, पीले, श्वेत और लाल रंगकी निर्मल पताकाएँ लगी थीं, जो वायुके वेगसे फहरा रही थीं। छहो ऋतुओंसहित संवत्सरका धनुष बनाया गया। अम्बिकादेवी उस धनुषकी कभी जीर्ण न होनेवाली सुदृढ़ प्रत्यञ्चा हुईं। भगवान् रुद्र कालस्वरूप हैं। उन्हींको संवत्सर कहा जाता है, इसी कारण अम्बिकादेवी कालरात्रिरूपसे उस धनुषकी कभी न कटनेवाली प्रत्यञ्चा बनीं। त्रिलोचन भगवान् शंकर जिस बाणसे अन्तर्भागसहित त्रिपुरको जलानेवाले थे, वह श्रेष्ठ बाण विष्णु, सोम, अग्नि—इन तीनों देवताओंके संयुक्त तेजसे निर्मित हुआ था। उस बाणका मुख अग्नि और फाल अन्धकारविनाशक चन्द्रमा थे। चक्रधारी विष्णुका तेज समूचे बाणमें व्याप्त था। इस

प्रकार वह बाण तेजका समन्वित रूप था। उस बाणपर स्थिरताके लिये अत्यन्त उग्र विष उगल दिया था नागराज वासुकिने उसके पराक्रमकी वृद्धि एवं तेजकी ॥ २३—४३ ॥

कृत्वा देवा रथं चापि दिव्यं दिव्यप्रभावतः। लोकाधिपतिमभ्येत्य इदं वचनमब्रुवन् ॥ ४४ ॥
संस्कृतोऽयं रथोऽस्माभिस्तव दानवशत्रुजित्। इदमापत्परित्राणं देवान् सेन्द्रपुरोगमान् ॥ ४५ ॥
तं मेरुशिखराकारं त्रैलोक्यरथमुत्तमम्। प्रशस्य देवान् साध्विति रथं पश्यति शंकरः ॥ ४६ ॥
मुहुर्दृष्ट्वा रथं साधु साध्वित्युक्त्वा मुहुर्मुहुः। उवाच सेन्द्रानमरानमराधिपतिः स्वयम् ॥ ४७ ॥
यादृशोऽयं रथः क्लृप्तो युष्माभिर्मम सत्तमाः। ईदृशो रथसम्पत्त्या यन्ता शीघ्रं विधीयताम् ॥ ४८ ॥
इत्युक्ता देवदेवेन देवा विद्धा इवेषुभिः। अवापुर्महतीं चिन्तां कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ४९ ॥
महादेवस्य देवोऽन्यः को नाम सदृशो भवेत्। मुक्त्वा चक्रायुधं देवं सोऽप्यस्येषु समाश्रितः ॥ ५० ॥
धुरि युक्ता इवोक्षाणो घट्टन्त इव पर्वतैः। निःश्वसन्तः सुराः सर्वे कथमेतद्भिति ब्रुवन् ॥ ५१ ॥
देवेष्वाह देवदेवो लोकनाथस्य धूर्गतान्। अहं सारथिरित्युक्त्वा जग्राहाश्वांस्ततोऽग्रजः ॥ ५२ ॥
ततो देवैः सगन्धर्वैः सिंहनादो महान् कृतः। प्रतोदहस्तं सम्प्रेक्ष्य ब्रह्माणं सूततां गतम् ॥ ५३ ॥
भगवानपि विश्वेशो रथस्थे वै पितामहे। सदृशः सूत इत्युक्त्वा चारुरोह रथं हरः ॥ ५४ ॥
आरोहति रथं देवे ह्यश्वा हरभरातुराः। जानुभिः पतिता भूमौ रजोग्रासश्च ग्रासितः ॥ ५५ ॥
देवो दृष्ट्वाथ वेदांस्तानभीरुग्रहयान् भयात्। उज्जहार पितॄनार्तान् सुपुत्र इव दुःखितान् ॥ ५६ ॥
ततः सिंहरवो भूयो बभूव रथभैरवः। जयशब्दश्च देवानां सम्बभूवार्णवोपमः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार देवगण दिव्य प्रभावसे उस दिव्य रथका निर्माण कर लोकाधिपति शंकरके निकट जाकर इस प्रकार बोले—'दानवरूप शत्रुओंके विजेता भगवन्! हमलोगोंने आपके लिये इस रथकी रचना की है। यह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंकी आपत्तिसे रक्षा करेगा। सुमेरुगिरिके शिखरके समान उस उत्तम त्रैलोक्यरथको देखकर भगवान् शंकरने उसकी प्रशंसा करके देवताओंकी प्रशंसा की और पुनः उस रथका निरीक्षण करने लगे। वे बार-बार रथके प्रत्येक भागको देखते और बार-बार उसकी प्रशंसा करते थे। तत्पश्चात् देवताओंके अधीश्वर स्वयं भगवान् शंकरने इन्द्रसहित देवताओंसे कहा—'देवगण! आपलोगोंने जिस प्रकार मेरे लिये रथकी सारी सामग्रियोंसे युक्त इस रथका निर्माण किया है, इसीकी मर्यादाके अनुकूल शीघ्र ही किसी सारथिका भी विधान कीजिये।' देवाधिदेव शंकरके ऐसा कहनेपर देवगण ऐसे व्याकुल हो गये, मानो वे बाणोंसे बींध दिये गये हों। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे कहने लगे कि अब क्या किया जाय। भला, चक्रधारी भगवान् विष्णुके अतिरिक्त दूसरा कौन देवता महादेवजीके सदृश हो सकता है, किंतु वे तो उनके बाणपर स्थित हो चुके हैं। यह सोचकर जैसे गाड़ीमें जुते हुए बैल पर्वतोंसे टकरा जानेपर हाँफने लगते हैं, वैसे ही सभी देवता लम्बी साँस लेने लगे और कहने लगे कि यह कार्य कैसे सिद्ध होगा? इतनेमें ही उन देवताओंके बीच देवदेव अग्रज ब्रह्मा बोल उठे—'सारथि मैं होऊँगा' ऐसा कहकर उन्होंने लोकनाथ शंकरके रथमें जुते हुए घोड़ोंकी बागडोर पकड़ ली। उस समय ब्रह्माको हाथमें चाबुक लिये हुए सारथिके स्थानपर स्थित देखकर गन्धर्वोंसहित देवताओंने महान् सिंहनाद किया। तदनन्तर पितामह ब्रह्माको रथपर स्थित देखकर विश्वेश्वर भगवान् शंकर 'उपयुक्त सारथि मिला' ऐसा कहकर रथपर आरूढ़ हुए। भगवान् शंकरके रथपर चढ़ते ही घोड़े उनके भारसे व्याकुल हो गये। वे घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े और उनके मुखमें धूल भर गयी। इस प्रकार जब

शंकरजीने देखा कि अश्वरूपधारी वेद भयवश भूमिपर गिर पड़े हैं, तब उन्होंने उन्हें उसी प्रकार उठाया, जैसे सुपुत्र आर्त एवं दुःखी पितरोंका उद्धार करता है। तत्पश्चात् रथकी भयंकर घरघराहटके साथ सिंहनाद होने लगा। देवगण समुद्रकी गर्जनाके समान जय-जयकार करने लगे ॥ ४४—५७ ॥

तदोङ्कारमयं गृह्य प्रतोदं वरदः प्रभुः। स्वयम्भूः प्रययौ वाहाननुमन्त्र्य यथाजवम् ॥ ५८ ॥
ग्रसमाना इवाकाशं मुष्णन्त इव मेदिनीम्। मुखेभ्यः ससृजुः श्वासानुच्छ्वसन्त इवोरगाः ॥ ५९ ॥
स्वयम्भुवा चोद्यमानाश्चोदितेन कपर्दिना। व्रजन्ति तेऽश्वा जवनाः क्षयकाल इवानिलाः ॥ ६० ॥
ध्वजोच्छ्रयविनिर्माणे ध्वजयष्टिमनुत्तमाम्। आक्रम्य नन्दीवृषभस्तस्थौ तस्मिञ्छिवेच्छया ॥ ६१ ॥
भार्गवाङ्गिरसौ देवौ दण्डहस्तौ रविप्रभौ। रथचक्रे तु रक्षेते रुद्रस्य प्रियकाङ्क्षिणौ ॥ ६२ ॥
शेषश्च भगवान् नागोऽनन्तोऽनन्तकरोऽरिणाम्। शरहस्तो रथं पाति शयनं ब्रह्मणस्तदा ॥ ६३ ॥
यमस्तूर्णं समास्थाय महिषं चातिदारुणम्। द्रविणाधिपतिर्व्यालं सुराणामधिपो द्विपम् ॥ ६४ ॥
मयूरं शतचन्द्रं च कूजन्तं किंनरं यथा। गुह आस्थाय वरदो जुगोप तं रथं पितुः ॥ ६५ ॥
नन्दीश्वरश्च भगवाञ्शूलमादाय दीप्तिमान्। पृष्ठतश्चापि पार्श्वाभ्यां लोकस्य क्षयकृद् यथा ॥ ६६ ॥
प्रमथाश्चाग्निवर्णाभाः साग्निज्वाला इवाचलाः। अनुजग्मू रथं शार्वं नक्रा इव महार्णवम् ॥ ६७ ॥

भृगुर्भरद्वाजवसिष्ठगौतमाः क्रतुः पुलस्त्यः पुलहस्तपोधनाः।
मरीचिरत्रिर्भगवानथाङ्गिराः पराशरागस्त्यमुखा महर्षयः ॥ ६८ ॥
हरमजितमजं प्रतुष्टुवुर्वचनविशेषैर्विचित्रभूषणैः।
रथस्त्रिपुरे सकाञ्चनाचलो व्रजति सपक्ष इवाद्रिरम्बरे ॥ ६९ ॥
करिगिरिरविमेघसंनिभाः सजलपयोदनिनादनादिनः।
प्रमथगणाः परिवार्य देवगुप्तं रथमभितः प्रययुः स्वदर्पयुक्ताः ॥ ७० ॥
मकरतिमितिमिंगिलावृतः प्रलय इवातिसमुद्धतोऽर्णवः।
व्रजति रथवरोऽतिभास्वरो ह्यशनिनिपातपयोदनिःस्वनः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे रथप्रयाणं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

तदनन्तर सामर्थ्यशाली वरदायक ब्रह्मा ओंकारमय चाबुकको हाथमें लेकर घोड़ोंको पुचकारते हुए पूर्ण वेगसे आगे बढ़े। फिर तो वे घोड़े पृथ्वीको अपने साथ समेटते तथा आकाशको ग्रसते हुएकी तरह बड़े वेगसे दौड़ने लगे। उनके मुखोंसे ऐसे दीर्घ निःश्वास निकल रहे थे, मानो फुफकारते हुए सर्प हों। शंकरजीकी प्रेरणासे ब्रह्माद्वारा हाँके जाते हुए वे घोड़े प्रलयकालिक वायुकी तरह अत्यन्त वेगसे दौड़ रहे थे। शिवजीकी इच्छासे उस रथमें ध्वजको ऊँचा उठानेमें निपुण नन्दी वृषभ उस अनुपम ध्वजयष्टिके ऊपर स्थित हुए। सूर्यके समान प्रभावशाली शुक्र और बृहस्पति—ये दोनों देवता हाथमें दण्ड धारण करके रुद्रका प्रिय करनेकी इच्छासे रथके पहियोंकी रक्षा कर रहे थे। उस समय शत्रुओंका समूल विनाश करनेवाले अनन्त भगवान् शेषनाग हाथमें बाण धारण कर रथकी तथा ब्रह्माके आसनकी रक्षामें जुटे हुए थे। यमराज तुरत अपने अत्यन्त भयंकर भैंसेपर, कुबेर साँपपर और देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर आगे बढ़े। वरदायक गुह कार्तिकेय सैकड़ों चन्द्रवाले तथा किंनरकी भाँति कूजते हुए अपने मयूरपर सवार होकर पिताके उस रथकी रक्षा कर रहे थे। तेजस्वी भगवान् नन्दीश्वर शूल लेकर रथके पीछेसे दोनों पार्श्वभागोंकी रक्षा करते थे। उस समय वे ऐसा प्रतीत होते थे, मानो लोकका विनाश कर देना चाहते हों। अग्निके समान कान्तिमान् प्रमथगण, जो अग्निकी लपटोंसे युक्त पर्वत-सदृश दीख रहे थे, शंकरजीके रथके पीछे चलते हुए ऐसे लगते

थे जैसे महासागरमें नागगण तैर रहे हों। भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, गौतम, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पराशर, अगस्त्य—ये सभी तपस्वी एवं ऐश्वर्यशाली महर्षि विचित्र छन्दालंकारोंसे विभूषित उत्कृष्ट वचनोंद्वारा अजन्मा एवं अजेय शंकरकी स्तुति कर रहे थे। सुमेरुगिरिके सहयोगसे सम्पन्न हुआ वह रथ आकाशमें विचरनेवाले पंखधारी पर्वतकी तरह त्रिपुरकी ओर बढ़ रहा था। हाथी, पर्वत, सूर्य और मेघके समान कान्तिवाले प्रमथगण जलधर बादलकी भाँति गर्जना करते हुए बड़े गर्वके साथ देवताओंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित उस रथके पीछे-पीछे चल रहे थे। वह अत्यन्त उद्दीप्त श्रेष्ठ रथ प्रलयकालमें मकर, तिमि (एक प्रकारके महामत्स्य, और तिमिंगिलों (उसे निगलनेवाले महामत्स्य) से व्याप्त भयंकर रूपसे उमड़े हुए समुद्रकी तरह आगे बढ़ रहा था। उससे वज्रपातकी तरह गड़गड़ाहट और बादलकी गर्जनाके सदृश शब्द हो रहा था ॥ ५८—७१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें रथप्रयाण नामक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३३ ॥

एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय

देवताओंसहित शंकरजीका त्रिपुरपर आक्रमण, त्रिपुरमें देवर्षि नारदका आगमन तथा युद्धार्थ असुरोंकी तैयारी

सूत उवाच

पूज्यमाने रथे तस्मिँल्लोकैर्देवे रथे स्थिते। प्रमथेषु नदत्सूग्रं प्रवदत्सु च साध्विति ॥ १ ॥
ईश्वरस्वरघोषेण नर्दमाने महावृषे। जयत्सु विप्रेषु तथा गर्जत्सु तुरगेषु च ॥ २ ॥
रणाङ्गणात् समुत्पत्य देवर्षिर्नारदः प्रभुः। कान्त्या चन्द्रोपमस्तूर्णं त्रिपुरं पुरमागतः ॥ ३ ॥
औत्पातिकं तु दैत्यानां त्रिपुरे वर्तते ध्रुवम्। नारदश्चात्र भगवान् प्रादुर्भूतस्तपोधनः ॥ ४ ॥
आगतं जलदाभासं समेताः सर्वदानवाः। उत्तस्थुर्नारदं दृष्ट्वा अभिवादनवादिनः ॥ ५ ॥
तमर्घ्येण च पाद्येन मधुपर्केण चेश्वराः। नारदं पूजयामासुर्ब्रह्माणमिव वासवः ॥ ६ ॥
तेषां स पूजां पूजार्हः प्रतिगृह्य तपोधनः। नारदः सुखमासीनः काञ्चने परमासने ॥ ७ ॥
मयस्तु सुखमासीने नारदे नारदोद्भवे। यथार्हं दानवैः सार्धमासीनो दानवाधिपः ॥ ८ ॥
आसीनं नारदं प्रेक्ष्य मयस्त्वथ महासुरः। अब्रवीद् वचनं तुष्टो हृष्टरोमाननेक्षणः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इस प्रकार उस लोक-पूजित रथपर आरूढ होकर जब महादेवजी त्रिपुरपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुए, उस समय प्रमथगण 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहते हुए उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे। महान् वृषभ नन्दी भी शंकरजीके सदृश स्वरमें गर्जना करने लगा। यूथ-के-यूथ विप्र जय-जयकार बोलने लगे तथा घोड़े हींसने लगे। इसी समय चन्द्र-तुल्य कान्तिवाले सामर्थ्यशाली देवर्षि नारद युद्धस्थलसे उछल-कर तुरंत त्रिपुर नामक नगरमें जा पहुँचे। दैत्योंके उस त्रिपुरमें निश्चितरूपसे उत्पात हो रहे थे। वहाँ तपस्वी भगवान् नारद सहसा प्रकट हो गये। श्वेत मेघकी-सी प्रभावाले नारदजीको आया हुआ देखकर सभी दानव एक साथ अभिवादन करते हुए उठ खड़े हुए। तत्पश्चात् उन ऐश्वर्यशाली दानवोंने पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्कद्वारा नारदजीकी उसी प्रकार पूजा की, जैसे इन्द्र ब्रह्माकी अर्चना करते हैं। तब पूजनीय

तपस्वी नारदजी उनकी पूजा स्वीकार कर स्वर्णनिर्मित श्रेष्ठ आसनपर सुखपूर्वक विराजमान हुए। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र नारदके सुखपूर्वक बैठ जानेपर दानवराज मय भी सभी दानवोंके साथ यथायोग्य आसनपर बैठ गया। इस तरह नारदजीको वहाँ सुखपूर्वक बैठे देखकर महासुर मयको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा, उसके मुख एवं नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे, उसने नारदजीसे ये बातें कहीं ॥ १—९ ॥

औत्पातिकं पुरेऽस्माकं यथा नान्यत्र कुत्रचित्। वर्तते वर्तमानज्ञ वद त्वं हि च नारद ॥ १० ॥
दृश्यन्ते भयदाः स्वप्ना भज्यन्ते च ध्वजाः परम्। विना च वायुना केतुः पतते च तथा भुवि ॥ ११ ॥
अट्टालकाश्च नृत्यन्ते सपताकाः सगोपुराः। हिंस हिंसेति श्रूयन्ते गिरश्च भयदाः पुरे ॥ १२ ॥
नाहं बिभेमि देवानां सेन्द्राणामपि नारद। मुक्त्वैकं वरदं स्थाणुं भक्ताभयकरं हरम् ॥ १३ ॥
भगवन् नास्त्यविदितमुत्पातेषु तवानघ। अनागतमतीतं च भवाञ्जानाति तत्त्वतः ॥ १४ ॥
तदेतन्नो भयस्थानमुत्पाताभिनिवेदितम्। कथयस्व मुनिश्रेष्ठ प्रपन्नस्य तु नारद ॥ १५ ॥
इत्युक्तो नारदस्तेन मयेनामयवर्जितः ॥ १६ ॥

मयने नारदजीसे कहा—'नारदजी! आप तो (भूत-भव्य और) वर्तमानकी सारी बातोंके ज्ञाता हैं, अतः आप यह बतलाइये कि हमारे पुरमें जैसा उत्पात हो रहा है, वैसा सम्भवतः अन्यत्र कहीं भी नहीं होता होगा। (ऐसा क्यों हो रहा है?) यहाँ भयदायक स्वप्न दीख पड़ते हैं। ध्वजाएँ अकस्मात् टूटकर गिर रही है। वायुका स्पर्श न होनेपर भी पताकाएँ पृथ्वीपर गिर रही हैं। पताकाओं और फाटकों-सहित अट्टालिकाएँ नाचती-सी (काँपती-सी) दीखती हैं। नगरमें 'मार डालो, मार डालो' ऐसे भयावने शब्द सुननेमें आ रहे हैं। (इतना होनेपर भी) नारदजी! भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले स्थाणुस्वरूप वरदायक एकमात्र शंकरजीको छोड़कर मुझे इन्द्रसहित समस्त देवताओंसे भी कुछ भय नहीं है। निष्पाप भगवन्! इन उपद्रवोंके विषयमें आपसे कुछ छिपा तो है नहीं; क्योंकि आप तो (पूर्वोक्त वर्तमानके अतिरिक्त) भूत और भविष्यके भी यथार्थ ज्ञाता हैं। मुनिश्रेष्ठ! ये उत्पात हमलोगोंके लिये भयके स्थान बन गये हैं, जिन्हें मैंने आपसे निवेदित कर दिया है। नारदजी! मै आपके शरणागत हूँ, कृपया इसका कारण बतलाइये।' इस प्रकार मय दानवने अविनाशी नारदजीसे प्रार्थना की ॥ १०—१६ ॥

नारद उवाच

शृणु दानव तत्त्वेन भवन्त्यौत्पातिका यथा।
धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते। धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते ॥ १७ ॥
स इष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते। इतरश्चानिष्टफलं आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ १८ ॥
उत्पथान्मार्गमागच्छेन्मार्गाच्चैव विमार्गताम्। विनाशस्तस्य निर्देश्य इति वेदविदो विदुः ॥ १९ ॥
स स्वधर्म रथारूढः सहैभिर्मत्तदानवैः। अपकारिषु देवानां कुरुषे त्वं सहायताम् ॥ २० ॥
तदेतान्येवमादीनि उत्पातावेदितानि च। वैनाशिकानि दृश्यन्ते दानवानां तथैव च ॥ २१ ॥
एष रुद्रः समास्थाय महालोकमयं रथम्। आयाति त्रिपुरं हन्तुं मय त्वामसुरानपि ॥ २२ ॥
स त्वं महौजसं नित्यं प्रपद्यस्व महेश्वरम्। यास्यसे सह पुत्रेण दानवैः सह मानद ॥ २३ ॥
इत्येवमावेद्य भयं दानवोपस्थितं महत्। दानवानां पुनर्देवो देवेशपदमागतः ॥ २४ ॥

(तब) नारदजी बोले—दानवराज! जिस कारण ये उत्पात हो रहे है, उन्हें यथार्थरूपसे बतला रहा हूँ, सुनो। 'धृ' धातु धारण-पोषण और महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त होती है। इसी धातुसे धर्म शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः महत्त्वपूर्वक धारण करनेसे यह शब्द धर्म कहलाता है। आचार्यगण इष्टकी प्राप्ति करानेवाले इसी धर्मका

उपदेश करते हैं। इसके विपरीत अधर्म अनिष्ट फल देनेवाला है, अतः आचार्यगण उसे ग्रहण करनेका आदेश नहीं देते। वेदज्ञोंका कथन है कि मनुष्यको उन्मार्गसे सुमार्गपर आना चाहिये, क्योंकि जो सुमार्गसे उन्मार्गपर चलते हैं, उनका विनाश तो निश्चित ही है। तुम इन उन्मत्त दानवोंके साथ महान् अधर्मके रथपर आरूढ होकर देवताओंका अपकार करनेवालोंकी सहायता करते हो। इसलिये इन सभी उत्पातों द्वारा सूचित अपशकुन दानवोंके विनाशके सूचक हैं। मय! भगवान् रुद्र महाप्रलयमय रथपर सवार होकर त्रिपुरका, तुम्हारा और समस्त असुरोंका भी विनाश करनेके लिये आ रहे हैं। इसलिये मानद! (तुम्हारे लिये यही अच्छा होगा कि) तुम महान् ओजस्वी एवं अविनाशी महेश्वरकी शरण ग्रहण कर लो, अन्यथा तुम पुत्रों और दानवोंके साथ यमलोकके पथिक बन जाओगे। इस प्रकार देवर्षि नारद दानवोंको उनके ऊपर आये हुए महान् भयकी सूचना देकर पुनः देवेश्वर शंकरजीके पास लौट आये॥ १७-२४॥

नारदे तु मुनौ याते मयो दानवनायकः। शूरसम्मतमित्येवं दानवानाह दानवः॥ २५॥
शूराः स्थ जातपुत्राः स्थ कृतकृत्याः स्थ दानवाः। युध्यध्वं दैवतैः सार्धं कर्तव्यं चापि नो भयम्॥ २६॥
जित्वा वयं भविष्याम सर्वेऽमरसभासदः। देवांश्च सेन्द्रकान् हत्वा लोकान् भोक्ष्यामहेऽसुराः॥ २७॥
अट्टालकेषु च तथा तिष्ठध्वं शस्त्रपाणयः। दंशिता युद्धसज्जाश्च तिष्ठध्वं प्रोद्यतायुधाः॥ २८॥
पुराणि त्रीणि चैतानि यथास्थानेषु दानवाः। तिष्ठध्वं लङ्घनीयानि भविष्यन्ति पुराणि च॥ २९॥
नभोगतास्तथा शूरा देवता विदिता हि वः। ताः प्रयत्नेन वार्याश्च विदार्याश्चैव सायकैः॥ ३०॥

इति दनुतनयान्मयस्तथोक्त्वा सुरगणवारणवारणे वचांसि।
युवतिजनविषण्णमानसं तत्त्रिपुरपुरं सहसा विवेश राजा॥ ३१॥
अथ रजतविशुद्धभावभावो भवमभिपूज्य दिगम्बरं सुगीर्भिः।
शरणमुपजगाम देवदेवं मदनार्यन्धकयज्ञदेहघातम्॥ ३२॥
मयमभयपदैषिणं प्रपन्नं न किल बुबोध तृतीयदृक्सनेत्रः।
तदभिमतमदात् ततः शशाङ्की स च किल निर्भय एव दानवोऽभूत्॥ ३३॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे नारदगमनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३४॥

इधर नारद मुनिके चले जानेपर दानवराज मयदानवने (वहाँ उपस्थित) सभी दानवोंसे इस प्रकार शूर-सम्मत वचन कहना आरम्भ किया—'दानवो! तुमलोग शूर-वीर हो, पुत्रवान् हो और (जीवनमें सुखका उपभोग करके) कृतकृत्य हो चुके हो, अतः देवताओंके साथ डटकर युद्ध करो। इसमें तुमलोगोंको किसी प्रकारका भय नहीं मानना चाहिये। असुरो! देवताओंको जीतकर हमलोग देव-सभाके सभासद हो जायँगे, अर्थात् देव-सभा अपने अधिकारमें आ जायगी। तब इन्द्रसहित देवताओंका वध करके हमलोग लोकोंका उपभोग करेंगे। तुमलोग युद्धकी साज-सजासे विभूषित हो कवच धारण कर लो और हथियार लेकर तैयार हो जाओ तथा हाथमें शस्त्र धारण कर अट्टालिकाओंपर चढ़ जाओ। दानवो! तुमलोग इन तीनों पुरोंपर यथास्थान (सजग होकर) बैठ जाओ; क्योंकि देवगण इन तीनों पुरोंपर आक्रमण करेंगे। शूरवीरो! यदि देवता आकाशमार्गसे धावा करें तो तुमलोग तो उन्हें पहचानते ही हो, तुरंत उन्हें प्रयत्नपूर्वक रोक दो और बाणोंके प्रहारसे विदीर्ण कर दो।' इस प्रकार दानवराज मय दनु-पुत्रोंसे सुरगणरूपी हाथियोंको रोकनेके लिये बातें बताकर सहसा उस त्रिपुर-पुरमें प्रविष्ट हुआ, जहाँकी स्त्रियोंका मन भयके कारण उद्विग्न हो उठा था। तदनन्तर वह चाँदीके समान निर्मल भावसे भावित होकर सुन्दर

वाणीद्वारा दिगम्बर भगवान् शंकरकी पूजा करके उन कामदेवके शत्रु तथा अन्धक और दक्ष-यज्ञके विनाशक देवदेवेश्वरकी शरणमें गया। यद्यपि शंकरजीके तृतीय नेत्रमें उद्दीप्त अग्निका वास है, तथापि उन चन्द्रशेखरके ध्यानमें यह बात न आयी कि यह मय दानव शरणागत होकर अभयपद प्राप्त करना चाहता है, अतः उन्होंने उसे अभीष्ट वरदान दे दिया, जिससे वह दानव निर्भय हो गया और आगसे भी सुरक्षित रहकर जीवित बच गया॥२५-३३॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें नारदगमन नामक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १३४॥

एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय

शंकरजीकी आज्ञासे इन्द्रका त्रिपुरपर आक्रमण, दोनों सेनाओंमें भीषण संग्राम, विद्युन्मालीका वध, देवताओंकी विजय और दानवोंका युद्ध-विमुख होकर त्रिपुरमें प्रवेश

सूत उवाच

ततो रणे देवबलं नारदोऽभ्यगमत् पुनः। आगत्य चैव त्रिपुरात् सभायामास्थितः स्वयम्॥ १॥
इलावृतमिति ख्यातं तद्वर्षं विस्तृतायतम्। यत्र यज्ञो बलेर्वृत्तो बलिर्यत्र च संयतः॥ २॥
देवानां जन्मभूमिर्या त्रिषु लोकेषु विश्रुता। विवाहाः क्रतवश्चैव जातकर्मादिकाः क्रियाः॥ ३॥
देवानां यत्र वृत्तानि कन्यादानानि यानि च। रेमे नित्यं भवो यत्र सहायैः पार्षदैर्गणैः॥ ४॥
लोकपालाः सदा यत्र तस्थुर्मेरुगिरौ यथा।
मधुपिङ्गलनेत्रस्तु चन्द्रावयवभूषणः। देवानामधिपं प्राह गणपांश्च महेश्वरः॥ ५॥
वासवैतद्वरीणां ते त्रिपुरं परिदृश्यते। विमानैश्च पताकाभिर्ध्वजैश्च समलंकृतम्॥ ६॥
दृढं वृत्तमिदं ख्यातं वह्निवद् भृशतापनम्। एते जना गिरिप्रख्याः सकुण्डलकिरीटिनः॥ ७॥
प्राकारगोपुराट्टेषु कक्षान्ते दानवाः स्थिताः। इमे च तोयदाभासा दनुजा विकृताननाः॥ ८॥
निर्गच्छन्ति पुरो दैत्याः सायुधा विजयैषिणः॥ ९॥
स त्वं सुरशतैः सार्धं ससहायो वरायुधः। सुहृद्भिर्मामकैर्भृत्यैर्व्यापादय महासुरान्॥ १०॥
अहं च रथवर्येण निश्चलाचलवत्स्थितः। पुरः पुरस्य रन्ध्रार्थी स्थास्यामि विजयाय वः॥ ११॥
यदा तु पुष्ययोगेन एकत्वं स्थास्यते परम्। तदेतन्निर्दहिष्यामि शरेणैकेन वासव॥ १२॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर नारदजी त्रिपुरसे लौटकर पुनः युद्धस्थलमें देवताओंकी सेनामें सम्मिलित हो गये। वे स्वयं देव-सभामें उपस्थित हुए। इलावृत्त नामसे विख्यात विस्तृत वर्ष, जहाँ बलिका यज्ञ सम्पन्न हुआ था तथा जहाँ बलि बाँधे गये थे, तीनों लोकोंमें देवताओंकी जन्मभूमिके रूपमें प्रसिद्ध है। उसी इलावृतमें देवताओंके जातकर्म आदि संस्कार तथा यज्ञ और कन्यादान आदि कर्म सम्पन्न हुए हैं, यहाँ भगवान् शंकर अपने पार्षदगणोंको साथ लेकर नित्य विहार करते हैं, यहाँ लोकपालगण मेरुगिरिकी तरह सदा निवास करते हैं, इसी स्थानपर जिनके नेत्र मधुके समान पीले रंगके हैं तथा जो द्वितीयाके चन्द्रमाको भूषणरूपमें धारण करते हैं, उन्हीं भगवान् महेश्वरने देवराज इन्द्र और अपने गणेश्वरोंसे इस प्रकार कहा—'इन्द्र! तुम्हारे शत्रुओंका यह त्रिपुर दिखायी पड़ रहा है। यह विमानों, पताकाओं और ध्वजोंसे सुशोभित है। यह सुदृढ है तथा इसके विषयमें ऐसी प्रसिद्धि है कि यह अग्निकी तरह अत्यन्त तापदायक है। इसके निवासी दानव किरीट-कुण्डल धारण किये हुए पर्वतके समान दीख रहे हैं। इन दानवोंकी अङ्ग-कान्ति

बादलकी-सी है और इनके मुख टेढ़े-मेढ़े हैं। ये सभी परकोटे, फाटकों और अट्टालिकाओंपर तथा कक्षान्तमें स्थित हैं। (वह देखो) वे सभी दैत्य विजयकी अभिलाषासे हथियारोंसे सुसज्जित हो नगरसे बाहर निकल रहे हैं। इसलिये तुम सहायकोंसहित अपना श्रेष्ठ अस्त्र वज्र लेकर सैकड़ों देवताओं तथा मेरे भृत्योंके साथ आगे बढ़कर इन महासुरोंका संहार करो। मैं इस श्रेष्ठ रथपर निश्चल पर्वतकी तरह स्थित रहकर तुमलोगोंकी विजयके लिये त्रिपुरके सम्मुख उसके छिद्रकी खोजमें खड़ा रहूँगा। वासव! जब पुष्य-नक्षत्रके सम्बन्धसे ये तीनों पुर एक स्थानपर स्थित होंगे, तब मैं एक ही बाणसे इन्हें दग्ध कर डालूँगा' ॥ १-१२ ॥

इत्युक्तो वै भगवता रुद्रेणेह सुरेश्वरः। ययौ तत्त्रिपुरं जेतुं तेन सैन्येन संवृतः ॥ १३ ॥
प्रक्रान्तरथभीमैस्तैः सदेवैः पार्षदां गणैः। कृतसिंहरवोपेतैः सद्गच्छद्भिरिवाम्बुदैः ॥ १४ ॥
तेन नादेन त्रिपुराद् दानवा युद्धलालसाः। उत्पत्य दुद्रुवुश्चेलुः सायुधाः खे गणेश्वरान् ॥ १५ ॥
अन्ये पयोधराराचाः पयोधरसमा बभुः। ससिंहनादं वादित्रं वादयामासुरुद्धताः ॥ १६ ॥
देवानां सिंहनादश्च सर्वतूर्यरवो महान्। ग्रस्तोऽभूद् दैत्यनादैश्च चन्द्रस्तोयधरैरिव ॥ १७ ॥
चन्द्रोदयात् समुद्भूतः पौर्णमास इवार्णवः। त्रिपुरं प्रबभौ तद्वद् भीमरूपमहासुरैः ॥ १८ ॥
प्राकारेषु पुरे तत्र गोपुरेष्वपि चापरे। अट्टालकान् समारुह्य केचिच्चलितवादिनः ॥ १९ ॥
स्वर्णमालाधराः शूराः प्रभासितवराम्बराः। केचिन्नदन्ति दनुजास्तोयमत्ता इवाम्बुदाः ॥ २० ॥
इतश्चेतश्च धावन्तः केचिदुद्धतवाससः। किमेतदिति पप्रच्छुरन्योऽन्यं गृहमाश्रिताः ॥ २१ ॥
किमेतन्नैनं जानामि ज्ञानमन्तर्हितं हि मे। ज्ञास्यसेऽनन्तरेणेति कालो विस्तारतो महान् ॥ २२ ॥
सोऽप्यसौ पृथ्वीसारं सिंहश्च रथमास्थितः। तिष्ठते त्रिपुरं पीड्य देहव्याधिरिवोच्छ्रितः ॥ २३ ॥
य एषोऽस्ति स एषोऽस्तु का चिन्ता सम्भ्रमे सति। एहि ह्यायुधमादाय क्व मे पृच्छा भविष्यति ॥ २४ ॥
इति तेऽन्योन्यमाविद्धा उत्तरोत्तरभाषिणः। आसाद्य पृच्छन्ति तदा दानवास्त्रिपुरालयाः ॥ २५ ॥

भगवान् रुद्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर देवराज इन्द्र उस विशाल सेनाके साथ उस त्रिपुरको जीतनेके लिये आगे बढ़े। चलते समय देवताओं और पार्षदगणोंके रथोंसे भीषण शब्द हो रहा था और वे सभी मेघकी गर्जनाके समान सिंहनाद कर रहे थे। उस शब्दको सुनकर दानवगण युद्धकी लालसासे अस्त्र लेकर त्रिपुरसे बाहर निकले और आकाशमें छलाँग मारते हुए गणेश्वरोंपर टूट पड़े। उनमें कुछ अन्य उद्दण्ड दानव, जो काले मेघके समान शोभा पा रहे थे, मेघकी तरह गर्जना कर रहे थे और सिंहनाद करते हुए बाजा बजा रहे थे। उस समय दैत्योंके सिंहनादसे देवताओंका सिंहनाद और सभी प्रकारके तुरही आदि बाजोंका महान् शब्द उसी प्रकार अभिभूत हो गया, जैसे बादलोंके बीच चन्द्रमा छिप जाते हैं। जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर पूर्णिमा तिथिको समुद्र वृद्धिंगत हो जाता है, वैसे ही उन भयंकर रूपवाले महान् असुरोंसे त्रिपुर उद्दीप्त हो उठा। उस पुरमें कुछ दानव परकोटोंपर तथा कुछ फाटकों और अट्टालिकाओंपर चढ़कर 'चलो, निकलो' ऐसा कहकर ललकार रहे थे। कुछ शूर-वीर दानव सुन्दर एवं श्रेष्ठ वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके गलेमें स्वर्णकी जंजीर शोभा पा रही थी और वे जलसे भरे हुए बादलकी भाँति सिंहनाद कर रहे थे। कुछ वस्त्र फहराते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे और घरपर आकर परस्पर एक-दूसरेसे पूछ रहे थे—'यह क्या हो रहा है?' (दूसरा उत्तर देता था कि) 'क्या हो रहा है, यह तो मैं नहीं जानता; क्योंकि उसकी जानकारी मुझसे छिपी हुई है। कुछ समयके बाद तुम्हें भी ज्ञात हो जायगा। अभी तो बहुत समय शेष है। (देखो न) वहाँ पृथ्वीके सारभूत रथपर बैठा हुआ वह जो सिंह खड़ा है, वह त्रिपुरको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे बढ़ी हुई व्याधि शरीरको कष्ट

*

देती है। वह जो हो, सो रहे; ऐसे हलचलके उपस्थित होनेपर चिन्ता करना व्यर्थ है। अब हथियार लेकर मैदानमें आ जाओ, फिर मुझसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी।' उस समय त्रिपुरनिवासी दानव परस्पर एक-दूसरेको पकड़कर इसी प्रकार पूछते थे और परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर देते थे ॥ १२—२५ ॥

तारकाख्यपुरे दैत्यास्तारकाख्यपुरःसराः । निर्गताः कुपितास्तूर्णं बिलादिव महोरगाः ॥ २६ ॥
निर्धावन्तस्तु ते दैत्याः प्रमथाधिपयूथपैः । निरुद्धा गजराजानो यथा केसरियूथपैः ॥ २७ ॥
दर्पितानां ततश्चैषां दर्पितानामिवाग्निनाम् । रूपाणि जज्वलुस्तेषामग्नीनामिव धम्यताम् ॥ २८ ॥
ततो बृहन्ति चापानि भीमनादानि सर्वशः । निकृष्य जघ्नुरन्योन्यमिषुभिः प्राणभोजनैः ॥ २९ ॥
मार्जारमृगभीमास्यान् पार्षदान् विकृताननान् । दृष्ट्वा दृष्ट्वा हसन्त्युच्चैर्दानवा रूपसम्पदा ॥ ३० ॥
बाहुभिः परिघाकारैः कृष्यतां धनुषां शराः । भटवर्मसु विविशुस्तडागानीव पक्षिणः ॥ ३१ ॥
मृताः स्थ क्व नु यास्यध्वं हनिष्यामो निवर्तताम् । इत्येवं परुषाण्युक्त्वा दानवाः पार्षदर्षभान् ॥ ३२ ॥
विभिदुः सायकैस्तीक्ष्णैः सूर्यपादा इवाम्बुदान् ।
प्रमथा अपि सिंहाक्षाः सिंहविक्रान्तविक्रमाः । खण्डशैलशिलावृक्षैर्विभिदुर्दैत्यदानवान् ॥ ३३ ॥
अम्बुदैराकुलमिव हंसाकुलमिवाम्बरम् । दानवाकुलमत्यर्थं तत्पुरं सकलं बभौ ॥ ३४ ॥
विकृष्टचापा दैत्येन्द्राः सृजन्ति शरदुर्दिनम् । इन्द्रचापाङ्कितोरस्का जलदा इव दुर्दिनम् ॥ ३५ ॥
इषुभिस्ताड्यमानास्ते भूयो भूयो गणेश्वराः । चक्रुस्ते देहनिर्यासं स्वर्णधातुमिवाचलाः ॥ ३६ ॥
तथ वृक्षशिलावज्रशूलपट्टिपरश्वधैः । चूर्ण्यन्तेऽभिहता दैत्याः काचाष्टङ्कहता इव ॥ ३७ ॥
तारकाख्यो जयत्येष इति दैत्या अघोषयन् । जयतीन्द्रश्च रुद्रश्च इत्येव च गणेश्वराः ॥ ३८ ॥

इधर तारकाक्षपुरके निवासी दैत्य क्रोधसे भरे हुए तारकाक्षको आगे करके तुरंत नगरसे उसी प्रकार बाहर निकले, मानो बिलसे विषधर सर्प निकल रहे हों। बाहर निकलकर उन दैत्योंने देवसेनापर धावा बोल दिया, परंतु प्रमथगणोंके यूथपतियोंने उन्हें ऐसा रोक दिया, जैसे सिंहसमूह गजराजोंके दलको स्तम्भित कर देते हैं। उन गर्वीले दानवोंका रूप तो यों ही (क्रोधके कारण) अग्निकी तरह उद्दीप्त हो उठा था, इधर रोक दिये जानेपर वे धौंकी जाती हुई आगकी तरह जल उठे। फिर तो सब ओर भयंकर सिंहनाद होने लगा। दानवगण बड़े-बड़े धनुषोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर प्राण-हरण करनेवाले बाणोंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। प्रमथगणोंमें किन्हींके मुख बिलाव और किन्हींके मृगके समान भयंकर थे तथा किन्हींके मुख टेढ़े-मेढ़े थे। उन्हें देख-देखकर ठहाका मारकर सौन्दर्यशाली दानव हँसने लगे। परिघकी-सी आकारवाली भुजाओंद्वारा खींचे जाते हुए धनुषोंसे छूटे हुए बाण योद्धाओंके कवचोंमें उसी प्रकार घुस जाते थे, जैसे पक्षी तालाबोंमें प्रवेश करते हैं। उस समय दानवगण पार्षदयूथपतियोंको ललकारकर कह रहे थे—'अरे! अब तो तुमलोग मरे ही हो। हमारे हाथोंसे छूटकर कहाँ जाओगे! लौट आओ। हमलोग तुम्हें मार डालेंगे।' ऐसी कठोर बातें कहकर वे अपने तीखे बाणोंसे उन्हें इस प्रकार विदीर्ण कर रहे थे, जैसे सूर्यकी किरणें बादलोंको भेदकर पार कर जाती हैं। उधरसे सिंहके समान पराक्रमी एवं सिंह-सदृश नेत्रोंवाले प्रमथगण भी शिलाओं, शिलाखण्डों और वृक्षोंके प्रहारसे दैत्यों और दानवोंको चूर्ण-सा बना दे रहे थे। उस समय बादलोंसे आच्छादित एवं हंसोंसे व्याप्त आकाशकी तरह वह सारा पुर दानवोंसे व्याप्त होकर अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। जैसे इन्द्रधनुषसे चिह्नित मध्यभागवाले बादल जलकी वृष्टि करके दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिवस) उत्पन्न कर लेते हैं, उसी प्रकार दैत्येन्द्रगण अपने धनुषोंकी प्रत्यञ्चाको

कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा कर अन्धकार उत्पन्न कर रहे थे। दानवोंके बाणोंसे बारंबार घायल होनेके कारण गणेश्वरोंके शरीरोंसे रक्तकी धार बह रही थी, जो ऐसी प्रतीत होती थी, मानो पर्वतोंसे सुवर्णधातु निकल रही हो। उधर गणेश्वरोंद्वारा चलाये गये वृक्ष, शिला, वज्र, शूल, पट्टिश और कुठारके प्रहारसे दैत्यगण ऐसे चूर-चूर कर दिये जा रहे थे, जैसे कुल्हाड़ी या छेनीके प्रहारसे काँच छिन्न-भिन्न हो जाता है। उधर दैत्यगण 'यह देखो, तारकाक्ष जीत रहा है'—ऐसी घोषणा कर रहे थे। तभी इधरसे गणेश्वर सिंहनाद करते हुए बोल रहे थे—'देखो-देखो, इन्द्र और रुद्र विजयी हो रहे हैं' ॥ २६—३८ ॥

वारिता दारिता बाणैर्योधास्तस्मिन् बलोभये। निःस्वनन्तोऽम्बुसमये जलगर्भा इवाम्बुदाः ॥ ३९ ॥
करैश्छिन्नैः शिरोभिश्च ध्वजैश्छत्त्रैश्च पाण्डुरैः। युद्धभूमिर्भयवती मांसशोणितपूरिता ॥ ४० ॥
व्योम्नि चोत्प्लुत्य सहसा तालमात्रं वरायुधैः। दृढाहताः पतन्त पूर्वं दानवाः प्रमथास्तथा ॥ ४१ ॥
सिद्धाश्चाप्सरसश्चैव चारणाश्च नभोगताः। दृढप्रहारहर्षिताः साधु साध्विति चुक्रुशुः ॥ ४२ ॥
अनाहताश्च वियति देवदुन्दुभयस्तथा। नदन्तो मेघशब्देन शरभा इव रोषिताः ॥ ४३ ॥
ते तस्मिंस्त्रिपुरे दैत्या नद्यः सिन्धुपताविव। विशन्ति क्रुद्धवदना वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ४४ ॥
तारकाख्यपुरे तस्मिन् सुराः शूराः समन्ततः। सशस्त्रा निपतन्ति स्म सपक्षा इव भूधराः ॥ ४५ ॥
योधयन्ति त्रिभागेन त्रिपुरे तु गणेश्वराः। विद्युन्माली मयश्चैव मग्नौ च द्रुमवद्रणे ॥ ४६ ॥
विद्युन्माली स दैत्येन्द्रो गिरीन्द्रसदृशद्युतिः। आदाय परिघं घोरं ताडयामास नन्दिनम् ॥ ४७ ॥
स नन्दी दानवेन्द्रेण परिघेण दृढाहतः। भ्रमते मधुनाव्यक्तः पुरा नारायणो यथा ॥ ४८ ॥

उन दोनों सेनाओंमें बाणोंद्वारा रोके एवं घायल किये गये वीर इतने जोरसे सिंहनाद कर रहे थे, जैसे वर्षाकालमें जलसे भरे हुए बादल गरजते हैं। कटे हुए हाथों, मस्तकों, पीले रंगकी पताकाओं और छत्रोंसे तथा मांस और रुधिरसे भरी हुई युद्धभूमि बड़ी भयावनी लग रही थी। दानव तथा प्रमथगण उत्तम अस्त्र धारण कर पहले तो सहसा ताड़-वृक्षकी ऊँचाई बराबर आकाशमें उछल पड़ते थे और पुनः सुदृढरूपसे घायल होकर भूतलपर गिर पड़ते थे। गगनमण्डलमें स्थित सिद्ध, अप्सरा और चारणोंके समूह (दानवोंपर) सुदृढ प्रहार होनेसे हर्षित होकर 'ठीक है, ठीक है', ऐसा कहते हुए चिल्लाने लगते थे। उस समय आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ बिना चोट किये ही बज रही थीं। उनसे मेघकी गर्जना तथा क्रुद्ध हुए शरभ (अष्टपदी) की दहाड़के समान शब्द हो रहे थे। दैत्यगण उस त्रिपुरमें इस प्रकार प्रविष्ट हो रहे थे, जैसे नदियाँ समुद्रमें और क्रुद्ध मुखवाले सर्प बिमवटमें प्रवेश करते हैं। इधर अस्त्रधारी, शूरवीर देवगण तारकाक्षके उस नगरके ऊपर चारों ओर इस प्रकार छाये हुए थे मानो पंखधारी पर्वत मँडरा रहे हों। गणेश्वर त्रिपुरमें तीन भागोंमें विभक्त होकर युद्ध कर रहे थे। उस समय विद्युन्माली और मय—ये दोनों युद्धस्थलमें वृक्षकी भाँति डटे हुए थे। इसी बीच हिमालय-तुल्य कान्तिमान् दैत्येन्द्र विद्युन्मालीने अपना भयंकर परिघ उठाकर नन्दीपर प्रहार किया। दानवेन्द्रके उस परिघके आघातसे नन्दी विशेषरूपसे घायल हो गये और वे ऐसा चक्कर काटने लगे, जैसे पूर्वकालमें दैत्यराज मधुके प्रहारसे अव्यक्तस्वरूप भगवान् नारायण भ्रमित हो गये थे ॥ ३९—४८ ॥

नन्दीश्वरे गते तत्र गणपाः ख्यातविक्रमाः । दुद्रुवुर्जातसंरम्भा विद्युन्मालिनमासुरम् ॥ ४९ ॥
घण्टाकर्णः शङ्कुकर्णो महाकालश्च पार्षदाः । ततश्च सायकैः सर्वान् गणपान् गणपाकृतीन् ॥ ५० ॥
भूयो भूयः स विव्याध गणेश्वरमहत्तमान् । भित्त्वा भित्त्वा हरावोच्चैर्नभस्यम्बुधरो यथा ॥ ५१ ॥
तस्यारम्भितशब्देन नन्दी दिनकरप्रभः । संज्ञां लभ्य ततः सोऽपि विद्युन्मालिनमाद्रवत् ॥ ५२ ॥
रुद्रदत्तं तदा दीप्तं दीप्तानलसमप्रभम् । वज्रं वज्रनिभाङ्गस्य दानवस्य ससर्ज ह ॥ ५३ ॥
तन्नन्दिभुजनिर्मुक्तं मुक्ताफलविभूषितम् । पपात वक्षसि तदा वज्रं दैत्यस्य भीषणम् ॥ ५४ ॥
स वज्रनिहतो दैत्यो वज्रसंहननोपमः । पपात वज्राभिहतः शक्रेणाद्रिरिवाहतः ॥ ५५ ॥
दैत्येश्वरं विनिहतं नन्दिना कुलनन्दिना । चुक्रुशुर्दानवाः प्रेक्ष्य दुद्रुवुश्च गणाधिपाः ॥ ५६ ॥
दुःखामर्षितरोपास्ते विद्युन्मालिनि पातिते । द्रुमशैलमहावृष्टिं पयोदाः ससृजुर्यथा ॥ ५७ ॥
ते पीड्यमाना गुरुभिर्गिरिभिश्च गणेश्वराः । कर्तव्यं न विदुः किंचिद्वन्द्यमाधार्मिका इव ॥ ५८ ॥
ततोऽसुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । स तरूणां गिरीणां वै तुल्यरूपधरो बभौ ॥ ५९ ॥
भिन्नोत्तमाङ्गा गणपा भिन्नपादाङ्कितानना । विरेजुर्भुजगा मन्त्रैर्वार्यमाणा यथा तथा ॥ ६० ॥

नन्दीश्वरके घायल होकर रणभूमिसे हट जानेपर विख्यातपराक्रमी घण्टाकर्ण, शङ्कुकर्ण और महाकाल आदि प्रधान पार्षदगण क्रुद्ध होकर एक साथ राक्षस विद्युन्मालीके ऊपर टूट पडे । तब विद्युन्मालीने उन सभी गणेश्वरोको, जो गणेश-सदृश आकृतिवाले तथा गणेश्वरोमें प्रधान थे, बाणोंद्वारा लगातार बींधना आरम्भ किया । वह उन्हे घायल करके इतने उच्च स्वरसे सिंहनाद करता था मानो आकाशमें बादल गरज रहे हों । उसके उस सिंहनादसे सूर्य-सरीखे प्रभाशाली नन्दीकी मूर्च्छा भग हो गयी, तब वे भी विद्युन्मालीपर चढ धाये । उस समय उन्होने रुद्रद्वारा दिये गये एव प्रज्वलित अग्निके समान प्रभाशाली चमकते हुए वज्रको वज्रतुल्य कटोर शरीरवाले दानवके ऊपर चला दिया । तब नन्दीके हाथसे छूटा हुआ मोतियोंसे विभूषित वह भयंकर वज्र विद्युन्मालीके वक्ष.स्थलपर जा गिरा । फिर तो वज्रके समान ठोस शरीरवाला दैत्य विद्युन्माली उस वज्रसे आहत होकर उसी प्रकार धराशायी हो गया मानो इन्द्रके प्रहारसे पर्वत गिर पड़ा हो । अपने कुल (वर्ग)को आनन्दित करनेवाले नन्दीद्वारा दैत्यराज विद्युन्मालीको मारा गया देखकर दानवलोग चीत्कार करने लगे । तब गणेश्वरोंने उनपर धावा बोल दिया । विद्युन्मालीके मारे जानेपर दानव दुःख और अमर्षके कारण क्रोधसे भरे हुए थे । वे गणेश्वरोंके ऊपर बादलकी भाँति वृक्षों और पर्वतोंकी महान् वृष्टि करने लगे । विशाल पर्वतोंके प्रहारसे पीडित हुए सभी गणेश्वर ऐसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये, जैसे अधार्मिक जन वन्दनीय गुरुजनोंके प्रति हो जाते हैं । तदनन्तर असुरनायक प्रतापी श्रीमान् तारकाक्ष वृक्षों एव पर्वतोंके समान रूप धारण करके रणभूमिमें उपस्थित हुआ ॥ ४९-६० ॥

मयेन मायावीर्येण बध्यमाना गणेश्वराः । भ्रमन्ति बहुशब्दालाः पञ्जरे शकुना इव ॥ ६१ ॥
तथासुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । ददाह च बलं सर्वं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ६२ ॥
तारकाख्येण वार्यन्ते शरवर्षैस्तदा गणाः । मयेन मायानिहतास्तारकाख्येण चेषुभिः ॥ ६३ ॥
गणेशा विधुरा जाता जीर्णमूला यथा द्रुमाः ॥ ६४ ॥
भूयः सम्पतत चाग्निर्ग्रहान् ग्राहान् भुजङ्गमान् । गिरीन्द्रांश्च हरीन् व्याघ्रान् वृक्षान् सृमरवर्णकान् ॥ ६५ ॥
शरभानष्टपादांश्च आपः पवनमेव च । मयो मायाबलेनैव पातयत्येव शत्रुषु ॥ ६६ ॥
ते तारकाक्षेण मयेन मायया सम्मुह्यमाना विवशा गणेश्वराः ।
न शक्नुवंस्ते मनसापि चेष्टितुं यथेन्द्रियार्था मुनिनाभिसंयताः ॥ ६७ ॥
महाजलाग्न्यादिसकुञ्जरोरगैर्हरीन्द्रव्याघ्रर्क्षतरक्षुराक्षसैः ।
विबाध्यमानास्तमसा विमोहिताः समुद्रमध्येष्विव गाधकाङ्क्षिणः ॥ ६८ ॥

सम्मर्द्यमानेषु गणेश्वरेषु संनर्दमानेषु सुरेतरेषु ।
ततः सुराणां प्रवराभिरक्षितुं रिपोर्बलं संविविशुः सहायुधाः ॥ ६९ ॥
यमो गदास्त्रो वरुणश्च भास्करस्तथा कुमारोऽमरकोटिसंयुतः ।
स्वयं च शक्रः सितनागवाहनः कुलीशपाणिः सुरलोकपुङ्गवः ॥ ७० ॥
स चोडुनाथः ससुतो दिवाकरः स सान्तकस्त्र्यक्षपतिर्महाद्युतिः ।
एते रिपूणां प्रवराभिरीक्षितं तदा बलं संविविशुर्मदोद्धताः ॥ ७१ ॥
यथा वनं दर्पितकुञ्जराधिपा यथा नभः साम्बुधरं दिवाकरः ।
यथा च सिंहैर्विजनेषु गोकुलं तथा बलं तत्त्रिदशैरभिद्रुतम् ॥ ७२ ॥
कृतप्रहारातुरदीनदानवं ततस्त्वभज्यन्त बलं हि पार्षदाः ।
स्वर्ज्योतिषां ज्योतिरिवोष्मवान् हरिर्यथा तमो घोरतरं नराणाम् ॥ ७३ ॥
विशान्तयामास यथा सदैव निशाकरः संचितशार्वरं तमः ।

उस समय बहुतेरे गणेश्वरोंके मस्तक फट गये थे, किन्हींके पैर टूट गये थे और कुछके मुखोंपर घाव लगा था । वे सभी मन्त्रोंद्वारा रोके गये सर्पकी तरह शोभा पा रहे थे । मायावी मयद्वारा मारे जाते हुए गणेश्वर पिंजरेमें बंद पक्षीकी तरह अनेकों प्रकारका शब्द करते हुए चक्कर काट रहे थे । तत्पश्चात् असुरश्रेष्ठ प्रतापी श्रीमान् तारकाक्षने पार्षदोंकी सारी सेनाको उसी प्रकार जलाना प्रारम्भ किया, जैसे आग सूखे इन्धनको जला देती है । तारकाक्ष बाणोंकी वर्षा करके पार्षदगणको रोक देता था । इस प्रकार मयकी माया और तारकाक्षके बाणोंद्वारा गणेश्वर मारे जा रहे थे । वे पुरानी जडवाले वृक्षोंकी तरह व्याकुल हो गये । पुनः मयने अपनी मायाके बलपर शत्रुओंके ऊपर अग्निकी वर्षा की तथा ग्रह, मकर, सर्प, विशाल पर्वत, सिंह, बाघ, वृक्ष, काले हिरन और आठ पैरोंवाले शरभो (गैंडों) को भी गिराया, जलकी घनघोर वृष्टि की और झंझावातका भी प्रकोप उत्पन्न किया । इस प्रकार तारकाक्ष और मयकी मायासे मोहित होकर वे गणेश्वर मनसे भी चेष्टा करनेमें असमर्थ हो गये । वे ऐसे विवश हो- गये, जैसे मुनियोंद्वारा रोके गये इन्द्रियोंके विषय । उस समय प्रमथगण जल और अग्निकी महान् वृष्टि, हाथी, सर्प, सिंह, व्याघ्र, रीछ, चीते और राक्षसोंद्वारा सताये जा रहे थे । मायाका इतना घना अन्धकार प्रकट हुआ, जिसमें वे ऐसे विमोहित हो गये, जैसे समुद्रके मध्यमें जलकी थाह लगानेवाले विमूढ हो जाते हैं । इस प्रकार गणेश्वर पीड़ित किये जा रहे थे और दानवगण सिंहनाद कर रहे थे । इसी बीच प्रधान-प्रधान देवता अस्त्र धारणकर गणेश्वरोंकी रक्षा करनेके लिये शत्रुसेनामें प्रविष्ट हुए । उस अवसरपर गदाधारी यमराज, वरुण, भास्कर, एक करोड़ देवताओंके साथ कुमार कार्तिकेय, श्वेत हाथी ऐरावतपर सवार हो हाथमें वज्र लिये हुए स्वयं देवराज इन्द्र, चन्द्रमा और अपने पुत्र शनैश्चरके साथ सूर्य तथा अन्तकसहित परम तेजस्वी त्रिलोचन रुद्र—ये सभी मदोद्धत देवता उत्कृष्ट बलवानोंद्वारा सुरक्षित शत्रुओंकी सेनामें प्रविष्ट हुए । जिस प्रकार मतवाले गजेन्द्र वनमें, बादलोंसे घिरे हुए आकाशमें सूर्य और निर्जन स्थानमें स्थित गोष्ठमें सिंह प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार देवताओंने उस सेनापर धावा बोल दिया । फिर तो पार्षदगणोंने शस्त्रप्रहार करके दानवोंको ऐसा व्याकुल और दीन कर दिया कि उनका वह विशाल सेना-व्यूह उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गया जैसे स्वर्गीय ज्योतिःपुञ्जोंके महान् ज्योति उष्णरश्मि सूर्य मनुष्योंके अन्धकारका विनाश कर देते हैं तथा चन्द्रमा रात्रिके घने अन्धकारका प्रशमन कर देते हैं ॥ ६१—७३½ ॥

ततोऽपकृष्टे च तमःप्रभावे ह्यस्त्रप्रभावे च विवर्धमाने ॥ ७४ ॥
दिग्लोकपालैर्गणनायकैश्च कृतो महान् सिंहरवो मुहूर्तम् ।
संख्ये विभग्ना विकरा विपादाश्छिन्नोत्तमाङ्गाः शरपूरिताङ्गाः ॥ ७५ ॥
देवेतरा देववरैर्विभिन्नाः सीदन्ति पङ्केषु यथा गजेन्द्राः ।
वज्रेण भीमेन च वज्रपाणिः शक्त्या च शक्त्या च मयूरकेतुः ॥ ७६ ॥
दण्डेन चोग्रेण च धर्मराजः पाशेन चोग्रेण च वारिगोप्ता ।
शूलेन कालेन च यक्षराजो वीर्येण तेजस्वितया सुकेशः ॥ ७७ ॥
गणेश्वरास्ते सुरसंनिकाशाः पूर्णाहुतीसिक्तशिखिप्रकाशाः ।
उत्सादयन्ते दनुपुत्रवृन्दान् यथैव इन्द्राशनयः पतन्त्यः ॥ ७८ ॥
मयस्तु देवान् परिरक्षितारमुमात्मजं देववरं कुमारम् ।
शरेण भित्त्वा स हि तारकासुतं स तारकाख्यासुरमावभाषे ॥ ७९ ॥
कृत्वा प्रहारं प्रविशामि वीरं पुरं हि दैत्येन्द्र बलेन युक्तः ।
विश्राममूर्जस्करमभ्यवाप्य पुनः करिष्यामि रणं प्रपन्नैः ॥ ८० ॥
वयं हि शस्त्रक्षतविक्षिताङ्गा विशीर्णशस्त्रध्वजवर्मवाहाः ।
जयैषिणस्ते जयकाशिनश्च गणेश्वरा लोकवराधिपाश्च ॥ ८१ ॥
मयस्य श्रुत्वा दिवि तारकाख्यो वचोऽभिकाङ्क्षन् क्षतजोपमाक्षः ।
विवेश तूर्णं त्रिपुरं दितेः सुतैः सुतैरदित्या युधि वृद्धहर्षैः ॥ ८२ ॥
ततः सशङ्खानकभेरिभीमं ससिंहनादं हरसैन्यमावभौ ।
मयानुगं घोरगभीरगह्वरं यथा हिमाद्रेर्गजसिंहनादितम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे इलावृते देवदानवयुद्धवर्णने प्रहारक्तं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

तदनन्तर अन्धकारका प्रभाव नष्ट हो जाने और अस्त्रका प्रभाव बढ़नेपर दिक्पालों, लोकपालों और गणनायकोंने दो घड़ीतक महान् सिंहनाद किया। फिर तो वे युद्धमें दानवोंको विदीर्ण करने लगे। वहाँ किन्हींके हाथ कट गये तो किन्हींके पैर खण्डित हो गये, किन्हींके मस्तक कट गये तो किन्हींके शरीर बाणोंसे घिर गये। इस प्रकार देवश्रेष्ठोंद्वारा घायल किये गये दानव ऐसा कष्ट पा रहे थे, जैसे दलदलमें फँसे हुए गजराज विवश हो जाते हैं। उस समय वज्रपाणि इन्द्र अपने भयंकर वज्रसे, मयूरध्वज स्वामिकार्तिक शक्तिपूर्वक अपनी शक्तिसे, धर्मराज अपने भयंकर दण्डसे, वरुण अपने उग्र पाशसे और पराक्रम एवं तेजसे सम्पन्न सुन्दर बालोंवाले यक्षराज कुबेर अपने काल-सदृश शूलसे प्रहार कर रहे थे। देवताओंके समान तेजस्वी एवं पूर्णाहुतिसे सिक्त हुई अग्निके समान प्रकाशमान गणेश्वर दानववृन्दपर उसी प्रकार झपटते थे मानो बिजलियाँ गिर रही हों। तत्पश्चात् मयने देवताओंकी रक्षामें तत्पर पार्वती-नन्दन एवं तारका-पुत्र सर्वश्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयको बाणसे घायल कर तारकाक्षसे कहा—'दैत्येन्द्र! हमलोगोंके शरीर शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो गये हैं तथा हमारे शस्त्रास्त्र, ध्वज, कवच और वाहन आदि भी छिन्न-भिन्न हो गये हैं। इधर गणेश्वरों तथा लोकनायक देवोंके मनमें जयकी अभिलाषा विशेषरूपसे जागरूक हो उठी है, साथ ही वे विजयी भी हो रहे हैं, अतः अब मैं इस वीरपर प्रहार करके सेनासहित नगरमें प्रवेश कर जाता हूँ और वहाँ कुछ देर विश्राम करके शक्ति-सम्पन्न होकर पुनः अनुचरोंसहित युद्ध करूँगा।' मयकी ऐसी बात सुनकर उसका पालन करता हुआ रुधिर-सरीखे लाल नेत्रोंवाला तारकाक्ष तुरंत

ही आकाशमार्गसे दिति-पुत्रोंके साथ त्रिपुरमें प्रवेश कर गया। उस समय देवगण रणभूमिमें हर्षके मारे उछल पड़े। फिर तो मयका पीछा करते हुए भगवान् शंकरके सैनिक विशेष शोभा पा रहे थे। उनके शङ्ख, नगाड़े और भेरियाँ बजने लगीं तथा वे सिंहनाद करने लगे। उस समय ऐसा भीषण शब्द हो रहा था मानो हिमालय पर्वतकी भयंकर एवं गहरी गुफामें गजराज और सिंह दहाड़ रहे हों ॥ ७४–८३ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहप्रसङ्गमें इलावृतमें देव-दानव-युद्ध-प्रसङ्गमें परस्पर प्रहार नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३५ ॥

एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय

मयका चिन्तित होकर अद्भुत बावलीका निर्माण करना, नन्दिकेश्वर और तारकासुरका भीषण युद्ध तथा प्रमथगणोंकी मारसे विमुख होकर दानवोंका त्रिपुर-प्रवेश

सूत उवाच

मयः प्रहारं कृत्वा तु मायावी दानवर्षभः। विवेश तूर्णं त्रिपुरमभ्रं नीलमिवाम्बरम् ॥ १ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य दानवान् वीक्ष्य मध्यगान्। दध्यौ लोकक्षये प्राप्ते कालं काल इवापरः ॥ २ ॥
इन्द्रोऽपि बिभ्यते यस्य स्थितो युद्धेप्सुरग्रतः। स चापि निधनं प्राप्तो विद्युन्माली महायशाः ॥ ३ ॥
दुर्गं वै त्रिपुरस्यास्य न समं विद्यते पुरम्। तस्याप्येषोऽनयः प्राप्तो नादुर्गं कारणं क्वचित् ॥ ४ ॥
कालस्यैव वशे सर्वं दुर्गं दुर्गतरं च यत्। काले क्रुद्धे कथं कालात्त्राणं नोऽद्य भविष्यति ॥ ५ ॥
लोकेषु त्रिषु यत्किंचिद् बलं वै सर्वजन्तुषु। कालस्य तद्वशं सर्वमिति पैतामहो विधिः ॥ ६ ॥
अस्मिन् कः प्रभवेद् यो वै ह्यसंधार्येऽमितात्मनि। लङ्घने कः समर्थः स्यादृते देवं महेश्वरम् ॥ ७ ॥
बिभेमि नेन्द्राद्धि यमाद् वरुणान्न च वित्तपात्। स्वामी चैषां तु देवानां दुर्जयः स महेश्वरः ॥ ८ ॥
ऐश्वर्यस्य फलं यत्तत्प्रभुत्वस्य च समन्ततः। तदद्य दर्शयिष्यामि यावद्वीराः समन्ततः ॥ ९ ॥
वापीममृततोयेन पूर्णां स्रक्ष्ये वरौषधीः। जीविष्यन्ति तदा दैत्याः संजीवनवरौषधैः ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! दानवश्रेष्ठ मायावी मय स्वामिकार्तिकपर प्रहारकर त्रिपुरमें उसी प्रकार तुरंत प्रवेश कर गया, जैसे नीले आकाशमें बादल प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ आकर उसने लम्बी और गरम साँस ली तथा त्रिपुरमें भागकर आये हुए दानवोंकी ओर देखकर लोकके विनाशके अवसरपर दूसरे कालके समान मद कालके विषयमें विचार करने लगा—'अहो! रणभूमिमें युद्धकी अभिलाषासे सम्मुख खड़ा हो जानेपर जिससे इन्द्र भी डरते थे, वह महायशस्वी विद्युन्माली भी कालका ग्रास बन गया। त्रिलोकीमें इस त्रिपुरकी समतामें अन्य कोई दुर्ग अथवा पुर नहीं है, फिर भी इसपर भी ऐसी आ ही गयी, अतः (प्राणरक्षाके लिये) दुर्ग कोई कारण नहीं है। (इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि) दुर्ग ही क्यों? दुर्गसे भी बढ़कर सभी वस्तुएँ कालके ही वशमें हैं। तब भला कालके कुपित हो जानेपर इस समय हमलोगोंकी कालसे रक्षा कैसे हो सकेगी? तीनों लोकों तथा समस्त प्राणियोंमें जो-कुछ बल है, वह सारा-का-सारा कालके वशीभूत है—ऐसा ब्रह्माका विधान है। ऐसे अमित पराक्रमी एवं असाध्य कालके प्रति कौन-सा उद्योग सफल हो सकता है? भगवान् शंकरके अतिरिक्त उस कालपर विजय पानेमें कौन समर्थ हो सकता है? मैं इन्द्र, यम और वरुणसे नहीं डरता, कुबेरसे भी मुझे कोई भय नहीं है, किंतु इन देवताओंके स्वामी जो महेश्वर हैं, उनपर विजय पाना

दुष्कर है। फिर भी जबतक ये दानववीर चारों ओर बिखरे हुए हैं, तबतक ऐश्वर्य-प्राप्तिका जो फल होता है तथा स्वामी बननेका जो फल होता है, उसे मैं प्रदर्शित करूँगा। मैं एक ऐसी बावलीका निर्माण करूँगा, जिसमें अमृतरूपी जल भरा होगा। साथ ही कुछ श्रेष्ठ ओषधियोंका भी आविष्कार करूँगा। उन श्रेष्ठ संजीविनी ओषधियोंके प्रयोगसे मरे हुए दैत्य जीवित हो जायँगे' ॥ १-१० ॥

इति संचिन्त्य बलवान् मयो मायाविनां वरः। मायया ससृजे वापीं रम्भामिव पितामहः ॥ ११ ॥
द्वियोजनायतां दीर्घां पूर्णयोजनविस्तृताम्। आरोहसंक्रमवतीं चित्ररूपां कथामिव ॥ १२ ॥
इन्दोः किरणकल्पेन मृष्टेनामृतगन्धिना। पूर्णां परमतोयेन गुणपूर्णामिवाङ्गनाम् ॥ १३ ॥
उत्पलैः कुमुदैः पद्मैर्वृतां कादम्बकैस्तथा। चन्द्रभास्करवर्णाभैर्भीमैरावरणैर्वृताम् ॥ १४ ॥
खगैर्मधुररावैश्च चारुचामीकरप्रभैः। कामैषिभिरिवाकीर्णां जीवनाभरणीमिव ॥ १५ ॥
संसृज्य स मयो वापीं गङ्गामिव महेश्वरः। तस्यां प्रक्षालयामास विद्युन्मालिनमादितः ॥ १६ ॥
स वाप्यां मज्जितो दैत्यो देवशत्रुर्महाबलः। उत्तस्थाविन्धनैरिद्धः सद्यो हुत इवानलः ॥ १७ ॥
मयस्य चाञ्जलिं कृत्वा तारकाख्योऽभिवादितः। विद्युन्मालीति वचनं मयमुत्थाय चाब्रवीत् ॥ १८ ॥
क्व नन्दी सह रुद्रेण वृतः प्रमथजम्बुकैः। युध्यामोऽरीन् विनिष्पीड्य दया देहेषु का हि नः॥ १९ ॥
अन्वास्यैव च रुद्रस्य भवामः प्रभविष्णवः। तैर्वा विनिहता युद्धे भविष्यामो यमाशनाः ॥ २० ॥
विद्युन्मालेर्निशम्यैतन्मयो वचनमूर्जितम्। तं परिष्वज्य सास्राक्ष इदमाह महासुरः ॥ २१ ॥
विद्युन्मालिन् न मे राज्यमभिप्रेतं न जीवितम्। त्वया विना महाबाहो किमन्येन महासुर ॥ २२ ॥
महामृतमयी वापी ह्येषा मायाभिरीश्वर। सृष्टा दानवदैत्यानां हतानां जीववर्धिनी ॥ २३ ॥
दिष्ट्या त्वां दैत्य पश्यामि यमलोकादिहागतम्। दुर्गतावनयग्रस्तं भोक्ष्यामोऽद्य महानिधिम् ॥ २४ ॥

ऐसा विचारकर मायावियोंमें श्रेष्ठ बलवान् मयने एक (सुन्दर) बावलीकी रचना की, जैसे ब्रह्माजीने मायासे रम्भा अप्सराकी रचना कर डाली थी। वह (बावली) दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी। उसमें चित्र-विचित्र प्रसङ्गोंवाली कथाकी भाँति क्रमशः चढ़ाव-उतारवाली सीढ़ियाँ बनी थीं। वह चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल, अमृत-सदृश मधुर एवं सुगन्धित उत्तम जलसे भरी हुई ऐसी लग रही थी, मानो सम्पूर्ण सद्गुणोंसे पूर्ण कोई वनिता हो। उसमें नील कमल, कुमुदिनी और अनेकों प्रकारके कमल खिले हुए थे। वह चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीले रंगवाले भयंकर डैनोंसे युक्त कलहंसोंसे व्याप्त थी। उसमें सुन्दर सुनहली कान्तिवाले पक्षी मधुर शब्दोंमें कूज रहे थे। वह जलाभिलाषी जीवोंसे व्याप्त उन्हें प्राणदान करनेवालीकी तरह दीख रही थी। जैसे महेश्वरने (अपनी जटासे) गङ्गाको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार मयने उस बावलीकी रचना कर उसके जलसे सर्वप्रथम विद्युन्मालीके शवको धोया। उस बावलीमें डुबोये जानेपर देवशत्रु महाबली दैत्य विद्युन्माली उसी प्रकार उठ खड़ा हुआ, जैसे इन्धन पड़नेसे हवन की गयी अग्नि तुरंत उद्दीप्त हो उठती है। उठते ही विद्युन्मालीने हाथ जोड़कर मय और तारकासुरका अभिवादन किया और मयसे इस प्रकार कहा—'प्रमथरूपी शृगालोंसे घिरा हुआ रुद्रके साथ नन्दी कहाँ खड़ा है? अब हमलोग शत्रुओंको पीसते हुए युद्ध करेंगे। हमलोगोंके शरीरमें दया कहाँ? हमलोग या तो रुद्रको खदेड़कर प्रभावशाली होंगे अथवा उनके द्वारा युद्धस्थलमें मारे जाकर यमराजके ग्रास बन जायँगे।' विद्युन्मालीके ऐसे उत्साहपूर्ण वचन सुनकर महासुर मयके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। तब उसने विद्युन्मालीका आलिङ्गन कर इस प्रकार कहा—'महाबाहु विद्युन्माली! तुम्हारे बिना न तो मुझे राज्य अभीष्ट है, न जीवनकी ही अभिलाषा है। महासुर! अन्य पदार्थोंकी तो बात ही

क्या है ? ऐश्वर्यशाली वीर ! मैंने मायाद्वारा अमृतसे भरी हुई इस बावलीकी रचना की है। यह मरे हुए दानवों और दैत्योंको जीवन-दान देगी । दैत्य ! सौभाग्यवश (इसीके प्रभावसे) मैं तुम्हें यमलोकसे लौटा हुआ देख रहा हूँ । अब हमलोग आपत्तिके समय अन्यायसे अपहरण की हुई महानिधिका उपभोग करेंगे' ॥ ११—२४ ॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वा च तां वापी मायया मयनिर्मिताम् । हृष्टाननाक्षा दैत्येन्द्रा इदं वचनमब्रुवन् ॥ २५ ॥
दानवा युध्यतेदानीं प्रमथैः सह निर्भयाः । मयेन निर्मिता वापी हतान् संजीवयिष्यति ॥ २६ ॥
ततः क्षुब्धाम्बुधिनिभा भेरी सा तु भयंकरी । वाद्यमाना ननादोच्चै रौरवी सा पुनः पुनः ॥ २७ ॥
श्रुत्वा भेरीरवं घोरं मेघास्फितसंनिभम् । न्यपतन्नसुरास्तूर्णं त्रिपुराद् युद्धलालसाः ॥ २८ ॥
लोहराजतसौवर्णैः कटकैर्मणिराजितैः । आमुक्तैः कुण्डलैर्हारैर्मुकुटैरपि चोत्कटैः ॥ २९ ॥
धूमायिता ह्यविरमा ज्वलन्त इव पावकाः । आयुधानि समादाय काशिनो दृढविक्रमाः ॥ ३० ॥
नृत्यमाना इव नटा गर्जन्त इव तोयदाः । करोच्छ्रया इव गजाः सिंहा इव च निर्भयाः ॥ ३१ ॥
ह्रदा इव च गम्भीराः सूर्या इव प्रतापिताः । द्रुमा इव च दैत्येन्द्रास्त्रासयन्तो बलं महत् ॥ ३२ ॥
प्रमथा अपि सोत्साहा गरुडोत्पातपातिनः । युयुत्सवोऽभिधावन्ति दानवान् दानवारयः ॥ ३३ ॥
नन्दीश्वरेण प्रमथास्तारकाख्येन दानवाः । चक्रुः संहत्य संग्रामं चोद्यमाना बलेन च ॥ ३४ ॥
तेऽसिभिश्चन्द्रसंकाशैः शूलैश्चानलपिङ्गलैः । बाणैश्च दृढनिर्मुक्तैरभिजघ्नुः परस्परम् ॥ ३५ ॥
शराणां सृज्यमानानामसीनां च निपात्यताम् । रूपाण्यासन् महोल्कानां पतन्तीनामिवाम्बरात् ॥ ३६ ॥

मायाके प्रभावसे मयद्वारा निर्मित उस बावलीको देख-देखकर दैत्येन्द्रोंके नेत्र और मुख हर्षके कारण उत्फुल्ल हो उठे थे । तब वे (दानवोंको ललकारते हुए) इस प्रकार बोले—'दानवो ! अब तुमलोग निर्भय होकर प्रमथगणोंके साथ युद्ध करो । मयद्वारा निर्मित यह बावली मरे हुए तुमलोगोंको जीवित कर देगी ।' फिर तो क्षुब्ध हुए सागरके समान भय उत्पन्न करनेवाली दानवोंकी भेरी बज उठी । वह बड़े जोरसे भयंकर शब्द कर रही थी । मेघकी गर्जनाके समान उस भयंकर भेरीके शब्दको सुनकर युद्धके लिये लालायित हुए असुरगण तुरंत ही त्रिपुरसे बाहर निकल पड़े । वे लोहे, चाँदी, सुवर्ण और मणियोंके बने हुए कड़े, कुण्डल, हार और उत्तम मुकुट धारण किये हुए थे । वे अनवरत जलते हुए, धूमसे युक्त प्रज्वलित अग्निके समान दीख रहे थे । वे सुदृढ पराक्रमी दैत्य अपने-अपने अस्त्र लेकर (उछलते-कूदते हुए) ऐसे लग रहे थे, जैसे रंगमंचपर नाचते हुए नट हों । वे सूँड़ उठाये हुए हाथीके समान हाथ उठाकर और सिंह-सदृश निर्भय होकर बादलकी तरह गर्जना कर रहे थे । कुण्डके समान गम्भीर, सूर्यके सदृश तेजस्वी और वृक्षोंके-से धैर्यशाली दैत्येन्द्र प्रमथोंकी विशाल सेनाको पीडित करने लगे । तत्पश्चात् गरुडकी भाँति झपट्टा मारनेवाले दानव-शत्रु प्रमथगण भी उत्साह-पूर्वक युद्ध करनेकी अभिलाषासे दानवोंपर टूट पड़े । उस समय नन्दीश्वरकी अध्यक्षतामें प्रमथगण और तारकासुरकी अध्यक्षतामें दानवयूथ समवेतरूपसे युद्ध करने लगे । उन्हें सेनाएँ भी प्रेरित कर रही थीं । वे चन्द्रमाके समान चमकीली तलवारों, अग्नि-सदृश पीले शूलों और सुदृढरूपसे छोड़े गये बाणोंसे परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे । उस समय छोड़े जाते हुए बाणों तथा प्रहार की जाती हुई तलवारोंके रूप ऐसे दीख रहे थे, मानो आकाशसे गिरती हुई महोल्काएँ हों ॥ २५—३६ ॥

शक्तिभिर्भिन्नहृदया निर्दया इव पातिताः । निरयेष्विव निर्मग्नाः कूजन्ते प्रमथासुराः ॥ ३७ ॥
हेमकुण्डलयुक्तानि किरीटोत्कटवन्ति च । शिरांस्युर्व्यां पतन्ति स्म गिरिकूटा इवात्यये ॥ ३८ ॥
परश्वधैः पट्टिशैश्च खड्गैश्च परिघैस्तथा । छिन्नाः करिवराकारा निपेतुस्ते धरातले ॥ ३९ ॥

गर्जन्ति सहसा हृष्टाः प्रमथा भीमगर्जनाः। साधयन्त्यपरे सिद्धा युद्धगान्धर्वमद्भुतम् ॥ ४० ॥
बलवान् भासि प्रमथ दर्पितो भासि दानव। इति चोच्चारयन् वाचं चारणा रणधूर्गताः ॥ ४१ ॥
परिघैराहताः केचिद् दानवैः शंकरानुगाः। वमन्ते रुधिरं वक्त्रैः स्वर्णधातुमिवाचलाः ॥ ४२ ॥
प्रमथैरपि नाराचैरसुराः सुरशत्रवः। द्रुमैश्च गिरिशृङ्गैश्च गाढमेवाहवे हताः ॥ ४३ ॥
सूदितानथ तान् दैत्यानन्ये दानवपुङ्गवाः। उत्क्षिप्य चिक्षिपुर्वाप्यां मयदानवचोदिताः ॥ ४४ ॥
ते चापि भास्वरैर्देहैः स्वर्गलोक इवामराः। उत्तस्थुर्वापीमासाद्य सद्रूपाभरणाम्बराः ॥ ४५ ॥
अथैके दानवाः प्राप्य वापीप्रक्षेपणादसून्। आस्फोट्य सिंहनादं च कृत्वा धावंस्तथासुराः ॥ ४६ ॥
दानवाः प्रमथानेतान् प्रसर्पत किमास्थ। हतानपि हि वो वापी पुनरुज्जीवयिष्यति ॥ ४७ ॥

शक्तिके आघातसे उनके हृदय छिन्न-भिन्न हो गये थे और वे दयाहीनकी भाँति भूमिपर पड़े हुए थे। इस प्रकार प्रमथगण तथा असुरवृन्द नरकमें पड़े हुए जीवोंकी तरह चीत्कार कर रहे थे। स्वर्णनिर्मित कुण्डलों और प्रभाशाली किरीटोंसे युक्त वीरोंके मस्तक प्रलयकालमें पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर रहे थे। वे कुठार, पटा, खड्ग और लोहेकी गदाके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर गजेन्द्रोंके समान धराशायी हो रहे थे। कभी सहसा भयंकर गर्जना करनेवाले प्रमथगण हर्षपूर्वक गर्जना करने लगते तो इधर सिद्धगण अद्भुत युद्ध-कौशल दिखाते थे। रणभूमिमें आगे चलनेवाले चारण—'प्रमथ! तुम तो बलवान् मालूम पड़ते हो,' 'दानव! तुम गर्वीले दीख रहे हो'—इस प्रकारके वचन बोल रहे थे। दानवोंद्वारा चलाये गये लोहनिर्मित गदाके आघातसे कुछ पार्षदगण मुखसे रक्त उगल रहे थे, जो ऐसे लगते थे, मानो पर्वत सुवर्णधातु उगल रहे हों। उधर प्रमथगण भी रणभूमिमें बाणों, वृक्षों और पर्वत-शिखरोंके प्रहारसे बहुतेरे देवशत्रु असुरोंको पूर्णरूपसे घायल कर उन्हें कालके हवाले कर रहे थे। मय दानवकी आज्ञासे दूसरे दानवश्रेष्ठ उन मरे हुए दानवोंको उठाकर उसी बावलीमें डाल देते थे। उस बावलीमें पड़ते ही वे सभी दानव स्वर्गवासी देवताओंकी तरह तेजस्वी शरीर धारण कर उत्तम आभूषणों और वस्त्रोंसे विभूषित हो बाहर निकल आते थे। तदनन्तर बावलीमें डाल देनेसे जीवित हुए कुछ दानव ताल ठोककर सिंहनाद करते हुए इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे और कह रहे थे—'दानवो! इन प्रमथगणोंपर धावा करो। क्यों बैठे हो? (अब तुमलोगोंको कोई भय नहीं है; क्योंकि) मर जानेपर भी तुमलोगोंको यह बावली पुनः जीवित कर देगी' ॥ ३७—४७ ॥

एवं श्रुत्वा शङ्कुकर्णो वचोऽग्रग्रहसंनिभः। द्रुतमेवैत्य देवेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८ ॥
सूदिताः सूदिता देव प्रमथैरसुरा ह्यमी। उत्तिष्ठन्ति पुनर्भीमाः सस्या इव जलोक्षिताः ॥ ४९ ॥
अस्मिन् किल पुरे वापी पूर्णामृतरसाम्भसा। निहता निहता यत्र क्षिप्ता जीवन्ति दानवाः ॥ ५० ॥
इति विज्ञापयद् देवं शङ्कुकर्णो महेश्वरम्। अभवन् दानवबल उत्पाता वै सुदारुणाः ॥ ५१ ॥
तारकाख्यः सुभीमाक्षो दारितास्यो हरिर्यथा। अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो महादेवरथं प्रति ॥ ५२ ॥
त्रिपुरे तु महान् घोरो भेरीशङ्खरवो बभौ। दानवा निःसृता दृष्ट्वा देवदेवरथे सुरम् ॥ ५३ ॥
भूकम्पश्चाभवत्तत्र रथाङ्गो* भूगतोऽभवत्। दृष्ट्वा क्षोभमगाद्रुद्रः स्वयम्भूश्च पितामहः ॥ ५४ ॥
ताभ्यां देववरिष्ठाभ्यामन्वितः स रथोत्तमः। अनायतनमासाद्य सीदते गुणवानिव ॥ ५५ ॥
धातुक्षये देह इव ग्रीष्मे चाल्पमिवोदकम्। शैथिल्यं याति स रथः स्नेहो विप्रकृतो यथा ॥ ५६ ॥
रथादुत्पत्यात्मभूर्वै सीदन्तं तु रथोत्तमम्। उज्जहार महाप्राणो रथं त्रैलोक्यरूपिणम् ॥ ५७ ॥
तदा शराद् विनिष्पत्य पीतवासा जनार्दनः। वृषरूपं महत्कृत्वा रथं जग्राह दुर्धरम् ॥ ५८ ॥

* कुछ प्रतियोंके अनुसार यहाँ यदि 'शताङ्ग' पाठ भी हो तो विष्णु आदि सैकड़ों अङ्गयुक्त रथ ही अभिप्रेत होगा।

स विषाणाभ्यां त्रैलोक्यं रथमेव महारथः। प्रगृह्योद्वहते सज्जं कुलं कुलवहो यथा ॥ ५९ ॥
तारकाख्योऽपि दैत्येन्द्रो गिरीन्द्र इव पक्षवान्। अभ्यद्रवत्तदा देवं ब्रह्माणं हतवांश्च सः ॥ ६० ॥
स तारकाख्याभिहतः प्रतोदं न्यस्य कूबरे। विजज्वाल मुहुर्ब्रह्मा श्वासं वक्त्रात् समुद्गिरन् ॥ ६१ ॥

दानवोंको ऐसा कहते सुनकर सूर्यके समान तेजस्वी शङ्कुकर्णने शीघ्र ही देवेश्वर शंकरजीके निकट जाकर इस प्रकार कहा—'देव! प्रमथगणोंद्वारा बारंबार मारे गये ये भयंकर असुर पुनः उसी प्रकार जी उठते हैं, जैसे जलके सिञ्चनसे सूखी हुई फसल। निश्चय ही इस पुरमें अमृतरूपी जलसे परिपूर्ण कोई बावली है, जिसमें डाल देनेसे बार-बार मारे गये दानव पुनः जीवित हो जाते हैं।' इस प्रकार शङ्कुकर्णने भगवान् महेश्वरको सूचित किया। उसी समय दानवोंकी सेनामें अत्यन्त भीषण उत्पात होने लगे। तब परम भयानक नेत्रोंवाले तारकाक्षने अत्यन्त कुपित होकर सिंहकी तरह मुँह फैलाये हुए महादेवजीके रथपर धावा किया। उस समय त्रिपुरमें भेरियों और शङ्खोंका महान् भीषण निनाद होने लगा। देवाधिदेव शंकरजीके रथपर (शंकर और) ब्रह्माको उपस्थित देखकर दानवगण त्रिपुरसे बाहर निकले। तभी वहाँ ऐसा भयंकर भूकम्प आया, जिससे (शिवजीके) रथका चक्का पृथ्वीमें प्रविष्ट हो गया। यह देखकर भगवान् रुद्र और स्वयम्भू ब्रह्मा क्षुब्ध हो उठे। उन दोनों देवश्रेष्ठोंसे युक्त वह उत्तम रथ कहीं ठहरनेका स्थान न पाकर स्थानरहित गुणी पुरुषकी तरह विपत्तिग्रस्त हो गया। वह रथ वीर्यनाश हो जानेपर शरीर, ग्रीष्म ऋतुमें अल्प जलवाले जलाशय और निरस्कृत स्नेहकी तरह शिथिलताको प्राप्त हो गया। इस प्रकार जब वह श्रेष्ठ रथ नीचे जाने लगा, तब महाबली स्वयम्भू ब्रह्माने उससे कूदकर उस त्रैलोक्यरूपी रथको ऊपर उठा दिया। इतनेमें ही पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दनने बाणसे निकलकर विशाल वृषभका रूप धारण किया और उस दुर्धर रथको उठा लिया। वे महारथी जनार्दन त्रिलोकीरूप उस रथको अपने सींगोंपर उठाकर उसी तरह ढो रहे थे, जैसे कुलपति अपने संगठित कुलका भार वहन करता है। उसी समय पक्षधारी गिरिराजकी तरह विशालकाय दैत्येन्द्र तारकासुरने भी देवेश्वर ब्रह्मापर धावा बोल दिया और उन्हें घायल कर दिया। तब तारकासुरके प्रहारसे घायल हुए ब्रह्मा रथके कूबरपर चाबुक रखकर मुखसे बारंबार लम्बी साँस छोड़ते हुए (क्रोधसे) प्रज्वलित हो उठे ॥ ४८—६१ ॥

तत्र दैत्यैर्महानादो दानवैरपि भैरवः। तारकाख्यस्य पूजार्थं कृतो जलधरोपमः ॥ ६२ ॥
रथचरणकरोऽथ महामृधे वृषभवपुर्वृषभेन्द्रपूजितः।
दितितनयबलं विमर्द्य सर्वं त्रिपुरपुरं प्रविवेश केशवः ॥ ६३ ॥
सजलजलदराजितां समस्तां कुमुदवरोत्पलफुल्लपङ्कजाढ्याम्।
सुरगुरुरपिबत् पयोऽमृतं तद्विरिचि संचितशार्वरं तमोऽन्धम् ॥ ६४ ॥
वापीं पीत्वासुरेन्द्राणां पीतवासा जनार्दनः।
नर्दमानो महाबाहुः प्रविवेश शरं ततः ॥ ६५ ॥
ततोऽसुरा भीमगणेश्वरैर्हताः प्रहारसंवर्धितशोणितापगाः।
पराङ्मुखा भीममुखैः कृता रणे यथा नयाभ्युद्यततत्परैर्नरैः ॥ ६६ ॥
स तारकाख्यस्तडिमालिरेव च मयेन सार्धं प्रमथैरभिद्रुताः।
पुरं परावृत्य नु ते शरार्दिता यथा शरीरं पवनोदये गताः ॥ ६७ ॥
गणेश्वराभ्युद्यतदर्पकाशिनो महेन्द्रनन्दीश्वरषण्मुखा युधि।
विनेदुरुच्चैर्जहसुश्च दुर्मदा जयेम चन्द्रादिदिगीश्वरैः सह ॥ ६८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

वहाँ दैत्य और दानव तारकासुरका सत्कार करनेके लिये मेघकी गर्जनाके समान अत्यन्त भयंकर सिंहनाद करने लगे । यह देखकर वृषभका शरीर धारण करनेवाले एवं शंकरद्वारा पूजित भगवान् केशव हाथमें सुदर्शन चक्र धारण कर उस महासमरमें दैत्योंकी सारी सेनाओंका मर्दन करते हुए त्रिपुरमें प्रविष्ट हुए । वहाँ वे उस बावलीपर जा पहुँचे, जो चारों ओरसे बादलोसे सुशोभित तथा खिली हुई कुमुदिनी, नीलकमल और अन्यान्य कमलोसे व्याप्त थी । फिर तो उन देवश्रेष्ठने उसके अमृतरूपी जलको इस प्रकार पी लिया, जैसे सूर्य रात्रिमें संचित हुए घने अन्धकारको पी जाते हैं । इस प्रकार पीताम्बरधारी महाबाहु जनार्दन असुरेन्द्रोंकी बावलीका अमृत पीकर सिंहनाद करते हुए पुनः उसी बाणमें प्रविष्ट हो गये । तत्पश्चात् भयावने मुखवाले भयंकर गणेश्वरोंने असुरोंको मारना प्रारम्भ किया । उनके प्रहारसे घायल हुए दानवोंके रुधिरसे नदियाँ बह चलीं । वे उसी प्रकार युद्धविमुख कर दिये गये, जैसे नयशील पुरुष अन्यायियोंको विमुख कर देते हैं । इस प्रकार प्रमथगणोंद्वारा खदेड़े गये एवं बाणोंके प्रहारसे घायल मयके साथ तारकासुर और विद्युन्माली त्रिपुरमें ऐसे लौट आये, मानो उनके शरीरसे प्राण ही निकल गये हों । उस समय युद्धस्थलमें महेन्द्र, नन्दीश्वर और स्वामिकार्तिक गणेश्वरोंके साथ दर्पसे सुशोभित हो रहे थे । वे उन्मत्त होकर सिंहनाद एवं अट्टहास करते हुए कहने लगे कि अब चन्द्रमा आदि दिक्पालो-सहित हमलोग अवश्य विजयी होंगे ॥ ६२—६८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहप्रसङ्गमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३६ ॥

एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय

वापी-शोषणसे मयको चिन्ता, मय आदि दानवोंका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश तथा शंकरजीका इन्द्रको युद्ध करनेका आदेश

सूत उवाच

प्रमथैः समरे भिन्नास्त्रैपुरास्ते सुरारयः । पुरं प्रविविशुर्भीताः प्रमथैर्भग्नगोपुरम् ॥ १ ॥
शीर्णदंष्ट्रा यथा नागा भग्नशृङ्गा यथा वृषाः । यथा विपक्षाः शकुना नद्यः क्षीणोदका यथा ॥ २ ॥
मृतप्रायास्तथा दैत्या दैवतैर्विकृताननाः । बभूवुस्ते विमनसः कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ३ ॥
अथ तान् म्लानमनसस्तदा तामरसाननः । उवाच दैत्यो दैत्यानां परमाधिपतिर्मयः ॥ ४ ॥
कृत्वा युद्धानि घोराणि प्रमथैः सह सामरैः । तोषयित्वा तथा युद्धे प्रमथानमरैः सह ॥ ५ ॥
युद्धं यत् प्रथमं दैत्याः पश्चाच्च बलपीडिताः । प्रविष्टा नगरं त्रासात् प्रमथैर्भृशमर्दिताः ॥ ६ ॥
अप्रियं क्रियते व्यक्तं देवैर्नास्त्यत्र संशयः । यत्र नाम महाभागाः प्रविशन्ति गिरेर्वनम् ॥ ७ ॥
अहो हि कालस्य बलमहो कालो हि दुर्जयः । यत्रेदृशस्य दुर्गस्य उपरोधोऽयमागतः ॥ ८ ॥
मये विवदमाने तु नर्दमान इवाम्बुदे । बभूवुर्निष्प्रभा दैत्या ग्रहा इन्दूदये यथा ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इस प्रकार समर-भूमिमें प्रमथगणोंद्वारा घायल किये गये त्रिपुरवासी देवशत्रु दानव भयभीत होकर त्रिपुरमें लौट गये । उस समय प्रमथोंने त्रिपुरके फाटकको भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था । जैसे नष्ट हुए दाँतोंवाले सर्प, टूटे हुए सींगोंवाले साँड, डैनेरहित पक्षी और क्षीण जलवाली नदियाँ शोभाहीन हो जाती हैं, उसी प्रकार देवताओंके प्रहारसे दैत्यवृन्द मृतप्राय हो गये थे । उनके मुख विकृत हो गये थे और वे खिन्न मनसे कह रहे थे कि अब क्या किया जाय ? तब कमल-सदृश मुखवाले दैत्योंके

चक्रवर्ती सम्राट् मय दैत्यने उन मलिन मनवाले दैत्योंसे कहा—'दैत्यो ! इसमें संदेह नहीं है कि तुमलोगोंने पहले युद्धभूमिमें देवताओंसहित प्रमथगणोंके साथ भयंकर युद्ध करके उन्हें संतुष्ट किया है, किंतु पीछे तुमलोग देवसेनासे पीड़ित और प्रमथोंके प्रहारसे अत्यन्त घायल होकर भयवश नगरमें भाग आये हो। निस्संदेह देवगण प्रकटरूपमें हमलोगोंका अप्रिय कर रहे हैं, इसी कारण ये महान् भाग्यशाली दैत्य इस समय भागकर पर्वतीय वनोंमें छिप रहे हैं। अहो ! कालका बल महान् है ! अहो ! यह काल किसी प्रकार जीता नहीं जा सकता। कालके ही प्रभावसे त्रिपुर-जैसे दुर्गपर यह अवरोध आ गया है।' मेघकी भाँति कड़कते हुए मयके इस प्रकार विषाद करनेपर सभी दैत्य उसी प्रकार निस्तेज हो गये, जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर अन्य ग्रह मलिन हो जाते हैं ॥ १—९ ॥

वापीपालास्ततोऽभ्येत्य नभः काल इवाम्बुदाः। मयमाहुर्यमप्रख्यं साञ्जलिप्रग्रहाः स्थिताः ॥ १० ॥
या सामृतरसा गूढा वापी वै निर्मिता त्वया। समाकुलोत्पलवना समीनाकुलपङ्कजा ॥ ११ ॥
पीता सा वृषरूपेण केनचिद् दैत्यनायक। वापी त्वा साम्प्रतं दृष्टा मृतसंज्ञा इवाङ्गना ॥ १२ ॥
वापीपालवचः श्रुत्वा मयोऽसौ दानवप्रभुः। कष्टमित्यसकृत् प्रोच्य दितिजानिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥
मया मायाबलकृता वापी पीता त्वियं यदि। विनष्टाः स्म न संदेहस्त्रिपुरं दानवा गतम् ॥ १४ ॥
निहतान् निहतान् दैत्यानाजीवयति दैवतैः। पीता वा यदि वा वापी पीता वै पीतवाससा ॥ १५ ॥
कोऽन्यो मन्मायया गुप्तां वापीममृततोयिनीम्। पास्यते विष्णुमजितं वर्जयित्वा गदाधरम् ॥ १६ ॥
सुगुह्यमपि दैत्यानां नास्त्यस्याविदितं भुवि। यत्र मद्वरकौशल्यं विज्ञातं न बुधैः बुधैः ॥ १७ ॥
समोऽयं रुचिरो देशो निर्द्रुमो निर्द्रुमाचलः। नवाम्भःपूरितं कृत्वा बाधन्तेऽस्मान् मरुद्गणाः ॥ १८ ॥
ते यूयं यदि मन्यध्वं सागरोपरि धिष्ठिताः। प्रमथानां महावेगं सहामः श्वसनोपमम् ॥ १९ ॥
एतेषां च समारम्भास्तस्मिन् सागरसम्प्लवे। निरुत्साहा भविष्यन्ति एतद्रथपथावृताः ॥ २० ॥
युध्यतां निघ्नतां शत्रून् भीतानां च द्रविष्यताम्। सागरोऽम्बरसङ्काशः शरणं नो भविष्यति ॥ २१ ॥
इत्युक्त्वा स मयो दैत्यो दैत्यानामधिपस्तदा। त्रिपुरेण ययौ तूर्णं सागरं सिन्धुबान्धवम् ॥ २२ ॥
सागरे जलगम्भीरे उत्पपात पुरं वरम्। अवतस्थुः पुराण्येव गोपुराभरणानि च ॥ २३ ॥

इसी समय वर्षाकालीन मेघकी तरह शरीरधारी बावलीके रक्षक दैत्य यमराज-सदृश भयंकर मयके निकट आकर हाथ जोड़कर (अभिवादन करके) खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—'दैत्यनायक ! आपने अमृतरूपी जलसे भरी हुई जिस गुप्त बावलीका निर्माण किया था, जो नील कमल-वनसे व्याप्त थी तथा जिसमें मछलियाँ और विभिन्न प्रकारके भी कमल भरे हुए थे, उसे वृषभरूपधारी किसी देवताने पी लिया। इस समय वह बावली मूर्च्छित हुई सुन्दरी स्त्रीकी भाँति दीख रही है।' बावलीके रक्षकोंकी बात सुनकर दानवराज मय 'कष्ट है'—ऐसा कई बार कहकर दैत्योंसे इस प्रकार बोला—'दानवो ! मेरेद्वारा मायाके बलसे रची हुई बावलीको यदि किसीने पी लिया तो निश्चय समझो कि हमलोग नष्ट हो गये और त्रिपुरको भी गया हुआ ही समझो। हाय ! जो देवताओंद्वारा बार-बार मारे गये दैत्योंको जीवन-दान देती थी, वह बावली पी ली गयी ! यदि वह सचमुच पी ली गयी तो (निश्चय ही) उसे पीताम्बरधारी विष्णुने ही पीया होगा। भला, गदाधारी अजेय विष्णुको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा समर्थ है, जो मेरी मायाद्वारा गुप्त एवं अमृतरूपी जलसे भरी हुई बावलीको पी सकेगा ? भूतलपर दैत्योंकी गुप्त-से-गुप्त बात विष्णुसे अज्ञात नहीं है। मेरी वर-प्राप्तिकी कुशलता, जिसे विद्वान्‌लोग नहीं जान सके, विष्णुसे छिपी नहीं है। हमारा यह देश सुन्दर और समतल है। यह वृक्ष और पर्वतसे रहित है।

फिर भी मरुद्गण इसे नूतन जलसे परिपूर्ण करके हमलोगोंको बाधा पहुँचा रहे हैं। इसलिये यदि तुम-लोगोंको स्वीकार हो तो हमलोग सागरके ऊपर स्थित हो जायँ और वहाँसे प्रमथोंके वायुके समान महान् वेगको सहन करें। सागरकी उस बाढ़में इनका सारा उद्योग उत्साहहीन हो जायगा और उस विशाल रथका मार्ग रुक जायगा। इसलिये युद्ध करते समय, शत्रुओंको मारते समय और भयभीत होकर भागते समय हमलोगोंके लिये यह सागर आकाशकी भाँति शरणदाता हो जायगा।' ऐसा कहकर दैत्यराज मय दानव तुरंत त्रिपुरसहित नदियोंके बन्धुस्वरूप सागरकी ओर प्रस्थित हुआ। फिर तो वह श्रेष्ठ त्रिपुर नामक नगर अगाध जलवाले सागरके ऊपर मँडराने लगा। उसके फाटक और आभूषणादि-सहित तीनों पुर यथास्थान स्थित हो गये ॥ १०—२३ ॥

अपक्रान्ते तु त्रिपुरे त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः। पितामहमुवाचेदं वेदवादविशारदम् ॥ २४ ॥
पितामह दृढं भीता भगवन् दानवा हि नः। विपुलं सागरं ते तु दानवाः समुपाश्रिताः ॥ २५ ॥
यत एव हि ते यातास्त्रिपुरेण तु दानवाः। तत एव रथं तूर्णं प्रापयस्व पितामह ॥ २६ ॥
सिंहनादं ततः कृत्वा देवा देवरथं च तम्। परिवार्य ययुर्हृष्टाः सायुधाः पश्चिमोदधिम् ॥ २७ ॥
ततोऽमरामरगुरुं परिवार्य भवं हरम्। नर्दयन्तो ययुस्तूर्णं सागरं दानवालयम् ॥ २८ ॥

अथ चारुपताकभूषितं पटहाडम्बरशङ्खनादितम्।
त्रिपुरमभिसमीक्ष्य देवता विविधबला ननदुर्यथा घनाः ॥ २९ ॥
असुरवरपुरेऽपि दारुणो जलधररावमृदङ्गगह्वरः।
दनुतनयनिनादमिश्रितः प्रतिनिधिः संक्षुभितार्णवोपमः ॥ ३० ॥
अथ भुवनपतिर्गतिः सुराणामरिमृगयामददात् सुलब्धबुद्धिः।
त्रिदशगणपतिं ह्युवाच शक्रं त्रिपुरगतं सहसा निरीक्ष्य शत्रुम् ॥ ३१ ॥
त्रिदशगणपते निशामयैतत् त्रिपुरनिकेतनं दानवाः प्रविष्टाः।
यमवरुणकुबेरषण्मुखैस्तत् सह गणपैरपि हन्मि तावदेव ॥ ३२ ॥
विहितपरबलाभिघातभूतं व्रज जलधेस्तु यतः पुराणि तस्थुः।
स रथवरगतो भवः समर्थो ह्युदधिमगात् त्रिपुरं पुनर्निहन्तुम् ॥ ३३ ॥
इति परिगणयन्तो दितेः सुता ह्यवतस्थुर्लवणार्णवोपरिष्टात्।
अभिभवत् त्रिपुरं सदानवेन्द्रं शरवर्षैर्मुसलैश्च वज्रमिश्रैः ॥ ३४ ॥
अहमपि रथवर्यमास्थितः सुरवरवर्य भवेय पृष्ठतः।
असुरवरवधार्थमुद्यतानां प्रतिविदधामि सुखाय तेऽनघ ॥ ३५ ॥
इति भववचनप्रचोदितो दशशतनयनवपुः समुद्यतः।
त्रिपुरपुरजिघांसया हरिः प्रविकसिताम्बुजलोचनो ययौ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुराक्रमणं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार त्रिपुरके दूर हट जानेपर त्रिपुरारि भगवान् शंकरने वेदवादमें निपुण ब्रह्मासे इस प्रकार कहा—'ऐश्वर्यशाली पितामह! दानवगण हमलोगोंसे भलीभाँति डर गये हैं, इसलिये वे भागकर विशाल सागरकी शरणमें चले गये। पितामह! त्रिपुरसहित वे दानव जिस मार्गसे गये हैं, उसी मार्गसे आप शीघ्र ही मेरे रथको वहाँ पहुँचाइये।' तब आयुधधारी देवगण हर्षपूर्वक सिंहनाद करके और उस देवरथको चारों ओरसे घेरकर पश्चिम सागरकी ओर चल पड़े। तत्पश्चात् देवगण देवश्रेष्ठ भगवान् शंकरको चारों ओरसे घेरकर सिंहनाद करते हुए शीघ्र ही दानवोंके निवासस्थान सागरकी ओर प्रस्थित हुए। वहाँ

पहुँचनेपर सुन्दर पताकाओंसे विभूषित तथा ढोल, नगारे और शङ्खके शब्दोंसे निनादित त्रिपुरको देखकर अनेकों सेनाओंसे सम्पन्न देवगण बादलोंकी तरह गर्जना करने लगे। उधर असुरश्रेष्ठ मयके पुरमें भी दानवोंके सिंहनादके साथ-साथ मेघ-गर्जनाके सदृश मृदंगोंका भयंकर एवं गम्भीर शब्द हो रहा था, जो क्षुब्ध हुए महासागरकी गर्जनाके समान प्रतीत हो रहा था। तदनन्तर देवताओंके आश्रयस्थान प्रत्युत्पन्नमति त्रिभुवन-पति शंकर शत्रुओंका शिकार करनेके लिये उद्यत हो गये। तब उन्होंने सहसा शत्रुओंको त्रिपुरमें प्रवेश करते देखकर देवताओं और गणोंके सेनानायक इन्द्रसे इस प्रकार कहा—'देवताओं और गणेश्वरोंके नायक इन्द्र! आपलोग मेरी यह बात सुनें। दानवलोग अपने निवासस्थान त्रिपुरमें घुस गये हैं, अतः आप यम, वरुण, कुबेर, कार्तिकेय तथा गणेश्वरोंको साथ लेकर इनका संहार करें। तबतक मैं भी इन्हें मार रहा हूँ। आप शत्रु-सेनापर प्रहार करते हुए समुद्रके उस स्थानतक बढ़ते चलें, जहाँ तीनों पुर स्थित हैं। यह देखकर जब उन दैत्योंको यह विदित हो जायगा कि सामर्थ्यशाली शंकर उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो पुनः त्रिपुरका विनाश करनेके लिये समुद्रतटपर आ गये हैं, तब वे लवणसागरके ऊपर निकल आयेंगे। तब आप वज्रसहित मुसलों एवं बाणोंकी वर्षा करते हुए दानवेन्द्रोंसहित त्रिपुरपर आक्रमण कर दें। सुरश्रेष्ठ! उस समय मैं भी इस श्रेष्ठ रथपर बैठा हुआ असुरेन्द्रोंका वध करनेके लिये उद्यत आपलोगोंके पीछे रहूँगा। अनघ! मैं सर्वथा आपलोगोंके सुखका विधान करता रहूँगा।' इस प्रकार शंकरजीके वचनोंसे प्रेरित होकर एक हजार नेत्रोंवाले इन्द्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलके सदृश सुन्दर थे, त्रिपुरके विनाशकी इच्छासे उद्यत होकर आगे बढ़े ॥ २४—३६ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें त्रिपुराक्रमण नामक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३७ ॥

एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंमें घमासान युद्ध तथा तारकासुरका वध

सूत उवाच

मघवा तु निहन्तुं तानसुरानमरेश्वरः। लोकपाला ययुः सर्वे गणपालाश्च सर्वगः ॥ १ ॥
ईश्वरेणोर्जिताः सर्वे उत्पेतुश्चाम्बरे तदा। खगतास्तु विरेजुस्ते पक्षवन्त इवाचलाः ॥ २ ॥
प्रययुस्तत्पुरं हन्तुं शरीरमिव व्याधयः।
शङ्खाडम्बरनिर्घोषैः पणवान् पटहानपि। नादयन्तः पुरो देवा दृष्टास्त्रिपुरवासिभिः ॥ ३ ॥
हरः प्राप्त इतीवोक्त्वा बलिनस्ते महासुराः। आजग्मुः परमं क्षोभमत्ययेष्विव सागराः ॥ ४ ॥
सुरतूर्यरवं श्रुत्वा दानवा भीमदर्शनाः। निनदुर्वादयन्तश्च नानावाद्यान्यनेकशः ॥ ५ ॥
भूयोदीरितवीर्यास्ते परस्परकृतागसः। पूर्वदेवाश्च देवाश्च सूदयन्तः परस्परम् ॥ ६ ॥
आक्रोशेऽपि समप्रख्ये तेषां देहनिकृन्तनम्। प्रवृत्तं युद्धमतुलं प्रहारकृतनिःस्वनम् ॥ ७ ॥
निष्पतन्त इवादित्याः प्रज्वलन्त इवाग्नयः।
श्वसन्त इव नागेन्द्रा भ्रमन्त इव पक्षिणः। गिरीन्द्रा इव कम्पन्तो गर्जन्त इव तोयदाः ॥ ८ ॥
जृम्भन्त इव शार्दूलाः प्रवान्त इव वायवः। प्रवृद्धोर्मितरङ्गौघाः क्षुभ्यन्त इव सागराः ॥ ९ ॥
प्रमथाश्च महाशूरा दानवाश्च महाबलाः। युयुधुर्निश्चला भूत्वा वज्रा इव महाचलैः ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! शंकरजीद्वारा उत्साहित गणपाल सब ओरसे उन असुरोंका वध करनेके लिये जानेपर देवराज इन्द्र, सभी लोकपाल और लिये चले और आकाशकी ओर उछल पड़े। आकाशमें

पहुँचकर वे पंखधारी पर्वतकी तरह शोभा पाने लगे। तत्पश्चात् वे शङ्ख और डंकेके निर्घोषके साथ-साथ ढोलों और नगाड़ोंको पीटते हुए त्रिपुरका विनाश करनेके लिये उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे व्याधियाँ शरीरको नष्ट कर देती हैं। इतनेमें त्रिपुरवासी दानवोंने देवगणोंको आगे बढ़ते हुए देख लिया। फिर तो वे महाबली असुर 'शंकर (यहाँ भी) आ गये'—ऐसा कहकर प्रलयकालीन सागरोंकी तरह परम क्षुब्ध हो उठे। तब भयंकर रूपधारी दानव देवताओंकी तुरहियोंका शब्द सुनकर नाना प्रकारके बाजे बजाते हुए बारंबार उच्च स्वरसे गर्जना करने लगे। तत्पश्चात् पुनः पराक्रम प्रकट करनेवाले वे दानव और देव परस्पर क्रुद्ध होकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। दोनों सेनाओंमें समानरूपसे सिंहनाद हो रहे थे। उनके शरीर कट-कटकर गिर रहे थे। फिर तो प्रहार करनेवालोंकी गर्जनाके साथ-साथ अनुपम युद्ध छिड़ गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो अनेको सूर्य गिर रहे हैं, अग्नियाँ प्रज्वलित हो उठी हैं, विषधर सर्प फुफकार मार रहे हैं, पक्षी आकाशमें चक्कर काट रहे हैं, पर्वत काँप रहे हैं, बादल गरज रहे हैं, सिंह जमुहाई ले रहे हैं, भयानक झंझावात चल रहा है और उछलती हुई लहरोंके समूहसे सागर क्षुब्ध हो उठा है। इस प्रकार महान् शूरवीर प्रमथ और महाबली दानव उसी प्रकार डटकर युद्ध कर रहे थे, जैसे महान् पर्वतोंसे टकरानेपर भी वज्र अटल रहता है ॥ १—१० ॥

कार्मुकाणां विकृष्टानां बभूवुर्दारुणा रवाः। कालानुगानां मेघानां यथा वियति वायुना ॥ ११ ॥
आहुश्च युद्धे मा भैषीः क्व यास्यसि मृतो ह्यसि। प्रहराशु स्थितोऽस्म्यत्र एहि दर्शय पौरुषम् ॥ १२ ॥
गृहाण छिन्धि भिन्धीति खाद मारय दारय। इत्यन्योऽन्यमनूच्चार्य प्रययुर्यमसादनम् ॥ १३ ॥
खड्गापवर्जिताः केचित् केचिच्छिन्ना परश्वधैः। केचिन्मुद्गरचूर्णाश्च केचिद् बाहुभिराहताः ॥ १४ ॥
पट्टिशैः सूदिताः केचित् केचिच्छूलविदारिताः।
दानवाः शरपुष्पाभाः सवना इव पर्वताः। निपतन्त्यर्णवजले भीमनक्रतिमिंगिले ॥ १५ ॥
व्यसुभिः सुनिबद्धाङ्गैः पतमानैः सुरेतरैः। सम्बभूवार्णवे शब्दः सजलाम्बुदनिःस्वनः ॥ १६ ॥
तेन शब्देन मकरा नक्रास्तिमितिमिंगिलाः। मत्ता लोहितगन्धेन क्षोभयन्तो महार्णवम् ॥ १७ ॥
परस्परेण कलहं कुर्वाणा भीममूर्तयः। भ्रमन्ते भक्षयन्तश्च दानवानां च लोहितम् ॥ १८ ॥
सरथान् सायुधान् साश्वान् सवस्त्राभरणावृतान्। जग्रसुस्तिमयो दैत्यान् द्रावयन्तो जलेचरान् ॥ १९ ॥
मृधे यथासुराणां च प्रमथानां प्रवर्तते। अम्बरेऽम्भसि च तथा युद्धं चक्रुर्जलेचराः ॥ २० ॥

जैसे आकाशमें वायुद्वारा प्रेरित किये जानेपर प्रलयकालीन मेघोंकी गर्जना होती है, उसी तरह खींचे जाते हुए धनुषोंके भीषण शब्द हो रहे थे। युद्धभूमिमें दोनों ओरके वीर परस्पर 'मत डरो, कहाँ भागकर जाओगे, अब तो तुम मरे ही हो, शीघ्र प्रहार करो, मै यहाँ खड़ा हूँ, आओ और अपना पुरुषार्थ दिखाओ, पकड़ लो, काट डालो, विदीर्ण कर दो, खा लो, मार डालो, फाड़ डालो'—ऐसा शब्द बोल रहे थे और पुनः शान्त होकर यमलोकके पथिक बन जाते थे। उनमेंसे कुछ वीर तलवारसे काट डाले गये थे, कुछ फरसोंसे छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे, कुछ मुद्गरोंकी मारसे चूर्ण-सरीखे हो गये थे, कुछ हाथके चपेटोंसे घायल कर दिये गये, कुछ पट्टिशों (पटों) के प्रहारसे मार डाले गये और कुछ शूलोंसे विदीर्ण कर दिये गये। सरपतके फूलकी-सी कान्तिवाले दानव वनसहित पर्वतोंकी तरह भयंकर नाक और तिमिंगिलोंसे भरे हुए समुद्रके जलमें गिर रहे थे। दानवोंके कवच आदिसे भलीभाँति बँधे हुए प्राणरहित शरीरोंके समुद्रमें गिरनेसे सजल जलधरकी गर्जनाके समान शब्द हो रहा था। उस शब्दसे तथा दानवोंके रुधिरकी गन्धसे मतवाले हुए

मगर, नाक, तिमि और तिमिंगिल आदि जन्तु महासागरको क्षुब्ध कर रहे थे। वे भयंकर आकारवाले जलजन्तु परस्पर झगड़ते हुए दानवोंका रुधिर पान कर चक्कर काट रहे थे। यूथ-के-यूथ मगरमच्छ अन्य जल-जन्तुओंको खदेड़कर रथ, आयुध, अश्व, वस्त्र और आभूषणोंसहित दैत्योंको निगल जाते थे। जिस प्रकार आकाशमें दानवों और प्रमथोंका युद्ध चल रहा था, उसी तरह समुद्रमें जल-जन्तु (शवोंको खानेके लिये) परस्पर लड़ रहे थे॥ ११–२०॥

यथा भ्रमन्ति प्रमथाः सदैत्यास्तथा भ्रमन्ते तिमयः सनक्राः।
यथैव छिन्दन्ति परस्परं तु तथैव क्रन्दन्ति विभिन्नदेहाः॥ २१॥
व्रणाननैरङ्गरसं स्रवद्भिः सुरासुरैर्नक्रतिमिंगिलैश्च।
कृतो मुहूर्तेन समुद्रदेशः सरक्ततोयः समुदीर्णतोयः॥ २२॥
पूर्वं महाम्भोधरपर्वताभं द्वारं महान्तं त्रिपुरस्य शक्रः।
निपीड्य तस्थौ महता बलेन युक्तोऽमराणां महता बलेन॥ २३॥
तथोत्तरं सोऽन्तरजो हरस्य बालार्कजाम्बूनदतुल्यवर्णः।
स्कन्दः पुरद्वारमथारुरोह वृद्धोऽस्तशृङ्गं प्रपतन्निवार्कः॥ २४॥
यमश्च वित्ताधिपतिश्च देवो दण्डान्वितः पाशवरायुधश्च।
देवारिणस्तस्य पुरस्य द्वारं ताभ्यां तु तत्पश्चिमतो निरुद्धम्॥ २५॥
दक्षारिरुद्रस्तपनायुताभः स भास्वता देवरथेन देवः।
तद्दक्षिणद्वारमरेः पुरस्य रुद्ध्वावतस्थो भगवांस्त्रिनेत्रः॥ २६॥
तुङ्गानि वेश्मानि सगोपुराणि स्वर्णानि कैलासशशिप्रभाणि।
प्रह्लादरूपाः प्रमथावरुद्धा ज्योतींषि मेघा इव चाश्मवर्षाः॥ २७॥
उत्पाट्य चोत्पाट्य गृहाणि तेषां सशैलमालासमवेदिकानि।
प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य समुद्रमध्ये कालाम्बुदाभाः प्रमथा विनेदुः॥ २८॥
रक्तानि चाशोकवनैर्युतानि साशोकखण्डानि सकोकिलानि।
गृहाणि हे नाथ पितः सुतेति भ्रातेति कान्तेति प्रियेति चापि।
उत्पाट्यमानेषु गृहेषु नार्यस्त्वनार्यशब्दान् विविधान् प्रचक्रुः॥ २९॥
कलत्रपुत्रक्षयप्राणनाशे तस्मिन् पुरे युद्धमतिप्रवृत्ते।
महासुराः सागरतुल्यवेगा गणेश्वराः कोपवृताः प्रतीयुः॥ ३०॥
परश्वधैस्तत्र शिलोपलैश्च त्रिशूलवज्रोत्तमकम्पनैश्च।
शरीरसंक्षपणं सुघोरं युद्धं प्रवृत्तं दृढवैरबद्धम्॥ ३१॥
अन्योऽन्यमुद्दिश्य विमर्दतां च प्रधावतां चैव विनिघ्नतां च।
शब्दो बभूवामरदानवानां युगान्तकालेष्विव सागराणाम्॥ ३२॥

उस समय जैसे आकाशमें प्रमथगण दैत्योंके साथ युद्ध करते हुए चक्कर काट रहे थे, वैसे ही जलमें मगरमच्छ नाकोंके साथ झगड़ते हुए घूम रहे थे। जैसे देवता और दानव परस्पर एक-दूसरेके शरीरको काट रहे थे, वैसे ही मगरमच्छ और नाक भी एक-दूसरेके शरीरको विदीर्ण कर चीत्कार कर रहे थे। देवताओं, असुरों, नाकों और तिमिंगिलोंके घावों और मुखोंसे बहते हुए रुधिरसे समुद्रके उस प्रदेशका जल मुहूर्तमात्रके लिये रक्तयुक्त हो गया और वहाँ बाढ़ आ गयी। उस त्रिपुरका पूर्वद्वार अत्यन्त विशाल और काले मेघ तथा पर्वतके समान कान्तिमान् था। महान् बलशाली इन्द्र देवताओंकी विशाल सेनाके साथ उस द्वारको अवरुद्ध कर खड़े थे। उसी प्रकार उदयकालीन सूर्य और सुवर्णके तुल्य रंगवाले शंकरजीके आत्मज

*

स्कन्द त्रिपुरके उत्तरद्वारपर ऐसे चढ़े हुए थे मानो बढ़े हुए सूर्य अस्ताचलके शिखरोंपर चढ़ रहे हों। दण्डधारी यमराज और अपने श्रेष्ठ अस्त्र पाशको धारण किये हुए कुबेर—ये दोनों देवता उस देवशत्रु मयके पुरके पश्चिम-द्वारपर घेरा डाले हुए थे। दस हजार सूर्योंकी-सी आभावाले दक्षके शत्रु त्रिनेत्रधारी भगवान् रुद्रदेव उस उद्दीप्त देवरथपर आरूढ़ होकर शत्रु-नगरके दक्षिण-द्वारको रोककर स्थित थे। उस त्रिपुरके फाटकोंसहित स्वर्णनिर्मित ऊँचे-ऊँचे महलोंको, जो कैलास और चन्द्रमाके सदृश चमक रहे थे, प्रसन्न मुखवाले प्रमथोंने उसी प्रकार अवरुद्ध कर रखा था, जैसे उपलोंकी वर्षा करनेवाले मेघ ज्योतिर्गणोंको घेर लेते हैं। काले मेघकी-सी कान्तिवाले प्रमथगण दानवोंके पर्वतमालाके सदृश ऊँची-ऊँची वेदिकाओंसे युक्त गृहोंको, जो लाल वर्णवाले तथा अशोक-वृक्षों एवं अन्यान्य वनोंसे युक्त थे और जिनमें कोयलें कूक रही थीं, उखाड़-उखाड़कर लगातार समुद्रमें फेंक रहे थे और उच्च स्वरसे गर्जना कर रहे थे। गृहोंको उखाड़ते समय उनमें रहनेवाली स्त्रियाँ 'हे नाथ! हा पिता! अरे पुत्र! हाय भाई! हाय कान्त! हे प्रियतम!' आदि अनेक प्रकारके अनार्योचित शब्द बोल रही थीं। इस प्रकार जब उस पुरमें स्त्री, पुत्र तथा प्राणका विनाश करनेवाला अत्यन्त भीषण युद्ध होने लगा, तब सागरतुल्य वेगशाली महान् असुर और गणेश्वर क्रोधसे भर गये। फिर तो कुठार, शिलाखण्ड, त्रिशूल, श्रेष्ठ वज्र और कम्पन* (एक प्रकारका शस्त्र) आदिके प्रहारसे शरीर और गृहको विनष्ट करनेवाला अत्यन्त घोर युद्ध आरम्भ हो गया; क्योंकि दोनों सेनाओंमें सुदृढ़ वैर बँधा हुआ था। परस्पर एक-दूसरेको लक्ष्य करके मर्दन, आक्रमण और प्रहार करनेवाले देवताओ और दानवोंका प्रलयकालमें सागरोंकी गर्जनाकी भाँति भीषण शब्द होने लगा ॥ २१—३२ ॥

व्रणैरजस्रं क्षतजं वमन्तः कोपोपरक्ता बहुधा नदन्तः।
गणेश्वरास्तेऽसुरपुंगवाश्च युध्यन्ति शब्दं च महद्रुद्गिरन्तः ॥ ३३ ॥
मार्गाः पुरे लोहितकर्दमाक्ताः स्वर्णप्रकास्फाटिकभिन्नचित्राः।
कृता मुहूर्तेन सुखेन गन्तुं छिन्नोत्तमाङ्गाङ्घ्रिकराः करालाः ॥ ३४ ॥
कोपावृताक्षः स तु तारकाख्यः संख्ये सवृक्षः सगिरिर्निलीनः।
तस्मिन् क्षणे द्वारवरं रिरक्षो रुद्रं भवेनाद्भुतविक्रमेण ॥ ३५ ॥
स तत्र प्राकारगतांश्च भूताञ्शान्तान् महानद्भुतवीर्यसत्त्वः।
चचार चाप्तेन्द्रियगर्वहस्तः पुराद् विनिष्क्रम्य ररास घोरम् ॥ ३६ ॥
ततः स दैत्योत्तमपर्वताभो यथाञ्जसा नाग इवाभिमत्तः।
निवारितो रुद्ररथं जिघृक्षुर्यथार्णवः सर्पति चातिवेलः ॥ ३७ ॥
शेषः सुधन्वा गिरिशश्च देवश्चतुर्मुखो यः स त्रिलोचनश्च।
ते तारकाख्याभिगताजौ क्षोभं यथा वायुवशात् समुद्राः ॥ ३८ ॥
शेषो गिरीशः सपितामहेशश्चोत्क्षुभ्यमाणः स रथेऽम्बरस्थः।
बिभेद संधीषु बलाभिपन्नः कूजन् निनादांश्च करोति घोरान् ॥ ३९ ॥
एकं तु ऋग्वेदतुरंगमस्य पृष्ठे पदं न्यस्य वृषस्य चैकम्।
तस्थौ भवः सोद्यतबाणचापः पुरस्य तत्सङ्गमवीक्षमाणः ॥ ४० ॥
तदा भवपदन्यासाद्धयस्य वृषभस्य च। पेतुः स्तनाश्च दन्ताश्च पीडिताभ्यां त्रिशूलिना॥ ४१ ॥
ततःप्रभृति चाश्वानां स्तना दन्ता गवां तथा। गूढाः समभवंस्तेन चादृश्यत्वमुपागताः ॥ ४२ ॥

* यह एक शस्त्र है। इसका वर्णन महाभारत १। ६९। २३ आदिमें आता है।

तारकाख्यस्तु भीमाक्षो रौद्ररक्तान्तरेक्षणीः। रुद्रान्तिके सुसंरुद्धो नन्दिना कुलनन्दिना ॥ ४३ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन स नन्दी दानवेश्वरम्। तक्षयामास वै तक्षा चन्दनं गन्धदो यथा ॥ ४४ ॥
परश्वधहतः शूरः शैलादिः शरभो यथा। दुद्राव खड्गं निष्कृष्य तारकाख्यो गणेश्वरम् ॥ ४५ ॥
यज्ञोपवीतमार्गेण चिच्छेद च ननाद च।
ततः सिंहरवो घोरः शङ्खशब्दश्च भैरवः। गणेश्वरैः कृतस्तत्र तारकाख्ये निषूदिते ॥ ४६ ॥

उस समय वे गणेश्वर और असुरश्रेष्ठ घावोंसे निरन्तर रक्तकी धारा बहाते हुए, बारंबार गरजते हुए और भयंकर शब्द बोलते हुए युद्ध कर रहे थे। उस पुरमें स्वर्ण और स्फटिक मणिकी ईंटोंसे बने हुए जो चित्र-विचित्र मार्ग थे, वे दो ही घड़ीमें रुधिरयुक्त कीचड़से भर दिये गये। जो सुखपूर्वक चलनेयोग्य थे, वे कटे हुए मस्तकों, पादों और पैरोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दुर्गम हो गये। तब तारकासुर क्रोधसे आँखें तरेरता हुआ वृक्ष और पर्वत हाथमें लेकर युद्धस्थलमें आ पहुँचा। वह उस समय अद्भुत पराक्रमी शंकरद्वारा अवरुद्ध किये गये दक्षिण-द्वारकी रक्षा करना चाहता था। महान् पराक्रमी एवं अद्भुत सत्त्वशाली तारकासुर अपनी इन्द्रियोंके गर्वसे उन्मत्त होकर परकोटेपर चढ़े हुए भूतगणोंको काटकर वहाँ विचरण करने लगा। पुनः नगरसे बाहर निकलकर उसने घोर गर्जना की। पर्वतकी-सी आभावाला दैत्येन्द्र तारक मतवाले हाथीकी तरह शीघ्र ही शंकरजीके रथको पकड़ लेना चाहता था, परंतु प्रमथोंद्वारा इस प्रकार रोक दिया गया, जैसे बढ़ते हुए समुद्रको उसका तट रोक देता है। उस समय शेषनाग, ब्रह्मा तथा सुन्दर धनुष धारण करनेवाले और पर्वतपर शयन करनेवाले त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर युद्धस्थलमें तारकासुरके आ जानेसे उसी प्रकार क्षुब्ध हो गये, जैसे वायुके वेगसे सागर उद्वेलित हो उठते हैं। आकाशस्थित रथपर बैठे हुए बलसम्पन्न शेष नाग, शंकर और ब्रह्माने विशेष क्षुब्ध होकर पृथक्-पृथक् तारकासुरके शरीरकी संधियोंको बींध दिया और वे घोर गर्जना करने लगे। उस समय हाथमें धनुष-बाण लिये हुए भगवान् शंकर अपना एक पैर ऋग्वेदरूप घोड़ेकी तथा दूसरा पैर नन्दीश्वरकी पीठपर रखकर त्रिपुरोंके परस्पर सम्मिलनकी प्रतीक्षा करते हुए खड़े हो गये। उस समय शंकरजीके पैर रखनेसे उन त्रिशूलधारीके भारसे पीड़ित हुए अश्वके स्तन और वृषभके दाँत टूटकर गिर पड़े। तभीसे घोड़ोंके स्तन और गो-वंशके (ऊपरी जबड़ेके) दाँत गुप्त हो गये। इसी कारण वे दिखायी नहीं पड़ते। उसी समय जिसके नेत्रोंके अन्तर्भाग भयंकर और लाल थे, उस भीषण नेत्रोंवाले तारकासुरको भगवान् रुद्रके निकट आते देखकर कुलको आनन्दित करनेवाले नन्दीने रोक दिया तथा उन्होने अपने तीखे कुठारसे उस दानवेश्वरके शरीरको इस प्रकार छील डाला, जैसे गन्धकी इच्छावाला (अथवा इत्र बनानेवाला) बढ़ई चन्दन-वृक्षको छाँट देता है। कुठारके आघातसे आहत हुए शूरवीर तारकासुरने पर्वतीय सिंहकी तरह क्रुद्ध होकर म्यानसे तलवार खींचकर गणेश्वर नन्दीपर आक्रमण किया। तब नन्दीश्वरने यज्ञोपवीत-मार्गसे (अर्थात् जनेऊ पहननेकी जगह—बाएँ कंधेसे लेकर दाहिने कटितटतक) तिरछे रूपमें तारकासुरके शरीरको विदीर्ण कर दिया और भयंकर गर्जना की। फिर तो वहाँ तारकासुरके मारे जानेपर गणेश्वरोंके भयंकर सिंहनाद गूँज उठे और उनके शङ्खोंके भीषण शब्द होने लगे ॥ ३३—४६ ॥

प्रमथारसितं श्रुत्वा वादित्रस्वनमेव च। पार्श्वस्थः सुमहापार्श्वं विद्युन्मालिं मयोऽब्रवीत् ॥ ४७ ॥
बहुवदनवतां किमेष शब्दो नदतां श्रूयते भिन्नसागराभः।
वद वद त्वं तडिमालिन् किमेतद्गणपा युयुधुर्यथा गजेन्द्राः ॥ ४८ ॥

इति मयवचनाङ्कुशार्दितस्तं तडिमाली रविरिवांशुमाली।
रणशिरसि समागतः सुराणां निजगादेदमरिन्दमोऽतिदुःखात् ॥ ४९ ॥
यमवरुणमहेन्द्ररुद्रवीर्यस्तव यशसो निधिर्धीरः तारकाख्यः।
सकलसमरशीर्षपर्वतेन्द्रो युद्ध्वा यस्तपति हि तारको गणेन्द्रैः ॥ ५० ॥
मृदितमुपनिशम्य तारकाख्यं रविदीप्तानलभीषणायताक्षम्।
हृषितसकलनेत्रलोमसत्त्वाः प्रमथास्तोयमुचो तथा नदन्ति ॥ ५१ ॥
इति सुहृदो वचनं निशम्य तत्त्वं तडिमालेः स मयः सुवर्णमाली।
रणशिरस्यसिताञ्जनाचलाभो जगदे वाक्यमिदं नवेन्दुमालिम् ॥ ५२ ॥
विद्युन्मालिन्न नः कालः साधितुं ह्यवहेलया। करोमि विक्रमेणैतत् पुरं व्यसनवर्जितम् ॥ ५३ ॥
विद्युन्माली ततः क्रुद्धो मयश्च त्रिपुरेश्वरः। गणान् जघ्नुस्तु द्राघिष्ठाः सहितास्तैर्महासुरैः ॥ ५४ ॥
येन येन ततो विद्युन्माली याति मयश्च सः। तेन तेन पुरं शून्यं प्रमथोपद्रुतम् ॥ ५५ ॥
अथ यमवरुणमृदङ्गघोषैः पणवडिण्डिमज्यास्वनप्रघोषैः।
सकरतलपुटैश्च सिंहनादैर्भवमभिपूज्य तदा सुरावतस्थुः ॥ ५६ ॥
सम्पूज्यमानोऽदितिजैर्महात्मभिः सहस्ररश्मिप्रतिमौजसैर्विभुः।
अभिष्टुतः सत्यरतैस्तपोधनैर्यथास्तश्रृङ्गाभिगतो दिवाकरः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे तारकाख्यवधो नामाष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

तब प्रमथगणोंके सिंहनाद और उनके बाजोंके भीषण शब्दको सुनकर बगलमें ही स्थित मय दानवने महान् बलशाली विद्युन्मालीसे पूछा—'विद्युन्मालिन्! बताओ तो सही, अनेकों मुखोंवाले प्रमथगणोंका सागरकी गर्जनाके समान यह भयंकर सिंहनाद क्यों सुनायी पड़ रहा है? ये गणेश्वर क्यों गजराजसे गरजते हुए इतने उत्साहसे युद्ध कर रहे हैं?' इस प्रकार मयके वचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हुआ किरणमाली सूर्यकी तरह तेजस्वी शत्रुदमन विद्युन्माली, जो तुरंत ही देवताओंके युद्धके मुहानेसे लौटकर आया था, अत्यन्त दुःखके साथ मयसे इस प्रकार बोला—'धैर्यशाली राजन्! जो यम, वरुण, महेन्द्र और रुद्रके समान पराक्रमी, आपकी कीर्तिका निधिस्वरूप, समस्त युद्धोंके मुहानेपर पर्वतराजकी भाँति डटा रहनेवाला और युद्धभूमिमें शत्रुओंके लिये संतापदायक था, वह तारक गणेश्वरोंद्वारा निहत हो गया। सूर्य एवं प्रज्वलित अग्निके समान भयंकर विशाल नेत्रोंवाले तारकको मारा गया सुनकर हर्षके कारण सभी प्रमथोंके शरीर पुलकित और नेत्र उत्फुल्ल हो गये हैं और वे बादलोंकी तरह गर्जना कर रहे हैं।' अपने मित्र विद्युन्मालीके इस तत्त्वपूर्ण वचनको सुनकर कज्जलगिरिके सदृश शरीरवाला स्वर्णमालाधारी मय रणके मुहानेपर विद्युन्मालीसे इस प्रकार बोला—'विद्युन्मालिन्! अब हमलोगोंके लिये अवहेलना (प्रमाद) पूर्वक समय बिताना ठीक नहीं है। मैं अपने पराक्रमसे पुनः इस त्रिपुरको आपत्तिरहित बनाऊँगा।' फिर तो विद्युन्माली और त्रिपुराधिपति मय—दोनोंने क्रुद्ध होकर महासुरोंकी विशाल सेनाके साथ गणेश्वरोंको मारना आरम्भ किया। उस समय त्रिपुरमें विद्युन्माली और मय जिस-जिस मार्गसे निकलते थे, वे मार्ग प्रमथोंके घायल होकर भाग जानेसे शून्य हो जाते थे। तब यम और वरुणके मृदंगघोष और ढोल, नगारे एवं धनुषकी प्रत्यञ्चाके निनादके साथ-साथ ताली बजाते और सिंहनाद करते हुए सभी देवगण शंकरजीकी पूजा करके उन्हे घेरकर खड़े हो गये। सूर्यके समान तेजस्वी उन महात्मा देवगणोंद्वारा पूजित होते हुए तथा सत्यपरायण तपस्वियोंद्वारा स्तुति किये जाते हुए भगवान् शंकर अस्ताचलके शिखरपर पहुँचे हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित हो रहे थे॥ ४९–५७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहके प्रसङ्गमें तारकासुर-वध नामक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३८ ॥

एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय

दानवराज मयका दानवोंको समझा-बुझाकर त्रिपुरकी रक्षामें नियुक्त करना तथा त्रिपुरकौमुदीका वर्णन

सूत उवाच

तारकाख्ये हते युद्धे उत्सार्य प्रमथान् मयः। उवाच दानवान् भूयोभूयः स तु भयावृतान्॥ १॥
भोऽसुरेन्द्राधुना सर्वे निबोधध्वं प्रभाषितम्। यत् कर्तव्यं मया चैव युष्माभिश्च महाबलैः॥ २॥
पुष्यं समेष्यते काले चन्द्रश्चन्द्रनिभानना:। यदैकं त्रिपुरं सर्वं क्षणमेकं भविष्यति॥ ३॥
कुरुध्वं निर्भयाः काले पिशुनाशंसितेन च। स कालः पुष्ययोगस्य पुरस्य च मया कृतः॥ ४॥
काले तस्मिन् पुरे यस्तु सम्भावयति संहतिम्। स एनं कारयेच्चूर्णं बलिनैकेषुणा सुरः॥ ५॥
यो वः प्राणो बलं यच्च या च वो वैरिताऽसुराः। तत् कृत्वा हृदये चैव पालयध्वमिदं पुरम्॥ ६॥
महेश्वररथं ह्येकं सर्वप्राणेन भीषणम्। विमुखीकुर्वतात्यर्थं यथा नोत्सृजते शरम्॥ ७॥
तत एवं कृतेऽस्माभिस्त्रिपुरस्यापि रक्षणे। प्रतीक्षिष्यन्ति विवशाः पुष्ययोगं दिवौकसः॥ ८॥
निशम्य तन्मयस्यैकं दानवास्त्रिपुरालयाः। मुहुः सिंहरवं कृत्वा मयमूचुर्यमोपमाः॥ ९॥
प्रयत्नेन वयं सर्वे कुर्मस्तव प्रभाषितम्। तथा कुर्मो यथा रुद्रो न मोक्ष्यति पुरे शरम्॥ १०॥
अद्य यास्यामः संग्रामे तद्रुद्रस्य जिघांसवः। कथयन्ति दितेः पुत्रा हृष्टा भिन्नतनूरुहाः॥ ११॥
कल्पं स्थास्यति वा खस्थं त्रिपुरं शाश्वतं ध्रुवम्। अदानवं वा भविता नारायणपदत्रयम्॥ १२॥
वयं न धर्मं हास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान्। अदैवतमदैत्यं वा लोकं द्रक्ष्यन्ति मानवाः॥ १३॥
इति सम्मन्त्र्य हृष्टास्ते पुरान्तर्विबुधारयः। प्रदोषे मुदिता भूत्वा चेरुर्मन्मथचारताम्॥ १४॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इस प्रकार युद्धभूमिमें तारकासुरके मारे जानेपर दानवराज मय प्रमथोंको खदेड़कर भयभीत हुए दानवोंको सब तरहसे सान्त्वना देते हुए बोला—'अये असुरेन्द्रो! इस समय तुम सभी महाबली दानवोंका जो कर्तव्य है, उसे मैं बतला रहा हूँ, सब लोग ध्यान देकर सुनो। चन्द्रवदन दानवो! जिस समय चन्द्रमा पुष्य नक्षत्रसे समन्वित होंगे, उस समय एक क्षणके लिये तीनों पुर एकमें मिल जायँगे। यह चन्द्रमाका पुष्य नक्षत्रसे सम्बन्ध होनेपर त्रिपुरके सम्मिलित होनेका काल मैंने ही निर्धारित कर रखा है, अतः उस समय तुमलोग निर्भय होकर नारदजीद्वारा बतलाये गये उपायोंका प्रयोग करो; क्योंकि उस समय जो कोई देवता त्रिपुरोंके सम्मिलित होनेका पता लगा लेगा, वह एक ही सुदृढ़ बाणसे इस त्रिपुरको चूर्ण कर डालेगा। इसलिये असुरो! तुमलोगोंमें जितनी प्राणशक्ति है, जितना बल है और देवताओंके साथ जितना वैर-विद्वेष है, वह सब हृदयमें विचारकर इस त्रिपुरकी रक्षामें जुट जाओ। तुमलोग एकमात्र महेश्वरके भीषण रथको पूरी शक्ति लगाकर ऐसा विमुख कर दो, जिससे वे बाण न छोड़ सकें। इस प्रकार हमलोगोंद्वारा त्रिपुरकी रक्षा सम्पन्न कर लेनेपर देवताओंको विवश होकर पुनः आनेवाले पुष्ययोगकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' मयका ऐसा कथन सुनकर यमराजके समान भीषण त्रिपुरनिवासी दानव बारंबार सिंहनाद कर मयसे बोले—'राजन्! हम सबलोग प्रयत्नपूर्वक आपके कथनका पालन करेंगे और ऐसा कर्म कर दिखायेंगे, जिससे रुद्र त्रिपुरपर बाण नहीं छोड़ सकेंगे। हमलोग आज ही उस रुद्रका वध करनेके लिये संग्रामभूमिमें जा रहे हैं। या तो हमारा त्रिपुर कल्पपर्यन्त निश्चलरूपसे सर्वदाके लिये आकाशमें स्थिर रहेगा अथवा नारायणके तीन पदकी तरह यह दानवोंसे खाली हो जायगा। आप हमलोगोंको जिस कार्यमें नियुक्त कर देंगे, हमलोग उस कर्तव्यका कदापि त्याग नहीं करेंगे। आज मानव जगत्को देवता अथवा दैत्यसे रहित ही देखेंगे।'

पुलकित शरीरवाले दैत्य हर्षपूर्वक इस प्रकार कह रहे थे। इस प्रकार वे देवशत्रु दानव त्रिपुरके भीतर मन्त्रणा करके सायंकाल होनेपर प्रसन्न होकर स्वच्छन्दाचारमें प्रसक्त हो गये ॥ १—१४ ॥

मुहुर्मुक्तोदयो भ्रान्त उदयाग्रं महामणिः। तमांस्युत्सार्य भगवांश्चन्द्रो जृम्भति सोऽम्बरम्॥ १५ ॥
कुमुदालंकृते हंसो यथा सरसि विस्तृते। सिंहो यथा चोपविष्टो वैदूर्यशिखरे महान् ॥ १६ ॥
विष्णोर्यथा च विस्तीर्णे हारश्चोरसि संस्थितः।
तथावगाढे नभसि चन्द्रोऽत्रिनयनोद्भवः। भ्राजते भ्राजयँल्लोकान् सृजञ् ज्योत्स्नारसं बलात् ॥ १७॥
शीतांशावुदिते चन्द्रे ज्योत्स्नापूर्णे पुरेऽसुराः। प्रदोषे ललितं चक्रुर्गृहमात्मानमेव च ॥ १८ ॥
रथ्यासु राजमार्गेषु प्रासादेषु गृहेषु च। दीपाश्चम्पकपुष्पाभा नाल्पस्नेहप्रदीपिताः ॥ १९ ॥
तदा मठेषु ते दीपाः स्नेहपूर्णाः प्रदीपिताः।
गृहाणि वसुमन्त्येषां सर्वरत्नमयानि च। ज्वलतोऽदीपयन् दीपांश्चन्द्रोदय इव ग्रहाः ॥ २० ॥
चन्द्रांशुभिर्भासमानमन्तर्दीपैः सुदीपितम्। उपद्रवैः कुलमिव पीयते त्रिपुरे तमः ॥ २१ ॥

तस्मिन् पुरे वै तरुणप्रदोषे चन्द्राट्टहासे तरुणप्रदोषे।
रत्यर्थिनो वै दनुजा गृहेषु सहाङ्गनाभिः सुचिरं विरेमुः ॥ २२ ॥
विनोदिता ये तु वृषध्वजस्य पञ्चेषवस्ते मकरध्वजेन।
तत्रासुरेष्वासुरपुङ्गवेषु स्वाङ्गाङ्गनाः स्वेदयुता बभूवुः ॥ २३ ॥
कलप्रलापेषु च दानवीनां वीणाप्रलापेषु च मूर्च्छितांस्तु।
मत्तप्रलापेषु च कोकिलानां सचापबाणो मदनो ममन्थ ॥ २४ ॥
तमांसि नैशानि द्रुतं निहत्य ज्योत्स्नावितानेन जगद्वितत्य।
खे रोहिणीं तां च प्रियां समेत्य चन्द्रः प्रभाभिः कुरुतेऽधिराज्यम् ॥ २५ ॥
स्थित्वैव कान्तस्य तु पादमूले काचिद् वरस्त्री स्वकपोलमूले।
विशेषकं चारुतरं करोति तेनाननं स्वं समलंकरोति ॥ २६ ॥
दृष्ट्वाननं मण्डलदर्पणस्थं महाप्रभा मे मुखजेति जल्प्वा।
स्मृत्वा वराङ्गी रमणैरितानि तेनैव भावेन रतीमवाप ॥ २७ ॥
रोमाञ्चितैर्गात्रवरैर्युवभ्यो रतानुरागाद्रमणेन चान्याः।
स्वयं द्रुतं यान्ति मदाभिभूताः क्षपा यथा चार्कदिनावसाने ॥ २८ ॥
पेपीयते चातिरसानुविद्धा विमार्गितान्या च प्रियं प्रसन्ना।
काचित् प्रियस्यातिचिरात् प्रसन्ना आसीत् प्रलापेषु च सम्प्रसन्ना ॥ २९ ॥
गोशीर्षयुक्तैर्हरिचन्दनैश्च पङ्काङ्किताक्षीरधराऽऽसुरीणाम्।
मनोज्ञरूपा रुचिरा बभूवुः पूर्णामृतस्येव सुवर्णकुम्भाः ॥ ३० ॥

उसी समय बारंबार मोतीके निकलनेका भ्रम उत्पन्न करनेवाले एवं महामणिके समान भगवान् चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर दीख पड़े। वे अन्धकारका विनाश करके आकाशमण्डलमें आगे बढ़ रहे थे। उस समय जैसे कुमुदिनीसे सुशोभित विशाल सरोवरमें हंस, वैदूर्यके शिखरपर बैठा हुआ महान् सिंह और भगवान् विष्णुके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर लटकता हुआ हार शोभा पाता है, उसी तरह महर्षि अत्रिके नेत्रसे उत्पन्न हुए चन्द्रमा अथाह आकाशमें स्थित होकर अपनी चाँदनीसे बलपूर्वक सारे लोकोंको सींचते एवं प्रकाशित करते हुए सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार सायंकालमें शीतरश्मि चन्द्रमाके उदय होनेपर जब त्रिपुरमें चाँदनी फैल गयी, तब असुरगण अपने-अपने गृहोंको सजाने लगे। गलियों, सड़कों, महलों और गृहोंमें तेलसे भरे

हुए दीपक जला दिये गये, जो चम्पाके पुष्पकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी प्रकार देवालयोंमें भी तेलसे परिपूर्ण दीपक जलाये गये। दानवोंके गृह धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण तो थे ही, उनमें अनेक प्रकारके रत्न भी जड़े हुए थे, जिससे वे जलते हुए दीपकोंको चन्द्रोदय होनेपर ग्रहोंकी तरह अधिक उद्दीप्त कर रहे थे॥ १५—३० ॥

क्षताधरोष्ठा द्रुतदोषरक्ता ललन्ति दैत्या दयितासु रक्ताः।
तन्त्रीप्रलापास्त्रिपुरेषु रक्ताः स्त्रीणां प्रलापेषु पुनर्विरक्ताः॥ ३१ ॥
क्वचित् प्रवृत्तं मधुराभिगानं कामस्य बाणैः सुकृतं निधानम्।
आपानभूमीषु सुखप्रमेयं गेयं प्रवृत्तं त्वथ साधयन्ति॥ ३२ ॥
गेयं प्रवृत्तं त्वथ शोधयन्ति केचित् प्रियां तत्र च साधयन्ति।
केचित् प्रियां सम्प्रति बोधयन्ति सम्बुध्य सम्बुध्य च रामयन्ति॥ ३३ ॥
चूतप्रसूनप्रभवः सुगन्धः सूर्ये गते वै त्रिपुरे बभूव।
सममेरो नूपुरमेखलानां शब्दश्च सम्बाधति कोकिलानाम्॥ ३४ ॥
प्रियावगूढा दयितोपगूढा काचित् प्ररूढाङ्करुहापि नारी।
सुचारुबाष्पाङ्कुरपल्लवानां नवाम्बुसिक्ता इव भूमिरासीत्॥ ३५ ॥
शशाङ्कपादैरुपशोभितेषु प्रासादवर्येषु वराङ्गनानाम्।
माधुर्यभूताभरणामहान्तः स्वना बभूवुर्मदनेषु तुल्याः॥ ३६ ॥
पानेन खिन्ना दयितातिवेलं कपोलमाश्रासि च किं ममेदम्।
आरोह मे श्रोणिमिमां विशालां पीनोन्नतां काञ्चनमेखलाढ्याम्॥ ३७ ॥
रथ्यासु चन्द्रोदयभासितासु सुरेन्द्रमार्गेषु च विस्तृतेषु।
दैत्याङ्गना यूथगता विभान्ति तारा यथा चन्द्रमसो दिवान्ते॥ ३८ ॥
अट्टाट्टहासेषु च चामरेषु प्रेङ्खासु चान्या मदलोलभावात्।
संदोलयन्ते कलसम्प्रहासाः प्रोवाच काञ्चीगुणसूक्ष्मनादा॥ ३९ ॥
अम्लानमालान्वितसुन्दरीणां पर्याय एषोऽस्ति च हर्षितानाम्।
श्रूयन्ति वाचः कलधौतकल्पा वापीषु चान्ये कलहंसशब्दाः॥ ४० ॥
काञ्चीकलापश्च सहाङ्गरागः प्रेङ्खासु तद्रागकृताश्च भावाः।
छिन्दन्ति तासामसुराङ्गनानां प्रियालयान् मन्मथमार्गणानाम्॥ ४१ ॥
चित्राम्बरश्चोद्धृतकेशपाशः संदोल्यमानः शुशुभेऽसुरीणाम्।
सुचारुवेशाभरणैरुपेतस्ताराणैर्ज्योतिरिवास चन्द्रः॥ ४२ ॥
सन्दोलनादुच्छ्वसितैश्छिन्नसूत्रैः काञ्चीभ्रष्टैर्मणिभिर्विप्रकीर्णैः।
दोलभूमिस्तैर्विचित्रा विभाति चन्द्रस्य पार्श्वोपगतैर्विचित्रा॥ ४३ ॥
सचन्द्रिके सोपवने प्रदोषे रुतेषु वृन्देषु च कोकिलानाम्।
शरव्ययं प्राप्य पुरेऽसुराणां प्रक्षीणबाणो मदनश्चचार॥ ४४ ॥

वे भवन बाहरसे तो चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशित थे और भीतर जलते हुए दीपकोंसे उद्दीप्त हो रहे थे, जिससे वे त्रिपुरके अन्धकारको उसी प्रकार पीकर नष्ट कर रहे थे, जैसे उपद्रवोंके प्रकोपसे कुल नष्ट हो जाता है। रात्रिके समय जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल छटा पूरे त्रिपुरमें फैल गयी, तब दानवगण रात बितानेके लिये अपनी पत्नियोंके साथ अपने-अपने गृहोंमें चले गये। इधर रात बीती और कोयलें कूजने लगीं॥ ३१—४४ ॥

इति तत्र पुरेऽमरद्विषाणां सपदि हि पश्चिमकौमुदी तदासीत्।
रणशिरसि पराभविष्यतां वै भवतुरगैः कृतसंक्षया अरीणाम् ॥ ४५ ॥
चन्द्रोऽथ कुन्दकुसुमाकरहारवर्णो ज्योत्स्नावितानरहितोऽभ्रसमानवर्णः।
विच्छायतां हि समुपेत्य न भाति तद्वद् भाग्यक्षये धनपतिश्च नरो विवर्णः॥ ४६ ॥
चन्द्रप्रभामरुणसारथिनाभिभूय संतप्तकाञ्चनरथाङ्गसमानबिम्बः।
स्थित्वोदयाग्रमुकुटे बहुरेव सूर्यो भात्यम्बरे तिमिरतोयवहां तरिष्यन् ॥ ४७ ॥
इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरकौमुदीनामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

कुछ देर बाद त्रिपुरमें युद्धके मुहानेपर शंकरजीके घोड़ोंद्वारा पराजित किये गये शत्रुओंकी क्षीण कीर्तिकी तरह उन देवशत्रुओंके नगरमें एकाएक चतुर्थ प्रहरकी क्षीण चाँदनी दीख पड़ने लगी। उस समय कुन्दके पुष्पसमूहोंसे निर्मित हारके समान उज्ज्वल वर्णवाले चन्द्रमा किरण-जालके क्षीण हो जानेके कारण निर्जल बादलकी तरह दीखने लगे। चाँदनीके नष्ट हो जानेपर चन्द्रमाकी शोभा उसी प्रकार जाती रही, जैसे धन-सम्पत्तिसे सम्पन्न मनुष्य भाग्यके नष्ट हो जानेपर शोभाहीन हो जाता है। उस समय तपाये हुए स्वर्णमय चक्रके समान बिम्बवाले सूर्य अपने सारथि अरुणकी प्रभासे चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत कर उदयाचलके अग्र शिखरपर स्थित हुए और आकाशमण्डलमें अन्धकाररूपी नदीको पार करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ ४५—४७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें त्रिपुरकौमुदी नामक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३९ ॥

एक सौ चालीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंका भीषण संग्राम, नन्दीश्वरद्वारा विद्युन्मालीका वध, मयका पलायन तथा शंकरजीकी त्रिपुरपर विजय

सूत उवाच

उदिते तु सहस्रांशौ मेरौ भासाकरे रवौ। नदद्देव बलं कृत्स्नं युगान्त इव सागराः ॥ १ ॥
सहस्रनयनो देवस्ततः शक्रः पुरंदरः। सवित्तदः सवरुणस्त्रिपुरं प्रययौ हरः ॥ २ ॥
ते नानाविधिरूपैश्च प्रमथातिप्रमाथिनः। ययुः सिंहरवैर्घोरैर्वादित्रनिनदैरपि ॥ ३ ॥
ततो वादितवादित्रैश्चातपत्रैर्महाद्रुमैः। बभूव तद्बलं दिव्यं वनं प्रचलितं यथा ॥ ४ ॥
तदापतन्तं सम्प्रेक्ष्य रौद्रं रुद्रबलं महत्। संक्षोभो दानवेन्द्राणां समुद्रप्रतिमो बभौ ॥ ५ ॥
ते चासीन् पट्टिशान् शक्तीः शूलदण्डपरश्वधान्। शरासनानि वज्राणि गुरूणि मुसलानि च ॥ ६ ॥
प्रगृह्य कोपरक्ताक्षाः सपक्षा इव पर्वताः। निजघ्नुः पर्वतघ्नाय घना इव तपात्यये ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! प्रकाश बिखेरनेवाले सहस्रांशुमाली सूर्यके मेरुगिरिपर उदित होते ही सारी-की-सारी देव-सेना प्रलयकालीन सागरकी तरह उच्च स्वरसे गर्जना करने लगी। तब भगवान् शंकर सहस्र-नेत्रधारी पुरंदर इन्द्र, कुबेर और वरुणको साथ लेकर त्रिपुरकी ओर प्रस्थित हुए। उनके पीछे विभिन्न रूपधारी शत्रुविनाशक प्रमथगण भीषण सिंहनाद करते और बाजा बजाते हुए चले। उस समय बजते हुए बाजों, छत्रों और विशाल वृक्षोंसे युक्त होनेके कारण वह देवसेना ऐसी लग रही थी, मानो चलता-फिरता वन हो। तत्पश्चात् शंकरजीकी उस विशाल भयंकर सेनाको आक्रमण करते देखकर दानवेन्द्रोंका समूह सागरकी तरह संक्षुब्ध हो उठा। फिर तो पंखधारी पर्वतोंकी भाँति विशालकाय दानवोंके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे खड्ग, पट्टिश (पट्टे), शक्ति, शूल, दण्ड, कुठार, धनुष, वज्र तथा बड़े-बड़े मूसलोंको लेकर एक साथ ही इन्द्रपर इस प्रकार प्रहार करने लगे, जैसे ग्रीष्म ऋतुके बीत जानेपर बादल जलकी वृष्टि करते हैं ॥ १—७ ॥

सविद्युन्मालिनस्ते वै समया दितिनन्दनाः। मोदमानाः समासेदुर्देवदेवैः सुरारयः ॥ ८ ॥
मर्तव्यकृतबुद्धीनां जये चानिश्चितात्मनाम्। अबलानां चमूर्ह्यासीदबलावयवा इव ॥ ९ ॥
विगर्जन्त इवाम्भोदा अम्भोदसदृशत्विषः। प्रयुध्य युद्धकुशलाः परस्परकृतागसः ॥ १० ॥
धूमायन्तो ज्वलद्भिश्च आयुधैश्चन्द्रवर्चसैः। कोपाद् वा युद्धलुब्धाश्च कुट्टयन्ते परस्परम् ॥ ११ ॥
वज्राहताः पतन्त्यन्ये बाणैरन्ये विदारिताः। अन्ये विदारिताश्चक्रैः पतन्ति ह्युदधेर्जले ॥ १२ ॥
छिन्नस्रग्दामहाराश्च प्रमृष्टाम्बरभूषणाः। तिमिनक्रगणे चैव पतन्ति प्रमथाः सुराः ॥ १३ ॥
गदानां मुसलानां च तोमराणां परश्वधाम्। वज्रशूलर्ष्टिपातानां पट्टिशानां च सर्वतः ॥ १४ ॥
गिरिशृङ्गोपलानां च प्रेरितानां प्रमन्युभिः।
सजवानां दानवानां सधूमानां रवित्विषाम्। आयुधानां महानाघः सोगरौघे पतत्यपि ॥ १५ ॥
प्रवृद्धवेगैस्तैस्तत्र सुरासुरकरेरितैः। आयुधैस्त्रस्तनक्षत्रः क्रियते संक्षयो महान् ॥ १६ ॥
क्षुद्राणां गजयोर्युद्धे यथा भवति सङ्क्षयः। देवासुरगणैस्तद्वत् तिमिनक्रक्षयोऽभवत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मयसहित देवशत्रु दैत्यगण विद्युन्मालीके साथ होकर प्रसन्नतापूर्वक देवेश्वरोंसे टक्कर लेने लगे। उनके मनमें विजयकी आशा तो थी ही नहीं, अतः वे मरनेपर उतारू हो गये थे। उन बलहीनोंकी सेना स्त्रियोंके अवयवोंकी तरह दुर्बल थी। मेघकी-सी कान्तिवाले युद्धकुशल दैत्य परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए लड़ रहे थे और मेघके समान गरज रहे थे। युद्धलोभी सैनिक प्रज्वलित अग्नि एवं चन्द्रमाके समान तेजस्वी अस्त्रोंद्वारा क्रोधपूर्वक परस्पर एक-दूसरेको मार-पीट—कूट रहे थे। कुछ लोग वज्रसे घायल होकर, कुछ लोग बाणोंसे विदीर्ण होकर और कुछ लोग चक्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर समुद्रके जलमें गिर रहे थे। (दैत्योंकी मारसे) जिनकी मालाओंके सूत्र और हार टूट गये थे तथा जिनके वस्त्र और आभूषण नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे, वे देवता और गणेश्वर समुद्रमें मगरमच्छों एवं नाकोंके मध्यमें गिर रहे थे। धूमयुक्त सूर्यकी-सी कान्तिवाले वेगशाली दानवोंद्वारा क्रोधपूर्वक चलाये गये गदा, मुसल, तोमर, कुठार, वज्र, शूल, ऋष्टि, पट्टिश, पर्वत-शिखर और शिलाखण्ड आदि आयुधोंका महान् समूह सागरमें गिर रहा था। देवताओं और असुरोंके हाथोंसे वेगपूर्वक चलाये गये आयुधोंसे नक्षत्रगण (भी) त्रस्त हो रहे थे। और महान् संहार हो रहा था। जैसे दो हाथियोंके लड़ते समय क्षुद्र जीवोंका विनाश हो जाता है, उसी तरह देवताओं और असुरोंके संग्रामसे मगरमच्छ और नाकोंका संहार होने लगा ॥ ८—१७ ॥

विद्युन्माली च वेगेन विद्युन्माली इवाम्बुदः। विद्युन्मालं घनोन्नादो नन्दीश्वरमभिद्रुतः ॥ १८ ॥
स तं तमोऽरिवदनं प्रणदन् वदतां वरः। उवाच युधि शैलादिं दानवोऽम्बुधिनिःस्वनः ॥ १९ ॥
युद्धाकाङ्क्षी तु बलवान् विद्युन्माल्यहमागतः।
यदि त्विदानीं मे जीवन्मुच्यसे नन्दिकेश्वर। न विद्युन्मालिहननं वचोभिर्युधि दानवम् ॥ २० ॥
तमेवंवादिनं दैत्यं नन्दीशस्तपसां वरः। उवाच प्रहरंस्तत्र वाक्यालंकारकोविदः ॥ २१ ॥
दानवाधम कामानां नैषोऽवसर इत्युत। शक्तो हन्तुं किमात्मानं जातिदोषाद् विबृंहसि ॥ २२ ॥
यदि तावन्मया पूर्वं हतोऽसि पशुवद् यथा। इदानीं वा कथं नाम न हिंस्ये क्रतुदूषणम् ॥ २३ ॥
सागरं तरते दोर्भ्यां पातयेद् यो दिवाकरम्। सोऽपि मां शक्नुयान्नैव चक्षुर्भ्यां समवीक्षितुम् ॥ २४ ॥
इत्येवंवादिनं तत्र नन्दिनं तन्निभो बले। बिभेदैकेपुणा दैत्यः करेणार्क इवाम्बुदम् ॥ २५ ॥
वक्षसः स शरस्तस्य पपौ रुधिरमुत्तमम्। सूर्यस्त्वात्मप्रभावेण नद्यर्णवजलं यथा ॥ २६ ॥
स तेन सुप्रहारेण प्रथमं च तिरोहितः। हस्तेन वृक्षमुत्पाट्य चिक्षेप गजराडिव ॥ २७ ॥

वायुनुन्नः स च तरुः शीर्णपुष्पो महारवः। विद्युन्मालिशरैश्छिन्नः पपात पतगेशवत्॥ २८॥

तत्पश्चात् विद्युत्समूहोंसे युक्त मेघकी तरह कान्तिमान् विद्युन्मालीने बिजलीसे युक्त बादलकी तरह गरजते हुए नन्दीश्वरपर वेगपूर्वक धावा किया। उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ दानव विद्युन्माली बादलकी तरह गरजता हुआ युद्धस्थलमें सूर्यके समान तेजस्वी मुखवालेनन्दीश्वरसे बोला—'नन्दिकेश्वर! मैं बलवान् विद्युन्माली हूँ और युद्ध करनेकी इच्छासे तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ। अब तुम्हारा मेरे हाथोंसे जीवित बच पाना असम्भव है। युद्धस्थलमें वचनोंद्वारा दानव विद्युन्मालीका हनन नहीं किया जा सकता।' तब वाक्यके अलंकारोंके ज्ञाता एवं श्रेष्ठ तेजस्वी नन्दीश्वरने ऐसा कहनेवाले दैत्य विद्युन्मालीपर प्रहार करते हुए कहा—'दानवाधम! तुमलोग इस समय कामासक्त ही हो, जिसका यह अवसर नहीं है। तुम मुझे मारनेमें समर्थ हो तो उसे कर दिखाओ, किंतु जाति-दोषके कारण तुम अपने प्रति ऐसी डींग क्यों मार रहे हो। यदि इससे भी पहले मैंने तुम्हें पशुकी तरह बहुत मारा है तो इस समय तुझ यज्ञविध्वंसीका हनन कैसे नहीं करूँगा? (तुम समझ लो) जो हाथोंसे सागरको तैरनेकी तथा सूर्यको आकाशसे गिरा देनेकी शक्ति रखता हो, वह भी मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता।' तब नन्दीश्वरके समान ही बलशाली विद्युन्मालीने इस प्रकार कहते हुए नन्दीश्वरको एक बाणसे वैसे ही बींध दिया, जैसे सूर्य अपनी किरणसे बादलका भेदन करते हैं। वह बाण नन्दीश्वरके वक्षःस्थलपर जा लगा और उनका शुद्ध रक्त इस प्रकार पीने लगा जैसे सूर्य अपने प्रभावसे नदी और समुद्रके जलको पीते हैं। उस प्रथम प्रहारसे अत्यन्त क्रुद्ध हुए नन्दीश्वरने अपने हाथसे एक वृक्ष उखाड़कर गजराजकी भाँति विद्युन्मालीके ऊपर फेंका। वायुसे प्रेरित हुआ वह वृक्ष घोर शब्द करता और पुष्पोंको बिखेरता हुआ आगे बढ़ा, किंतु विद्युन्मालीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर एक बड़े पक्षी-की तरह भूतलपर बिखर गया॥ १८—२८॥

वृक्षमालोक्य तं छिन्नं दानवेन वरेषुभिः। रोषमाहारयत् तीव्रं नन्दीश्वरः सुविग्रहः॥ २९॥
सोद्यम्य करमारावे रविशक्रकरप्रभम्। दुद्राव हन्तुं स क्रूरं महिषं गजराडिव॥ ३०॥
तमापतन्तं वेगेन वेगवान् प्रसभं बलात्। विद्युन्माली शरशतैः पूरयामास नन्दिनम्॥ ३१॥
शरकण्टकिताङ्गो वै शैलादिः सोऽभवत् पुनः। अरेर्गृह्य रथं तस्य महतः प्रययौ जवात्॥ ३२॥
विलम्बिताश्वो विशिरो भ्रमितश्च रणे रथः। पपात मुनिशापेन सादित्योऽर्करथो यथा॥ ३३॥
अन्तरान्निर्गतश्चैव मायया स दितेः सुतः। आजघान तदा शक्त्या शैलादिं समवस्थितम्॥ ३४॥
तामेव तु विनिष्क्रम्य शक्तिं शोणितभूषिताम्। विद्युन्मालिनमुद्दिश्य चिक्षेप प्रमथाग्रणीः॥ ३५॥
तया भिन्नतनुत्राणो विभिन्नहृदयस्त्वपि। विद्युन्माल्यपतद् भूमौ वज्राहत इवाचलः॥ ३६॥

विद्युन्मालीद्वारा श्रेष्ठ बाणोंके प्रहारसे उस वृक्षको छिन्न-भिन्न हुआ देखकर महाबली नन्दीश्वर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। फिर तो वे सूर्य और इन्द्रके हाथके समान प्रभावशाली अपने हाथको उठाकर सिंहनाद करते हुए उस क्रूर राक्षसका वध करनेके लिये इस प्रकार झपटे, जैसे गजराज भैंसेपर टूट पड़ता है। नन्दीश्वरको वेगपूर्वक आक्रमण करते देखकर वेगशाली विद्युन्मालीने बलपूर्वक नन्दीश्वरके शरीरको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त कर दिया। उस समय नन्दीश्वरका शरीर बाणरूपी काँटोंसे भरा हुआ दिखायी पड़ने लगा; तब उन्होंने अपने शत्रु विद्युन्मालीके रथको पकड़कर बड़े वेगसे दूर फेंक दिया। उस समय उस रथके घोड़े उसमें लटके हुए थे और उसका अग्रभाग टूट गया था तथा वह चक्कर काटता हुआ रणभूमिमें उसी प्रकार गिर पड़ा, जैसे मुनिके शापसे सूर्यसहित सूर्यका रथ गिर पड़ा था। तब दिति-पुत्र विद्युन्माली मायाके बलसे अपनेको सुरक्षित रखकर

रथके भीतरसे निकल पड़ा और उसने सामने खड़े हुए नन्दीश्वरपर शक्तिसे प्रहार किया। प्रमथगणोंके नायक नन्दीश्वरने रक्तसे लथपथ हुई उस शक्तिको हाथमें लेकर विद्युन्मालीको लक्ष्य करके फेंक दिया। फिर तो उस शक्तिने विद्युन्मालीके कवचको फाड़कर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया, जिससे वह वज्रसे मारे गये पर्वतकी तरह धराशायी हो गया ॥ २९–३६ ॥

विद्युन्मालिनि निहते सिद्धचारणकिंनराः। साधु साध्विति चोक्त्वा ते पूजयन्त उमापतिम् ॥ ३७ ॥
नन्दिना सादिते दैत्ये विद्युन्मालौ हते मयः। ददाह प्रमथानीकं वनमग्निरिवोद्धतः ॥ ३८ ॥
शूलनिर्दारितोरस्का गदाचूर्णितमस्तकाः। इषुभिर्गाढविद्धाश्च पतन्ति प्रमथार्णवे ॥ ३९ ॥
अथ वज्रधरो यमोऽर्थदः स च नन्दी स च षण्मुखो गुहः।
मयमसुरवीरसम्प्रवृत्तं विविधुः शस्त्रवरैर्हतारयः ॥ ४० ॥
नागं तु नागाधिपतेः शताक्षं मयो विदार्येषु वरेण तूर्णम्।
यमं च वित्ताधिपतिं च विद्ध्वा ररास मत्ताम्बुदवत् तदानीम् ॥ ४१ ॥
ततः शरैः प्रमथगणैश्च दानवा दृढाहताश्चोत्तमवेगविक्रमाः।
भृशानुविद्धास्त्रिपुरं प्रवेशिता यथासुराश्चक्रधरेण संयुगे ॥ ४२ ॥
ततस्तु शङ्खानकभेरिमर्दलाः ससिंहनादा दनुपुत्रभङ्गदाः।
कपर्दिसैन्ये प्रवभुः समंततो निपात्यमाना युधि वज्रसंनिभाः ॥ ४३ ॥
अथ दैत्यपुराभावे पुष्ययोगो बभूव ह। बभूव चापि संयुक्तं तद्योगेन पुरत्रयम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार विद्युन्मालीके मारे जानेपर सिद्ध, चारण और किन्नरोंके समूह 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहते हुए शंकरजीकी पूजा करने लगे। इधर नन्दीश्वरद्वारा दैत्य विद्युन्मालीके मारे जानेपर मयने प्रमथोंकी सेनाको उसी प्रकार जलाना आरम्भ किया, जैसे उद्दीप्त दावाग्नि वनको जला डालती है। उस समय शूलके आघातसे जिनके वक्षःस्थल फट गये थे एवं गदाके प्रहारसे मस्तक चूर्ण हो गये थे और जो बाणोंकी मारसे अत्यन्त घायल हो गये थे, ऐसे प्रमथगण समुद्रमें गिर रहे थे। तदनन्तर शत्रुओंके विनाशक वज्रधारी इन्द्र, यमराज, कुबेर, नन्दीश्वर तथा छः मुखवाले स्वामिकार्तिक—ये सभी असुर-वीरोंसे घिरे हुए मयको श्रेष्ठ अस्त्रोंद्वारा बींधने लगे। उस समय मयने शीघ्र ही एक श्रेष्ठ बाणसे गजारुढ सौ नेत्रोंवाले इन्द्रको तथा ऐरावत नागको विदीर्ण कर यमराज और कुबेरको भी बींध दिया। फिर वह घुमड़ते हुए बादलकी तरह गर्जना करने लगा। इधर प्रमथगणोंद्वारा छोड़े गये बाणोंसे उत्तम वेग एवं पराक्रमशाली दानव बुरी तरह घायल हो रहे थे। वे अत्यन्त घायल होनेके कारण भागकर त्रिपुरमें उसी प्रकार घुस रहे थे, जैसे युद्धस्थलमें चक्रपाणि विष्णुके प्रहारसे असुर। तत्पश्चात् रणभूमिमें शंकरजीकी सेनामें चारों ओर शङ्ख, ढोल, भेरी और मृदङ्ग बज उठे। वीरोंका सिंहनाद वज्रकी गड़गड़ाहटकी भाँति गूँज उठा, जो दानवोंकी पराजयको सूचित कर रहा था। इसी समय उस दैत्यपुरका विनाशक पुष्ययोग आ गया। उस योगके प्रभावसे तीनों पुर संयुक्त हो गये ॥ ३७–४४ ॥

ततो बाणं त्रिधा देवस्त्रिदैवतमयं हरः। मुमोच त्रिपुरे तूर्णं त्रिनेत्रस्त्रिपथाधिपः ॥ ४५ ॥
तेन मुक्तेन बाणेन बाणपुष्पसमप्रभम्। आकाशं स्वर्णसंकाशं कृतं सूर्येण रञ्जितम् ॥ ४६ ॥
मुक्त्वा त्रिदैवतमयं त्रिपुरे त्रिदशः शरम्। धिग्धिङ्मामेति चक्रन्द कष्टं कष्टमिति ब्रुवन् ॥ ४७ ॥
वैधुर्यं दैवतं दृष्ट्वा शैलादिर्गजवद्गतिः। किमिदं त्विति पप्रच्छ शूलपाणिं महेश्वरम् ॥ ४८ ॥
ततः शशाङ्कतिलकः कपर्दी परमार्तवत्। उवाच नन्दिनं भक्तः स मयोऽद्य विनङ्क्ष्यति ॥ ४९ ॥

अथ नन्दीश्वरस्तूर्णं मनोमारुतवद् बली। शरे त्रिपुरमायाति त्रिपुरं प्रविवेश सः ॥ ५० ॥
स मयं प्रेक्ष्य गणपः प्राह काञ्चनसंनिभः। विनाशस्त्रिपुरस्यास्य प्राप्तो मय सुदारुणः ॥ ५१ ॥
अनेनैव गृहेण त्वमपक्राम ब्रवीम्यहम्।
श्रुत्वा तन्नन्दिवचनं दृढभक्तो महेश्वरे। तेनैव गृहमुख्येन त्रिपुरादपसर्पितः ॥ ५२ ॥
सोऽपीषुः पत्रपुटवद् दग्ध्वा तन्नगरत्रयम्। त्रिधा इव हुताशश्च सोमो नारायणस्तथा ॥ ५३ ॥
शरतेजःपरीतानि पुराणि द्विजपुंगवाः। दुष्पुत्रदोषाद् दह्यन्ते कुलान्यूर्ध्वं यथा तथा ॥ ५४ ॥

तब त्रैलोक्याधिपति त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरने शीघ्र ही अपने त्रिदेवमय बाणको तीन भागोंमें विभक्त कर त्रिपुरपर छोड़ दिया। उस छूटे हुए बाणने (तीनों देवताओंके अंशसे तीन प्रकारकी प्रभासे युक्त होकर) बाण-वृक्षके पुष्पके समान नीले आकाशको स्वर्ण-सदृश प्रभाशाली और सूर्यकी किरणोंसे उद्दीप्त कर दिया। देवेश्वर शम्भु त्रिपुरपर त्रिदेवमय बाण छोड़कर—'मुझे धिक्कार है, धिक्कार है, हाय! बड़े कष्टकी बात हो गयी' यों कहते हुए चिल्ला उठे। इस प्रकार शंकरजीको व्याकुल देखकर गजराजकी चालसे चलनेवाले नन्दीश्वर शूलपाणि महेश्वरके निकट पहुँचे और पूछने लगे—'कहिये, क्या बात है?' तब चन्द्रशेखर जटाजूटधारी भगवान् शंकरने अत्यन्त दुःखी होकर नन्दीश्वरसे कहा—'आज मेरा वह भक्त मय भी नष्ट हो जायगा।' यह सुनकर मन और वायुके समान वेगशाली महाबली नन्दीश्वर तुरंत उस बाणके त्रिपुरमें पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ जा पहुँचे। वहाँ स्वर्ण-सरीखे कान्तिमान् गणेश्वर नन्दीने मयके निकट जाकर कहा—'मय! इस त्रिपुरका अत्यन्त भयंकर विनाश आ पहुँचा है, इसलिये मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम अपने इस गृहके साथ इससे बाहर निकल जाओ।' तब महेश्वरके प्रति दृढ भक्ति रखनेवाला मय नन्दीश्वरके उस वचनको सुनकर अपने उस मुख्य गृहके साथ त्रिपुरसे निकलकर भाग गया। तदनन्तर वह बाण अग्नि, सोम और नारायणके रूपसे तीन भागोंमें विभक्त होकर उन तीनों नगरोंको पत्तेके दोनेकी तरह जलाकर भस्म कर दिया। द्विजवरो! वे तीनों पुर बाणके तेजसे उसी प्रकार जलकर नष्ट हो रहे थे, जैसे कुपुत्रके दोषसे आगेकी पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ४५—५४ ॥

मेरुकैलासकल्पानि मन्दराग्रनिभानि च। सकपाटगवाक्षाणि बलिभिः शोभितानि च ॥ ५५ ॥
सप्रासादानि रम्याणि कूटागारोत्कटानि च। सजलानि समाख्यानि सावलोकनकानि च ॥ ५६ ॥
बद्धध्वजपताकानि स्वर्णरौप्यमयानि च।
गृहाणि तस्मिंस्त्रिपुरे दानवानामुपद्रवे। दह्यन्ते दहनाभानि दहनेन सहस्रशः ॥ ५७ ॥
प्रासादाग्रेषु रम्येषु वनेषूपवनेषु च। वातायनगताश्चान्याश्चाकाशस्य तलेषु च ॥ ५८ ॥
रमणैरुपगूढाश्च रमन्त्यो रमणैः सह। दह्यन्ते दानवेन्द्राणामग्निना ह्यपि ताः स्त्रियः ॥ ५९ ॥
काचित्प्रियं परित्यज्य अशक्ता गन्तुमन्यतः। पुरः प्रियस्य पञ्चत्वं गताग्निवदने क्षयम् ॥ ६० ॥
उवाच शतपत्राक्षी सास्राक्षीव कृताञ्जलिः।
हव्यवाहन भार्याहं परस्य परतापन। धर्मसाक्षी त्रिलोकस्य न मां स्प्रष्टुमिहार्हसि ॥ ६१ ॥
शायितं च मया देव शिवया च शिवप्रभ। शरेण प्रेहि मुक्त्वेदं गृहं च दयितं हि मे ॥ ६२ ॥
एका पुत्रमुपादाय बालकं दानवाङ्गना। हुताशनसमीपस्था इत्युवाच हुताशनम् ॥ ६३ ॥
बालोऽयं दुःखलब्धश्च मया पावक पुत्रकः। नार्हस्येनमुपादातुं दयितं षण्मुखप्रिय ॥ ६४ ॥
काश्चित् प्रियान् परित्यज्य पीडिता दानवाङ्गनाः। निपतन्त्यर्णवजले शिञ्जमानविभूषणाः ॥ ६५ ॥
तात पुत्रेति मातेति मातुलेति च विह्वलम्। चक्रन्दुस्त्रिपुरे नार्यः पावकज्वालवेपिताः ॥ ६६ ॥

यथा दहति शैलाग्निः साम्बुजं जलजाकरम्। तथा स्त्रीवक्त्रपद्मानि चादहत् पुरेऽनलः ॥ ६७ ॥

उस त्रिपुरमें ऐसे गृह बने थे, जो सुमेरु, कैलास और मन्दराचलके अग्रभागकी तरह दीख रहे थे। जिनमें बड़े-बड़े किंवाड़ और झरोखे लगे हुए थे तथा छज्जाओंकी विचित्र छटा दीख रही थी। जो सुन्दर महलों, उत्कृष्ट कूटागारों (ऊपरी छतके कमरों), जल रखनेकी वेदिकाओं और खिड़कियोंसे सुशोभित थे। जिनके ऊपर सुवर्ण एवं चाँदीके बने हुए डंडोंमें बँधे हुए ध्वज और पताकाएँ फहरा रही थीं। ये सभी हजारोंकी संख्यामें दानवोंके उस उपद्रवके समय अग्नि-द्वारा जलाये जा रहे थे, जो आगकी तरह धधक रहे थे। दानवेन्द्रोंकी स्त्रियाँ, जिनमें कुछ महलोंके रमणीय शिखरोंपर बैठी थीं, कुछ वनों और उपवनोंमें घूम रही थीं, कुछ झरोखोंमें बैठकर दृश्य देख रही थीं, कुछ मैदानमें घूम रही थीं—ये सभी अग्निद्वारा जलायी जा रही थीं। कोई अपने पतिको छोड़कर अन्यत्र जानेमें असमर्थ थी, अतः पतिके सम्मुख ही अग्निकी लपटोंमें आकर दग्ध हो गयी। कोई कमलनयनी नारी आँखोंमें आँसू भरे हुए हाथ जोड़कर कह रही थी—'हव्यवाहन! मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। परतापन! आप त्रिलोकीके धर्मके साक्षी हैं, अतः यहाँ मेरा स्पर्श करना आपके लिये उचित नहीं है।' (कोई कह रही थी—) 'शिवके समान कान्तिमान् अग्निदेव! मुझ पतिव्रताने इस घरमें अपने पतिको सुला रखा है, अतः इसे छोड़कर आप दूसरी ओरसे चले जाइये; क्योंकि यह गृह मुझे परम प्रिय है।' एक दानवपत्नी अपने शिशु पुत्रको गोदमें लेकर अग्निके समीप गयी और अग्निसे कहने लगी—'स्वामीकार्तिकके प्रेमी पावक! मुझे यह शिशु पुत्र बड़े दुःखसे प्राप्त हुआ है, अतः इसे ले लेना आपके लिये उचित नहीं है। यह मुझे परम प्रिय है।' कुछ पीड़ित हुई दानव-पत्नियाँ अपने पतियोंको छोड़कर समुद्रके जलमें कूद रही थीं। उस समय उनके आभूषणोंसे शब्द हो रहा था। त्रिपुरमें आगकी लपटोंके भयसे काँपती हुई नारियाँ 'हा तात!, हा पुत्र!, हा माता!, हा मामा!' कहकर विह्वलतापूर्वक करुण-क्रन्दन कर रही थीं। जैसे पर्वताग्नि (दावाग्नि) कमलोंसहित सरोवरको जला देती है, उसी प्रकार अग्निदेव त्रिपुरमें स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको जला रहे थे ॥ ५५—६७ ॥

तुषारराशिः कमलाकराणां यथा दहत्यम्बुजकानि शीते।
तथैव सोऽग्निस्त्रिपुराङ्गनानां ददाह वक्त्रेक्षणपङ्कजानि ॥ ६८ ॥
शराग्निपातात् समभिद्रुतानां तत्राङ्गनानामतिकोमलानाम्।
बभूव काञ्चीगुणनूपुराणामाक्रन्दितानां च रवोऽति मिश्रः ॥ ६९ ॥
दग्धार्धचन्द्राणि सवेदिकानि विशीर्णहर्म्याणि सतोरणानि।
दग्धानि दग्धानि गृहाणि तत्र पतन्ति रक्षार्थमिवार्णवौघे ॥ ७० ॥
गृहैः पतद्भिर्ज्वलनावलीढैरासीत् समुद्रे सलिलं प्रतप्तम्।
कुपुत्रदोषैः प्रहतानुविद्धं यथा कुलं याति धनान्वितस्य ॥ ७१ ॥
गृहप्रतापैः क्वथितं समन्तात् तदार्णवे तोयमुदीर्णवेगम्।
वित्रासयामास तिमीन् सनक्रांस्तिमिंगिलांस्तत्क्वथितांस्तथान्यान् ॥ ७२ ॥
सगोपुरो मन्दरपादकल्पः प्राकारवर्यस्त्रिपुरे च सोऽथ।
तैरेव सार्धं भवनैः पपात शब्दं महान्तं जनयन् समुद्रे ॥ ७३ ॥
सहस्रशृङ्गैर्भवनैर्यदासीत् सहस्रशृङ्गः स इवाचलेशः।
नामावशेषं त्रिपुरं प्रजज्ञे हुताशनाहारबलिप्रयुक्तम् ॥ ७४ ॥

प्रदह्यमानेन पुरेण तेन जगत्सपातालदिवं प्रतप्तम्।
दुःखं महत्प्राप्य जलावमग्नं हित्वा महान् सौधवरो मयस्य ॥ ७५ ॥
तद् देवेशो वचः श्रुत्वा इन्द्रो वज्रधरस्तदा। शशाप तद्गृहं चापि मयस्यादितिनन्दनः ॥ ७६ ॥
असेव्यमप्रतिष्ठं च भयेन च समावृतम्। भविष्यति मयगृहं नित्यमेव यथानलः ॥ ७७ ॥
यस्य यस्य तु देशस्य भविष्यति पराभवः।
द्रक्ष्यन्ति त्रिपुरं खण्डं तत्रेदं नाशगा जनाः। तदेतदद्यापि गृहं मयस्यामयवर्जितम् ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार शीतकालमें तुषारराशि कमलोंसे भरे हुए सरोवरोंके कमलोंको नष्ट कर देती है, उसी तरह अग्निदेव त्रिपुर-निवासिनी नारियोंके मुख और नेत्ररूप कमलोंको जला रहे थे। त्रिपुरमें बाणाग्निके गिरनेसे भयभीत होकर भागती हुई अत्यन्त कोमलाङ्गी सुन्दरियोंकी करधनीकी लड़ियों और पायजेबोंका शब्द आक्रन्दनके शब्दोंसे मिलकर अत्यन्त भयंकर लग रहा था। जिनमें अर्धचन्द्रसे सुशोभित वेदिकाएँ जल गयी थीं तथा तोरणसहित अट्टालिकाएँ जलकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। ऐसे गृह जलते-जलते समुद्रमें इस प्रकार गिर रहे थे, मानो वे रक्षाके लिये उसमें कूद रहे हों। अग्निकी लपटोंसे झुलसे हुए गृहोंके समुद्रमें गिरनेसे उसका जल ऐसा संतप्त हो उठा था, जैसे सम्पत्तिशाली व्यक्तिका कुल कुपुत्रके दोषसे नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। उस समय समुद्रमें चारों ओर गिरते हुए गृहोंकी उष्णतासे खौलते हुए जलमें तूफान आ गया, जिससे मगरमच्छ, नाक, तिमिंगिल तथा अन्यान्य जलजन्तु संतप्त होकर भयभीत हो उठे। उसी समय त्रिपुरमें लगा हुआ मन्दराचलके समान ऊँचा परकोटा फाटक-सहित उन गिरते हुए भवनोंके साथ-ही-साथ महान् शब्द करता हुआ समुद्रमें जा गिरा। जो त्रिपुर थोड़ी देर पहले सहस्रों ऊँचे-ऊँचे भवनोंसे युक्त होनेके कारण सहस्र शिखरवाले पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था, वही अग्निके आहार और बलिके रूपमें प्रयुक्त होकर नाममात्र अवशेष रह गया। जलते हुए उस त्रिपुरके तापसे पाताल और स्वर्गलोकसहित सारा जगत् संतप्त हो उठा। इस प्रकार महान् कष्ट झेलता हुआ वह त्रिपुर समुद्रके जलमें निमग्न हो गया। इसमें एकमात्र मयका महान् भवन ही बच गया था। अदिति-नन्दन वज्रधारी देवराज इन्द्रने जब ऐसी बात सुनी तो मयके उस गृहको शाप देते हुए बोले—'मयका वह गृह किसीके सेवन करने योग्य नहीं होगा। उसकी संसारमें प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह अग्निकी तरह सदा भयसे युक्त बना रहेगा। जिस-जिस देशकी पराजय होनेवाली होगी, उस-उस देशके विनाशोन्मुख निवासी इस त्रिपुर-खण्डका दर्शन करेंगे।' मयका वह गृह आज भी आपत्तियोंसे रहित है। ६८—७८।

ऋषय ऊचुः

भगवन् स मयो येन गृहेण प्रपलायितः। तस्य नो गतिमाख्याहि मयस्य चमसोद्भव ॥ ७९ ॥

ऋषियोंने पूछा—चमससे उत्पन्न होनेवाले ऐश्वर्यशाली सूतजी! वह मय जिस गृहको साथ लेकर भाग गया था, उस मयकी आगे चलकर क्या गति हुई? यह हमें बतलाइये ॥ ७९ ॥

सूत उवाच

दृश्यते दृश्यते यत्र ध्रुवस्तत्र मयास्पदम्।
देवद्विट् तु मयश्चातः स तदा खिन्नमानसः। ततश्च युतोऽन्यलोकेऽसिस्त्राणार्थं स चकार सः ॥ ८० ॥
तत्रापि देवताः सन्ति आप्तोर्यामाः सुरोत्तमाः। तत्राशक्तं ततो गन्तुं तं चैकं पुरमुत्तमम् ॥ ८१ ॥
शिवः सृष्ट्वा गृहं प्रादान्मयायैव गृहार्थिने।
विरराम सहस्राक्षः पूजयामास चेश्वरम्। पूज्यमानं च भूतेशं सर्वे तुष्टुवुरीश्वरम् ॥ ८२ ॥

सम्पूज्यमानं त्रिदशैः समीक्ष्य गणैर्गणेशाधिपतिं तु मुख्यम्।
हर्षोद्धवल्गुर्जहसुश्च देवा जग्मुर्ननर्दुस्तु विपक्कहस्ताः ॥ ८३ ॥
पितामहं वन्द्य ततो महेशं प्रगृह्य चापं प्रविसृज्य भूतान्।
रथाच्च सम्पत्य हरेषुदग्धं क्षिप्तं पुरं तन्मकरालये च ॥ ८४ ॥
य इमं रुद्रविजयं पठते विजयावहम्। विजयं तस्य कृत्येषु ददाति वृषभध्वजः ॥ ८५ ॥
पितॄणां वापि श्राद्धेषु य इमं श्रावयिष्यति। अनन्तं तस्य पुण्यं स्यात् सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ८६ ॥
इदं स्वस्त्ययनं पुण्यमिदं पुंसवनं महत्। इदं श्रुत्वा पठित्वा च यान्ति रुद्रसलोकताम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरोपाख्याने त्रिपुरदाहो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! जहाँ ध्रुव दिखलायी पड़ते हैं, वहीं मयका भी स्थान दीख पड़ता था, किंतु कुछ समयके बाद देवशत्रु मयका मन खिन्न हो गया, तब वह अपनी रक्षाके निमित्त वहाँसे हटकर अन्य लोकमें चला गया। वहाँ भी आप्तोर्याम नामक श्रेष्ठ देवता निवास करते थे, परंतु अब मयमें वहाँसे अन्यत्र जानेकी शक्ति नहीं रह गयी थी। तब भक्तवत्सल शंकरजीने एक उत्तम पुर और गृहका निर्माण कर गृहार्थी मयको प्रदान कर दिया। यह देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र शान्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने महेश्वरकी पूजा की। उस समय सभी देवताओंने पूजित होते हुए भूतपति शंकरकी स्तुति की। तदनन्तर देवताओं और गणेश्वरोंद्वारा प्रधान गणेशाधिपति महेश्वरकी पूजा होते देखकर देवगण हाथ उठाकर हर्षपूर्वक जयजयकार, अट्टहास और सिंहनाद करने लगे। इसके बाद रथसे निकलकर उन्होंने ब्रह्मा और शंकरजीकी वन्दना की। फिर हाथमें धनुष ग्रहणकर और भूतगणोंसे विदा होकर वे अपने-अपने स्थानके लिये प्रस्थित हुए; क्योंकि शंकरजीके बाणसे भस्म हुआ त्रिपुर महासागरमें निमग्न हो चुका था। जो मनुष्य विजय प्रदान करनेवाले इस रुद्रविजयका पाठ करता है, उसे भगवान् शंकर सभी कार्योंमें विजय प्रदान करते हैं। जो मनुष्य पितरोंके श्राद्धोंके अवसरपर इसे पढ़कर सुनाता है, उसे सम्पूर्ण यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाले अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। यह रुद्रविजय महान् मङ्गलकारक, पुण्यप्रद और संतानप्रदायक है। इसे पढ़ और सुनकर लोग रुद्रलोकमें चले जाते हैं ॥ ८०—८७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरोपाख्यानमें त्रिपुरदाह नामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१४०॥

एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय

पुरूरवाका सूर्य-चन्द्रके साथ समागम और पितृतर्पण, पर्वसंधिका वर्णन तथा श्राद्धभोजी पितरोंका निरूपण

ऋषय ऊचुः

कथं गच्छत्यमावास्यां मासि मासि दिवं नृपः।
ऐलः पुरूरवाः सूत तर्पयेत कथं पितॄन्। एतदिच्छामहे श्रोतुं प्रभावं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! इला-नन्दन महाराज पुरूरवा प्रति मासकी अमावास्याको किस प्रकार स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ अपने पितरोंको कैसे तृप्त करते हैं ? उन बुद्धिमान् नरेशके इस प्रभावको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

एतदेव तु पप्रच्छ मनुः स मधुसूदनम्। सूर्यपुत्राय चोवाच यथा तन्मे निबोधत ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! पूर्वकालमें महाराज मनुने भगवान् मधुसूदनसे यही प्रश्न किया था। उस समय भगवान्‌ने उन सूर्य-पुत्र मनुके प्रति जो कुछ कहा था, वही मैं बतला रहा हूँ, आपलोग ध्यान देकर सुनिये ॥

मत्स्य उवाच

तस्य चाहं प्रवक्ष्यामि प्रभावं विस्तरेण तु। ऐलस्य दिवि संयोगं सोमेन सह धीमता ॥ ३ ॥
सोमाच्चैवामृतप्राप्तिः पितॄणां तर्पणं तथा। सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ ४ ॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च नक्षत्राणां समागतौ। अमावास्यां निवसत एकस्मिन्नथ मण्डले ॥ ५ ॥
तदा स गच्छति द्रष्टुं दिवाकरनिशाकरौ। अमावास्याममावास्यां मातामहपितामहौ ॥ ६ ॥
अभिवाद्य तु तौ तत्र कालापेक्षः स तिष्ठति। प्रचस्कन्द ततः सोममर्चयित्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥
ऐलः पुरूरवा विद्वान् मासि श्राद्धचिकीर्षया। ततः स दिवि सोमं वै ह्युपतस्थे पितॄनपि ॥ ८ ॥
द्विलवं कुहुमात्रं च तावुभौ तु निधाय सः। सिनीवालीप्रमाणाल्पकुहूमात्रव्रतोदये ॥ ९ ॥
कुहूमात्रं पितृुद्देशं ज्ञात्वा कुहूमुपासते। तमुपास्य ततः सोमं कलापेक्षी प्रतीक्षते ॥ १० ॥
स्वधामृतं तु सोमाद् वै वसंस्तेषां च तृप्तये।
दशभिः पञ्चभिश्चैव स्वधामृतपरिस्रवैः। कृष्णपक्षभुजां प्रीतिर्दुह्यते परमांशुभिः ॥ ११ ॥
सद्योऽभिक्षरता तेन सौम्येन मधुना च सः। निवापेष्वथ दत्तेषु पित्र्येण विधिना तु वै ॥ १२ ॥
स्वधामृतेन सौम्येन तर्पयामास वै पितॄन्। सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ १३ ॥
ऋतुरग्निः स्मृतो विप्रैर्ऋतुं संवत्सरं विदुः। जज्ञिरे ऋतवस्तस्मादृतुभ्यो ह्यार्तवाऽभवन् ॥ १४ ॥
पितरोऽऽर्तवोऽर्धमासा विज्ञेया ऋतुसूनवः।
पितामहास्तु ऋतवो ह्यमावास्याब्दसूनवः। प्रपितामहाः स्मृता देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः सुताः॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन् ! मैं इला-पुत्र पुरूरवाका प्रभाव, स्वर्गलोकमें उसका बुद्धिमान् चन्द्रमाके साथ संयोग, उन चन्द्रमासे अमृतकी उपलब्धि तथा पितृतर्पणकी बात विस्तारपूर्वक बतला रहा हूँ। सौम्य, बर्हिषद्, काव्य तथा अग्निष्वात्तसंज्ञक पितरो तथा नक्षत्रोंपर विचरण करते हुए सूर्य और चन्द्रमा जिस समय अमावास्या तिथिको एक मण्डल अर्थात् एक राशिपर स्थित होते हैं, उस समय वह प्रत्येक अमावास्याको सूर्य और चन्द्रमाका दर्शन करनेके लिये स्वर्गमें जाता है और वहाँ मातामह (नाना) और पितामह (बाबा)—दोनोको अभिवादन कर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ कुछ दिनतक ठहरा रहता है। चन्द्रमासे अमृतके क्षरण होनेपर उससे परिश्रमपूर्वक पितरोकी पूजा करके लौटता है। किसी महीनेमें श्राद्ध करनेकी इच्छासे इला-नन्दन विद्वान् पुरूरवा स्वर्गलोकमें चन्द्रमा और पितरोके निकट गया और दो लवमात्र कुहू अमावास्यामें उसने दोनोको स्थापित किया; क्योंकि पितृ-व्रतमें जब सिनीवालीका प्रमाण थोड़ा तथा कुहू (अमावास्या) प्रशस्त मानी गयी है। अतः कुहूका समय प्राप्त हुआ जानकर वह पितरोंके उद्देश्यसे कुहूकी उपासना करता है। उसकी उपासना करनेके पश्चात् वह कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चन्द्रमाकी भी प्रतीक्षा करता है। वहाँ रहते हुए उसे पितरोकी तृप्तिके लिये चन्द्रमासे स्वधारूप अमृत प्राप्त होता है। चन्द्रमाकी पंद्रह किरणोसे स्वधामृतका क्षरण होता है। कृष्णपक्षमें श्राद्धभोजी पितरोका उन श्रेष्ठ किरणोसे बड़ा प्रेम रहता है तथा अन्य पितर उनसे द्वेष करते हैं। पुरूरवा

तुरंत अभिक्षरित हुए उस उत्तम मधुको पितृ-श्राद्धकी विधिके अनुसार श्राद्धके समय पितरोंको प्रदान करता है। इस प्रकार वह उत्तम स्वधामृतसे सौम्य, बर्हिषद्, काव्य तथा अग्निष्वात्त पितरोंको तृप्त करता रहता है। महर्षियोंने ऋतुको अग्नि बतलाया है और ऋतुको संवत्सर भी कहते हैं। उस संवत्सरसे ऋतुकी उत्पत्ति होती है और ऋतुओंसे उत्पन्न हुए पितर आर्तव कहलाते हैं। आर्तव और अर्धमास पितरोंको ऋतुका पुत्र तथा ऋतुस्वरूप पितामह और अमावास्याको संवत्सरका पुत्र जानना चाहिये। प्रपितामह और पक्ष संवत्सररूप देवगण ब्रह्माके पुत्र माने गये हैं॥ ३—१५॥

सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्ता इति त्रिधा।
गृहस्था ये तु यज्वानो हविर्यज्ञार्तवाश्च ये। स्मृता बर्हिषदस्ते वै पुराणे निश्चयं गताः॥ १६॥
गृहमेधिनश्च यज्वानो अग्निष्वात्तार्तवाः स्मृताः। अष्टकापतयः काव्याः पञ्चाब्दांस्तु निबोधत॥ १७॥
तेषु संवत्सरो ह्यग्निः सूर्यस्तु परिवत्सरः। सोमस्त्विड्वत्सरश्चैव वायुश्चैवानुवत्सरः॥ १८॥
रुद्रस्तु वत्सरस्तेषां पञ्चाब्दा ये युगात्मकाः। कालेनाधिष्ठितस्तेषु चन्द्रमाः स्रवते सुधाम्॥ १९॥
एते स्मृता देवकृत्याः सोमपाश्चोष्मपाश्च ये। तांस्तेन तर्पयामास यावदासीत् पुरूरवाः॥ २०॥
यस्मात्प्रसूयते सोमो मासि मासि विशेषतः।
ततः स्वधामृतं तद्वै पितॄणां सोमपायिनाम्। एतत् तदमृतं सोममवाप मधु चैव हि॥ २१॥
ततः पीतसुधं सोमं सूर्योऽसावेकरश्मिना। आप्यायते सुषुम्णेन सोमं तु सोमपायिनम्॥ २२॥
निःशेषं वै कलाः पूर्वा युगपद्व्यापयन्पुरा। सुषुम्णाऽऽप्यायमानस्य भागं भागमहःक्रमात्॥ २३॥
कलाः क्षीयन्ति कृष्णास्ताः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च। एवं सा सूर्यवीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः॥ २४॥
पौर्णमास्यां स दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः।
एवमाप्यायितः सोमः शुक्लपक्षेऽप्यहःक्रमात्। देवैः पीतसुधं सोमं पुरा पश्चात्पिबेद् रविः॥ २५॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः। आप्याययत्सुषुम्णेन भागं भागमहःक्रमात्॥ २६॥
सुषुम्णाप्यायमानस्य शुक्ला वर्धयन्ति वै कलाः। तस्माद्ध्रसन्ति वै कृष्णाः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च॥ २७॥
एवमाप्यायते सोमः क्षीयते च पुनः पुनः। समृद्धिरेवं सोमस्य पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः॥ २८॥
इत्येष पितृमान् सोमः स्मृतस्तद्वत्सुधात्मकः। कान्तः पञ्चदशैः सार्धं सुधामृतपरिस्रवैः॥ २९॥

सौम्य बर्हिषद्, काव्य और अग्निष्वात्त—पितरोंके ये तीन भेद हैं। इनमें जो गृहस्थ, यज्ञकर्ता और हवन करनेवाले हैं, वे आर्तव पितर पुराणमें बर्हिषद् नामसे निश्चित किये गये हैं। गृहस्थाश्रमी और यज्ञकर्ता आर्तव पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। अष्टकापति आर्तव पितरोंको काव्य कहा जाता है। अब पञ्चाब्दोंको सुनिये। इनमें अग्नि संवत्सर, सूर्य परिवत्सर, सोम इड्वत्सर, वायु अनुवत्सर और रुद्र वत्सर हैं। ये पञ्चाब्द युगात्मक होते हैं। समयानुसार इनपर स्थित हुए चन्द्रमा अमृतका क्षरण करते है। ये देवकर्म कहे जाते है। जबतक पुरूरवा वहाँ रहता था, तबतक वह जो सोमप और ऊष्मप पितर हैं, उनको भी उसी अमृतसे तृप्त करता था। चूँकि चन्द्रमा प्रत्येक मासमें विशेषरूपसे अमृतका क्षरण करते हैं और वह सोमपायी पितरोंको स्वधामृतरूपसे प्राप्त होता है, इसीलिये वह अमृतस्वरूप मधु सोमको प्राप्त होता है। इस प्रकार पितरोंद्वारा चन्द्रमाका अमृत पी लिये जानेपर सूर्यदेव अपनी एकमात्र सुषुम्णा नामकी किरणद्वारा उन सोमपायी चन्द्रमाको पुनः परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार सूर्य सुषुम्णाद्वारा पूर्ण किये जाते हुए चन्द्रमाकी पहलेकी सम्पूर्ण कलाओंको दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा करके पूर्ण करते हैं। चन्द्रमाकी कलाएँ कृष्णपक्षमें क्षीण हो जाती हैं और शुक्लपक्षमें वे पुनः पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार सूर्यके प्रभावसे चन्द्रमाका

*

शरीर पूर्ण होता रहता है। इसी कारण शुक्लपक्षमें दिनके क्रमसे परिपूर्ण किये गये चन्द्रमाका सम्पूर्ण मण्डल पूर्णिमा तिथिको श्वेत वर्णका दिखायी पड़ता है। पहले देवगण चन्द्रमासे स्रवित हुए अमृतको पीते हैं, उसके बाद सूर्य भी सोमका पान करते हैं। सूर्य अपनी एक किरणसे पंद्रह दिनोंतक सोमको पीते हैं और पुनः दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा कर सुषुम्णा किरणद्वारा उसे पूर्ण कर देते हैं। इसी कारण शुक्लपक्षमें चन्द्रमाकी कलाएँ बढ़ती हैं और कृष्णपक्षमें वे क्षीण होती हैं, यही इनका क्रम है। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह दिनोंतक बढ़ते हैं और पुनः पंद्रह दिनतक क्षीण होते रहते हैं। चन्द्रमाकी इस प्रकारकी समृद्धि और ह्रास शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्षके आश्रयसे होते हैं। इस प्रकार सुधामृतस्रावी पंद्रह किरणोंसे सुशोभित ये चन्द्रमा सुधात्मक एवं पितृमान् कहे जाते हैं ॥ १६—२९ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पर्वाणां संधयश्च याः। यथा ग्रथ्नन्ति पर्वाणि आवृत्तादिक्षुवेणुवत् ॥ ३० ॥
तथाब्दमासाः पक्षाश्च शुक्लाः कृष्णास्तु वै स्मृताः। पौर्णमास्यास्तु यो भेदो ग्रन्थयः संधयस्तथा ॥ ३१ ॥
अर्धमासस्य पर्वाणि द्वितीयाप्रभृतीनि च। अग्न्याधानक्रिया यस्तान्नीयन्ते पर्वसन्धिषु ॥ ३२ ॥
तस्मात्तु पर्वणो ह्यादौ प्रतिपद्यादिसंधिषु।
सायाह्ने अनुमत्याश्च द्वौ लवौ काल उच्यते। लवौ द्वावेव राकायाः का ेो ज्ञेयोऽपराह्णिकः ॥ ३३ ॥
प्रकृतिः कृष्णपक्षस्य कालेऽतीतेऽपराह्णिके। सायाह्ने प्रतिपद्येष स कालः पौर्णमासिकः ॥ ३४ ॥
व्यतीपाते स्थिते सूर्ये लेखादूर्ध्वं युगान्तरम्। युगान्तरोदिते चैव चन्द्रे लेखोपरि स्थिते ॥ ३५ ॥
पूर्णमासव्यतीपातो यदा पश्येत्परस्परम्। तौ तु वै प्रतिपद्यावत्तस्मिन्काले व्यवस्थितौ ॥ ३६ ॥
तत्कालं सूर्यमुद्दिश्य दृष्ट्वा संख्यातुमर्हसि। स चैव सत्क्रियाकालः षष्ठः कालोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥
पूर्णेन्दुः पूर्णपक्षे तु रात्रिसंधिषु पूर्णिमा। तस्मादाप्यायते नक्तं पौर्णमास्यां निशाकरः ॥ ३८ ॥
यदान्योन्यवतो पाते पूर्णिमां प्रेक्षते दिवा। चन्द्रादित्योऽपराह्णे तु पूर्णत्वात्पूर्णिमा स्मृता ॥ ३९ ॥
यस्मात्तामनुमन्यन्ते पितरो दैवतैः सह। तस्मादनुमतिर्नाम पूर्णत्वात् पूर्णिमा स्मृता ॥ ४० ॥
अत्यर्थं राजते यस्मात्पौर्णमास्यां निशाकरः। रञ्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयो विदुः ॥ ४१ ॥
अमा वसेतामृक्षे तु यदा चन्द्रदिवाकरौ। एका पञ्चदशी रात्रिरमावस्या ततः स्मृता ॥ ४२ ॥

इसके बाद अब मै पर्वोकी जो संधियाँ हैं, उनका वर्णन कर रहा हूँ। जैसे गन्ने और बाँसमें गोलाकार गाँठें बनी रहती हैं, वैसे ही वर्ष, मास, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, अमावस्या और पूर्णिमाके भेद—ये सभी पर्वकी ग्रन्थियाँ और संधियाँ है। (प्रत्येक पक्षमें) प्रतिपद्-द्वितीया आदि पंद्रह तिथियॉ होती हैं। चूँकि अग्न्याधान आदि क्रियाएँ पर्वसंधियोमें सम्पन्न की जाती हैं, अतः उन्हे (अमा, पूर्णिमा) पर्वकी तथा प्रतिपदाकी संधियोमें करना चाहिये। चतुर्दशी और पूर्णिमा आदिके दो लवको पर्वकाल कहा जाता है तथा राकाके दूसरे दिनमें आनेवाले दो लवको पर्वकाल जानना चाहिये। कृष्णपक्षके अपराह्णिक कालके व्यतीत हो जानेपर सायंकालमें प्रतिपदाके योगमें जो काल आता है, उसे पौर्णमासिक कहते हैं। सूर्यके लेखा (विषुव) के ऊपर व्यतीपातमें स्थित होनेपर युगान्तर कहलाता है। उस समय चन्द्रमा लेखाके ऊपर स्थित युगान्तरमें उदित होते हैं। इस प्रकार जब चन्द्रमा और व्यतीपात परस्पर एक-दूसरेको देखे और प्रतिपदा तिथितक उसी अवस्थामें स्थित रहे तो उस समय सूर्यके उद्देश्यसे उस समयको देखकर गणना करनी चाहिये। उसे सत्क्रियाकाल नामक छठा काल कहते हैं। शुक्लपक्षके पूर्ण होनेपर रात्रिकी संधिमें जब पूर्णचन्द्र उदय होते हैं, तब उसे पूर्णिमा कहते है। इसीलिये चन्द्रमा पूर्णिमाकी रातमें अपनी सभी कलाओसे पूर्ण हो जाते हैं। पूर्णिमा

तिथिकी ह्रास-वृद्धि होती रहती है, अतः यदि वृद्धिके समय दूसरे दिन सूर्य और चन्द्र दिनमें पूर्णिमामें दीखते हैं तो वह तिथि पूर्ण होनेके कारण पूर्णिमा कहलाती है। यदि दूसरे दिन प्रतिपदाका योग होनेमें चन्द्रमाकी एक कला हीन हो गयी तो उस पूर्णिमाको अनुमति कहते हैं। यह अनुमति देवताओंसहित पितरोंको परम प्रिय है। चूँकि पूर्णिमाकी रातमें चन्द्रमा अत्यन्त सुशोभित होते हैं, इसलिये चन्द्रमाको प्रिय होनेके कारण उस पूर्णिमाको विद्वानोंने राका नामसे अभिहित किया है। कृष्णपक्षकी पंद्रहवीं रात्रिको जब सूर्य और चन्द्र एक साथ एक नक्षत्रपर स्थित होते हैं, तब उसे अमावास्या कहा जाता है ॥ ३०-४२ ॥

उद्दिश्यताममावास्यां यदा दर्शं समागतौ। अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तु दर्शनाद् दर्श उच्यते ॥ ४३ ॥
द्वौ द्वौ लवावमावास्यां स कालः पर्वसंधिषु। द्व्यक्षरः कुहुमात्रश्च पर्वकालस्तु स स्मृतः ॥ ४४ ॥
दृष्टचन्द्रा त्वमावास्या मध्याह्नप्रभृतीह वै।
दिवा तदूर्ध्वं रात्र्यां तु सूर्ये प्राप्ते तु चन्द्रमाः। सूर्येण सहसोद्गच्छेत्ततः प्रातस्तनात्तु वै ॥ ४५ ॥
समागम्य लवौ द्वौ तु मध्याह्नान्निपतन् रविः। प्रतिपच्छुक्लपक्षस्य चन्द्रमाः सूर्यमण्डलात् ॥ ४६ ॥
निर्मुच्यमानयोर्मध्ये तयोर्मण्डलयोस्तु वै।
स तदान्वाहुतेः कालो दर्शस्य च वषट्क्रियाः। एतदृतुमुखं ज्ञेयममावास्यां तु पार्वणम् ॥ ४७ ॥
दिवा पर्व त्वमावास्यां क्षीणेन्दौ धवले तु वै। तस्माद् दिवा त्वमावास्यां गृह्यते यो दिवाकरः ॥ ४८ ॥
कुह्वेति कोकिलेनोक्तं यस्मात्कालात् समाप्यते। तत्कालसंज्ञिता ह्येषा अमावास्या कुहूः स्मृता ॥ ४९ ॥
सिनीवालीप्रमाणं तु क्षीणशेषो निशाकरः। अमावास्या विशत्यर्कं सिनीवाली तदा स्मृता ॥ ५० ॥
अनुमतिश्च राका च सिनीवाली कुहूस्तथा। एतासां द्विलवः कालः कुहूमात्रा कुहूः स्मृता ॥ ५१ ॥
इत्येष पर्वसन्धीनां कालो वै द्विलवः स्मृतः। पर्वणां तुल्यकालस्तु तुल्याहुतिवषट्क्रियाः ॥ ५२ ॥
चन्द्रसूर्यव्यतीपाते समे वै पूर्णिमे उभे। प्रतिपत्प्रतिपन्नस्तु पर्वकालो द्विमात्रकः ॥ ५३ ॥
कालः कुहूसिनीवाल्यो समूद्धो द्विलवः स्मृतः। अर्कनिर्मण्डले सोमे पर्वकालः कलाः स्मृताः ॥ ५४ ॥
यस्मादापूर्यते सोमः पञ्चदश्यां तु पूर्णिमा। दशभिः पञ्चभिश्चैव कलाभिर्दिवसक्रमात् ॥ ५५ ॥
तस्मात् पञ्चदशे सोमे कला वै नास्ति षोडशी। तस्मात् सोमस्य विप्रोक्तः पञ्चदश्यां मया क्षयः ॥ ५६ ॥
इत्येते पितरो देवाः सोमपाः सोमवर्धनाः। आर्तवा ऋतवोऽब्दा देवास्तान्भावयन्ति हि ॥ ५७ ॥

उस अमावास्याको लक्ष्य कर जब सूर्य और चन्द्रमा दर्शपर आ जाते हैं और परस्पर एक-दूसरेको देखते हैं, तब उसे दर्श कहते हैं। अमावास्यामें पर्वसंधिके अवसरपर दो-दो लव पर्वकाल कहलाते हैं। इनमें प्रतिपदाके योगवाला पर्वकाल कुहू कहलाता है। जिस दिन दोपहरतक अमावास्यामें चन्द्रमाका सम्पर्क बना रहे और उसके बाद रात्रिके प्राप्त होनेपर चन्द्रमा सहसा सूर्यके निकट पहुँच जायँ, पुनः प्रातःकाल सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जायँ तो शुक्लपक्षकी प्रतिपदामें प्रातःकाल दो लव पर्वकाल कहलाता है। इस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डलके पृथक् होते समय अमावास्याके उस मध्यवर्ती कालको अन्वाहुति कहते हैं। इसमें पितरोंके निमित्त वषट्क्रियाएँ की जाती हैं। इसे ऋतुमुख और अमावास्याको पार्वण जानना चाहिये। दिनमें जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यके साथ मिलते हैं, तब अमावास्याका वह काल पर्वकाल कहलाता है। इसीलिये दिनमें अमावास्याके उस पर्वकालमें सूर्यके पहुँचनेपर सूर्य गृहीत हो जाते हैं अर्थात् सूर्य-ग्रहण लगता है। कोयलद्वारा उच्चरित 'कुहू' शब्द जितने समयमें समाप्त होता है, अमावास्याका उतना मुख्य काल 'कुहू' नामसे कहा जाता है। सिनीवालीका प्रमाण यह है कि जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यमें प्रवेश करते हैं, तब वह अमावास्या

सिनीवाली कही जाती है। अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू—इनका दो लवकाल पर्वकाल होता है। कुहू शब्दके उच्चारणपर्यन्त कालको कुहू कहते हैं। इस प्रकार पर्वसंधियोंका यह काल दो लवका बतलाया जाता है और यह पर्वोंके समान फलदायक होता है। इसमें हवन और वषट्क्रियाएँ की जाती हैं। चन्द्रमा और सूर्यका व्यतीपातपर स्थित होना तथा दोनों (अमावास्या और पूर्णिमा) पूर्णिमाएँ—ये सभी एक-से पुण्यदायक हैं। प्रतिपदाके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला पर्वकाल दो लवका होता है। इसी प्रकार कुहू और सिनीवालीके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ पर्वकाल भी दो लवका ही माना जाता है। चन्द्रमा जब सूर्यमण्डलसे बाहर होते हैं, तब वह पर्वकाल एक कलाका बतलाया जाता है। चूँकि दिनके क्रमसे पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमा पंद्रह कलाओंद्वारा पूर्ण किये जाते हैं, इसलिये उस तिथिको पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह कलाओंवाले* ही हैं, उनमें सोलहवीं कला नहीं है। इसी कारण मैंने पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमाका क्षय बतलाया है। इस प्रकार ये सोमपायी देव-पितर सोमकी वृद्धि करनेवाले हैं और ऋतु एवं अब्दसे सम्बन्धित आर्तवसंज्ञक देवगण उन्हींके परिपोषक हैं ॥ ४३—५७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृश्राद्धभुजस्तु ये। तेषां गतिं च सत्तत्त्वं प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि ॥ ५८ ॥
न मृतानां गतिः शक्या ज्ञातुं वा पुनरागतिः। तपसा हि प्रसिद्धेन किं पुनर्मांसचक्षुषा ॥ ५९ ॥
अत्र देवान्पितॄंश्चैते पितरो लौकिकाः स्मृताः। तेषां ते धर्मसामर्थ्यात्स्मृताः सायुज्यगा द्विजैः ॥ ६० ॥
यदि वाश्रमधर्मेण प्रज्ञानेषु व्यवस्थितान्। अन्ये चात्र प्रसीदन्ति श्रद्धायुक्तेषु कर्मसु ॥ ६१ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा यज्ञेन प्रजया भुवि। श्राद्धेन विद्यया चैव चान्नदानेन सप्तधा ॥ ६२ ॥
कर्मस्वेतेषु ये सक्ता वर्तन्त्या देहपातनात्।
देवैस्ते पितृभिः सार्धमूष्मपैः सोमपैस्तथा। स्वर्गता दिवि मोदन्ते पितृमन्त उपासते ॥ ६३ ॥
प्रजावतां प्रसिद्धैषा उक्ता श्राद्धकृतां च वै। तेषां निवापे दत्तं हि तत्कुलीनैस्तु बान्धवैः ॥ ६४ ॥
मासश्राद्धं हि भुञ्जानास्तेऽप्येते सोमलौकिकाः। एते मनुष्याः पितरो मासश्राद्धभुजस्तु वै ॥ ६५ ॥
तेभ्योऽपरे तु ये त्वन्ये सङ्कीर्णाः कर्मयोनिषु। भ्रष्टाश्चाश्रमधर्मेषु स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ ६६ ॥
भिन्ने देहे दुरापन्नाः प्रेतभूता यमक्षये। स्वकर्माण्यनुशोचन्तो यातनास्थानमागताः ॥ ६७ ॥
दीर्घाश्चैवातिशुष्काश्च श्मश्रुलाश्च विवाससः। क्षुत्पिपासाभिभूतास्ते विद्रवन्ति त्वितस्ततः ॥ ६८ ॥
सरित्सरस्तडागानि पुष्करिण्यश्च सर्वशः। परान्नान्यभिकाङ्क्षन्तः काल्यमाना इतस्ततः ॥ ६९ ॥
स्थानेषु पात्यमाना ये यातनास्थेषु तेषु वै। शाल्मल्यां वैतरण्यां च कुम्भीपाकेद्धवालुके ॥ ७० ॥
असिपत्रवने चैव पात्यमानाः स्वकर्मभिः। तत्रस्थानां तु तेषां वै दुःखितानामशायिनाम् ॥ ७१ ॥
तेषां लोकान्तरस्थानां बान्धवैर्नामगोत्रतः।
भूमावसव्यं दर्भेषु दत्ताः पिण्डास्त्रयस्तु वै। प्राप्तांस्तु तर्पयन्त्येव प्रेतस्थानेष्वधिष्ठितान् ॥ ७२ ॥

इसके बाद अब मैं जो श्राद्धभोजी पितर हैं, उनकी गति, उनका उत्तम तत्त्व तथा उनके निमित्त दिये गये श्राद्धकी प्राप्तिका वर्णन कर रहा हूँ। मृतकोंके आवागमनका रहस्य तो उत्कृष्ट तपोबलसम्पन्न तपस्वी भी नहीं जान सकते, फिर चर्मचक्षुधारी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इन श्राद्धभोजियोंमें देवता और पितर दोनों हैं। इनमें जो अपने धर्मके बलसे सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं अथवा आश्रमधर्मका पालन

* इसका विस्तृत वर्णन सूर्यसिद्धान्त, बृहत्संहिता आदिमें है। १६ वीं बीजकलासहित १५ ह्रास-वृद्धियुक्त कलाओंका वर्णन शारदातिलक आदिमें इस प्रकार है—'अमृता मानदा नन्दा पूषा तुष्टि रतिर्धृतिः। शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा॥ पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः। (शारदातिलक २। १२-१३)

करते हुए ज्ञान-प्राप्तिमें लगे हुए हैं और श्रद्धायुक्त कर्मोंके सम्पन्न होनेपर प्रसन्न होते हैं, उन्हे महर्षिगण लौकिक पितर कहते हैं । ब्रह्मचर्य, तप, यज्ञ, संतान, श्राद्ध, विद्या और अन्नदान—ये भूतलपर प्रधान धर्म कहे गये हैं । जो लोग मृत्युपर्यन्त इन सातों धर्मोंका पालन करते हुए इनमें आसक्त रहते हैं, वे ऊष्मप तथा सोमप देवताओं और पितरोंके साथ स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका उपभोग करते हुए पितरोंकी उपासना करते हैं । ऐसी प्रसिद्धि उन संतानयुक्त श्राद्धकर्ताओंके लिये कही गयी है, जिनके लिये उनके कुलीन भाई-बन्धुओंने दानके अवसरपर श्राद्ध आदि प्रदान किया है । मासिक श्राद्धमें भोजन करनेवाले पितर चन्द्रलोक-वासी हैं । ये मासश्राद्धभोजी पितर मनुष्योंके पितर हैं । इनके अतिरिक्त जो अन्य लोग कर्मानुसार प्राप्त हुई योनियोंमें कष्ट झेल रहे हैं, आश्रमधर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं, जिनके लिये स्वाहा-स्वधाका प्रयोग हुआ ही नहीं है, जो शरीरके नष्ट होनेपर यमलोकमें प्रेत होकर दुर्गति भोग रहे हैं, नरक-स्थानपर पहुँचकर अपने कर्मोंपर पश्चात्ताप करते हैं, लम्बे शरीरवाले, अत्यन्त कृशकाय, लम्बी दाढ़ियोंसे युक्त, वस्त्रहीन और भूख एवं प्याससे व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं, नदी, सरोवर, तडाग और जलाशयोंपर सत्र और दूसरोंके द्वारा दिये गये अन्नकी ताकमें इधर-उधर घूमते रहते हैं, शाल्मली, वैतरणी, कुम्भीपाक, तप्तबालुका और असिपत्रवन नामक भीषण नरकोंमें अपने कर्मानुसार गिराये जाते हैं तथा उन नरकोंमें पड़े हुए जो निद्रारहित हो दुःख भोग रहे हैं, उन लोकान्तरमें स्थित जीवोंके लिये उनके भाई-बन्धुओंद्वारा यहाँ भूतलपर जब उनका नाम-गोत्र उच्चारण कर अपसव्य होकर कुशोंपर तीन पिण्ड प्रदान किये जाते हैं, तब प्रेतस्थानोंमें स्थित होनेपर भी वे पिण्ड उन्हें प्राप्त होकर तृप्त करते हैं ॥ ५८—७२ ॥

अप्राप्ता यातनास्थानं प्रभ्रष्टा ये च पञ्चधा । पश्चाद्ये स्थावरान्ते वै भूतानीके स्वकर्मभिः ॥ ७३ ॥
नानारूपासु जातीनां तिर्यग्योनिषु मूर्तिषु । यदाहारा भवन्त्येते तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥
तस्मिंस्तस्मिंस्तदाहारे श्राद्धे दत्तं तु प्रीणयेत् ।
काले न्यायागतं पात्रे विधिना प्रतिपादितम् । प्राप्नुवन्त्यन्नमादत्तं यत्र यत्रावतिष्ठति ॥ ७५ ॥
यथा गोषु प्रनष्टासु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा श्राद्धेषु दृष्टान्तो मन्त्रः प्रापयते तु तम् ॥ ७६ ॥
एवं ह्यविकलं श्राद्धं श्रद्धादत्तं मनुर्ब्रवीत् । सनत्कुमारः प्रोवाच पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥ ७७ ॥
गतागतज्ञः प्रेतानां प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि । कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ७८ ॥
इत्येते पितरो देवा देवाश्च पितरश्च वै । अन्योऽन्यपितरो ह्येते देवाश्च पितरो दिवि ॥ ७९ ॥
एते तु पितरो देवा मनुष्याः पितरश्च ये । पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ॥ ८० ॥
इत्येष विषयः प्रोक्तः पितॄणां सोमपायिनाम् । एतत्पितृमहत्त्वं हि पुराणे निश्चयं गतम् ॥ ८१ ॥
इत्येष सोमसूर्याभ्यामैलस्य च समागमः । अवाप्तिः श्रद्धया चैव पितॄणां चैव तर्पणम् ॥ ८२ ॥
पर्वणां चैव यः कालो यातनास्थानमेव च । समासात्कीर्तितस्तुभ्यं सर्ग एष सनातनः ॥ ८३ ॥
वैरूप्यं येन तत्सर्वं कथितं त्वेकदेशिकम् । अशक्यं परिसंख्यातुं श्रद्धेयं भूतिमिच्छता ॥ ८४ ॥
स्वायम्भुवस्य देवस्य एष सर्गो मयेरितः । विस्तरेणानुपूर्वाच्च भूयः किं कथयामि वः ॥ ८५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तने श्राद्धानुकीर्तनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

जो नरकोंमें न जाकर पाँच प्रकारसे विभक्त होकर भ्रष्ट हो चुके हैं अर्थात् जो मृत्युके उपरान्त अपने कर्मोंके अनुसार स्थावर, भूत-प्रेत, अनेकों प्रकारकी जातियों, तिर्यग्योनियों एवं अन्य जन्तुओंमें जन्म ले चुके हैं, वहाँ उन-उन योनियोंमें वे जैसे आहारवाले होते हैं, उन्हीं-उन्हीं योनियोंमें उसी आहारके रूपमें

परिणत होकर श्राद्धमें दिया गया पिण्ड उन्हें तृप्त करता है। यदि श्राद्धोपयुक्त कालमें न्यायोपार्जित अन्न (मृतकोंके निमित्त) विधिपूर्वक सत्पात्रको दान किया जाता है तो वह अन्न वे मृतक जहाँ-कहीं भी रहते हैं, उन्हें प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा गौओंमें विलीन हुई अपनी माँको ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार श्राद्धोंमें प्रयुक्त हुआ मन्त्र (दानकी वस्तुओंको) उस जीवके पास पहुँचा देता है। इस प्रकार विधानपूर्वक श्रद्धासहित दिया गया श्राद्ध-दान उस जीवको प्राप्त होता है—ऐसा मनुने कहा है। साथ ही महर्षि सनत्कुमारने भी, जो प्रेतोंके गमनागमनके ज्ञाता हैं, दिव्य चक्षुसे देखकर श्राद्धकी प्राप्तिके विषयमें ऐसा ही बतलाया है। कृष्णपक्ष उन पितरोंका दिन है तथा शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये उनकी रात्रि है। इस प्रकार ये पितृदेव और देवपितर स्वर्गलोकमें परस्पर एक-दूसरेके देवता और पितर हैं। यह तो स्वर्गीय देवों और पितरोंकी बात हुई। मनुष्योंके पितर पिता, पितामह और प्रपितामह हैं। इस प्रकार मैंने सोमपायी पितरोंके विषयमें वर्णन कर दिया। पितरोंका यह महत्त्व पुराणोंमें निश्चित किया गया है। इस प्रकार मैंने इला-नन्दन पुरूरवाका चन्द्रमा और सूर्यके साथ समागम, पितरोंको श्रद्धापूर्वक दी गयी वस्तुकी प्राप्ति, पितरोंका तर्पण, पर्व-काल और यातनास्थान (नरक) का संक्षिप्त वर्णन आपको सुना दिया, यही सनातन सर्ग है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। मैंने संक्षेपमें ही इसका वर्णन किया है; क्योंकि पूर्णरूपसे वर्णन करना तो असम्भव है। इसलिये कल्याणकामीको इसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। मैंने स्वायम्भुव मनुके इस सर्गका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन कर दिया। अब पुनः आपलोगोंको क्या बतलाऊँ ? ॥ ७३—८५ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकीर्तनके प्रसङ्गमें श्राद्धानुकीर्तन नामक एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४१ ॥

एक सौ बयालीसवाँ अध्याय

युगोंकी काल-गणना तथा त्रेतायुगका वर्णन

ऋषय ऊचुः

चतुर्युगाणि यानि स्युः पूर्वे स्वायम्भुवेऽन्तरे। एषां निसर्गं संख्यां च श्रोतुमिच्छामो विस्तरात् ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! पूर्वकालमें स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें जिन चारों युगोंका प्रवर्तन हुआ है, उनकी सृष्टि और संख्याके विषयमें हमलोग विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

पृथिवीद्युप्रसङ्गेन मया तु प्रागुदाहृतम्।
एतच्चतुर्युगं त्वेवं तद् वक्ष्यामि निबोधत। तत्प्रमाणं प्रसंख्याय विस्तराच्चैव कृत्स्नशः ॥ २ ॥
लौकिकेन प्रमाणेन निष्पाद्याब्दं तु मानुषम्। तेनापीह प्रसंख्याय वक्ष्यामि तु चतुर्युगम् ॥ ३ ॥
काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठां गणयेत् कलां तु।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मुहूर्तस्तैस्त्रिंशता राज्यहनी समेते ॥ ४ ॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ५ ॥
पित्र्ये राज्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः। कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६ ॥
त्रिंशद् ये मानुषा मासाः पैत्रो मासः स उच्यते।

शतानि त्रीणि मासानां षष्ट्या चाभ्यधिकानि तु। पैत्रः संवत्सरो ह्येष मानुषेण विभाव्यते ॥ ७ ॥
मानुषेणैव मानेन वर्षाणां यच्छतं भवेत्।
पितॄणां तानि वर्षाणि संख्यातानि तु त्रीणि वै। दश च द्व्यधिका मासाः पितृसंख्येह कीर्तिताः॥ ८ ॥
लौकिकेन प्रमाणेन अब्दो यो मानुषः स्मृतः। एतद्दिव्यमहोरात्रमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! पृथ्वी और आकाशके प्रसङ्गसे मैंने पहले ही इन चारों युगोंका वर्णन कर दिया है, फिर भी (यदि आपलोगोंकी उनको सुननेकी अभिलाषा है तो) संख्यापूर्वक उनके प्रमाणको विस्तारके साथ समूचे रूपमें बतला रहा हूँ, सुनिये। लौकिक प्रमाणके द्वारा मानवीय वर्षका आश्रय लेकर उसीके अनुसार गणना करके चारो युगोंका प्रमाण बतला रहा हूँ। पंद्रह निमेष (आँखके खोलने और मूँदनेका समय) की एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला मानी जाती है। तीस कलाका एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तके रात-दिन दोनों होते हैं। सूर्य मानवीय लोकमें दिन-रातका विभाजन करते हैं। उनमें रात्रि जीवोंके शयन करनेके लिये और दिन कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये है। पितरोंके रात-दिनका एक लौकिक मास होता है। उनमें रात-दिनका विभाग है। पितरोंके लिये कृष्णपक्ष दिन है और शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये रात्रि है। मनुष्योंके तीस मासका पितरोंका एक मास कहा जाता है। इस प्रकार तीन सौ साठ मानव-मासोंका एक पितृ-वर्ष होता है। यह गणना मानवीय गणनाके अनुसार की जाती है। मानवीय गणनाके अनुसार एक सौ वर्ष पितरोंके तीन वर्षके बराबर माने गये हैं। इस प्रकार पितरोंके बारहों महीनोंकी संख्या बतलायी जा चुकी। लौकिक प्रमाणके अनुसार जिसे एक मानव-वर्ष कहते हैं, वही देवताओंका एक दिन-रात होता है—ऐसी वैदिकी श्रुति है ॥ २—९ ॥

दिव्ये रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तु यदुदक्चैव रात्रिर्या दक्षिणायनम्। एते रात्र्यहनी दिव्ये प्रसंख्याते तयोः पुनः ॥ १० ॥
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि दिव्यो मासस्तु स स्मृतः।
मानुषाणां शतं यच्च दिव्या मासास्त्रयस्तु वै। तथैव सह संख्यातो दिव्य एष विधिः स्मृतः ॥ ११ ॥
त्रीणि वर्षशतान्येवं षष्टिर्वर्षास्तथैव च। दिव्यः संवत्सरो ह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः। त्रिंशदन्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः ॥ १३ ॥
नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च। वर्षाणि नवतिश्चैव ध्रुवसंवत्सरः स्मृतः ॥ १४ ॥
षट्त्रिंशत् तु सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च।
षष्टिश्चैव सहस्राणि संख्यातानि तु संख्यया। दिव्यं वर्षसहस्रं तु प्राहुः संख्याविदो जनाः ॥ १५ ॥
इत्येतद् ऋषिभिर्गीतं दिव्यया संख्यया द्विजाः। दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकल्पिता ॥ १६ ॥
चत्वारि भारते वर्षे युगानि ऋषयोऽब्रुवन्। कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैवं चतुर्युगम् ॥ १७ ॥
पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेताभिधीयते। द्वापरं च कलिश्चैव युगानि परिकल्पयेत् ॥ १८ ॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ १९ ॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु। एकपादे निवर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २० ॥

मानवीय वर्षके अनुसार जो देवताओंके रात-दिन होते हैं, उनमें भी पुनः विभाग हैं। उनमें उत्तरायणको देवताओंका दिन और दक्षिणायनको रात्रि कहा जाता है। इस प्रकार दिव्य रात-दिनकी गणना बतलायी जा चुकी। तीस मानवीय वर्षोंका एक दिव्य मास बतलाया जाता है। इसी प्रकार सौ मानवीय वर्षोंका तीन दिव्य मास माना गया है। यह दिव्य

गणनाकी विधि कही जाती है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन सौ साठ वर्षोंका एक दिव्य (देव)वर्ष कहा गया है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन हजार तीस वर्षोंका एक सप्तर्षि-वर्ष होता है। नौ हजार नब्बे मानुष-वर्षोंका एक 'ध्रुव-संवत्सर' कहलाता है। छियानबे हजार मानुष-वर्षोंका एक हजार दिव्य वर्ष होता है—ऐसा गणितज्ञ लोग कहते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार ऋषियोंद्वारा दिव्य गणनाके अनुसार यह गणना बतलायी गयी है। इसी दिव्य प्रमाणके अनुसार युग-संख्याकी भी कल्पना की गयी है। ऋषियोंने इस भारतवर्षमें चार युग बतलाये हैं। उन चारों युगोंके नाम हैं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनमें सर्वप्रथम कृतयुग, तत्पश्चात् त्रेता, तब द्वापर और 'कलियुग आनेकी परिकल्पनाकी गयी है। उनमें कृतयुग चार हजार (दिव्य) वर्षोंका बतलाया जाता है। इसी प्रकार चार सौ वर्षोंकी उसकी संध्या और चार सौ वर्षोंका संध्यांश होता है। इसके अतिरिक्त संध्या और संध्यांशसहित अन्य तीनों युगोंमें हजारों और सैकड़ोंकी संख्यामें एक चतुर्थांश कम हो जाता है ॥ १०—२० ॥

त्रेता त्रीणि सहस्राणि युगसंख्याविदो विदुः। तस्यापि त्रिशती संध्या संध्यांशः संध्यया समः ॥ २१ ॥
द्वे सहस्रे द्वापरं तु संध्यांशौ तु चतुःशतम्।
सहस्रमेकं वर्षाणां कलिरेव प्रकीर्तितः। द्वे शते च तथान्ये च संध्यासंध्यांशयोः स्मृते ॥ २२ ॥
एषा द्वादशसाहस्री युगसंख्या तु संज्ञिता। कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुष्टयम् ॥ २३ ॥
तत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषास्तान् निबोधत।
नियुतानि दश द्वे च पञ्च चैवात्र संख्यया। अष्टाविंशत्सहस्राणि कृतं युगमथोच्यते ॥ २४ ॥
प्रयुतं तु तथा पूर्णं द्वे चान्ये नियुते पुनः।
षण्णवतिसहस्राणि संख्यातानि च संख्यया। त्रेतायुगस्य संख्यैषा मानुषेण तु संज्ञिता ॥ २५ ॥
अष्टौ शतसहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु। चतुःषष्टिसहस्राणि वर्षाणां द्वापरं युगम्। ॥ २६ ॥
चत्वारि नियुतानि स्युर्वर्षाणि तु कलिर्युगम्।
द्वात्रिंशच्च तथान्यानि सहस्राणि तु संख्यया। एतत् कलियुगं प्रोक्तं मानुषेण प्रमाणतः ॥ २७ ॥
एषा चतुर्युगावस्था मानुषेण प्रकीर्तिता। चतुर्युगस्य संख्याता संध्या संध्यांशकैः सह ॥ २८ ॥

इस प्रकार युगसंख्या ज्ञाता लोग त्रेताका प्रमाण तीन हजार वर्ष, उसकी संध्याका प्रमाण तीन सौ वर्ष और संध्याके बराबर ही संध्यांशका प्रमाण तीन सौ वर्ष बतलाते हैं। द्वापरका प्रमाण दो हजार वर्ष और उसकी संध्या तथा संध्यांशका प्रमाण दो-दो सौ अर्थात् चार सौ वर्षोंका होता है। कलियुग एक हजार वर्षोंका बतलाया गया है तथा उसकी संध्या और संध्यांश मिलकर दो सौ वर्षोंके होते हैं। इस प्रकार कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग होते हैं और इनकी काल-संख्या बारह हजार दिव्य वर्षोंकी बतायी गयी है। अब मानुष-वर्षके अनुसार इन युगोंमे कितने वर्ष होते हैं, उसे सुनिये। इनमें कृतयुग सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षोंका कहा जाता है। इसी मानुष गणनाके अनुसार त्रेतायुगकी वर्ष-संख्या बारह लाख छानबे हजार बतलायी गयी है। द्वापरयुग आठ लाख चौंसठ हजार मानुष वर्षोंका होता है। मानुष गणनाके अनुसार कलियुगका मान चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका कहा गया है। चारों युगोंकी यह अवस्था मानव-गणनाके अनुसार बतलायी गयी है। इस प्रकार संध्या और संध्यांशसहित चारों युगोंकी संख्या बतलायी जा चुकी ॥ २१—२८ ॥

एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका त्वेकसप्ततिः। कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥ २९ ॥
मन्वन्तरस्य संख्या तु मानुषेण निबोधत। एकत्रिंशत् तथा कोट्यः संख्याताः संख्यया द्विजैः ॥ ३० ॥

तथा शतसहस्राणि दश चान्यानि भागशः । सहस्राणि तु द्वात्रिंशच्छतान्यष्टाधिकानि च ॥ ३१ ॥
आशीतिश्चैव वर्षाणि मासाश्चैवाधिकास्तु षट् । मन्वन्तरस्य संख्यैषा मानुषेण प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥
दिव्येन च प्रमाणेन प्रवक्ष्याम्यन्तरं मनोः । सहस्राणां शतान्याहुः स स वै परिसंख्यया ॥ ३३ ॥
चत्वारिंशत् सहस्राणि मनोरन्तरमुच्यते । मन्वन्तरस्य कालस्तु युगैः सह परिकीर्तितः ॥ ३४ ॥
एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः । क्रमेण परिवृत्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥ ३५ ॥
एतच्चतुर्दशगुणं कल्पमाहुस्तु तद्विदः । ततस्तु प्रलयः कृत्स्नः स तु सम्प्रलयो महान् ॥ ३६ ॥
कल्पप्रमाणो द्विगुणो यथा भवति संख्यया । चतुर्युगाख्या व्याख्याता कृतं त्रेतायुगं च वै ॥ ३७ ॥
त्रेतासृष्टिं प्रवक्ष्यामि द्वापरं कलिमेव च । युगपत्समवेतौ द्वौ द्विधा वक्तुं न शक्यते ॥ ३८ ॥
क्रमागतं मयाप्येतत् तुभ्यं नोक्तं युगद्वयम् । ऋषिवंशप्रसङ्गेन व्याकुलत्वात् तथा क्रमात् ॥ ३९ ॥
नोक्तं त्रेतायुगे शेषं तद्वक्ष्यामि निबोधत ।

(अब मन्वन्तरका वर्णन करते हैं ।) इन कृतयुग, त्रेता आदि युगोंकी यह चौकडी जब एकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । अब मन्वन्तरकी वर्षसंख्या मानुष गणनाके अनुसार सुनिये । मानव-वर्षके अनुसार एक मन्वन्तरकी वर्ष-संख्या एकतीस करोड़ दस लाख बत्तीस हजार आठ सौ अस्सी वर्ष छः महीनेकी बतलायी जाती है । अब मैं दिव्य गणनाके अनुसार मन्वन्तरका वर्णन कर रहा हूँ । एक मनुका कार्य-काल एक लाख चालीस हजार दिव्य वर्षोंका बतलाया जाता है । मन्वन्तरका समय युग-वर्णनके साथ ही कहा जा चुका है । चारों युगोंकी यह चौकड़ी जब क्रमशः एकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । कालतत्त्वको जाननेवाले विद्वान् मन्वन्तरके चौदह गुने कालको एक कल्प बतलाते हैं इसके बाद सारी सृष्टिका विनाश हो जाता है, जिसे महाप्रलय कहते हैं । महाप्रलयका समय कल्पके समयसे दुगुना होता है । इस प्रकार कृतयुग, त्रेता आदि चारों युगोंकी वर्ष-संख्या बतलायी जा चुकी । अब मैं त्रेता, द्वापर और कलियुगकी सृष्टिका वर्णन कर रहा हूँ । कृतयुग और त्रेता—ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः इनका पृथक् रूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता । इसी कारण इन दोनों युगोंके वर्णनका अवसर क्रमशः प्राप्त होनेपर भी मैंने आपलोगोंसे नहीं कहा । साथ ही उस समय ऋषि-वंशका प्रसङ्ग छिड़ जानेपर चित्त व्याकुल हो उठा था । उस समय जो नहीं कहा था, वह शेषांश अब त्रेतायुगके वर्णन-प्रसङ्गमें कह रहा हूँ, सुनिये ॥ २९—३९½ ॥

अथ त्रेतायुगस्यादौ मनुः सप्तर्षयश्च ये । श्रौतस्मार्तं ब्रुवन् धर्मं ब्रह्मणा तु प्रचोदिताः ॥ ४० ॥
दाराग्निहोत्रसम्बन्धमृग्यजुःसामसंहिताः । इत्यादिबहुलं श्रौतं धर्मं सप्तर्षयोऽब्रुवन् ॥ ४१ ॥
परम्परागतं धर्मं स्मार्तं त्वाचारलक्षणम् । वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ४२ ॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण श्रुतेन तपसा तथा । तेषां सुतप्ततपसामार्षेणानुक्रमेण ह ॥ ४३ ॥
सप्तर्षीणां मनोश्चैव आदौ त्रेतायुगे ततः । अबुद्धिपूर्वकं तेन सकृत्पूर्वकमेव च ॥ ४४ ॥
अभिवृत्तास्तु ते मन्त्रा दर्शनैस्तारकादिभिः । आदिकल्पे तु देवानां प्रादुर्भूतास्तु ते स्वयम् ॥ ४५ ॥
प्रमाणेष्वथ सिद्धानामन्येषां च प्रवर्तते । मन्त्रयोगो व्यतीतेषु कल्पेष्वथ सहस्रशः । ते मन्त्रा वै पुनस्तेषां प्रतिमायामुपस्थिताः ॥ ४६ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्राश्चाथर्वणास्तु ये । सप्तर्षिभिश्च ये प्रोक्ताः स्मार्तं तु मनुरब्रवीत् ॥ ४७ ॥
त्रेतादौ संहता वेदाः केवलं धर्मसेतवः । संरोधादायुषश्चैव व्यस्यन्ते द्वापरे च ते । ऋषयस्तपसा वेदानहोरात्रमधीयत ॥ ४८ ॥

अनादिनिधना दिव्याः पूर्वं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा।
स्वधर्मसंवृताः साङ्गा यथाधर्मं युगे युगे। विक्रियन्ते स्वधर्मं तु वेदवादाद् यथायुगम् ॥ ४९ ॥
आरम्भयज्ञः क्षत्रस्य हविर्यज्ञा विशः स्मृताः। परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञाश्च ब्राह्मणाः ॥ ५० ॥
ततः समुदिता वर्णास्त्रेतायां धर्मशालिनः। क्रियावन्तः प्रजावन्तः समृद्धाः सुखिनश्च वै ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणाश्चैव विधीयन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियैर्विशः। वैश्याश्छूद्रानुवर्तन्ते परस्परमनुग्रहात् ॥ ५२ ॥
शुभाः प्रकृतयस्तेषां धर्मा वर्णाश्रमाश्रयाः।

त्रेतायुगके आदिमें जो मनु और सप्तर्षिगण थे, उन लोगोंने ब्रह्माकी प्रेरणासे श्रौत और स्मार्त धर्मोंका वर्णन किया था। उस समय सप्तर्षियोंने दार-सम्बन्ध (विवाह), अग्निहोत्र, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी संहिता आदि अनेकविध श्रौत धर्मोंका विवेचन किया था। उसी प्रकार स्वायम्भुव मनुने वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंसे युक्त परम्परागत आचार-लक्षणरूप स्मार्त-धर्मका वर्णन किया था। त्रेतायुगके आदिमें उत्कृष्ट तपस्यावाले उन सप्तर्षियों तथा मनुके हृदयमें वे मन्त्र सत्य, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-ज्ञान, तपस्या तथा ऋषि-परम्पराके अनुक्रमसे बिना सोचे-विचारे ही दर्शनों एवं तारकादिद्वारा एक ही बारमें स्वयं प्रकट हो गये थे। वे ही मन्त्र आदि कल्पमें देवताओंके हृदयोंमें स्वयं उद्भूत हुए थे। वह मन्त्रयोग हजारों गत-कल्पोंमें सिद्धों तथा अन्यान्य लोगोंके लिये भी प्रमाणरूपमें प्रयुक्त होता था। वे मन्त्र पुनः उन देवताओंकी प्रतिमाओंमें भी उपस्थित हुए। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-सम्बन्धी जो मन्त्र हैं, वे सप्तर्षियोंद्वारा कहे गये हैं। स्मार्तधर्मका वर्णन तो मनुने किया है। त्रेतायुगके आदिमें ये सभी वेद धर्मके सेतु-स्वरूप थे, किंतु द्वापरयुगमें आयुके न्यून हो जानेके कारण उनका विभाग कर दिया गया है। ऋषि अपने धर्मसे परिपूर्ण हैं। वे तपमें निरत हो रात-दिन वेदाध्ययन करते थे। ब्रह्माने सर्वप्रथम प्रत्येक युगमें युगधर्मानुसार इनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। वे योगानुकूल वेदवादसे स्खलित होकर अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं। त्रेतायुगमें ब्राह्मणोंका धर्म जपयज्ञ, क्षत्रियोंका यज्ञारम्भ, वैश्योंका हविर्यज्ञ और शूद्रोंका सेवायज्ञ कहा जाता था। उस समय सभी वर्णके लोग उन्नत, धर्मात्मा, क्रियानिष्ठ, संतानयुक्त, समृद्ध और सुखी थे। परस्पर प्रेमपूर्वक ब्राह्मण क्षत्रियोंके लिये और क्षत्रिय वैश्योंके लिये सब प्रकारका विधान करते थे तथा शूद्र वैश्योंका अनुवर्तन करते थे। उनके स्वभाव सुन्दर थे तथा उनके धर्म वर्ण एवं आश्रमके अनुकूल होते थे ॥ ३८½-५२½ ॥

संकल्पितेन मनसा वाचा वा हस्तकर्मणा। त्रेतायुगे ह्यविकले कर्मारम्भः प्रसिद्ध्यति ॥ ५३ ॥
आयू रूपं बलं मेधा आरोग्यं धर्मशीलता। सर्वसाधारणं ह्येतदासीत् त्रेतायुगे तु वै ॥ ५४ ॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानामेषां ब्रह्मा तथाकरोत्। संहिताश्च तथा मन्त्रा आरोग्यं धर्मशीलता ॥ ५५ ॥
संहिताश्च तथा मन्त्रा ऋषिभिर्ब्रह्मणः सुतैः। यज्ञः प्रवर्तितश्चैव तदा ह्येव तु दैवतैः ॥ ५६ ॥
यामैः शुक्लैर्जयैश्चैव सर्वसाधनसम्भृतैः।
विश्वसृड्भिस्तथा सार्धं देवेन्द्रेण महौजसा। स्वायम्भुवेऽन्तरे देवैस्ते यज्ञाः प्राक् प्रवर्तिताः ॥ ५७ ॥
सत्यं जपस्तपो दानं पूर्वधर्मो य उच्यते। यदा धर्मस्य ह्रसते शाखाधर्मस्य वर्धते ॥ ५८ ॥
जायन्ते च तदा शूरा आयुष्मन्तो महाबलाः। न्यस्तदण्डा महायोगा यज्वानो ब्रह्मवादिनः ॥ ५९ ॥
पद्मपत्रायताक्षाश्च पृथुवक्त्राः सुसंहताः। सिंहोरस्का महासत्त्वा मत्तमातङ्गगामिनः ॥ ६० ॥
महाधनुर्धराश्चैव त्रेतायां चक्रवर्तिनः। सर्वलक्षणपूर्णास्ते न्यग्रोधपरिमण्डलाः ॥ ६१ ॥
न्यग्रोधौ तु स्मृतौ बाहू व्यामो न्यग्रोध उच्यते।
व्यामेनैवोच्छ्रयो यस्य सम ऊर्ध्वं तु देहिनः। समुच्छ्रयपरिणाहो न्यग्रोधपरिमण्डलः ॥ ६२ ॥

चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा। प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्तिनाम् ॥ ६३ ॥
चक्रं रथो मणिः खड्गं धनू रत्नं च पञ्चमम्। केतुर्निधिश्च पञ्चैते प्राणहीनाः प्रकीर्तिताः ॥ ६४ ॥
विष्णोरंशेन जायन्ते पृथिव्यां चक्रवर्तिनः। मन्वन्तरेषु सर्वेषु ह्यतीतानागतेषु वै ॥ ६५ ॥

समूचे त्रेतायुगके कार्यकालमें मानसिक संकल्प, वचन और हाथसे प्रारम्भ किये गये कर्म सिद्ध होते थे। त्रेतायुगमें आयु, रूप, बल, बुद्धि, नीरोगता और धर्म-परायणता—ये सभी गुण सर्वसाधारण लोगोंमें भी विद्यमान थे। ब्रह्माने स्वयं इनके लिये वर्णाश्रमकी व्यवस्था की थी तथा ब्रह्माके मानसिक पुत्र ऋषियोंद्वारा संहिताओं, मन्त्रों, नीरोगता और धर्मपरायणताका विधान किया गया था। उसी समय देवताओंने यज्ञकी भी प्रथा प्रचलित की थी। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें सम्पूर्ण यज्ञिय साधनोंसहित याम, शुक्र, जय, विश्वसृज् तथा महान् तेजस्वी देवराज इन्द्रके साथ देवताओंने सर्वप्रथम इन यज्ञोंका प्रचार किया था। उस समय सत्य, जप, तप और दान—ये ही प्रारम्भिक धर्म कहलाते थे। जब इन धर्मोंका ह्रास प्रारम्भ होता था और अधर्मकी शाखाएँ बढ़ने लगती थीं, तब त्रेतायुगमें ऐसे शूरवीर चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न होते थे, जो दीर्घायुसम्पन्न, महाबली, दण्ड देनेवाले, महान् योगी, यज्ञपरायण और ब्रह्मनिष्ठ थे, जिनके नेत्र कमलदलके समान विशाल और सुन्दर, मुख भरे-पूरे और शरीर सुसंगठित थे, जिनकी छाती सिंहके समान चौड़ी थी, जो महान् पराक्रमी और मतवाले गजराजकी भाँति चलनेवाले और महान् धनुर्धर थे, वे सभी राजलक्षणोंसे परिपूर्ण तथा न्यग्रोध (बरगद-) सदृश मण्डलवाले थे। यहाँ दोनों बाहुओंको ही न्यग्रोध कहा जाता है तथा व्योममें फैलायी हुई बाहुओंका मध्यभाग भी न्यग्रोध कहलाता है। उस व्योमकी ऊँचाई और विस्तारवाला 'न्यग्रोधपरिमण्डल' कहलाता है, अतः जिस प्राणीका शरीर व्योमके बराबर ऊँचा और विस्तृत हो, उसे न्यग्रोधपरि-मण्डल* कहा जाता है। पूर्वकालके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें चक्र (शासन, आह्लाद भी), रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज—ये सातों (चल-) रत्न कहे गये हैं। दूसरा चक्र (अचल) रथ, मणि, खड्ग, धनुष, रत्न, झंडा और खजाना—ये स्थिर (अचल) सप्तरत्न हैं। (सब मिलकर ये ही राजाओंके चौदह रत्न हैं।) बीते हुए एवं आनेवाले सभी मन्वन्तरोंमें भूतलपर चक्रवर्ती सम्राट् विष्णुके अंशसे उत्पन्न होते हैं ॥ ५३—६५ ॥

भूतभव्यानि यानीह वर्तमानानि यानि च। त्रेतायुगानि तेष्वत्र जायन्ते चक्रवर्तिनः ॥ ६६ ॥
भद्राणीमानि तेषां च विभाव्यन्ते महीक्षिताम्। अत्यद्भुतानि चत्वारि बलं धर्मं सुखं धनम् ॥ ६७ ॥
अन्योन्यस्याविरोधेन प्राप्यन्ते नृपतेः समम्। अर्थो धर्मश्च कामश्च यशो विजय एव च ॥ ६८ ॥
ऐश्वर्येणाणिमाद्येन प्रभुशक्तिबलान्विताः। श्रुतेन तपसा चैव ऋषींस्तेऽभिभवन्ति हि ॥ ६९ ॥
बलेनाभिभवन्त्येते देवदानवमानवान्। लक्षणैश्चैव जायन्ते शरीरस्थैरमानुषैः ॥ ७० ॥
केशाः स्थिता ललाटोर्णा जिह्वा चास्य प्रमार्जनी। ताम्रप्रभाश्चतुर्दंष्ट्राः सुवंशाश्चोर्ध्वरेतसः ॥ ७१ ॥
आजानुबाहवश्चैव जालहस्ता वृषाङ्किताः। परिणाहप्रमाणाभ्यां सिंहस्कन्धाश्च मेधिनः ॥ ७२ ॥
पादयोश्चक्रमत्स्यौ तु शङ्खपद्मे च हस्तयोः। पञ्चाशीतिसहस्राणि जीवन्ति ह्यजरामयाः ॥ ७३ ॥
असङ्गा गतयस्तेषां चतस्रश्चक्रवर्तिनाम्। अन्तरिक्षे समुद्रेषु पाताले पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥
इज्या दानं तपः सत्यं त्रेताधर्मास्तु वै स्मृताः।
तदा प्रवर्तते धर्मो वर्णाश्रमविभागशः। मर्यादास्थापनार्थं च दण्डनीतिः प्रवर्तते ॥ ७५ ॥

* वाल्मीकीय रामायण ३। ३५ तथा भट्टिकाव्य ५ में सीताजीको 'न्यग्रोधपरिमण्डला' कहा गया है।

हृष्टपुष्टा जनाः सर्वे अरोगाः पूर्णमानसाः ।
एको वेदश्चतुष्पादस्त्रेतायां तु विधिः स्मृतः । त्रीणि वर्षसहस्राणि जीवन्ते तत्र ताः प्रजाः ॥ ७६ ॥
पुत्रपौत्रसमाकीर्णा म्रियन्ते च क्रमेण ताः । एष त्रेतायुगे भावस्त्रेतासंध्यां निबोधत ॥ ७७ ॥
त्रेतायुगस्वभावेन संध्यापादेन वर्तते । संध्यापादः स्वभावाच्च योऽशः पादेन तिष्ठति॥ ७८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानमें जितने त्रेतायुग हुए होंगे और हैं, उन सभीमें चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न होते हैं। उन भूपालोंके बल, धर्म, सुख और धन—ये चतुर्भद्र चारों अत्यन्त अद्भुत और माङ्गलिक होते हैं। उन राजाओंको अर्थ, धर्म, काम, यश और विजय—ये सभी समानरूपसे परस्पर अविरोध भावसे प्राप्त होते हैं। प्रभुशक्ति और बलसे सम्पन्न वे नृपति-गण ऐश्वर्य, अणिमा आदि सिद्धि, शास्त्रज्ञान और तपस्यामें ऋषियोंसे भी बढ़-चढ़कर होते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण देव-दानवों और मानवोंको बलपूर्वक पराजित कर देते हैं। उनके शरीरमें स्थित सभी लक्षण दिये होते हैं। उनके सिरके बाल ललाटतक फैले रहते हैं। उनकी जीभ बड़ी स्वच्छ और स्निग्ध होती है। उनकी अङ्ग-कान्ति लाल होती है। उनके चार दाढ़ें होते हैं। वे उत्तम वंशमें उत्पन्न, ऊर्ध्वरेता, आजानुबाहु, जालहस्त हाथोंमें जालचिह्न तथा बैल आदि श्रेष्ठ चिह्नयुक्त परिणाहमात्र लम्बे होते हैं। उनके कंधे सिंहके समान मांसल और वे यज्ञपरायण होते हैं। उनके पैरोंमें चक्र और मत्स्यके तथा हाथोंमें शङ्ख और पद्मके चिह्न होते हैं। वे बुढापा और व्याधिसे रहित होकर पचासी हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं। वे चक्रवर्ती सम्राट् अन्तरिक्ष, समुद्र, पाताल और पर्वत—इन चारों स्थानोंमें एकाकी एवं स्वच्छन्दरूपसे विचरण करते हैं। यज्ञ, दान, तप और सत्यभाषण—ये त्रेतायुगके प्रधान धर्म कहे गये हैं। ये धर्म वर्ण एवं आश्रमके विभागपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। इनमें मर्यादाकी स्थापनाके निमित्त दण्डनीतिका प्रयोग किया जाता है। त्रेतायुगमें एक वेद चार भागोंमें विभक्त होकर विधान करता है। उस समय सभी लोग हृष्ट-पुष्ट, नीरोग और सफल-मनोरथ होते हैं। वे प्रजाएँ तीन हजार वर्षोंतक जीवित रहती हैं और पुत्र-पौत्रसे युक्त होकर क्रमशः मृत्युको प्राप्त होती हैं। यही त्रेतायुगका स्वभाव है। अब उसकी संध्याके विषयमें सुनिये। इसकी संध्यामें युग-स्वभावका एक चरण रह जाता है। उसी प्रकार संध्यांशमें संध्याका चतुर्थांश शेष रहता है अर्थात् उत्तरोत्तर परिवर्तन होता जाता है ॥ ६६—७८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकल्पनामक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४२ ॥

एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

यज्ञकी प्रवृत्ति तथा विधिका वर्णन

ऋषय ऊचुः

कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम् । पूर्वे स्वायम्भुवे सर्गे यथावत् प्रब्रवीहि नः ॥ १ ॥
अन्तर्हितायां संध्यायां सार्धं कृतयुगेन हि । कालाख्यायां प्रवृत्तायां प्राप्ते त्रेतायुगे तदा ॥ २ ॥
ओषधीषु च जातासु प्रवृत्ते वृष्टिसर्जने । प्रतिष्ठितायां वार्तायां ग्रामेषु च पुरेषु च ॥ ३ ॥
वर्णाश्रमप्रतिष्ठानं कृत्वन्तश्च यैः पुनः ।
संहितास्तु सुसंहृत्य कथं यज्ञः प्रवर्तितः । एतच्छ्रुत्वाब्रवीत् सूतः श्रूयतां तत्प्रचोदितम् ॥ ४ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! पूर्वकालमें स्वायम्भुव मनुके कार्यकालमें त्रेतायुगके प्रारम्भमें किस प्रकार यज्ञकी प्रवृत्ति हुई थी ? जब कृतयुगके साथ उसकी संध्या (तथा संध्यांश) दोनों अन्तर्हित हो गये, तब कालक्रमानुसार त्रेतायुगकी संधि प्राप्त हुई । उस समय वृष्टि होनेपर ओषधियाँ उत्पन्न हुईं तथा ग्रामों एवं नगरोंमें वार्ता-वृत्तिकी स्थापना हो गयी । उसके बाद वर्णाश्रमकी स्थापना करके परम्परागत आये हुए मन्त्रोंद्वारा पुनः संहिताओंको एकत्रकर यज्ञकी प्रथा किस प्रकार प्रचलित हुई ? हमलोगोंके प्रति इसका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये । यह सुनकर सूतजीने कहा—'आपलोगोंके प्रश्नानुसार कह रहा हूँ, सुनिये' ॥ १—४ ॥

सूत उवाच

मन्त्रान् वै योजयित्वा तु इहामुत्र च कर्मसु । तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्तयत् प्रभुः ॥ ५ ॥
दैवतैः सह संहृत्य सर्वसाधनसंवृतः । तस्याश्वमेधे वितते समाजग्मुर्महर्षयः ॥ ६ ॥
यज्ञकर्मण्यवर्तन्त कर्मण्यग्रे तथर्त्विजः । हूयमाने देवहोत्रे अग्नौ बहुविधं हविः ॥ ७ ॥
सम्प्रतीतेषु देवेषु सामगेषु च सुस्वरम् । परिक्रान्तेषु लघुषु अध्वर्युपुरुषेषु च ॥ ८ ॥
आलब्धेषु च मध्ये तु तथा पशुगणेषु वै । आहूतेषु च देवेषु यज्ञभुक्षु ततस्तदा ॥ ९ ॥
य इन्द्रियात्मका देवा यज्ञभागभुजस्तु ते । तान् यजन्ति तदा देवाः कल्पादिषु भवन्ति ये ॥ १० ॥
अध्वर्यवः प्रैषकाले व्युत्थिता ऋषयस्तथा ।
महर्षयश्च तान् दृष्ट्वा दीनान् पशुगणांस्तदा । विश्वभुजं ते त्वपृच्छन् कथं यज्ञविधिस्तव ॥ ११ ॥
अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव । नव पशुविधिस्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम ॥ १२ ॥
अधर्मो धर्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया ।
नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते । आगमेन भवान् धर्मं प्रकरोतु यदीच्छति ॥ १३ ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मेणाव्यसनेन तु । यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ॥ १४ ॥
एष यज्ञो महानिन्द्र स्वयम्भुविहितः पुरा ।
एवं विश्वभुगिन्द्रस्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । उक्तो न प्रतिजग्राह मानमोहसमन्वितः ॥ १५ ॥
तेषां विवादः सुमहान् जज्ञे इन्द्रमहर्षिणाम् । जङ्गमैः स्थावरैः केन यष्टव्यमिति चोच्यते ॥ १६ ॥
ते तु खिन्ना विवादेन शक्त्या युक्ता महर्षयः । संधाय सममिन्द्रेण पप्रच्छुः खचरं वसुम् ॥ १७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! विश्वभोक्ता सामर्थ्यशाली इन्द्रने ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कर्मोंमें मन्त्रोंको प्रयुक्तकर देवताओंके साथ सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न हो यज्ञ प्रारम्भ किया । उनके उस अश्वमेध-यज्ञके आरम्भ होनेपर उसमें महर्षिगण उपस्थित हुए । उस यज्ञकर्ममें ऋत्विग्गण यज्ञक्रियाको आगे बढा रहे थे । उस समय सर्वप्रथम अग्निमें अनेकों प्रकारके हवनीय पदार्थ डाले जा रहे थे, सामगान करनेवाले देवगण विश्वासपूर्वक ऊँचे स्वरसे सामगान कर रहे थे, अध्वर्युगण धीमे स्वरसे मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे । पशुओंका समूह मण्डपके मध्यभागमें लाया जा रहा था, यज्ञभोक्ता देवोंका आवाहन हो चुका था । जो इन्द्रियात्मक देवता तथा जो यज्ञभागके भोक्ता थे और जो प्रत्येक कल्पके आदिमें उत्पन्न होनेवाले अजानदेव थे, देवगण उनका यजन कर रहे थे । इसी बीच जब यजुर्वेदके अध्येता एवं हवनकर्ता ऋषिगण पशु-बलिका उपक्रम करने लगे, तब यूथ-के-यूथ ऋषि तथा महर्षि उन दीन पशुओंको देखकर उठ खड़े हुए और वे विश्वभुग् नामके विश्वभोक्ता इन्द्रसे पूछने लगे—'देवराज ! आपके यज्ञकी यह कैसी विधि है ? आप धर्म-प्राप्तिकी अभिलाषासे जो जीव-हिंसा करनेके लिये उद्यत हैं, यह महान् अधर्म है । सुरश्रेष्ठ ! आपके यज्ञमें पशु-हिंसाकी यह नवीन विधि दीख रही है । ऐसा प्रतीत होता है कि

आप पशु-हिंसाके व्याजसे धर्मका विनाश करनेके लिये अधर्म करनेपर तुले हुए हैं। यह धर्म नहीं है। यह सरासर अधर्म है। जीव-हिंसा धर्म नहीं कही जाती। इसलिये यदि आप धर्म करना चाहते हैं तो वेदविहित धर्मका अनुष्ठान कीजिये। सुरश्रेष्ठ! वेदविहित विधिके अनुसार किये हुए यज्ञ और दुर्व्यसनरहित धर्मके पालनसे यज्ञके बीजभूत त्रिवर्ग (नित्य धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है। इन्द्र! पूर्वकालमें ब्रह्माने इसीको महान् यज्ञ बतलाया है।' तत्त्वदर्शी ऋषियोंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी विश्वभोक्ता इन्द्रने उनकी बातोंको अङ्गीकार नहीं किया; क्योंकि उस समय वे मान और मोहसे भरे हुए थे। फिर तो इन्द्र और उन महर्षियोंके बीच 'स्थावरों या जङ्गमोंमेंसे किससे यज्ञानुष्ठान करना चाहिये'—इस बातको लेकर वह अत्यन्त महान् विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि वे महर्षि शक्तिसम्पन्न थे, तथापि उन्होंने उस विवादसे खिन्न होकर इन्द्रके साथ संधि करके (उसके निर्णयार्थ) उपरिचर (आकाशचारी राजर्षि) वसुसे प्रश्न किया ॥ ५–१७ ॥

ऋषय ऊचुः

महाप्राज्ञ त्वया दृष्टः कथं यज्ञविधिर्नृप। औत्तानपादे प्रब्रूहि संशयं छिन्धि नः प्रभो ॥ १८ ॥

ऋषियोंने पूछा—उत्तानपाद-नन्दन नरेश! आप तो सामर्थ्यशाली एवं महान् बुद्धिमान् हैं। आपने किस प्रकारकी यज्ञ-विधि देखी है, उसे बतलाइये और हम लोगोंका संशय दूर कीजिये ॥ १८ ॥

सूत उवाच

श्रुत्वा वाक्यं वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम्। वेदशास्त्रमनुस्मृत्य यज्ञतत्त्वमुवाच ह ॥ १९ ॥
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति होवाच पार्थिवः। यष्टव्यं पशुभिर्मेध्यैरथ मूलफलैरपि ॥ २० ॥
हिंसा स्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः। तथैते भाविता मन्त्रा हिंसालिङ्गा महर्षिभिः ॥ २१ ॥
दीर्घेण तपसा युक्तैस्तारकादिनिदर्शनैः। तत्प्रमाणं मया चोक्तं तस्माच्छमितुमर्हथ ॥ २२ ॥
यदि प्रमाणं स्वान्येव मन्त्रवाक्यानि वो द्विजाः। तदा प्रवर्ततां यज्ञो ह्यन्यथा मानृतं वचः ॥ २३ ॥
एवं कृतोत्तरास्ते तु युज्यात्मानं ततो धिया। अवश्यम्भाविनं दृष्ट्वा तमधो ह्यशपंस्तदा ॥ २४ ॥
इत्युक्तमात्रो नृपतिः प्रविवेश रसातलम्। ऊर्ध्वचारी नृपो भूत्वा रसातलचरोऽभवत् ॥ २५ ॥
वसुधातलचारी तु तेन वाक्येन सोऽभवत्। धर्माणां संशयच्छेत्ता राजा वसुरधोगतः ॥ २६ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! उन ऋषियोंका प्रश्न सुनकर महाराज वसु उचित-अनुचितका कुछ भी विचार न कर वेद-शास्त्रोंका अनुस्मरण कर यज्ञतत्त्वका वर्णन करने लगे। उन्होंने कहा—'शक्ति एवं समयानुसार प्राप्त हुए पदार्थोंसे यज्ञ करना चाहिये। पवित्र पशुओं और मूल-फलोंसे भी यज्ञ किया जा सकता है। मेरे देखनेमें तो ऐसा लगता है कि हिंसा यज्ञका स्वभाव ही है। इसी प्रकार तारक आदि मन्त्रोंके ज्ञाता उग्रतपस्वी महर्षियोंने हिंसासूचक मन्त्रोंको उत्पन्न किया है। उसीको प्रमाण मानकर मैंने ऐसी बात कही है, अतः आपलोग मुझे क्षमा कीजियेगा। द्विजवरो! यदि आप-लोगोंको वेदोंके मन्त्रवाक्य प्रमाणभूत प्रतीत होते हों तो यही कीजिये, अन्यथा यदि आप वेद-वचनको झूठा मानते हों तो मत कीजिये।' वसुद्वारा ऐसा उत्तर पाकर महर्षियोंने अपनी बुद्धिसे विचार किया और अवश्यम्भावी विषयको जानकर राजा वसुको विमानसे नीचे गिर जानेका तथा पातालमें प्रविष्ट होनेका शाप दे दिया। ऋषियोंके ऐसा कहते ही राजा वसु रसातलमें चले गये। इस प्रकार जो राजा वसु एक दिन आकाशचारी थे, वे रसातलगामी हो गये। ऋषियोंके शापसे उन्हें पाताल-चारी होना पड़ा। धर्मविषयक संशयोंका निवारण करनेवाले राजा वसु इस प्रकार अधोगतिको प्राप्त हुए ॥ १९–२६ ॥

तस्मान्न वाच्यो ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशयः। बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः॥ २७॥
तस्मान्न निश्चयाद्वक्तुं धर्मः शक्यो हि केनचित्। देवानृषीनुपादाय स्वायम्भुवमृते मनुम्॥ २८॥
तस्मान्न हिंसा यज्ञे स्याद् यदुक्तमृषिभिः पुरा। ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभिर्दिवं गताः॥ २९॥
तस्मान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसन्ति महर्षयः। उञ्छो मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः॥ ३०॥
एतद् दत्त्वा विभवतः स्वर्गलोके प्रतिष्ठिताः। अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः॥ ३१॥
ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥ ३२॥
द्रव्यमन्त्रात्मको यज्ञस्तपश्च समतात्मकम्। यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसा पुनः॥ ३३॥
ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात् प्रकृतेर्लयम्। ज्ञानात्प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः॥ ३४॥

इसलिये बहुज्ञ (अत्यन्त विद्वान्) होते हुए भी अकेले किसी धार्मिक संशयका निर्णय नहीं करना चाहिये; क्योंकि अनेक द्वार (मार्ग-)वाले धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्गम है। अतः देवताओं और ऋषियोंके साथ-साथ स्वायम्भुव मनुके अतिरिक्त अन्य कोई भी अकेला व्यक्ति धर्मके विषयमें निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं दे सकता। इसलिये पूर्वकालमें जैसा ऋषियोंने कहा है, उसके अनुसार यज्ञमें जीव-हिंसा नहीं होनी चाहिये। हजारों करोड़ ऋषि अपने तपोबलसे स्वर्गलोकको गये हैं। इसी कारण महर्षिगण हिंसात्मक यज्ञकी प्रशंसा नहीं करते। वे तपस्वी अपनी सम्पत्तिके अनुसार उञ्छवृत्तिसे प्राप्त हुए अन्न, मूल, फल, शाक और कमण्डलु आदिका दान कर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं। ईर्ष्याहीनता, निर्लोभता, इन्द्रियनिग्रह, जीवोंपर दयाभाव, मानसिक स्थिरता, ब्रह्मचर्य, तप, पवित्रता, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये सनातन धर्मके मूल ही हैं, जो बड़ी कठिनतासे प्राप्त किये जा सकते हैं। यज्ञ द्रव्य और मन्त्रद्वारा सम्पन्न किये जा सकते हैं और तपस्याकी सहायिका समता है। यज्ञोंसे देवताओंकी तथा तपस्यासे विराट् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। कर्म (फल)का त्याग कर देनेसे ब्रह्म-पदकी-प्राप्ति होती है, वैराग्यसे प्रकृतिमें लय होता है और ज्ञानसे कैवल्य (मोक्ष) सुलभ हो जाता है। इस प्रकार ये पाँच गतियाँ बतलायी गयी हैं॥ २७—३४॥

एवं विवादः सुमहान् यज्ञस्यासीत् प्रवर्तने। ऋषीणां देवतानां च पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ ३५॥
ततस्ते ऋषयो दृष्ट्वा हतं धर्मं बलेन तु। वसोर्वाक्यमनादृत्य जग्मुस्ते वै यथागतम्॥ ३६॥
गतेषु ऋषिसङ्घेषु देवा यज्ञमवाप्नुयुः। श्रूयन्ते हि तपःसिद्धा ब्रह्मक्षत्रादयो नृपाः॥ ३७॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ ध्रुवो मेधातिथिर्वसुः। सुधामा विरजाश्चैव शंखपाद्राजसस्तथा॥ ३८॥
प्राचीनबर्हिः पर्जन्यो हविर्धानादयो नृपाः। एते चान्ये च बहवस्ते तपोभिर्दिवं गताः॥ ३९॥
राजर्षयो महात्मानो येषां कीर्तिः प्रतिष्ठिता। तस्माद्विशिष्यते यज्ञात्तपः सर्वैस्तु कारणैः॥ ४०॥
ब्रह्मणा तपसा सृष्टं जगद्विश्वमिदं पुरा। तस्मान्नाप्नोति तद् यज्ञात्तपोमूलमिदं स्मृतम्॥ ४१॥
यज्ञप्रवर्तनं ह्येवमासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे। तदाप्रभृति यज्ञोऽयं युगैः सह व्यवर्तत॥ ४२॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पे देवर्षिसंवादो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४३॥

पूर्वकालमें स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रचलित होनेके अवसरपर देवताओं और ऋषियोंके बीच इस प्रकारका महान् विवाद हुआ था। तदनन्तर जब ऋषियोंने यह देखा कि यहाँ तो बलपूर्वक धर्मका विनाश किया जा रहा है, तब वसुके कथनकी उपेक्षा कर वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। उन ऋषियोंके चले जानेपर देवताओंने यज्ञकी सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। इसके अतिरिक्त इस विषयमें ऐसा भी सुना जाता है कि बहुतेरे ब्राह्मण तथा क्षत्रियनरेश तपस्याके प्रभावसे ही सिद्धि प्राप्त की थी। प्रियव्रत, उत्तानपाद, ध्रुव, मेधातिथि,

वसु, सुधामा, विरजा, शङ्खपाद्, राजस, प्राचीनबर्हि, पर्जन्य और हविर्धान आदि नृपतिगण तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से नरेश तपोबलसे स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं, जिन महात्मा राजर्षियोंकी कीर्ति अबतक विद्यमान है। अतः तपस्या सभी कारणोंसे सभी प्रकार यज्ञसे बढ़कर है। पूर्वकालमें ब्रह्माने तपस्याके प्रभावसे ही इस सारे जगत्की सृष्टि की थी, अतः यज्ञद्वारा वह बल नहीं प्राप्त हो सकता। उसकी प्राप्तिका मूल कारण तप ही कहा गया है। इस प्रकार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रारम्भ हुई थी। तबसे यह यज्ञ सभी युगोंके साथ प्रवर्तित हुआ ॥ ३५—४२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकल्पमें देवर्षिसंवाद नामक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४३ ॥

एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय

द्वापर और कलियुगकी प्रवृत्ति तथा उनके स्वभावका वर्णन, राजा प्रमतिका वृत्तान्त तथा पुनः कृतयुगके प्रारम्भका वर्णन

सूत उवाच

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि द्वापरस्य विधिं पुनः। तत्र त्रेतायुगे क्षीणे द्वापरं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
द्वापरादौ प्रजानां तु सिद्धिस्त्रेतायुगे तु या। परिवृत्ते युगे तस्मिंस्ततः सा सम्प्रणश्यति ॥ २ ॥
ततः प्रवर्तिते तासां प्रजानां द्वापरे पुनः। लोभोऽधृतिर्वणिग्युद्धं तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ ३ ॥
प्रध्वंसश्चैव वर्णानां कर्मणां तु विपर्ययः। याच्ञा वधः पणो दण्डो मानो दम्भोऽक्षमा बलम् ॥ ४ ॥
तथा रजस्तमो भूयः प्रवृत्तिर्द्वापरे स्मृता। आद्ये कृते तु धर्मोऽस्ति स त्रेतायां प्रपद्यते ॥ ५ ॥
द्वापरे व्याकुलो भूत्वा प्रणश्यति कलौ पुनः। वर्णानां द्वापरे धर्माः संकीर्यन्ते तथाऽऽश्रमाः ॥ ६ ॥
द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिञ् श्रुतौ स्मृतौ। द्वैधाच्छ्रुतेः स्मृतेश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ७ ॥
अनिश्चयावगमनाद् धर्मतत्त्वं न विद्यते। धर्मतत्त्वे ह्यविज्ञाते मतिभेदस्तु जायते ॥ ८ ॥
परस्परं विभिन्नैस्तैर्दृष्टीनां विभ्रमेण तु। अयं धर्मो ह्ययं नेति निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इसके बाद अब मैं द्वापरयुगकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ। त्रेतायुगके क्षीण हो जानेपर द्वापरयुगकी प्रवृत्ति होती है। द्वापरयुगके प्रारम्भ-कालमें प्रजाओंको त्रेतायुगकी भाँति ही सिद्धि प्राप्त होती है, किंतु जब द्वापरयुगका प्रभाव पूर्णरूपसे व्याप्त हो जाता है, तब वह सिद्धि नष्ट हो जाती है। उस समय प्रजाओंमें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य, युद्ध, सिद्धान्तोंकी अनिश्चितता, वर्णोंका विनाश, कर्मोंका उलट-फेर, याच्ञा (भिक्षावृत्ति), संहार, परायापन, दण्ड, अभिमान, दम्भ, असहिष्णुता, बल तथा रजोगुण एवं तमोगुण बढ़ जाते हैं। सर्वप्रथम कृतयुगमें तो अधर्मका लेशमात्र भी नहीं रहता, किंतु त्रेतायुगमें उसकी कुछ-कुछ प्रवृत्ति होती है। पुनः द्वापरयुगमें वह विशेषरूपसे व्याप्त होकर कलियुगमें युग-समाप्तिके समय विनष्ट हो जाता है। द्वापरयुगमें चारों वर्णों तथा आश्रमोंके धर्म परस्पर घुल-मिल जाते हैं। इस युगमें श्रुतियों और स्मृतियोंमें भेद उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार श्रुति और स्मृतिकी मान्यतामें भेद पड़नेके कारण किसी विषयका ठीक निश्चय नहीं हो पाता। अनिश्चितताके कारण धर्मका तत्त्व लुप्त हो जाता है। धर्मतत्त्वका ज्ञान न होनेपर बुद्धिमें भेद उत्पन्न हो जाता है। बुद्धिमें भेद पड़नेके कारण उनके विचार भी भ्रान्त हो जाते हैं और फिर धर्म क्या है और अधर्म क्या है, यह निश्चय नहीं हो पाता ॥ १—९ ॥

एको वेदश्चतुष्पादः त्रेतास्विह विधीयते। संक्षेपादायुषश्चैव व्यस्यते द्वापरेष्विह ॥ १० ॥
वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु। ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः ॥ ११ ॥
मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरक्रमविपर्ययैः। संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहन्यन्ते श्रुतर्षिभिः ॥ १२ ॥
सामान्याद् वैकृताच्चैव दृष्टिभिन्नैः क्वचित् क्वचित्। ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च ॥ १३ ॥
अन्ये तु प्रस्थितास्तान् वै केचित् तान् प्रत्यवस्थिताः। द्वापरेषु प्रवर्तन्ते भिन्नार्थैस्तैः स्वदर्शनैः ॥ १४ ॥
एकमाध्वर्यवं पूर्वमासीद् द्वैधं तु तत्पुनः। सामान्यविपरीतार्थैः कृतं शास्त्राकुलं त्विदम् ॥ १५ ॥
आध्वर्यवं च प्रस्थानैर्बहुधा व्याकुलीकृतम्। तथैवाथर्वणां साम्नां विकल्पैः स्वस्य संक्षयैः ॥ १६ ॥
व्याकुलो द्वापरेष्वर्थः क्रियते भिन्नदर्शनैः। द्वापरे संनिवृत्ते तु वेदा नश्यन्ति वै कलौ ॥ १७ ॥
तेषां विपर्ययोत्पन्ना भवन्ति द्वापरे पुनः। अदृष्टिर्मरणं चैव तथैव व्याध्युपद्रवाः ॥ १८ ॥
वाङ्मनःकर्मभिर्दुःखैर्निर्वेदो जायते ततः। निर्वेदाज्जायते तेषां दुःखमोक्षविचारणा ॥ १९ ॥
विचारणायां वैराग्यं वैराग्याद् दोषदर्शनम्। दोषाणां दर्शनाच्चैव ज्ञानोत्पत्तिस्तु जायते ॥ २० ॥

पहले त्रेताके प्रारम्भमें आयुके संक्षिप्त हो जानेके कारण एक ही वेद ऋक्, यजुः, अथर्वण, साम नामोंसे चार विभक्त कर दिया जाता है। फिर द्वापरमें विभिन्न विचारवाले ऋषिपुत्रोंद्वारा उन वेदोंका पुनः (शाखा-प्रशाखा-आदिमें) विभाजन कर दिया जाता है। वे महर्षिगण मन्त्र-ब्राह्मणों, स्वर और क्रमके विपर्ययसे ऋक्, यजुः और साम वेदकी संहिताओंका अलग-अलग संघटन करते हैं। भिन्न विचारवाले श्रुतर्षियोंने ब्राह्मणभाग, कल्पसूत्र तथा भाष्यविद्या आदिको भी कहीं-कहीं सामान्य रूपसे और कहीं-कहीं विपरीतक्रमसे परिवर्तित कर दिया है। कुछ लोगोंने तो उनका समर्थन और कुछ लोगोंने अवरोध किया है। इसके बाद प्रत्येक द्वापरयुगमें भिन्नार्थदर्शी ऋषिवृन्द अपने-अपने विचारानुसार वैदिक प्रथामें अर्थभेद उत्पन्न कर देते हैं। पूर्वकालमें यजुर्वेद एक ही था, परंतु ऋषियोंने उसे बादमें सामान्य और विशेष अर्थसे कृष्ण और यजुः-रूपमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया, जिससे शास्त्रमें भेद हो गया। इस प्रकार इन लोगोंने यजुर्वेदको अनेकों उपाख्यानों तथा प्रस्थानों, खिलांशों-द्वारा विस्तृत कर दिया है। इसी प्रकार अथर्ववेद और सामवेदके मन्त्रोंका भी ह्रास एवं विकल्पोंद्वारा अर्थ-परिवर्तन कर दिया है। इस तरह प्रत्येक द्वापरयुगमें (पूर्वपरम्परासे चले आते हुए) वेदार्थको भिन्नदर्शी ऋषिवृन्द परिवर्तित करते हैं। फिर द्वापरके बीत जानेपर कलियुगमें वे वेदार्थ शनैः-शनैः नष्ट हो जाते हैं। वेदार्थका विपर्यय हो जानेके कारण द्वापरके अन्तमें ही यथार्थ दृष्टिका लोप, असामयिक मृत्यु और व्याधियोंके उपद्रव प्रकट हो जाते हैं। तब मन-वचन-कर्मसे उत्पन्न हुए दुःखोंके कारण लोगोंके मनमें खेद उत्पन्न होता है। खेदाधिक्यके कारण दुःखसे मुक्ति पानेके लिये उनके मनमें विचार जाग्रत् होता है। फिर विचार उत्पन्न होनेपर वैराग्य, वैराग्यसे दोष-दर्शन और दोषोंके प्रत्यक्ष होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १०—२० ॥

तेषां मेधाविनां पूर्वं मर्त्ये स्वायम्भुवेऽन्तरे। उत्पत्स्यन्तीह शास्त्राणां द्वापरे परिपन्थिनः ॥ २१ ॥
आयुर्वेदविकल्पाश्च अङ्गानां ज्यौतिषस्य च। अर्थशास्त्रविकल्पाश्च हेतुशास्त्रविकल्पनम् ॥ २२ ॥
प्रक्रियाकल्पसूत्राणां भाष्यविद्याविकल्पनम्। स्मृतिशास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥
द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदास्तथा नृणाम्। मनसा कर्मणा वाचा कृच्छ्राद् वार्ता प्रसिद्ध्यति ॥ २४ ॥
द्वापरे सर्वभूतानां कायक्लेशः परः स्मृतः। लोभोऽधृतिर्वणिग्युद्धं तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ २५ ॥
वेदशास्त्रप्रणयनं धर्माणां संकरस्तथा। वर्णाश्रमपरिध्वंसः कामद्वेषौ तथैव च ॥ २६ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे द्वे परमायुस्तदा नृणाम्। निःशेषे द्वापरे तस्मिंस्तस्य संध्या तु पादतः ॥ २७ ॥
प्रतिष्ठिते गुणैर्हीना धर्मोऽसौ द्वापरस्य तु। तथैव संध्यापादेन अंशस्तस्यां प्रतिष्ठितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें स्वायम्भुव मन्वन्तरके द्वापरयुगमें उन मेधावी ऋषियोंके वंशमे इस भूतलपर शास्त्रोंके विरोधी लोग उत्पन्न होते हैं और उस युगमें आयुर्वेदमें विकल्प, ज्योतिषशास्त्रके अङ्गोंमें विकल्प, अर्थशास्त्रमे विकल्प, हेतुशास्त्रमे विकल्प, कल्पसूत्रोंकी प्रक्रियामें विकल्प, भाष्यविद्यामें विकल्प, स्मृतिशास्त्रोंमे नाना प्रकारके भेद, पृथक्-पृथक् मार्ग तथा मनुष्योकी बुद्धियोंमें भेद प्रचलित हो जाते हैं। तब मन-वचन-कर्मसे लगे रहनेपर भी बड़ी कठिनाईसे लोगोंकी जीविका सिद्ध हो पाती है। इस प्रकार द्वापरयुगमें सभी प्राणियोंका जीवन भी कष्टसे ही चल पाता है। उस समय जनतामें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य-व्यवसाय, युद्ध, तत्त्वोंकी अनिश्चितता, वेदों एवं शास्त्रोंकी मनःकल्पित रचना, धर्मसंकरता, वर्णाश्रम-धर्मका विनाश तथा काम और द्वेषकी भावना आदि दुर्गुणोका प्राबल्य हो जाता है। उस समय लोगोंकी दो हजार वर्षोंकी पूर्णायु होती है। द्वापरकी समाप्तिके समय उसके चतुर्थांशमें उसकी संध्याका काल आता है। उस समय लोग धर्मके गुणोसे हीन हो जाते हैं। उसी प्रकार संध्याके चतुर्थ चरणमें संध्यांशका समय उपस्थित होता है ॥ २१–२८ ॥

द्वापरस्य तु पर्याये पुष्यस्य च निबोधत। द्वापरस्यांशशेषे तु प्रतिपत्तिः कलेरथ ॥ २९ ॥
हिंसा स्तेयानृतं माया वधश्चैव तपस्विनाम्। एते स्वभावाः पुष्यस्य साधयन्ति च ताः प्रजाः ॥ ३० ॥
एष धर्मः स्मृतः कृत्स्नो धर्मश्च परिहीयते। मनसा कर्मणा वाचा वार्ता सिद्ध्यति वा न वा ॥ ३१ ॥
कलौ प्रमारको रोगः सततं चापि क्षुद्भयम्। अनावृष्टिभयं घोरं देशानां च विपर्ययः ॥ ३२ ॥
न प्रमाणं स्मृतश्चास्ति पुष्ये घोरे युगे कलौ। गर्भस्थो म्रियते कश्चिद्यौवनस्थस्तथापरः ॥ ३३ ॥
स्थविरे मध्यकौमारे म्रियन्ते च कलौ प्रजाः। अल्पतेजोबलाः पापा महाकोपा ह्यधार्मिकाः ॥ ३४ ॥
अनृतव्रतलुब्धाश्च पुष्ये चैव प्रजाः स्थिताः। दुरिष्टैर्दुरधीतैश्च दुराचारैर्दुरागमैः ॥ ३५ ॥
विप्राणां कर्मदोषैश्च प्रजानां जायते भयम्। हिंसमानस्तथेर्ष्या च क्रोधोऽसूयाक्षमः कृतम् ॥ ३६ ॥
पुष्ये भवन्ति जन्तूनां लोभो मोहश्च सर्वशः। संक्षोभो जायतेऽत्यर्थं कलिमासाद्य वै युगम् ॥ ३७ ॥
नाधीयन्ते तथा वेदा न यजन्ते द्विजातयः। उत्सीदन्ति तथा चैव वैश्यैः सार्धं तु क्षत्रियाः ॥ ३८ ॥
शूद्राणां मन्त्रयोनिस्तु सम्बन्धो ब्राह्मणैः सह। भवतीह कलौ तस्मिन् शयनासनभोजनैः ॥ ३९ ॥
राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाषण्डानां प्रवर्तकाः। काषायिणश्च निष्कच्छास्तथा कापालिनश्च ह ॥ ४० ॥

अब द्वापरयुगके बाद आनेवाले कलियुगका वृत्तान्त सुनिये। द्वापरकी समाप्तिके समय जब अंशमात्र शेष रह जाता है, तब कलियुगकी प्रवृत्ति होती है। जीव-हिंसा, चोरी, असत्यभाषण, माया (छल-कपट-दम्भ) और तपस्वियोकी हत्या—ये कलियुगके स्वभाव (स्वाभाविक गुण) हैं। वह प्रजाओंको भलीभाँति चरितार्थ कर देता है। यही उसका अविकल धर्म है। यथार्थ धर्मका तो विनाश हो जाता है। उस समय मन-वचन-कर्मसे प्रयत्न करनेपर भी यह संदेह बना रहता है कि जीविकाकी सिद्धि होगी या नहीं। कलियुगमें विसूचिका, प्लेग आदि महामारक रोग होते हैं। इस घोर कलियुगमें भुखमरी और अकालका सदा भय बना रहता है। देशोंका उलट-फेर तो होता ही रहता है। किसी प्रमाणमें स्थिरता नहीं रहती। कोई गर्भमें ही मर जाता है तो कोई नौजवान होकर, कोई मध्य जवानीमें तो कोई बुढ़ापामें। इस प्रकार लोग कलियुगमें अकालमें ही कालके शिकार बन जाते हैं। उस समय लोगोंका तेज और बल घट जाता है। उनमें पाप, क्रोध और धर्महीनता बढ़ जाती है। वे असत्यभाषी और लोभी हो जाते हैं। ब्राह्मणोके अनिष्ट-चिन्तन, अल्पाध्ययन, दुराचार और शास्त्र-ज्ञान-हीनता-रूप कर्मदोषोसे प्रजाओंको सदा भय बना रहता है। कलियुगमें जीवोंमें हिंसा, अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध, असूया,

असहिष्णुता, अधीरता, लोभ, मोह और संक्षोभ आदि दुर्गुण सर्वथा अधिक मात्रामें बढ़ जाते हैं। कलियुगके आनेपर ब्राह्मण न तो वेदोंका अध्ययन करते हैं और न यज्ञानुष्ठान ही करते हैं। क्षत्रिय भी वैश्योंके साथ (कर्मभ्रष्ट होकर) विनष्ट हो जाते हैं। कलियुगमें शूद्र मन्त्रोंके ज्ञाता हो जाते हैं और उनका शयन, आसन एवं भोजनके समय ब्राह्मणोंके साथ सम्पर्क होता है। शूद्र ही अधिकतर राजा होते हैं। पाखण्डका प्रचार बढ़ जाता है। शूद्रलोग गेरुआ वस्त्र धारण कर हाथमें नारियलका कपाल लेकर काछ खोले हुए (संन्यासीके वेषमे) घूमते रहते हैं ॥ २९–४० ॥

ये चान्ये देवव्रतिनस्तथा ये धर्मदूषकाः। दिव्यवृत्तास्च ये केचिद् वृत्त्यर्थं श्रुतिलिङ्गिनः ॥ ४१ ॥
एवंविधाश्च ये केचिद्भवन्तीह कलौ युगे। अधीयन्ते तदा वेदाञ् शूद्रान् धर्मार्थकोविदाः ॥ ४२ ॥
यजन्ति ह्यश्वमेधैस्तु राजानः शूद्रयोनयः। स्त्रीबालगोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम् ॥ ४३ ॥
उपहृत्य तथान्योन्यं साधयन्ति तथा प्रजाः। दुःखप्रचुरताल्पायुर्देशोत्सादः सरोगता ॥ ४४ ॥
अधर्माभिनिवेशित्वं तमोवृत्तं कलौ स्मृतम्। भ्रूणहत्या प्रजानां च तदा ह्येवं प्रवर्तते ॥ ४५ ॥
तस्मादायुर्बलं रूपं प्रहीयन्ते कलौ युगे। दुःखेनाभिप्लुतानां परमायुः शतं नृणाम् ॥ ४६ ॥
भूत्वा च न भवन्तीह वेदाः कलियुगेऽखिलाः। उत्सीदन्ते तथा यज्ञाः केवलं धर्महेतवः ॥ ४७ ॥
एषा कलियुगावस्था संध्यांशौ तु निबोधत। युगे युगे तु हीयन्ते त्रींस्त्रीन्पादांश्च सिद्धयः ॥ ४८ ॥
युगस्वभावाः संध्यासु अवतिष्ठन्ति पादतः। संध्यास्वभावाः स्वांशेषु पादेनैवावतस्थिरे ॥ ४९ ॥

कुछ लोग देवताओंकी पूजा करते हैं तो कुछ लोग धर्मको दूषित करते हैं। कुछ लोगोंके आचार-विचार दिव्य होते हैं तो कुछ लोग जीविकोपार्जनके लिये साधुका वेष बनाये रहते हैं। कलियुगमें अधिकतर इसी प्रकारके लोग होते हैं। उस समय शूद्रलोग धर्म और अर्थके ज्ञाता बनकर वेदोंका अध्ययन करते हैं। शूद्रयोनिमें उत्पन्न नृपतिगण अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। उस समय लोग स्त्री, बालक और गौओंकी हत्या कर, परस्पर एक-दूसरेको मारकर तथा अपहरण कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। कलियुगमें कष्टका बाहुल्य हो जाता है। प्राणियोंकी आयु थोड़ी हो जाती है। देशोंमें उथल-पुथल होता रहता है। व्याधिका प्रकोप बढ़ जाता है। अधर्मकी ओर लोगोंकी विशेष रुचि हो जाती है। सभीके आचार-विचार तामसिक हो जाते हैं। प्रजाओंमें भ्रूणहत्याकी प्रवृत्ति हो जाती है। इसी कारण कलियुगमें आयु, बल और रूपकी क्षीणता हो जाती है। दुःखोंसे संतप्त हुए लोगोंकी परमायु सौ वर्षकी होती है। कलियुगमें सम्पूर्ण वेद विद्यमान रहते हुए भी नहींके बराबर हो जाते हैं तथा धर्मके एकमात्र कारण यज्ञोंका विनाश हो जाता है। यह तो कलियुगकी दशा बतलायी गयी, अब उसकी संध्या और संध्यांशका वर्णन सुनिये। प्रत्येक युगमें तीन-तीन चरण व्यतीत हो जानेके बाद सिद्धियाँ घट जाती हैं, अर्थात् धर्मका ह्रास हो जाता है। उनकी संध्याओंमें युगका स्वभाव चतुर्थांश मात्र रह जाता है। उसी प्रकार संध्यांशोंमें संध्याका स्वभाव भी चतुर्थांश ही शेष रहता है ॥ ४१–४९ ॥

एवं संध्यांशके काले सम्प्राप्ते तु युगान्तिके। तेषामधर्मिणां शास्ता भृगूणां च कुले स्थितः ॥ ५० ॥
गोत्रेण वै चन्द्रमसो नाम्ना प्रमतिरुच्यते। कलिसंध्यांशभागेषु मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ५१ ॥
समास्त्रिंशत्तु सम्पूर्णाः पर्यटन् वै वसुंधराम्। अस्त्रकर्षा स वै सेनां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ५२ ॥
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैः शतशोऽथ सहस्रशः। स तदा तैः परिवृतो म्लेच्छान् सर्वान्निजघ्निवान् ॥ ५३ ॥
स हत्वा सर्वशश्चैव राजानः शूद्रयोनयः। पाखण्डान् स तदा सर्वान्निःशेषानकरोत् प्रभुः ॥ ५४ ॥

अधार्मिकाश्च ये केचित्तान् सर्वान् हन्ति सर्वशः । औदीच्यान्मध्यदेशांश्च पार्वतीयांस्तथैव च ॥ ५५ ॥
प्राच्यान्प्रतीच्यांश्च तथा विन्ध्यपृष्ठापरान्तिकान् । तथैव दाक्षिणात्यांश्च द्रविडान्सिंहलैः सह ॥ ५६ ॥
गान्धारान्पारदांश्चैव पह्लवान् यवनाञ्छकान् । तुषारान्बर्बराञ् छ्वेतान्हलिकान्दरदान्खसान् ॥ ५७ ॥
लम्पकानान्ध्रकांश्चापि चोरजातींस्तथैव च । प्रवृत्तचक्रो बलवाञ्शूद्राणामन्तकृद् बभौ ॥ ५८ ॥
विद्राव्य सर्वभूतानि चचार वसुधामिमाम् ।

इस प्रकार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें कलियुगके अन्तिम समयमें प्राप्त हुए संध्यांश-कालमें उन अधर्मियोंका शासन करनेके लिये भृगुवंशमें चन्द्रगोत्रीय प्रमति* नामक राजा उत्पन्न होता है । वह अस्त्रधारी नरेश हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई सेनाको साथ लेकर तीस वर्षोंतक पृथ्वीपर भ्रमण करता है । उस समय उसके साथ आयुध-धारी सैकड़ों-हजारों ब्राह्मण भी रहते हैं । वह सामर्थ्य-शाली वीर सभी म्लेच्छोंका विनाश कर देता है तथा शूद्र-योनिमें उत्पन्न हुए राजाओंका सर्वथा संहार करके सम्पूर्ण पाखण्डोंको भी निर्मूल कर देता है । वह सर्वत्र घूम-घूमकर सभी धर्महीनोंका वध कर देता है । शूद्रोंका विनाश करनेवाला यह महाबली राजा उत्तर दिशाके निवासी, मध्यदेशीय, पर्वतीय, पौरस्त्य, पाश्चात्त्य, विन्ध्याचलके ऊपर तथा तलहटियोंमें स्थित, दाक्षिणात्य, सिंहलोंसहित द्रविड, गान्धार, पारद, पह्लव, यवन, शक, तुषार, बर्बर, श्वेत, हलीक, दरद, खस, लम्पक, आन्ध्रक तथा चोर जातियोंका संहार कर अपना शासन-चक्र प्रवृत्त करता है । वह समस्त अधार्मिक प्राणियोंको खदेड़कर इस पृथ्वीपर विचरण करता हुआ सुशोभित होता है ॥ ५०—५८½ ॥

मानवस्य तु वंशे तु नृदेवस्येह जज्ञिवान् ॥ ५९ ॥
पूर्वजन्मनि विष्णुश्च प्रमतिर्नाम वीर्यवान् । स्वतः स वै चन्द्रमसः पूर्वं कलियुगे प्रभुः ॥ ६० ॥
द्वात्रिंशेऽभ्युदिते वर्षे प्रक्रान्ते विंशतिं समाः । निजघ्ने सर्वभूतानि मानुषाण्येव सर्वशः ॥ ६१ ॥
कृत्वा बीजावशिष्टां तां पृथ्वीं क्रूरेण कर्मणा । परस्परनिमित्तेन कालेनाकस्मिकेन च ॥ ६२ ॥
संस्थिता सहसा या तु सेना प्रमतिना सह । गङ्गायमुनयोर्मध्ये सिद्धिं प्राप्ता समाधिना ॥ ६३ ॥
ततस्तेषु प्रनष्टेषु संध्यांशे क्रूरकर्मसु । उत्साद्य पार्थिवान् सर्वांस्तेष्वतीतेषु वै तदा ॥ ६४ ॥
ततः संध्यांशके काले सम्प्राप्ते च युगान्तके । स्थितास्वल्पावशिष्टासु प्रजास्विह क्वचित्क्वचित् ॥ ६५ ॥
स्वाप्रदानास्तदा ते वै लोभाविष्टास्तु वृन्दशः । उपहिंसन्ति चान्योन्यं प्रलुम्पन्ति परस्परम् ॥ ६६ ॥
अराजके युगांशे तु संक्षये समुपस्थिते । प्रजास्ता वै तदा सर्वाः परस्परभयार्दिताः ॥ ६७ ॥
व्याकुलास्ताः परावृत्तास्त्यक्त्वा देवगृहाणि तु । स्वान् स्वान् प्राणानवेक्षन्तो निष्कारुण्यात्सुदुःखिताः ॥ ६८ ॥
नष्टे श्रौतस्मृते धर्मे कामक्रोधवशानुगाः । निर्मर्यादा निरानन्दा निःस्नेहा निरपत्रपाः ॥ ६९ ॥
नष्टे धर्मे प्रतिहता ह्रस्वकाः पञ्चविंशकाः । हित्वा दारांश्च पुत्रांश्च विषादव्याकुलप्रजाः ॥ ७० ॥
अनावृष्टिहतास्ते वै वार्तामुत्सृज्य दुःखिताः । आश्रयन्ति स्म प्रत्यन्तान् हित्वा जनपदान् स्वकान् ॥ ७१ ॥

पराक्रमी प्रमति पूर्व जन्ममें विष्णु था और इस जन्ममें महाराज मनुके वंशमें भूतलपर उत्पन्न हुआ था । पहले कलियुगमें वह वीर चन्द्रमाका पुत्र था । बत्तीस वर्षकी अवस्था होनेपर उसने बीस वर्षोंतक भूतलपर सर्वत्र घूम-घूमकर सभी धर्महीन मानवों एवं अन्य प्राणियोंका संहार कर डाला । उसने आकस्मिक कालके वशीभूत हो बिना किसी निमित्तके क्रूर कर्मद्वारा उस पृथ्वीको बीजमात्र अवशेष कर दिया । तत्पश्चात् प्रमतिके साथ जो विशाल सेना थी, वह सहसा गङ्गा और यमुनाके मध्यभागमें स्थित हो गयी और समाधिद्वारा

* श्रीविष्णुधर्मोत्तर महापुराणमें भी इस राजाकी विस्तृत महिमा निरूपित है । वासुदेवशरण अग्रवाल आदि इतिहासके अनेक विद्वान् इसे राजा विक्रमादित्यका अपर नाम मानते हैं ।

सिद्धिको प्राप्त हो गयी । इस प्रकार युगके अन्तमें संध्यांश-कालके प्राप्त होनेपर सभी अधार्मिक राजाओंका विनाश होता है । उन क्रूरकर्मियोंके नष्ट हो जानेपर भूतलपर कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत प्रजाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं । वे लोग अपनी वस्तु दूसरेको देना नहीं चाहते । उनमें लोभकी मात्रा अधिक होती है । वे लोग यूथ-के-यूथ एकत्र होकर परस्पर एक-दूसरेकी वस्तु लूट-खसोट लेते हैं तथा उन्हें मार भी डालते हैं । उस विनाशकारी संध्यांशके उपस्थित होनेपर अराजकता फैल जाती है । उस समय सारी प्रजामें परस्पर भय बना रहता है । लोग व्याकुल होकर देवताओं और गृहोंको छोड़कर उनसे मुख मोड़ लेते हैं । सभीको अपने-अपने प्राणोंकी रक्षाकी चिन्ता लगी रहती है । क्रूरताका बोलबाला होनेके कारण लोग अत्यन्त दुःखी रहते हैं । श्रौत एवं स्मार्त धर्म नष्ट हो जाता है । सभी लोग काम और क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं । वे मर्यादा, आनन्द, स्नेह और लज्जासे रहित हो जाते हैं । धर्मके नष्ट हो जानेपर वे भी विनष्ट हो जाते हैं । उनका कद छोटा हो जाता है और उनकी आयु पचीस वर्षकी हो जाती है । विषादसे व्याकुल हुए लोग अपनी पत्नी और पुत्रोंको भी छोड़ देते हैं । वे अकालसे पीड़ित होनेके कारण जीविकाके साधनोंका परित्याग कर कष्ट झेलते हैं तथा अपने जनपदोंको छोड़कर निकटवर्ती देशोंकी शरण लेते हैं ॥ ५९—७१ ॥

सरितः सागरानूपान् सेवन्ते पर्वतानपि । चीरकृष्णाजिनधरा निष्क्रिया निष्परिग्रहाः ॥ ७२ ॥
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टाः संकरं घोरमास्थिताः । एवं कष्टमनुप्राप्ता अल्पशेषाः प्रजास्ततः ॥ ७३ ॥
जन्तवश्च क्षुधाविष्टा दुःखान्निर्वेदमागमन् । संश्रयन्ति च देशांस्तांश्चक्रवत् परिवर्तनाः ॥ ७४ ॥
ततः प्रजास्तु ताः सर्वा मांसाहारा भवन्ति हि । मृगान् वराहान् वृषभान् ये चान्ये वनचारिणः ॥ ७५ ॥
भक्ष्यांश्चैवाप्यभक्ष्यांश्च सर्वांस्तान् भक्षयन्ति ताः । समुद्रसंश्रिता यास्तु नदीश्चैव प्रजास्तु ताः ॥ ७६ ॥
तेऽपि मत्स्यान् हरन्तीह आहारार्थं च सर्वशः । अभक्ष्याहारदोषेण एकवर्णगताः प्रजाः ॥ ७७ ॥
यथा कृतयुगे पूर्वमेकवर्णमभूत् किल । तथा कलियुगस्यान्ते शूद्रीभूताः प्रजास्तथा* ॥ ७८ ॥
एवं वर्षशतं पूर्णं दिव्यं तेषां न्यवर्तत । षट्त्रिंशच्च सहस्राणि मानुषाणि तु तानि वै ॥ ७९ ॥
अथ दीर्घेण कालेन पक्षिणः पशवस्तथा । मत्स्याश्चैव हताः सर्वैः क्षुधाविष्टैश्च सर्वशः ॥ ८० ॥
निःशेषेष्वथ सर्वेषु मत्स्यपक्षिपशुष्वथ । संध्यांशे प्रतिपन्ने तु निःशेषास्तु तदा कृताः ॥ ८१ ॥
ततः प्रजास्तु सम्भूय कन्दमूलमथोऽखनन् । फलमूलाशनाः सर्वे अनिकेतास्तथैव च ॥ ८२ ॥
वल्कलान्यथ वासांसि अधःशय्याश्च सर्वशः । परिग्रहो न तेष्वस्ति धनं शुद्धिरथापि वा ॥ ८३ ॥

कुछ लोग भागकर नदियों, समुद्र-तटवर्ती भागों तथा पर्वतोंका आश्रय ग्रहण करते हैं । वल्कल और काला मृगचर्म ही उनका परिधान होता है । वे क्रिया-हीन और परिग्रहरहित हो जाते हैं तथा वर्णाश्रम-धर्मसे भ्रष्ट होकर घोर संकर-धर्ममें आस्था करने लगते हैं । उस समय स्वल्प मात्रामें बची हुई प्रजा इस प्रकार कष्ट झेलती है । क्षुधासे पीड़ित जीवजन्तु दुःखके कारण अपने जीवनसे ऊब जाते हैं, किंतु चक्रकी तरह घूमते हुए पुनः उन्हीं देशोंका आश्रय ग्रहण करते हैं । तदनन्तर वे सारी प्रजाएँ मांसाहारी हो जाती हैं । उनमें भक्ष्याभक्ष्यका विचार लुप्त हो जाता है । वे मृगों, सूकरों, वृषभों तथा अन्यान्य सभी वनचारी जीवोंको खाने लगती हैं । जो प्रजाएँ नदियों और समुद्रोंके तटपर निवास करती हैं, वे भी भोजनके लिये सर्वत्र मछलियोंको

* कलियुगका वर्णन अन्य पुराणों, सुभाषितों, गोस्वामीजीके मानसादि काव्यों तथा समर्थरामदासजीके दासबोध आदिमें भी बड़े आकर्षक ढंगसे हुआ है जिनके अध्ययनसे लोग दोषोंसे बचते हैं । पर मत्स्यपुराण-जितना विस्तृत वर्णन वायु, ब्रह्माण्डादि पुराणों एवं महाभारतवनपर्वमें भी नहीं हुआ है । तथापि वहाँ भी यह प्रसङ्ग प्रायः कुछ कम इन्हीं श्लोकोंमें मिलता है ।

पकड़ती हैं। इस प्रकार अभक्ष्य भोजनके दोषके कारण सारी प्रजा एक वर्णकी हो जाती है, अर्थात् वर्णधर्म नष्ट हो जाता है। जैसे पहले कृतयुगमें एक ही (हंसनामका) वर्ण था, उसी तरह कलियुगके अन्तमें सारी प्रजाएँ शूद्रवर्णकी हो जाती हैं। इस प्रकार उन प्रजाओंके पूरे एक सौ दिव्य वर्ष तथा मानुष गणनाके अनुसार छत्तीस हजार वर्ष व्यतीत होते हैं। इतने लम्बे समयमें क्षुधासे पीड़ित वे सभी लोग सर्वत्र पशुओं, पक्षियों और मछलियोंको मारकर खा डालते हैं। इस प्रकार जब संध्यांशके प्रवृत्त होनेपर सारे मछली, पक्षी और पशु मारकर निःशेष कर दिये जाते हैं, तब पुनः लोग कन्द-मूल खोदकर खाने लगते हैं। उस समय वे सभी गृहरहित होकर फल-मूलपर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। वल्कल ही उनका वस्त्र होता है। वे सर्वत्र भूमिपर ही शयन करते हैं। उनके परिग्रह (स्त्री-परिवार आदि), अर्थशुद्धि और शौचाचार आदि सब नष्ट हो जाते हैं॥ ७२—८३॥

एवं क्षयं गमिष्यन्ति ह्यल्पशिष्टाः प्रजास्तदा। तासामल्पावशिष्टानामाहाराद् वृद्धिरिष्यते॥ ८४॥
एवं वर्षशतं दिव्यं संध्यांशस्तस्य वर्तते। ततो वर्षशतस्यान्ते अल्पशिष्टाः स्त्रियः सुताः॥ ८५॥
मिथुनानि तु ताः सर्वा ह्यन्योन्यं सम्प्रजज्ञिरे। ततस्तास्तु म्रियन्ते वै पूर्वोत्पन्नाः प्रजास्तु याः॥ ८६॥
जातमात्रेष्वपत्येषु ततः कृतमवर्तत। यथा स्वर्गे शरीराणि नरके चैव देहिनाम्॥ ८७॥
उपभोगसमर्थानि एवं कृतयुगादिषु। एवं कृतस्य संतानः कलेश्चैव क्षयस्तथा॥ ८८॥
विचारणात्तु निर्वेदः साम्यावस्थात्मना तथा। ततश्चैवात्मसम्बोधः सम्बोधाद्धर्मशीलता॥ ८९॥
कलिशिष्टेषु तेष्वेवं जायन्ते पूर्ववत् प्रजाः। भाविनोऽर्थस्य च बलात्ततः कृतमवर्तत॥ ९०॥
अतीतानागतानि स्युर्यानि मन्वन्तरेष्विह। एते युगस्वभावास्तु मयोक्तास्तु समासतः॥ ९१॥

इस प्रकार उस समय थोड़ी बची हुई प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं। उनमें भी जो थोड़ी शेष रह जाती हैं, उनकी आहार-शुद्धिके कारण वृद्धि होती है। इस प्रकार कलियुगका संध्यांश एक सौ दिव्य वर्षोंका होता है। उन सौ वर्षोंके बीत जानेपर जो अल्पजीवी संतानोत्पत्ति होती है और इसके पूर्व जो प्रजाएँ उत्पन्न हुई थीं, वे सभी मर जाती हैं। उन संतानोंके उत्पन्न होनेपर कृतयुगका प्रारम्भ होता है। जैसे (मृत्युके पश्चात् प्राप्त हुए) प्राणियोंके शरीर स्वर्ग और नरकमें उपभोगके योग्य होते हैं, उसी तरह कृतयुग आदि युगोंमें भी होता है। उसी प्रकार वह नूतन संतान कृतयुगकी वृद्धि और कलियुगके विनाशका कारण होता है। आत्माकी साम्यावस्थाके विचारसे विरक्ति उत्पन्न होती है, उससे आत्मज्ञान होता है और ज्ञानसे धर्म-बुद्धि होती है। इसी कारण कलियुगके अन्तमें बचे हुए लोगोंमें भावी प्रयोजनके प्रभावसे पुनः पूर्ववत् प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर कृतयुगका आरम्भ होता है। उस समय मन्वन्तरोंमें जो भूत एवं भावी कर्म होते रहे हैं, वे सभी आवृत्त होने लगते हैं। इस प्रकार मैंने संक्षेपसे युगोंके स्वभावका वर्णन कर दिया॥८४—९१॥

विस्तरेणानुपूर्व्याच्च नमस्कृत्य स्वयम्भुवे। प्रवृत्ते तु ततस्तस्मिन् पुनः कृतयुगे तु वै॥ ९२॥
उत्पन्नाः कलिशिष्टेषु प्रजाः कार्तयुगास्तथा। तिष्ठन्ति चेह ये सिद्धा अदृष्टा विहरन्ति च॥ ९३॥
सह सप्तर्षिभिर्ये तु तत्र ये च व्यवस्थिताः। ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा बीजार्थे य इह स्मृताः॥ ९४॥
तेषां सप्तर्षयो धर्मं कथयन्तीह तेषु च॥
वर्णाश्रमाचारयुतं श्रौतस्मार्तविधानतः। एवं तेषु क्रियावत्सु प्रवर्तन्तीह वै कृते॥ ९५॥
श्रौतस्मार्तस्थितानां तु धर्मे सप्तर्षिदर्शिते। ते तु धर्मव्यवस्थार्थं तिष्ठन्तीह कृते युगे॥ ९६॥
मन्वन्तराधिकारेषु तिष्ठन्ति ऋषयस्तु ते। यथा दावप्रदग्धेषु तृणेष्वेवापरं तृणम्॥ ९७॥
वनानां प्रथमं वृष्ट्या तेषां मूलेषु सम्भवः। एवं युगाद्युगानां वै संतानस्तु परस्परम्॥ ९८॥

प्रवर्तते ह्यविच्छेदाद्यावन्मन्वन्तरक्षयः। सुखमायुर्बलं रूपं धर्मार्थौ काम एव च ॥ ९९ ॥
युगेष्वेतानि हीयन्ते त्रयः पादाः क्रमेण तु। इत्येष प्रतिसंधिर्वः कीर्तितस्तु मया द्विजाः ॥१००॥

अब मैं पुनः कृतयुगके प्रवृत्त होनेपर ब्रह्माको नमस्कार करके उसका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन कर रहा हूँ। कलियुगके अन्तमें बचे हुए लोगोंमें कृतयुगकी तरह ही संतानोत्पत्ति होती है। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियोंके बीजकी रक्षाके लिये जो सिद्धगण अदृष्टरूपसे विचरण करते हुए वर्तमान रहते हैं, वे सभी तथा सप्तर्षियोंके साथ जो अन्य लोग स्थित रहते हैं, वे सभी मिलकर कृतयुगमें क्रियाशील संततियोंके प्रति व्यवस्थाका विधान करते हैं और सप्तर्षिगण उन्हें श्रौत एवं स्मार्त विधिके अनुसार वर्ण एवं आश्रमके आचारसे सम्पन्न धर्मका उपदेश देते हैं। इस प्रकार सप्तर्षियोंद्वारा प्रदर्शित धर्ममार्गपर चलती हुई सारी प्रजा श्रौत एवं स्मार्त विधिका पालन करती है। वे सप्तर्षि धर्मकी व्यवस्था करनेके लिये कृतयुगमें स्थित रहते हैं। वे ही ऋषिगण मन्वन्तरोंके कार्यकालतक स्थित रहते हैं। जैसे वनोंमें दावाग्निसे जली हुई घासोंकी जड़मे प्रथम वृष्टि होनेपर पुनः अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मन्वन्तरकी समाप्तिपर्यन्त एकसे दूसरे युगमें अविच्छिन्नरूपसे प्रजाओंमें परस्पर संतानकी परम्परा चलती रहती है। सुख, आयु, बल, रूप, धर्म, अर्थ, काम—ये सब क्रमशः आनेवाले युगोंमें तीन चरणसे हीन हो जाते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे युगकी प्रतिसंधिका वर्णन किया ॥ ९२–१०० ॥

चतुर्युगाणां सर्वेषामेतदेव प्रसाधनम्। एषां चतुर्युगाणां तु गणिता ह्येकसप्ततिः ॥१०१॥
क्रमेण परिवृत्तास्ता मनोरन्तरमुच्यते। युगाख्यासु तु सर्वासु भवतीह यदा च यत् ॥१०२॥
तदेव च तदन्यासु पुनस्तद्वै यथाक्रमम्। सर्गे सर्गे यथा भेदा ह्युत्पद्यन्ते तथैव च ॥१०३॥
चतुर्दशसु तावन्तो ज्ञेया मन्वन्तरेष्विह। आसुरी यातुधानी च पैशाची यक्षराक्षसी ॥१०४॥
युगे युगे तदा काले प्रजा जायन्ति ताः शृणु। यथाकल्पं युगैः सार्धं भवन्ते तुल्यलक्षणाः ॥१०५॥
इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तं युगानां वै यथाक्रमम्।
मन्वन्तराणां परिवर्तनानि चिरप्रवृत्तानि युगस्वभावात्।
क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः क्षयोदयाभ्यां परिवर्तमानः ॥ १०६ ॥
एते युगस्वभावा वः परिक्रान्ता यथाक्रमम्। मन्वन्तराणि यान्यस्मिन् कल्पे वक्ष्यामि तानि च ॥१०७॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तनं नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

यही नियम सभी—चारों युगोंके लिये है। ये चारों युग जब क्रमशः इकहत्तर वार बीत जाते हैं, तब उसे एक मन्वन्तरका समय कहा जाता है। एक मन्वन्तरके युगोमे जैसा कार्यक्रम होता है, वैसा ही अन्य मन्वन्तरके युगोंमें भी क्रमशः होता रहता है। प्रत्येक सर्गमें जैसे भेद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चौदहों मन्वन्तरोंमें समझना चाहिये। प्रत्येक युगमें समयानुसार असुर, यातुधान, पिशाच, यक्ष और राक्षस स्वभाववाली प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। अब उनके विषयमें सुनिये। कल्पानुसार युगोंके साथ-साथ उन्हींके अनुरूप लक्षणोंवाली प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार क्रमशः युगोंका यह लक्षण बतलाया गया। मन्वन्तरोंका यह परिवर्तन युगोंके स्वभावानुसार चिरकालसे चला आ रहा है। इसलिये यह जीवलोक उत्पत्ति और विनाशके चक्करमें फँसा हुआ क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता। इस प्रकार आपलोगोंको ये युगस्वभाव क्रमशः बतलाये जा चुके। अब इस कल्पमें जितने मन्वन्तर हैं, उनका वर्णन करूँगा ॥ १०१–१०७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तननामक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४४ ॥

एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

युगानुसार प्राणियोंकी शरीर-स्थिति एवं वर्ण-व्यवस्थाका वर्णन, श्रौत-स्मार्त- धर्म, तप, यज्ञ, क्षमा, शम, दया आदि गुणोंका लक्षण, चातुर्होत्रकी विधि तथा पाँच प्रकारके ऋषियोंका वर्णन

सूत उवाच

मन्वन्तराणि यानि स्युः कल्पे कल्पे चतुर्दश। व्यतीतानागतानि स्युर्यानि मन्वन्तरेष्विह ॥ १ ॥
विस्तरेणानुपूर्व्याच्च स्थितिं वक्ष्ये युगे युगे। तस्मिन् युगे च सम्भूतिर्यासां यावच्च जीवितम्॥ २ ॥
युगमात्रं तु जीवन्ति न्यूनं तत् स्याद् द्वयेन च। चतुर्दशसु तावन्तो ज्ञेया मन्वन्तरेष्विह ॥ ३ ॥
मनुष्याणां पशूनां च पक्षिणां स्थावरैः सह। तेषामायुरुपक्रान्तं युगधर्मेषु सर्वशः ॥ ४ ॥
तथैवायुः परिक्रान्तं युगधर्मेषु सर्वशः। अस्थितिं च कलौ दृष्ट्वा भूतानामायुषश्च वै ॥ ५ ॥
परमायुः शतं त्वेतन्मानुषाणां कलौ स्मृतम्। देवासुरमनुष्याश्च यक्षगन्धर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥
परिणाहोच्छ्रये तुल्या जायन्तेह कृते युगे। षण्णवत्यङ्गुलोत्सेधो ह्यष्टानां देवयोनिनाम् ॥ ७ ॥
नवाङ्गुलप्रमाणेन निष्पन्नेन तथाष्टकम्। एतत्स्वाभाविकं तेषां प्रमाणमधिकुर्वताम् ॥ ८ ॥
मनुष्या वर्तमानास्तु युगसंध्यांशकेष्विह। देवासुरप्रमाणं तु सप्तसप्ताङ्गुलं क्रमात् ॥ ९ ॥
चतुराशीतिकैश्चैव कलिजैरङ्गुलैः स्मृतम्।

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! प्रत्येक कल्पमें जो चौदह मन्वन्तर होते हैं, उनमें जो बीत चुके हैं तथा जो आनेवाले हैं, उन मन्वन्तरोंके प्रत्येक युगमें प्रजाओंकी जैसी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा जितना उनका आयु-प्रमाण होता है, इन सबका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वीक्रमसे वर्णन कर रहा हूँ। उनमें कुछ प्राणी तो युगपर्यन्त जीवित रहते हैं और कुछ उनसे कम समयतक ही जीते हैं। दोनों प्रकारकी बातें देखी जाती हैं। ऐसी ही विधि चौदहों मन्वन्तरोंमें जाननी चाहिये। सर्वत्र युगधर्मानुसार मनुष्यो, पशुओं, पक्षियो और स्थावरोंकी आयु घटती जाती है। कलियुगमें युग-धर्मानुसार सर्वत्र प्राणियोंकी आयुकी अस्थिरता देखकर मनुष्योंकी परमायु सौ वर्षकी बतलायी गयी है। कृतयुगमें देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षस—ये सभी एक ही विस्तार और ऊँचाईके शरीरवाले उत्पन्न होते हैं। उनमें आठ प्रकारकी देव-योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके शरीर छानबे अंगुल ऊँचे और नौ अंगुल विस्तृत निष्पन्न होते हैं, यह उनकी आयुका स्वाभाविक प्रमाण है। अन्य देवताओं तथा असुरोंके शरीरका विस्तार क्रमशः सात-सात अंगुलका होता है। कलियुगके संध्यांशमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीर कलियुगोत्पन्न मानवोंके अंगुल-प्रमाणसे चौरासी अंगुलके होते हैं ॥ १—९½ ॥

आपादतो मस्तकं तु नवतालो भवेत्तु यः ॥ १० ॥
संहत्याजानुबाहुश्च दैवतैरभिपूज्यते। गवां च हस्तिनां चैव महिषस्थावरात्मनाम् ॥ ११ ॥
क्रमेणैतेन विज्ञेये ह्रासवृद्धी युगे युगे। षट्सप्तत्यङ्गुलोत्सेधः पशुराककुदो भवेत् ॥ १२ ॥
अङ्गुलानामष्टशतमुत्सेधो हस्तिनां स्मृतः। अङ्गुलानां सहस्रं तु द्विचत्वारिंशदङ्गुलम् ॥ १३ ॥
शतार्धमङ्गुलानां तु ह्युत्सेधः शाखिनां परः। मानुषस्य शरीरस्य संनिवेशस्तु यादृशः ॥ १४ ॥
तल्लक्षणं तु देवानां दृश्यतेऽन्यच्च दर्शनात्। बुद्ध्यातिशयसंयुक्तो देवानां काय उच्यते ॥ १५ ॥
तथा नातिशयश्चैव मानुषः काय उच्यते। इत्येवं हि परिक्रान्ता भावा ये दिव्यमानुषाः ॥ १६ ॥
पशूनां पक्षिणां चैव स्थावराणां च सर्वशः। गावोऽजाश्चाश्च विज्ञेया हस्तिनः पक्षिणो मृगाः॥ १७ ॥

उपयुक्ताः क्रियास्वेते यज्ञियास्त्विह सर्वशः । यथाक्रमोपभोगाश्च देवानां पशुमूर्तयः ॥ १८ ॥
तेषां रूपानुरूपैश्च प्रमाणैः स्थिरजङ्गमाः । मनोज्ञैस्तत्र तैर्भोगैः सुखिनो ह्युपपेदिरे ॥ १९ ॥

जिसका शरीर पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त नौ बित्ता-(एक सौ आठ अंगुल-)का होता है तथा भुजाएँ जानु-तक लम्बी होती हैं, उसका देवतालोग भी आदर करते हैं । प्रत्येक युगमें गौओं, हाथियों, भैंसों और स्थावर प्राणियोंके शरीरोंका ह्रास एवं वृद्धि इसी क्रमसे जाननी चाहिये । पशु अपने ककुद् (मौर) तक छिहत्तर अंगुल ऊँचा होता है । हाथियोंके शरीरकी ऊँचाई एक सौ आठ अंगुलकी बतलायी जाती है । वृक्षोंकी अधिक-से-अधिक ऊँचाई एक हजार बानबे अंगुलकी होती है । मनुष्यके शरीरका जैसा आकार-प्रकार होता है, वही लक्षण वंशपरम्परावश देवताओंमें भी देखा जाता है । देवताओंका शरीर केवल बुद्धिकी अतिशयतासे युक्त बतलाया जाता है । मानव-शरीरमें बुद्धिकी उतनी अधिकता नहीं रहती । इस प्रकार देवताओं और मानवोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुए जो भाव हैं, वे पशुओं, पक्षियों और स्थावर प्राणियोंके शरीरोंमें भी पाये जाते हैं । गौ, बकरा, घोड़ा, हाथी, पक्षी और मृग—इनका सर्वत्र यज्ञीय कर्मोंमें उपयोग होता है तथा ये पशुमूर्तियाँ क्रमशः देवताओंके उपभोगमें प्रयुक्त होती हैं । उन उपभोक्ता देवताओंके रूप और प्रमाणके अनुरूप ही उन चर-अचर प्राणियोंकी मूर्तियाँ होती हैं । वे उन मनोज्ञ भोगोंका उपयोग करके सुखका अनुभव करते हैं ॥ १०—१९ ॥

अथ सन्तः प्रवक्ष्यामि साधूनथ तदद्य वै ।
ब्राह्मणाः श्रुतिशब्दाश्च देवानां व्यक्तमूर्तयः । सम्पूज्या ब्रह्मणा ह्येतास्तेन सन्तः प्रचक्षते ॥ २० ॥
सामान्येषु च धर्मेषु तथा वैशेषिकेषु च । ब्रह्मक्षत्रविशो युक्ताः श्रौतस्मार्तेन कर्मणा ॥ २१ ॥
वर्णाश्रमेषु युक्तस्य सुखोदर्कस्य स्वर्गतौ । श्रौतस्मार्तो हि यो धर्मो ज्ञानधर्मः स उच्यते ॥ २२ ॥
दिव्यानां साधनात् साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः । कारणात् साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते ॥ २३ ॥
तपसश्च तथारण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः । यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात्॥ २४ ॥
धर्मो धर्मगतिः प्रोक्तः शब्दो ह्येष क्रियात्मकः । कुशलाकुशलौ चैव धर्माधर्मौ ब्रवीत् प्रभुः ॥ २५ ॥
अथ देवाश्च पितरः ऋषयश्चैव मानुषाः । अयं धर्मो ह्ययं नेति ब्रुवते मौनमूर्तिना ॥ २६ ॥
धर्मेति धारणे धातुर्महत्त्वे चैव उच्यते । अधारणेऽमहत्त्वे वाधर्मः स तु निरुच्यते ॥ २७ ॥
तत्रेष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते । अधर्मश्चानिष्टफलं आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ २८ ॥
वृद्धाश्चालोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदाम्भिकाः । सम्यग्विनीता मृदवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते ॥ २९ ॥
धर्मज्ञैर्विहितो धर्मः श्रौतस्मार्तो द्विजातिभिः । दाराग्निहोत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥
स्मार्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युतः ।

अब मैं संतों तथा साधुओंका वर्णन कर रहा हूँ । ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रुतियोंके शब्द—ये भी देवताओंकी निर्देशिका-मूर्तियाँ हैं । अन्तःकरणमें इनके तथा ब्रह्मका संयोग बना रहता है, इसलिये ये संत कहलाते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सामान्य एवं विशेष धर्मोंमें सर्वत्र श्रौत एवं स्मार्त विधिके अनुसार कर्मका आचरण करते हैं । वर्णाश्रम-धर्मोंके पालनमें तत्पर तथा स्वर्ग-प्राप्तिमें सुख माननेवाले लोगोंद्वारा आचरित जो श्रुति एवं स्मृति-सम्बन्धी धर्म है, उसे ज्ञानधर्म कहा जाता है । दिव्य सिद्धियोंकी साधनामें संलग्न तथा गुरुका हितैषी होनेके कारण ब्रह्मचारीको साधु कहते हैं । (अन्य आश्रमोंकी जीविकाका) निमित्त तथा स्वयं साधनामें निरत होनेके कारण गृहस्थ भी साधु कहलाता है । वनमें तपस्या करनेवाला साधु वैखानस नामसे अभिहित होता है । योगकी साधनामें प्रयत्नशील संन्यासीको भी साधु कहते हैं । 'धर्म' शब्द क्रियात्मक है और यह

धर्माचरणमें ही प्रयुक्त होनेवाला कहा गया है। सामर्थ्यशाली भगवान्ने धर्मको कल्याणकारक और अधर्मको अनिष्टकारक बतलाया है तथा देवता, पितर, ऋषि और मानव 'यह धर्म है और यह धर्म नहीं है' ऐसा कहकर मौन धारण कर लेते हैं। 'धृ' धातु धारण करने तथा महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त होती है। अधारण एवं अधर्म शब्दका अर्थ इसके विपरीत है। आचार्यलोग इष्टकी प्राप्ति करानेवाले धर्मका ही उपदेश करते हैं। अधर्म अनिष्ट-फलदायक होता है, इसलिये आचार्यगण उसका उपदेश नहीं करते। जो वृद्ध, निर्लोभ, आत्मज्ञानी, निष्कपट, अत्यन्त विनम्र तथा मृदुल स्वभाववाले होते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है। धर्मके ज्ञाता द्विजातियोंद्वारा श्रौत एवं स्मार्त-धर्मका विधान किया गया है। इनमें दारसम्बन्ध (विवाह), अग्निहोत्र और यज्ञ—ये श्रौत-धर्मके लक्षण हैं तथा यम और नियमोंसे युक्त वर्णाश्रमका आचरण स्मार्त-धर्म कहलाता है ॥ २०—३०½ ॥

पूर्वेभ्यो वेदयित्वेह श्रौतं सप्तर्षयोऽब्रुवन् ॥ ३१ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि वै श्रुतिः। मन्वन्तरस्यातीतस्य स्मृत्वा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३२ ॥

तस्मात्स्मार्तः स्मृतो धर्मो वर्णाश्रमविभागशः। एवं वै द्विविधो धर्मः शिष्टाचारः स उच्यते ॥ ३३ ॥

शिषेर्धातोश्च निष्ठान्ताच्छिष्टशब्दं प्रचक्षते। मन्वन्तरेषु ये शिष्टा इह तिष्ठन्ति धार्मिकाः ॥ ३४ ॥

मनुः सप्तर्षयश्चैव लोकसन्तानकारिणः। तिष्ठन्तीह च धर्मार्थं ताञ्छिष्टान् सम्प्रचक्षते ॥ ३५ ॥

तैः शिष्टैश्चलितो धर्मः स्थाप्यते वै युगे युगे। त्रयी वार्ता दण्डनीतिः प्रजावर्णाश्रमेप्सया ॥ ३६ ॥

शिष्टैराचर्यते यस्मात्पुनश्चैव मनुक्षये। पूर्वैः पूर्वैर्मतत्वाच्च शिष्टाचारः स शाश्वतः ॥ ३७ ॥

दानं सत्यं तपोऽलोभो विद्येज्या पूजनं दमः। अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥

शिष्टा यस्माच्चरन्त्येनं मनुः सप्तर्षयश्च ह। मन्वन्तरेषु सर्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः ॥ ३९ ॥

विज्ञेयः श्रवणाच्छ्रौतः स्मरणात् स्मार्त उच्यते। इज्यावेदात्मकः श्रौतः स्मार्तो वर्णाश्रमात्मकः ॥ ४० ॥

सप्तर्षियोंने पूर्ववर्ती ऋषियोंसे श्रौत-धर्मका ज्ञान प्राप्त करके पुनः उसका उपदेश किया था। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये ब्रह्माके अङ्ग हैं। व्यतीत हुए मन्वन्तरके धर्मोंका स्मरण करके मनुने उनका उपदेश किया है। इसलिये वर्णाश्रमके विभागानुसार प्रयुक्त हुआ धर्म स्मार्त कहलाता है। इस प्रकार श्रौत एवं स्मार्तरूप द्विविध धर्मको शिष्टाचार कहते हैं। 'शिष्' धातुसे निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्ययका संयोग होनेसे 'शिष्ट' शब्द निष्पन्न होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें इस भूतलपर जो धार्मिकलोग वर्तमान रहते हैं, उन्हें शिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार लोककी वृद्धि करनेवाले सप्तर्षि और मनु इस भूतलपर धर्मका प्रचार करनेके लिये स्थित रहते हैं, अतः वे शिष्ट शब्दसे अभिहित होते हैं। वे शिष्टगण प्रत्येक युगमें मार्ग-भ्रष्ट हुए धर्मकी पुनः स्थापना करते हैं। इसीलिये शिष्टगण दूसरे मन्वन्तरमें प्रजाओंके वर्णाश्रम-धर्मको सिद्धिके लिये पुनः वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद), वार्ता (कृषिव्यापार) और दण्डनीतिका आचरण करते हैं। इस प्रकार पूर्वके युगोंमें उपस्थित पूर्वजोंद्वारा अभिमत होनेके कारण यह शिष्टाचार सनातन होता है। दान, सत्य, तपस्या, निर्लोभता, विद्या, यज्ञानुष्ठान, पूजन और इन्द्रियनिग्रह—ये आठ आचरण शिष्टाचारके लक्षण हैं। चूँकि मनु और सप्तर्षि आदि शिष्टगण सभी मन्वन्तरोंमें इस लक्षणके अनुसार आचरण करते हैं, इसलिये इसे शिष्टाचार कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वानुक्रमसे श्रवण किये जानेके कारण श्रुतिसम्बन्धी धर्मको श्रौत जानना चाहिये और स्मरण होनेके कारण स्मृति-प्रतिपादित धर्मको स्मार्त कहा जाता है। श्रौत-धर्म यज्ञ और वेदस्वरूप है तथा स्मार्तधर्म वर्णाश्रम-धर्म-नियामक है ॥ ३१—४० ॥

प्रत्यङ्गानि प्रवक्ष्यामि धर्मस्येह तु लक्षणम् ॥ ४१ ॥
दृष्टानुभूतमर्थं च यः पृष्टो न निगूहते। यथाभूतप्रवादस्तु इत्येतत् सत्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥
ब्रह्मचर्यं तपो मौनं निराहारत्वमेव च। इत्येतत् तपसो रूपं सुघोरं तु दुरासदम् ॥ ४३ ॥
पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा। ऋत्विजां दक्षिणायाश्च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥ ४४ ॥
आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च। वर्तते सततं हृष्टः क्रिया श्रेष्ठा दया स्मृता ॥ ४५ ॥
आक्रुष्टोऽभिहतो यस्तु नाक्रोशेत्प्रहरेदपि। अदुष्टो वाङ्मनःकायैस्तितिक्षा सा क्षमा स्मृता ॥ ४६ ॥
स्वामिना रक्ष्यमाणानामुत्सृष्टानां च सम्भ्रमे। परस्वानामनादानमलोभ इति संज्ञितः ॥ ४७ ॥
मैथुनस्यासमाचारो जल्पनाच्चिन्तनात्तथा। निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं च तदेतच्छमलक्षणम् ॥ ४८ ॥

अब मैं धर्मके प्रत्येक अङ्गका लक्षण बतला रहा हूँ। देखे तथा अनुभव किये हुए विषयके पूछे जानेपर उसे न छिपाना, अपितु घटित हुएके अनुसार यथार्थ कह देना—यह सत्यका लक्षण है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मौनावलम्बन और निराहार रहना—ये तपस्याके लक्षण हैं, जो अत्यन्त भीषण एवं दुष्कर हैं। जिसमें पशु, द्रव्य, हवि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ऋत्विज् तथा दक्षिणाका संयोग होता है, उसे यज्ञ कहते हैं। जो अपनी ही भाँति समस्त प्राणियोंके प्रति उनके हित तथा मङ्गलके लिये निरन्तर हर्षपूर्वक व्यवहार करता है, उसकी वह श्रेष्ठ क्रिया दया कहलाती है। जो निन्दित होनेपर बदलेमें निन्दककी निन्दा नहीं करता तथा आघात किये जानेपर भी बदलेमें उसपर प्रहार नहीं करता, अपितु मन, वचन और शरीरसे प्रतीकारकी भावनासे रहित हो उसे सहन कर लेता है, उसकी उस क्रियाको क्षमा कहते हैं। स्वामीद्वारा रक्षाके लिये दिये गये तथा घबराहटमें छूटे हुए परकीय धनको न ग्रहण करना निर्लोभ नामसे कहा जाता है। मैथुनके विषयमें सुनने, कहने तथा चिन्तन करनेसे निवृत्त रहना ब्रह्मचर्य है और यही शमका लक्षण है॥

आत्मार्थे वा परार्थे वा इन्द्रियाणीह यस्य वै। विषये न प्रवर्तन्ते दमस्यैतत्तु लक्षणम् ॥ ४९ ॥
पञ्चात्मके यो विषये कारणे चाष्टलक्षणे। न क्रुध्येत प्रतिहतः स जितात्मा भविष्यति ॥ ५० ॥
यद्यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनैवागतं च यत्। तत्तद् गुणवते देयमित्येतद् दानलक्षणम् ॥ ५१ ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितो धर्मो वर्णाश्रमात्मकः। शिष्टाचारप्रवृत्तश्च धर्मोऽयं साधुसम्मतः ॥ ५२ ॥
अप्रद्वेष्यो ह्यनिष्टेषु इष्टं वै नाभिनन्दति। प्रीतितापविषादानां विनिवृत्तिर्विरक्तता ॥ ५३ ॥
संन्यासः कर्मणां न्यासः कृतानामकृतैः सह। कुशलाकुशलाभ्यां तु प्रहाणं न्यास उच्यते ॥ ५४ ॥
अव्यक्तादिविशेषान्ते विकारेऽस्मिन्निवर्तते। चेतनाचेतनं ज्ञात्वा ज्ञाने ज्ञानी स उच्यते ॥ ५५ ॥
प्रत्यङ्गानि तु धर्मस्य चेत्येतल्लक्षणं स्मृतम्। ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैः पूर्वे स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ५६ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ अपने अथवा परायेके हितके लिये विषयोंमें नहीं प्रवृत्त होतीं, यह दमका लक्षण है। जो पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषयों तथा आठ प्रकारके कारणोंमें बाधित होनेपर भी क्रोध नहीं करता, वह जितात्मा कहलाता है। जो-जो पदार्थ अपनेको अभीष्ट हों तथा न्यायद्वारा उपार्जित किये गये हो, उन्हें गुणी व्यक्तिको दे देना—यह दानका लक्षण है। जो धर्म श्रुतियों एवं स्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमके आचारसे युक्त तथा शिष्टाचारद्वारा परिवर्धित होता है, वही साधु-सम्मत धर्म कहलाता है। अनिष्टके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष न करना, इष्टकी प्राप्तिपर उसका अभिनन्दन न करना तथा प्रेम, संताप और विषादसे विशेषतया निवृत्त हो जाना—यह विरक्ति-(वैराग्य-) का लक्षण है। किये हुए कर्मोंका न किये गये कर्मोंके साथ त्याग कर देना अर्थात् कृत-अकृत दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग संन्यास कहलाता है तथा कुशल (शुभ)

और अकुशल (अशुभ)—दोनोंके परित्यागको न्यास कहते हैं । जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर अव्यक्तसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी प्रकारके विकार निवृत्त हो जाते हैं तथा चेतन और अचेतनका ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे युक्त प्राणीको ज्ञानी कहते हैं । स्वायम्भुव मन्वन्तरमें धर्मतत्त्वके ज्ञाता पूर्वकालीन ऋषियोंने धर्मके प्रत्येक अङ्गका यही लक्षण बतलाया है ॥ ४९—५६ ॥

अत्र वो वर्णयिष्यामि विधिं मन्वन्तरस्य तु । तथैव चातुर्होत्रस्य चातुर्वर्ण्यस्य चैव हि ॥ ५७ ॥
प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते । ऋचो यजूंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम् ॥ ५८ ॥
विधिहोत्रं तथा स्तोत्रं पूर्ववत् सम्प्रवर्तते । द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च ॥ ५९ ॥
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेवं चतुर्विधम् । मन्वन्तरेषु सर्वेषु यथाभेदा भवन्ति हि ॥ ६० ॥
प्रवर्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्तोत्रं पुनः पुनः । एवं मन्त्रगुणानां तु समुत्पत्तिश्चतुर्विधम् ॥ ६१ ॥
अथर्वऋग्यजुःसाम्नां वेदेष्विह पृथक् पृथक् । ऋषीणां तप्यतां तेषां तपः परमदुश्चरम् ॥ ६२ ॥
मन्त्राः प्रादुर्भवन्त्यादौ पूर्वमन्वन्तरस्य ह । असंतोषाद् भयाद् दुःखान्मोहाच्छोकाच्च पञ्चधा ॥ ६३ ॥
ऋषीणां तारका येन लक्षणेन यदृच्छया । ऋषीणां यादृशत्वं हि तद् वक्ष्यामीह लक्षणम् ॥ ६४ ॥
व्यतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षकं स्मृतम् । तथा ऋषीणां वक्ष्यामि आर्षस्येह समुद्भवम् ॥ ६५ ॥
गुणसाम्येन वर्तन्ते सर्वसम्प्रलये तदा । अविभागेन देवानामनिर्देश्यतमोमये ॥ ६६ ॥
अबुद्धिपूर्वकं तद् वै चेतनार्थं प्रवर्तते । तेनार्षं बुद्धिपूर्वं तु चेतनेनाप्यधिष्ठितम् ॥ ६७ ॥
प्रवर्तते तथा ते तु यथा मत्स्योदकावुभौ । चेतनाधिकृतं सर्वं प्रावर्तत गुणात्मकम् ।

अब मैं आपलोगोंसे मन्वन्तरमें होनेवाले चारों वर्णोंके चातुर्होत्रकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ । प्रत्येक मन्वन्तरमे विभिन्न प्रकारकी श्रुतिका विधान होता है, किंतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये तीनों वेद देवताओंसे संयुक्त रहते हैं । अग्निहोत्रकी विधि तथा स्तोत्र पूर्ववत् चलते रहते हैं । द्रव्यस्तोत्र, गुणस्तोत्र, कर्मस्तोत्र और अभिजनस्तोत्र—ये चार प्रकारके स्तोत्र होते हैं तथा सभी मन्वन्तरोंमें कुछ भेदसहित प्रकट होते हैं । उन्हींसे ब्रह्मस्तोत्रकी बारंबार प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार मन्त्रोंके गुणोंकी समुत्पत्ति चार प्रकारकी होती है, जो अथर्व, ऋक्, यजुः और साम—इन चारों वेदोंमें पृथक्-पृथक् प्राप्त होती है । पूर्व मन्वन्तरके आदिमें परम दुष्कर तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंके अन्तःकरणमें ये मन्त्र प्रादुर्भूत होते हैं । ये असंतोष, भय, कष्ट, मोह और शोकरूप पाँच प्रकारके कष्टोंसे ऋषियोंकी रक्षा करते हैं । अब ऋषियोंका जैसा लक्षण, जैसी इच्छा तथा जैसा व्यक्तित्व होता है, उसका लक्षण बतला रहा हूँ । भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन ऋषियोंमें आर्ष शब्दका प्रयोग पाँच प्रकारसे होता है । अब मैं आर्ष शब्दकी उत्पत्ति बतला रहा हूँ । समस्त महाप्रलयोंके समय जब सारा जगत् घोर अन्धकारसे आच्छादित हो जाता है, उस समय देवताओंका कोई विभाग नहीं रह जाता । तीनों गुण अपनी साम्यावस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब जो बिना ज्ञानका सहारा लिये चेतनताको प्रकट करनेके लिये प्रवृत्त होता है, उस चेतनाधिष्ठित ज्ञानयुक्त कर्मको आर्ष कहते हैं । वे मत्स्य और उदककी भाँति आधाराधेयरूपसे प्रवृत्त होते हैं । तब सारा त्रिगुणात्मक जगत् चेतनासे युक्त हो जाता है ॥ ५७—६७½ ॥

कार्यकारणभावेन तथा तस्य प्रवर्तते ॥ ६८ ॥
विषयो विषयित्वं च तथा ह्यर्थपदात्मकौ । कालेन प्रापणीयेन भेदाश्च कारणात्मकाः ॥ ६९ ॥
सांसिद्धिकास्तदा वृत्ताः क्रमेण । ... भूतेन्द्रियाणि च ॥ ७० ॥
भूतभेदाश्च भूतेभ्यो जज्ञिरे ... कार्यं सद्य एव विवर्तते ॥ ७१ ॥

यथोल्मुकात् तु विटपा एककालाद् भवन्ति हि । तथा प्रवृत्ताः क्षेत्रज्ञाः कालेनैकेन कारणात् ॥ ७२ ॥
यथान्धकारे खद्योतः सहसा सम्प्रदृश्यते । तथा निवृत्तो ह्यव्यक्तः खद्योत इव सञ्ज्वलन् ॥ ७३ ॥
स महात्मा शरीरस्थस्तत्रैव परिवर्तते । महतस्तमसः पारे वैलक्षण्याद् विभाव्यते ॥ ७४ ॥
तत्रैव संस्थितो विद्वांस्तपसोऽन्त इति श्रुतम् । बुद्धिर्विवर्धतस्तस्य प्रादुर्भूता चतुर्विधा ॥ ७५ ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्चेति चतुष्टयम् । सांसिद्धिकान्यथैतानि अप्रतीतानि तस्य वै ॥ ७६ ॥
महात्मनः शरीरस्य चैतन्यात् सिद्धिरुच्यते । पुरि शेते यतः पूर्वं क्षेत्रज्ञानं तथापि च ॥ ७७ ॥
पुरे शयानात् पुरुषः ज्ञानात् क्षेत्रज्ञ उच्यते । यस्माद् धर्मात् प्रसूते हि तस्माद् वै धार्मिकः स्मृतः ॥ ७८ ॥
सांसिद्धिके शरीरे च बुद्ध्याव्यक्तस्तु चेतनः । एवं विवृत्तः क्षेत्रज्ञः क्षेत्रं ह्यनभिसंधितः ॥ ७९ ॥
निवृत्तिसमकाले तु पुराणं तदचेतनम् । क्षेत्रज्ञेन परिज्ञातं भोग्योऽयं विषयो मम ॥ ८० ॥

उस जगत्‌की प्रवृत्ति कार्य-कारण-भावसे उसी प्रकार होती है, जैसे विषय और विषयित्व तथा अर्थ और पद परस्पर घुले-मिले रहते हैं । प्राप्त हुए कालके अनुसार कारणात्मक भेद उत्पन्न हो जाते हैं । तब क्रमशः महत्तत्त्व आदि प्राकृतिक तत्त्व प्रकट होते हैं । उस महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे भूतेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है । तत्पश्चात् उन भूतोंसे परस्पर अनेकों प्रकारके भूत उत्पन्न होते हैं । तब प्रकृतिका कारण तुरंत ही कार्य-रूपमे परिणत हो जाता है । जैसे एक ही उल्मुक—मशालसे एक ही साथ अनेकों वृक्ष प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही कारणसे एक ही समय अनेकों क्षेत्रज्ञ—जीव प्रकट हो जाते हैं । जैसे घने अन्धकारमें सहसा जुगनू चमक उठता है, वैसे ही जुगनूकी तरह चमकता हुआ अव्यक्त प्रकट हो जाता है । वह महात्मा अव्यक्त शरीरमें ही स्थित रहता है और महान् अन्धकारको पार करके बड़ी विलक्षणतासे जाना जाता है । वह विद्वान् अव्यक्त अपनी तपस्याके अन्त समयतक वहीं स्थित रहता है, ऐसा सुना जाता है । वृद्धिको प्राप्त होते हुए उस अव्यक्तके हृदयमें चार प्रकारकी बुद्धि प्रादुर्भूत होती है । उन चारोंके नाम हैं—ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म । उस अव्यक्तके ये प्राकृतिक कर्म अगम्य हैं । महात्मा अव्यक्तके शरीरके चैतन्यसे सिद्धिका प्रादुर्भाव बतलाया जाता है । चूँकि वह पहले-पहल शरीरमें शयन करता है तथा उसे क्षेत्रका ज्ञान प्राप्त रहता है, इसलिये वह शरीरमें शयन करनेसे पुरुष और क्षेत्रका ज्ञान होनेसे क्षेत्रज्ञ कहलाता है । चूँकि वह धर्मसे उत्पन्न होता है, इसलिये उसे धार्मिक भी कहते हैं । प्राकृतिक शरीरमें बुद्धिका संयोग होनेसे वह अव्यक्त चेतन कहलाता है तथा क्षेत्रसे कोई प्रयोजन न होनेपर भी उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । निवृत्तिके समय क्षेत्रज्ञ उस अचेतन पुराणपुरुषको जानता है कि यह मेरा भोग्य विषय है ॥ ६८—८० ॥

ऋषिर्हिंसागतौ धातुर्विद्या सत्यं तपः श्रुतम् । एष संनिचयो यस्माद् ब्रह्मणस्तु ततस्त्वृषिः ॥ ८१ ॥
निवृत्तिसमकालाच्च बुद्ध्याव्यक्त ऋषिस्त्वयम् । ऋषते परमं यस्मात् परमर्षिस्ततः स्मृतः ॥ ८२ ॥
गत्यर्थाद् ऋषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिकारणम् । यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता मता ॥ ८३ ॥
सेश्वराः स्वयमुद्भूता ब्रह्मणो मानसाः सुताः । निवर्तमानैस्तैर्बुद्ध्या महान् परिगतः परः ॥ ८४ ॥
यस्मादृषिर्महत्त्वेन ज्ञेयास्तस्मान्महर्षयः । ईश्वराणां सुतास्तेषां मानसाश्चौरसाश्च वै ॥ ८५ ॥
ऋषिस्तस्मात् परत्वेन भूतादिऋर्षयस्ततः । ऋषिपुत्रा ऋषीकास्तु मैथुनाद् गर्भसम्भवाः ॥ ८६ ॥
परत्वेन ऋषन्ते वै भूतादीन् ऋषिकास्ततः । ऋषीकाणां सुता ये तु विज्ञेया ऋषिपुत्रकाः ॥ ८७ ॥
श्रुत्वा ऋषं परत्वेन श्रुतास्तस्माच्छ्रुतर्षयः । अव्यक्तात्मा महात्मा वाहङ्कारात्मा तथैव च ॥ ८८ ॥
भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च तेषां तज्ज्ञानमुच्यते ।

'ऋषि' धातुका हिंसा और गति-अर्थमे प्रयोग होता है। इसीसे 'ऋषि' शब्द निष्पन्न हुआ है। चूँकि उसे ब्रह्मासे विद्या, सत्य, तप, शास्त्र-ज्ञान आदि समूहोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये उसे ऋषि कहते हैं। यह अव्यक्त ऋषि निवृत्तिके समय जब बुद्धि-बलसे परम-पदको प्राप्त कर लेता है, तब वह परमर्षि कहलाता है। गत्यर्थक* 'ऋषी' धातुसे ऋषिनामकी निष्पत्ति होती है तथा वह स्वयं उत्पन्न होता है, इसलिये उसकी ऋषिता मानी गयी है। ब्रह्माके मानस पुत्र ऐश्वर्यशाली वे ऋषि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। निवृत्तिमार्गमें लगे हुए वे ऋषि बुद्धिबलसे परम महान् पुरुषको प्राप्त कर लेते है। चूँकि वे ऋषि महान् पुरुषत्वसे युक्त रहते है, इसलिये महर्षि कहे जाते हैं। उन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंको जो मानस एवं औरस पुत्र हुए, वे ऋषिपरक होनेके कारण प्राणियोंमें सर्वप्रथम ऋषि कहलाये। मैथुनद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषि-पुत्रोंको ऋषिक कहा जाता है। चूँकि ये जीवोंको ब्रह्मपरक बनाते हैं, इसलिये इन्हे ऋषिक कहा जाता है। ऋषिकके पुत्रोंको ऋषि-पुत्रक जानना चाहिये। वे दूसरेसे ऋषिधर्मको सुनकर ज्ञानसम्पन्न होते हैं, इसलिये श्रुतर्षि कहलाते हैं। उनका वह ज्ञान अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा और इन्द्रियात्मा कहलाता है ॥ ८१–८८½ ॥

इत्येवमृषिजातिस्तु पञ्चधा नाम विश्रुता ॥ ८९ ॥
भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चापि ते दश ॥ ९० ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः। परत्वेनर्षयो यस्मान्मतास्तस्मान्महर्षयः ॥ ९१ ॥
ईश्वराणां सुतास्त्वेषामृषयस्तान् निबोधत। काव्यो बृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यवनस्तथा ॥ ९२ ॥
उतथ्यो वामदेवश्च अगस्त्यः कौशिकस्तथा। कर्दमो बालखिल्याश्च विश्रवाः शक्तिवर्धनः ॥ ९३ ॥
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषितां गताः। तेषां पुत्रानृषीकांस्तु गर्भोत्पन्नान् निबोधत ॥ ९४ ॥
वत्सरो नग्नहूश्चैव भरद्वाजश्च वीर्यवान्। ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव बृहद्वक्षाः शरद्वतः ॥ ९५ ॥
वाजिश्रवाः सुचिन्तश्च शावश्च सपराशरः। श्रृङ्गी च शङ्खपाच्चैव राजा वैश्रवणस्तथा ॥ ९६ ॥
इत्येते ऋषिकाः सर्वे सत्येन ऋषितां गताः। ईश्वरा ऋषयश्चैव ऋषीका ये च विश्रुताः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार ऋषिजाति पाँच प्रकारसे विख्यात है। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस ऐश्वर्यशाली ऋषि ब्रह्माके मानस पुत्र हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। ये ऋषिगण ब्रह्मपरत्वसे युक्त हैं, इसलिये महर्षि माने गये हैं। अब इन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंके पुत्ररूप जो ऋषि हैं, उन्हें सुनिये। काव्य (शुक्राचार्य), बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, कौशिक, कर्दम, बालखिल्य, विश्रवा और शक्तिवर्धन—ये सभी ऋषि कहलाते हैं, जो अपने तपोबलसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। अब इन ऋषियोंद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषीक नामक पुत्रोंको सुनिये। वत्सर, नग्नहू, पराक्रमी भरद्वाज, दीर्घतमा, बृहद्वक्षा, शरद्वान्, वाजिश्रवा, सुचिन्त, शाव, पराशर, श्रृङ्गी, शङ्खपाद् और राजा वैश्रवण—ये सभी ऋषिक हैं और सत्यके प्रभावसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार जो ईश्वर (परमर्षि एवं महर्षि), ऋषि और ऋषिक नामसे विख्यात हैं, उनका वर्णन किया गया ॥ ८९–९७ ॥

एवं मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशश्च निबोधत। भृगुः काश्यः प्रचेता च दधीचो ह्यात्मवानपि ॥ ९८ ॥
ऊर्वोऽथ जमदग्निश्च वेदः सारस्वतस्तथा। आर्ष्टिषेणश्च्यवनश्च वीतहव्यः सवेधसः ॥ ९९ ॥
वैण्यः पृथुर्दिवोदासो ब्रह्मवान् गृत्सशौनकौ। एकोनविंशतिर्ह्येते भृगवो मन्त्रकृत्तमाः ॥१००॥
अङ्गिराश्चैव त्रितश्च भरद्वाजोऽथ लक्ष्मणः। कृतवाचस्तथा गर्गः स्मृतिसङ्कृतिरेव च ॥१०१॥

* गतिके ज्ञान, मोक्ष और गमन यहाँ तीनों अर्थ विवक्षित हैं।

गुरुवीतश्च मान्धाता अम्बरीषस्तथैव च । युवनाश्वः पुरुकुत्सः स्वश्रवस्तु सदस्यवान् ॥१०२॥
अजमीढोऽस्वहार्यश्च ह्युत्कलः कविरेव च । पृषदश्वो विरूपश्च काव्यश्चैवाथ मुद्गलः ॥१०३॥
उतथ्यश्च शरद्वांश्च तथा वाजिश्रवा अपि । अपस्यौषः सुचित्तिश्च वामदेवस्तथैव च ॥१०४॥
ऋषिजो बृहच्छुक्लश्च ऋषिर्दीर्घतमा अपि । कक्षीवांश्च त्रयस्त्रिंशत् स्मृता ह्यङ्गिरसां वराः ॥१०५॥
एते मन्त्रकृतः सर्वे काश्यपांस्तु निबोधत । कश्यपः सहवत्सारो नैध्रुवो नित्य एव च ॥१०६॥
असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिनः । अत्रिरर्धस्वनश्चैव शावास्योऽथ गविष्ठिरः ॥१०७॥
कर्णकश्च ऋषिः सिद्धस्तथा पूर्वातिथिश्च यः ॥१०८॥
इत्येते त्वत्रयः प्रोक्ता मन्त्रकृत् षण्महर्षयः । वसिष्ठश्चैव शक्तिश्च तृतीयश्च पराशरः ॥१०९॥
ततस्तु इन्द्रप्रमितः पञ्चमस्तु भरद्वसुः । षष्ठस्तु मित्रवरुणः सप्तमः कुण्डिनस्तथा ॥११०॥
इत्येते सप्त विज्ञेया वासिष्ठा ब्रह्मवादिनः ।

इसी प्रकार अब सभी मन्त्रकर्ता ऋषियोंका नाम पूर्णतया सुनिये । भृगु, काश्यप, प्रचेता, दधीचि, आत्मवान्, उर्व, जमदग्नि, वेद, सारस्वत, आर्ष्टिषेण, च्यवन, वीतिहव्य, वेधा, वैण्य, पृथु, दिवोदास, ब्रह्मवान्, गृत्स और शौनक—ये उन्नीस भृगुवंशी ऋषि मन्त्रकर्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । अङ्गिरा, त्रित, भरद्वाज, लक्ष्मण, कृतवाच, गर्ग, स्मृति, संकृति, गुरुवीत, मान्धाता, अम्बरीष, युवनाश्व, पुरुकुत्स, स्वश्रव, सदस्यवान्, अजमीढ, अस्व-हार्य, उत्कल, कवि, पृषदश्व, विरूप, काव्य, मुद्गल, उतथ्य, शरद्वान्, वाजिश्रवा, अपस्यौष, सुचित्ति, वामदेव, ऋषिज, बृहच्छुक्ल, दीर्घतमा और कक्षीवान्—ये तैंतीस श्रेष्ठ ऋषि अङ्गिरागोत्रीय कहे जाते हैं । ये सभी मन्त्रकर्ता हैं । अब कश्यपवंशमें उत्पन्न होनेवाले ऋषियोंके नाम सुनिये । कश्यप, सहवत्सार, नैध्रुव, नित्य, असित और देवल—ये छः ब्रह्मवादी ऋषि हैं । अत्रि, अर्धस्वन, शावास्य, गविष्ठिर, सिद्धर्षि कर्णक और पूर्वातिथि—ये छः मन्त्रकर्ता महर्षि अत्रि-वंशोत्पन्न कहे गये हैं । वसिष्ठ, शक्ति, तीसरे पराशर, इन्द्रप्रमित, पाँचवें भरद्वसु, छठे मित्रावरुण तथा सातवें कुण्डिन—इन सात ब्रह्मवादी ऋषियोंको वसिष्ठवंशोत्पन्न जानना चाहिये ॥

विश्वामित्रश्च गाधेयो देवरातस्तथा बलः ॥१११॥
तथा विद्वान् मधुच्छन्दा ऋषिश्चान्योऽघमर्षणः । अष्टको लोहितश्चैव भृतकीलस्तथाम्बुधिः ॥११२॥
देवश्रवा देवरातः पुराणश्च धनंजयः । शिशिरश्च महातेजाः शालङ्कायन एव च ॥११३॥
त्रयोदशैते विज्ञेया ब्रह्मिष्ठाः कौशिका वराः । अगस्त्योऽथ दृढद्युम्नो इन्द्रबाहुस्तथैव च ॥११४॥
ब्रह्मिष्ठागस्तयो ह्येते त्रयः परमकीर्तयः । मनुर्वैवस्वतश्चैव ऐलो राजा पुरूरवाः ॥११५॥
क्षत्रियाणां वरौ ह्येतौ विज्ञेयौ मन्त्रवादिनौ । भलन्दकश्च वासाश्वः संकीलश्चैव ते त्रयः ॥११६॥
एते मन्त्रकृतो ज्ञेया वैश्यानां प्रवराः सदा । इति द्विनवतिः प्रोक्ता मन्त्रा यैश्च बहिष्कृताः ॥११७॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषिपुत्रान् निबोधत । ऋषीकाणां सुता ह्येते ऋषिपुत्राः श्रुतर्षयः ॥११८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरकल्पवर्णनो नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

गाधि-नन्दन विश्वामित्र, देवरात, बल, विद्वान् मधुच्छन्दा, अघमर्षण, अष्टक, लोहित, भृतकील, अम्बुधि, देवपरायण देवरात, प्राचीन ऋषि धनंजय, शिशिर तथा महान् तेजस्वी शालंकायन—इन तेरहोंको कौशिक-वंशोत्पन्न ब्रह्मवादी ऋषि समझना चाहिये । अगस्त्य, दृढद्युम्न तथा इन्द्रबाहु—ये तीनों परम यशस्वी ब्रह्मवादी ऋषि अगस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हैं । विवस्वान्-पुत्र मनु तथा इला-नन्दन राजा पुरूरवा—क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न हुए इन दोनों राजर्षियोंको मन्त्रवादी जानना चाहिये । भलन्दक, वासाश्व और संकील—वैश्योंमें श्रेष्ठ इन तीनोंको मन्त्रकर्ता समझना चाहिये । इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-कुलमें उत्पन्न हुए

वानवे ऋषियोंका वर्णन किया गया, जिन्होंने मन्त्रोंको प्रकट किया है। अब ऋषि-पुत्रोंके विषयमें सुनिये। ये ऋषिपुत्र जो श्रुतर्षि कहलाते हैं, ऋषियोंके पुत्र हैं ॥ १११–११८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरकल्पवर्णन नामक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४५ ॥

एक सौ छियालीसवाँ अध्याय

वज्राङ्गकी उत्पत्ति, उसके द्वारा इन्द्रका बन्धन, ब्रह्मा और कश्यपद्वारा समझाये जानेपर इन्द्रको बन्धनमुक्त करना, वज्राङ्गका विवाह, तप तथा ब्रह्माद्वारा वरदान

ऋषय ऊचुः

कथं मत्स्येन कथितस्तारकस्य वधो महान्। कस्मिन् काले विनिर्वृत्ता कथेयं सूतनन्दन ॥ १ ॥
त्वन्मुखक्षीरसिन्धूत्था कथेयममृतात्मिका। कर्णाभ्यां पिबतां तृप्तिरस्माकं न प्रजायते ॥
इदं मुने समाख्याहि महाबुद्धे मनोगतम् ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन ! मत्स्यभगवान्ने तारकासुरके वधरूप महान् कार्यका वर्णन किस प्रकार किया था? यह कथा किस समय कही गयी थी? मुने! आपके मुखरूपी क्षीरसागरसे उद्भूत हुई इस अमृतरूपिणी कथाका दोनों कानोंद्वारा पान करते हुए भी हमलोगोंको तृप्ति नहीं हो रही है। अतः महाबुद्धिमान् सूतजी! आप हमलोगोंके इस मनोऽभिलषित विषयका वर्णन कीजिये ॥ १–२ ॥

सूत उवाच

पृष्टस्तु मनुना देवो मत्स्यरूपी जनार्दनः। कथं शरवणे जातो देवः षड्वदनो विभो ॥ ३ ॥
एतत्तु वचनं श्रुत्वा पार्थिवस्यामितौजसः। उवाच भगवान् प्रीतो ब्रह्मसूनुर्महामतिम् ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! (प्राचीन कालकी बात है) राजर्षि मनुने मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णुसे प्रश्न किया—'विभो! षडानन स्वामिकार्तिकका जन्म सरपतके वनमें कैसे हुआ था?' उन अमिततेजस्वी राजर्षि मनुका प्रश्न सुनकर महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र भगवान् मत्स्य प्रसन्नतापूर्वक बोले ॥ ३–४ ॥

मत्स्य उवाच

वज्राङ्गो नाम दैत्योऽभूत् तस्य पुत्रस्तु तारकः। सुरानुद्वासयामास पुरेभ्यः स महाबलः ॥ ५ ॥
ततस्ते ब्रह्मणोऽभ्याशं जग्मुर्भयनिपीडिताः। भीतांश्च त्रिदशान् दृष्ट्वा ब्रह्मा तेषामुवाच ह ॥ ६ ॥
संत्यजध्वं भयं देवाः शंकरस्यात्मजः शिशुः। तुहिनाचलदौहित्रस्तं हनिष्यति दानवम् ॥ ७ ॥
ततः काले तु कस्मिंश्चिद् दृष्ट्वा वै शैलजां शिवः। स्वरेतो वह्निवदने व्यसृजत् कारणान्तरे ॥ ८ ॥
तत् प्राप्तं वह्निवदने रेतो देवानतर्पयत्। विदार्य जठराण्येषामजीर्णं निर्गतं मुने ॥ ९ ॥
पतितं तत् सरिद्वरां ततस्तु शरकानने। तस्मात्तु स समुद्भूतो गुहो दिनकरप्रभः ॥ १० ॥
स सप्तदिवसो बालो निजघ्ने तारकासुरम्। एवं श्रुत्वा ततो वाक्यं तमूचुर्ऋषिसत्तमाः ॥ ११ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! (बहुत पहले) वज्राङ्ग नामका एक दैत्य उत्पन्न हुआ है, उसके पुत्रका नाम तारक था। उस महाबली तारकने देवताओंको उनके नगरोंसे निकालकर खदेड़ दिया। तब भयभीत हुए वे सभी देवगण ब्रह्माके निकट गये। उन देवताओंको डरा देखकर ब्रह्माने उनसे कहा—'देववृन्द! भय छोड़ दो। (शीघ्र ही) भगवान् शंकरके एक औरस पुत्र हिमाचलका दौहित्र (नाती) उत्पन्न होगा,

जो उस दानवका वध करेगा।' तदनन्तर किसी समय पार्वतीको देखकर शिवजीका वीर्य स्खलित हो गया, तब उन्होंने उसे किसी भावी कारणवश अग्निके मुखमें गिरा दिया। अग्निके मुखमें पड़े हुए उस वीर्यने देवताओंको तृप्त कर दिया, किंतु पच न सकनेके कारण वह उनके उदरको फाड़कर बाहर निकल पड़ा और नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गामें जा गिरा। फिर वहाँसे वह बहते हुए सरपतके वनमें जा लगा। उसीसे सूर्यके समान तेजस्वी गुह उत्पन्न हुए। उसी सात दिवसीय बालकने तारकासुरका वध किया। ऐसी अद्भुत बात सुनकर उन श्रेष्ठ ऋषियोंने पुनः सूतजीसे प्रश्न किया ॥ ५-११ ॥

ऋषय ऊचुः

अत्याश्चर्यवती रम्या कथेयं पापनाशिनी। विस्तरेण हि नो ब्रूहि याथातथ्येन शृण्वताम् ॥ १२ ॥
वज्राङ्गो नाम दैत्येन्द्रः कस्य वंशोद्भवः पुरा। यस्याभूत् तारकः पुत्रः सुरप्रमथनो बली ॥ १३ ॥
निर्मितः को वधे चाभून् तस्य दैत्येश्वरस्य तु। गुहजन्म तु कार्त्स्न्येन अस्माकं ब्रूहि मानद ॥ १४ ॥

ऋषियोंने पूछा—सबको मान देनेवाले सूतजी! यह कथा तो अत्यन्त आश्चर्यसे परिपूर्ण, रमणीय और पापनाशिनी है। हमलोग इसे सुनना चाहते हैं, अतः आप हमलोगोंको इसे यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक बतलाइये। पूर्वकालमें देवताओंका मान मर्दन करनेवाला महाबली तारक जिसका पुत्र था, वह दैत्यराज वज्राङ्ग किसके वंशमें उत्पन्न हुआ था? उस दैत्यराजके वधके लिये कौन-सा कारण निर्मित हुआ था? यह सब तथा गुहके जन्मकी कथा हमलोगोंको पूर्णरूपसे बतलाइये ॥ १२-१४ ॥

सूत उवाच

मानसो ब्रह्मणः पुत्रो दक्षो नाम प्रजापतिः। षष्टिं सोऽजनयत् कन्या वैरिण्यामेव नः श्रुतम् ॥ १५ ॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश। सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमये ॥ १६ ॥
द्वे चैव बाहुकपुत्राय द्वे वै चाङ्गिरसे तथा। द्वे कृशाश्वाय विदुषे प्रजापतिसुतः प्रभुः ॥ १७ ॥
अदितिर्दितिर्दनुर्विश्वा ह्यरिष्टा सुरसा तथा। सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा ॥ १८ ॥
कद्रूर्मुनिश्च लोकस्य मातरो गोषु मातरः। तासां सकाशाल्लोकानां जङ्गमस्थावरात्मनाम् ॥ १९ ॥
जन्म नानाप्रकाराणां ताभ्योऽन्ये देहिनः स्मृताः। देवेन्द्रोपेन्द्रपूषाद्याः सर्वे तेऽदितिजा मताः ॥ २० ॥
दितेः सकाशाल्लोकास्तु हिरण्यकशिपादयः। दानवाश्च दनोः पुत्रा गावश्च सुरभीसुताः ॥ २१ ॥
पक्षिणो विनतापुत्रा गरुडप्रमुखाः स्मृताः। नागाः कद्रूसुता ज्ञेयाः शेषाश्चान्येऽपि जन्तवः ॥ २२ ॥
त्रैलोक्यनाथं शक्रं तु सर्वामरगणप्रभुम्। हिरण्यकशिपुश्चक्रे जित्वा राज्यं महाबलः ॥ २३ ॥
ततः केनापि कालेन हिरण्यकशिपादयः। निहता विष्णुना संख्ये शेषाश्चेन्द्रेण दानवाः ॥ २४ ॥
ततो निहतपुत्राभूद् दितिर्वरमयाचत। भर्तारं कश्यपं देवं पुत्रमन्यं महाबलम् ॥ २५ ॥
समरे शक्रहन्तारं स तस्या अददात् प्रभुः ॥ २६ ॥
नियमं वर्त हे देवि सहस्रं शुचिमानसा। वर्षाणां लप्स्यसे पुत्रमित्युक्ता सा तथाकरोत् ॥ २७ ॥
वर्तन्त्या नियमे तस्याः सहस्राक्षः समाहितः। उपासामाचरत् तस्याः सा चैनमन्वमन्यत ॥ २८ ॥
दशवत्सरशेषस्य सहस्रस्य तदा दितिः। उवाच शक्रं सुप्रीता वरदा तपसि स्थिता ॥ २९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! ब्रह्माके मानस पुत्र प्रजापति दक्षने वीरिणीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न की थीं, ऐसा हमने सुना है। उन ब्रह्मपुत्र सामर्थ्यशाली दक्षने उन कन्याओंमेंसे दस धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताईस चन्द्रमाको, चार अरिष्टनेमिको, दो बाहुक-पुत्रको, दो अङ्गिराको तथा दो विद्वान् कृशाश्वको समर्पित कर दी थीं। अदिति, दिति, दनु, विश्वा, अरिष्टा, सुरसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रू

*

और मुनि—ये तेरह लोकमाताएँ कश्यपकी पत्नियाँ थीं। इन्हींसे पशुओंकी भी उत्पत्ति हुई है। इन्हींसे स्थावर-जङ्गमरूप नाना प्रकारके प्राणियोंका जन्म हुआ है। देवेन्द्र, उपेन्द्र और सूर्य आदि सभी देवता अदितिसे उत्पन्न माने जाते हैं। दितिके गर्भसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्यगण उत्पन्न हुए। दनुके दानव और गौ आदि पशु सुरभीके संतान हुए। गरुड आदि पक्षी विनताके पुत्र कहे जाते हैं। नागों तथा अन्य रेंगनेवाले जन्तुओंको कद्रूकी संतति समझना चाहिये। कुछ समय बाद हिरण्यकशिपु समस्त देवगणोंके स्वामी त्रिलोकी नाथ इन्द्रको जीतकर राज्य करने लगा। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर हिरण्यकशिपु आदि दैत्यगण भगवान् विष्णुके हाथों मारे गये तथा शेष दानवोंका इन्द्रने युद्धस्थलमें सफाया कर दिया। इस प्रकार जब दितिके सभी पुत्र मार डाले गये, तब उसने अपने पतिदेव महर्षि कश्यपसे युद्धमें इन्द्रका वध करनेवाले अन्य महाबली पुत्रकी याचना की। तब सामर्थ्यशाली कश्यपजीने उसे वर प्रदान करते हुए कहा—'देवि! तुम एक हजार वर्षतक पवित्र मनसे नियमका पालन करो तो तुम्हें वैसा पुत्र प्राप्त होगा।' पतिद्वारा ऐसा कही जानेपर वह नियममें तत्पर हो गयी। जिस समय वह नियममें संलग्न थी, उस समय सहस्रनेत्रधारी इन्द्र उसके निकट आकर सावधानीपूर्वक उसकी सेवा करने लगे। यह देखकर उसने इन्द्रपर विश्वास कर लिया। जब एक सहस्र वर्षकी अवधिमें दस वर्ष शेष रह गये, तब तपस्यामें निरत वरदायिनी दिति परम प्रसन्न होकर इन्द्रसे बोली॥ १५—२९॥

दितिरुवाच

पुत्रोत्तीर्णव्रतां प्रायो विद्धि मां पाकशासन। भविष्यति च ते भ्राता तेन सार्धमिमां श्रियम्॥ ३०॥
भुङ्क्ष्व वत्स यथाकामं त्रैलोक्यं हतकण्टकम्। इत्युक्त्वा निद्रयाऽऽविष्टा चरणाक्रान्तमूर्धजा॥ ३१॥
स्वयं सुष्वाप नियता भाविनोऽर्थस्य गौरवात्। तत्तु रन्ध्रं समासाद्य जठरं पाकशासनः॥ ३२॥
चकार सप्तधा गर्भं कुलिशेन तु देवराट्। एकैकं तु पुनः खण्डं चकार मघवा ततः॥ ३३॥
सप्तधा सप्तधा कोपात्प्राबुध्यत ततो दितिः। विबुध्योवाच मा शक्र घातयेथाः प्रजां मम॥ ३४॥
तच्छ्रुत्वा निर्गतः शक्रः स्थित्वा प्राञ्जलिरग्रतः। उवाच वाक्यं संत्रस्तो मातुर्वै वदनेरितम्॥ ३५॥

दितिने कहा—पुत्र! अब तुम ऐसा समझो कि मैंने प्रायः अपने व्रतको पूर्ण कर लिया है। पाकशासन! (व्रतकी समाप्तिपर) तुम्हारे एक भाई उत्पन्न होगा। वत्स! उसके साथ तुम इस राजलक्ष्मी तथा निष्कण्टक त्रिलोकीके राज्यका इच्छानुसार उपभोग करना। ऐसा कहकर स्वयं दिति निद्राके वशीभूत हो सो गयी। उस समय भावी कार्यके गौरवके कारण वह अपने नियमसे च्युत हो गयी थी; क्योंकि (सोते समय) उसके खुले हुए बाल चरणोंसे दबे हुए थे। ऐसी त्रुटिपर अवसर पाकर देवराज इन्द्र दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गये और अपने वज्रसे उस गर्भके सात टुकडे कर दिये। तत्पश्चात् इन्द्रने क्रुद्ध होकर पुनः प्रत्येक टुकड़ेको काटकर सात-सात भागोंमे विभक्त कर दिया। इतनेमें ही दितिकी निद्रा भंग हो गयी। तब वह सचेत होकर बोली—'अरे इन्द्र! मेरी संततिका विनाश मत कर।' यह सुनकर इन्द्र दितिके उदरसे बाहर निकल आये और अपनी उस विमाताके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर डरते-डरते मन्द स्वरमे यह वचन बोले—॥ ३०—३५॥

शक्र उवाच

दिवास्वप्नपरा मातः पादाक्रान्तशिरोरुहा। सप्तसप्तभिरेवातस्तव गर्भः कृतो मया॥ ३६॥
एकोनपञ्चाशत्कृता भागा वज्रेण ते सुताः। दास्यामि तेषां स्थानानि दिवि दैवतपूजिते॥ ३७॥
इत्युक्ता सा तदा देवी सैवमस्त्वित्यभाषत। पुनश्च देवी भर्तारमुवाचासितलोचना॥ ३८॥

पुत्रं प्रजापते देहि शक्रजेतारमूर्जितम्। यो नाऽस्त्रशस्त्रैर्वध्यत्वं गच्छेत् त्रिदिववासिनाम् ॥ ३९ ॥
इत्युक्तः स तथोवाच तां पत्नीमतिदुःखिताम्। दशवर्षसहस्राणि तपः कृत्वा तु लप्स्यसे ॥ ४० ॥
वज्रसारमयैरङ्गैरच्छेद्यैरायसैर्दृढैः। वज्राङ्गो नाम पुत्रस्ते भविता पुत्रवत्सले ॥ ४१ ॥
सा तु लब्धवरा देवी जगाम तपसे वनम्। दशवर्षसहस्राणि सा तपो घोरमाचरत् ॥ ४२ ॥
तपसोऽन्ते भगवती जनयामास दुर्जयम्। पुत्रमप्रतिकर्माणमजेयं वज्रदुश्छिदम् ॥ ४३ ॥
स जातमात्र एवाभूत् सर्वशास्त्रास्त्रपारगः। उवाच मातरं भक्त्या मातः किं करवाण्यहम् ॥ ४४ ॥
तमुवाच ततो हृष्टा दितिर्दैत्याधिपं च सा। बहवो मे हताः पुत्राः सहस्राक्षेण पुत्रक ॥ ४५ ॥
तेषां त्वं प्रतिकर्तुं वै गच्छ शक्रवधाय च। बाढमित्येव तामुक्त्वा जगाम त्रिदिवं बली ॥ ४६ ॥
बद्ध्वा ततः सहस्राक्षं पाशेनामोघवर्चसा। मातुरन्तिकमागच्छद्व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा कश्यपश्च महातपाः। आगतौ तत्र यत्रास्तां मातापुत्रावभीतकौ ॥ ४८ ॥

इन्द्रने कहा—माँ! आप दिनमें सो रही थीं और आपके बाल पैरोंके नीचे दबे हुए थे, इस नियम-च्युतिके कारण मैंने आपके गर्भको सात भागोंमें, पुनः प्रत्येकको सात भागोंमें विभक्त कर दिया है। इस प्रकार मैंने आपके पुत्रोंको उनचास भागोंमें बाँट दिया है। अब मैं उन्हें देवताओंद्वारा पूजित स्वर्गलोकमें स्थान प्रदान करूँगा। तब ऐसा उत्तर पानेपर देवी दितिने कहा—'अच्छा, ऐसा ही हो।' तदनन्तर कजरारे नेत्रोंवाली दिति देवीने पुनः अपने पति महर्षि कश्यपसे याचना की—'प्रजापते! मुझे एक ऐसा ऊर्जस्वी पुत्र प्रदान कीजिये, जो इन्द्रको पराजित करनेमें समर्थ हो तथा स्वर्गवासी देवगण अपने शस्त्रास्त्रोंसे जिसका वध न कर सकें।' इस प्रकार कहे जानेपर महर्षि कश्यप अपनी उस अत्यन्त दुःखिया पत्नीसे बोले—'पुत्रवत्सले! दस हजार वर्षतक तपस्या करनेके उपरान्त तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे गर्भसे वज्राङ्ग नामका पुत्र उत्पन्न होगा। उसके अङ्ग वज्रके सार-तत्त्वके समान सुदृढ़ और लौहनिर्मित शस्त्रास्त्रोंद्वारा अच्छेद्य होंगे।' इस प्रकार वरदान पाकर दिति देवी तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयीं। वहाँ उन्होंने दस हजार वर्षोंतक घोर तप किया। तपस्या समाप्त होनेपर ऐश्वर्यवती दितिने एक ऐसे पुत्रको उत्पन्न किया, जो दुर्जय, अद्भुतकर्मा और अजेय था तथा जिसके अङ्ग वज्रद्वारा अच्छेद्य थे। वह जन्म लेते ही समस्त शास्त्रास्त्रोंका पारगामी विद्वान् हो गया। उसने भक्तिपूर्वक अपनी माता दितिसे कहा—'माँ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' तब हर्षित हुई दितिने उस दैत्यराजसे कहा—'बेटा! इन्द्रने मेरे बहुत-से पुत्रोंको मार डाला है, अतः उनका बदला लेनेके लिये तुम जाओ और इन्द्रका वध करो।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा मातासे कहकर महाबली वज्राङ्ग स्वर्गलोकमें जा पहुँचा। वहाँ उसने अपने अमोघवर्चस्वी पाशसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्रको बाँधकर माताके निकट लाकर उसी प्रकार खड़ा कर दिया, जैसे व्याघ्र छोटे-से मृगको पकड़ लेता है। इसी बीच ब्रह्मा और महातपस्वी महर्षि कश्यप—ये दोनो वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों माता-पुत्र निर्भय हुए स्थित थे ॥ ३९–४८ ॥

दृष्ट्वा तु तमुवाचेदं ब्रह्मा कश्यप एव च। मुञ्चैनं पुत्र देवेन्द्रं किमनेन प्रयोजनम् ॥ ४९ ॥
अपमानो वधः प्रोक्तः पुत्र सम्भावितस्य च। अस्मद्वाक्येन यो मुक्तो विद्धि तं मृतमेव च ॥ ५० ॥
परस्य गौरवान्मुक्तः शत्रूणां भारमावहेत्। जीवन्नेव मृतो वत्स दिवसे दिवसे स तु ॥ ५१ ॥
महतां वशमायाते वैरं नैवास्ति वैरिणि। एतच्छ्रुत्वा तु वज्राङ्गः प्रणतो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५२ ॥
न मे कृत्यमनेनास्ति मातुराज्ञा कृता मया। त्वं सुरासुरनाथो वै मम च प्रपितामहः ॥ ५३ ॥
करिष्ये त्वद्वचो देव एष मुक्तः शतक्रतुः। तपसे मे रतिर्देव निर्विघ्नं चैव मे भवेत् ॥ ५४ ॥
त्वत्प्रसादेन भगवन्नित्युक्त्वा विरराम सः। तस्मिंस्तूष्णीं स्थिते दैत्ये प्रोवाचेदं पितामहः ॥ ५५ ॥

वहाँ (इन्द्रको बँधा हुआ) देखकर ब्रह्मा और कश्यपने उस वज्राङ्गसे इस प्रकार कहा—'पुत्र! इन देवराजको छोड़ दे। इनको बाँधने अथवा मारनेसे तेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? बेटा! सम्मानित पुरुषका अपमान ही उसकी मृत्युसे बढ़कर बतलाया गया है। हमलोगोंके कहनेसे जो बन्धनमुक्त हो रहा है, उसे तू मरा हुआ ही जान। वत्स! दूसरेके गौरवसे मुक्त हुआ मनुष्य शत्रुओंका भारवाही अर्थात् आभारी हो जाता है। उसे दिन-प्रतिदिन जीते हुए मृतक-तुल्य ही समझना चाहिये। शत्रुके वशमें आ जानेपर महान् पुरुषोंका शत्रुके प्रति वैरभाव नहीं रह जाता।' यह सुनकर वज्राङ्ग विनम्र होकर कहने लगा—'देव! इन्द्रको बाँधनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यह तो मैंने माताकी आज्ञाका पालन किया है। आप तो देवताओं और असुरोंके स्वामी तथा मेरे प्रपितामह हैं, अतः मैं अवश्य आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। यह लीजिये, इन्द्र बन्धन-मुक्त हो गये। देव! मेरे मनमें तपस्या करनेके लिये बड़ी लालसा है। भगवन्! वह आपकी कृपासे निर्विघ्न पूरा हो जाय।' ऐसा कहकर वह चुप हो गया। तब उस दैत्यको चुपचाप सामने स्थित देखकर ब्रह्मा इस प्रकार बोले— ॥ ४९–५५ ॥

ब्रह्मोवाच

तपस्त्वं क्रूरमापन्नो ह्यस्मच्छासनसंस्थितः। अनया चित्तशुद्ध्या ते पर्याप्तं जन्मनः फलम्॥ ५६॥
इत्युक्त्वा पद्मजः कन्यां ससर्जायतलोचनाम्। तामस्मै प्रददौ देवः पत्न्यर्थं पद्मसम्भवः॥ ५७॥
वराङ्गीति च नामास्याः कृत्वा यातः पितामहः। वज्राङ्गोऽपि तया सार्धं जगाम तपसे वनम्॥ ५८॥
ऊर्ध्वबाहुः स दैत्येन्द्रोऽचरदब्दसहस्रकम्। कालं कमलपत्राक्षः शुद्धबुद्धिर्महातपाः॥ ५९॥
तावच्चावाङ्मुखः कालं तावत्पञ्चाग्निमध्यगः। निराहारो घोरतपास्तपोराशिरजायत॥ ६०॥
ततः सोऽन्तर्जले चक्रे कालं वर्षसहस्रकम्। जलान्तरं प्रविष्टस्य तस्य पत्नी महाव्रता॥ ६१॥
तस्यैव तीरे सरसस्तप्स्यन्ती मौनमास्थिता। निराहारा तपो घोरं प्रविवेश महाद्युतिः॥ ६२॥
तस्यां तपसि वर्तन्त्यामिन्द्रश्चक्रे विभीषिकाम्।

ब्रह्माने कहा—बेटा! (तूने) जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, यही मानो तूने घोर तप कर लिया। इस चित्तशुद्धिसे तुझे अपने जन्मका फल प्राप्त हो गया। ऐसा कहकर पद्मयोनि भगवान् ब्रह्माने एक विशाल नेत्रोंवाली कन्याकी सृष्टि की और उसे वज्राङ्गको पत्नी-रूपमें प्रदान कर दिया। पुनः उस कन्याका वराङ्गी नाम रखकर ब्रह्मा वहाँसे चले गये। तत्पश्चात् वज्राङ्ग भी अपनी पत्नी वराङ्गीके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चला गया। वहाँ महातपस्वी दैत्यराज वज्राङ्ग, जिसके नेत्र कमलदलके समान थे तथा जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी थी, एक हजार वर्षतक दोनों हाथ ऊपर उठाकर तपस्या करता रहा। पुनः उसने एक हजार वर्षतक नीचे मुख किये हुए तथा एक हजार वर्षतक पञ्चाग्निके बीचमें बैठकर घोर तपस्या की। उस समय उसने भोजनका परित्याग कर दिया था। इस प्रकार वह तपस्याकी राशि-जैसा हो गया था। तत्पश्चात् उसने एक हजार वर्षतक जलके भीतर बैठकर तप किया। जिस समय वह जलके भीतर प्रविष्ट होकर तप कर रहा था, उसी समय उसकी अत्यन्त सुन्दरी एवं महाव्रतपरायणा पत्नी वराङ्गी भी उसी सरोवरके तटपर मौन धारणकर तपस्या करती हुई घोर तपमें संलग्न हो गयी। उस समय वह निराहार ही रहती थी। उसके तपस्या करते समय (उसे तपसे डिगानेके निमित्त) इन्द्र तरह-तरहकी विभीषिकाएँ उत्पन्न करने ॥ ५६–६३ ॥

भूत्वा तु मर्कटस्तत्र तदाश्रमपदं महान् ॥ ६३ ॥
चक्रे विलोलं निःशेषं तुम्बीघटकरण्डकम् । ततस्तु मेषरूपेण कम्पं तस्याकरोन्महान् ॥ ६४ ॥
ततो भुजङ्गरूपेण बध्वा च चरणद्वयम् । अपाकर्षत् ततो दूरं भ्रमंस्तस्या महीमिमाम् ॥ ६५ ॥
तपोबलाढ्या सा तस्य न वध्यत्वं जगाम ह । ततो गोमायुरूपेण तस्यादूषयदाश्रमम् ॥ ६६ ॥
ततस्तु मेघरूपेण तस्याः क्लेदयदाश्रमम् । भीषिकाभिरनेकाभिस्तां क्लिश्यन् पाकशासनः ॥ ६७ ॥
विरराम यदा नैवं वज्राङ्गमहिषी तदा । शैलस्य दुष्टतां मत्वा शापं दातुं व्यवस्थिता ॥ ६८ ॥
स शापाभिमुखां दृष्ट्वा शैलः पुरुषविग्रहः । उवाच तां वरारोहां वराङ्गीं भीरुचेतनः ॥ ६९ ॥
नाहं वराङ्गने दुष्टः सेव्योऽहं सर्वदेहिनाम् । विभ्रमं तु करोत्येष रुषितः पाकशासनः ॥ ७० ॥
एतस्मिन्नन्तरे जातः कालो वर्षसहस्रिकः ।
तस्मिन् गते तु भगवान् काले कमलसम्भवः । तुष्टः प्रोवाच वज्राङ्गं तमागम्य जलाश्रयम् ॥ ७१ ॥

वे बन्दरका विशाल रूप धारणकर उसके आश्रमपर पहुँच और वहाँके सम्पूर्ण तुंबी, घट और पिटारी आदिको तितर-बितर कर दिया। फिर मेष-रूपसे उसे भलीभाँति कँपाया। तत्पश्चात् सर्पका रूप बनाकर उसके दोनो चरणोको अपने शरीरसे बाँधकर इस पृथ्वीपर घूमते हुए उसे दूरतक घसीटते रहे, किंतु वराङ्गी तपोबलसे सम्पन्न थीं, अतः इन्द्रद्वारा मारी न जा सकी। तब इन्द्रने शृगालका रूप धारणकर उसके आश्रमको दूषित कर दिया। फिर उन्होने बादल बनकर उसके आश्रमको भिगो दिया। इस प्रकार इन्द्र अनेकों प्रकारकी विभीषिकाओंको दिखाकर उसे कष्ट पहुँचाते रहे। जब इन्द्र इस प्रकारके कुकर्मसे विरत नहीं हुए, तब वज्राङ्गकी पटरानी वराङ्गी इसे पर्वतकी दुष्टता मानकर उसे शाप देनेके लिये उद्यत हो गयी। इस प्रकार उसे शाप देनेके लिये उद्यत देखकर पर्वतका हृदय भयभीत हो गया। तब उसने पुरुषका शरीर धारणकर उस सुन्दरी वराङ्गीसे कहा—'वराङ्गने! मैं दुष्ट नहीं हूँ। मैं तो सभी देहधारियोंके लिये सेवनीय हूँ। यह सब उपद्रव तो ये क्रुद्ध हुए इन्द्र कर रहे हैं।' इसी बीच (जलके भीतर बैठकर तपस्या करते हुए वज्राङ्गका) एक हजार वर्ष पूरा हो गया। उस समयके पूर्ण हो जानेपर पद्मसम्भव भगवान् ब्रह्मा प्रसन्न होकर उस जलाशयके तटपर आये और वज्राङ्गसे बोले ॥ ६३–७१ ॥

ब्रह्मोवाच

ददामि सर्वकामांस्ते उत्तिष्ठ दितिनन्दन ।
एवमुक्तस्तदोत्थाय दैत्येन्द्रस्तपसां निधिः । उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सर्वलोकपितामहम् ॥ ७२ ॥

ब्रह्माने कहा—दितिनन्दन! उठो। मैं तुम्हें तुम्हारी सारी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दे रहा हूँ। ऐसा कहे जानेपर तपोनिधि दैत्यराज वज्राङ्ग उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मासे इस प्रकार कहा ॥

वज्राङ्ग उवाच

आसुरो मास्तु मे भावः सन्तु लोका ममाक्षयाः । तपस्येव रतिर्मेऽस्तु शरीरस्यास्तु वर्तनम् ॥ ७३ ॥
एवमस्त्विति तं देवो जगाम स्वकमालयम् । वज्राङ्गोऽपि समाप्ते तु तपसि स्थिरसंयमः ॥ ७४ ॥
आहारमिच्छन्भार्यां स्वां न ददर्शाश्रमे स्वके । क्षुधाविष्टः स शैलस्य गहनं प्रविवेश ह ॥ ७५ ॥
आदातुं फलमूलानि स च तस्मिन् व्यलोकयत् ।
रुदतीं तां प्रियां दीनां तनुप्रच्छादिताननाम् । तां विलोक्य स दैत्येन्द्रः प्रोवाच परिसान्त्वयन् ॥ ७६ ॥

वज्राङ्गने माँगा—देव! मेरे शरीरमें आसुर भावका संचार मत हो, मुझे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हो। तपस्यामें ही मेरी रति हो और मेरा यह शरीर वर्तमान रहे। 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा

इसी प्रकार इन्द्रने भी उस दानवेन्द्रपर बाणसमूह चलाये, परंतु इन्द्रके हाथसे छोड़े गये उन बाणोंके अपने पास पहुँचनेके पूर्व ही दानवेन्द्र जम्भने अपने अग्निकी लपटोंके समान तेजस्वी बाणोंसे आकाशमें ही काटकर दस-दस टुकड़े कर दिये। तत्पश्चात् देवराज इन्द्रने यत्नपूर्वक दानवेश्वरको बाणसमूहोंसे इस प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षा ऋतुमें बादलोंसे आकाश आच्छादित हो जाता है। तब दैत्यने भी अपने तीखे बाणोंसे उस बाण-समूहको इस प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु दिशाओंके मुखपर छाये हुए बादलोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर देती है। तदनन्तर जब इन्द्र क्रोधवश उस दानवेन्द्रसे आगे न बढ़ सके, तब उन्होने महान् अद्भुत गन्धर्वास्त्रका प्रयोग किया। उससे निकले हुए तेजसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया। उससे अनेकों परकोटों एवं फाटकोंसे युक्त अद्भुत आकारवाले गन्धर्वनगर भी प्रकट हुए, जिनसे चारों ओर अस्त्रोंकी वर्षा होने लगी। उस अस्त्रवृष्टिसे मारी जाती हुई दैत्योंकी विशाल सेना अतुल पराक्रमी जम्भकी शरणमें आ गयी। यद्यपि उस समय इन्द्रके अस्त्रसे पीडित होकर दैत्यराज जम्भ स्वयं भी व्याकुल हो गया था, तथापि सज्जनोंके सदाचारका—अर्थात् शरणागतकी रक्षा करनी चाहिये—इस नियमका स्मरण कर वह उन भयभीतोंकी रक्षामें तत्पर हो गया। फिर तो उस दैत्यने मौसल नामक अस्त्रका प्रयोग किया। उससे निकले हुए लोहनिर्मित मुसलोंसे सारा जगत् व्याप्त हो गया। एक-एकपर प्रहार करनेवाले उन दुर्धर्ष मुसलोंद्वारा गन्धर्वास्त्रद्वारा निर्मित गन्धर्वनगर भी चारों ओरसे आच्छादित हो गया ॥७९—८८॥

गान्धर्वमस्त्रं संधाय सुरसैन्येषु चापरम्। एकैकेन प्रहारेण गजानश्वान् महारथान् ॥ ८९ ॥
रथाश्वान् सोऽहनत् क्षिप्रं शतशोऽथ सहस्रशः। ततः सुराधिपस्त्वाष्ट्रमस्त्रं च समुदीरयत् ॥ ९० ॥
संधीयमाने ततस्त्वाष्ट्रे निश्चेरुः पावकार्चिषः। ततो यन्त्रमयान् दिव्यानायुधान् दुष्प्रधर्षिणः ॥ ९१ ॥
तैर्यन्त्रैरभवद् बद्धमन्तरिक्षे वितानकम्। वितानकेन तेनाथ प्रशमं मौसले गते ॥ ९२ ॥
शैलास्त्रं मुमुचे जम्भो यन्त्रसङ्घाततावनम्। व्यासप्रमाणैरुपलैस्ततो वर्षमवर्तत ॥ ९३ ॥
त्वाष्ट्रस्य निर्मितान्याशु यन्त्राणि तदनन्तरम्। तेनोपलनिपातेन गतानि तिलशस्ततः ॥ ९४ ॥
यन्त्राणि तिलशः कृत्वा शैलास्त्रं परमूर्धसु। निपपातातिवेगेनादारयत् पृथिवीं ततः ॥ ९५ ॥
ततो वज्रास्त्रमकरोत् सहस्राक्षः पुरन्दरः। तदोपलमहावर्षं व्यशीर्यत समंततः ॥ ९६ ॥
ततः प्रशान्ते शैलास्त्रे जम्भो भूधरसंनिभः। ऐषीकमस्त्रमकरोद्भीतोऽतिपराक्रमः ॥ ९७ ॥
ऐषीकेणागमन्नाशं वज्रास्त्रं शक्रवल्लभम्। विजृम्भत्यथ चैषीके परमास्त्रेऽतिदुर्धरे ॥ ९८ ॥
जज्वलुर्देवसैन्यानि सस्यन्दनगजानि तु।

तदनन्तर जम्भासुरने दूसरे गान्धर्वास्त्रका संधान करके उसे देवताओंकी सेनाओंपर छोड़ दिया। उसने शीघ्र ही क्रमशः एक-एक प्रहारसे सैकड़ों एवं हजारोंकी संख्यामें गजराजों, घोड़ों, महारथियों एवं रथके घोड़ोंको नष्ट कर दिया। तब देवराज इन्द्रने त्वाष्ट्र नामक अस्त्रको प्रकट किया। उस त्वाष्ट्रास्त्रके संधान करते ही अग्निकी लपटें निकलने लगीं। तत्पश्चात् उन्होंने अन्यान्य दुर्धर्ष यन्त्रमय दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया। उन यन्त्रमय अस्त्रोंसे आकाशमें वितान-सा बँध गया। उस वितानसे वह मौसलास्त्र शान्त हो गया। यह देखकर जम्भासुरने उस यन्त्रसमूह-को नष्ट करनेवाले शैलास्त्रका प्रयोग किया। उससे व्यामके बराबर उपलोंकी वर्षा होने लगी। तदनन्तर उस उपल-वर्षासे त्वष्ट्रास्त्रद्वारा निर्मित सभी यन्त्र शीघ्र ही तिल-सरीखे चूर्ण बन गये। इस प्रकार वह शैलास्त्र

*

त्रिदेवोंकी एकता

यन्त्रोंको तिलशः काटकर बड़े वेगसे शत्रुओंके मस्तकोंपर गिरते हुए पृथ्वीको भी विदीर्ण कर देता था। तब सहस्रनेत्रधारी इन्द्रने वज्रास्त्रका प्रयोग किया। उससे उपलोंकी वह महान् वृष्टि चारों ओर छिन्न-भिन्न हो गयी। उस शैलास्त्रके प्रशान्त हो जानेपर पर्वत-सा विशालकाय एवं प्रचण्ड पराक्रमी जम्भने निर्भय होकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया। उस ऐषीकास्त्रसे देवराज इन्द्रका परम प्रिय वज्रास्त्र नष्ट हो गया। तत्पश्चात् उस परम दुर्धर्ष दिव्यास्त्र ऐषीकके फैलते ही रथों एवं हाथियोंसहित देवताओंकी सेनाएँ जलने लगीं ॥८९–९८½॥

दह्यमानेष्वनीकेषु तेजसा सुरसत्तमः ॥ ९९ ॥
आग्नेयमस्त्रमकरोद् बलवान् पाकशासनः। तेनास्त्रेण तदस्त्रं च बभ्रंशे तदनन्तरम् ॥१००॥
तस्मिन् प्रतिहते चास्त्रे पावकास्त्रं व्यजृम्भत। जज्वाल कायं जम्भस्य सरथं च ससारथिम् ॥ १०१ ॥
ततः प्रतिहतः सोऽथ दैत्येन्द्रः प्रतिभानवान्। वारुणास्त्रं मुमोचाथ शमनं पावकार्चिषाम् ॥ १०२ ॥
ततो जलधरैर्व्योम स्फुरद्विद्युल्लताकुलैः। गम्भीरमुरजध्वानैरापूरितमिवाम्बरम् ॥ १०३ ॥
करीन्द्रकरतुल्याभिर्जलधाराभिरम्बरात्। पतन्तीभिर्जगत् सर्वं क्षणेनापूरितं बभौ ॥ १०४ ॥
शान्तमाग्नेयमस्त्रं तत् प्रविलोक्य सुराधिपः। वायव्यमस्त्रमकरोन्मेघसङ्घातनाशनम् ॥ १०५ ॥
वायव्यास्त्रबलेनाथ निर्धूते मेघमण्डले। बभूव विमलं व्योम नीलोत्पलदलप्रभम् ॥ १०६ ॥
वायुना चातिघोरेण कम्पितास्ते तु दानवाः। न शेकुस्तत्र ते स्थातुं रणेऽतिबलिनोऽपि ये ॥ १०७ ॥
तदा जम्भोऽभवच्छैलो दशयोजनविस्तृतः। मारुतप्रतिघातार्थं दानवानां भयापहः ॥ १०८ ॥
मुक्तनानायुधोदग्रतेजोऽभिज्वलितद्रुमः ।

इस प्रकार ऐषीकास्त्रके तेजसे अपनी सेनाओंको भस्म होती हुई देखकर महाबली देवराज इन्द्रने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रके प्रभावसे ऐषीकास्त्र नष्ट हो गया। तदनन्तर उस अस्त्रके नष्ट हो जानेपर आग्नेयास्त्रने अपना प्रभाव फैलाया, उससे रथ एवं सारथिसहित जम्भका शरीर जलने लगा। उस अस्त्रसे प्रतिहत हो जानेपर प्रतिभाशाली दैत्यराज जम्भने अग्निकी ज्वालाओंको शान्त करनेवाले वारुणास्त्रका प्रयोग किया। फिर तो आकाशमे चमकती हुई बिजलियोसे व्याप्त बादल उमड़ आये। गम्भीर मृदंगकी-सी ध्वनि करनेवाले मेघोंकी गर्जनासे आकाश निनादित हो उठा। फिर क्षणमात्रमे ही आकाशसे गिरती हुई गजराजके शुण्डदण्डकी-सी मोटी जलधाराओंसे सारा जगत् आप्लावित हुआ दीख पड़ने लगा। तब देवराज इन्द्रने उस आग्नेयास्त्रको शान्त हुआ देखकर मेघसमूहको नष्ट करनेवाले वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। उस वायव्यास्त्रके बलसे मेघमण्डलके छिन्न-भिन्न हो जानेपर आकाश नीलकमल-दलके सदृश निर्मल हो गया। पुनः अत्यन्त भीषण झंझावातके चलनेपर दानवगण कम्पित हो उठे, इस कारण उनमें जो महाबली थे, वे भी उस समय रणभूमिमें खडा रहनेके लिये समर्थ न हो सके। तब दानवोंके भयको दूर करनेवाले जम्भने उस वायुको रोकनेके लिये दस योजन विस्तारवाले पर्वतका रूप धारण कर लिया। उस पर्वतके वृक्ष छोडे गये नानाप्रकारके अस्त्रोंके प्रचण्ड तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे ॥ ९९–१०८½ ॥

ततः प्रशमिते वायौ दैत्येन्द्रे पर्वताकृतौ ॥ १०९ ॥
महाशनीं वज्रमयीं मुमोचाशु शतक्रतुः। तयाशन्या पतितया दैत्यस्याचलरूपिणः ॥ ११० ॥
कन्दराणि व्यशीर्यन्त समन्तान्निर्झराणि तु। ततः सा दानवेन्द्रस्य शैलमाया न्यवर्तत ॥ १११ ॥
निवृत्तशैलमायोऽथ दानवेन्द्रो मदोत्कटः। बभूव कुञ्जरो भीमो महाशैलसमाकृतिः ॥ ११२ ॥
स ममर्द सुरानीकं दन्तैश्चाप्यहनत् सुरान्। बभञ्ज पृष्ठतः कांश्चित् करेणावेष्ट्य दानवः ॥ ११३ ॥
ततः क्षपयतस्तस्य सुरसैन्यानि वृत्रहा। अस्त्रं त्रैलोक्यदुर्धर्षं नारसिंहं मुमोच ह ॥ ११४ ॥

ततः सिंहसहस्राणि निश्चेरुर्मन्त्रतेजसा । कृष्णदंष्ट्राट्टहासानि क्रकचाभनखानि च ॥ ११५ ॥
तैर्विपाटितगात्रोऽसौ गजमायां व्यपोथयत् । ततश्चाशीविषो घोरोऽभवत् फणशताकुलः ॥ ११६ ॥
विषनिःश्वासनिर्दग्धं सुरसैन्यं महारथः । ततोऽस्त्रं गारुडं चक्रे शक्रश्चारुभुजस्तदा ॥ ११७ ॥
ततो गरुत्मतस्तस्मात् सहस्राणि विनिर्ययुः । तैर्गरुत्मद्भिरासाद्य जम्भो भुजगरूपवान् ॥ ११८ ॥
कृतस्तु खण्डशो दैत्यः सास्य माया व्यलश्यत ।

तदनन्तर वायुके शान्त हो जानेपर इन्द्रने तुरंत ही उस पर्वताकार दैत्येन्द्रपर एक वज्रमयी महान् अशनि फेंकी । उस अशनिके गिरनेसे पर्वतरूपी दैत्यकी कन्दराएँ और झरने सब ओरसे छिन्न-भिन्न हो गये । तत्पश्चात् दानवेन्द्रकी वह शैलमाया विलीन हो गयी । उस शैलमायाके निवृत्त हो जानेपर गर्वीला दानवराज जम्भ विशाल पर्वतकी-सी आकृतिवाले भयंकर गजराजके रूपमें प्रकट हुआ । फिर तो वह देव-सेनाका मर्दन करने लगा । उस दानवने कितने देवताओंको दाँतोंसे चूर्ण कर दिया और कितनोंको सूँड़से लपेटकर पृष्ठभागसे मरोड़ दिया । इस प्रकार उस दैत्यको देव-सेनाओंको नष्ट करते देखकर वृत्रासुरके हन्ता इन्द्रने त्रिलोकीके लिये दुर्धर्ष नारसिंहास्त्रका प्रयोग किया । उस मन्त्रके तेजसे हजारों ऐसे सिंह प्रकट हुए जो काले दाढ़ोंसे युक्त थे और जोर-जोरसे दहाड़ रहे थे तथा जिनके नख आरेके समान थे । उन सिंहोंद्वारा शरीरके फाड़ दिये जानेपर जम्भने अपनी गजमाया समेट ली और पुनः सैकड़ों फनोंसे युक्त भयंकर सर्पका रूप धारण कर लिया । तब उस महारथीने विषभरी निःश्वाससे देव-सैनिकोंको जलाना प्रारम्भ किया । यह देखकर सुन्दर भुजाओंवाले इन्द्रने उस समय गारुडास्त्रका प्रयोग किया । उस गारुडास्त्रसे सहस्रों गरुड प्रकट हो गये । उन गरुडोंने सर्परूपी दैत्यराज जम्भको पकड़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये, जिससे उसकी वह माया नष्ट हो गयी ॥

प्रनष्टायां तु मायायां ततो जम्भो महासुरः ॥ ११९ ॥
चकार रूपमतुलं चन्द्रादित्यपथानुगम् । विवृत्तवदनो ग्रस्तुमियेष सुरपुङ्गवान् ॥ १२० ॥
ततोऽस्य विविशुर्वक्त्रं समहारथकुञ्जराः । सुरसेनाविशद् भीमं पातालोत्तानतालुकम् ॥ १२१ ॥
सैन्येषु ग्रस्यमानेषु दानवेन बलीयसा । शक्रो दैन्यं समापन्नः श्रान्तबाहुः सवाहनः ॥ १२२ ॥
कर्तव्यतां नाध्यगच्छत् प्रोवाचेदं जनार्दनम् । किमनन्तरमत्रास्ति कर्तव्यस्यावशेषितम् ॥ १२३ ॥
यदाश्रित्य घटामोऽस्य दानवस्य युयुत्सवः । ततो हरिरुवाचेदं वज्रायुधमुदारधीः ॥ १२४ ॥
न साम्प्रतं रणस्त्याज्यस्त्वया कातरभैरवः । वर्धस्वाशु महामायां पुरन्दर रिपुं प्रति ॥ १२५ ॥
मयैष लक्षितो दैत्योऽधिष्ठितः प्राप्तपौरुषः । मा शक्र मोहमागच्छ क्षिप्रमस्त्रं स्मर प्रभो ॥ १२६ ॥

तत्पश्चात् उस मायाके नष्ट हो जानेपर महासुर जम्भने सूर्य एवं चन्द्रमाके मार्गका अनुगमन करनेवाला अपना अनुपम रूप बनाया तथा मुख फैलाकर वह प्रधान-प्रधान देवताओंको निगल जानेके लिये उनकी ओर झपटा । पाताललोकतक फैले हुए तालुवाले उसके भयंकर मुखमें महारथियोंसहित बड़े-बड़े गजराज प्रवेश करने लगे । इस प्रकार सारी देव-सेना उसमें प्रविष्ट होने लगी । इस प्रकार उस बलवान् दानवद्वारा सैनिकोंको ग्रसे जाते हुए देखकर वाहनसमेत इन्द्र अत्यन्त दीन हो गये । उनकी भुजाएँ थक गयी थीं । वे किंकर्तव्यविमूढ हो गये, तब उन्होंने भगवान् जनार्दनसे इस प्रकार कहा—'भगवन् ! अब इस विषयमें कौन-सा कर्तव्य शेष रह गया है, जिसका आश्रय लेकर हमलोग युद्धकी इच्छासे प्रेरित हो इस दानवके साथ लोहा लें ।' यह सुनकर उदारबुद्धिवाले श्रीहरि वज्रधारी इन्द्रसे इस प्रकार बोले—'पुरंदर ! इस समय आपको भयभीत होकर रणभूमिसे विमुख नहीं होना चाहिये । आप शीघ्र ही शत्रुके प्रति महामायाका

विस्तार करें । यह दैत्य जिस प्रकार पुरुषार्थ प्राप्तकर युद्धभूमिमें डटा हुआ है, इसे मैं जानता हूँ । सामर्थ्यशाली इन्द्र ! आप मोहको मत प्राप्त हों, शीघ्र ही दूसरे अस्त्रका स्मरण कीजिये' ॥ ११९–१२६ ॥

ततः शक्रः प्रकुपितो दानवं प्रति देवराट् । नारायणास्त्रं प्रयतो मुमोचासुरवक्षसि ॥ १२७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे दैत्यो विवृतास्योऽग्रसत्क्षणात् । त्रीणि लक्षाणि गन्धर्वकिन्नरोरगराक्षसान् ॥ १२८ ॥
ततो नारायणास्त्रं तत् पपातासुरवक्षसि । महास्त्रभिन्नहृदयः सुस्राव रुधिरं च सः ॥ १२९ ॥
रणागारमिवोद्गारं तत्याजासुरनन्दनः । तदस्त्रतेजसा तस्य रूपं दैत्यस्य नाशितम् ॥ १३० ॥
तत एवान्तर्दधे दैत्यो वियत्यनुपलक्षितः । गगनस्थः स दैत्येन्द्रः शस्त्रासनमतीन्द्रियम् ॥ १३१ ॥
मुमोच सुरसैन्यानां संहारे कारणं परम् । प्रासान् परश्वधांश्चक्रान् बाणवज्रान् समुद्गरान् ॥ १३२ ॥
कुठारान् सह खड्गैश्च भिन्दिपालानयोगुडान् । ववर्ष दानवो रौद्रो ह्यवन्ध्यानक्षयानपि ॥ १३३ ॥
तैरस्त्रैर्दानवैर्मुक्तैर्देवानीकेषु भीषणैः । बाहुभिर्धरणिः पूर्णा शिरोभिश्च सकुण्डलैः ॥ १३४ ॥
ऊरुभिर्गजहस्ताभैः करीन्द्रैर्वाचलोपमैः । भग्नेषादण्डचक्राक्षै रथैः सारथिभिः सह ॥ १३५ ॥
दुःसंचाराभवत् पृथ्वी मांसशोणितकर्दमा । रुधिरौघह्रदावर्ता शवराशिशिलोच्चयैः ॥ १३६ ॥

यह सुनकर देवराज इन्द्र उस दानवके प्रति विशेष कुपित हुए और उन्होंने प्रयत्नपूर्वक उस असुरके वक्षःस्थलपर नारायणास्त्रका प्रयोग किया । इस बीचमें मुख फैलाये हुए दैत्यराज जम्भने क्षणमात्रमें तीन लाख गन्धर्वों, किन्नरों और राक्षसोंको निगल लिया । तत्पश्चात् वह नारायणास्त्र उस असुरके वक्षःस्थलपर जा गिरा । उस महान् अस्त्रके आघातसे उसका हृदय विदीर्ण हो गया और उससे रक्त बहने लगा । तब वह असुरनन्दन वमनकी तरह युद्धस्थलको छोड़कर दूर हट गया । उस अस्त्रके तेजसे उस दैत्यका रूप नष्ट हो गया था । इसके बाद वह दैत्य अदृश्य होकर आकाशमें अन्तर्हित हो गया । फिर आकाशमें स्थित होकर वह दैत्येन्द्र ऐसे इन्द्रियातीत शस्त्रोंको फेंकने लगा, जो सुर-सैनिकोंके संहारमें विशेष कारण थे । उस समय वह क्रूर दानव भाला, फरसा, चक्र, बाण, वज्र, मुद्गर, कुठार, तलवार, भिन्दिपाल और लोहेके गुटकोंकी वर्षा करने लगा । ये सभी अस्त्र अमोघ और अविनाशी थे । देवसेनाओंपर दानवोंद्वारा छोड़े गये उन भीषण अस्त्रोंके प्रहारसे कटी हुई भुजाओं, कुण्डलमण्डित मस्तकों, हाथियोंके शुण्डादण्ड-सरीखे ऊरुओं, पर्वतके समान गजराजों तथा टूटे हुए हरसे, पहिये, जुए और सारथियोंसहित रथोंसे वहाँकी पृथ्वी पट गयी । वहाँ मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी, रक्तसे बड़े-बड़े गड्ढे भर गये थे, जिसमें लहरें उठ रहीं थीं और लाशोंकी राशि ऊँची शिलाओं-जैसी दीख रही थी, इस कारण वहाँकी भूमि अगम्य हो गयी थी ॥ १२७–१३६ ॥

कबन्धनृत्यसंकुले स्रवद्वसास्रकर्दमे जगत्क्षयोपसंहृतौ समे समस्तदेहिनाम् ।
श्रृगालगृध्रवायसाः परं प्रमोदमादधुः क्वचिद्विकृष्टलोचनः शवस्य रौति वायसः ॥ १३७ ॥
विकृष्टपीवरान्त्रकाः प्रयान्ति जम्बुकाः क्वचित् क्वचित्स्थितोऽतिभीषणः स्वचञ्चुचर्वितो वकः ।
मृतस्य मांसमाहरञ्छ्वजातयश्च संस्थिताः क्वचिद् वृको गजासृजं पपौ निलीयतान्ततः ॥ १३८ ॥
क्वचित्तुरङ्गमण्डली विकृष्यते श्वजातिभिः क्वचित् पिशाचजातकैः प्रपीतशोणितासवैः ।
स्वकामिनीयुतैर्द्रुतं प्रमोदमत्तसम्भ्रमैममेतदानयाननं खुरोऽयमस्तु मे प्रियः ॥ १३९ ॥
करोऽयमब्जसन्निभो ममास्तु कर्णपूरकः सरोषमीक्षतेऽपरा वपां विना प्रियं तदा ।
परा प्रिया ह्यपाययद्धतोष्णशोणितासवं विकृष्य कालसम तत्प्रसक्तसान्द्रपल्लवम् ॥ १४० ॥

उस युद्धभूमिमें यूथके यूथ कबन्ध नृत्य कर रहे थे। उनके शरीरसे बहती हुई मज्जा और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी। वह समस्त प्राणियोंके लिये त्रिलोकीके उपसंहारके समान दीख रही थी। उसमें सियार, गीध और कौवे परम प्रसन्नताका अनुभव कर रहे थे। कहीं कौवा लाशकी आँखको नोंचता हुआ उच्च स्वरसे बोल रहा था। कहीं शृगाल मोटी-मोटी अँतड़ियोंको खींचते हुए भाग रहे थे। कहीं अपनी चोंचसे मांसको चबाता हुआ अत्यन्त भयानक बगुला बैठा हुआ था। कहीं विभिन्न जातिके कुत्ते मरे हुए वीरकी लाशसे मांस खींच रहे थे। कहीं अँतड़ीमें छिपा हुआ भेड़िया गजराजका खून पी रहा था। कहीं विभिन्न जातिवाले कुत्ते घोड़ोंकी लाशोंको खींच रहे थे। कहीं रुधिररूप आसवका पान करनेवाले पिशाच-जातिके लोग अपनी पत्नियोंके साथ प्रमोदसे उन्मत्त हो रहे थे। (कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी-) मेरे लिये वह मुख ले आओ। (कोई कह रही थी—) मेरे लिये वह खुर परम प्रिय है। (कोई कह रही थी—) यह कमल-सदृश हथेली मेरे लिये कर्णपूरका काम देगी। दूसरी स्त्री उस समय पतिके निकट रहनेके कारण क्रोध-पूर्वक चर्बीकी ओर देख रही थी। दूसरी पिशाचिनी शवके चमड़ेको फाड़कर बनाये गये हरे पत्तेके दोनेमें गरमागरम रुधिररूप आसव रखकर अपने पतिको पिला रही थी ॥ १३७—१४० ॥

चकार यक्षकामिनी तरुं कुठारपाटितं गजस्य दन्तमात्मजं प्रगृह्य कुम्भसम्पुटम्।
विपाट्य मौक्तिकं परं प्रियप्रसादमिच्छते समांसशोणितासवं पपुश्च यक्षराक्षसाः ॥ १४१ ॥
मृतस्य केशवासितं रसं प्रगृह्य पाणिना प्रिया विमुक्तजीवितं समानयासृगासवम्।
न पथ्यतां प्रयाति मे गतं श्मशानगोचरं नरस्य तज्जहात्यसौ प्रशस्य किन्नराननम् ॥ १४२ ॥
स नाग एष नो भयं दधाति मुक्तजीवितो न दानवस्य शक्यते मया तदेकयाऽऽननम्।
इति प्रियाय वल्लभा वदन्ति यक्षयोषितः परे कपालपाणयः पिशाचयक्षराक्षसाः ॥ १४३ ॥
वदन्ति देहि देहि मे ममातिभक्ष्यचारिणः परेऽवतीर्य शोणितापगासु धौतमूर्तयः।
पितॄन् प्रतर्प्य देवताः समर्चयन्ति चामिषैर्गजोडुपे सुसंस्थितास्तरन्ति शोणितं ह्रदम् ॥ १४४ ॥
इति प्रगाढसङ्कटे सुरासुरे सुसङ्करे भयं समुज्झ्य दुर्जया भटाः स्फुटन्ति मानिनः ॥ १४५ ॥

फिर किसी यक्ष-पत्नीने वृक्षको कुठारसे काटकर गिरा दिया और गजराजके दाँतको हाथमें लेकर उससे गण्डस्थलको फोड़कर गजमुक्ता निकाल ली। फिर उससे वह अपने पतिको प्रसन्न करनेकी इच्छा करने लगी। उस समय यक्षों और राक्षसोंके समूह मांस एवं रुधिरसहित आसवका पान कर रहे थे। एक पिशाचिनी मृतकके रुधिरको, जिसमें बाल पड़े हुए थे, हाथमें लेकर अपने पतिसे कह रही थी—'मेरे लिये किसी दूसरे मरे हुए जीवका रुधिररूपी आसव ले आओ। इस श्मशानभूमिमें पड़ा हुआ कोई भी शव मेरे लिये पथ्य नहीं हो सकता।' ऐसा कहकर उसने किंनरके मुखकी प्रशंसा करके मनुष्यकी लाशको छोड़ दिया। (कोई कह रही थी—) यह हाथी यद्यपि मर चुका है, तथापि हम-लोगोंको भयभीत कर रहा है। (कोई कह रही थी—) मैं अकेली दानवके उस मुखको नहीं खा सकती। इस प्रकार यक्षोंकी प्रियतमा पत्नियाँ अपने पतियोंसे कह रही थीं। अन्यान्य पिशाच, यक्ष और राक्षस हाथमें कपाल लेकर कह रहे थे—'अरे मुझसे भी अधिक खानेवाले पिशाचो! मुझे भी कुछ दे दो।' दूसरे कुछ पिशाच रुधिरसे भरी हुई नदियोंमें स्नान करके पवित्र हो पितरों और देवताओंका तर्पण करनेके बाद मांसद्वारा उनकी अर्चना कर रहे थे। कुछ हाथीरूपी नौकापर बैठकर खूनसे भरे हुए कुण्डोंको पार कर रहे थे। इस प्रकार घोर संकटसे भरे हुए उस देवासुर-संग्राममें दुर्जय योद्धा निर्भय होकर लोहा ले रहे थे ॥ १४१—१४५ ॥

ततः शक्रो धनेशश्च वरुणः पवनोऽनलः। यमोऽपि निर्ऋतिश्चापि दिव्यास्त्राणि महाबलाः॥ १४६॥
आकाशे मुमुचुः सर्वे दानवानभिसंधय ते। अस्त्राणि व्यर्थतां जग्मुर्देवानां दानवान् प्रति॥ १४७॥
संरम्भेणाप्ययुध्यन्त संहतास्तुमुलेन च। गतिं न विविदुश्चापि श्रान्ता दैत्यस्य देवताः॥ १४८॥
दैत्यास्त्रभिन्नसर्वाङ्गा ह्यकिंचित्करतां गताः। परस्परं व्यलीयन्त गावः शीतार्दिता इव॥ १४९॥
तदवस्थान् हरिर्दृष्ट्वा देवाञ्छक्रमुवाच ह।
ब्रह्मास्त्रं स्मर देवेन्द्र यस्यावध्यो न विद्यते। विष्णुना चोदितः शक्रः सस्मारास्त्रं महौजसम्॥ १५०॥

तदनन्तर महाबली इन्द्र, कुबेर, वरुण, वायु, अग्नि, यम और निर्ऋति—इन सभी लोगोंने आकाशमें दानवोंको लक्ष्य करके दिव्यास्त्रोंका प्रहार करने लगे, किंतु दानवोंके प्रति छोड़े गये देवताओंके वे सभी अस्त्र व्यर्थ हो गये। यद्यपि देवगण संगठित होकर अत्यन्त क्रोधसे तुमुल युद्ध कर रहे थे, तथापि वे उस दैत्यकी गतिको न समझ सके। उस समय वे थकावटसे चूर हो गये थे तथा उनके सारे अङ्ग दैत्यके अस्त्रोंसे विदीर्ण हो गये थे, अतः वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तब वे शीतसे पीड़ित हुई गौओंकी तरह परस्पर एक दूसरेके पीछे छिपने लगे। देवताओंको ऐसी दशामें पड़ा हुआ देखकर श्रीहरिने इन्द्रसे कहा—'देवेन्द्र! अब आप उस ब्रह्मास्त्रका स्मरण कीजिये, जिसके लिये कोई अवध्य है ही नहीं अर्थात् जो सभीका वध कर सकता है।' इस प्रकार विष्णुद्वारा प्रेरित किये जानेपर इन्द्रने उस महान् ओजस्वी अस्त्रका स्मरण किया॥ १४६—१५०॥

सम्पूजितं नित्यमरातिनाशनं समाहितं बाणममित्रघातने।
धनुष्यजय्ये विनियोज्य बुद्धिमानभूत् ततो मन्त्रसमाधिमानसः॥ १५१॥
स मन्त्रमुच्चार्य यतान्तराशयो वधाय दैत्यस्य धियाभिसंध्य तु।
विकृष्य कर्णान्तमकुण्ठदीधितिं मुमोच वीक्ष्याम्बरमागमुन्मुखः॥ १५२॥
अथासुरः प्रेक्ष्य महास्त्रमाहितं विहाय मायामवनौ व्यतिष्ठत।
प्रवेपमाणेन मुखेन शुष्यता बलेन गात्रेण च सम्भ्रमाकुलः॥ १५३॥
ततस्तु तस्यास्त्रवराभिमन्त्रितः शरोऽर्धचन्द्रप्रतिमो महारणे।
पुरन्दरस्यासनबन्धुतां गतो नवार्कबिम्बं वपुषा विडम्बयन्॥ १५४॥
किरीटकोटिस्फुटकान्तिसंकटं सुगन्धिनानाकुसुमाधिवासितम्।
प्रकीर्णधूमज्वलनाभमूर्धजं पपात जम्भस्य शिरः सकुण्डलम्॥ १५५॥

तदनन्तर बुद्धिमान् इन्द्रने अपने मनको मन्त्रसमाधिमें लीन कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने इन्द्रियोंको वशमें करके नित्य पूजित होनेवाले शत्रुसंहारक बाणको अपने शत्रुविनाशक अजेय धनुषपर रखकर मन्त्रका उच्चारण करते हुए बुद्धिद्वारा दैत्यके वधकी प्रतिज्ञा की और धनुषको कानतक खींचकर ऊपर मुख करके आकाश-मार्गको देखते हुए उस परम तेजस्वी बाणको छोड़ दिया। तदुपरान्त जब जम्भासुरने उस महान् अस्त्रको छोड़ते हुए देखा, तब वह अपनी मायाको त्यागकर भूतलपर स्थित हो गया। उस समय उसका शरीर काँप रहा था, मुख सूख गया था और बल क्षीण हो गया था। इस प्रकार वह अत्यन्त व्याकुल हो उठा। इसी बीच ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित हुआ वह अर्धचन्द्राकार बाण उस महासमरमें इन्द्रके धनुषसे छूटकर अपने शरीरसे उदयकालीन सूर्यमण्डलकी विडम्बना करता हुआ जम्भासुरके गलेपर जा गिरा। उसके आघातसे जम्भासुरका कुण्डलमण्डित सिर, जो किरीटके सिरेसे निकलती हुई कान्तिसे व्याप्त, नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे अधिवासित और बिखरे हुए धूमसे युक्त अग्निकी-सी कान्तिवाले केशोंसे सुशोभित था, भूतलपर गिर पड़ा।

तस्मिन् विनिहते जम्भे दानवेन्द्राः पराङ्मुखाः । ततस्ते भग्नसंकल्पाः प्रययुर्यत्र तारकः ॥ १५६ ॥
तांस्तु त्रस्तान् समालोक्य श्रुत्वा रोषमगात्परम् । स जम्भदानवेन्द्रं तु सुरै रणमुखे हतम् ॥ १५७ ॥
सावलेपं ससंरम्भं सगर्वं सपराक्रमम् । साविष्कारमनाकारं तारको भावमाश्रितम् ॥ १५८ ॥
स जैत्रं रथमास्थाय सहस्रेण गरुत्मताम् । संरम्भाद् दानवेन्द्रस्तु सुरै रणमुखे गतः ॥ १५९ ॥
सर्वायुधपरिष्कारः सर्वास्त्रपरिरक्षितः । त्रैलोक्यऋद्धिसम्पन्नः सुविस्तृतमहाननः ॥ १६० ॥
रणायाभ्यपतत् तूर्णं सैन्येन महतावृतः । जम्भास्त्रक्षतसर्वाङ्गं त्यक्त्वैरावणदन्तिनम् ॥ १६१ ॥
सज्जं मातलिना गुप्तं रथमिन्द्रस्य तेजसा । तप्तहेमपरिष्कारं महारत्नसमन्वितम् ॥ १६२ ॥
चतुर्योजनविस्तीर्णं सिद्धसङ्घपरिष्कृतम् । गन्धर्वकिंनरोद्गीतमप्सरोनृत्यसंकुलम् ॥ १६३ ॥
सर्वायुधसमस्बाधं विचित्ररचनोज्ज्वलम् । तं रथं देवराजस्य परिवार्य समन्ततः ॥ १६४ ॥
दंशिता लोकपालास्तु तस्थुः सगरुडध्वजाः ।

इस प्रकार उस जम्भासुरके मारे जानेपर सभी दानवेन्द्र युद्धसे विमुख हो गये। उनके संकल्प भग्न हो गये, तब वे तारकके पास चले गये। उन्हें भयभीत देखकर तथा युद्धके मुहानेपर दानवराज जम्भको देवताओंद्वारा मारा गया सुनकर तारक परम क्रुद्ध हो उठा। उस समय तारकमें अभिमान, क्रोध, गर्व, पराक्रम, आविष्कार और अनाकार आदि भाव लक्षित हो रहे थे। तब दानवराज तारक हजारों गरुड़ोंके समान वेगशाली एवं जयशील रथपर सवार हो क्रोधपूर्वक रणके मुहानेपर देवताओंसे युद्ध करनेके लिये चला। उस समय वह सभी प्रकारके अस्त्रोंसे सुसज्जित, सभी प्रकारके अस्त्रोंसे पूर्णतया सुरक्षित, त्रिलोकीके ऐश्वर्यसे सम्पन्न तथा विस्तृत एवं विशाल मुखसे सुशोभित था। वह विशाल सेनाके साथ शीघ्र ही युद्धके लिये आ डटा। तब जिसके सारे अङ्ग जम्भासुरके अस्त्रसे क्षत-विक्षत हो गये थे, उस गजराज ऐरावतको छोड़कर इन्द्र रथपर सवार हो गये। वह रथ इन्द्रके तेजसे सुरक्षित और मातलिद्वारा सजाया गया था। वह तपाये हुए स्वर्णसे विभूषित था। उसमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। वह चार योजन विस्तृत था। उसपर सिद्धगण बैठे हुए थे। उसमें गन्धर्व और किंनर गान कर रहे थे तथा अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। वह सभी प्रकारके अस्त्रोंसे भरा हुआ था तथा उसमें उज्ज्वल रंगकी विचित्र रचना की गयी थी। देवराजके उस रथको गरुडध्वज भगवान् विष्णुसहित सभी लोकपाल कवचसे सुसज्जित हो चारों ओरसे घेरकर खड़े थे ॥

ततश्चचाल वसुधा ततो रूक्षो मरुद् ववौ ॥ १६५ ॥
ततोऽम्बुधय उद्धूतास्ततो नष्टा रविप्रभा । ततस्तमः समुद्भूतं नातोऽदृश्यन्त तारकाः ॥ १६६ ॥
ततो जज्वलुरस्त्राणि ततोऽकम्पत वाहिनी । एकतस्तारको दैत्यः सुरसङ्घस्तु चैकतः ॥ १६७ ॥
लोकावसादमेकत्र जगत्पालनमेकतः । चराचराणि भूतानि सुरासुरविभेदतः ॥ १६८ ॥
तद् द्विधाप्येकतां यातं ददृशुः प्रेक्षका इव ।
यद्वस्तु किंचिल्लोकेषु त्रिषु सत्तास्वरूपकम् । तत्तत्रादृश्यदखिलं खिलीभूतविभूतिकम् ॥ १६९ ॥
अस्त्राणि तेजांसि धनानि धैर्यं सेनाबलं वीर्यपराक्रमौ च ।
सत्त्वौजसां तन्निकरं बभूव सुरासुराणां तपसो बलेन ॥ १७० ॥
अथाभिमुखमायान्तं नवभिर्नतपर्वभिः । बाणैरनलकल्पाग्रैर्बिभिदुस्तारकं हृदि ॥ १७१ ॥
स तानचिन्त्य दैत्येन्द्रः सुरबाणान् गतान् हृदि । नवभिर्नवभिर्बाणैः सुरान् विव्याध दानवः ॥ १७२ ॥
जगद्धरणसम्भूतैः शल्यैरिव पुरःसरैः । ततोऽच्छिन्नं शरव्रातं संग्रामे मुमुचुः सुराः ॥ १७३ ॥
अनन्तरं च कान्तानामश्रुपातमिवानिशम् । तदप्राप्तं वियत्येव नाशयामास दानवः ॥ १७४ ॥
धैर्येणेव कुलजातः प्रख्यातं परमागतम् । कुलनिर्मलं क्रमायातं कुपुत्रः स्वं महाकुलम् ॥ १७५ ॥

तदनन्तर पृथ्वी काँपने लगी। रूखी हवा चलने लगी। समुद्रोंमें ज्वार उठने लगा। सूर्यकी कान्ति नष्ट हो गयी। चारो ओर घना अन्धकार छा गया, जिससे ताराओंका दीखना बंद हो गया। अकस्मात् अस्त्र प्रकाशित हो उठे और सेना काँपने लगी। एक ओर दैत्यराज तारक था तो दूसरी ओर देवताओंका समूह डटा था। एक ओर लोकोंका विनाश था तो दूसरी ओर जगत्का पालन। इस प्रकार वहाँ सुर और असुरके भेदसे सभी चराचर प्राणी उपस्थित थे। वे दो भागोमें विभक्त होनेपर भी दर्शकोंकी भाँति एकीभूत-से दिखायी पड़ रहे थे। तीनो लोकोमे जितनी कुछ सत्तासम्पन्न वस्तुएँ थीं, वे सब-की-सब अपने एकत्र ऐश्वर्यसहित वहाँ दीख रही थीं। बल एवं पराक्रमशाली देवताओ और असुरोकी तपस्याके बलसे वहाँ तेजस्वी अस्त्र, धन, धैर्य, सेनाबल, साहस और पराक्रमका जमघट लगा हुआ था। तत्पश्चात् तारकको सम्मुख धावा करते हुए देखकर इन्द्रादि देवगणोने ऐसे नौ बाणोंसे, जिनकी गाँठें झुकी हुई थीं तथा जिनके अग्रभाग अग्नि-सरीखे तेजस्वी थे, तारकके हृदयको विदीर्ण कर दिया। तब दैत्यराज तारकने अपने हृदयमें गड़े हुए देवताओके उन बाणोकी कुछ भी परवा न कर प्रत्येक देवताको क्रमशः ऐसे नौ-नौ बाणोसे, जो जगत्का विनाश करनेमें समर्थ तथा अग्रभागमें कीलकी भाँति नुकीले थे, बींध दिया। तदनन्तर देवगण संग्रामभूमिमे वियोगिनी स्त्रीके दिन-रात गिरते हुए अश्रुपातकी तरह लगातार बाण-समूहोकी वर्षा करने लगे, किंतु दानवराज तारकने उन बाण-वृष्टिको अपने पास पहुँचनेसे पूर्व आकाशमें ही अपने बाणोके प्रहारसे इस प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे कुपुत्र दुराचरणोसे अपने परम्परागत परम पावन, सुनिर्मल एवं प्रतिष्ठित महान् कुलको नष्ट कर देता है ॥ १६५—१७५ ॥

ततो निवार्य तद् बाणजालं सुरभुजेरितम्। बाणैर्व्योम दिशः पृथ्वीं पूरयामास दानवः ॥ १७६ ॥
चिच्छेद पुङ्खदेशेषु स्वके स्थाने च लाघवात्। बाणजालैः सुतीक्ष्णाग्रैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ॥ १७७ ॥
कर्णान्तकृष्टैर्विमलैः सुवर्णरजतोज्ज्वलैः। शास्त्रार्थैः संशयप्राप्तान् यथार्थान् वै विकल्पितैः॥ १७८ ॥
ततः शतेन बाणानां शक्रं विव्याध दानवः। नारायणं च सप्तत्या नवत्या च हुताशनम् ॥ १७९ ॥
दशभिर्मारुतं मूर्ध्नि यमं दशभिरेव च। धनदं चैव सप्तत्या वरुणं च तथाष्टभिः ॥ १८० ॥
विंशत्या निर्ऋतिं दैत्यः पुनश्चाष्टाभिरेव च। विव्याध पुनरेकैकं दशभिर्दशभिः शरैः ॥ १८१ ॥
तथा च मातलिं दैत्यो विव्याध त्रिभिराशुगैः। गरुडं दशभिश्चैव स विव्याध पतत्त्रिभिः ॥ १८२ ॥
पुनश्च दैत्यो देवानां तिलशो नतपर्वभिः।
चकार वर्मजातानि चिच्छेद च धनूंषि तु। ततो विकवचा देवा विधनुष्काः शरैः कृताः ॥ १८३ ॥

तत्पश्चात् दानवराजने देवताओकी भुजाओसे छोड़े गये उस बाणसमूहका निवारण कर अपने बाणोंसे आकाश, पृथ्वी और दिशाओको भर दिया। तदुपरान्त उसने अपने स्थानपर स्थित रहते हुए ही हाथकी फुर्तीसे छोड़े गये बाणसमूहोद्वारा देवताओके बाणोके पुच्छभागको उसी प्रकार काट दिया, जैसे विकल्पित शास्त्रार्थद्वारा संशयग्रस्त यथार्थ तत्त्व कट जाते हैं। उसके वे बाण अत्यन्त निर्मल, सुवर्ण और चाँदीके समान उज्ज्वल और अत्यन्त तीखे नोकवाले थे, उनमें कंक और मोरके पंख लगे हुए थे तथा वे धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे। इसके बाद दानवराज तारकने सौ बाणोसे इन्द्रको, सत्तर बाणोसे नारायणको, नब्बे बाणोसे अग्निको, दस बाणोंसे वायुके मस्तकको, दस बाणोसे यमको, सत्तर बाणोसे कुबेरको, आठ बाणोसे वरुणको तथा अट्ठाईस बाणोसे निर्ऋतिको घायल कर दिया। फिर उस दैत्यने प्रत्येकको पुनः दस-दस

बाणोंसे बींध दिया। तत्पश्चात् उस दैत्यने तीन बाणोंसे मातलिपर और दस बाणोंसे गरुडपर गहरा आघात किया तथा झुकी हुई गाँठोंवाले बाणोंके प्रहारसे देवताओंके कवचोंको काटकर तिल-जैसा बना दिया और उनके धनुषोंको भी काट दिया। इस प्रकार बाणोंके आघातसे देवगण कवच और धनुषसे रहित कर दिये गये॥

अथान्यानि चापानि तस्मिन् सरोषा रणे लोकपाला गृहीत्वा समंतात्।
शरैरक्षयैर्दानवेन्द्रं ततक्षुस्तदा दानवोऽमर्षसंरक्तनेत्रः॥ १८४॥
शरानग्निकल्पान् ववर्षामराणां ततो बाणमादाय कल्पानलाभम्।
जघानोरसि क्षिप्रमिन्द्रं सुबाहुःमहेन्द्रोऽप्यकम्पद् रथोपस्थ एव॥ १८५॥
विलोक्यान्तरिक्षे सहस्रार्कबिम्बं पुनर्दानवो विष्णुमुद्भूतवीर्यम्।
शराभ्यां जघानांसमूले सलीलं ततः केशवस्यापतच्छार्ङ्गमग्रे॥ १८६॥
ततस्तारकः प्रेतनाथं पृषत्कैर्वसुं तस्य सव्ये स्मरन् क्षुद्रभावम्।
शरैरग्निकल्पैर्जलेशस्य कायं रणेऽशोषयद् दुर्जयो दैत्यराजः॥ १८७॥
शरैरग्निकल्पैश्चकाराशु दैत्यस्तथा राक्षसान् भीतभीतान् दिशासु।
पृषत्कैश्च रूक्षैर्विकारप्रयुक्तं चकारानिलं लीलयैवासुरेशः॥ १८८॥
क्षणाल्लब्धचित्ताः स्वयं विष्णुशक्रानलाद्याः सुसंहत्य तीक्ष्णैः पृषत्कैः।
प्रचक्रुः प्रचण्डेन दैत्येन सार्धं महासङ्गरं सङ्गरग्रासकल्पम्॥ १८९॥
अथास्य चापं हरिस्तीक्ष्णबाणैर्हनत्सारथिं दैत्यराजस्य हृद्यम्।
ध्वजं धूमकेतुः किरीटं महेन्द्रो धनेशो धनुः काञ्चनानद्धपृष्ठम्।
यमो बाहुदण्डं रथाङ्गानि वायुर्निशाचारिणामीश्वरस्यापि वम॥ १९०॥

तदनन्तर उस युद्धमें क्रोधसे भरे हुए लोकपालगण दूसरा धनुष लेकर चारों ओरसे अमोघ बाणोंद्वारा दानवेन्द्र तारकको घायल करने लगे। तब उस दानवराजके नेत्र अमर्षसे लाल हो गये। फिर तो वह देवताओंपर अग्नि-सदृश दाहक बाणोंकी वर्षा करने लगा। पुनः उसने प्रलयकालीन अग्निके समान एक विकराल बाण लेकर बड़ी शीघ्रतासे सुन्दर भुजावाले इन्द्रकी छातीपर प्रहार किया। उस आघातसे रथके पिछले भागमें बैठे हुए महेन्द्र भी काँप उठे। पुनः अन्तरिक्षमें हजारों सूर्य-बिम्बकी तरह उद्दीप्त होते हुए अद्भुत पराक्रमी विष्णुको देखकर उस दानवने अनायास ही दो बाणोंसे उनके कंधोंके मूल-भागपर ऐसी गहरी चोट की, जिससे केशवका शार्ङ्गधनुष उनके आगे गिर पड़ा। तत्पश्चात् अजेय दैत्यपाल तारकने रणभूमिमें प्रेतनाथ यम तथा उनके दाहिने भागमें स्थित वसुको कुछ भी न गिनते हुए उन्हें बाणोंसे बींध दिया और अग्नि-सदृश दाहक बाणोंसे वरुणके शरीरको सुखा दिया तथा शीघ्र ही अग्नि-सदृश बाणोंसे राक्षसोंको भयभीत कर दिशाओंमें खदेड़ दिया। इसी प्रकार उस असुरराजने खेल-ही-खेलमें रूखे बाणोंके आघातसे वायुदेवको भी विकृत कर दिया। थोड़ी देर बाद चेतना प्राप्त होनेपर स्वयं भगवान् विष्णु, इन्द्र, अग्नि आदि देवगण सुसंगठित होकर तीखे बाणोंद्वारा उस प्रचण्ड दैत्यके साथ विषके ग्रासके समान भीषण संग्राम करने लगे। उस समय श्रीहरिने अपने धनुष-पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर तीखे बाणोंद्वारा दैत्यराजके प्रिय सारथिको यमलोकका पथिक बना दिया। पुनः अग्निने उसके ध्वजको, महेन्द्रने किरीटको, कुबेरने पृष्ठभागपर स्वर्णजटित धनुषको, यमने भुजाओंको और वायुने रथाङ्गों तथा उस असुरराजके कवचको भी काट गिराया॥

दृष्ट्वा तद् युद्धममरैरकृत्रिमपराक्रमम्। दैत्यनाथः कृतं संख्ये स्वबाहुयुगबान्धवः ॥ १९१ ॥
मुमोच मुद्गरं भीमं सहस्राक्षाय सङ्गरे। दृष्ट्वा मुद्गरमायान्तमनिवार्यमथाम्बरे ॥ १९२ ॥
रथादाप्लुत्य धरणीमगमत् पाकशासनः। मुद्गरोऽपि रथोपस्थे पपात परुषस्वनः ॥ १९३ ॥
स रथं चूर्णयामास न ममार च मातलिः। गृहीत्वा पट्टिशं दैत्यो जघानोरसि केशवम् ॥ १९४ ॥
स्कन्धे गरुत्मतः सोऽपि निषसाद विचेतनः। खड्गेन राक्षसेन्द्रस्य निचकर्त च वाहनम् ॥ १९५ ॥
यमं च पातयामास भूमौ दैत्यो भुशुण्डिना। वह्निं च भिन्दिपालेन ताडयामास मूर्धनि ॥ १९६ ॥
वायुं च दोर्भ्यामुत्क्षिप्य पातयामास भूतले। धनेशं च धनुष्कोट्या कुट्टयामास कोपनः ॥ १९७ ॥
ततो देवनिकायानामेकैकं समरे ततः। जघानास्त्रैरसंख्येयैर्दैत्येन्द्रोऽमितविक्रमः ॥ १९८ ॥

तदनन्तर अपनी दोनो भुजाएँ ही जिसकी सहायक थीं, उस दैत्यराज तारकने युद्धस्थलमें देवताओंद्वारा किये गये उस युद्ध और उनके सत्य पराक्रमको देखकर रणभूमिमें इन्द्रके ऊपर अपना भयंकर मुद्गर चला दिया। उस अनिवार्य मुद्गरको आकाशमार्गसे आते हुए देखकर इन्द्र रथसे कूदकर पृथ्वीपर खड़े हो गये और वह मुद्गर कठोर शब्द करता हुआ रथके पिछले भागपर जा गिरा। उसने रथको तो चूर्ण कर दिया, पर मातलिके प्राण बच गये। फिर उस दैत्यने पट्टिश लेकर केशवकी छातीपर आघात किया, जिससे वे भी चेतनारहित होकर गरुडके कंधेपर लुढ़क गये। पुनः उस दैत्यने तलवारसे राक्षसराज निर्ऋतिके वाहनको काट डाला, भुशुण्डिके प्रहारसे यमराजको धराशायी कर दिया, भिन्दिपालसे अग्निके मस्तकपर चोट की, वायुको दोनो हाथोंसे उठाकर भूतलपर पटक दिया और कुपित होकर कुबेरको धनुषके सिरेसे कूट डाला। तदुपरान्त उस अनुपम पराक्रमी दैत्यराजने समरभूमिमें देवसमूहोंमेंसे प्रत्येकपर असंख्य अस्त्रोंसे प्रहार किया ॥ १९१–१९८ ॥

लब्धसंज्ञः क्षणाद् विष्णुश्चक्रं जग्राह दुर्धरम्। दानवेन्द्रवसासिक्तं पिशिताशनकोन्मुखम् ॥ १९९ ॥
मुमोच दानवेन्द्रस्य दृढं वक्षसि केशवः। पपात चक्रं दैत्यस्य हृदये भास्करद्युति ॥ २०० ॥
व्यशीर्यत ततः काये नीलोत्पलमिवाश्मनि। ततो वज्रं महेन्द्रस्तु प्रमुमोचार्चितं चिरम् ॥ २०१ ॥
यस्मिञ् जयाशा शक्रस्य दानवेन्द्ररणे त्वभूत्। तारकस्य सुसम्प्राप्य शरीरं शौर्यशालिनः ॥ २०२ ॥
व्यशीर्यत विकीर्णार्चिः शतधा खण्डतां गतम्। विनाशमगमन्मुक्तं वायुनासुरवक्षसि ॥ २०३ ॥
ज्वलितं ज्वलनाभासमङ्कुशं कुलिशं यथा। विनाशमागतं दृष्ट्वा वायुश्चाङ्कुशमाहवे ॥ २०४ ॥
रुष्टः शैलेन्द्रमुत्पाट्य पुष्पितद्रुमकन्दरम्। चिक्षेप दानवेन्द्राय पञ्चयोजनविस्तृतम् ॥ २०५ ॥
महीधरं तमायान्तं दैत्यः स्मितमुखस्तदा। जग्राह वामहस्तेन बालकन्दुकलीलया ॥ २०६ ॥
ततो दण्डं समुद्यम्य कृतान्तः क्रोधमूर्च्छितः। दैत्येन्द्रं मूर्ध्नि चिक्षेप भ्राम्य वेगेन दुर्जयः ॥ २०७ ॥
सोऽसुरस्यापतन्मूर्ध्नि दैत्यस्तं च न बुद्धवान्।

तत्पश्चात् क्षणभर बाद चेतना प्राप्त होनेपर भगवान् विष्णुने अपने दुर्धर्ष चक्रको, जो दानवेन्द्रोंकी मज्जासे अभिषिक्त तथा मांसभोजी असुरोंका संहार करनेके लिये उन्मुख था, हाथमें लिया। फिर केशवने उसे सुदृढ़रूपसे दानवराजके वक्षःस्थलपर छोड़ दिया। वह सूर्यके समान तेजस्वी चक्र दैत्यके हृदयपर जा गिरा, किंतु उसके शरीरपर गिरते ही वह इस प्रकार टूट-टूट गया, जैसे पत्थरपर गिरा हुआ नील कमल छिन्न-भिन्न हो जाता है। तदुपरान्त महेन्द्रने अपने चिरकालसे अर्चित वज्रको छोड़ा, जिसपर उन्हें इस दानवराजके साथ युद्धमें विजयकी पूरी आशा थी, परंतु वह पराक्रमशाली तारकके शरीरसे टकराकर चिनगारियाँ बिखेरता हुआ सैकड़ों टुकड़ोंमें तितर-बितर हो गया। फिर वायुने उस असुरके वक्षःस्थलपर अग्निके समान तेजस्वी प्रज्वलित अंकुश फेंका, किंतु वह भी वज्रकी ही भाँति विनष्ट हो गया। इस प्रकार युद्धभूमिमें अपने

अंकुशको विनष्ट हुआ देखकर वायुने क्रुद्ध हो खिले हुए वृक्षों एवं कन्दराओंसे युक्त एक विशाल पर्वतको उखाड़ लिया, जो पाँच योजनमें विस्तृत था। फिर उसे दानवराजपर फेंक दिया। उस समय उस पर्वतको आते हुए देखकर दैत्यने मुसकराते हुए बालकोंकी गेंद-क्रीडाके समान उसे बायें हाथसे पकड़ लिया। तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए दुर्जय यमराजने अपना दण्ड उठाया और उसे वेगपूर्वक घुमाकर दैत्येन्द्रके मस्तकपर फेंक दिया। वह दण्ड असुरके मस्तकपर गिरा तो अवश्य, परंतु दैत्यको उसका कुछ भी ज्ञान न हुआ॥

कल्पान्तदहनालोकामजय्यां ज्वलनस्ततः॥ २०८॥
शक्तिं चिक्षेप दुर्धर्षां दानवेन्द्राय संयुगे। नवा शिरीषमालेव सास्य वक्ष्यस्यराजत॥ २०९॥
ततः खड्गं समाकृष्य कोपादाकाशनिर्मलम्। भासितासितदिग्भागं लोकपालोऽपि निर्ऋतिः॥ २१०॥
चिक्षेप दानवेन्द्राय तस्य मूर्ध्नि पपात च। पतितश्चागमत् खड्गः स शीघ्रं शतखण्डताम्॥ २११॥
जलेशस्तूग्रदुर्धर्षं विषपावकभैरवम्। मुमोच पाशं दैत्यस्य भुजबन्धाभिलाषकः॥ २१२॥
स दैत्यभुजमासाद्य सर्पः सद्यो व्यपद्यत। स्फुटितक्रकचक्रूरदशनालिर्महाहनुः॥ २१३॥
ततोऽश्विनौ समरुतः ससाध्याः समहोरगाः। यक्षराक्षसगन्धर्वा दिव्यनानास्त्रपाणयः॥२१४॥
जघ्नुर्दैत्येश्वरं सर्वे सम्भूय सुमहाबलाः। न चास्त्राण्यस्य सज्जन्त गात्रे वज्राचलोपमे॥ २१५॥

तदुपरान्त अग्निने युद्धभूमिमें दानवेन्द्रपर अपनी शक्ति छोड़ी, जो प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्विनी, अजेय और दुर्धर्ष थी, किंतु वह उसके वक्षःस्थलपर नवीन शिरीष-पुष्पोंकी मालाकी तरह सुशोभित हुई। तत्पश्चात् लोकपाल निर्ऋतिने भी अपने आकाशके समान निर्मल एवं समस्त दिशाओंको उद्भासित करनेवाले खड्गको म्यानसे खींचकर उस दानवेन्द्रपर चला दिया और वह उसके मस्तकपर जा गिरा, परंतु गिरते ही वह खड्ग शीघ्र ही सैकड़ों टुकड़ोंमें चूर-चूर हो गया। इसके बाद वरुणने उस दैत्यकी भुजाओंको बाँध देनेकी अभिलाषासे अपना दुर्धर्ष तथा विष एवं अग्निके समान भयंकर पाश फेंका, किंतु वह सर्प-पाश दैत्यकी भुजापर पहुँचकर तुरंत ही नष्ट हो गया, उसकी आरेके समान क्रूर दन्तपङ्क्ति तथा विशाल ठुड्डी टूट-फूटकर नष्ट हो गयी। तदनन्तर अश्विनीकुमार, मरुद्गण, साध्यगण, बड़े-बड़े नाग, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व—ये सभी महाबली देवगण हाथोंमें नाना प्रकारके दिव्यास्त्र धारण कर एक साथ उस दैत्यराजपर प्रहार करने लगे, परंतु वज्र एवं पर्वत-सरीखे उसके शरीरपर उन अस्त्रोंका कोई प्रभाव न पड़ा॥ २०८—२१५॥

ततो रथादवप्लुत्य तारको दानवाधिपः। जघान कोटिशो देवान् करपाष्णिभिरेव च॥ २१६॥
हतशेषाणि सैन्यानि देवानां विप्रदुद्रुवुः। दिशो भीतानि संत्यज्य रणोपकरणानि तु॥ २१७॥
लोकपालांस्ततो दैत्यो बबन्धेन्द्रमुखान् रणे। सकेशवान् दृढैः पाशैः पशुमारः पशूनिव॥ २१८॥
स भूयो रथमास्थाय जगाम स्वकमालयम्। सिद्धगन्धर्वसंघुष्टविपुलाचलमस्तकम्॥ २१९॥
स्तूयमानो दितिसुतैरप्सरोभिर्विनोदितः। त्रैलोक्यलक्ष्मीस्तद्देशे प्राविशत् स्वपुरं यथा॥ २२०॥
निषसादासने पद्मरागरत्नविनिर्मिते।
ततः किंनरगन्धर्वनागनारीविनोदितः। क्षणं विनोद्यमानस्तु प्रचलन्मणिकुण्डलः॥ २२१॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे देवासुरसंग्रामे तारकजयलाभो नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥१५३॥

तत्पश्चात् दानवराज तारकने रथसे कूदकर घूँसों एवं पैरोंकी ठोकरोंसे करोड़ों देवताओंका कचूमर निकाल दिया। मरनेसे बचे हुए देवताओंके सैनिक-समूह भयभीत हो युद्ध-सामग्रियोंका त्याग कर चारों

दिशाओंमें भाग खड़े हुए। तब उस दैत्यने रणभूमिमें केशवसहित इन्द्र आदि सभी लोकपालोंको सुदृढ़ पाशसे उसी प्रकार बाँध लिया, जैसे कसाई पशुओंको बाँध लेता है। फिर वह रथपर बैठकर अपने उस निवासस्थानकी ओर चल पड़ा, जो सिद्धों एवं गन्धर्वोंसे सेवित एक विशाल पर्वतके शिखरपर अवस्थित था। उस समय उसके मनोरञ्जनके लिये दैत्यगण एवं अप्सराएँ उसकी स्तुति कर रही थीं। उस देशमें त्रिलोकीकी लक्ष्मी इस प्रकार प्रविष्ट हो रही थी मानो अपने नगरमें जा रही हो। वहाँ पहुँचकर वह पद्मराग मणि एवं रत्नोंसे बने हुए सिंहासनपर विराजमान हुआ। तब किंनर, गन्धर्व और नागोंकी स्त्रियाँ उसका मनोविनोद करने लगीं। मन बहलाते समय उसके मणिनिर्मित कुण्डल झलमला रहे थे॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके देवासुरसंग्राममें तारक-जयलाभ नामक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥१५३॥
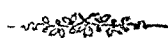
एक सौ चौवनवाँ अध्याय

तारकके आदेशसे देवताओंकी बन्धन-मुक्ति, देवताओंका ब्रह्माके पास जाना और अपनी विपत्ति-गाथा सुनाना, ब्रह्माद्वारा तारक-वधके उपायका वर्णन, रात्रिदेवीका प्रसङ्ग, उनका पार्वतीरूपमें जन्म, काम-दहन और रतिकी प्रार्थना, पार्वतीकी तपस्या, शिव-पार्वती-विवाह तथा पार्वतीका वीरकको पुत्ररूपमें स्वीकार करना*

सूत उवाच

प्रादुरासीत् प्रतीहारः शुभ्रनीलाम्बुजाम्बरः। स जानुभ्यां महीं गत्वा पिहितास्यः स्वपाणिना॥ १॥
उवाचानाविलं वाक्यमल्पाक्षरपरिस्फुटम्। दैत्येन्द्रमर्कवृन्दानां बिभ्रतं भास्वरं वपुः॥ २॥
कालनेमिः सुरान् बद्धांश्चादाय द्वारि तिष्ठति। स विज्ञापयति स्थेयं क्व बन्दिभिरिति प्रभो॥ ३॥
तन्निशम्याब्रवीद् दैत्यः प्रतीहारस्य भाषितम्। यथेष्टं स्थीयतामेभिर्गृहं मे भुवनत्रयम्॥ ४॥
केवलं पाशबन्धेन विमुक्तैरविलम्बितम्। एवं कृते ततो देवा दूयमानेन चेतसा॥ ५॥
जग्मुर्जगद्गुरुं द्रष्टुं शरणं कमलोद्भवम्।
निवेदितास्ते शक्राद्याः शिरोभिर्धरणिं गताः। तुष्टुवुः स्पष्टवर्णार्थैर्वचोभिः कमलासनम्॥ ६॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर स्वच्छ नीले कमल-सा वस्त्र धारण किये द्वारपाल तारकके सम्मुख उपस्थित हुआ। वह अपने हाथसे मुखको ढके हुए था। उसने घुटनोंके बल पृथ्वीपर माथा टेककर सूर्यसमूहोंके-से उद्दीप्त शरीर धारण करनेवाले दैत्येश्वर तारकसे स्वल्प किंतु स्पष्ट शब्दोंमे निवेदन किया—'प्रभो! कालनेमि देवताओंको बंदी बनाकर साथ लिये हुए द्वारपर खड़ा है। वह पूछ रहा है कि इन बंदियोंको कहाँ रखा जाय।' द्वारपालके उस कथनको सुनकर दैत्यराजने कहा—'अरे! ये स्वेच्छानुसार कहीं भी स्थित रहें, इन्हें शीघ्र ही केवल बन्धन-मुक्त कर दिया जाय; क्योंकि अब तो तीनों भुवन मेरा गृह है अर्थात् पूरे विश्व-पर मेरा ही अधिकार है।' इस प्रकार बन्धन-मुक्त होनेके पश्चात् देवगण दुःखी चित्तसे जगद्गुरु कमल-

* मत्स्यपुराणका यह अध्याय पुराण-साहित्यमें सबसे बड़ा दीखता है। पर ये सभी श्लोक ठीक इसी प्रकार शिवपुराण पार्वतीखण्ड १—१०, स्कन्द-पुराण महेश्वरखण्ड, केदारखण्ड २५—३५, कौमारिकाखण्ड २१—३१, कालिकापुराण ४४—५०, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ३१—३२ आदिमें भी प्राप्त होते हैं।

जन्मा ब्रह्माका दर्शन करनेके लिये उनकी शरणमें गये । वहाँ पहुँचकर उन इन्द्र आदि देवताओंने पृथ्वीपर सिर टेककर ब्रह्माको प्रणाम किया और उनसे अपनी करुण-कहानी कह सुनायी । तत्पश्चात् वे स्पष्ट अक्षरों एवं अर्थोंसे युक्त वचनोंद्वारा ब्रह्माकी स्तुति करने लगे ॥ १—६ ॥

देवा ऊचुः

त्वमोंकारोऽस्यङ्कुराय प्रसूतो विश्वस्यात्मानन्तभेदस्य पूर्वम् ।
सम्भूतस्यानन्तरं सत्त्वमूर्ते संहारेच्छोस्ते नमो रुद्रमूर्ते ॥ ७ ॥
व्यक्तिं नीत्वा त्वं वपुः स्वं महिम्ना तस्मादण्डात् स्वाभिधानादचिन्त्यः ।
द्यावापृथ्व्योरूर्ध्वखण्डावराभ्यां ह्यण्डादस्मात् त्वं विभागं करोषि ॥ ८ ॥
व्यक्तं मेरौ यज्जरायुस्तवाभूदेवं विद्मस्त्वत्प्रणीतश्चकास्ति ।
व्यक्तं देवाजन्मनः शाश्वतस्य द्यौस्ते मूर्धा लोचने चन्द्रसूर्यौ ॥ ९ ॥
व्यालाः केशाः श्रोत्ररन्ध्रा दिशस्ते पादौ भूमिर्नाभिरन्ध्रे समुद्राः ।
मायाकारः कारणं त्वं प्रसिद्धो वेदैः शान्तो ज्योतिषा त्वं हि शुक्रः ॥ १० ॥

देवगण बोले—सत्त्वमूर्ते ! आप ओंकारस्वरूप हैं । आप विश्वकी रचनाके लिये प्रकट सर्वप्रथम अङ्कुर हैं और इस अनन्त भेदोंवाले विश्वके आत्मा अर्थात् मूलस्वरूप हैं । रुद्रमूर्ते ! अन्तमें इस उत्पन्न हुए विश्वका संहार भी आप ही करते हैं, आपको नमस्कार है । आपका स्वरूप अचिन्त्य है । आप अपनी महिमासे अपने शरीरको अपने ही नामसे युक्त अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्डके रूपमें प्रकटकर उसी ब्रह्माण्डसे ऊपर एवं नीचेके दो खण्डोंद्वारा आकाश और पृथ्वीका विभाजन करते हैं । हमलोग स्पष्टरूपसे ऐसा जानते हैं कि मेरुपर्वतपर आपने जो देवादि प्राणियोंकी आयु-सीमा निर्धारित की थी, वही कर्तव्यता आदि आपद्वारा निर्मित विधान अब भी प्रचलित है । देव ! यह स्पष्ट है कि आप अजन्मा और अविनाशी हैं । आकाश आपका मस्तक, चन्द्रमा एवं सूर्य आपके नेत्र, सर्प केश, दिशाएँ कानोंके छिद्र, पृथ्वी दोनों चरण और समुद्र नाभिछिद्र हैं । आप मायाके रचयिता तथा जगत्के कारणरूपसे प्रसिद्ध हैं । वेदोंका कहना है कि आप परमज्योतिसे युक्त एवं शान्तस्वरूप हैं ॥ ७—१० ॥

वेदार्थेषु त्वां विवृण्वन्ति बुद्ध्वा हृत्पद्मान्तःसंनिविष्टं पुराणम् ।
त्वामात्मानं लब्धयोगा गृणन्ति सांख्यैर्यास्ताः सप्त सूक्ष्माः प्रणीताः ॥ ११ ॥
तासां हेतुर्याष्टमी चापि गीता तस्यां तस्यां गीयसे वै त्वमन्तम् ।
दृष्ट्वा मूर्तिं स्थूलसूक्ष्मां चकार देवैर्भावाः कारणैः कैश्चिदुक्ताः ॥ १२ ॥
सम्भूतास्ते त्वत्त एवादिसर्गे भूयस्तां तां वासनां तेऽभ्युपेयुः ।
त्वत्संकल्पेनानन्तमायाविमूढः कालोऽपेयो ध्वस्तसंख्याविकल्पः ॥ १३ ॥
भावाभावव्यक्तिसंहारहेतुस्त्वं सोऽनन्तस्तस्य कर्तासि चात्मन् ।
येऽन्ये सूक्ष्माः सन्ति तेभ्योऽभिगीतः स्थूला भावाश्चावृतारश्च तेषाम् ॥ १४ ॥
तेभ्यः स्थूलैस्तैः पुराणैः प्रतीतो भूतं भव्यं चैवमुद्भूतिभाजाम् ।
भावे भावे भाविनं त्वा युनक्ति युक्तं युक्तं व्यक्तिभावान्निरस्य ।
इत्थं देवो भक्तिभाजां शरण्यस्त्राता गोप्ता नो भवानन्तमूर्तिः ॥ १५ ॥

विद्वान्लोग, आपको वेदार्थोंमें खोजते हैं और आपको जानकर अपने हृदयकमलके भीतरी भागमें स्थित पुराणपुरुष बतलाते हैं । योगके ज्ञाता आपको आत्मस्वरूप कहते हैं तथा सांख्यज्ञोंद्वारा जो सात सूक्ष्म मूर्तियाँ निर्मित की गयी

हैं तथा उनकी हेतुभूता जो आठवीं कही गयी है, उन सभीके अन्तमें आपकी ही स्थिति मानी गयी है। यह देखकर आपने ही स्थूल एवं सूक्ष्म मूर्तियोंका आविष्कार किया था। किन्हीं अज्ञात कारणवश देवताओंने उन भावोंका वर्णन किया था। वे सभी आदिसृष्टिके समय आपसे ही प्रकट हुए थे और आपके संकल्पके अनुसार उन्हें पुनः वैसी-वैसी वासना प्राप्त हुई थी। आप अनन्त मायाओंद्वारा निगूढ़, अप्रमेय कालस्वरूप एवं कल्पित संख्यासे अतीत हैं। आप भाव और अभावकी उत्पत्ति और संहारके कारण हैं। आत्मस्वरूप भगवन्! आप अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डके कर्ता हैं। अन्यान्य जितने सूक्ष्म, स्थूल तथा उनको भी ढकनेवाले अर्थात् उनसे उत्कृष्ट भाव हैं, उनके द्वारा भी आपका गुणगान किया गया है। उनसे बढ़कर जो स्थूल एवं प्राचीन हैं, उनके द्वारा भी आप जाने गये हैं। आप उन्नतिशीलोंके भूत एवं भविष्य-रूप हैं। आप प्रत्येक भावमें अनुप्रविष्ट होकर व्यक्त होते हैं और व्यक्तिभावका निरसन कर उसमें अवस्थित रहते हैं। इस प्रकार अनन्त मूर्ति धारण करनेवाले देवाधिदेव! आप हम भक्तजनोंके लिये शरणदाता, रक्षक और सहायक होइये॥ ११—१५॥

विरिञ्चिममराः स्तुत्वा ब्रह्माणमविकारिणम्। तस्थुर्मनोभिरिष्टार्थसम्प्राप्तिप्रार्थनास्ततः॥ १६॥
एवं स्तुतो विरिञ्चिस्तु प्रसादं परमं गतः। अमरान् वरदेनाह वामहस्तेन निर्दिशन्॥ १७॥

इस प्रकार देवगण अविकारी ब्रह्माकी स्तुति करके मनमें अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करते हुए खड़े रहे। देवताओंद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर ब्रह्मा परम प्रसन्न हुए और अपने वरदायक बायें हाथसे देवताओंको निर्देश करते हुए बोले॥ १६—१७॥

ब्रह्मोवाच

नारीवाभर्तृका कस्मात् तनुस्ते त्यक्तभूषणा। न राजते तथा शक्र म्लानवक्त्रशिरोरुहा॥ १८॥
हुताशन विमुक्तोऽपि न धूमेन विराजसे। भस्मनेव प्रतिच्छन्नो दग्धदावश्चिरोषितः॥ १९॥
यमामयमये नैव शरीरे त्वं विराजसे। दण्डस्यालम्बनेनेव कृच्छ्रच्छ्रस्तु पदे पदे॥ २०॥
रजनीचरनाथोऽपि किं भीत इव भाषसे। राक्षसेन्द्र क्षताराते त्वमरातिक्षतो यथा॥ २१॥
तनुस्ते वरुणोच्छुष्का परीतस्येव वह्निना। विमुक्तरुधिरं पाशं फणिभिः प्रविलोकयन्॥ २२॥
वायो भवान् विचेतस्कस्त्वं स्निग्धैरिव निर्जितः। किं त्वं बिभेषि धनद संन्यस्यैव कुबेरताम्॥ २३॥
रुद्रास्त्रिशूलिनः सन्तो वदध्वं बहुशूलताम्। भवन्तः केन तत्क्षिप्तं तेजस्तु भवतामपि॥ २४॥
अकिंचित्करतां यातः करस्ते न विभासते। अलं नीलोत्पलाभेन चक्रेण मधुसूदन॥ २५॥
किं त्वयानुदरालीनभुवनप्रविलोपफलम्। क्रियते स्तिमिताक्षेण भवता विश्वतोमुख॥ २६॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र! भूषणोंसे रहित तथा मलिन मुख एवं बालोंसे युक्त तुम्हारा शरीर पतिविहीना स्त्रीकी तरह शोभा नहीं पा रहा है। हुताशन! धूमसे रहित होनेपर भी तुम्हारी शोभा नहीं हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम चिरकालसे जलकर शान्त हो गये हो और राखसे ढक गये हो। यमराज! इस रोगी शरीरमें तुम्हारी शोभा नहीं हो रही है। ऐसा ज्ञात होता है, मानो तुम पग-पगपर कठिनाईका अनुभव करते हुए कालदण्डके सहारे चल रहे हो। राक्षसेन्द्र निर्ऋति! तुम राक्षसोंके स्वामी होकर भी भयभीतकी तरह क्यों बोल रहे हो? अरे शत्रु-संहारक! तुम तो शत्रुओंद्वारा घायल किये हुए-से दीख रहे हो। वरुण! तुम्हारा शरीर अग्निसे घिरे हुएकी तरह अत्यन्त शुष्क दीख रहा है। ऐसा लग रहा है मानो सर्पोंने तुम्हारे पाशमेंसे खून उगल दिया है। वायुदेव! तुम स्नेहीजनोंद्वारा पराजित हुएकी तरह अचेत-से दीख रहे

हो। कुबेर ! तुम अपने यक्षाधिपत्यको त्यागकर क्यों भयभीत हो रहे हो ? रुद्रगण ! तुमलोग तो त्रिशूलधारी थे, बताओ तो सही, तुम्हारे त्रिशूलकी विशिष्ट क्षमता कहाँ चली गयी ? तुमलोगोंके भी उस तेजको किसने नष्ट कर दिया ? मधुसूदन ! आपका हाथ कर्तव्यहीन हो गया है, जिससे इसकी शोभा नहीं हो रही है। इस नीले कमलकी-सी कान्तिवाले चक्रके धारण करनेसे क्या लाभ ? विश्वतोमुख ! इस समय आप नेत्र बंद करके अपने उदरमें विलीन हुए भुवनोंका अवलोकन क्यों कर रहे हैं ? ॥ १८—२६॥

एवमुक्ताः सुरास्तेन ब्रह्मणा ब्रह्ममूर्तिना। वाचां प्रधानभूतत्वान्मारुतं तमचोदयन् ॥ २७ ॥
अथ विष्णुमुखैर्देवैः श्वसनः प्रतिबोधितः। चतुर्मुखं तदा प्राह चराचरगुरुं विभुम् ॥ २८ ॥

उन वेदमूर्ति ब्रह्माद्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर देवताओंने वाणी-शक्तिके मुख्य कारण वायुको प्रेरित किया। उस समय विष्णु आदि देवताओंने वायुको भलीभाँति समझा दिया, तब वे ऐश्वर्यशाली एवं चराचर प्राणियोंके गुरु ब्रह्मासे बोले—॥२७-२८॥

न तु वेत्सि चराचरभूतगतं भवभावमतीव महानुच्छ्रितः प्रभवः।
पुनरर्थिवचोऽभिविस्तृतश्रवणोपमकौतुकभावकृतः ॥ २९ ॥
त्वमनन्त करोषि जगद्भवतां सचराचरगर्भविभिन्नगुणाम्।
अमरासुरमेतदशेषमपि त्वयि तुल्यमहो जनकोऽसि यतः।
पितुरस्ति तथापि मनोविकृतिः सगुणो विगुणो बलवानबलः ॥ ३० ॥
भवतो वरलाभनिवृत्तभयः कुलिशाङ्गसुतो दितिजोऽतिबलः।
सचराचरनिर्मथने किमिति कितवस्तु कृतो विहितो भवता ॥ ३१ ॥
किल देव त्वया स्थितये जगतां महदद्भुतचित्रविचित्रगुणाः।
अपि तुष्टिकृतः श्रुतकामफला विहिता द्विजनायक देवगणाः ॥ ३२ ॥
अपि नाकमभूत् किल यज्ञभुजां भवतो विनियोगवशात् सततम्।
अपहृत्य विमानगणं स कृतो दितिजेन महामरुभूमिसमः ॥ ३३ ॥

'भगवन् ! चराचर प्राणियोंके मनोमे उत्पन्न हुए भावोंको आप न जानते हों—ऐसी बात नहीं है। आप अत्यन्त महान्, सर्वोपरि और जगत्के उत्पत्तिस्थान हैं। यह तो आपने केवल याचकोंके वचनोंको विस्तारपूर्वक सुननेके लिये कुतूहलका भाव प्रकट किया है। अनन्त ! आप चराचर प्राणियोसे युक्त विभिन्न गुणवाली विश्व-सृष्टि करते है। यद्यपि ये सम्पूर्ण देवता और असुर आपकी दृष्टिमें एक-से हैं; क्योंकि आप ही सबको उत्पन्न करनेवाले हैं, तथापि पिताके मनमें भी पुत्रोंके सगुण-निर्गुण एवं सबल-निर्बलरूप पक्षको लेकर अन्तर रहता ही है। आपसे वरदान प्राप्त कर निर्भय हुआ वज्राङ्गका पुत्र महाबली धूर्त दैत्य तारक चराचर जगत्का नाश करनेके लिये क्या कर रहा है, यह आपको (भलीभाँति) विदित है। देव ! क्या आपने जगत्की स्थितिके लिये महान् एवं अद्भुत चित्र-विचित्र गुणोंसे युक्त, संतुष्ट करनेवाले एवं वाञ्छित अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेवाले देवगणोंकी सृष्टि नहीं की थी ? द्विजनायक ! क्या आपके आदेशानुसार स्वर्गलोक सदा यज्ञभोजी देवताओंके अधिकारमें नहीं रहता आया है, किंतु उस दैत्यने विमानसमूहोंको छीनकर उसे महान् मरुस्थल-सा बना दिया है ॥

कृतवानसि सर्वगुणातिशयं यमशेषमहीधरराजतया।
सममिङ्गितभावविधिः स गिरिर्गगनेन सदोच्छ्रयतां हि गतः ॥ ३४ ॥

अधिवासविहारविधावुचितो दितिजेन पविक्षतशृङ्गतटः।
परिलुण्ठितरत्नगुहानिवहो बहुदैत्यसमाश्रयतां गमितः ॥ ३५ ॥
सुरराज स तस्य भयेन गतं व्यदधादशरीर इतोऽपि वृथा।
उपयोग्यतया विवृतं सुचिरं विमलद्युतिपूरितदिग्वदनम् ॥ ३६ ॥
भवतैव विनिर्मितमादियुगे सुरहेतिसमूहमकुण्ठमिदम्।
दितिजस्य शरीरमवाप्य गतं शतधा मतिभेदमिवाल्पमनाः ॥ ३७ ॥

जिस हिमालयको समस्त पर्वतोंका राजा होनेके कारण आपने सर्वगुण-सम्पन्न बनाया, जो ऊँचाईमें आकाशतक व्याप्त था और संकेतानुसार चलनेवाला था, उसके शिखरके तटप्रान्तको उस दैत्यने वज्रसे तोड़-फोड़कर अपने निवास और विहारके उपयुक्त बना लिया है। उसकी गुफाओंके रत्न लूट लिये गये और अब वह बहुत-से दैत्योंका निवासस्थान बन गया है। उस दैत्यके भयसे वह शरीरहीन होनेपर भी इससे भी बढ़कर बुरे कामोंमें लगाया जा रहा है। सुरराज! कृतयुगके आदिमें आपने ही देवताओंके लिये उपयोगी समझकर जिन विशाल, चिरस्थायी, अपनी निर्मल कान्तिसे दिशाओंको उद्भासित करनेवाले एवं अप्रतिहत अस्त्रसमूहोंका निर्माण किया था, वे अब भी उस दैत्यके शरीरपर गिरकर कायरकी बुद्धि-भिन्नताकी तरह सैकड़ों टुकड़ोंमें टूट-टूट कर चूर हो गये ॥३४—३७॥

आसारधूलिध्वस्ताङ्गा द्वारस्थाः स्मः कदर्थिनः। लब्धप्रवेशाः कृच्छ्रेण वयं तस्यामरद्विपः ॥ ३८ ॥
सभायाममरा देव निकृष्टेऽप्युपवेशिताः। वेत्रहस्तैरजल्पन्तस्ततोऽपहसितास्तु तैः ॥ ३९ ॥
महार्याः सिद्धसर्वार्था भवन्तः स्वल्पभाषिणः। चाटुयुक्तमथो कर्म ह्यमरा बहुभाषत ॥ ४० ॥
सभेयं दैत्यसिंहस्य न शक्रस्य विसंस्थुला। वदतेति च दैत्यस्य प्रेष्यैर्विहसिता बहु ॥ ४१ ॥
ऋतवो मूर्तिमन्तस्तमुपासन्ते ह्यहर्निशम्। कृतापराधसंत्रासं न त्यजन्ति कदाचन ॥ ४२ ॥
तन्त्रीत्रयलयोपेतं सिद्धगन्धर्वकिन्नरैः। सुरागमुपधा नित्यं गीयते तस्य वेश्मसु ॥ ४३ ॥
हन्ताकृतोपकरणैर्मित्रारिगुरुलाघवैः। शरणागतसंत्यागी त्यक्तसत्यपरिश्रयः ॥ ४४ ॥
इति निःशेषमथवा निःशेषं वै न शक्यते। तस्याविनयमाख्यातुं स्रष्टा तत्र परायणम् ॥ ४५ ॥
इत्युक्तः स्वात्मभूर्देवः सुरैर्दैत्यविचेष्टितम्। सुरानुवाच भगवांस्ततः स्मितमुखाम्बुजः ॥ ४६ ॥

देवेश! (इतना ही नहीं) उस देवद्रोहीके द्वारपर कीचड़ और धूलिसे भरे हुए अङ्गवाले हमलोग तिरस्कार-पूर्वक बैठाये गये थे और बड़ी कठिनाईसे हमलोगोंको उसकी सभामें प्रवेश करनेका अवसर मिला था। उस सभामें भी देवगण निकृष्ट आसनोंपर बैठाये गये थे। वहाँ यद्यपि हमलोग कुछ बोल नहीं रहे थे, तथापि उसके बेंतधारी भृत्योंद्वारा हमलोगोंका उपहास किया जा रहा था। वे कह रहे थे—'देवगण! आपलोग बड़े सम्मानित एवं सभी प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले हैं, इसीलिये थोड़ा बोलते हैं न?' उनकी इन व्यङ्ग्यपूर्ण बातोंका उत्तर भी देवगण अनेक प्रकारकी चाटुताभरी बातोंद्वारा देते थे। 'यह दैत्यसिंह तारककी सभा है, इन्द्रकी लड़खड़ानेवाली सभा नहीं है, बोलो, बोलो!' इस प्रकार उस दैत्यके परिचारकोंद्वारा हमलोगोंकी बहुत हँसी उड़ायी गयी है। वहाँ छहों ऋतुएँ शरीर धारणकर रात-दिन उसकी सेवामें लगी हैं। वे कोई अपराध न हो जाय—इस भयसे उसे कभी नहीं छोड़तीं। सिद्ध, गन्धर्व और किंनर उसके महलोंमें निष्कपटरूपसे नित्य वीणापर तीनों लयोंसमेत सुन्दर राग अलापते रहते हैं। उस दैत्यका मित्र और शत्रुके प्रति भी बड़े-छोटेका विचार नहीं रह गया है। वह शरणमें आये हुएका भी त्याग कर देता है और सत्यका तो उसने व्यवहार ही

छोड़ दिया है। यही सब उसकी बुराइयाँ हैं अथवा उसकी उद्दण्डता तो पूर्णरूपसे कही ही नहीं जा सकती। उसे तो ब्रह्मा ही जानें। इस प्रकार देवताओं-द्वारा उस दैत्यकी कृतियोंका वर्णन किये जानेपर देवाधिदेव भगवान् ब्रह्माके मुखकमलपर मुसकराहट आ गयी, तब वे देवताओंसे बोले—॥३८–४६॥

ब्रह्मोवाच

अवध्यस्तारको दैत्यः सर्वैरपि सुरासुरैः। यस्य वध्यः स नाद्यापि जातस्त्रिभुवने पुमान्॥ ४७॥
मया स वरदानेन च्छन्दयित्वा निवारितः। तपसः साम्प्रतं राजा त्रैलोक्यदहनात्मकात्॥ ४८॥
स च वव्रे वधं दैत्यः शिशुतः सप्तवासरात्। स सप्तदिवसो बालः शंकराद् यो भविष्यति॥ ४९॥
तारकस्य निहन्ता स भास्कराभो भविष्यति। साम्प्रतं चाप्यपत्नीकः शंकरो भगवान् प्रभुः॥ ५०॥
यच्चाहमुक्तवान् यस्या ह्युत्तानकरता सदा। उत्तानो वरदः पाणिरेष देव्याः सदैव तु॥ ५१॥
हिमाचलस्य दुहिता सा तु देवी भविष्यति। तस्याः सकाशाद् यः शर्वस्त्वरण्यां पावको यथा॥ ५२॥
जनयिष्यति तं प्राप्य तारकोऽभिभविष्यति। मयाप्युपायः स कृतो यथैवं हि भविष्यति॥ ५३॥
शेषश्चाप्यस्य विभवो विनश्येत् तदनन्तरम्। स्तोककालं प्रतीक्षध्वं निर्विशङ्केन चेतसा॥ ५४॥

ब्रह्माजीने कहा—देवगण! दैत्यराज तारक सभी देवताओं एवं राक्षसोंद्वारा अवध्य है। जो उसका वध कर सकता है, वह पुरुष अभी त्रिभुवनमें उत्पन्न ही नहीं हुआ है। मैंने ही उस दैत्यराजको वरदान देकर त्रिलोकीको भस्म करनेवाले उस तपसे निवारण किया था। उस समय उस दैत्यने सात दिनके बालकद्वारा अपनी मृत्युका वरदान माँगा था। वह सप्तदिवसीय बालक, जो शंकरजीसे उत्पन्न होगा, सूर्यके समान तेजस्वी होगा। वही तारकका वध करनेवाला होगा, किंतु इस समय सामर्थ्यशाली भगवान् शंकर पत्नी-रहित हैं। इसके लिये मैंने पहले जिस देवीके विषयमें उत्तानकरताकी बात कही थी, वही देवी हिमाचलकी कन्याके रूपमें प्रकट होगी। उस देवीका वह वरदायक हाथ सदा उत्तान ही रहेगा। उस देवीके सम्पर्कसे शंकरजी अरणीमें अग्निकी तरह जिस पुत्रको उत्पन्न करेंगे, उसे सम्मुख पाकर तारक पराजित हो जायगा। मैंने भी पहलेसे ही वैसा उपाय कर रखा है, जिससे यह सब वैसा ही होगा। तदनन्तर उसका यह सारा वैभव नष्ट हो जायगा। तुमलोग निःशङ्क चित्तसे थोड़े-से कालकी और प्रतीक्षा करो। ॥ ४७–५४॥

इत्युक्तास्त्रिदशास्तेन साक्षात्कमलजन्मना। जग्मुस्तं प्रणिपत्येशं यथायोग्यं दिवौकसः॥ ५५॥
ततो गतेषु देवेषु ब्रह्मा लोकपितामहः। निशां सस्मार भगवान् स्वतनोः पूर्वसम्भवाम्॥ ५६॥
ततो भगवती रात्रिरुपतस्थे पितामहम्। तां विविक्ते समालोक्य ब्रह्मोवाच विभावरीम्॥ ५७॥

कमलजन्मा साक्षात् ब्रह्माद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर स्वर्गवासी देवगण उन देवेश्वरको प्रणाम करके अपने-अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर देवताओंके चले जानेपर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने जिसे पहले अपने शरीरसे उत्पन्न किया था, उस निशाका स्मरण किया। तब भगवती रात्रिदेवी पितामहके निकट उपस्थित हुई। उस विभावरी (रात्रि)को एकान्तमें उपस्थित देखकर ब्रह्मा बोले॥ ५५–५७॥

ब्रह्मोवाच

विभावरि महत्कार्यं विबुधानामुपस्थितम्। तत्कर्तव्यं त्वया देवि शृणु कार्यस्य निश्चयम्॥ ५८॥
तारको नाम दैत्येन्द्रः सुरकेतुरनिर्जितः। तस्याभावाय भगवाञ्जनयिष्यति चेश्वरः॥ ५९॥
सुतं स भविता तस्य तारकस्यान्तकारकः। शंकरस्याभवत् पत्नी सती दक्षसुता तु या॥ ६०॥
सा मृता कुपिता देवी कस्मिंश्चित्कारणान्तरे। भविता हिमशैलस्य दुहिता लोकभाविनी॥ ६१॥

*

विरहेण हरस्तस्या मत्वा शून्यं जगत्त्रयम्। तपस्यन् हिमशैलस्य कन्दरे सिद्धसेविते ॥ ६२ ॥
प्रतीक्षमाणस्तज्जन्म कञ्चित् कालं निवत्स्यति। तयोः सुतस्ततपसोर्भविता यो महाबलः ॥ ६३ ॥
स भविष्यति दैत्यस्य तारकस्य विनाशकः। जातमात्रा तु सा देवी स्वल्पसंज्ञा च भामिनी ॥ ६४ ॥
विरहोत्कण्ठिता गाढं हरसङ्गमलालसा। तयोः सुततपसोः संयोगः स्याच्छुभानने ॥ ६५ ॥
ततस्ताभ्यां तु जनितः स्वल्पो वाक्कलहो भवेत्। ततोऽपि संशयो भूयस्तारकं प्रति दृश्यते ॥ ६६ ॥
तयोः संयुक्तयोस्तस्मात् सुरतासक्तिकारणे। विघ्नस्त्वया विधातव्यो यथा ताभ्यां तथा शृणु॥ ६७ ॥

ब्रह्माजीने कहा—विभावरि (रात्रि देवी) !* इस समय देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य आ उपस्थित हुआ है। देवि ! उसे तुम्हें अवश्य पूरा करना है। अब उस कार्यका निर्णय सुनो। दैत्यराज तारक देवताओंका कट्टर शत्रु है, वह अजेय है। उसका विनाश करनेके लिये भगवान् शंकर जिस पुत्रको उत्पन्न करेंगे, वही उस तारकका वध करनेवाला होगा। उधर शंकरजीकी पत्नी जो दक्षपुत्री सती थी, वह देवी किसी कारणवश कुपित होकर शरीरको भस्म कर चुकी है। वही लोकसुन्दरी देवी हिमाचलकी कन्याके रूपमें प्रकट होगी। भगवान् शंकर उसके वियोगसे तीनों लोकोंको शून्य समझकर हिमाचलकी सिद्धोंद्वारा सेवित कन्दरामें तपस्या कर रहे हैं। वे उस देवीके जन्मकी प्रतीक्षा करते हुए वहाँ कुछ कालतक निवास करेंगे। उत्कृष्ट तप करनेवाले उन दोनों (शिव-पार्वती)से जो महाबली पुत्र उत्पन्न होगा, वही तारक दैत्यका विनाशक होगा। शुभानने ! वह सुन्दरी देवी जन्म लेनेके पश्चात् थोड़ा होश सँभालनेपर जब विरहसे उत्कण्ठित होकर गाढ़ रूपसे शंकरजीके समागमकी लालसासे युक्त हो जायगी, तब उन दोनों घोर तपस्वियोका संयोग होगा। उस समय उन दोनोंमें थोड़ा वाक्-कलह भी हो जायगा, जिससे तारकके विनाशके प्रति पुनः संशय दिखायी पड़ने लगेगा, अतः उन दोनोंके संयुक्त होनेपर सुरतकी आसक्तिके अवसरपर तुम्हें जैसा विघ्न उपस्थित करना होगा, उसे भी सुन लो ॥ ५८—६७ ॥

गर्भस्थाने च तन्मातुः स्वेन रूपेण रञ्जय। ततो विहाय शर्वस्तां विश्रान्तो नर्मपूर्वकम् ॥ ६८ ॥
भर्त्सयिष्यति तां देवीं ततः सा कुपिता सती। प्रयास्यति तपश्चर्तुं तत्तस्मात् तपसे पुनः ॥ ६९ ॥
जनयिष्यति यः शर्वादमितद्युतिमण्डितम्। स भविष्यति हन्ता वै सुरारीणामसंशयम् ॥ ७० ॥
त्वयापि दानवा देवि हन्तव्या लोकदुर्जयाः। यावच्च न सती देहसंक्रान्तगुणसञ्चया ॥ ७१ ॥
तत्सङ्गमेन तावत् त्वं दैत्यान् हन्तुं न शक्ष्यसे। एवं कृते तपस्तप्त्वा सृष्टिसंहारकारिणी ॥ ७२ ॥
समाप्तनियमा देवी यदा चोमा भविष्यति। तदा स्वमेव तद्रूपं शैलजा प्रतिपत्स्यते ॥ ७३ ॥
तनुस्तवापि सहजा सैकानंशा भविष्यति। रूपांशेन तु संयुक्ता त्वमुमायां भविष्यसि ॥ ७४ ॥
एकानंशेति लोकस्त्वां वरदे पूजयिष्यति। भेदैर्बहुविधाकारैः सर्वगा कामसाधिनी ॥ ७५ ॥

उस समय तुम उसकी माताके गर्भस्थानमें प्रवेश करके उसपर अपने रूपकी छाप डाल दो। तब शंकरजी उसे छोड़कर विश्राम करने लगेंगे और परिहासमें उस देवीकी भर्त्सना करेंगे, जिससे कुपित होकर वह पुनः तपस्या करनेके लिये चली जायगी। पुनः उस तपस्यासे लौटनेपर वह शंकरजीके सम्पर्कसे जिस उत्कृष्ट कान्तिसे सुशोभित पुत्रको उत्पन्न करेगी, वह निःसंदेह देव-शत्रुओका संहारक होगा। देवि ! तुम्हें भी इन लोकदुर्जय दानवोंका संहार करना चाहिये, किंतु जबतक तुम सतीके समागमसे उसके

* इन मूल श्लोकोंका ऋग्वेद, अथर्ववेद, एवं आथर्वणपरिशिष्टप्रोक्त रात्रिसूक्तादिसे घनिष्ट सम्बन्ध है। पूर्ण जानकारीके लिये यहाँका भी अर्थ ध्येय है। ये श्लोक बृहद्धर्मपुराणमें भी हैं।

शरीरसे संक्रमित हुए गुणसमूहोंसे युक्त नहीं हो जाओगी, तबतक दैत्योंका संहार करनेमें समर्थ नहीं हो सकोगी। ऐसा करनेपर जब सृष्टिका संहार करनेवाली वह देवी तपस्या करनेके पश्चात् नियमोंको समाप्त कर उमारूपसे प्रकट होगी, तब पार्वती अपने उसी रूपको प्राप्त करेगी। साथ ही तुम्हारा जो यह प्राकृतिक शरीर है, वह भी एकानंशा नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम उमाके रूपके अंशसे युक्त होकर उमासे प्रकट होओगी। वरदायिनि! संसार 'एकनंशा' नामसे तुम्हारी पूजा करेगा। तुम अनेकों प्रकारके भेदोद्वारा सर्वगामिनी एवं कामनाओंको सिद्ध करनेवाली होओगी॥ ६८—७५॥

ओंकारवक्त्रा गायत्री त्वमिति ब्रह्मवादिभिः। आक्रान्तिरूर्जिताकारा राजभिश्च महाभुजैः॥ ७६॥
त्वं भूरिति विशां माता शूद्रैः शैवीति पूजिता। क्षान्तिर्मुनीनामक्षोभ्या दया नियमिनामिति॥ ७७॥
त्वं महोपायसंदोहा नीतिर्नयविसर्पणाम्। परिच्छित्तिस्त्वमर्थानां त्वमीहा प्राणिहृच्छया॥ ७८॥
त्वं मुक्तिः सर्वभूतानां त्वं गतिः सर्वदेहिनाम्। त्वं च कीर्तिमतां कीर्तिस्त्वं मूर्तिः सर्वदेहिनाम्॥ ७९॥
रतिस्त्वं रक्तचित्तानां प्रीतिस्त्वं हृष्टदर्शिनाम्। त्वं कान्तिः कृतभूषाणां त्वं शान्तिर्दुःखकर्मणाम्॥ ८०॥
त्वं भ्रान्तिः सर्वभूतानां त्वं गतिः क्रतुयाजिनाम्। जलधीनां महावेला त्वं च लीला विलासिनाम्॥ ८१॥
सम्भूतिस्त्वं पदार्थानां स्थितिस्त्वं लोकपालिनी। त्वं कालरात्रिर्निःशेषभुवनावलिनाशिनी॥ ८२॥
प्रियकण्ठग्रहानन्ददायिनी त्वं विभावरी। इत्यनेकविधैर्देवि रूपैर्लोके त्वमर्चिता॥ ८३॥
ये त्वां स्तोष्यन्ति वरदे पूजयिष्यन्ति चापि ये। ते सर्वकामानाप्स्यन्ति नियता नात्र संशयः॥ ८४॥

इसी प्रकार ब्रह्मवादी विप्रगण तुम्हें ओंकाररूप मुखवाली गायत्री और महाबाहु नृपतिवृन्द उन्नतिशीला शक्ति कहेंगे। तुम पृथ्वीरूपसे वैश्योंकी माता कहलाओगी और शूद्र 'शैवी' कहकर तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम मुनियोंकी क्षुब्ध न की जा सकनेवाली क्षमा, नियमधारियोंकी दया, नीतिज्ञोंकी महान् उपायोंसे परिपूर्ण नीति, अर्थ-साधनाकी सीमा, समस्त प्राणियोंके हृदयमें निवास करनेवाली इच्छा, समस्त प्राणियोंकी मुक्ति, सम्पूर्ण देहधारियोंकी गति, कीर्तिमान् जनोंकी कीर्ति, अखिल देहधारियोंकी मूर्ति, अनुरागी जनोंकी रति, हर्षसे परिपूर्ण लोगोंकी प्रीति (प्रसन्नता), शृङ्गारसे सुसज्जित प्राणियोंकी कान्ति (शोभा), दुःखीजनोंके लिये शान्तिरूपा, निखिल प्राणियोंकी भ्रान्ति, यज्ञानुष्ठान करनेवालोंकी गति, समुद्रोंकी विशाल वेला (तट), विलासियोंकी लीला, पदार्थोंकी सम्भूति (उत्पत्तिस्थान), लोकोंका पालन करनेवाली स्थिति, सम्पूर्ण भुवनसमूहोंको नाश करनेवाली कालरात्रि तथा प्रियतमके गलेसे लगनेपर उत्पन्न हुए आनन्दको देनेवाली रात्रिके रूपमें सम्मानित होओगी। देवि! इस प्रकार तुम संसारमें अनेक प्रकारके रूपोंद्वारा पूजित होओगी। वरदे! जो लोग नियमपूर्वक तुम्हारा स्तवन-पूजन करेंगे, वे सभी मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥ ७६—८४॥

इत्युक्ता तु निशा देवी तथेत्युक्त्वा कृताञ्जलिः। जगाम त्वरिता तूर्णं गृहं हिमगिरेः परम्॥ ८५॥
तत्रासीनां महाहर्म्ये रत्नभित्तिसमाश्रयाम्। ददर्श मेनामापाण्डुच्छविवक्त्रसरोरुहाम्॥ ८६॥
किंचिच्छ्याममुखोदग्रस्तनभारावनामिताम्। महौषधिगणाबद्धमन्त्रराजनिषेविताम्॥ ८७॥
उद्वहन् कलकोन्नद्धजीवरक्षामहोरगाम्। मणिदीपगणज्योतिर्महालोकप्रकाशिते॥ ८८॥
प्रकीर्णबहुसिद्धार्थे मनोजपरिवारके। शुचि न्यंशुकसंछन्नभूशय्यास्तरणोज्ज्वले॥ ८९॥
धूपामोदमनोज्ञे शर्वगन्धोपयोगिके। ततः क्रमेण दिवसे गते दूरं विभावरी॥ ९०॥

व्यजृम्भत सुखोदर्कं ततो मेनामहागृहे । प्रसुप्तप्रायपुरुषे निद्राभूतोपचारिके ॥ ९१ ॥
स्फुटालोके शशभृति भ्रान्तिरात्रिविहङ्गमे । रजनीचरभूतानां सङ्घैरावृतचत्वरे ॥ ९२ ॥
गाढकण्ठग्रहालग्नसुभगेष्वजने ततः । किंचिदाकुलताप्राप्ते मेनानेत्राम्बुजद्वये ॥ ९३ ॥
आविवेश मुखे रात्रिः सुचिरस्फुटसंगमा । जन्मदाया जगन्मातुः क्रमेण जठरान्तरे ॥ ९४ ॥
आविवेशान्तरं जन्म मन्यमाना क्षपा तु वै । अरञ्जयच्छविं देव्या गुहारण्ये विभावरी ॥ ९५ ॥

ब्रह्माद्वारा इस प्रकार आदेश दिये जानेपर विभावरी (रात्रि) देवी हाथ जोड़कर 'अच्छा, ऐसा ही करूँगी' यों कहकर तुरंत ही बड़े वेगसे हिमाचलके उस सुन्दर भवनकी ओर प्रस्थित हुई । वहा पहुँचकर उसने एक विशाल अट्टालिकापर रत्ननिर्मित दीवालके सहारे बैठी हुई मेनाको देखा । उस समय उनके मुखकमलकी कान्ति कुछ पीली पड़ गयी थी । वे कुछ काले रंगवाले चूचुकोंसे युक्त स्तनके भारसे झुकी हुई थीं । उनके गलेमें जीव-रक्षाके निमित्त एक स्वर्णनिर्मित विशाल सर्पके-से आकारवाली माला लटक रही थी, जिसमें महौषधियोंके समूह और अभिमन्त्रित मन्त्रराज बँधे हुए थे । उनका वह महल मणिनिर्मित दीपसमूहोंकी ज्योतिके उत्कट प्रकाशसे उद्भासित था । वहाँ प्रयोजन-सिद्धिके लिये बहुत-से पदार्थ रखे हुए थे, जिससे वह कामदेवके परिवार-जैसा लग रहा था । वहाँ भूतलपर शय्या बिछी थी, जिसपर शुद्ध एवं श्वेत रेशमी चद्दर बिछी हुई थी तथा सर्जकी गन्धके समान मनको लुभानेवाले धूपकी सुगन्ध फैल रही थी । तदनन्तर क्रमशः दिनके व्यतीत होनेपर विभावरी मेनाके उस सुखमय विशाल गृहमें अपना प्रसार करने लगी । तत्पश्चात् जब शयनके लिये बिछी हुई शय्याओंपर पुरुषगण प्रायः कुछ निद्रामग्न-से होने लगे, चाँदनी स्पष्टरूपसे बिखर गयी, रात्रिमें विचरनेवाले पक्षी निर्भय होकर इधर-उधर घूमने लगे, चबूतरों (चौराहों) पर राक्षसों और भूत-प्रेतोंका जमघट लग गया, पति-पत्नी गाढरूपसे गले लगकर नींदके वशीभूत हो गये, तब मेनाके भी दोनो नेत्रकमल नींदसे कुछ व्याकुल हो गये । ऐसा अवसर पाकर चिरकालसे स्पष्टरूपसे संगमकी इच्छा रखनेवाली रात्रि देवी जगन्माता पार्वतीकी जन्मदायिनी मेनाके मुखमें प्रवेश कर गयी और उसने क्रमशः सारे उदरपर अधिकार जमा लिया । अपने प्रवेशके अनन्तर देवीका जन्म मानती हुई विभावरी रात्रिने जंगली गुफाकी तरह उस उदरमें देवीकी कान्तिको अपने रंगसे रँग दिया ॥ ८५–९५ ॥

ततो जगत्परित्राणहेतुर्हिमगिरिप्रिया । ब्राह्मे मुहूर्ते सुभगे व्यसूयत गुहारणिम् ॥ ९६ ॥
तस्यां तु जायमानायां जन्तवः स्थाणुजङ्गमाः । अभवन् सुखिनः सर्वे सर्वलोकनिवासिनः ॥ ९७ ॥
नारकाणामपि तदा सुखं स्वर्गसमं महत् । अभवत् क्रूरसत्त्वानां चेतः शान्तं च देहिनाम् ॥ ९८ ॥
ज्योतिषामपि तेजस्त्वमभवत् सुरतोन्नता । वनाश्रिताश्चौषधयः स्वादुवन्ति फलानि च ॥ ९९ ॥
गन्धवन्ति च माल्यानि विमलं च नभोऽभवत् । मारुतश्च सुखस्पर्शो दिशश्च सुमनोहराः ॥ १०० ॥
तेन चोद्भूतफलितपरिपाकगुणोज्ज्वलाः । अभवत् पृथिवी देवी शालिमालाकुलापि च ॥ १०१ ॥
तपांसि दीर्घचीर्णानि मुनीनां भावितात्मनाम् । तस्मिन् गतानि साफल्यं काले निर्मलचेतसाम् ॥ १०२ ॥
विस्मृतानि च शास्त्राणि प्रादुर्भावं प्रपेदिरे । प्रभावस्तीर्थमुख्यानां तदा पुण्यतमोऽभवत् ॥ १०३ ॥
अन्तरिक्षे सुराश्चासन् विमानेषु सहस्रशः । समहेन्द्रहरिब्रह्मवायुवह्निपुरोगमाः ॥ १०४ ॥
पुष्पवृष्टिं प्रमुमुचुस्तस्मिंस्तु हिमभूधरे । जगुर्गन्धर्वमुख्याश्च ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १०५ ॥

तदनन्तर जगत्के परिरक्षणकी हेतुभूता हिमाचल-प्रिया मेनाने सुन्दर ब्राह्म मुहूर्तमें स्कन्दकी माता पार्वतीको जन्म दिया । पार्वतीके उत्पन्न होनेपर सम्पूर्ण लोकोंके निवासी एवं सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी सुखी हो गये । उस

समय नरक-निवासियोंको भी स्वर्गके समान महान् सुखका अनुभव हुआ। क्रूर स्वभाववाले प्राणियोंका चित्त शान्त हो गया। ज्योतिर्गणोंका तेज बढ़ गया। देवसमूहोंकी उन्नति हुई। जंगली ओषधियाँ विकसित हो गयीं और फल स्वादिष्ट हो गये। पुष्पोंमें सुगन्ध बढ़ गयी और आकाश निर्मल हो गया। सुखस्पर्शी शीतल, मंद, सुगन्ध वायु चलने लगी। दिशाएँ अत्यन्त मनोहारिणी हो गयीं। वे कुछ उत्पन्न हुए, कुछ फले हुए और कुछ पके हुए पदार्थोंके गुणोंसे युक्त होनेके कारण चमक रही थीं। पृथ्वीदेवी भी धान्यसमूहोंसे व्याप्त हो गयी। निर्मल-चित्त एवं शुद्धात्मा मुनियोंकी दीर्घकालसे चली आती हुई तपस्याएँ उस समय सफल हो गयीं। भूले हुए शास्त्र पुनः प्रकट होने लगे। प्रधान-प्रधान तीर्थोंका प्रभाव परम पुण्यमय हो गया। उस समय महेन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, वायु, अग्नि आदि हजारों देवता विमानोंपर चढ़कर आकाशमें उपस्थित थे। वे उस हिमाचलपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे, प्रधान-प्रधान गन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ९६—१०५ ॥

मेरुप्रभृतयश्चापि मूर्तिमन्तो महाबलाः। तस्मिन्महोत्सवे प्राप्ते दिव्यप्रभृतपाणयः ॥ १०६ ॥
सरितः सागराश्चैव समाजग्मुश्च सर्वशः। हिमशैलोऽभवल्लोके तथा सर्वैश्चराचरैः ॥ १०७ ॥
सेव्यश्चाप्यभिगम्यश्च स श्रेयांश्चाचलोत्तमः। अनुभूयोत्सवं देवा जग्मुः स्वानालयान्मुदा ॥ १०८ ॥
देवगन्धर्वनागेन्द्रशैलशीलावनीगुणैः। हिमशैलसुता देवी स्वयंपूर्विकया ततः ॥ १०९ ॥
क्रमेण वृद्धिमानीता लक्ष्मीवानलसैर्बुधैः। क्रमेण रूपसौभाग्यप्रबोधैर्भुवनत्रयम् ॥ ११० ॥
अजयद् भूषयच्चापि निःसाधारणैरगात्मजा। एतस्मिन्नन्तरे शक्रो नारदं देवसम्मतम् ॥ १११ ॥
देवर्षिमथ सस्मार कार्यसाधनसत्वरम्। स्मृतिं शक्रस्य विज्ञाय जातां तु भगवांस्तदा ॥ ११२ ॥
आजगाम मुदा युक्तो महेन्द्रस्य निवेशनम्। तं स दृष्ट्वा सहस्राक्षः समुत्थाय महासनात् ॥ ११३ ॥
यथार्हेण तु पाद्येन पूजयामास वासवः। शक्रप्रणीतां तां पूजां प्रतिगृह्य यथाविधि ॥ ११४ ॥
नारदः कुशलं देवमपृच्छत पाकशासनम्। पृष्टे च कुशले शक्रः प्रोवाच वचनं प्रभुः ॥ ११५ ॥

उस महोत्सवके अवसरपर महाबली सुमेरु आदि पर्वत शरीर धारणकर और हाथमें (उपहारके लिये) दिव्य पदार्थ लिये हुए तथा नदियों और सागरोंके दल सब ओरसे उपस्थित हुए। उस समय हिमाचल जगत्में सभी चराचर प्राणियोंद्वारा सेव्य तथा अभिगमन करने योग्य बन गये। वे श्रेष्ठ पर्वतके रूपमें मङ्गलस्वरूप हो गये। तत्पश्चात् देवगण उस उत्सवका आनन्द लेकर हर्षपूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये। इधर हिमाचलकन्या पार्वतीदेवी आलस्यरहित एवं बुद्धिमान् पुरुषोंकी लक्ष्मीकी भाँति क्रमशः दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगीं। पार्वतीने अपने देव, गन्धर्व, नागेन्द्र, पर्वत और पृथ्वीके शीलस्वभावसे युक्त गुणों तथा रूप, सौभाग्य और ज्ञानद्वारा क्रमशः तीनों लोकोंको जीत लिया और असाधारणरूपसे विभूषित भी किया। इसी बीच इन्द्रने देवताओंके अनुकूलवर्ती एवं शीघ्र ही कार्य-साधनमें जुट जानेवाले देवर्षि नारदका स्मरण किया। तब अपनेको इन्द्रद्वारा स्मरण किया गया जानकर भगवान् नारद हर्षपूर्वक महेन्द्रके निवास-स्थानपर आये। उन्हें आया हुआ देखकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र अपने सिंहासनसे उठ खड़े हुए और उन्होंने यथायोग्य पाद्य आदिद्वारा नारदजीकी पूजा की। इन्द्रद्वारा विधिपूर्वक की गयी उस पूजाको ग्रहणकर नारदने देवराज इन्द्रसे कुशल-प्रश्न किया। तब कुशल पूछे जानेपर सामर्थ्यशाली इन्द्रने इस प्रकार कहा—॥

इन्द्र उवाच

कुशलस्याङ्कुरे तावत् सम्भूते भुवनत्रये। तत्फलोद्भवसम्पत्तौ त्वं भवातन्द्रितो मुने ॥ ११६ ॥
वेत्सि चैतत्समस्तं त्वं तथापि परिचोदकः। निर्वृतिं परमां याति निवेद्यार्थं सुहृज्जने ॥ ११७ ॥

तद्यथा शैलजा देवी योगं यायात् पिनाकिना। शीघ्रं तदुद्यमः सर्वैरस्मत्पक्षैर्विधीयताम् ॥ ११८ ॥
अवगम्यार्थमखिलं तत आमन्त्र्य नारदः। शक्रं जगाम भगवान् हिमशैलनिवेशनम् ॥ ११९ ॥
तत्र द्वारे स विप्रेन्द्रश्चित्रवेत्रलताकुले। वन्दितो हिमशैलेन निर्गतेन पुरो मुनिः ॥ १२० ॥
सह प्रविश्य भवनं भुवो भूषणतां गतम्। निवेदिते स्वयं हैमे हिमशैलेन विस्तृते ॥ १२१ ॥
महासने मुनिवरो निषसादातुलद्युतिः। यथार्हं चार्घ्यपाद्यं च शैलस्तस्मै न्यवेदयत् ॥ १२२ ॥
मुनिस्तु प्रतिजग्राह तमर्घं विधिवत् तदा। गृहीतार्घं मुनिवरमपृच्छच्छ्लक्ष्णया गिरा ॥ १२३ ॥
कुशलं तपसः शैलः शनैः फुल्लाननाम्बुजः। मुनिरप्यद्रिराजानमपृच्छत् कुशलं तदा ॥ १२४ ॥

इन्द्र बोले—मुने! त्रिभुवनके कल्याणके लिये अङ्कुर तो उत्पन्न हो गया है, किंतु उससे फलरूपी सम्पत्तिकी उत्पत्तिके निमित्त आप सावधान हो जायँ। यद्यपि आप यह सब कुछ जानते हैं, तथापि कहनेवाला अपने मित्रसे अपना प्रयोजन निवेदित करके परम संतोषका अनुभव करता है। इसलिये पार्वतीदेवी जिस प्रकार शीघ्र ही शंकरजीसे संयुक्त हो जायँ, वह उपाय हमारे पक्षके सभी लोगोंको करना चाहिये। तत्पश्चात् सारा प्रयोजन समझकर और इन्द्रसे सलाह करके भगवान् नारद हिमाचलके भवनकी ओर चल पड़े। थोड़ी ही देरमें वे द्विजवर चित्र-विचित्र बेंतकी लताओंसे आच्छादित भवन-द्वारपर जा पहुँचे। वहाँ पहलेसे ही भवनके बाहर निकले हुए हिमाचलने मुनिकी वन्दना की। फिर वे हिमाचलके साथ पृथ्वीके भूषणस्वरूप उनके भवनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ अनुपम कान्तिवाले मुनिवर नारद स्वयं हिमाचलद्वारा निवेदित किये गये एक स्वर्ण-निर्मित्त विशाल सिंहासनपर विराजमान हुए। तब शैलराजने उन्हें यथायोग्य पाद्य और अर्घ्य निवेदित किया। मुनिने विधिपूर्वक उस अर्घ्यको स्वीकार किया। उस समय शैलराजका मुख खिले हुए कमलके समान हर्षसे खिल उठा। तब उन्होंने अर्घ्य ग्रहण करनेके पश्चात् मुनिवरसे मधुर वाणीमें धीरेसे उनकी तपस्याके विषयमें कुशल पूछी। इसके बाद मुनिने भी पर्वतराजसे कुशल-समाचार पूछा ॥ ११६—१२४ ॥

नारद उवाच

अहोऽवतारिताः सर्वे संनिवेशो महागिरे। पृथुत्वं मनसा तुल्यं कंदराणां तथाचल ॥ १२५ ॥
गुरुत्वं ते गुणौघानां स्थावरादतिरिच्यते। प्रसन्नता च तोयस्य मनसोऽप्यधिका च ते ॥ १२६ ॥
न लक्षयामः शैलेन्द्र शिष्यते कन्दरोदरात्। न च लक्ष्मीस्तथा स्वर्गे कुत्राधिकतया स्थिता ॥ १२७ ॥
नानातपोभिर्मुनिभिर्ज्वलनार्कसमप्रभैः। पावनैः पावितो नित्यं त्वत्कन्दरसमाश्रितैः ॥ १२८ ॥
अवमत्य विमानानि स्वर्गवासविरागिणः। पितुर्गृह इवासन्ना देवगन्धर्वकिंनराः ॥ १२९ ॥
अहो धन्योऽसि शैलेन्द्र यस्य ते कंदरं हरः। अध्यास्ते लोकनाथोऽपि समाधानपरायणः ॥ १३० ॥
इत्युक्तवति देवर्षौ नारदे सादरं गिरा। हिमशैलस्य महिषी मेना मुनिदिदृक्षया ॥ १३१ ॥
अनुयाता दुहित्रा तु स्वल्पालिपरिचारिका। लज्जाप्रणयनम्राङ्गी प्रविवेश निवेशनम् ॥ १३२ ॥
यत्र स्थितो मुनिवरः शैलेन सहितो वशी। दृष्ट्वा तु तेजसो राशिं मुनिं शैलप्रिया तदा ॥ १३३ ॥
ववन्दे गूढवदना पाणिपद्मकृताञ्जलिः।

नारदजी बोले—महाचल! तुम्हारे इस भवनको देखकर आश्चर्य होता है। तुमने इस भवनमें सभी पदार्थोंको संगृहीत कर रखा है। पर्वतराज! तुम्हारी कन्दराओंकी पृथुता तो मनके समान गम्भीर है। तुम्हारे अन्यान्य गुणसमूहोंकी गुरुता अन्य स्थावरोंसे कहीं बढ़-चढ़कर है। तुम्हारे जलकी निर्मलता मनसे भी अधिक है। शैलराज! मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं देख रहा हूँ, जो तुम्हारी कन्दराओंके भीतर वर्तमान न हो। स्वर्गमें कहीं भी तुमसे बढ़कर लक्ष्मी नहीं है। तुम अपनी गुफाओंमें निवास करनेवाले, नाना प्रकारकी

तपस्याओंमें निरत, अग्नि एवं सूर्यकी-सी कान्तिवाले पावन मुनियोंद्वारा नित्य पवित्र होते रहते हो। देवता, गन्धर्व और किंनरवृन्द स्वर्गवाससे विरक्त हो विमानोंकी अवहेलना कर पिताके गृहकी तरह तुम्हारे यहाँ निवास कर रहे हैं। अहो! शैलेन्द्र! तुम धन्य हो; क्योंकि तुम्हारी कन्दरामें लोकपति शंकर भी समाधिमें लीन होकर निवास कर रहे हैं। देवर्षि नारद इस प्रकार आदरपूर्ण वाणी बोल ही रहे थे कि उसी समय पर्वतराज हिमाचलकी पटरानी मेना अपनी कन्याके साथ मुनिका दर्शन करनेके लिये वहाँ आयीं। उनके साथ कुछ सखियाँ और सेविकाएँ भी थीं। उन्होंने लज्जा और प्रेमसे विनम्र हो उस भवनमें प्रवेश किया, जहाँ जितेन्द्रिय मुनिवर नारद हिमाचलके साथ बैठे हुए थे। तब हिमाचल-पत्नी मेनाने तेजके पुञ्जभूत मुनिको देखकर लज्जावश मुखको छिपाये हुए करकमलोंकी अञ्जलि बाँधकर मुनिकी वन्दना की॥ १२५—१३३½॥

तां विलोक्य महाभागो महर्षिरमितद्युतिः॥ १३४॥
आशीर्भिरमृतोद्गाररूपाभिस्तां व्यवर्धयत्। ततो विस्मितचित्ता तु हिमवद्गिरिपुत्रिका॥ १३५॥
उदैक्षच्चारुं देवी मुनिमद्भुतरूपिणम्। एहि वत्सेति चाप्युक्ता ऋषिणा स्निग्धया गिरा॥ १३६॥
कण्ठे गृहीत्वा पितरमुत्सङ्गे समुपाविशत्। उवाच माता तां देवीमभिवन्दय पुत्रिके॥ १३७॥
भगवन्तं ततो धन्यं पतिमाप्स्यसि सम्मतम्। इत्युक्ता तु ततो मात्रा वस्त्रान्तपिहितानना॥ १३८॥
किंचित्कम्पितमूर्धा तु वाक्यं नोवाच किंचन। ततः पुनरुवाचेदं वाक्यं माता सुतां तदा॥ १३९॥
वत्से वन्दय देवर्षिं ततो दास्यामि ते शुभम्। रत्नक्रीडनकं रम्यं स्थापितं यच्चिरं मया॥ १४०॥
इत्युक्ता तु ततो वेगादुद्धृत्य चरणौ तदा। ववन्दे मूर्ध्नि संधाय करपङ्कजकुड्मलम्॥ १४१॥

अमित कान्तिसम्पन्न एवं महान् भाग्यशाली महर्षि नारदने तब मेनाको देखकर अमृतके उद्गारस्वरूप आशीर्वचनोंद्वारा उनकी शुभकामना की। हिमाचलकी पुत्री पार्वतीदेवी यह देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं। वे अद्भुत रूपवाले नारदमुनिकी ओर एकटक देख रही थीं। उस समय देवर्षि नारदने 'बेटी! आओ' ऐसी स्नेहपूर्ण वाणीसे पुकारा भी, किंतु वे पिताके गलेको पकड़कर उनकी गोदमें छिपकर बैठ गयीं। यह देखकर माता मेनाने पार्वती देवीसे कहा—'बेटी! भगवान् नारदको प्रणाम करो, इससे तुम अपने मनके अनुकूल योग्य पति प्राप्त करोगी।' माताद्वारा इस प्रकार कही जानेपर पार्वतीने वस्त्रके छोरसे अपने मुखको ढक लिया और मस्तकको थोड़ा झुका दिया, परंतु मुखसे कुछ नहीं कहा। तत्पश्चात् माताने पुनः अपनी कन्यासे इस प्रकार कहा—'बेटी! यदि तुम देवर्षि नारदको प्रणाम कर लो तो मैं तुम्हें बड़ी सुन्दर वस्तु दूँगी। मैं तुम्हें वह सुन्दर रत्ननिर्मित खिलौना दूँगी, जिसे मैंने बहुत दिनोंसे छिपाकर रखा है।' इस प्रकार कही जानेपर पार्वतीने शीघ्र ही अपने कमल-मुकुल-सदृश दोनों हाथोंसे मुनिके दोनों चरणोंको उठाकर मस्तकपर रख कर प्रणाम किया॥ १३४—१४१॥

कृते तु वन्दने तस्यां माता सखीमुखेन तु। चोदयामास शनकैस्तस्याः सौभाग्यशंसिनाम्॥ १४२॥
शरीरलक्षणानां तु विज्ञानाय तु कौतुकात्। स्त्रीस्वभावाद्दुहितुश्चिन्तां हृदि समुद्वहन्॥ १४३॥
ज्ञात्वा तदिङ्गितं शैलो महिष्या हृदयेन तु। अनुदीर्णोऽक्षतिर्मेने रम्यमेतदुपस्थितम्॥ १४४॥
चोदितः शैलमहिषीसख्या मुनिवरस्तदा। स्मिताननो महाभागो वाक्यं प्रोवाच नारदः॥ १४५॥
न जातोऽस्याः पतिर्भद्रे लक्षणैश्च विवर्जिता।
उत्तानहस्ता सततं चरणैर्व्यभिचारिभिः। स्वच्छायया भविष्येयं किमन्यद् बहु भाष्यते॥ १४६॥
श्रुत्वेतत् सम्भ्रमाविष्टो ध्वस्तधैर्यो महाचलः। नारदं प्रत्युवाचाथ साश्रुकण्ठो महागिरिः॥ १४७॥

पार्वतीके प्रणाम कर लेनेके पश्चात् माता मेनाने कुतूहलवश कन्याके सौभाग्यसूचक शरीर-लक्षणोंकी जानकारी प्राप्त करनेके लिये धीरेसे सखीद्वारा मुनिसे अनुरोध किया; क्योंकि स्त्री-स्वभाववश उनके हृदयमें कन्याविषयिणी चिन्ता उठ खड़ी हुई थी। पर्वतराज अपनी पत्नीके उस संकेतको जानकर मनमें परम प्रसन्न हुए कि यह तो बड़ा सुन्दर विषय उपस्थित हुआ। इसमें उन्हे कोई हानि नहीं दीख पड़ी, अतः वे स्वयं कुछ न बोले। तब हिमाचल-पत्नीकी सखीद्वारा अनुरोध किये जानेपर महाभाग मुनिवर नारद मुसकराते हुए इस प्रकार बोले—'भद्रे! इसका पति तो अभी जगत्में पैदा ही नहीं हुआ है। यह सभी शुभ लक्षणोंसे रहित है। इसकी हथेली सदा उत्तान ही रहती है तथा चरण भी कुलक्षणोंसे युक्त हैं। यह अपनी छायाके साथ अर्थात् अकेली ही रहेगी। इसके विषयमें और अधिक क्या कहा जाय!' यह सुनकर पर्वतराज हिमाचल व्याकुल हो गये। उनका सारा धैर्य जाता रहा। तब वे अश्रुगद्गद कण्ठसे नारदजीसे बोले ॥१४२–१४७॥

हिमवानुवाच

संसारस्यातिदोषस्य दुर्विज्ञेया गतिर्यतः। सृष्ट्यां चावश्यभाविन्यां केनाप्यतिशयात्मना॥ १४८॥
कर्त्रा प्रणीता मर्यादा स्थिता संसारिणामियम्। यो जायते हि यद्बीजाज्जनेतुः स ह्यसार्थकः॥ १४९॥
जनिता चापि जातस्य न कश्चिदिति यत्स्फुटम्। स्वकर्मणैव जायन्ते विविधा भूतजातयः॥ १५०॥
अण्डजो ह्यण्डजाज्जातः पुनर्जायत मानवः। मानुषाच्च सरीसृप्यां मनुष्यत्वेन जायते॥ १५१॥
तत्रापि जातौ श्रेष्ठायां धर्मस्योत्कर्षणेन तु। अपुत्रजन्मिनः शेषाः प्राणिनः समवस्थिताः॥ १५२॥
मनुजास्तत्र जायन्ते यतो न गृहधर्मिणः। क्रमेणाऽऽश्रमसम्प्राप्तिर्ब्रह्मचारिव्रतादनु॥ १५३॥
तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धितः। संसारस्य कुतो वृद्धिः सर्वे स्युर्यदतिग्रहाः॥ १५४॥
अतः कर्त्रा तु शास्त्रेषु सुतलाभः प्रशंसितः। प्राणिनां मोहनार्थाय नरकत्राणसंश्रयात्॥ १५५॥
स्त्रिया विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपपद्यते।
स्त्रीजातिस्तु प्रकृत्यैव कृपणा दैन्यभाषिणी। शास्त्रालोचनसामर्थ्यमुज्झितं तासु वेधसा॥ १५६॥

हिमवान्ने कहा—देवर्षे! इस अत्यन्त दोषपूर्ण संसारकी गति दुर्विज्ञेय है। इस अवश्यम्भाविनी सृष्टिमें किसी कर्ता महापुरुषद्वारा जो मर्यादा स्थापित की गयी है, वह संसारी जीवोंके लिये स्थिर है। जो जिसके बीजसे उत्पन्न होता है, वह उस पैदा करनेवालेके लिये निरर्थक होता है, उसी प्रकार पैदा करनेवाला भी पैदा हुएका कोई नहीं है—यह तो स्पष्ट है; क्योंकि प्राणियोंकी अनेकों जातियाँ अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही उत्पन्न होती हैं। एक ही जीव अण्डजके सम्पर्कसे अण्डजयोनिमें पैदा होता है और वही पुन· मनुष्यके संयोगसे मानव-योनिमें उत्पन्न होता फिर मानव-योनिसे भी उलटकर सर्प आदि · योनियोंमें जन्म लेता है। वहाँ भी धर्मकी ·· उत्तम जातिमें जन्म होता है। शेष जो अधार्मिक प्राणी होते हैं, वे पुत्रहीन होते हैं। उनमें गृहस्थ-धर्मका सुचारु रूपसे पालन न करनेवाले मानवोंको पुत्रकी प्राप्ति नहीं होती। इन आश्रमोंकी प्राप्ति उसी कर्ताकी व्यवस्थासे, जिसने संसारकी वृद्धि की है, क्रमशः ब्रह्मचर्य व्रतके बाद होती है। यदि सभी प्राणी आश्रम-धर्मका त्याग कर दें तो संसारकी वृद्धि कैसे हो सकती है। इसीलिये सृष्टिकर्ताने शास्त्रोंमें नरकसे त्राण करनेका लोभ दिखाकर प्राणियोंको मोहित करनेके लिये पुत्र-प्राप्तिकी प्रशंसा की है; परंतु प्राणियोकी सृष्टि स्त्रीके ·ो नहीं सकती और वह स्त्री-जाति स्वभावसे ही और दीनतापूर्वक बोलनेवाली होती है। · · उन स्त्रियोंको शास्त्रालोचनकी शक्ति नहीं ·४८–१५६॥

शास्त्रेषूक्तमसंदिग्धं बहुवारं महाफलम्। दशपुत्रसमा कन्या या न स्याच्छीलवर्जिता ॥ १५७ ॥
वाक्यमेतत् फलभ्रष्टं पुंसि ग्लानिकरं परम्। कन्या हि कृपणा शोच्या पितुर्दुःखविवर्धिनी ॥ १५८ ॥
यापि स्यात् पूर्णसर्वार्ढ्या पतिपुत्रधनादिभिः। किं पुनर्दुर्भगा हीना पतिपुत्रधनादिभिः ॥ १५९ ॥
त्वं चोक्तवान् सुताया मे शरीरे दोषसंग्रहम्। अहो मुह्यामि शुष्यामि ग्लामि सीदामि नारद ॥ १६० ॥
अयुक्तमथ वक्तव्यमप्राप्यमपि साम्प्रतम्। अनुग्रहेण मे छिन्धि दुःखं कन्याश्रयं मुने ॥ १६१ ॥
परिच्छिन्नेऽप्यसंदिग्धे मनः परिभवाश्रयम्। तृष्णा मुष्णाति निष्णाता फललोभाश्रयाशुभा ॥ १६२ ॥
स्त्रीणां हि परमं जन्म कुलानामुभयात्मनाम्। इहामुत्र सुखायोक्तं सत्पतिप्राप्तिसंज्ञितम् ॥ १६३ ॥
दुर्लभः सत्पतिः स्त्रीणां विगुणोऽपि पतिः किल। न प्राप्यते विना पुण्यैः पतिर्नार्या कदाचन ॥ १६४ ॥
यतो निःसाधनो धर्मः परिमाणोज्झिता रतिः। धनं जीवितपर्यान्तं पत्यौ नार्याः प्रतिष्ठितम् ॥ १६५ ॥

इसी प्रकार शास्त्रोंमें अनेकों बार निश्चितरूपसे इस महान् फलका वर्णन किया गया है कि जो कन्या शील-सदाचारसे रहित न हो, वह दस पुत्रोंके समान मानी गयी है; किंतु यह वाक्य निष्फल है और पुरुषके लिये अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है; क्योंकि जो कन्या पति, पुत्र, धन आदि सभी सुख-साधनोंसे पूर्ण सम्पन्न होनेपर भी जब कृपण, शोचनीय और पिताके दुःखको बढ़ानेवाली होती है, तब जो पति, पुत्र, धन आदिसे हीन अभागिनी हो तो उसके विषयमें क्या कहना है। नारदजी ! आपने मेरी कन्याके शरीरमें तो दोष-समूहका ही वर्णन किया है, इसी कारण मैं मोहमें पड़ा हूँ, मेरा शरीर सूखा जा रहा है, मनमें ग्लानि हो रही है और कष्ट पा रहा हूँ। मुने ! इस समय मुझपर अनुग्रह करके (कन्याके कष्ट-निवारक उपाय) यदि अयुक्त अथवा दुष्प्राप्य भी हो तो बतलाइये और मेरे कन्या-विषयक दुःखको दूर कीजिये; क्योंकि निःसंदेहरूपसे कार्य-सिद्धिकी सम्भावना होनेपर भी फलके लोभमें आसक्त एवं कार्य-साधनमें निपुण अशुभ तृष्णा मेरे परिभवयुक्त मनको ठग रही है। स्त्रियोंके लिये उत्तम पतिकी प्राप्ति ही उनके सौभाग्यशाली जन्मकी सूचक है तथा वह पितृकुल एवं पतिकुल—दोनों कुलोंके लिये इहलोक और परलोकमें सुखका साधन बतलायी गयी है। इस प्रकार स्त्रियोंके लिये उत्तम पतिका मिलना तो दुर्लभ है ही, परंतु गुणहीन पति भी नारीको पुण्यके विना कभी नहीं प्राप्त होता; क्योंकि नारीको साधन-रहित धर्म, प्रचुर मात्रामें कामवासनाकी प्राप्ति और जीवन-निर्वाहके लिये धन पतिके द्वारा ही प्राप्त होते हैं ॥ १५७—१६५ ॥

निर्धनो दुर्भगो मूर्खः सर्वलक्षणवर्जितः। दैवतं परमं नार्याः पतिरुक्तः सदैव हि ॥ १६६ ॥
त्वया चोक्तं हि देवर्षे न जातोऽस्याः पतिः किल। एतद्दौर्भाग्यमतुलमसंख्यं गुरु दुःसहम् ॥ १६७ ॥
चराचरे भूतसर्गे यद्यापि च नो मुने। न संजात इति ब्रूषे तेन मे व्याकुलं मनः ॥ १६८ ॥
मनुष्यदेवजातीनां शुभाशुभनिवेदकम्। लक्षणं हस्तपादादौ विहितैर्लक्षणैः किल ॥ १६९ ॥
सेयमुत्तानहस्तेति त्वयोक्ता मुनिपुंगव। उत्तानहस्तता प्रोक्ता याचतामेव नित्यदा ॥ १७० ॥
शुभोदयानां धन्यानां न कदाचित्प्रयच्छताम्। स्वच्छायया्स्याश्चरणौ त्वयोक्तौ व्यभिचारिणौ ॥ १७१ ॥
तत्रापि श्रेयसी ह्याशा मुने न प्रतिभाति नः। शरीरलक्षणाश्चान्ये पृथक् फलनिवेदिनः ॥ १७२ ॥
सौभाग्यधनपुत्रायुःपतिलाभानुशंसनम्। तैश्च सर्वैर्विहीनेयं त्वमात्थ मुनिपुङ्गव ॥ १७३ ॥
त्वं मे सर्वं विजानासि सत्यवागसि चाप्यतः। मुह्यामि मुनिशार्दूल हृदयं दीर्यतीव मे ॥ १७४ ॥
इत्युक्त्वा विरतः शैलो महादुःखविचारणात्।
श्रुत्वैतदखिलं तस्माच्छैलराजमुखाम्बुजात्। स्मितपूर्वमुवाचेदं नारदो देवपूजितः ॥ १७५ ॥

पति निर्धन, अभागा, मूर्ख और सभी शुभ लक्षणोंसे रहित क्यों न हो, किंतु वह नारीके लिये सदैव परम देवता कहा गया है। देवर्षे! आपने कहा है कि मेरी पुत्रीका पति पैदा ही नहीं हुआ है, यह तो इसका अतुलनीय एवं बहुत बड़ा दुःसह दुर्भाग्य है। मुने! आप जो ऐसा कह रहे हैं कि चराचर प्राणियोंकी सृष्टिमें वह अभीतक उत्पन्न ही नहीं हुआ है, इससे मेरा मन व्याकुल हो गया है। मनुष्यों एवं देवजातियोंके शुभाशुभसूचक लक्षण हाथों एवं पैरोंमें चिह्नित लक्षणोंद्वारा जाने जाते हैं। मुनिश्रेष्ठ! इस विषयमें भी आपने इसे उत्तानहस्ता बतलाया है। यह उत्तानहस्तता सदा याचकोंकी ही कही गयी है, किंतु जो सौभाग्यशाली, धन्यवादके पात्र और दानी होते हैं, उनके हाथ कभी उत्तान नहीं रहते। मुने! आपने यह भी कहा है कि इसके चरण अपनी छायासे युक्त होनेके कारण दोषी हैं, अतः इस विषयमें भी हमें कल्याणकारिणी आशा नहीं प्रतीत हो रही है। शरीरके अन्यान्य लक्षण पृथक्-पृथक् फल सूचित करते हैं। उनमें जो सौभाग्य, धन, पुत्र, आयु और पति-प्राप्तिके सूचक होते हैं, उन सभी लक्षणोंसे मेरी यह कन्या हीन है—ऐसा आप कह रहे हैं। मुनिश्रेष्ठ! आप मेरी सारी मनोगत अभिलाषाओंको जानते हैं। मुनिशार्दूल! आप सत्यवादी हैं, इसी कारण (आपकी बात सुनकर) मैं मोहित हो रहा हूँ और मेरा हृदय फटा-सा जा रहा है। ऐसा कहकर हिमाचल उस महान् दुःखकी कल्पनासे विरत हो गये। उस शैलराजके मुखकमलसे निकली हुई ये सारी बातें सुनकर देवपूजित नारदजी मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १६६–१७५ ॥

नारद उवाच

हर्षस्थानेऽपि महति त्वया दुःखं निरूप्यते। अपरिच्छिन्नवाक्यार्थे मोहं यासि महागिरे ॥ १७६ ॥
इमां शृणु गिरं मत्तो रहस्यपरिनिष्ठिताम्। समाहितो महाशैल मयोक्तस्य विचारणे ॥ १७७ ॥
न जातोऽस्याः पतिर्देव्या यन्मयोक्तं हिमाचल।
न स जातो महादेवो भूतभव्यभवोद्भवः। शरण्यः शाश्वतः शास्ता शंकरः परमेश्वरः ॥ १७८ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्रमुनयो जन्ममृत्युजरार्दिताः। तस्यैते परमेशस्य सर्वे क्रीडनका गिरे ॥ १७९ ॥
आस्ते ब्रह्मा तदिच्छातः सम्भूतो भुवनप्रभुः। विष्णुर्युगे युगे जातो नानाजातिर्महातनुः ॥ १८० ॥
मन्यसे मायया जातं विष्णुं चापि युगे युगे। आत्मनो न विनाशोऽस्ति स्थावरान्तेऽपि भूधर ॥ १८१ ॥
संसारे जायमानस्य म्रियमाणस्य देहिनः। नश्यते देह एवात्र नात्मनो नाश उच्यते ॥ १८२ ॥
ब्रह्मादिस्थावरान्तोऽयं संसारो यः प्रकीर्तितः। स जन्ममृत्युदुःखार्तो ह्यवशः परिवर्तते ॥ १८३ ॥
महादेवोऽचलः स्थाणुर्न जातो जनकोऽजरः। भविष्यति पतिः सोऽस्या जगन्नाथो निरामयः ॥ १८४ ॥

नारदजीने कहा—गिरिराज! आप तो महान् हर्षका अवसर उपस्थित होनेपर भी दुःखकी गाथा गा रहे हैं और मेरे अस्पष्ट वाक्यके अर्थको समझे बिना मोहको प्राप्त हो रहे हैं। शैलराज! इस रहस्यपूर्ण वाणीका तात्पर्य मुझसे सुनिये और मेरेद्वारा कही हुई बातपर सावधानीपूर्वक विचार कीजिये। हिमाचल! मैंने जो यह कहा है कि इस देवीका पति उत्पन्न ही नहीं हुआ है, इसका अभिप्राय यह है कि जो भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें वर्तमान रहनेवाले, जीवोंके शरणदाता, अविनाशी, नियामक, कल्याणकर्ता और परमेश्वर हैं, वे महादेव उत्पन्न नहीं हुए हैं अर्थात् वे अनादि हैं, उनका जन्म नहीं होता। पर्वतराज! ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, मुनि आदि जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थासे ग्रस्त हैं। ये सभी उस परमेश्वरके खिलौनेमात्र हैं। उन्हींकी इच्छासे त्रिभुवनके स्वामी ब्रह्मा प्रकट हुए हैं और विष्णु प्रत्येक युगमें विशाल शरीर धारण करके नाना प्रकारकी जातियोंमें उत्पन्न

होते हैं। पर्वतराज! प्रत्येक युगमें मायाका आश्रय लेकर उत्पन्न हुए विष्णुको तो तुम भी मानते ही हो। स्थावर योनिमें जन्म लेनेपर भी शरीरान्त होनेपर आत्माका विनाश नहीं होता। संसारमें उत्पन्न होकर मृत्युको प्राप्त हुए प्राणीका शरीरमात्र नष्ट होता है, आत्माका नाश नहीं कहा जाता। ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त जो यह संसार कहा जाता है, उसमें उत्पन्न हुए प्राणी जन्म-मृत्युके दुःखसे पीड़ित होकर पराधीन रहते हैं, किंतु महादेव स्थाणुकी भाँति अचल हैं। वे वृद्धावस्थासे रहित तथा सबको उत्पन्न करनेवाले हैं, किंतु स्वयं किसीसे उत्पन्न नहीं होते। वे ही निर्दोष जगदीश्वर शंकर इस कन्याके पति होंगे॥ १७६—१८४॥

यदुक्तं च मया देवी लक्षणैर्वर्जिता तव। शृणु तस्यापि वाक्यस्य सम्यक्त्वेन विचारणम्॥ १८५॥
लक्षणं दैविको ह्यङ्कः शरीरावयवाश्रयः। सर्वायुर्धनसौभाग्यपरिमाणप्रकाशकः॥ १८६॥
अनन्तस्याप्रमेयस्य सौभाग्यस्यास्य भूधर। नैवाङ्को लक्षणाकारः शरीरे संविधीयते॥ १८७॥
अतोऽस्या लक्षणं गात्रे शैल नास्ति महामते। यथाहमुक्तवान् तस्या ह्युत्तानकरतां सदा॥ १८८॥
उत्तानो वरदः पाणिरेष देव्याः सदैव तु। सुरासुरमुनिव्रातवरदेयं भविष्यति॥ १८९॥
यथा प्रोक्तं तदा पादौ स्वच्छायाव्यभिचारिणौ। अस्याः शृणु ममात्रापि वाग्युक्तिं शैलसत्तम॥ १९०॥
चरणौ पद्मसंकाशावस्याः स्वच्छनखोज्ज्वलौ। सुरासुराणां नमतां किरीटमणिकान्तिभिः॥ १९१॥
विचित्रवर्णैर्भासन्तौ स्वच्छायाप्रतिबिम्बितौ। भार्या जगद्गुरोरेषा वृषाङ्कस्य महीधर॥ १९२॥
जननी लोकधर्मस्य सम्भूता भूतभाविनी। शिवेयं पावनायैव त्वत्क्षेत्रे पावकद्युतिः॥ १९३॥
तद्यथा शीघ्रमेवैषा योगं यायात् पिनाकिना।
तथा विधेयं विधिवत्त्वया शैलेन्द्रसत्तम। अत्यन्तं हि महत् कार्यं देवानां हिमभूधर॥ १९४॥

साथ ही मैंने तुमसे जो यह कहा था कि यह देवी लक्षणोंसे रहित है, उस वाक्यका अभिप्राय भी सम्यक् रूपसे सुनो। पर्वतराज! शरीरके अवयवोंमें अङ्कित लक्षण दैविक चिह्न होता है। वह सभीके आयु, धन और सौभाग्यके परिणामको प्रकट करनेवाला होता है, किंतु इसके शरीरमें इस अनन्त एवं अप्रमेय सौभाग्यके किसी लक्षणाकार चिह्नका संविधान नहीं किया गया है, इसीलिये मैंने कहा है कि इसके शरीरमें लक्षण नहीं है। महाबुद्धिमान् हिमाचल! जो मैंने इसकी सदा उत्तानकरताका कथन किया था, उसका तात्पर्य यह है कि इस देवीका यह वरदायक हाथ सदा उत्तान ही रहेगा, जिससे यह सुर, असुर और मुनि-समूहके लिये वरदायिनी होगी। पर्वतश्रेष्ठ! उस समय मैंने जो ऐसा कहा था कि इसके चरण अपनी छायामें रहनेके कारण दोषी हैं, इस विषयमें भी तुम मेरे वचनोंकी युक्ति सुनो। इसके कमल-सदृश चरण स्वच्छ उज्ज्वल नखोंसे सुशोभित हैं। जब वे नमस्कार करनेवाले सुरों एवं असुरोंके किरीटोंमें जड़ी हुई मणियोंकी विचित्र वर्णकी कान्तिसे उद्भासित होंगे, तब अपनी छायासे प्रतिबिम्बित कहलायेंगे। महीधर! आपकी यह कन्या जगद्गुरु वृषभध्वज शंकरकी भार्या, लोकधर्मकी जननी, प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली, कल्याणस्वरूपा और अग्निके समान कान्तिमती है। यह तुम्हारे क्षेत्रमें तुम्हें पावन करनेके लिये प्रकट हुई है। इसलिये श्रेष्ठ पर्वतराज! जिस प्रकार यह शीघ्र-से-शीघ्र पिनाकधारी शंकरजीके साथ संयुक्त हो जाय, तुम्हें विधिपूर्वक वैसा ही विधान करना चाहिये। हिमाचल! इससे देवताओंका अत्यन्त महान् कार्य सिद्ध हो जायगा॥

सूत उवाच

एवं श्रुत्वा तु शैलेन्द्रो नारदात् सर्वमेव हि। आत्मानं स पुनर्जातं मेने मेनापतिस्तदा॥ १९५॥
नमस्कृत्य वृषाङ्काय तदा देवाय धीमते। उवाच सोऽपि संहृष्टो नारदं तु हिमाचलः॥ १९६॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! नारदजीके मुखसे ये सारी बातें सुनकर उस समय मेनाके प्राणपति शैलराज अपनेको पुनः उत्पन्न हुआ-सा अनुभव करने लगे। तत्पश्चात् हर्षसे फूले हुए हिमाचल भी उत्कृष्ट बुद्धि-सम्पन्न देवाधिदेव वृषभध्वजको नमस्कार करके नारदजीसे बोले ॥ १९५—१९६ ॥

हिमवानुवाच

दुस्तरान्नरकाद् घोरादुद्धृतोऽस्मि त्वया मुने। पातालादहमुद्धृत्य सप्तलोकाधिपः कृतः ॥ १९७ ॥
हिमाचलोऽस्मि विख्यातस्त्वया मुनिवराधुना। हिमाचलेऽचलगुणां प्रापितोऽस्मि समुन्नतिम् ॥ १९८ ॥
आनन्ददिवसाहारि हृदयं मेऽधुना मुने। नाध्यवस्यति कृत्यानां प्रविभागविचारणम् ॥ १९९ ॥
यदि वाचामधीशः स्यां त्वद्गुणानां विचारणे ॥ २०० ॥
भवद्विधानां नियतममोघं दर्शनं मुने। तवास्मान् प्रति चापल्यं व्यक्तं मम महामुने ॥ २०१ ॥
भवद्भिरेव कृत्योऽहं निवासायात्मरूपिणाम्। मुनीनां देवतानां च स्वयं कर्तापि कल्मषम् ॥ २०२ ॥
तथापि वस्तुन्येकस्मिन्नाज्ञा मे सम्प्रदीयताम्। इत्युक्तवति शैलेन्द्रे स तदा हर्षनिर्भरे ॥ २०३ ॥
तथा च नारदो वाक्यं कृतं सर्वमिति प्रभो। सुरकार्यं य एवार्थस्तवापि सुमहत्तरः ॥ २०४ ॥
इत्युक्त्वा नारदः शीघ्रं जगाम त्रिदिवं प्रति। स गत्वा शक्रभवनममरेशं ददर्श ह ॥ २०५ ॥
ततोऽभिरूपे स मुनिरुपविष्टो महासने। पृष्टः शक्रेण प्रोवाच हिमजासंश्रयां कथाम् ॥ २०६ ॥

हिमवान्ने कहा—मुने ! आपने तो मुझे घोर दुस्तर नरकसे उबार लिया है और पाताललोकसे निकालकर सातो लोकोंका अधिपति बना दिया है। मुनिवर ! इस समय आपने हिमाचलपर जो अचल गुणवाली समृद्धि उत्पन्न कर दी है, इससे मै सचमुच हिमाचल नामसे विख्यात कर दिया गया हूँ। मुने ! इस समय मेरा हृदय आनन्दमय दिनका अनुभव कर रहा है, जिससे यह आपके कृत्योंका विभागपूर्वक विचार करनेमें सक्षम नहीं हो रहा है। यदि मैं वाणीके अधीश्वर बृहस्पति हो जाऊँ तो भी आपके गुणोका विचार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। मुने ! आप-जैसे महर्षियोंका दर्शन निश्चय ही अमोघ होता है। महामुने ! हमलोगोंके प्रति आपकी अस्थिरता तो मुझे स्पष्टरूपसे ज्ञात है। आप लोगोंद्वारा ही मैं आत्मस्वरूप मुनियों एवं देवताओंके निवास-योग्य बनाया गया हूँ। यद्यपि मैं स्वयं भी पाप करनेवाला हूँ, तथापि किसी एक वस्तुके लिये मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये। उस समय हर्षसे भरे हुए शैलराजके इस प्रकार कहनेपर नारदजीने कहा—'प्रभो ! तुमने सब कुछ कर लिया। (अब मुझे यही कहना है कि) देवताओंके कार्यका जो प्रयोजन है, वह तुम्हारे लिये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा।' ऐसा कहकर नारदजी शीघ्र ही स्वर्गलोकको चले गये। वहाँ इन्द्रके भवनमें जाकर वे देवराज इन्द्रसे मिले। जब वे एक सुन्दर सिंहासनपर आसीन हो गये, तब इन्द्रने उनसे जिज्ञासा प्रकट की। फिर तो वे पार्वती-सम्बन्धी कथाका वर्णन करने लगे ॥ १९७—२०६ ॥

नारद उवाच

समूह्य यत्तु कर्तव्यं तन्मया कृतमेव हि। किंतु पञ्चशरस्यैव समयोऽयमुपस्थितः ॥ २०७ ॥
इत्युक्तो देवराजस्तु मुनिना कार्यदर्शिना। चूताङ्कुरास्त्रं सस्मार भगवान् पाकशासनः ॥ २०८ ॥
संस्मृतस्तु तदा क्षिप्रं सहस्राक्षेण धीमता।
उपतस्थे रतियुतः सविलासो झषध्वजः। प्रादुर्भूतं तु तं दृष्ट्वा शक्रः प्रोवाच सादरम् ॥ २०९ ॥

नारदजी बोले—देवराज ! संगठित होकर सबके द्वारा जो काम किया जाना चाहिये, उसे तो मैंने अकेले ही कर दिया; किंतु इस अवसरपर अब कामदेवकी आवश्यकता आ पड़ी है। कार्यदर्शी नारद मुनिद्वारा

इस प्रकार कहे जानेपर देवराज भगवान् इन्द्रने आमके बौरके अङ्कुरको अस्त्ररूपमें धारण करनेवाले कामदेवका स्मरण किया। सहस्रनेत्रधारी बुद्धिमान् इन्द्रद्वारा स्मरण किये जानेपर अपकेतु कामदेव अपनी पत्नी रतिके साथ विलासपूर्वक शीघ्र ही उपस्थित हुआ। उसे उपस्थित देखकर इन्द्रने आदरपूर्वक उससे कहा॥ २०७-२०९॥

शक्र उवाच

उपदेशेन बहुना किं त्वां प्रति वदे प्रियम्। मनोभवोऽसि तेन त्वं वेत्सि भूतमनोगतम्॥ २१०॥
तद्यथार्थकमेव त्वं कुरु नाकसदां प्रियम्।
शंकरं योजय क्षिप्रं गिरिपुत्र्या मनोभव। संयुतो मधुना चैव ऋतुराजेन दुर्जय॥ २११॥
इत्युक्तो मदनस्तेन शक्रेण स्वार्थसिद्धये। प्रोवाच पञ्चबाणोऽथ वाक्यं भीतः शतक्रतुम्॥ २१२॥

इन्द्र बोले—मनोभव! तुम तो अजेय हो और मनसे ही उत्पन्न होते हो, अतः सभी प्राणियोंके मनोगत भावोंको भलीभाँति जानते हो। ऐसी दशामें तुम्हारे प्रति अधिक उपदेश करनेसे क्या लाभ? मैं तुमसे एक प्रिय बात कह रहा हूँ। तुम स्वर्गवासियोंके उस प्रिय कार्यको अवश्य पूर्ण करो। (वह यह है कि) तुम चैत्रमास और ऋतुराज वसन्तको साथ लेकर शंकरजीका गिरिराजकुमारी पार्वतीके साथ शीघ्र ही संयोग स्थापित करा दो। अपनी स्वार्थसिद्धिके निमित्त इन्द्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर पञ्चबाण कामदेव भयभीत होकर इन्द्रसे इस प्रकार बोला॥ २१०-२१२॥

काम उवाच

अनया देवसामग्र्या मुनिदानवभीमया। दुःसाध्यः शंकरो देवः किं न वेत्सि जगत्प्रभो॥ २१३॥
तस्य देवस्य वेत्थ त्वं करणं तु यदव्ययम्। प्रायः प्रसादः कोपोऽपि सर्वो हि महतां महान्॥ २१४॥
सर्वोपभोगसारा हि सुन्दर्यः स्वर्गसम्भवाः। अध्याश्रितं च यत्सौख्यं भवता नष्टचेष्टितम्॥ २१५॥
प्रमादादथ विभ्रंश्येदीशं प्रतिविचिन्त्यताम्। प्रागेव चेह दृश्यन्ते भूतानां कार्यसम्भवाः॥ २१६॥
विशेषं काङ्क्षतां शक्र सामान्याद् भ्रंशनं फलम्। श्रुत्वैतद्वचनं शक्रस्तमुवाचामरैर्वृतः॥ २१७॥

कामदेवने कहा—जगन्नाथ! क्या आप यह नहीं जानते कि मुनियों और दानवोंको भयभीत करनेवाली इस देवसामग्रीसे देवाधिदेव शंकरको वशमें कर लेना सहज नहीं है। उन महादेवकी इन्द्रियाँ विकाररहित हैं, इसका भी ज्ञान तो आपको है ही। साथ ही महापुरुषोंकी प्रसन्नता और क्रोध भी महान् होता है। इस समय आप जो सम्पूर्ण उपभोगोंकी सारभूता स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली सुन्दरी अप्सराओं तथा बिना चेष्टा किये ही प्राप्त होनेवाले सुखदायक पदार्थोंका उपभोग कर रहे हैं, वह शंकरजीके प्रति प्रमाद करनेसे नष्ट हो जायगा। थोड़ा इसपर भी विचार कर लीजिये; क्योंकि सामान्य प्राणियोंको भी कार्यफलकी सम्भावना पहलेसे ही दीखने लगती है। इन्द्रदेव! जो लोग सामान्यको छोड़कर विशेषकी आकाङ्क्षा करते हैं, उनका सामान्यसे पतन हो जाना ही फल है। (विशेष तो अप्राप्त है ही।) कामदेवके इस कथनको सुनकर देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रने उससे कहा—॥ २१३-२१७॥

शक्र उवाच

वयं प्रमाणास्ते ह्यत्र रतिकान्त न संशयः।
संदर्शेन विना शक्तिरयस्कारस्य नेष्यते। कस्यचिच्च क्वचिद् दृष्टं सामर्थ्यं न तु सर्वतः॥ २१८॥
इत्युक्तः प्रययौ कामः सखायं मधुमाश्रितः। रतियुक्तो जगामाशु प्रस्थं तु हिमभूभृतः॥ २१९॥
स तु तत्राकरोच्चिन्तां कार्यस्योपायपूर्विकाम्। महात्मानो ये हि निष्कम्पा मनस्तेषां सुदुर्जयम्॥ २२०॥
तदादावेव संक्षोभ्य नियतं ह्यजयो भवेत्। संसिद्धिं प्राप्नुयुश्चैव पूर्वं संशोध्य मानसम्॥ २२१॥

कथं च विविधैर्भावैर्द्वेषानुगमनं विना। क्रोधः क्रूरतरासङ्गाद् भीषणेर्ष्यां महासखीम् ॥ २२२ ॥
चापल्यमूर्ध्नि विध्वस्तधैर्याधारां महाबलाम्। तामस्य विनियोक्ष्यामि मनसो विकृतिं पराम् ॥ २२३ ॥
पिधाय धैर्यद्वाराणि संतोषमपकृष्य च। अवगन्तुं हि मां तत्र न कश्चिदतिपण्डितः ॥ २२४ ॥
विकल्पमात्रावस्थाने वैरूप्यं मनसो भवेत्। पश्चान्मूलक्रियारम्भगम्भीरावर्तदुस्तरः ॥ २२५ ॥
हरिष्यामि हरस्याहं तपस्तस्य स्थिरात्मनः। इन्द्रियग्राममावृत्य रम्यसाधनसंविधिः ॥ २२६ ॥

इन्द्र बोले—रतिवल्लभ! तुम्हारे इस कथनके लिये हमलोग प्रमाण हैं। तुम्हारे कथनमें कोई संदेह नहीं है, किंतु (निर्मित वस्तुके) आकार-प्रकारके बिना लोहार अथवा कारीगरकी शक्तिका पता नहीं चलता तथा किसीकी भी शक्ति किसी विशेष विषयमें ही सफलरूपसे देखी जाती है, सर्वत्र नहीं। इन्द्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर रतिसहित कामदेव सहायक-रूपमें अपने मित्र मधुमास (अथवा वसन्त) को साथ लेकर प्रस्थित हुआ और शीघ्र ही हिमाचलके शिखरपर जा पहुँचा। वहाँ जाकर वह कार्यकी सिद्धिके लिये उपायपूर्वक चिन्ता करने लगा। उसने सोचा कि जो लोग महान् लक्ष्यसे युक्त और अटल निश्चयवाले हैं, उनके मनको जीतना अत्यन्त कठिन है। अतः सर्वप्रथम उसीको ही संक्षुब्ध कर निश्चयरूपसे विजय प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि पूर्वकालमें मनको शुद्ध करके ही लोगोंने उत्तम सिद्धि प्राप्त की है। (किंतु कठिनाई तो यह है कि) क्रूरतर प्राणियोंके सङ्गसे अनेकों प्रकारके भावोंद्वारा द्वेषका अनुगमन किये बिना क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसके लिये मैं भयंकर ईर्ष्या नामकी महासखीको चपलताके मस्तकपर स्थापित करूँगा, तत्पश्चात् धैर्यके प्रवाहको विध्वस्त करनेवाली, महान् बलवती मनकी उस उत्कृष्ट विकृतिको शंकरजीपर विनियुक्त करूँगा। वहाँ धैर्यके द्वारोंको बंद कर तथा संतोषको दूर हटाकर कोई भी ऐसा उत्कृष्ट विद्वान् नहीं है, जो मुझे जाननेमें समर्थ हो सके। किसी भी कार्यके आरम्भमें विकल्पमात्रका विचार करनेसे मनकी विरूपता उत्पन्न हो जाती है, जिससे आगे चलकर मूल कार्यके आरम्भ होनेपर गम्भीर आपत्तियोंकी लहरें उठने लगती हैं और कार्य दुस्तर हो जाता है। अतः अब मैं रमणीय साधनोंके संविधानसे उन स्थिरात्मा शंकरजीके इन्द्रियसमूहको ढककर उनकी तपस्याको भङ्ग करूँगा ॥ २१८—२२६ ॥

चिन्तयित्वेति मदनो भूतभर्तुस्तदाश्रमम्। जगाम जगतीसारं सरलद्रुमवेदिकम् ॥ २२७ ॥
शान्तसत्त्वसमाकीर्णमचलप्राणिसंकुलम्। नानापुष्पलताजालं गगनस्थगणेश्वरम् ॥ २२८ ॥
निर्व्यग्रवृषभाध्युष्टनीलशाद्वलसानुकम्। तत्रापश्यत् त्रिनेत्रस्य रम्यं कंचिद् द्वितीयकम् ॥ २२९ ॥
वीरकं लोकवीरेशमीशानसदृशद्युतिम्। यक्षकुङ्कुमकिंजल्कपुञ्जपिङ्गजटासटम् ॥ २३० ॥
वेत्रपाणिनमव्यग्रमुग्रभोगीन्द्रभूषणम्। ततो निमीलितोन्निद्रपद्मपत्राभलोचनम् ॥ २३१ ॥
प्रेक्षमाणमृजुस्थानं नासिकाग्रं सुलोचनैः। श्रवस्तरससिंहेन्द्रचर्मलम्बोत्तरीयकम् ॥ २३२ ॥
श्रवणाहिफलन्मुक्तं निःश्वासानलपिङ्गलम्। प्रेङ्खत्कपालपर्यन्ततुम्बिलम्बिजटाचयम् ॥ २३३ ॥
कृतवासुकिपर्यङ्कनाभिमूलनिवेशितम्। ब्रह्माञ्जलिस्थपुच्छाग्रनिबद्धोरगभूषणम् ॥ २३४ ॥
ददर्श शंकरं कामः क्रमप्राप्तान्तिकं शनैः। ततो भ्रमरझङ्कारमालम्बिद्रुमसानुकम् ॥ २३५ ॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण भवस्य मदनो मनः।

इस प्रकार सोच-विचारकर कामदेव प्राणियोंके पालक शंकरजीके उस आश्रमपर गया, जो पृथ्वीका सारभूत था। वहाँ आमके वृक्ष उगे हुए थे, जिनकी छायामें वेदिकाएँ बनी थीं। वह शान्त स्वभाववाले

जीवोंसे व्याप्त तथा पर्वतीय जीवोंसे भरा हुआ था। वहाँ नाना प्रकारके पुष्पोंकी लताएँ फैली हुई थीं। ऊपर आकाशमण्डलमें गणेश्वर विराजमान थे। वहीं एक ओर नीली घासके ऊपर वृषभराज नन्दीश्वर निश्चिन्तभावसे बैठे हुए थे। वहाँ कामदेवने त्रिनेत्रधारी शंकरजीके निकट किसी दूसरे सुन्दर पुरुषको देखा। उसका नाम वीरक था। वह जगत्के वीरोंमें प्रधान था। उसकी शरीर-कान्ति शंकरजीके समान थी। उसकी जटाएँ यक्षकुङ्कुम* और पद्मकेसरके पुञ्जके समान पीली थीं। उसके हाथमें बेंत शोभा पा रहा था। वह विषैले सर्पोंके आभूषणोंसे विभूषित हो निश्चिन्त भावसे बैठा हुआ था। तदनन्तर कामदेवकी दृष्टि क्रमशः धीरे-धीरे निकट प्राप्त हुए शंकरजीपर पड़ी, जिनके कमल-दलके सदृश नेत्र अधखुले थे। जो अपने सुन्दर नेत्रोंद्वारा सीधे नासिकाके अग्रभागको देख रहे थे। उनके कंधेपर सिंहके चमड़ेका ऐसा लम्बा उत्तरीय लटक रहा था, जिससे रक्त टपक रहा था। कानोंमें कुण्डलरूपमें पहने हुए सर्पोंके मुखसे निकलती हुई निःश्वासाग्निसे उनका शरीर पीला दीख रहा था। उनकी लम्बी जटाएँ खप्पर और तुम्बीतक हिलती हुई शोभा पा रही थीं। वे वासुकि नागकी शय्या बनाकर उसके नाभिमूलपर बैठे हुए थे। उनकी ब्रह्माञ्जलिमें भूषण-रूपसे धारण किये गये सर्पकी पूँछका अग्रभाग स्थित था। तत्पश्चात् शंकरजी जिस वृक्षके नीचे बैठे हुए थे, उसकी चोटीपर भ्रमरोंकी गुंजार गूँज उठी। उसी समय कामदेव शंकरजीके श्रोत्रमार्गसे मनमें प्रविष्ट हुआ ॥ २२७–२३५½ ॥

शंकरस्तमथाकर्ण्य मधुरं मदनाश्रयम् ॥ २३६ ॥

सस्मार दक्षदुहितां दयितां रक्तमानसः। ततः सा तस्य शनकैस्तिरोभूयातिनिर्मला ॥ २३७ ॥
समाधिभावना तस्थौ लक्ष्यप्रत्यक्षरूपिणी। ततस्तन्मयतां यातः प्रत्यूहपिहिताशयः ॥ २३८ ॥
वशित्वेन बुबोधेशो विकृतिं मदनात्मिकाम्। ईषत्कोपसमाविष्टो धैर्यमालम्ब्य धूर्जटिः ॥ २३९ ॥
निरासे मदनस्थित्या योगमायासमावृतः। स तया मायया ऽऽविष्टो जज्वाल मदनस्ततः ॥ २४० ॥
इच्छाशरीरो दुर्जेयो रोषदोषमहाश्रयः। हृदयान्निर्गतः सोऽथ वासनाव्यसनात्मकः ॥ २४१ ॥
बहिःस्थलं समालम्ब्य ह्युपतस्थौ झषध्वजः। अनुयातोऽथ हृद्येन मित्रेण मधुना सह ॥ २४२ ॥
सहकारतरौ दृष्ट्वा मृदुमारुतनिर्धुतम्। स्तबकं मदनो रम्यं हरवक्षसि सत्वरम् ॥ २४३ ॥
मुमोच मोहनं नाम मार्गणं मकरध्वजः। शिवस्य हृदये शुद्धे नाशशाली महाशरः ॥ २४४ ॥
पपात परुषप्रांशुः पुष्पबाणो विमोहनः। ततः करणसंदेहो विद्धस्तु हृदये भवः ॥ २४५ ॥
बभूव भूधरौपम्यधैर्योऽपि मदनोन्मुखः। ततः प्रभुत्वाद्भावानां नावेशं समपद्यत ॥ २४६ ॥
बाह्यं बहु समासाद्य प्रत्यूहप्रसवात्मकम्।

भ्रमरोंकी उस मधुर झंकारको सुनकर शंकरजीका मन कामदेवके प्रभावसे अनुरक्त हो गया। तब उन्होंने अपनी प्रिया दक्षकन्या सतीका स्मरण किया। उस समय उनकी वह लक्ष्यको प्रत्यक्षरूपमें प्रकट करनेवाली अत्यन्त निर्मल समाधिभावना धीरे-धीरे तिरोहित हो गयी। वे विघ्नोंद्वारा लक्ष्यके अवरुद्ध हो जानेसे सतीकी तन्मयताको प्राप्त हो गये। थोड़ी देर बाद जितेन्द्रिय होनेके कारण शंकरजी इस कामजन्य विकारको समझ गये। फिर तो उनमें थोड़ा क्रोधकी झलक आ गयी। तब उन जटाधारीने धैर्य धारणकर अपनेको कामदेवकी स्थितिसे मुक्त करनेके लिये योगमायाका आश्रय लिया। उस मायासे आविष्ट होनेके कारण कामदेव जलने लगा। तत्पश्चात् जो वासना और दुर्व्यसनका मूर्तरूप, स्वेच्छानुसार शरीर धारण

*—कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोलको अग्निसंयोगसे बने हुए अङ्गराग या चन्दनको यक्षकुङ्कुम कहते हैं।

करनेवाला, अजेय, क्रोध और दोषका महान् आश्रय-स्थान था, वह कामदेव शंकरजीके हृदयसे बाहर निकला और एक बाहरी स्थानका सहारा लेकर निकट ही खड़ा हो गया। उस समय उसका परम स्नेही मित्र मधु (चैत्रमास या वसन्त) भी उसके साथ था। वहाँ आमके वृक्षपर मन्द वायुसे हिलाये गये रमणीय पुष्पगुच्छको देखकर मकरध्वज कामदेवने शीघ्र ही शंकरजीके वक्षःस्थलपर वह मोहन नामक बाण छोड़ा। वह त्रिमोहन नामक पुष्पबाण विनाशकारी, महान् प्रभावशाली, कठोर और विशाल था। वह शंकरजीके शुद्ध हृदयपर जा गिरा। जिससे उनका हृदय घायल हो गया और उनकी इन्द्रियाँ विचलित हो गयीं। फिर तो पर्वतके समान धैर्यशाली होनेपर भी शंकरजी कामोन्मुख हो गये, किंतु अनेकों बाहरी विघ्नसमूहोंके प्राप्त होनेपर भी सद्भावोंके प्रमुत्वके कारण उनमें कामका आवेश विशेषरूपसे नहीं हुआ ॥२३६–२४६½॥

ततः कोपानलोद्भूतघोरहुङ्कारभीषणे ॥ २४७ ॥
बभूव वदने नेत्रं तृतीयमनलाकुलम्। रुद्रस्य रौद्रवपुषो जगत्संहारभैरवम् ॥ २४८ ॥
तदन्तिकस्थे मदने व्यस्फारयत धूर्जटिः। तं नेत्रविस्फुलिङ्गेन क्रोशतां नाकवासिनाम् ॥ २४९ ॥
गमितो भस्मसात् तूर्णं कंदर्पः कामिदर्पकः। स तु तं भस्मसात्कृत्वा हरनेत्रोद्भवोऽनलः ॥ २५० ॥
व्यजृम्भत जगद्दग्धुं ज्वालाहुंकारघस्मरः। ततो भवो जगद्धेतोर्व्यभजज्जातवेदसम् ॥ २५१ ॥
सहकारे मधौ चन्द्रे सुमनःसु परेष्वपि। भृङ्गेषु कोकिलास्येषु विभागेन स्मरानलम् ॥ २५२ ॥
स बाह्यान्तरविद्धेन हरेण स्मरमार्गणः। रागस्नेहसमिद्धान्तर्धावंस्तीव्रहुताशनः ॥ २५३ ॥
विभक्तलोकसंक्षोभकरो दुर्वारजृम्भितः। सम्प्राप्य स्नेहसम्पृक्तं कामिनां हृदयं किल ॥ २५४ ॥
ज्वलत्यहर्निशं भीमो दुश्चिकित्स्यसुखात्मकः।

तदुपरान्त क्रोधाग्निसे उत्पन्न हुए भयंकर हुंकारके भयानक शब्दसे युक्त मुखके ऊपर क्रोधाग्निसे उद्दीप्त तीसरा नेत्र प्रकट हो गया, जो भीषण रूपधारी शंकरजीका जगत्का संहार करनेवाला भयानक रूप था। तब जटाधारी शंकरजीने अपने निकट ही खड़े हुए कामदेवकी ओर दृष्टिपात किया। फिर तो उस नेत्रसे निकली हुई एक चिनगारीने तुरंत ही कामियोंके दर्पको बढ़ानेवाले कामदेवको जलाकर भस्म कर दिया। यह देखकर स्वर्गवासी हाहाकार मचा रहे थे। इस प्रकार शंकरजीके नेत्रसे उद्भूत हुई अग्नि कामदेवको भस्म कर जगत्को जलानेके लिये आगे बढ़ी और लपटोंके हुंकारसे पदार्थोंको भक्षण करने लगी। तब शंकरजीने जगत्का कल्याण करनेके लिये उस अग्निका विभाजन कर दिया। उन्होने कामाग्निको विभक्त कर आमके वृक्ष, वसन्त ऋतु, (अथवा चैत्रमास) चन्द्रमा, सुगन्धित पुष्पों, भ्रमरों और कोकिलोंके मुखोंमें स्थापित कर दिया। बाहर और भीतर—दोनों प्रकारसे घायल हुए शिवजीद्वारा विभक्त हुआ वह कामदेवका बाण अनुराग और स्नेहसे उद्दीप्त हो वेगपूर्वक दौड़ती हुई अग्निकी तरह लोगोंके मनोको क्षुब्ध करने लगा। उसकी उन्नति रोकी नहीं जा सकती थी। वह इतना भयंकर थी कि उसके प्रतिषेधका कोई उपाय बड़ी कठिनाईसे हो सकता था। इस प्रकार वह अब भी कामियोंके स्नेहसिक्त हृदयमें पहुँचकर उन्हें रात-दिन जलाता रहता है ॥

विलोक्य हरहुंकारज्वालाभस्मकृतं स्मरम् ॥ २५५ ॥
विललाप रतिः क्रूरं बन्धुना मधुना सह। ततो विलप्य बहुशो मधुना परिसान्त्विता ॥ २५६ ॥
जगाम शरणं देवमिन्दुमौलिं त्रिलोचनम्। भृङ्गानुयातां संगृह्य पुष्पितां सहकारजाम् ॥ २५७ ॥
लतां पवित्रकस्थाने पाणौ परभृतां सखीम्। निर्बध्य तु जटाजूटं कुटिलैरलकै रतिः ॥ २५८ ॥
उद्धूल्य गात्रं शुभ्रेण ह्येन स्मरभस्मना। जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रोवाचेन्दुविभूषणम् ॥ २५९ ॥

इस प्रकार कामदेवको शंकरजीके हुंकारकी ज्वालासे भस्म हुआ देख रति कामदेवके मित्र वसंतके साथ फूट-फूटकर विलाप करने लगी। बहुत प्रकारसे विलाप करनेके पश्चात् वसन्तद्वारा समझायी-बुझायी जानेपर रति त्रिनेत्रधारी भगवान् चन्द्रशेखरकी शरणमें जानेके लिये प्रस्थित हुई। उस समय उसने अपने एक हाथमें पवित्रकके स्थानपर फूली हुई आमकी लताको, जिसपर भँवरे मँडरा रहे थे, धारण कर रखा था और उसके दूसरे हाथपर उसकी सखी कोयल बैठी थी। उसने अपने घुँघराले बालोंको जटाजूटके रूपमें बाँधकर अपने प्रियतम कामदेवके श्वेत भस्मसे शरीरको धूसरित कर लिया था। वहाँ पहुँचकर वह पृथ्वीपर घुटने टेककर भगवान् चन्द्रशेखरसे बोली ॥२५५–२५९॥

रतिरुवाच

नमः शिवायास्तु निरामयाय नमः शिवायास्तु मनोमयाय।
नमः शिवायास्तु सुरार्चिताय तुभ्यं सदा भक्तकृपापराय ॥ २६० ॥
नमो भवायास्तु भवोद्भवाय नमोऽस्तु ते ध्वस्तमनोभवाय
नमोऽस्तु ते गूढमहाव्रताय नमोऽस्तु मायागहनाश्रयाय ॥ २६१ ॥
नमोऽस्तु शर्वाय नमः शिवाय नमोऽस्तु सिद्धाय पुरातनाय।
नमोऽस्तु कालाय नमः कलाय नमोऽस्तु ते ज्ञानवरप्रदाय ॥ २६२ ॥
नमोऽस्तु ते कालकलातिगाय नमो निसर्गामलभूषणाय।
नमोऽस्त्वमेयान्धकमर्दकाय नमः शरण्याय नमोऽगुणाय ॥ २६३ ॥
नमोऽस्तु ते भीमगणानुगाय नमोऽस्तु नानाभुवनादिकर्त्रे।
नमोऽस्तु नानाजगतां विधात्रे नमोऽस्तु ते चित्रफलप्रयोक्त्रे ॥ २६४ ॥
सर्वावसाने ह्यविनाशनेत्रे नमोऽस्तु चित्राध्वरभागभोक्त्रे।
नमोऽस्तु भक्ताभिमतप्रदात्रे नमः सदा ते भवसङ्गहर्त्रे ॥ २६५ ॥

रतिने कहा—जो सब प्रकारकी क्षतिसे रहित हैं, उन शिवको नमस्कार है। जो सभी प्राणियोंके मनःस्वरूप हैं, उन शिवको प्रणाम है। जो देवताओंद्वारा पूजित और सदा भक्तोंपर कृपा करनेवाले हैं, उन आप शिवको अभिवादन है। जगत्को उत्पन्न करनेवाले शिवको नमस्कार है। कामदेवको भस्म कर देनेवाले आपको प्रणाम है। गुप्त रूपसे महान् व्रतको धारण करनेवाले आपको अभिवादन है। मायारूपी काननका आश्रय लेनेवालेको नमस्कार है। आप जगत्के संहारक, कल्याणकारक और पुरातन सिद्ध हैं, आपको बारंबार प्रणाम है। आप कालस्वरूप, कल (कालकी गणना करनेवाले) और श्रेष्ठ ज्ञानके प्रदाता हैं, आपको पुनः-पुनः अभिवादन है। कालकी कलाका अतिक्रमण करनेवाले आपको नमस्कार है। प्रकृतिरूप निर्मल आभूषण धारण करनेवालेको प्रणाम है। आप अप्रमेय शक्तिशाली अन्धकासुरका मर्दन करनेवाले, शरणदाता और निर्गुण हैं, आपको बारंबार अभिवादन है। भयंकर गणोंद्वारा अनुगमन किये जानेवाले आपको नमस्कार है। अनेकों भुवनोंके आदिकर्ताको प्रणाम है। अनेको जगत्की रचना करनेवालेको अभिवादन है। चित्र-विचित्र फल प्रदान करनेवाले आपको नमस्कार है। सबकी समाप्ति अर्थात् महाप्रलयके अवसरपर आप विनाशसे बचे हुए प्राणियोंके नेता तथा विशाल यज्ञोंमें अपने भागको भोगनेवाले हैं, आपको प्रणाम है। भक्तोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करनेवालेको अभिवादन है। संसारकी आसक्तिका हरण करनेवाले आपको सदा नमस्कार है ॥ २६०–२६५ ॥

※

अनन्तरूपाय सदैव तुभ्यमसह्यकोपाय नमोऽस्तु तुभ्यम्।
शशाङ्कचिह्नाय सदैव तुभ्यममेयमानाय नमः स्तुताय॥२६६॥
वृषेन्द्रयानाय पुरान्तकाय नमः प्रसिद्धाय महौषधाय।
नमोऽस्तु भक्त्याभिमतप्रदाय नमोऽस्तु सर्वार्तिहराय तुभ्यम्॥२६७॥
चराचराचारविचारवर्यमाचार्यमुत्प्रेक्षितभूतसर्गम्।
त्वामिन्दुमौलिं शरणं प्रपन्ना प्रियाप्रमेयं महतां महेशम्॥२६८॥
प्रयच्छ मे कामयशःसमृद्धिं पुनः प्रभो जीवतु कामदेवः।
प्रियं विना त्वां प्रियजीवितेषु त्वत्तोऽपरः को भुवनेष्विहास्ति॥२६९॥
प्रभुः प्रियायाः प्रसवः प्रियाणां प्रणीतपर्यायपरापरार्थः।
त्वमेवमेको भुवनस्य नाथो दयालुरुन्मूलितभक्तभीतिः॥२७०॥

आप अनन्त रूपवाले हैं तथा आपका क्रोध असह्य होता है, आपको सदैव प्रणाम है। आप चन्द्रमाके चिह्नसे सुशोभित, अपरिमित मानसे युक्त और सभी प्राणियोंद्वारा स्तुत हैं, आपको सदैव अभिवादन है। वृषभेन्द्र नन्दी आपका वाहन है, आप त्रिपुरके विनाशक और प्रसिद्ध महौषधरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप भक्तिके वशीभूत हो अभीष्ट प्रदान करनेवाले और सभी प्रकारके कष्टोंको दूर करनेवाले हैं, आपको बारंबार प्रणाम है। आप चराचर प्राणियोंके आचार-विचारसे सर्वश्रेष्ठ, जगत्के आचार्य, समस्त भूत-सृष्टिपर दृष्टि रखनेवाले, मस्तकपर चन्द्रमाको धारण करनेवाले, अतुलित प्रेमी और महनीयोंके भी महेश्वर हैं, मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। प्रभो! मुझे कामदेवके यशकी समृद्धि प्रदान कीजिये, जिससे ये कामदेव पुनः जीवित हो जायँ। इस त्रिभुवनमें आपसे बढ़कर दूसरा कौन है, जो मेरे प्रियतमको जीवित कर सके। एकमात्र आप ही अपनी प्रियाके प्राणपति, प्रिय पदार्थोंके उद्गम-स्थान, पर और अपर—इन दोनों अर्थोंके पर्यायस्वरूप, जगत्के स्वामी, परम दयालु और भक्तोंके भयको उखाड़ फेंकनेवाले हैं ॥२६६–२७०॥

सूत उवाच

इत्थं स्तुतः शंकर ईड्य ईशो वृषाकपिर्मन्मथकान्तया तु।
तुतोष दोषाकरखण्डधारी उवाच चैनां मधुरं निरीक्ष्य॥२७१॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! कामदेवकी पत्नी रति-द्वारा इस प्रकार स्तवन किये जानेपर स्तुतिके योग्य भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। तब चन्द्रखण्डको धारण करनेवाले शिवजी उसकी ओर दृष्टिपात करके मधुर वाणीमें बोले॥

शंकर उवाच

भवितेति च कामोऽयं कालात् कान्तोऽचिरादपि। अनङ्ग इति लोकेषु स विख्यातिं गमिष्यति॥२७२॥
इत्युक्ता शिरसा वन्द्य गिरिशं कामवल्लभा। जगामोपवनं रम्यं रतिस्तु हिमभूभृतः॥२७३॥
रुरोद बहुशो दीना रमणेऽपि स्थले तु सा। मरणव्यवसायात्तु निवृत्ता सा हराज्ञया॥२७४॥

शंकरजीने कहा—कामवल्लभे! थोड़े ही समयके बाद यह कामदेव पुनः तुम्हें पतिरूपमें प्राप्त होगा। वह जगत्में अनङ्ग नामसे विख्यात होगा। इस प्रकार कही जानेपर काम-पत्नी रतिने सिर झुकाकर भगवान् शंकरको प्रणाम किया, तत्पश्चात् वह हिमालयके रमणीय उपवनकी ओर चली गयी। उस सुरम्य स्थानपर पहुँचकर भी वह दीनभावसे बहुत देरतक विलाप करती रही; क्योंकि वह शंकरजीकी आज्ञासे मृत्युके निश्चयसे निवृत्त हो चुकी थी॥ २७२–२७४ ॥

अथ नारदवाक्येन चोदितो हिमभूधरः । कृताभरणसंस्कारां कृतकौतुकमङ्गलाम् ॥ २७५ ॥
स्वर्गपुष्पकृतापीडां शुभ्रचीनांशुकाम्बराम् । सखीभ्यां संयुतां शैलो गृहीत्वा स्वसुतां ततः ॥ २७६ ॥
जगाम शुभयोगेन तदा सम्पूर्णमानसः । स काननान्युपाक्रम्य वनान्युपवनानि च ॥ २७७ ॥
ददर्श रुदतीं नारीमग्रतः समहौजसम् । रूपेणासदृशीं लोके रम्येषु वनखण्डेषु ॥ २७८ ॥
कौतुकेन परामृश्य तां दृष्ट्वा रुदतीं गिरिः । उपसर्प्य ततस्तस्या निकटे सोऽभ्यपृच्छत ॥ २७९ ॥

इधर नारदजीके वाक्योंसे प्रेरित होकर पर्वतराज हिमालय उल्लासपूर्ण मनसे दो सखियोंके साथ अपनी कन्याको लेकर (शंकरजीके पास जानेके लिये) शुभ-मुहूर्तमें प्रस्थित हुए । उस समय पार्वतीको आभूषणोंसे सुसज्जित कर दिया गया था । उनके सभी वैवाहिक मङ्गलकार्य सम्पन्न कर लिये गये थे । उनके मस्तकपर स्वर्गीय पुष्पोंकी माला पड़ी थी तथा शरीरपर श्वेत रंगकी महीन रेशमी साड़ी झलक रही थी । वे काननों, वनों एवं उपवनोंको पार करके जब आगे बढ़े तो उन्होंने उस रमणीय वनस्थलीमें एक महान् ओजस्विनी नारीको, जो लोकमें अनुपम रूपवती थी, रोती हुई देखा । तब गिरिराज उसे रोती देखकर कुतूहलवश उसके निकट गये और पूछने लगे ॥ २७५–२७९ ॥

हिमवानुवाच

कासि कस्यासि कल्याणि किमर्थं चापि रोदिषि । नैतदल्पमहं मन्ये कारणं लोकसुन्दरि ॥ २८० ॥
सा तस्य वचनं श्रुत्वा उवाच मधुना सह । रुदती शोकजननं श्वसती दैन्यवर्धनम् ॥ २८१ ॥

हिमवान् बोले—कल्याणि ! तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? किस लिये इस प्रकार रुदन कर रही हो ? लोकसुन्दरि ! मैं इसका असाधारण कारण नहीं मानता, (अपितु इसका कोई विशेष कारण है) । हिमाचल-के वचनको सुनकर वसन्तसहित रोती हुई रति दीर्घ निःश्वास लेकर दैन्यवर्धक एवं शोकजनक वचन बोली ॥

रतिरुवाच

कामस्य दयितां भार्यां रतिं मां विद्धि सुव्रत । गिरावस्मिन् महाभाग गिरिशस्तपसि स्थितः ॥ २८२ ॥
तेन प्रत्यूहरुष्टेन विस्फार्यालोक्य लोचनम् । दग्धोऽसौ झषकेतुस्तु मम कान्तोऽतिवल्लभः ॥ २८३ ॥
अहं तु शरणं याता तं देवं भयविह्वला । स्तुतवत्यथ संस्तुत्या ततो मां गिरिशोऽब्रवीत् ॥ २८४ ॥
तुष्टोऽहं कामदयिते कामोऽयं ते भविष्यति ।
त्वत्स्तुतिं चाप्यधीयानो नरो भक्त्या मदाश्रयः । लप्स्यते काङ्क्षितं कामं निवर्त्य मरणाद्वितः ॥ २८५ ॥
प्रतीक्षन्ती च तद्वाक्यमाशावेशादिभिर्ह्यहम् । शरीरं परिरक्षिष्ये कंचित् कालं महाद्युते ॥ २८६ ॥
इत्युक्तस्तु तदा रत्या शैलः सम्भ्रमभीषितः । पाणावादाय हि सुतां गन्तुमैच्छत् स्वकं पुरम् ॥ २८७ ॥
भाविनोऽवश्यभावित्वाद्भविष्णी भूतभाविनी । लज्जमाना सखिमुखैरुवाच पितरं गिरिम् ॥ २८८ ॥

रतिने कहा—सुव्रत ! आप मुझे कामदेवकी प्यारी पत्नी रति समझें । महाभाग ! इसी पर्वतपर भगवान् शंकर तपस्या कर रहे हैं । तपस्यामें विघ्न पड़नेसे रुष्ट होकर उन्होंने अपने तीसरे नेत्रको खोलकर देखा, जिससे मेरे परम प्रिय पति कामदेव जलकर भस्म हो गये । तब भयसे विह्वल हुई मैं उन देवाधिदेवकी शरणमें गयी । वहाँ मैंने उनकी स्तुति की । उस स्तवनसे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने मुझसे कहा—'कामदयिते ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो जायगा । साथ ही जो मनुष्य मेरे शरणागत होकर तुम्हारेद्वारा की गयी इस स्तुतिका भक्तिपूर्वक पाठ करेगा, वह अपनी मनोवाञ्छित कामनाको प्राप्त कर लेगा । अब तुम मृत्युके निश्चयसे निवृत्त हो जाओ ।' महाद्युतिमान् पर्वतराज ! उसी

आशाके आवेशसे मैं शंकरजीके वाक्यकी प्रतीक्षा करती हुई कुछ कालतक इस शरीरकी रक्षा करूँगी। रतिद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर हिमाचल उस समय भयभीत हो गये। तब वे अपनी कन्याका हाथ पकड़कर अपने नगरको लौट जानेके लिये उद्यत हो गये। तब जो होनहार है, वह तो अवश्य होकर ही रहेगा—ऐसा विचारकर प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली पार्वती लजाती हुई सखीके मुखसे अपने पिता गिरिराजसे बोलीं॥

शैलदुहितोवाच

दुर्भगेण शरीरेण किं मामनेन कारणम्। कथं च तादृशं प्राप्तं सुखं मे स पतिर्भवेत्॥ २८९॥
तपोभिः प्राप्यतेऽभीष्टं नासाध्यं हि तपस्यतः। दुर्भगत्वं वृथा लोको वहते सति साधने॥ २९०॥
जीविताद् दुर्भगाच्छ्रेयो मरणं ह्यतपस्यतः। भविष्यामि न संदेहो नियमैः शोषये तनुम्॥ २९१॥
तपसि भ्रष्टसंदेह उद्यमोऽर्थजिगीषया। साहं तपः करिष्यामि यदहं प्राप्य दुर्लभा॥ २९२॥
इत्युक्तः शैलराजस्तु दुहित्रा स्नेहविक्लवः। उवाच वाचा शैलेन्द्रो स्नेहगद्गद्वर्णया॥ २९३॥

गिरिराजकुमारीने कहा—पिताजी! इस अभागे शरीरको धारण करनेसे मुझे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है? अब मै किस प्रकार सुखी हो सकूँगी और किस उपायसे भगवान् शंकर मेरे पति हो सकेंगे? (ठीक है, ऐसा सुना जाता है कि) तपस्यासे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती हैं; क्योंकि तपस्वीके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। भला ऐसे उत्तम साधनके रहते हुए भी लोग व्यर्थ ही दुर्भाग्यका भार क्यों वहन करते हैं? तपस्या न करनेवालेके लिये भाग्यहीन जीवनसे तो मर जाना ही श्रेयस्कर है। अतः मैं निःसंदेह तपस्विनी बनूँगी और नियमोंके पालनद्वारा अपने शरीरको सुखा डालूँगी। प्रयोजन-सिद्धिके लिये तपस्याके निमित्त संदेहरहित उद्यम अवश्य करना चाहिये। इसलिये अब मैं तपस्या करूँगी, जिससे मुझे वह दुर्लभ कामना प्राप्त हो जाय। पुत्रीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर पर्वतराज हिमाचल स्नेहसे विह्वल हो गये, तब वे स्नेहभरी गद्गद वाणीसे बोले॥

हिमवानुवाच

उमेति चपले पुत्रि न क्षमं तावकं वपुः। सोढुं क्लेशस्वरूपस्य तपसः सौम्यदर्शने॥ २९४॥
भावीन्यभिविचार्याणि पदार्थानि सदैव तु। भाविनोऽर्था भवन्त्येव हठेनानिच्छतोऽपि वा॥ २९५॥
तस्मान्न तपसा तेऽस्ति बाले किंचित् प्रयोजनम्। भवनायैव गच्छामश्चिन्तयिष्यामि तत्र वै॥ २९६॥
इत्युक्ता तु यदा नैव गृहायाभ्येति शैलजा। ततः स चिन्तयाऽऽविष्टो दुहितां प्रशशंस च॥ २९७॥
ततोऽन्तरिक्षे दिव्या वागभूद् भुवनभूतले। उमेति चपले पुत्रि त्वयोक्ता तनया ततः॥ २९८॥
उमेति नाम तेनास्या भुवनेषु भविष्यति। सिद्धिं च मूर्तिमत्येषा साधयिष्यति चिन्तिताम्॥ २९९॥
इति श्रुत्वा तु वचनमाकाशात् काशपाण्डुरः। अनुज्ञाय सुतां शैलो जगामाशु स्वमन्दिरम्॥ ३००॥

हिमवान्ने कहा—बेटी! तू तो बड़ी चञ्चल है। 'उ—मा'—उसे मत कर; क्योंकि सुन्दर स्वरूपवाली बच्ची! तेरा यह शरीर क्लेशस्वरूप तपस्याके कष्टको सहन करनेके लिये सक्षम नहीं है। वत्से! भावी पदार्थोंके प्रति सदैव ऐसा समझना चाहिये कि होनहारके विषय न चाहनेपर भी हठपूर्वक घटित होते ही हैं; अतः बाले! तुझे तपस्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आओ, हमलोग घर चलें, वहीं इस विषयमें विचार किया जायगा। इस प्रकार कहे जानेपर भी जब पार्वती घर लौटनेके लिये उद्यत नहीं हुई, तब हिमाचल चिन्तित हो गये और पुत्रीकी प्रशंसा करने लगे। इसी बीच धरातलपर इस प्रकारकी दिव्य आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'शैलराज! जो तुमने 'अपनी पुत्रीके प्रति 'उ मेति चपले पुत्रि—चञ्चल बेटी! उसे मत कर'—ऐसा कहा है, इस कारण संसारमें इसका 'उमा' नाम प्रसिद्ध होगा। यह साक्षात् प्रकट होकर (भक्तोंको

उनकी) अभीष्ट सिद्धि प्रदान करेगी।' इस आकाश-वाणीको सुनकर कास-पुष्पके समान उज्ज्वल वर्णवाले हिमाचल अपनी पुत्रीको तपके निमित्त आज्ञा देकर शीघ्र ही अपने भवनको लौट गये ॥ २९४—३०० ॥

सूत उवाच

शैलजापि ययौ शैलमगम्यमपि दैवतैः। सखीभ्यामनुयाता तु नियता नगराजजा ॥ ३०१ ॥
शृङ्गं हिमवतः पुण्यं नानाधातुविभूषितम्। दिव्यपुष्पलताकीर्णं सिद्धगन्धर्वसेवितम् ॥ ३०२ ॥
नानामृगगणाकीर्णं भ्रमरोद्घुष्टपादपम्। दिव्यप्रस्रवणोपेतं दीर्घिकाभिरलंकृतम् ॥ ३०३ ॥
नानापक्षिगणाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम्। जलजस्थलजैः पुष्पैः प्रोत्फुल्लैरुपशोभितम् ॥ ३०४ ॥
चित्रकन्दरसंस्थानं गुहागृहमनोहरम्। विहङ्गसंघसंजुष्टं कल्पपादपसंकटम् ॥ ३०५ ॥
तत्रापश्यन्महाशाखं शाखिनं हरितच्छदम्। सर्वर्तुकुसुमोपेतं मनोरथशतोज्ज्वलम् ॥ ३०६ ॥
नानापुष्पसमाकीर्णं नानाविधफलान्वितम्। नतं सूर्यस्य रुचिभिर्भिन्नसंहतपल्लवम् ॥ ३०७ ॥
तत्राम्बराणि संत्यज्य भूषणानि च शैलजा। संवीता वल्कलैर्दिव्यैर्दर्भनिर्मितमेखला ॥ ३०८ ॥
त्रिःस्नाता पाटलाहारा बभूव शरदां शतम्। शतमेकेन शीर्णेन पर्णेनावर्तयत् तदा ॥ ३०९ ॥
निराहारा शतं साभूत् समानां तपसां निधिः। तत उद्वेजिताः सर्वे प्राणिनस्तत्तपोऽग्निना ॥ ३१० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इधर पार्वती भी नियमबद्ध होकर अपनी दोनों सखियोंके साथ उस शिखरकी ओर प्रस्थित हुईं, जो देवताओंके लिये भी अगम्य था। हिमालयका वह पावन शिखर अनेकों प्रकारकी धातुओंसे विभूषित था। उसपर दिव्य पुष्पोंकी लताएँ फैली हुई थीं। वह सिद्धों एवं गन्धर्वोंद्वारा सेवित था। वहाँ अनेकों जातियोंके मृगसमूह विचर रहे थे। उसके वृक्षोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। वह दिव्य झरनोंसे युक्त तथा बावलियोंसे सुशोभित था। वहाँ नाना प्रकारके पक्षिसमूह चहचहा रहे थे। वह चक्रवाक पक्षीसे अलंकृत तथा जलमें एवं स्थलपर उत्पन्न होनेवाले खिले हुए पुष्पोंसे विभूषित था। वह विचित्र ढंगकी कन्दराओंसे युक्त था। उन गुफाओंमें मनको लुभानेवाले गृह बने थे। वहाँ घनेरूपमें कल्पवृक्ष उगे हुए थे, जिनपर पक्षिसमूह निवास करते थे। वहाँ पहुँचकर गिरिराजकुमारी पार्वतीने एक विशाल शाखाओंवाले वृक्षको देखा, जो हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित था। वह छहों ऋतुओंके पुष्पोंसे युक्त, सैकड़ों मनोरथोंकी भाँति उज्ज्वल, नाना प्रकारके पुष्पोंसे आच्छादित और अनेक-विध फलोंसे लदा हुआ था। सूर्यकी किरणें उसके सघन पल्लवोंका भेदन कर नीचेतक नहीं पहुँच पाती थीं। उसी वृक्षके नीचे पार्वतीने अपने आभूषणों और वस्त्रोंको उतारकर मूँजकी मेखला और दिव्य वल्कल-वस्त्रोंसे अपने शरीरको ढक लिया (और वे तपस्यामें निरत हो गयीं)। उन्होंने प्रथम सौ वर्ष त्रिकाल स्नान और पाटल वृक्षके पत्तोंका भोजन करके बिताया। फिर दूसरे सौ वर्षोंतक वे एक सूखा पत्ता चबाकर जीवननिर्वाह करती रहीं और पुनः सौ वर्षोंतक निराहार रहकर तपस्यामें संलग्न रहीं। उस प्रकार वे तपस्याकी निधि बन गयीं। फिर तो उनकी तपस्याजन्य अग्निसे सभी प्राणी उद्विग्न हो उठे ॥ ३०१—३१० ॥

ततः सस्मार भगवान् मुनीन् सप्त शतक्रतुः। ते समागम्य मुनयः सर्वे समुदितास्ततः ॥ ३११ ॥
पूजिताश्च महेन्द्रेण पप्रच्छुस्तं प्रयोजनम्। किमर्थं तु सुरश्रेष्ठ संस्मृतास्तु वयं त्वया ॥ ३१२ ॥
शक्रः प्रोवाच शृण्वन्तु भगवन्तः प्रयोजनम्।
हिमाचले तपो घोरं तप्यते भूधरात्मजा। तस्या ह्यभिमतं कामं भवन्तः कर्तुमर्हथ ॥ ३१३ ॥
ततः समापतन् देव्या जगदर्थं त्वरान्विताः। तथेत्युक्त्वा तु शैलेन्द्रं सिद्धसंघातसेवितम् ॥ ३१४ ॥

सप्तर्षिगण और पार्वतीजी

पार्वतीजी की कठोर तपस्या

ऊचुरागत्य मुनयस्तामथो मधुराक्षरम्। पुत्रि किं ते व्यवसितः कामः कमललोचने ॥ ३१५ ॥
तानुवाच ततो देवी सलज्जा गौरवान्मुनीन्। तपस्यतो महाभागाः प्राप्य मौनं भवादृशान् ॥ ३१६ ॥
वन्दनाय नियुक्ता धीः पावयत्यविकल्पितम्। प्रश्नोन्मुखत्वाद् भवतां युक्तमासनमादितः ॥ ३१७ ॥
उपविष्टाः श्रमोन्मुक्तास्ततः प्रक्ष्यथ मामतः। इत्युक्त्वा सा ततश्चक्रे कृतासनपरिग्रहान् ॥ ३१८ ॥
सा तु तान् विधिवत् पूज्यान् पूजयित्वा विधानतः। उवाचादित्यसंकाशान् मुनीन् सप्त सती शनैः ॥ ३१९ ॥

तदनन्तर ऐश्वर्यशाली इन्द्रने सातों मुनियोंका स्मरण किया। स्मरण करते ही वे सभी मुनि हर्षपूर्वक वहाँ उपस्थित हो गये। तब महेन्द्रद्वारा पूजित होनेपर उन्होंने इन्द्रसे अपना स्मरण किये जानेका प्रयोजन पूछते हुए कहा—'सुरश्रेष्ठ! किस लिये आपने हमलोगोंका स्मरण किया है?' यह सुनकर इन्द्रने कहा—'ऋषिगण! आपलोग मेरे उस प्रयोजनको श्रवण करें। हिमाचलकी कन्या पार्वती हिमालय पर्वतपर घोर तपका अनुष्ठान कर रही है। आपलोग उनकी अभीष्ट कामनाको पूर्ण करें।' तत्पश्चात् 'तथेति—बहुत अच्छा' यों कहकर जगत्का कल्याण करनेके लिये (अरुन्धतीसहित सभी) मुनिगण शीघ्र ही सिद्धसमूहोंसे सेवित हिमालयके शिखरपर पार्वती देवीके निकट पहुँचे। वहाँ पहुँचकर मुनियोंने पार्वतीसे मधुर वाणीमें पूछा—'कमलके समान नेत्रोंवाली पुत्रि! तुम अपना कौन-सा मनोरथ सिद्ध करना चाहती हो?' तब गौरववश लजाती हुई पार्वती देवीने उन मुनियोंसे कहा—'महाभाग मुनिगण! यद्यपि तपस्या करते समय मैंने मौनका नियम ले रखा था, तथापि आप-जैसे महापुरुषोंकी वन्दना करनेके लिये मेरी बुद्धि उत्सुक हो उठी है, जो निश्चय ही मुझे पावन बना रही है। आपलोगोंके लिये प्रश्न पूछनेसे पूर्व आसन ग्रहण कर लेना ही उपयुक्त है, अतः पहले आसनपर बैठिये, थकावटको दूर कीजिये, तत्पश्चात् मुझसे पूछिये।' ऐसा कहकर पार्वतीने उन पूजनीयोंको आसनपर विराजमान किया और विधि-विधानपूर्वक उनकी पूजा की। तत्पश्चात् सती धीमे स्वरमें उन सूर्यके समान तेजस्वी सप्तर्षियोंसे कहने लगीं॥

त्यक्त्वा व्रतात्मकं मौनं मौनं जग्राह ह्रीमयम्। भावं तस्यास्तु मौनान्नं तस्याः सप्तर्षयो यथा ॥ ३२० ॥
गौरवाधीनतां प्राप्ताः पप्रच्छुस्तां पुनस्तथा। सापि गौरवगर्भेण मनसा चारुहासिनी ॥ ३२१ ॥
मुनीञ् शान्तकथालापान् प्रेक्ष्य प्रोवाच वाग्यमम्। भगवन्तो विजानन्ति प्राणिनां मानसं हितम् ॥ ३२२ ॥
मनोगतैभिरत्यर्थं कन्दर्प्यन्ते हि देहिनः। केचित्तु निपुणास्तत्र घटन्ते विबुधोद्यमैः ॥ ३२३ ॥
उपायैर्दुर्लभान् भावान् प्राप्नुवन्ति ह्यतन्द्रिताः। अपरे तु परिच्छिन्ना नानाकाराभ्युपक्रमाः ॥ ३२४ ॥
देहान्तरार्थमारम्भमाश्रयन्ति हितप्रदम्। मम त्वाकाशसम्भूतपुष्पदामविभूषितम् ॥ ३२५ ॥
वन्ध्या सुतं प्राप्तुकामा मनः प्रसरते मुहुः। अहं किल भवं देवं पतिं प्राप्तुं समुद्यता ॥ ३२६ ॥
प्रकृत्यैव दुराधर्षं तपस्यन्तं तु सम्प्रति। सुरासुरैरनिर्णीतपरमार्थक्रियाश्रयम् ॥ ३२७ ॥
साम्प्रतं चापि निर्दग्धमदनं वीतरागिणम्। कथमाराधयेदीशं मादृशी तादृशं शिवम् ॥ ३२८ ॥
इत्युक्ता मुनयस्ते तु स्थिरतां मनसस्ततः। ज्ञातुमस्या वचः प्रोचुः क्रमात् प्रकृतार्थकम् ॥ ३२९ ॥

उस समय उन्होने व्रतसम्बन्धी मौनका त्याग कर लज्जामय मौन ग्रहण कर लिया था, जिससे उनका भाव मौन-दशामें परिणत हो गया था। तब सप्तर्षियोंने गौरवके अधीन हुई पार्वतीसे उस प्रयोजनके विषयमें पुनः प्रश्न किया। तदुपरान्त सुन्दर मुसकानवाली पार्वतीने गौरवपूर्ण मनसे मुनियोंको शान्तरूपसे वार्तालाप करते देखकर वाणीपर संयम रखते हुए इस प्रकार कहा—'महर्षियो! आपलोग तो प्राणियोंके मानस हितको भली-भाँति जानते हैं। शरीरधारी प्राणी प्रायः अपने मनोगत भावोंके कारण ही अत्यधिक कष्टका अनुभव करते हैं।

उनमें कुछ लोग ऐसे निपुण हैं, जो आलस्यरहित हो दैवी उपायोद्वारा प्रयत्न करते हैं और दुर्लभ विषयोंको प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे हैं, जो परिमित एवं नाना प्रकारके उपायोंसे युक्त हैं। वे देहान्तरको ही हितप्रद मानकर उसके लिये कार्यारम्भ करते हैं। परंतु मेरा मन आकाशमें उत्पन्न हुए पुष्पोंकी मालासे विभूषित वन्ध्या-पुत्रको प्राप्त करनेके लिये वारंवार प्रयास कर रहा है। मै निश्चितरूपसे भगवान् शंकरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये उद्यत हूँ। वे एक तो स्वभावसे ही दुराराध्य हैं, दूसरे इस समय तो वे तपस्यामें निरत हैं। सुर अथवा असुर कोई भी अबतक उनकी परमार्थ-क्रियाका निर्णय नहीं कर सका। अभी-अभी हालमें ही वे कामदेवको जलाकर वीतरागी तपस्वी वन गये हैं। भला मुझ-जैसी अवला वैसे कल्याणकारी शिवकी आराधना कैसे कर सकती है।' इस प्रकार कहे जानेपर वे मुनिगण पार्वतीके मनकी स्थिरताका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये क्रमशः उसी विषयपर पुनः बोले ॥ ३२०–३२९ ॥

मुनय ऊचुः

द्विविधं तु सुखं तावत् पुत्रि लोकेषु भाव्यते। शरीरस्यास्य सम्भोगैश्चेतसश्चापि निर्वृतिः ॥ ३३० ॥
प्रकृत्या स तु दिग्वासा भीमः पितृवणेशयः। कपाली भिक्षुको नग्नो विरूपाक्षः स्थिरक्रियः ॥ ३३१ ॥
प्रमत्तोन्मत्तकाकारो बीभत्सकृतसंग्रहः। यतिना तेन कस्तेऽर्थो मूर्तानर्थेन काङ्क्षितः ॥ ३३२ ॥
यदि ह्यस्य शरीरस्य भोगमिच्छसि साम्प्रतम्। तत् कथं ते महादेवाद्भयभाजो जुगुप्सितात् ॥ ३३३ ॥
स्रवद्रक्तवसाभ्यक्तकपालकृतभूषणात्। श्वसदुग्रभुजंगेन्द्रकृतभूषणभीषणात् ॥ ३३४ ॥
श्मशानवासिनो रौद्रप्रमथानुगतात् सति।

मुनियोंने कहा—बेटी! लोकोंमें दो प्रकारके सुख बतलाये जाते हैं—एक तो इस शरीरके सम्भोगोंद्वारा और दूसरा मनकी (विषयभोगोंसे) निवृत्तिद्वारा प्राप्त होता है। शंकरजी तो स्वभावसे ही दिगम्बर, विकृत वेषधारी, पितृवनमें शयन करनेवाले, कपालधारी, भिक्षुक, नग्न, विकृत नेत्रोंवाले और उद्यमहीन हैं। उनका आकार मतवाले पागलोंकी तरह है। वे घृणित वस्तुओंका ही संग्रह करते हैं। वे एकदम अनर्थकी मूर्ति हैं। ऐसे संन्यासीसे तुम अपना कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहती हो? यदि तुम इस समय इस शरीरके भोगकी इच्छा करती हो तो भला उन भयावने एवं निन्दित महादेवसे तुम्हें उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है; उनके तो चूते हुए रक्त और मज्जासे चुपड़े हुए कपाल ही भूषण हैं। वे फुफकारते हुए विषैले सर्पराजोंका आभूषण धारण करनेके कारण बड़े भीषण दीख पड़ते हैं, सदा श्मशानमें निवास करते हैं और भयंकर प्रमथगण उनके अनुचर हैं ॥ ३३०–३३४½ ॥

सुरेन्द्रमुकुटव्रातनिघृष्टचरणोऽरिहा ॥ ३३५ ॥
हरिरस्ति जगद्धाता श्रीकान्तोऽनन्तमूर्तिमान्। नाथो यज्ञभुजामस्ति तथेन्द्रः पाकशासनः ॥ ३३६ ॥
देवतानां निधिश्चास्ति ज्वलनः सर्वकामकृत्। वायुरस्ति जगद्धाता यः प्राणः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३७ ॥
तथा वैश्रवणो राजा सर्वार्थमतिमान् विभुः। एभ्य एकतमं कस्मात्त्वं सम्प्राप्तुमिच्छसि ॥ ३३८ ॥
उतान्यदेहसम्प्राप्त्या सुखं ते मनसेप्सितम्।
एवमेतत् तवाप्यत्र प्रभवो नाकसम्पदाम्। अस्मिन् नेह परत्रापि कल्याणप्राप्तयस्तव ॥ ३३९ ॥
पितुरेवास्ति तत् सर्वं सुरेभ्यो यन्न विद्यते। अतस्तत्प्राप्तये क्लेशः स वाप्यत्राफलस्तव ॥ ३४० ॥
प्रायेण प्रार्थितो भद्रे सुखल्पो ह्यतिदुर्लभः। अस्य ते विधियोगस्य धाता कर्तात्र चैव हि ॥ ३४१ ॥

इनसे तो कहीं अच्छे भगवान् विष्णु हैं, जिनके चरणोंपर प्रधान देवता अपने मुकुटसमूहोंको रगड़ते रहते हैं। जो शत्रुओंके संहारक, जगत्‌का पालन-पोषण करनेवाले, लक्ष्मीके पति और अनुपम शोभाशाल

हैं। इसी प्रकार यज्ञ-भोजी देवताओंके स्वामी पाकशासन हैं। देवताओंके निधिस्वरूप एवं समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अग्नि हैं। जगत्‌का पालन-पोषण करनेवाले वायु हैं, जो सभी शरीरधारियोंके प्राण हैं तथा विश्रवाके पुत्र राजाधिराज कुबेर हैं, जो बड़े ऐश्वर्यशाली, बुद्धिमान् और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके अधीश्वर हैं। तुम इनमेंसे किसी एकको प्राप्त करनेकी इच्छा क्यों नहीं कर रही हो? अथवा यदि तुमने अपने मनमें यह ठान लिया हो कि जन्मान्तरमें सुखकी प्राप्ति होगी तो वह भी तुम्हें स्वर्गवासी देवताओंसे ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार तुम्हें देवताओंके बिना इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यान्य सुखदायक पदार्थोंको प्राप्त करना चाहती हो तो वे सब तुम्हारे पिताके पास ही इतने अधिक हैं, जो देवताओंके पास नहीं हैं; अतः उनकी प्राप्तिके हेतु तुम्हारा इस प्रकार कष्ट सहन करना व्यर्थ है। साथ ही भद्रे! प्रायः ऐसा देखा जाता है कि माँगी हुई वस्तुका मिलना अत्यन्त कठिन होता है और यदि मिल भी जाय तो बहुत थोड़ी ही मिलती है। इस कारण तुम्हारे इस मनोरथको ब्रह्मा ही पूर्ण कर सकते हैं (दूसरेकी शक्ति नहीं है) ॥ ३३५—३४१ ॥

सूत उवाच

इत्युक्ता सा तु कुपिता मुनिवर्येषु शैलजा। उवाच कोपरक्ताक्षी स्फुरद्भिर्दशनच्छदैः ॥ ३४२ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! सप्तर्षियोंद्वारा इस प्रकार कही जानेपर पार्वती उन मुनियोंपर कुपित हो उठीं। उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और होंठ फड़कने लगे, तब वे बोलीं ॥ ३४२ ॥

देव्युवाच

असद्ग्रहस्य का नीतिर्व्यसनस्य क्व यन्त्रणा। विपरीतार्थबोद्धारः सत्पथे केन योजिताः ॥ ३४३ ॥
एवं मां वेत्थ दुष्प्रज्ञां ह्यस्थानासद्ग्रहप्रियाम्। न मां प्रति विचारोऽस्ति ततोऽहंकारमानिनी ॥ ३४४ ॥
प्रजापतिसमाः सर्वे भवन्तः सर्वदर्शिनः। नूनं न वेत्थ तं देवं शाश्वतं जगतः प्रभुम् ॥ ३४५ ॥
अजमीशानमव्यक्तममेयमहिमोदयम् ॥ ३४६ ॥
आस्तां तद्धर्मसद्भावसम्बोधस्तावदद्भुतः। विदुर्यं न हरिब्रह्मप्रमुखा हि सुरेश्वराः ॥ ३४७ ॥
यत्तस्य विभवात् स्वोत्थं भुवनेषु विजृम्भितम्। प्रकटं सर्वभूतानां तदप्यत्र न वेत्थ किम् ॥ ३४८ ॥
कस्यैतद्गगनं मूर्तिः कस्याग्निः कस्य मारुतः। कस्य भूः कस्य वरुणः कश्चन्द्रार्कविलोचनः ॥ ३४९ ॥
कस्यार्चयन्ति लोकेषु लिङ्गं भक्त्या सुरासुराः। यं ब्रुवन्तीश्वरं देवा विधीन्द्राद्या महर्षयः ॥ ३५० ॥
प्रभावं प्रभवं चैव तेषामपि न वेत्थ किम्।

देवीने कहा—सप्तर्षियो! असद् वस्तुको ग्रहण करनेवालेके लिये नीति कैसी? तथा दुर्व्यसनीके लिये व्यसनकी प्राप्तिमें कष्ट कहाँ? (अर्थात् जिसमें जिसका मन आसक्त हो गया है, उसकी प्राप्तिके लिये उसे कितना ही कष्ट क्यों न झेलना पड़े, परंतु वह उसकी परवा नहीं करता।) अरे! विपरीत अर्थको जाननेवाले आपलोगोंको किसने सन्मार्गपर नियुक्त कर दिया? आपलोग मुझे इस प्रकार दुष्ट बुद्धिवाली तथा अयुक्त एवं असद् वस्तुको ग्रहण करनेकी अभिलाषिणी मानते हैं, अतः आपलोगोंका विचार मेरे प्रति ठीक नहीं है। इसी कारण मेरे मनमें अहंकारपूर्वक मान उत्पन्न हो गया है। यद्यपि आप सभी लोग प्रजापतिके समान समदर्शी हैं, तथापि उन महादेवके विषयमें आपलोगोंको निश्चय ही कुछ भी ज्ञात नहीं है। वे अविनाशी, जगत्‌के स्वामी, अजन्मा, शासक, अव्यक्त और अप्रमेय महिमावाले हैं। विष्णु और ब्रह्मा आदि सुरेश्वर भी जिन्हें नहीं जानते, उन महादेवके धर्म एवं सद्भावका जो अद्भुत ज्ञान आपलोग दे रहे हैं, उसे अब रहने

दीजिये। जिसके विभवसे उत्पन्न हुआ चैतन्य सभी लोकोंमें फैला हुआ है और सभी प्राणियोंमें प्रत्यक्षरूपसे दृष्टिगोचर हो रहा है, उसे भी क्या आपलोग नहीं जानते। (भला सोचिये तो सही) यह आकाश, अग्नि, वायु, पृथ्वी और वरुण पृथक्-पृथक् रूपसे किसकी मूर्ति हैं ? चन्द्रमा और सूर्यको नेत्ररूपमें धारण करनेवाला कौन है ? समस्त सुर एवं असुर लोकोंमें भक्तिपूर्वक किसके लिङ्गकी अर्चना करते हैं ? ब्रह्मा एवं इन्द्र आदि देवता तथा महर्षिगण जिन्हें अपना ईश्वर मानते हैं, उन देवताओंके प्रभाव एवं उत्पत्तिको भी क्या आपलोग नहीं जानते ? ॥ ३४३–३५०½ ॥

अदितिः कस्य मातेयं कस्माज्जातो जनार्दनः ॥ ३५१ ॥
अदितेः कश्यपाज्जाता देवा नारायणादयः। मरीचेः कश्यपः पुत्रो ह्यदितिर्दक्षपुत्रिका ॥ ३५२ ॥
मरीचिश्चापि दक्षश्च पुत्रौ तौ ब्रह्मणः किल। ब्रह्मा हिरण्मयात्त्वण्डाद्दिव्यसिद्धिविभूषितात् ॥ ३५३ ॥
कस्य प्रादुरभूद्ध्यानात्प्राकृतैः प्रकृतांशकात्। प्रकृतौ तु तृतीयायामम्बुजाज्जननक्रिया ॥ ३५४ ॥
जातः ससर्ज षड्वर्गान् बुद्धिपूर्वान्स्वकर्मजान्। अजातकोऽभवद्वेधा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥ ३५५ ॥
यः स्वयोगेन संक्षोभ्य प्रकृतिं कृतवानिदम्। ब्रह्मणः सिद्धसर्वार्थमैश्वर्यं लोककर्तृताम् ॥ ३५६ ॥
विदुर्विष्ण्वादयो यच्च स्वमहिम्ना सदैव हि। कृत्वान्यं देहमन्यादृक् तादृक् कृत्वा पुनर्हरिः ॥ ३५७ ॥
कुरुते जगतः कृत्यमुत्तमाधममध्यमम्। एवमेव हि संसारो यो जन्ममरणात्मकः ॥ ३५८ ॥
कर्मणश्च फलं ह्येतन्नानारूपसमुद्भवम्।

(यदि नहीं जानते तो सुनिये—) यह अदिति किसकी माता है और विष्णु किससे उत्पन्न हुए हैं ? ये नारायण आदि सभी देवता कश्यप और अदितिसे ही उत्पन्न हुए हैं। वे कश्यप महर्षि मरीचिके पुत्र हैं और अदिति प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं। ये दोनों मरीचि और दक्ष भी ब्रह्माके पुत्र हैं और ब्रह्मा दिव्य सिद्धिसे विभूषित हिरण्मय अण्डसे प्रकट हुए हैं। उनका प्रादुर्भाव किसके ध्यानसे हुआ था ? (अर्थात् ब्रह्माके आविर्भावके कारण महादेव ही हैं।) ब्रह्मा प्राकृत गुणोंके संयोगसे प्रकृतिके अंशसे तृतीय-प्रकृतिमें कमलपर उत्पन्न हुए थे। जन्म लेते ही उन्होंने बुद्धिपूर्वक अपने कर्मवश उत्पन्न होनेवाले षड्वर्गोंकी सृष्टि की। इस प्रकार अव्यक्तजन्मा ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्मा अजन्मा कहलाये, जिन्होंने अपने योगबलसे प्रकृतिको संक्षुब्ध कर इस जगत्‌की रचना की। विष्णु आदि सभी देवता अपनी महिमासे सदासे ही ब्रह्माकी सर्वार्थ-सिद्धि, ऐश्वर्य और लोकरचनाको जानते हैं। पुनः श्रीहरि युगानुसार विभिन्न प्रकारका शरीर धारण कर जगत्‌के उत्तम, मध्यम और अधम कर्मोंका सम्पादन करते हैं। जन्म-मृत्युरूप संसारकी यही स्थिति है और कर्मोंका भी अनेक रूपोंमें उत्पन्न हुआ यही फल है ॥ ३५१–३५८½ ॥

अथ नारायणो देवः स्वकां छायां समाश्रयन् ॥ ३५९ ॥
तत्प्रेरितः प्रकुरुते जन्म नानाप्रकारकम्। सापि कर्मण एवोक्ता प्रेरणा विवशात्मनाम् ॥ ३६० ॥
यथोन्मादादिजुष्टस्य मतिरेव हि सा भवेत्। दृष्टान्येव यथार्थानि विपरीतानि मन्यते ॥ ३६१ ॥
लोकस्य व्यवहारेषु सृष्टेषु सहते सदा। धर्माधर्मफलावाप्तौ विष्णुरेव निबोधितः ॥ ३६२ ॥
अथानादित्वमस्यास्ति सामान्यात्तु तदात्मना। न ह्यस्य जीवितं दीर्घं दृष्टं देहे तु कुत्रचित् ॥ ३६३ ॥
भवद्भिर्यस्य नो दृष्टमन्तमग्रमथापि वा। देहिनां धर्म एवैष क्वचिज्जायेत् क्वचिन्म्रियेत् ॥ ३६४ ॥
क्वचिद् गर्भगतो नश्येत्क्वचिज्जीवेज्जरामयः। क्वचित्समाः शतं जीवेत् क्वचिद् बाल्ये विपद्यते ॥ ३६५ ॥
शतायुः पुरुषो यस्तु सोऽनन्तः स्वल्पजन्मनः। जीवितो न म्रियत्यग्रे तस्मात् सोऽमर उच्यते ॥ ३६६ ॥
अदृष्टजन्मनिधना ह्येवं विष्ण्वादयो मताः। एतत् संबुद्धमैश्वर्यं संसारे को लभेदिह ॥ ३६७ ॥

तत्र क्षयादियोगात् तु नानाश्चर्यस्वरूपिणि । तस्माद्विश्वरान् सर्वान् मलिनान् स्वल्पभूतिकान् ॥ ३६८ ॥
नाहं भद्राः किलेच्छामि ऋते शर्वात् पिनाकिनः । स्थितं च तारतम्येन प्राणिनां परमं त्विदम् ॥ ३६९ ॥
धीबलैश्वर्यकार्यादिप्रमाणं महतां महत् । यस्मान्न कंचिदपरं सर्वं यस्मात् प्रवर्तते ॥ ३७० ॥
यस्यैश्वर्यमनाद्यन्तं तमहं शरणं गता । एष मे व्यवसायश्च दीर्घोऽतिविपरीतकः ॥ ३७१ ॥
यात वा तिष्ठतैवाथ मुनयो मद्विधायकाः । एवं निशम्य वचनं देव्या मुनिवरास्तदा ॥ ३७२ ॥
आनन्दाश्रुपरीताक्षाः सस्वजुस्तां तपस्विनीम् । ऊचुश्च परमप्रीताः शैलजां मधुरं वचः ॥ ३७३ ॥

तदनन्तर भगवान् नारायण अपनी छायाका आश्रय ग्रहण करते हैं और उससे प्रेरित हो नाना प्रकारका जन्म धारण करते हैं । वह प्रेरणा भी भाग्याधीन प्राणियोंके कर्मके अनुरूप ही कही गयी है, जो उन्माद आदिसे युक्त पुरुषकी बुद्धि-जैसी होती है; क्योंकि वह अपनी यथार्थ इष्ट वस्तुओंको भी विपरीत ही मानता है और सदा लोकके लिये रचे गये व्यवहारोंमें कष्ट भोगता है । इस प्रकार धर्म और अधर्मके फलकी प्राप्तिमें विष्णु ही कारण माने गये हैं । यद्यपि विष्णुको सामान्यतया आत्मरूपसे अनादि माना जाता है, तथापि उनका किसी भी देहमें दीर्घ जीवन नहीं देखा गया । आपलोग भी उनके आदि-अन्तको नहीं जानते, किंतु देहधारियोंका यह धर्म है कि वे कहीं जन्म लेते हैं तो मरते कहीं है । कहीं गर्भमें ही नष्ट हो जाते हैं तो कहीं बुढ़ापा और रोगसे ग्रस्त होकर भी जीवित रहते हैं । कोई सौ वर्षोंतक जीवित रहता है तो कोई बचपनमें ही कालके गालमें चला जाता है । जिस पुरुषकी आयु सौ वर्षकी होती है, वह थोड़ी आयुवालेकी अपेक्षा अनन्त आयुवाला कहा जाता है । सदा जीवित रहते हुए जो आगे चलकर मृत्युको नहीं प्राप्त होता, उसे अमर कहा जाता है । इस तरह विष्णु आदि देवगण भी प्रारब्ध, जन्म और मृत्युसे युक्त माने गये हैं । भला, जो विनाश आदिके संयोगसे नाना प्रकारके आश्चर्यमय स्वरूपोंसे युक्त है, उस संसारमें ऐसा विशुद्ध ऐश्वर्य किसको प्राप्त हो सकता है ? अतः भद्रपुरुषो ! मैं पिनाकधारी शंकरजीके अतिरिक्त इन सभी मलिन एवं स्वल्प विभूतिवाले देवताओंको नहीं वरण करना चाहती । प्राणियोंकी यह उत्कृष्टता तो क्रमशः चली ही आ रही है, किंतु जो महापुरुष हैं, उनके बल, बुद्धि, ऐश्वर्य और कार्यका प्रमाण भी विशाल होता है । अतः जिन शंकरजीसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है और जहाँ पहुँचकर सभी समाप्त हो जाते हैं तथा जिनका ऐश्वर्य आदि-अन्तसे रहित है, मैंने उन्हींकी शरण ग्रहण की है । मेरा यह व्यवसाय अत्यन्त महान् तथा विचित्र है । मेरे कल्याणका विधान करनेवाले मुनियो ! अब आपलोग चाहे चले जायँ अथवा ठहरें, यह आपकी इच्छापर निर्भर है । पार्वती देवीके ऐसे वचन सुनकर उन मुनिवरोंकी आँखोंमें आनन्दके आँसू छलक आये । तब उन्होंने उस तपस्विनी कन्याको गले लगाया । फिर वे परम प्रसन्न होकर पार्वतीसे मधुर वाणीमें बोले ॥

ऋषय ऊचुः

अत्यद्भुतास्यहो पुत्रि ज्ञानमूर्तिरिवामला । प्रसादयति नो भावं भवभावप्रतिश्रयात् ॥ ३७४ ॥
न तु विद्मो वयं तस्य देवस्यैश्वर्यमद्भुतम् । त्वन्निश्चयस्य दृढतां वेत्तुं वयमिहागताः ॥ ३७५ ॥
अचिरादेव तन्वङ्गि कामस्तेऽयं भविष्यति । क्वादित्यस्य प्रभा याति रत्नेभ्यः क्व द्युतिः पृथक् ॥ ३७६ ॥
कोऽर्थो वर्णालिकाव्यक्तः कथं त्वं गिरिशं विना । यामो नैकाभ्युपायेन तमभ्यर्थयितुं वयम् ॥ ३७७
अस्माकमपि वै सोऽर्थः सुतरां हृदि वर्तते । अतस्त्वमेव सा बुद्धिर्यतो नीतिस्त्वमेव हि ॥ ३७८ ॥
अतो निःसंशयं कार्यं शंकरोऽपि विधास्यति । इत्युक्त्वा पूजिता याता मुनयो गिरिकन्यया ॥ ३७९ ॥

प्रययुर्गिरिशं द्रष्टुं प्रस्थं हिमवतो महत्। गङ्गाम्बुप्लावितात्मानं पिङ्गबद्धजटासटम् ॥ ३८० ॥
भृङ्गानुयातपाणिस्थमन्दारकुसुमस्रजम् । गिरेः सम्प्राप्य ते प्रस्थं ददृशुः शङ्कराश्रमम् ॥ ३८१ ॥
प्रशान्ताशेषसत्त्वौघं नवस्तिमितकाननम् । निःशब्दाक्षोभसलिलप्रपातं सर्वतोदिशम् ॥ ३८२ ॥
तत्रापश्यंस्ततो द्वारि वीरकं वेत्रपाणिनम् । सप्त ते मुनयः पूज्या विनीताः कार्यगौरवात् ॥ ३८३ ॥
ऊचुर्मधुरभाषिण्या वाचा ते वाग्मिनां वराः । द्रष्टुं वयमिहायाताः शरण्यं गणनायकम् ॥ ३८४ ॥
त्रिलोचनं विजानीहि सुरकार्यप्रचोदिताः । त्वमेव नो गतिस्तत्त्वं यथा कालानतिक्रमः ॥ ३८५ ॥
सा प्रार्थनैषा प्रायेण प्रतीहारमयः प्रभुः । इत्युक्तो मुनिभिः सोऽथ गौरवात् तानुवाच ह ॥ ३८६ ॥
समन्वास्यापरां संध्यां स्नातुं मन्दाकिनीजलैः । क्षणेन भविता विप्रास्तत्र द्रक्ष्यथ शूलिनम् ॥ ३८७ ॥
इत्युक्ता मुनयस्तस्थुस्ते तत्कालप्रतीक्षिणः । गम्भीराम्बुधरं प्रावृट्तृषिताश्चातका यथा ॥ ३८८ ॥

ऋषियोंने कहा—पुत्रि ! तुम तो अत्यन्त अद्भुत निर्मल ज्ञानकी मूर्ति-जैसी प्रतीत हो रही हो। अहो ! शंकरजीके भावसे भावित तुम्हारा भाव हमलोगोंको परम आनन्दित कर रहा है। शैलजे ! उन देवाधिदेव शंकरके इस अद्भुत ऐश्वर्यको हमलोग नहीं जानते हैं—ऐसी बात नहीं है, अपितु हमलोग तुम्हारे निश्चयकी दृढ़ता जाननेके लिये यहाँ आये हैं। तन्वङ्गि ! शीघ्र ही तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा। भला, सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कहीं जा सकती है ? रत्नोंकी कान्ति रत्नोंसे पृथक् होकर कहीं ठहर सकती है ? तथा अक्षरसमूहोंसे प्रकट होनेवाला अर्थ अक्षरोंसे अलग कहीं रह सकता है ? उसी प्रकार तुम शंकरजीके बिना कैसे रह सकती हो। अच्छा, अब हमलोग अनेकों उपायोंद्वारा शंकरजीसे प्रार्थना करनेके निमित्त जा रहे हैं; क्योंकि हमलोगोंके हृदयमें भी वही प्रयोजन निश्चित रूपसे वर्तमान है। उसकी सिद्धिके लिये तुम्हीं वह बुद्धि और नीति हो। अतः शंकरजी भी निःसंदेह उस कार्यका विधान करेंगे। ऐसा कहकर गिरिराज-कुमारीद्वारा पूजित हो वे मुनिगण वहाँसे चल पड़े। तदनन्तर जो अपने शरीरको गङ्गा-जलसे आप्लावित करते हैं, जिनके मस्तकपर पीली जटा बँधी रहती है तथा जिनके गलेमें पड़ी हुई मन्दार-पुष्पोंकी माला हथेलीतक लटकती रहती है, जिसपर भँवरे मँडराते रहते हैं, उन शंकरजीका दर्शन करनेके लिये वे सप्तर्षि हिमालयके विशाल शिखरकी ओर प्रस्थित हुए। हिमालयके उस शिखरपर पहुँचकर उन्होंने शंकरजीके आश्रमको देखा। उस आश्रममें सम्पूर्ण प्राणिसमूह शान्तरूपसे बैठे हुए थे। वहाँका नूतन कानन भी शान्त था। चारों दिशाओंमे शब्दरहित एवं स्वच्छन्दगतिसे प्रवाहित होनेवाले जलसे युक्त झरने झर रहे थे। उस आश्रमके द्वारपर उन पूज्य एवं विनीत सप्तर्षियोंने हाथमें बेंत धारण किये वीरकको देखा। तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ वे सप्तर्षि कार्यके गौरववश वीरकसे मधुर वाणीमें बोले—'द्वारपाल ! ऐसा समझो कि हमलोग देवकार्यसे प्रेरित होकर यहाँ शरणदाता एवं गणनायक त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये आये हैं। इस विषयमें तुम्हीं हमलोगोंके साधन हो। इसलिये हमलोगोंकी यह प्रार्थना है कि ऐसा उपाय करो, जिससे हमलोगोंका कालातिक्रम न हो; क्योंकि स्वामियोंको सूचना तो प्रायः द्वारपालसे ही मिलती है।' मुनियोंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वीरकने गौरववश उनसे कहा—'विप्रवरो ! अभी-अभी दोपहरकी संध्या समाप्त कर शंकरजी मन्दाकिनीके जलमें स्नान करनेके लिये गये हैं, अतः क्षणभर ठहरिये, फिर आपलोग उन त्रिशूलधारीका दर्शन कीजियेगा।' इस प्रकार कहे जानेपर वे मुनिगण उस कालकी प्रतीक्षा करते हुए उसी प्रकार खड़े रहे, जैसे वर्षा ऋतुमें प्यासे चातक जलसे भरे हुए बादलकी ओर टकटकी लगाये रहते हैं ॥ ३७४—३८८ ॥

ततः क्षणेन निष्पन्नसमाधानक्रियाविधिः। वीरासनं बिभेदेशो मृगचर्मनिवासितम् ॥ ३८९ ॥
ततो विनीतो जानुभ्यामवलम्ब्य महीस्थितिम्। उवाच वीरको देवं प्रणामैकसमाश्रयः ॥ ३९० ॥
सम्प्राप्ता मुनयः सप्त द्रष्टुं त्वां दीप्ततेजसः।
विभो समादिश द्रष्टुमवगन्तुमिहार्हसि। तेऽब्रुवन् देवकार्येण तव दर्शनलालसाः ॥ ३९१ ॥
इत्युक्तो धूर्जटिस्तेन वीरकेण महात्मना। भ्रूभङ्गसंज्ञया तेषां प्रवेशाज्ञां ददौ तदा ॥ ३९२ ॥
मूर्धकम्पेन तान् सर्वान् वीरकोऽपि महामुनीन्। आजुहावाविदूरस्थान् दर्शनाय पिनाकिनः ॥ ३९३ ॥
त्वराबद्धार्धचूडास्ते लम्बमानाजिनाम्बराः। विविशुर्वेदिकां सिद्धां गिरिशस्य विभूतिभिः ॥ ३९४ ॥
बद्धपाणिपुटाक्षिप्तनाकपुष्पोत्करास्ततः। पिनाकिपादयुगलं वन्द्यं नाकनिवासिनाम् ॥ ३९५ ॥
ततः स्निग्धेक्षिताः शान्ता मुनयः शूलपाणिना। मन्मथारिं ततो हृष्टाः सम्यक् तुष्टुवुरादृताः ॥ ३९६ ॥

तत्पश्चात् थोड़ी देर बाद जब समाधि सम्पन्न करके शंकरजी मृगचर्मपर लगाये हुए वीरासनको छोड़-कर उठे, तब वीरकने विनम्र भावसे पृथ्वीपर घुटने टेककर प्रणाम करते हुए महादेवजीसे कहा—'विभो! प्रचण्ड तेजस्वी सप्तर्षि आपका दर्शन करनेके लिये आये हुए हैं। उन्हे दर्शन करनेके लिये आदेश दीजिये अथवा इस विषयमें आप जैसा उचित समझें। उनके मनमें आपके दर्शनकी लालसा है और वे कह रहे हैं कि हमलोग देवकार्यसे आये हुए हैं।' तब उस महात्मा वीरकद्वारा इस प्रकार सूचित किये जानेपर जटाधारी शंकरने भौंहोके संकेतसे उन लोगोंके लिये प्रवेशाज्ञा प्रदान की। फिर तो वीरकने भी समीपमें ही स्थित उन सभी मुनियोंको सिर हिलाकर संकेतसे पिनाकधारी शंकरका दर्शन करनेके लिये बुलाया। यह देखकर उतावलीवश आधी बँधी हुई शिखावाले एवं मृगचर्मरूपी वस्त्रको लटकाये हुए वे मुनिलोग शंकरजीकी विभूतिसे सिद्ध हुई वेदीमें प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने बँधी हुई अञ्जलि तथा दोनेमें रखे हुए स्वर्गीय पुष्पसमूहोंको स्वर्गवासियोंद्वारा वन्दनीय शिवजीके दोनों चरणोंपर बिखेरकर नमस्कार किया। तब त्रिशूलधारी शंकरने उन शान्तस्वभाव मुनियोंकी ओर स्नेहभरी दृष्टिसे देखा। इस प्रकार सत्कृत होनेसे प्रसन्न हुए ऋषिगण कामदेवके शत्रु भगवान् शंकरकी सम्यक् प्रकारसे स्तुति करने लगे॥ ३८९–३९६॥

मुनय ऊचुः

अहो कृतार्था वयमेव साम्प्रतं सुरेश्वरोऽप्यत्र पुरो भविष्यति।
भवत्प्रसादामलवारिसेकतः फलेन काचित् तपसा नियुज्यते ॥ ३९७ ॥
जयत्यसौ धन्यतरो हिमाचलस्त्वदाश्रयं यस्य सुता तपस्यति।
स दैत्यराजोऽपि महाफलोदयो विमूलिताशेषसुरो हि तारकः ॥ ३९८ ॥
त्वदीयमंशं प्रविलोक्य कल्मषात् स्वकं शरीरं परिमोक्ष्यते हि यः।
स धन्यधीर्लोकपिता चतुर्मुखो हरिश्च यत्सम्भ्रमवह्निदीपितः ॥ ३९९ ॥
त्वदङ्घ्रियुग्मं हृदयेन बिभ्रतो महाभितापप्रशमैकहेतुकम्।
त्वमेव चैको विविधकृतक्रियः किलेति वाचा विधुरैर्विभाष्यते ॥ ४०० ॥
अथाद्य एकस्त्वमवैषि नान्यथा जगत्तथा निर्घृणतां तव स्पृशेत्।
न वेत्सि वा दुःखमिदं भवात्मकं विहन्यते ते खलु सर्वतः क्रिया ॥ ४०१ ॥
उपेक्षसे चेज्जगतामुपद्रवं दयामयत्वं तव केन कथ्यते।
स्वयोगमायामहिमागुहाश्रयं न विद्यते निर्मलभूतिगौरवम् ॥ ४०२ ॥
वयं च ते धन्यतमाः शरीरिणां यदीदृशं त्वां प्रविलोकयामहे।
अदर्शनं तेन मनोरथो यथा प्रयाति साफल्यतया मनोगतम् ॥ ४०३ ॥

जगद्विधानैकविधौ जगन्मुखं करिष्यसेऽतो बलभिच्चरा वयम्।
विनेमुरित्थं मुनयो विसृज्य तां गिरं गिरीशश्रुतिभूमिसन्निधौ।
उत्कृष्टकेदार इवावनीतले सुबीजमुष्टिं सुफलाय कर्षकाः ॥ ४०४ ॥

मुनियोंने कहा—अहो भगवन्! इस समय हमलोग तो कृतार्थ हो ही गये, आगे चलकर देवराज इन्द्र भी सफलमनोरथ होंगे। इसी प्रकार आपकी कृपारूपी निर्मल जलके सिंचनसे कोई तपस्विनी भी अपनी तपस्याके फलसे युक्त होगी। इस धन्यवादके पात्र हिमाचलकी जय हो, जिनके आश्रयमें रहकर उनकी कन्या तपस्या कर रही है। सम्पूर्ण देवताओंको उखाड़ फेंकनेवाले दैत्यराज तारकके भी महान् पुण्यफलका उदय हो गया है, जो आपके अंशसे उत्पन्न हुए पुत्रको देखकर पापसे निर्मुक्त हो अपने शरीरका परित्याग करेगा। लोकपिता चतुर्मुख ब्रह्माकी तथा तारकके भयरूपी अग्निसे संतप्त श्रीहरिकी भी बुद्धि धन्य है, जो महान् संतापके प्रशमनके लिये एकमात्र कारणभूत आपके दोनों चरणोंको अपने हृदयमें धारण करते हैं। एकमात्र आप ही अनेकविध दुरूह कार्योंको सम्पन्न करनेवाले है, दुःखी लोग आपकी ऐसी विरद गाते हैं। इसे अकेले आप ही जानते हैं, अतः इसके विपरीत कोई ऐसा कार्य न कीजिये, जिससे जगत्को आपकी निर्दयताका अनुभव होने लगे। अथवा यदि आप इस सांसारिक दुःखकी ओर ध्यान नहीं देते तो आपकी सर्वतोमुखी क्रिया लुप्त होने जा रही है। यदि आप इस प्रकार जगतके उपद्रवकी उपेक्षा कर दे रहे हैं तो किसलिये आपको दयामय कहा जा सकता है। साथ ही अपनी योग-मायाकी महिमारूपी गुफामें स्थित रहनेवाला आपके निर्मल ऐश्वर्यका गौरव भी विद्यमान नहीं रह सकता। शरीरधारियोंमें हमलोग भी अतिशय धन्यवादके पात्र हैं, जो इस प्रकार आपका दर्शन कर रहे हैं। इसलिये हमारा मनोरथ नष्ट नहीं होना चाहिये। आप जगकी रक्षाके विधानमें जगत्के लिये ऐसा करें जिससे हमारे मनोगत भाव सफल हो जायँ। हमलोग देवराज इन्द्रके दूत बनकर आये हैं। ऐसा कहकर वे मुनिगण शंकरजीके चरणोंमें अवनत हो गये। उस समय उन्होंने शंकरजीके कानरूपी भूमिके निकट उस वाणीरूपी बीजको इस प्रकार छींट दिया था, जैसे किसानलोग भलीभाँति जोती हुई भूमिपर अच्छे फलकी प्राप्तिके निमित्त उत्तम बीजकी मूँठ डाल देते हैं॥

तेषां श्रुत्वा ततो रम्यां प्रक्रमोपक्रमक्रियाम्। वाचं वाचस्पतिरिव प्रोवाच स्मितसुन्दरः ॥ ४०५ ॥

तदनन्तर उन मुनियोंकी सिलसिलेवार योजनासे युक्त मनोहर वाणीको सुनकर भगवान् शंकरके मुखपर मुसकानकी छटा बिखर गयी। तब वे बृहस्पतिकी तरह सान्त्वनापूर्ण वचन बोले॥ ४०५ ॥

शर्व उवाच

जाने लोकविधानस्य कन्यासत्कार्यमुत्तमम्। जाता प्रालेयशैलस्य संकेतकनिरूपणाः ॥ ४०६ ॥
सत्यमुत्कण्ठिताः सर्वे देवकार्यार्थमुद्यताः। तेषां त्वरन्ति चेतांसि किंतु कार्यं विवक्षितम् ॥ ४०७ ॥
लोकयात्रानुगन्तव्या विशेषेण विचक्षणैः। सेवन्ते ते यतो धर्मं तत्प्रामाण्यात्परे स्थिताः ॥ ४०८ ॥
इत्युक्ता मुनयो जग्मुस्त्वरितास्तु हिमाचलम्।
तत्र ते पूजितास्तेन हिमशैलेन सादरम्। ऊचुर्मुनिवराः प्रीताः स्वल्पवर्णं त्वरान्विताः ॥ ४०९ ॥

शंकरजीने कहा—मुनिवरो! जगतके कल्याणके लिये किये जाते हुए कन्याके उस उत्तम सत्कार्यको मैं जानता हूँ। वह कन्या हिमाचलकी पुत्रीरूपमें उत्पन्न हुई है। आपलोग उसीके संयोग-प्रस्तावका निरूपण

कर रहे हैं। यह सत्य है कि सभी लोग देवकार्यकी सिद्धिके हेतु उत्सुक और उद्यत हैं, इसीसे उनके चित्त उतावलीसे भर गये हैं, किंतु यह कार्य कुछ कालकी अपेक्षा कर रहा है अर्थात् इसके पूर्ण होनेमें कुछ विलम्ब है। विद्वानोंको विशेषरूपसे लोकव्यवहारका निर्वाह करना चाहिये, क्योंकि वे जिस धर्मका सेवन करते हैं, वही दूसरोंके लिये प्रमाणरूप बन जाता है। ऐसा कहे जानेपर मुनिगण तुरंत ही हिमाचलके पास चल दिये। वहाँ पहुँचनेपर हिमाचलने उनकी आदरपूर्वक आव-भगत की। तब प्रसन्न हुए मुनिवर शीघ्रतापूर्वक थोड़े शब्दोंमें (इस प्रकार) बोले ॥ ४०६—४०९ ॥

मुनय ऊचुः

देवो दुहितरं साक्षात्पिनाकी तव मार्गते। तच्छीघ्रं पावयात्मानमाहुत्येवानलार्पणात् ॥ ४१० ॥
कार्यमेतच्च देवानां सुचिरं परिवर्तते। जगदुद्धरणायैव क्रियतां वै समुद्यमः ॥ ४११ ॥
इत्युक्तस्तैस्तदा शैलो हर्षाविष्टोऽवदन्मुनीन्। असमर्थोऽभवद्वक्तुमुत्तरं प्रार्थयच्छिवम् ॥ ४१२ ॥
ततो मेना मुनीन् वन्द्य प्रोवाच स्नेहविक्लवा। दुहितुस्तान् मुनींश्चैव चरणाश्रयमर्थवित् ॥ ४१३ ॥

मुनियोंने कहा—पर्वतराज ! पिनाकधारी साक्षात् महादेव आपकी कन्याको प्राप्त करना चाहते हैं, अतः अग्निमें पड़ी हुई आहुतिकी तरह उसे शीघ्र ही उन्हें प्रदान करके अपने आत्माको पवित्र कर लीजिये। देवताओंका यह कार्य चिरकालसे चला आ रहा है, अतः जगत्का उद्धार करनेके लिये आप इस उद्योगको शीघ्र सम्पन्न कीजिये। मुनियोंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस समय हिमाचल हर्षविभोर हो मुनियोंको उत्तर देनेके लिये उद्यत हुए; किंतु जब उत्तर देनेमें असमर्थ हो गये, तब मन-ही-मन शंकरजीसे प्रार्थना करने लगे। तत्पश्चात् प्रयोजनको समझनेवाली मेनाने मुनियोंको प्रणाम किया और पुत्रीके स्नेहसे व्याकुल हुई वह उन मुनियोंके चरणोंके निकट स्थित हो इस प्रकार बोली ॥ ४१०—४१३ ॥

मेनोवाच

यदर्थं दुहितुर्जन्म नेच्छन्त्यपि महाफलम्। तदेवोपस्थितं सर्वं प्रक्रमेणैव साम्प्रतम् ॥ ४१४ ॥
कुलजन्मवयोरूपविभूत्यर्द्धियुतोऽपि यः। वरस्तस्यापि चाहूय सुता देया ह्ययाचतः ॥ ४१५ ॥
तत्समस्ततपो घोरं कथं पुत्री प्रयास्यति। पुत्रीवाक्याद्यदत्रास्ति विधेयं तद्विधीयताम् ॥ ४१६ ॥
इत्युक्ता मुनयस्ते तु प्रियया हिमभूभृतः। ऊचुः पुनरुदारार्थं नारीचित्तप्रसादकम् ॥ ४१७ ॥

मेनाने कहा—मुनिवरो ! जिन कारणोंसे लोग महान् फलदायक होनेपर भी कन्याके जन्मकी इच्छा नहीं करते वही सब इस समय परम्परासे मेरे सामने आ उपस्थित हुआ है। (विवाहकी प्रथा तो यह है कि) जो वर उत्तम कुल, जन्म, अवस्था, रूप, ऐश्वर्य और सम्पत्तिसे युक्त हो, उसे भी अपने घर बुलाकर कन्या प्रदान करनी चाहिये, किंतु कन्याकी याचना करनेवालेको नहीं। भला बताइये, इस प्रकार समस्त घोर तपोंको करनेवाले वरके साथ मेरी पुत्री कैसे जायगी। इसलिये इस विषयमें मेरी पुत्रीके कथनानुसार जो उचित हो, वही आपलोग करें। हिमाचलकी पत्नी मेनाद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वे मुनिगण पुनः नारीके चित्तको प्रसन्न करनेवाले उदार अर्थसे युक्त वचन बोले ॥ ४१४—४१७ ॥

मुनय ऊचुः

ऐश्वर्यमवगच्छस्व शंकरस्य सुरासुरैः। आराध्यमानपादाब्जयुगलत्वात् सुनिर्वृतैः ॥ ४१८ ॥
यस्योपयोगि यद्रूपं सा च तत्प्राप्तये चिरम्। घोरं तपस्यते बाला तेन रूपेण निर्वृतिः ॥ ४१९ ॥
यस्तद्व्रतानि दिव्यानि नयिष्यति समापनम्। तत्र सावहिता तावत् तस्मात् सैव भविष्यति ॥ ४२० ॥

इत्युक्त्वा गिरिणा सार्धं ते ययुर्यत्र शैलजा। जितार्कज्वलनज्वाला तपस्तेजोमयी ह्युमा॥ ४२१॥
प्रोचुस्तां मुनयः स्निग्धं सम्मान्यपथमागतम्। रम्यं प्रियं मनोहारि मा रूपं तपसा दह॥ ४२२॥
प्रातस्ते शंकरः पाणिमेष पुत्रि ग्रहीष्यति। वयमर्थितवन्तस्ते पितरं पूर्वमागताः॥ ४२३॥
पित्रा सह गृहं गच्छ वयं यामः स्वमन्दिरम्॥ ४२४॥
इत्युक्ता तपसः सत्यं फलमस्तीति चिन्त्य सा। त्वरमाणा ययौ वेश्म पितुर्दिव्यार्थशोभितम्॥ ४२५॥
सा तत्र रजनीं मेने वर्षायुतसमां सती। हरदर्शनसंजातमहोत्कण्ठा हिमाद्रिजा॥ ४२६॥

मुनियोंने कहा—मेना! तुम शंकरजीके ऐश्वर्यका ज्ञान उन देवताओं और असुरोंसे प्राप्त करो, जो उनके दोनों चरणकमलोंकी आराधना करके भलीभाँति संतुष्ट हो चुके हैं। जिसके लिये जो रूप उपयोगी होता है, वह उसीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। इस नियमके अनुसार वह कन्या शंकरजीकी प्राप्तिके लिये चिरकालसे घोर तपस्या कर रही है। उसे उसी रूपसे पूर्ण संतोष है। जो पुरुष उसके दिव्य व्रतोंका समापन करेगा, उसके प्रति वह अतिशय प्रसन्न एवं संतुष्ट होगी। ऐसा कहकर वे मुनिगण हिमाचलके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ सूर्य और अग्निकी ज्वालाको जीतनेवाली एवं तपस्याके तेजसे युक्त पार्वती उमा तपस्या कर रही थीं। वहाँ पहुँचकर मुनियोंने पार्वतीसे स्नेहपूर्ण वाणीमें कहा—'पुत्रि! अब तुम्हारे लिये सम्मान्यका पथ प्राप्त हो गया है, इसलिये अब तुम अपने इस रमणीय, प्रिय एवं मनको लुभानेवाले रूपको तपस्यासे दग्ध मत करो। प्रातःकाल वे शंकर तुम्हारा पाणि-ग्रहण करेंगे। हमलोग उनसे प्रार्थना करके पहले ही तुम्हारे पिताके पास आ गये हैं। अब तुम अपने पिताके साथ घर लौट जाओ और हमलोग अपने निवासस्थानको जा रहे हैं।' इस प्रकार कही जानेपर पार्वती 'तपका फल निश्चय ही सत्य होता है'—ऐसा विचारकर दिव्य पदार्थोंसे सुशोभित अपने पिताके घरकी ओर शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुई। वहाँ पहुँचकर पार्वतीके मनमें शंकरजीके दर्शनकी महान् उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, जिससे सती पार्वतीको वह रात्रि दस हजार वर्षोंके समान प्रतीत होने लगी॥

ततो मुहूर्ते ब्राह्मे तु तस्याश्चक्रुः सुरस्त्रियः। नानामङ्गलसंदोहान् यथावत्क्रमपूर्वकम्॥ ४२७॥
दिव्यमण्डनमङ्गानां मन्दिरे बहुमङ्गले। उपासत गिरिं मूर्ता ऋतवः सार्वकामिकाः॥ ४२८॥
वायवो वारिदाश्चासन् सम्मार्जनविधौ गिरेः। हर्म्येषु श्रीः स्वयं देवी कृतनानाप्रसाधना॥ ४२९॥
कान्तिः सर्वेषु भावेषु ऋद्धिश्चाभवदाकुला। चिन्तामणिप्रभृतयो रत्नाः शैलं समंततः॥ ४३०॥
उपतस्थुर्नगाश्चापि कल्पकाममहाद्रुमाः। ओषध्यो मूर्तिमत्यश्च दिव्यौषधिसमन्विताः॥ ४३१॥
रसाश्च धातवश्चैव सर्वे शैलस्य किंकराः। किंकरास्तस्य शैलस्य व्यग्राश्चाज्ञानुवर्तिनः॥ ४३२॥
नद्यः समुद्रा निखिलाः स्थावरं जङ्गमं च यत्। तत्सर्वं हिमशैलस्य महिमानमवर्धयत्॥ ४३३॥

तदनन्तर प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें देवाङ्गनाओंने पार्वतीके लिये क्रमशः नाना प्रकारके माङ्गलिक कार्योंको यथार्थरूपसे सम्पन्न किया। फिर उस विविध प्रकारके मङ्गलोंसे युक्त भवनमें पार्वतीके अङ्गोंको दिव्य शृंगारसे सुशोभित किया गया। उस समय सभी प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली छहों ऋतुएँ शरीर धारण कर हिमाचलकी सेवामें उपस्थित हुईं, वायु और बादल पर्वतकी गुफाओंमें झाड़-बुहारके कार्यमें संलग्न थे। अट्टालिकाओंपर स्वयं लक्ष्मीदेवी नाना प्रकारकी सामग्रियोंको सँजोये हुए विराजमान थीं। सभी पदार्थोंमें कान्ति फूटी पड़ती थी। ऋद्धि आकुल हो उठी थी। चिन्तामणि आदि रत्न पर्वतपर चारों ओर बिखरे हुए थे। कल्पवृक्ष आदि महनीय वृक्षोंसे युक्त अन्यान्य पर्वत भी सेवामें उपस्थित

थे। दिव्यौषधिसे युक्त मूर्तिमती ओषधियाँ तथा सभी प्रकारके रस और धातुएँ हिमाचलके परिचारकरूपमें विद्यमान थे। हिमाचलके वे सभी किंकर आज्ञापालनके लिये उतावले हो रहे थे। इनके अतिरिक्त सभी समुद्र और नदियाँ तथा समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणी उस समय हिमाचलकी महिमाको बढ़ा रहे थे ॥४२७–४३३॥

अभवन् मुनयो नागा यक्षगन्धर्वकिंनराः। शंकरस्यापि विबुधा गन्धमादनपर्वते ॥४३४॥
सर्वे मण्डनसम्भारास्तस्थुर्निर्मलमूर्तयः। शर्वस्यापि जटाजूटे चन्द्रखण्डं पितामहः ॥४३५॥
बबन्ध प्रणयोदारविस्फारितविलोचनः। कपालमालां विपुलां चामुण्डा मूर्ध्न्यबन्धत ॥४३६॥
उवाच चापि वचनं पुत्रं जनय शंकर। यो दैत्येन्द्रकुलं हत्वा मां रक्तैस्तर्पयिष्यति ॥४३७॥
शौरिर्ज्वलच्छिरोरत्नमुकुटं चानलोल्बणम्। भुजगाभरणं गृह्य सज्जं शम्भोः पुरोऽभवत् ॥४३८॥
शक्रो गजाजिनं तस्य वसाभ्यक्ताग्रपल्लवम्। दध्रे सरभसं स्विद्यद्विस्तीर्णमुखपङ्कजम् ॥४३९॥
वायुश्च विपुलं तीक्ष्णशृङ्गं हिमगिरिप्रभम्। वृषं विभूषयामास हरयानं महौजसम् ॥४४०॥
वितेनुर्नयनान्तःस्थाः शम्भोः सूर्यानलेन्दवः। स्वां द्युतिं लोकनाथस्य जगतः कर्मसाक्षिणः ॥४४१॥
चिताभस्म समाधाय कपाले रजतप्रभम्। मनुजास्थिमयीं मालामाबबन्ध च पाणिना ॥४४२॥
प्रेताधिपः पुरो द्वारे सगदः समवर्तत। नानाकारमहारत्नभूषणं धनदाहृतम् ॥४४३॥
विहायोदग्रसर्पेन्द्रकटकेन स्वपाणिना। कर्णोत्तंसं चकारेशो वासुकिं तक्षकं स्वयम् ॥४४४॥
जलाधीशाहृतां स्रास्नुप्रसूनावेष्टितां पृथक्।

उधर गन्धमादन पर्वतपर शंकरजीके विवाहोत्सवमें सभी मुनि, नाग, यक्ष, गन्धर्व और किंनर आदि देवगण सम्मिलित हुए। वे सभी निर्मल मूर्ति धारण कर शृङ्गार-सामग्रीके जुटानेमें तत्पर थे। उस समय प्रेम एवं उदार भावनासे उत्फुल्ल नेत्रोंवाले ब्रह्माने शंकरजीके जटाजूटमें चन्द्रखण्डको बाँधा। चामुण्डाने उनके मस्तकपर एक विशाल कपालमाला बाँधी और इस प्रकार कहा—'शंकर! ऐसा पुत्र उत्पन्न करो, जो दैत्यराज तारकके कुलका संहार कर मुझे रक्तसे तृप्त करे।' भगवान् विष्णु अग्निके समान उद्दीप्त एवं चमकीले अग्रभागवाले रत्नोंसे निर्मित मुकुट और सर्पोंके आभूषण आदि शृङ्गार-सामग्री लेकर शंकरजीके आगे उपस्थित हुए। इन्द्रने वेगपूर्वक गजचर्म लाकर शंकरजीको धारण कराया, जिसका अग्रभाग चर्बीसे लिप्त हुआ था। उस समय प्रसन्नतासे खिले हुए इन्द्रके मुखकमलपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं। वायुने शंकरजीके वाहन उस वृषभराज नन्दीश्वरको विभूषित किया, जिसका शरीर विशाल था, जिसके सींग तीखे थे तथा जो हिमाचलके समान उज्ज्वल कान्तिवाला एवं महान् ओजस्वी था। जगत्के कर्मोंके साक्षी सूर्य, अग्नि और चन्द्र लोकनायक शम्भुके नेत्रोंके अन्तस्तलमें स्थित होकर अपनी-अपनी प्रभाका विस्तार करने लगे। प्रेतराज यमने शंकरजीके मस्तकपर चाँदीके समान चमकीला चिताभस्म लगाकर एक हाथसे मनुष्योंकी हड्डियोंसे बनी हुई मालाको बाँधा और फिर वे हाथमें गदा लेकर द्वारपर खड़े हो गये। तत्पश्चात् शिवजीने कुबेरद्वारा लाये गये नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंके बने हुए आभूषणों और वरुणद्वारा लायी गयी अम्लान (न कुम्हलानेवाले) पुष्पोंसे गूँथी गयी मालाको पृथक् रखकर विषैले सर्पोंके कङ्कणसे सुशोभित अपने हाथसे स्वयं वासुकि और तक्षकको अपना कुण्डल बनाया ॥४३४–४४४½॥

ततस्तु ते गणाधीशा विनयात् तत्र वीरकम् ॥४४५॥
प्रोचुर्व्यग्राकृते त्वं नो समावेदय शूलिने। निष्पन्नाभरणं देवं प्रसाध्येशं प्रसाधनैः ॥४४६॥
सप्त वारिधयस्तस्थुः कर्तुं दर्पणविभ्रमम्। ततो विलोकितात्मानं महाम्बुधिजलोदरे ॥४४७॥
धरामालिङ्गय जानुभ्यां स्थाणुं प्रोवाच केशवः। शोभसे देव रूपेण जगदानन्ददायिना ॥४४८॥

मातरः प्रेरयन् कामवधूं वैधव्यचिह्निताम्। कालोऽयमिति चालक्ष्य प्रकारेङ्गितसंज्ञया ॥ ४४९ ॥
ततस्ताश्चोदिता देवमूचुः प्रहसिताननाः। रतिः पुरस्तव प्राप्ता नाभाति मदनोज्झिता ॥ ४५० ॥
ततस्तां सन्निवार्येह वामहस्ताग्रसंज्ञया। प्रयाणे गिरिजावक्त्रदर्शनोत्सुकमानसः ॥ ४५१ ॥

तत्पश्चात् वहाँ आये हुए गणाधीशोंने विनयपूर्वक वीरकसे कहा—'भयंकर आकृतिवाले वीरक! तुम शंकरजीसे हमारे आगमनकी सूचना दे दो। हमलोग सजे-सजाये महादेवको श्रृङ्गार-सामग्रियोंद्वारा पुनः सुशोभित करेंगे।' इतनेमें वहाँ सातों समुद्र दर्पणकी स्थानपूर्ति करनेके लिये उपस्थित हुए। तब उस महासागरके जलके भीतर अपने रूपको देखकर भगवान् केशव घुटनोंद्वारा पृथ्वीका आलिङ्गन करके (अर्थात् पृथ्वीपर दोनों घुटने टेककर) शंकरजीसे बोले—'देव! इस समय आप अपने इस जगत्को आनन्द प्रदान करनेवाले रूपसे सुशोभित हो रहे हैं।' इसी बीच मातृकाओंने उपयुक्त समय जानकर वैधव्यके चिह्नोंसे युक्त काम-पत्नी रतिको इशारेसे शंकरजीके सम्मुख जानेके लिये प्रेरित किया। (तब वह शिवजीके समक्ष जाकर खड़ी हो गयी।) तब वे मातृकाएँ हँसती हुई शंकरजीसे बोलीं—'देव! आपके सम्मुख खड़ी हुई कामदेवसे रहित यह रति शोभा नहीं पा रही है।' तब शंकरजी अपने बायें हाथके अग्रभागके संकेतसे उसे सान्त्वना देते हुए सामनेसे हटा कर प्रस्थित हुए। उस समय उनका मन गिरिजाके मुखका अवलोकन करनेके लिये समुत्सुक हो रहा था ॥ ४४५—४५१ ॥

ततो हरो हिमगिरिकन्दराकृतिं समुन्नतं मृदुगतिभिः प्रचोदयन्।
महावृषं गणतुमुलाहितेक्षणं स भूधरानशनिरिव प्रकम्पयन् ॥ ४५२ ॥
ततो हरिर्द्रुतपदपद्धतिः पुरःसरः श्रमाद् द्रुमनिकरेषु विश्रमन्।
धरारजः शबलितभूषणोऽब्रवीत् प्रयात मा कुरुत पथोऽस्य संकटम् ॥ ४५३ ॥
प्रभोः पुनः प्रथमनियोगमूर्जयन् सुतोऽब्रवीद् भ्रुकुटिमुखोऽपि वीरकः।
वियच्चरा वियति किमस्ति कान्तकं प्रयात नो धरणिधरा विदूरतः ॥ ४५४ ॥
महार्णवाः कुरुत शिलोपमं पयः सुरद्विपागमनमहातिकर्दमम्।
गणेश्वराश्चपलतया न गम्यतां सुरेश्वरैः स्थिरगतिभिश्च गम्यताम् ॥ ४५५ ॥
न भृङ्गिणा स्वतनुमवेक्ष्य नीयते पिनाकिनः पृथुमुखमण्डमग्रतः।
वृथा यम प्रकटितदन्तकोटरं त्वमायुधं वहसि विहाय सम्भ्रमम् ॥ ४५६ ॥
पदं न यद्रथतुरगैः पुरद्विपः प्रमुच्यते बहुतरमातृसंकुलम्।
अमी सुराः पृथगनुयायिभिर्वृताः पदातयो द्विगुणपथान् हरप्रियाः ॥ ४५७ ॥

तदुपरान्त शंकरजीने विशालकाय महावृषभ नन्दीश्वर-पर, जिसकी आकृति हिमाचलके गुफा-सदृश थी तथा जिसके नेत्र प्रमथगणोंकी ओर लगे हुए थे, सवार होकर उसे धीमी चालसे आगे बढ़ाया। उस समय उनके प्रस्थानसे पृथ्वी उसी प्रकार काँप रही थी, मानो वज्रके प्रहारसे पर्वत काँप रहे हों। तत्पश्चात् श्रीहरिने जिनके आभूषण पृथ्वीकी धूलसे धूसरित हो गये थे, शीघ्रता-पूर्वक कदम बढाते हुए आगे जाकर श्रमवश घने वृक्षोंके नीचे विश्राम करते हुए लोगोंसे 'कहा—'अरे! चलो, आगे बढो, इस मार्गमें भीड़ मत करो।' पुनः शंकरजीका पुत्र वीरक भौंहे टेढी कर श्रीहरिकी प्रथम आज्ञाको उच्च स्वरसे फैलाता हुआ बोला—'अरे आकाशचारियो! आकाशमें कौन-सी सुन्दर वस्तु रखी है, जिसे सबलोग देख रहे हो, आगे बढो। पर्वत-समूहो! तुमलोग एक-दूसरेसे अलग-अलग होकर चलो। महासागरो! तुमलोग राक्षसोंके आगमनसे उत्पन्न हुए

*

महान् कीचड़से युक्त जलको शिला-सदृश कर दो। गणेश्वरो! तुमलोग चञ्चलतापूर्वक मत चलो। सुरेश्वरोंको स्थिरगतिसे चलना चाहिये। शंकरजीके आगे-आगे विशाल पानपात्रको लेकर चलनेवाले भृङ्गी अपने शरीरकी रक्षा करते हुए नहीं चल रहे हैं। यम! तुम अपने इस निकले हुए दाँतोवाले आयुधको व्यर्थ ही धारण किये हुए हो। भय छोडकर चलो। शंकरजीके रथके घोड़े अपने मार्गको बहुत-सी माताओंसे व्याप्त होनेपर भी नहीं छोड़ रहे हैं। ये शंकरजीके प्रिय देवगण पृथक्-पृथक् अपने अनुयायियोंसे घिरे हुए पैदल ही दूना मार्ग तय कर रहे हैं ॥४५२—४५७॥

स्ववाहनैः पवनविधूतचामरैश्चलध्वजैर्व्रजत विहारशालिभिः।
सुराः स्वकं किमिति न रागमूर्जितं विचार्यते नियतलयत्रयानुगम् ॥ ४५८ ॥
न किन्नरैरभिभवितुं हि शक्यते विभूषणप्रचयसमुद्भवो ध्वनिः।
स्वजातिकाः किमिति न षड्जमध्यमपृथुस्वरं बहुतरमत्र वक्ष्यते ॥ ४५९ ॥
नतानतानतनततानतां गताः पृथक्तया समयकृता विभिन्नताम्।
विशङ्किता भवदतिभेदशीलिनः प्रयान्त्यमी द्रुतपदमेव गौडकाः ॥ ४६० ॥
विसंहताः किमिति न षाडवादयः स्वगीतकैर्ललितपदप्रयोजकैः।
प्रभोः पुरो भवति हि यस्य चाक्षतं समुद्गतार्थकमिति तत्प्रतीय ॥ ४६१ ॥
अमी पृथग्विरचितरम्यरासकं विलासिनो बहुगमकस्वभावकम्।
प्रयुञ्जते गिरिशयशोविसारिणं प्रकीर्णकं बहुतरनागजातयः ॥ ४६२ ॥
अमी कथं ककुभि कथाः प्रतिक्षणं ध्वनन्ति ते विविधवधूविमिश्रिताः।
न जातयो ध्वनिसुरजासमीरिता न मूर्च्छिताः किमिति च मूर्च्छनात्मिकाः ॥ ४६३ ॥
श्रुतिप्रियक्रमगतिभेदसाधनं ततादिकं किमिति न तुम्बरेरितम्।
न हन्यते बहुविधवाद्यडम्बरं प्रकीर्णवीणामुरजादि नाम यत् ॥ ४६४ ॥

'देवगण! आपलोग आमोदके साधनोंसे सम्पन्न एवं वायुके आवेगसे हिलते हुए चामरोसे युक्त अपने वाहनोंद्वारा, जिनपर ध्वजाएँ फहरा रही हैं, अलग-अलग होकर चलिये। आपलोग नियतरूपसे तीनो लयोंका अनुगमन करनेवाले अपने ऊर्जस्वी रागके विषयमें क्यों नहीं विचार कर रहे है? किंनरगण (अपने वाद्योंद्वारा) आभूषण-समूहसे उत्पन्न हुई ध्वनिको परास्त नहीं कर सकते। अपनी जातिवाले गणेश्वरो! इस समय षड्ज, मध्यम और पृथु स्वरसे युक्त गीत अधिक मात्रामें क्यों नहीं गाये जा रहे हैं। ये गौड[1]-रागके जानकार लोग कालभेदके अनुसार विभिन्नताको प्राप्त हुए एवं नतानत, नत और आनतके लयसे युक्त अत्यन्त भेदवाले रागको पृथक्-रूपमें निःशङ्कभावसे अलापते हुए बड़ी शीघ्रतासे चले जा रहे हैं। षौडव[2] रागके ज्ञातालोग पृथक्-पृथक् अपने ललित पदोंके प्रयोजक गीतोंको अलापते हुए शंकरजीके आगे-आगे क्यो नहीं चल रहे हैं? ऐसा प्रतीत हो रहा है कि शंकरजीकी हर्षपूर्ण यात्रामे विघ्न न पड़ जाय, इस भयसे वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। ये विभिन्न जातियोंके विलासोन्मत्त नाग शंकरजीके यशका विस्तार करनेवाले, अधिकांश गमक[3]के स्वभावसे सम्पन्न तथा मनोहर ध्वनिसे युक्त संगीतका पृथक्-पृथक् प्रयोग कर रहे हैं। उधर उस दिशामें ये वधुओंसहित अनेकों

१—एक सकर राग, २—रागकी एक जाति, जिसमें केवल छः स्वर आते हैं। ३—सातो स्वरोंका क्रमसे आरोह-अवरोह।

संगीतज्ञ प्रतिक्षण कैसा संगीत अलाप रहे हैं ? पता नहीं क्यों, न तो उसमें मृदङ्गसे निकली हुई ध्वनिकी जातियाँ लक्षित हो रही हैं, न मूर्छना[1]—आरोह-अवरोह-से युक्त स्वरका ही भान हो रहा है। तुम्बुरुद्वारा बजाये जानेवाले कर्णप्रिय तथा क्रम एवं गतिके भेदसे युक्त तारवाले बाजे क्यों नहीं बजाये जा रहे हैं ? इधर वीणा, मृदंग आदि अनेकों प्रकारके वाद्यसमूह क्यों नहीं बजाये जा रहे हैं ?' ॥४५८–४६४॥

इतीरितां गिरमवधार्य शालिनीं सुरासुराः सपदि तु वीरकाज्ञया।
नियामिताः प्रययुरतीव हर्षिताश्चराचरं जगदखिलं ह्यपूरयन् ॥ ४६५ ॥
इति स्तनत्ककुभि रसन् महार्णवे स्तनद्घने विदलितशैलकन्दरे।
जगत्यभूत् तुमुल इवाकुलीकृतः पिनाकिना त्वरितगतेन भूधरः ॥ ४६६ ॥
परिज्वलत्कनकसहस्रतोरणं क्वचिन्मिलन्मरकतवेश्मवेदिकम् ।
क्वचित्क्वचिद्विमलविदूर्यभूमिकं क्वचिद्गलज्जलधररम्यनिर्झरम् ॥ ४६७ ॥
चलद्ध्वजप्रवरसहस्रमण्डितं सुरद्रुमस्तबकविकीर्णचत्वरम् ।
सितासितारुणरुचिधातुवर्णिकं श्रियोज्ज्वलं प्रविततमार्गगोपुरम् ॥ ४६८ ॥
विजृम्भिताप्रतिमध्वनिवारिदं सुगन्धिभिः पुरपवनैर्मनोहरम् ।
हरो महागिरिनगरं समासदत् क्षणादिव प्रवरसुरासुरस्तुतः ॥ ४६९ ॥

इस प्रकार कही गयी उस सुन्दर वाणीको सुनकर देवता और दैत्य अत्यन्त प्रसन्न हो गये। तब वे तुरंत ही वीरककी आज्ञासे सम्पूर्ण चराचर जगत्को आच्छादित करते हुए नियमपूर्वक आगे बढ़ने लगे। इस प्रकार शंकरजीके शीघ्रतापूर्वक गमनसे दिशाओंमें कोलाहल गूँज उठा, महासागरोंमें ज्वार उठने लगा, बादल गरजने लगे, पर्वतकी कन्दराएँ तहस-नहस हो गयीं, जगत्में तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गयी और हिमाचल व्याकुल हो गये। इस प्रकार श्रेष्ठ सुरों एवं असुरोंद्वारा प्रशंसित होते हुए शिवजी क्षणमात्रमे ही पर्वतराज हिमाचलके उस नगरमे जा पहुँचे, जो तपाये गये सुवर्ण-के सहस्रों तोरणोंसे सुशोभित था। उसमें कहीं-कहीं मरकतमणिके संयोगसे बने हुए घरोंमें वेदिकाएँ बनी हुई थीं। कहीं-कहीं निर्मल वैदूर्य मणिके फर्श बने थे। कहीं बादलके समान रमणीय झरने झर रहे थे। वह नगर हजारों फहराते हुए ऊँचे-ऊँचे ध्वजोसे विभूषित था। वहाँ चबूतरोंपर कल्पवृक्षके पुष्पोंके गुच्छे बिखेरे गये थे। वह श्वेत, काले और लाल रंगकी धातुओंसे रँगा हुआ था। उसकी उज्ज्वल छटा फैल रही थी। उसके मार्ग और फाटक अत्यन्त विस्तृत थे। वहाँ उमड़े हुए बादलोंका अनुपम शब्द हो रहा था। सुगन्धयुक्त वायुके चलनेसे वह पुर अत्यन्त मनोहर लग रहा था ॥

तं प्रविशन्तमगात् प्रविलोक्य व्याकुलतां नगरं गिरिभर्तुः।
व्यग्रपुरन्ध्रिजनं जवियानं धावितमार्गजनाकुलरथ्यम् ॥ ४७० ॥
हर्म्यगवाक्षगतामरनारीलोचननीलसरोरुहमालम् ।
सुप्रकटा समदृश्यत काचित् स्वाभरणांशुवितानविगूढा ॥ ४७१ ॥
काप्यखिलीकृतमण्डनभूषा त्यक्तसखीप्रणया हरमैक्षत् ।
काचिदुवाच कलं गतमाना कातरतां सखि मा कुरु मूढे ॥ ४७२ ॥
दग्धमनोभव एष पिनाकी कामयते स्वयमेव विहर्तुम् ।
काचिदपि स्वयमेव पतन्ती प्राह परां विरहस्खलिताङ्गीम् ॥ ४७३ ॥

[1]—गानेमें एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिपर जानेकी एक रीति।

मा चपले मदनव्यतिषङ्गं शङ्करजं स्खलनेन वद त्वम्।
काऽपि कृतव्यवधानमदृष्ट्वा युक्तिवशाद्गिरिशो ह्ययमूचे ॥ ४७४ ॥
एष स यत्र सहस्रमखाद्या नाकसदामधिपाः स्वयमुच्चैः।
नामभिरिन्दुजटं निजसेवाप्रातिफलाय नतास्तु वदन्ते ॥ ४७५ ॥
एष न चैष स एष यदग्रे चर्मपरीततनुः शशिमौली।
धावति वज्रधरोऽमरराजो मार्गममुं विवृतीकरणाय ॥ ४७६ ॥
एष स पद्मभवोऽयमुपेत्य प्रांशुजटामृगचर्मनगूढः।
सप्रणयं करघट्टितवक्त्रः किंचिदुवाच मितं श्रुतिमूले ॥ ४७७ ॥
एवमभूत् सुरनारिकुलानां चित्तविसंस्थुलता गुरुरागात्।
शंकरसंश्रयणाद्गिरिजाया जन्मफलं परमं त्विति चोचुः ॥ ४७८ ॥

शिवजीको उस नगरमें प्रवेश करते देखकर पर्वतराज हिमाचलका सारा नगर व्याकुल हो गया। पति-पुत्र आदिसे युक्त सम्मानित नारियाँ व्याकुल होकर वेगपूर्वक इधर-उधर भागने लगीं। मार्गों और गलियोंमें भागते हुए लोगोंकी भीड़ लग गयी। कोई देवाङ्गना अट्टालिकाके झरोखेमें बैठकर अपने नीलकमलके-से नेत्रोंसे उसकी शोभा बढ़ा रही थी। कोई नारी अपने आभूषणोंकी किरणोंसे छिपी होनेपर भी प्रत्यक्ष रूपमें दीख रही थी। कोई सुन्दरी अपनेको सम्पूर्ण शृङ्गारोंसे विभूषितकर सखीके प्रेमको छोड़कर शिवजीकी ओर निहार रही थी। कोई नारी अभिमानरहित हो मधुर वाणीमें बोली—'अरी भोली-भाली सखि! तुम कातर मत होओ। यद्यपि शिवजीने कामदेवको जला दिया है, तथापि वे स्वय ही विहार करनेकी इच्छा करते हैं।' कोई सुन्दरी, जो स्वयं मनोभवके फंदेमें पड़ गयी थी, विरहसे स्खलित अङ्गोंवाली दूसरी नारीसे बोली—'चपले! तुम भूलसे शंकरजीके साथ कामदेवके संयोगकी चर्चा मत किया कर।' कोई कामिनी व्यवधान पड़नेके कारण शंकरजीको न देखकर युक्तिपूर्वक 'शंकर यही हैं'—ऐसा मानकर कह रही थी—'वे शिव यही हैं, जिन चन्द्रशेखरको अपनी सेवाके फलकी प्राप्तिके निमित्त स्वर्गवासियोंके अधीश्वर इन्द्र आदि देवगण स्वयं अपना-अपना नाम लेकर नमस्कार कर रहे हैं।' कोई नारी कह रही थी—'अरे! शिवजी यह नहीं हैं, वे तो यह हैं, जिनके मस्तकपर चन्द्रमा शोभा पा रहा है और जिनका शरीर चमड़ेसे ढँका हुआ है तथा जिनके आगे वज्रधारी देवराज इन्द्र इस मार्गको निर्बाध करनेके लिये दौड़ रहे हैं। देखो, ये लम्बी जटाओं और मृगचर्मसे सुशोभित पद्मयोनि ब्रह्मा भी उनके निकट जाकर हाथसे मुख पकड़े हुए प्रेमपूर्वक उनके कानोंमें कुछ कह रहे हैं।' इस प्रकार अतिशय प्रेमके कारण देवाङ्गनाओंके चित्तमें परम संतोष हुआ। तब वे कहने लगीं कि शंकरजीका आश्रय ग्रहण करनेसे पार्वतीको अपने जन्मका परम फल प्राप्त हो गया॥ ४७०—४७८॥

ततो हिमगिरेर्वेश्म विश्वकर्मनिवेदितम्। महानीलमयस्तम्भं ज्वलत्काञ्चनकुट्टिमम् ॥ ४७९ ॥
मुक्ताजालपरिष्कारं ज्वलितौषधिदीपितम्। क्रीडोद्यानसहस्राढ्यं काञ्चनाबद्धदीर्घिकम् ॥ ४८० ॥
महेन्द्रप्रमुखाः सर्वे सुरा दृष्ट्वा तदद्भुतम्। नेत्राणि सफलान्यद्य मनोभिरिति ते दधुः ॥ ४८१ ॥
विमर्दकीर्णकेयूरा हरिणा द्वारि रोधिताः। कथंचित् प्रमुखास्तत्र विविशुर्नाकवासिनः ॥ ४८२ ॥
प्रणतेनाचलेन्द्रेण पूजितोऽथ चतुर्मुखः। चकार विधिना सर्वं विधिमन्त्रपुरःसरम् ॥ ४८३ ॥
शर्वेण पाणिग्रहणमग्निसाक्षिकमक्षतम्। दाता महीभृतां नाथो होता देवश्चतुर्मुखः ॥ ४८४ ॥
वरः पशुपतिः साक्षात् कन्या विश्वारणिस्तथा। चराचराणि भूतानि सुरासुरवराणि च ॥ ४८५॥

तत्राप्येते नियमतो ह्यभवन् व्यग्रमूर्तयः । मुमोचाभिनवान् सर्वान् सस्यशालीन् रसौषधीः ॥ ४८६ ॥
व्यग्रा तु पृथिवी देवी सर्वभावमनोरमा । गृहीत्वा वरुणः सर्वरत्नान्याभरणानि च ॥ ४८७ ॥
पुण्यानि च पवित्राणि नानारत्नमयानि तु । तस्थौ साभरणो देवो हर्षदः सर्वदेहिनाम् ॥ ४८८ ॥

तदनन्तर भगवान् शंकर हिमाचलके उस भवनमें प्रविष्ट हुए, जिसका निर्माण देवशिल्पी विश्वकर्माने किया था तथा जिसमें महानीलमणिके खम्भे लगे हुए थे, जिसका फर्श तपाये हुए स्वर्णका बना हुआ था, जो मोतियोंकी झालरोंसे सुशोभित और जलती हुई ओषधियोंके प्रकाशसे उद्दीप्त हो रहा था, जिसमें हजारों क्रीडोद्यान थे तथा जिसकी बावलियोंकी सीढ़ियाँ सोनेकी बनी हुई थीं । उस अद्भुत भवनको देखकर महेन्द्र आदि सभी देवताओंने अपने मनमें ऐसा समझा कि आज हमारे नेत्र सफल हो गये । उस भवनके द्वारपर श्रीहरिद्वारा रोके जानेपर भीड़के कारण जिनके केयूर परस्पर रगड़ खाकर चूर-चूर हो गये थे, ऐसे कुछ प्रमुख स्वर्गवासी किसी प्रकार उस भवनमें प्रविष्ट हुए । तदनन्तर वहाँ (मण्डपमें) पर्वतराज हिमाचलने विनम्रभावसे ब्रह्माकी पूजा की । तब उन्होंने विधानानुसार मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारा कार्य सम्पन्न किया । तदुपरान्त शिवजीने अग्निको साक्षी बनाकर गिरिजाका अटूट पाणिग्रहण किया । उस विवाहोत्सवमें पर्वतोंके राजा हिमाचल दाता, देवाधिदेव ब्रह्मा होता, साक्षात् शिव वर तथा विश्वकी अरणिभूता पार्वती कन्या थीं । उस समय प्रधान देवता एवं असुर तथा चराचर सभी प्राणी (कार्याधिक्यके कारण) नियमको छोड़कर व्यग्र हो उठे । सभी प्रकारके मनोरम भावोंसे परिपूर्ण पृथ्वीदेवी आकुल होकर सभी प्रकारके नूतन अन्नों, रसों और ओषधियोंको उड़ेलने लगी । सभी प्राणियोंको हर्ष प्रदान करनेवाले वरुणदेव स्वयं आभूषणोंसे विभूषित हो सभी प्रकारके रत्नों तथा अनेकविध रत्नोंसे निर्मित पुण्यमय एवं पावन आभरणोंको लेकर वहाँ उपस्थित थे ॥ ४७९—४८८ ॥

धनदश्चापि दिव्यानि हैमान्याभरणानि च । जातरूपविचित्राणि प्रयतः समुपस्थितः ॥ ४८९ ॥
वायुर्ववौ सुसुरभिः सुखसंस्पर्शनो विभुः । छत्रमिन्दुकरोद्गारं सुसितं च शतक्रतुः ॥ ४९० ॥
जग्राह मुदितः स्रग्वी बाहुभिर्बहुभूषणैः । जगुर्गन्धर्वमुख्याश्च ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ४९१ ॥
वादयन्तोऽति मधुरं जगुर्गन्धर्वकिंनराः । मूर्ताश्च ऋतवस्तत्र जगुश्च ननृतुश्च वै ॥ ४९२ ॥
चपलाश्च गणास्तस्थुर्लोलयन्तो हिमाचलम् । उत्तिष्ठन् क्रमशश्चात्र विश्वभुग्भगनेत्रहा ॥ ४९३ ॥
चकारौद्वाहिकं कृत्यं पत्न्या सह यथोचितम् । दत्तार्घो गिरिराजेन सुरवृन्दैर्विनोदितः ॥ ४९४ ॥
अवसत् तां क्षपां तत्र पत्न्या सह पुरान्तकः । ततो गन्धर्वगीतेन नृत्येनाप्सरसामपि ॥ ४९५ ॥
स्तुतिभिर्देवदैत्यानां विबुद्धो विबुधाधिपः ।
आमन्त्र्य हिमशैलेन्द्रं प्रभाते चोमया सह । जगाम मन्दरगिरिं वायुवेगेन शृङ्गिणा ॥ ४९६ ॥

उस समय वहाँ कुबेर भी विनम्रभावसे विभिन्न प्रकारके स्वर्णमय दिव्य आभूषणोंको लिये हुए उपस्थित थे । स्पर्शसे सुख उत्पन्न करनेवाली परम सुगन्धित वायु चारों ओर बहने लगी । मालाधारी इन्द्र हर्षपूर्वक अनेकों आभूषणोंसे विभूषित अपनी भुजाओंद्वारा चन्द्रमाकी किरणोंके समान कान्तिमान् अत्यन्त उज्ज्वल छत्र लिये हुए थे । प्रधान-प्रधान गन्धर्व गीत गा रहे थे और अप्सराएँ नाच रही थीं । कुछ अन्य गन्धर्व और किंनर बाजा बजाते हुए अत्यन्त मधुर स्वरसे राग अलाप रहे थे । वहाँ छहों ऋतुएँ भी शरीर धारणकर नाचती और गाती थीं । चञ्चल प्रकृतिवाले प्रमथगण हिमाचलको विचलित करते हुए उपस्थित थे । इसी समय विश्वके पालनकर्ता एवं भगदेवताके नेत्रोंके विनाशक भगवान् शिव उठे और अपनी पत्नी पार्वतीके साथ क्रमशः

सारा वैवाहिक कार्य यथोचितरूपसे सम्पन्न किये। उस समय पर्वतराज हिमाचलने उन्हें अर्घ्य प्रदान किया और सुरसमूह विनोदकी बातें करने लगे। तत्पश्चात् त्रिपुरके विनाशक भगवान् शंकरने उस रातमें पत्नीके साथ वहाँ निवास किया। प्रातःकाल गन्धर्वोंके गीत, अप्सराओंके नृत्य तथा देवों एवं दैत्योंकी स्तुतियोंके माध्यमसे जगाये गये देवेश्वर शंकर पर्वतराज हिमाचलसे आज्ञा लेकर उमाके साथ वायुके समान वेगशाली नन्दीश्वरपर सवार हो मन्दराचलको चले गये ॥ ४८९—४९६ ॥

ततो गते भगवति नीललोहिते सहोमया रतिमलभन्न भूधरः।
सबान्धवो भवति च कस्य नो मनो विह्वलं च जगति हि कन्यकापितुः ॥ ४९७ ॥
ज्वलन्मणिस्फटिकहाटकोत्कटं स्फुटद्युति स्फटिकगोपुरं पुरम्।
हरो गिरौ चिरमनुकल्पितं तदा विसर्जितामरनिवहोऽविशत् स्वकम् ॥ ४९८ ॥

तदनन्तर नीललोहित भगवान् शंकरके उमासहित चले जानेपर भाई-बन्धुओंसहित हिमाचलका मन खिन्न हो गया; क्योंकि जगत्‌मे भला ऐसा कौन कन्याका पिता होगा, जिसका मन उसकी विदाईके समय विह्वल न हो जाता हो? उधर मन्दराचलपर शिवजीका नगर बहुत पहलेसे ही विरचित था। वह चमकती हुई मणियों, स्फटिक-शिलाओं और स्वर्णसे निर्मित होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर लग रहा था, उसकी कान्ति फूटी पड़ती थी और उसमें स्फटिकके फाटक लगे हुए थे। वहाँ पहुँचकर शिवजी देवसमूहको विदा कर अपने नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ४९७-४९८ ॥

तदोमासहितो देवो विजहार भगाक्षिहा। पुरोद्यानेषु रम्येषु विविक्तेषु वनेषु च ॥ ४९९ ॥
सुरक्तहृदयो देव्या मकराङ्कपुरःसरः। ततो बहुतिथे काले सुतकामा गिरेः सुता ॥ ५०० ॥
सखीभिः सहिता क्रीडां चक्रे कृत्रिमपुत्रकैः। कदाचिद्गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा ॥ ५०१ ॥
चूर्णैरुद्वर्तयामास मलिनान्तरितां तनुम्। तदुद्वर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम्। ॥ ५०२ ॥
पुत्रकं क्रीडती देवी तं चाक्षिपयदम्भसि। जाह्नव्यास्तु शिवासख्यास्ततः सोऽभूद् बृहद्वपुः ॥ ५०३ ॥
कायेनातिविशालेन जगदापूरयत्तदा। पुत्रेत्युवाच तं देवी पुत्रेत्यूचे च जाह्नवी ॥ ५०४ ॥
गाङ्गेय इति देवैस्तु पूजितोऽभूद्गजाननः। विनायकाधिपत्यं च ददावस्य पितामहः ॥ ५०५ ॥
पुनः सा क्रीडनं चक्रे पुत्रार्थं वरवर्णिनी। मनोज्ञमङ्कुरं रूढमशोकस्य शुभानना ॥ ५०६ ॥
वर्धयामास तं चापि कृतसंस्कारमङ्गला। बृहस्पतिमुखैर्विप्रैर्दिवस्पतिपुरोगमैः ॥ ५०७ ॥
ततो देवैश्च मुनिभिः प्रोक्ता देवी त्विदं वचः। भवानि भवती भव्या सम्भूता लोकभूतये ॥ ५०८ ॥
प्रायः सुतफलो लोकः पुत्रपौत्रैश्च लभ्यते। अपुत्राश्च प्रजाः प्रायो दृश्यन्ते दैवहेतुतः ॥ ५०९ ॥
अधुना दर्शिते मार्गे मर्यादां कर्तुमर्हसि।
फलं किं भविता देवि कल्पितैस्तरुपुत्रकैः। इत्युक्ता हर्षपूर्णाङ्गी प्रोवाचोमा शुभां गिरम् ॥ ५१० ॥

वहाँ भग-नेत्रहारी भगवान् शंकर उमासहित नगरके रमणीय उद्यानों तथा एकान्त वनोंमें विहार करने लगे। उस समय उनका हृदय कामके वशीभूत होनेके कारण पार्वतीदेवीके प्रति अतिशय अनुरक्त हो गया था। इस प्रकार बहुत समय व्यतीत होनेके पश्चात् पार्वतीके मनमें पुत्रकी कामना उत्पन्न हुई, तब वे सखियोंके साथ कृत्रिम पुत्र बनाकर क्रीडा करने लगीं। किसी समय पार्वतीने सुगन्धित तेलसे शरीरको मलकर उसके मैल जमे हुए अङ्गोंमें चूर्णका उबटन भी लगाया। फिर उस लेपनको इकट्ठाकर उससे हाथीके-से मुखवाले पुरुषकी आकृतिका निर्माण किया। उसके साथ क्रीडा करनेके पश्चात् पार्वतीदेवीने उसे अपनी सखी जाह्नवीके जलमें

डलवा दिया। वहाँ वह विशाल शरीरवाला हो गया और अपने उस अत्यन्त विशाल शरीरसे सारे जगत्को आच्छादित कर लिया। तब पार्वतीदेवीने उसे 'पुत्र' ऐसा कहा और उधर जाह्नवीने भी उसे 'पुत्र' कहकर पुकारा। अन्तमें वह गजानन 'गाङ्गेय' नामसे देवताओं-द्वारा सम्मानित किया गया और ब्रह्माने उसे विनायकोंका आधिपत्य प्रदान किया। तत्पश्चात् सुन्दर मुखवाली सुन्दरी पार्वतीने पुनः पुत्रकी कामनासे अशोकके नये निकले हुए सुन्दर अङ्कुरको खिलौना बनाया और बृहस्पति आदि विप्रों तथा इन्द्र आदि देवताओंद्वारा अपना माङ्गलिक संस्कार कराकर उसे पाला-पोसा। यह देखकर देवताओं और मुनियोंने पार्वती देवीसे यह बात कही—'भवानि! आप तो परम सुन्दर रूपवाली हो और लोकके कल्याणके लिये प्रकट हुई हो। प्रायः संसार पुत्ररूप फलका ही प्रेमी है और वह फल पुत्र-पौत्रोंद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जगत्में जो प्रजाएँ पुत्रहीन हैं, वे प्रायः प्रारब्धके कारण ही वैसा दीख पड़ती हैं। देवि! इस समय आप शास्त्रद्वारा प्रदर्शित मार्गकी मर्यादा निर्धारित करें। इन कल्पित तरुपुत्रकोंसे क्या लाभ उपलब्ध होगा?' ऐसा कही जानेपर उमाके अङ्ग हर्षसे पूर्ण हो गये, तब वे सुन्दर वाणीमें बोलीं॥ ४९९—५१०॥

देव्युवाच

एवं निरुदके देशे यः कूपं कारयेद् बुधः। बिन्दौ बिन्दौ च तोयस्य वसेत् संवत्सरं दिवि॥ ५११॥
दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः। एषैव मम मर्यादा नियता लोकभाविनी॥ ५१२॥
इत्युक्तास्तु ततो विप्रा बृहस्पतिपुरोगमाः। जग्मुः स्वमन्दिराण्येव भवानीं वन्द्य सादरम्॥ ५१३॥
गतेषु तेषु देवोऽपि शङ्करः पर्वतात्मजाम्। पाणिनाऽऽलम्ब्य वामेन शनैः प्रावेशयच्छुभाम्॥ ५१४॥
चित्तप्रसादजननं प्रासादमनुगोपुरम्। लम्बमौक्तिकदामानं मालिकाकुलवेदिकम्॥ ५१५॥
निर्धौतकलधौतं च क्रीडागृहमनोरमम्। प्रकीर्णकुसुमामोदमत्तालिकुलकूजितम्॥ ५१६॥
किंनरोद्गीतसङ्गीतगृहान्तरितभित्तिकम्। सुगन्धिधूपसङ्घातमनःप्रार्थ्यमलक्षितम्॥ ५१७॥
क्रीडन्मयूरनारीभिर्वृतं वै तलवादिभिः। हंससंघातसङ्घुष्टं स्फाटिकस्तम्भवेदिकम्॥ ५१८॥
अनारतमतिप्रीत्या बहुशः किंनराकुलम्। शुकैर्यत्राभिहन्यन्ते पद्मरागविनिर्मिताः॥ ५१९॥
भित्तयो दाडिमभ्रान्त्या प्रतिबिम्बितमौक्तिकाः। तत्राक्षक्रीडया देवी विहर्तुमुपचक्रमे॥ ५२०॥
स्वच्छेन्द्रनीलभूभागे क्रीडने यत्र धिष्ठितौ। वपुःसहायतां प्राप्तौ विनोदरसनिर्वृतौ॥ ५२१॥

पार्वतीदेवीने कहा—विप्रवरो! इस प्रकारके जल-रहित प्रदेशमें जो बुद्धिमान् पुरुष कुआँ बनवाता है, वह कुएँके जलके एक-एक बूँदके बराबर वर्षोंतक स्वर्गमें निवास करता है। इस प्रकार दस कुएँके समान एक बावली, दस बावलीके सदृश एक सरोवर, दस सरोवरकी तुलनामें एक पुत्र और दस पुत्रके समान एक वृक्ष माना गया है। यही लोकोंका कल्याण करनेवाली मर्यादा है, जिसे मैं निर्धारित कर रही हूँ। इस प्रकार कहे जानेपर बृहस्पति आदि विप्रगण भवानीको आदरपूर्वक नमस्कार कर अपने-अपने निवास-स्थानको चले गये। उन सबके चले जानेपर देवाधिदेव शंकरने भी सुन्दरी पार्वतीको बायें हाथका सहारा देकर धीरे-धीरे अपने भवनमें प्रवेश कराया। चित्तको प्रसन्न करनेवाला वह भवन फाटकके निकट ही था। उसमें मोतियोंकी लम्बी-लम्बी झालरें लटक रही थीं, वेदिकाएँ पुष्पहारोंसे सुसज्जित थीं, तपाये हुए स्वर्णके मनोरम क्रीडागृह बने हुए थे, बिखरे हुए पुष्पोंकी सुगन्धसे उन्मत्त हुए भँवरे गुंजार कर रहे थे, किन्नरोंद्वारा गाये गये संगीतसे गृहकी भीतरी दीवाल प्रतिध्वनित हो रही थी, मनको अच्छी लगनेवाली सुगन्धित धूपोंकी भीनी सुगन्ध फैल रही थी। वह

नाचती हुई मयूरियों तथा तारवाले बाजे बजानेवाले वादकोंसे व्याप्त था। वहाँ हंस-समूहोंकी ध्वनि गूँज रही थी, स्फटिकके खम्भोंसे युक्त वेदिकाएँ सुशोभित थीं, अधिकांश किन्नर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक निरन्तर उपस्थित रहते थे। उसमें पद्मराग मणिकी दीवालें बनी हुई थीं, जिनपर मोतियोंकी झलक पड़ रही थी, इस कारण अनारके भ्रमसे शुकसमूह उनपर अपने ठोरोंसे आघात कर रहे थे। ऐसे भवनमें पार्वतीदेवी द्यूतक्रीडाके माध्यमसे विहार करने लगीं। निर्मल इन्द्रनील मणिके बने हुए उस क्रीडा-स्थानपर क्रीडा करते हुए शिव-पार्वती विनोदके रसमें निमग्न हो परस्पर एक-दूसरेके शरीरकी सहायताको प्राप्त हुए ॥ ५११–५२१ ॥

एवं प्रक्रीडतोस्तत्र देवीशङ्करयोस्तदा। प्रादुर्भवन्महाशब्दस्तद्गृहोदरगोचरः ॥ ५२२ ॥
तच्छ्रुत्वा कौतुकाद् देवी किमेतदिति शङ्करम्। पप्रच्छ तां शुभतनुर्हरं विस्मयपूर्वकम् ॥ ५२३ ॥
उवाच देवीं नैतत् ते दृष्टपूर्वं सुविस्मिते। एते गणेशाः क्रीडन्ते शैलेऽस्मिन् मत्प्रियाः सदा॥ ५२४ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण नियमैः क्षेत्रसेवनैः। यैरहं तोषितः पूर्वं त एते मनुजोत्तमाः ॥ ५२५ ॥
मत्समीपमनुप्राप्ता मम हृद्याः शुभानने। कामरूपा महोत्साहा महारूपगुणान्विताः ॥ ५२६ ॥
कर्मभिर्विस्मयं तेषां प्रयामि बलशालिनाम्। सामरस्यास्य जगतः सृष्टिसंहरणक्षमाः ॥ ५२७ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्रगन्धर्वैः सकिंनरमहोरगैः। विवर्जितोऽप्यहं नित्यं नैभिर्विरहितो रमे ॥ ५२८ ॥
हृद्या मे चारुसर्वाङ्गास्त एते क्रीडिता गिरौ। इत्युक्ता तु ततो देवी त्यक्त्वा तद्विस्मयाकुला॥ ५२९ ॥
गवाक्षान्तरमासाद्य प्रेक्षते विस्मितानना।

इस प्रकार वहाँ पार्वती और शंकरके क्रीडा करते समय उस गृहके भीतर महान् भयंकर शब्द प्रादुर्भूत हुआ। उसे सुनकर सुन्दर शरीरवाली पार्वतीदेवीने कुतूहलवश आश्चर्यपूर्वक भगवान् शंकरसे पूछा—'यह क्या हो रहा है?' तब शिवजीने पार्वतीसे कहा—'सुविस्मिते! तुमने पहले इसे नहीं देखा है। मेरे परम प्रिय ये गणेश्वर इस पर्वतपर सदा क्रीडा करते रहते हैं। शुभानने! जो लोग पहले तपस्या, ब्रह्मचर्य, नियमपालन और तीर्थसेवनद्वारा मुझे संतुष्ट कर चुके हैं, वे ही ये श्रेष्ठ पुरुष मेरे पास प्राप्त हुए हैं। ये मुझे परम प्रिय हैं। ये इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, महान् उत्साहसे सम्पन्न तथा अतिशय सौन्दर्य एवं गुणोंसे युक्त हैं। इन बलशालियोंके कार्योंसे तो मुझे भी परम विस्मय हो जाता है। ये देवताओंसहित इस जगत्की सृष्टि और संहार करनेमे समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, गन्धर्व, किंनर और प्रधान-प्रधान नागोंसे नित्य विलग रहनेपर भी मुझे कष्ट नहीं होता, परंतु इनसे वियुक्त होनेपर मुझे कभी आनन्द नहीं प्राप्त होता। इनके सभी अङ्ग अत्यन्त सुन्दर हैं और ये सभी मुझे परम प्रिय हैं। वे ही ये सब इस पर्वतपर क्रीडा कर रहे हैं।' इस प्रकार कही जानेपर पार्वतीने विस्मयसे व्याकुल हो द्यूतक्रीडा छोड़ दी और वे भौचक्की-सी हो झरोखेमें बैठकर उनकी ओर देखने लगीं ॥ ५२२–५२९½ ॥

यावन्तस्ते कृशा दीर्घा ह्रस्वाः स्थूला महोदराः ॥ ५३० ॥
व्याघ्रेभवदनाः केचित् केचिन्मेषाजरूपिणः। अनेकप्राणिरूपाश्च ज्वालास्याः कृष्णपिङ्गलाः ॥ ५३१ ॥
सौम्या भीमाः स्मितमुखाः कृष्णपिङ्गजटासटाः। नानाविहङ्गवदना नानाविधमृगाननाः ॥ ५३२ ॥
कौशेयचर्मवसना नग्नाश्चान्ये विरूपिणः। गोकर्णा गजकर्णाश्च बहुवक्त्रेक्षणोदराः ॥ ५३३ ॥
बहुपादा बहुभुजा दिव्यनानास्त्रपाणयः। अनेककुसुमापीडा नानाव्यालविभूषणाः ॥ ५३४ ॥
वृत्ताननायुधधरा नानाकवचभूषणाः। विचित्रवाहनारूढा दिव्यरूपा वियच्चराः ॥ ५३५ ॥
वीणावाद्यसुखोद्घुष्टा नानास्थानकनर्तकाः। गणेशांस्तांस्तथा दृष्ट्वा देवी प्रोवाच शङ्करम् ॥ ५३६ ॥

वे जितने थे, उनमें कुछ दुबले-पतले, लम्बे, छोटे और विशाल पेटवाले थे। किन्हींके मुख व्याघ्र और हाथीके समान थे तो कोई भेड़ और बकरेके-से रूपवाले थे। उनके रूप अनेकों प्राणियोंके सदृश थे। किन्हींके मुखसे ज्वाला निकल रही थी तो कोई काले एवं पीले रंगके थे। किन्हींके मुख सौम्य, किन्हींके भयंकर और किन्हींके मुसकानयुक्त थे। किन्हींके मस्तकपर काले एवं पीले रंगकी जटा बँधी थी। किन्हींके मुख नाना प्रकारके पक्षियोंके-से तथा किन्हींके मुख विभिन्न प्रकारके पशुओं-सदृश थे। किन्हींके शरीरपर रेशमी वस्त्र थे तो कोई वस्त्रके स्थानपर चमड़ा ही लपेटे हुए थे और कुछ नंगे ही थे। कुछ अत्यन्त कुरूप थे। किन्हींके कान गौ-सरीखे थे तो किन्हींके कान हाथी-जैसे थे। किन्हींके बहुत-से मुख, नेत्र और पेट थे तो किन्हींके बहुत-से पैर और भुजाएँ थीं। उनके हाथोंमें नाना प्रकारके दिव्यास्त्र शोभा पा रहे थे। किन्हींके मस्तकोंपर नाना प्रकारके पुष्प बँधे हुए थे तो कोई अनेकविध सर्पोंके ही आभूषण धारण किये हुए थे। कोई गोल मुखवाले अस्त्र लिये हुए थे तो कोई विभिन्न प्रकारके कवचोंसे विभूषित थे। कुछ दिव्य रूपधारी थे और विचित्र वाहनोंपर आरूढ हो आकाशमें विचर रहे थे। कुछ मुखसे वीणा आदि बाजे बजा रहे थे और कुछ यत्र-तत्र नाच रहे थे। इस प्रकार उन गणेश्वरोंको देखकर पार्वतीदेवी शंकरजीसे बोलीं ॥ ५३०—५३६ ॥

देव्युवाच

गणेशाः कति संख्याताः किंनामानः किमात्मकाः। एकैकशो मम ब्रूहि धिष्ठिता ये पृथक् पृथक् ॥ ५३७ ॥

देवीने पूछा—प्रभो! इन गणेश्वरोंकी संख्या कितनी है? इनके क्या-क्या नाम हैं? इनके स्वभाव कैसे हैं? ये जो पृथक्-पृथक् बैठे हैं, इनमेंसे मुझे एक-एकका परिचय दीजिये ॥ ५३७ ॥

शङ्कर उवाच

कोटिसंख्या ह्यसंख्याता नानाविख्यातपौरुषाः। जगदापूरितं सर्वैरेभिर्भीमैर्महाबलैः ॥ ५३८ ॥
सिद्धक्षेत्रेषु रथ्यासु जीर्णोद्यानेषु वेश्मसु।
दानवानां शरीरेषु बालेषून्मत्तकेषु च। एते विशन्ति मुदिता नानाहारविहारिणः ॥ ५३९ ॥
ऊष्मपाः फेनपाश्चैव धूमपा मधुपायिनः। रक्तपाः सर्वभक्षाश्च वायुपा ह्यम्बुभोजनाः ॥ ५४० ॥
गेयनृत्योपहाराश्च नानावाद्यरवप्रियाः। न ह्येषां वै अनन्तत्वाद् गुणान् वक्तुं हि शक्यते ॥ ५४१ ॥

शंकरजी बोले—देवि! यों तो ये असंख्य हैं, परंतु प्रधान-प्रधान गणेश्वरोंकी संख्या एक करोड़ है। ये विभिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके लिये विख्यात हैं। इन सभी महाबली भयंकर गणोंसे सारा जगत् परिपूर्ण है। नाना प्रकारके आहार-विहारसे युक्त ये गणेश्वर हर्षपूर्वक सिद्ध क्षेत्रों, गलियों, पुराने उद्यानों, घरों, दानवोंके शरीरों, बालकों और पागलोंमें प्रवेश करते हैं। ये सभी ऊष्मा, फेन, धूम, मधु, रक्त और वायुका पान करनेवाले हैं। जल इनका भोजन है और ये सर्वभक्षी हैं। ये नाच-गानके उपहारसे प्रसन्न होनेवाले और अनेकों प्रकारके वाद्य-शब्दोंके प्रेमी हैं। अनन्त होनेके कारण इनके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥

देव्युवाच

मार्गत्वगुत्तरासङ्गः शुद्धाङ्गो मुञ्जमेखली। वामस्थेन च शिक्येन चपलो रञ्जिताननः ॥ ५४२ ॥
मृगदंष्ट्रो ह्युत्पलानां स्रग्दामो मधुराकृतिः। पाषाणशकलोत्तानकांस्यतालप्रवर्तकः ॥ ५४३ ॥
असौ गणेश्वरो देवः किंनामा किंनरानुगः। य एष गणगीतेषु दत्तकर्णो मुहुर्मुहुः ॥ ५४४ ॥

देवीने पूछा—स्वामिन् ! जो मृगचर्मका दुपट्टा लपेटे हुए है, जिसके सभी अङ्ग शुद्ध हैं; जो मूँजकी मेखला धारण किये हुए हैं, जिसके बायें कंधेपर झोली लटक रही है, जो अत्यन्त चञ्चल और रँगे हुए मुखवाला है, जिसकी दाढ़ सिंहके सदृश है, जो कमल-पुष्पोंकी माला धारण किये हुए, सुन्दर आकृतिसे युक्त और पाषाण-खण्डसे उत्तान रखे हुए काँसेके बाजेपर ताल लगा रहा है तथा जिसके पीछे किन्नर लोग चल रहे हैं, और जो अन्य गणोंद्वारा गाये गये गीतोंपर बार-बार कान लगाये हुए हैं, उस गणेश्वर देवका क्या नाम है ? ॥

शर्व उवाच

स एष वीरको देवि सदा मद्धृदयप्रियः। नानाश्चर्यगुणाधारो गणेश्वरगणार्चितः ॥ ५४५ ॥

शंकरजीने कहा—देवि ! यही वह वीरक है, जो सदा मेरे हृदयको प्रिय लगनेवाला है। यह नाना प्रकारके आश्चर्यजनक गुणोंका आश्रय तथा सभी गणेश्वरोंद्वारा पूजित—सम्मानित हैं ॥ ५४५ ॥

देव्युवाच

ईदृशस्य सुतस्यास्ति ममोत्कण्ठा पुरान्तक। कदाहमीदृशं पुत्रं द्रक्ष्याम्यानन्ददायिनम् ॥ ५४६ ॥

देवीने पूछा—त्रिपुरनाशक भगवन् ! मेरे मनमें ऐसा ही पुत्र प्राप्त करनेकी प्रबल उत्कण्ठा है। मै कब ऐसे आनन्ददायक पुत्रको देखूँगी ? ॥ ५४६ ॥

शर्व उवाच

एष एव सुतस्तेऽस्तु नयनानन्दहेतुकः। त्वया मात्रा कृतार्थस्तु वीरकोऽपि सुमध्यमे ॥ ५४७ ॥
इत्युक्ता प्रेषयामास विजयां हर्षणोत्सुका। वीरकानयनायाशु दुहिता हिमभूभृतः ॥ ५४८ ॥
सावरुह्य त्वरायुक्ता प्रासादादम्बरस्पृशः। विजयोवाच गणपं गणमध्ये प्रवर्तितम् ॥ ५४९ ॥
एहि वीरक चापल्यात् त्वया देवः प्रकोपितः। किमुत्तरं वदत्यर्थे नृत्यरङ्गे तु शैलजा ॥ ५५० ॥
इत्युक्तस्त्यक्तपाषाणशकलो मार्जिताननः। आहूतस्तु तयोद्भूतमूलप्रस्तावशंसकः ॥ ५५१ ॥
देव्याः समीपमागच्छद् विजयानुगतः शनैः। प्रासादशिखरात्फुल्लरक्ताम्बुजनिभद्युतिः ॥ ५५२ ॥
तं दृष्ट्वा प्रस्नुतानल्पस्वादुक्षीरपयोधरा। गिरिजोवाच सस्नेहं गिरा मधुरवर्णया ॥ ५५३ ॥

शिवजीने कहा—सुमध्यमे ! नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाला यह वीरक ही तुम्हारा पुत्र हो और वीरक भी तुम-जैसी माताको पाकर कृतार्थ हो जाय। इस प्रकार कही जानेपर पर्वतराजकी कन्या पार्वतीने हर्षसे उत्सुक होकर तुरंत ही वीरकको बुला लानेके लिये विजयाको भेजा। तब विजया शीघ्र ही उस गगनचुम्बी अट्टालिकासे नीचे उतरकर गणोंके मध्यमें पहुँची और गणेश्वर वीरकसे बोली—'वीरक ! यहाँ आओ, तुम्हारी चञ्चलतासे भगवान् शंकर क्रुद्ध हो गये है। तुम्हारे इस नाच-रंगके विषयमें माता पार्वती भी देखो क्या कहती हैं।' विजयाके ऐसा कहनेपर वीरकने पाषाणखण्डको फेंक दिया और वह अपने मुखको धोकर माताद्वारा बुलाये जानेके मूल कारणके विषयमें सोचता हुआ विजयाके पीछे-पीछे पार्वतीदेवीके निकट आया। खिले हुए लाल कमलपुष्पकी-सी कान्तिवाली पार्वतीने अट्टालिकाके शिखरपरसे जब वीरकको आते हुए देखा तो उनके स्तनोसे अधिक मात्रामे स्वादिष्ट दूध टपकने लगा। तब गिरिजा स्नेहपूर्वक मधुर वाणीमें वीरकसे बोलीं ॥

उमोवाच

एह्येहि यातोऽसि मे पुत्रतां देवदेवेन दत्तोऽधुना वीरक।
इत्येवमङ्के निधायाथ तं पर्यचुम्बत् कपोले शनैः कलवादिनम् ॥ ५५४ ॥

मूर्ध्न्युपाघ्राय सम्मार्ज्य गात्राणि ते भूषयामास दिव्यैः स्रजैर्भूषणैः।
किङ्किणीमेखलानूपुरैर्माणिक्यकेयूरहारोरुमूलगुणैः ॥ ५५५ ॥
कोमलैः पल्लवैश्चित्रितैश्चारुभिर्दिव्यमन्त्रोद्भवैस्तस्य शुभ्रैस्ततो
भूरिभिश्चाकरोन्मिश्रसिद्धार्थकैरङ्गरक्षाविधिम् ॥ ५५६ ॥
एवमादाय चोवाच कृत्वा स्रजं मूर्ध्नि गोरोचनापत्रभङ्गोज्ज्वलैः ॥ ५५७ ॥
गच्छ गच्छाधुना क्रीड सार्धं गणैरप्रमत्तो वस श्वभ्रवर्जी शनै-
र्व्यालमालाकुलाः शैलसानुद्रुमदन्तिभिर्भिन्नसाराः परे सङ्गिनः ॥ ५५८ ॥
जाह्नवीयं जलं क्षुब्धतोयाकुलं कूलं मा विशेथा बहुव्याघ्रदुष्टे वने।
वत्सासंख्येषु दुर्गा गणेशेष्वेतस्मिन् वीरके पुत्रभावोपतुष्टान्तःकरणा तिष्ठतु ॥ ५५९ ॥
स्वस्य पितृजनप्रार्थितं भव्यमायातिभाविन्यसौ भव्यता।

उमाने कहा—वीरक! आओ, यहाँ आओ, देवाधिदेवने तुम्हें मुझे प्रदान किया है। अब तुम मेरे पुत्रस्वरूप हो गये हो। ऐसा कहकर माता पार्वती वीरकको अपनी गोदमें बैठाकर उस मधुरभाषी पुत्रके कपोलोंका चुम्बन करने लगीं। उन्होंने उसका मस्तक सूँघकर शरीरके सभी अङ्गोंको नहलाकर स्वच्छ किया। फिर किंकिणी, कटिसूत्र, नूपुर, मणिनिर्मित केयूर, हार और ऊरुमूलगुण (कच्छा) आदि दिव्य आभूषणोंसे उसे स्वयं विभूषित किया। तत्पश्चात् अत्यन्त सुन्दर विचित्र रंगके कोमल पल्लवों, दिव्य मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित अनेकों माङ्गलिक सूक्तों तथा अनेक धातुओंके चूर्णोंसे मिश्रित सफेद सरसोंसे उसके अङ्गोंकी रक्षाका विधान किया। इस प्रकार उसे गोदमें लेकर मुखपर गोरोचनसे उज्ज्वल पत्रभंगीकी रचना करके उसके मस्तकपर माला डालकर कहा—'बेटा! अब जाओ और अपने साथी गणोंके साथ सावधान होकर खेलो। उनके साथ कपटरहित होकर निवास करो। तुम्हारे दूसरे साथी व्यालसमूहोंसे व्याकुल और पर्वतशिखर, वृक्ष और गजराजोंसे परास्त हो रहे हैं। गङ्गाका जल अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है, उसने तटको जर्जर कर दिया है, अतः वहाँ तथा बहुत-से दुष्ट व्याघ्रोंसे भरे हुए वनमें मत प्रवेश करना। इन पुत्ररूप असंख्य गणेश्वरोंमें इस वीरकपर दुर्गादेवी सदा पुत्रभावसे संतुष्ट अन्तःकरणवाली बनी रहें। अपने पितृजनोंद्वारा प्रार्थित भार्या अवश्य घटित होती है, अतः यह भव्यता तुम्हें भविष्यमें प्राप्त होगी' ॥ ५५४—५५९½ ॥

सोऽपि निर्वर्त्य सर्वान् गणान् सस्मयमाह बालत्वलीलारसाविष्टधीः ॥ ५६० ॥
एष मात्रा स्वयं मे कृतभूषणोऽत्र एष पटः पटलैर्बिन्दुभिः।
सिन्दुवारस्य पुष्पैरियं मालतीमिश्रिता मालिका मे शिरस्याहिता ॥ ५६१ ॥
कोऽयमातोद्यधारी गणस्तस्य दास्यामि हस्तादिदं क्रीडनम्।
दक्षिणात्पश्चिमं पश्चिमादुत्तरमुत्तरात्पूर्वमभ्येत्य सख्या युता प्रेक्षती ॥ ५६२ ॥
तं गवाक्षान्तराद्वीरकं शैलपुत्री बहिः क्रीडनं यज्जगन्मातुरप्येष चित्तभ्रमः।
पुत्रलुब्धो जनस्तत्र को मोहमायाति न स्वल्पचेता जडो मांसविण्मूत्रसङ्घातदेहः ॥ ५६३ ॥
द्रष्टुमभ्यन्तरं नाकवासेश्वरैरिन्दुमौलिं प्रविष्टेषु कक्षान्तरम्।
वाहनात्यावरोहा गणास्तैर्युतो लोकपालास्त्रमूर्तो हयं खड्गो विखड्गकरः ॥ ५६४ ॥
निर्ममः कृतान्तः कस्य केनाहतो ब्रूत मौने भवन्तोऽस्त्रदण्डेन किं दुःस्पृहाः।
भीममूर्त्याननेनास्ति कृत्यं गिरौ य एषोऽस्त्रहीन किं बध्यते ॥ ५६५ ॥

तदनन्तर बालक्रीडाके रसमें निमग्न-बुद्धि वीरक भी वहाँसे लौटकर सभी गणोंसे हँसते हुए बोला—'मित्रो ! देखो, स्वयं माताने मेरा यह शृंगार किया है। उन्होंने ही यह गुलाबी बुंदियोंसे युक्त वस्त्र पहनाया है और मालती-पुष्पोंसे मिली हुई यह सिन्दुवार-पुष्पोंकी माला मेरे सिरपर रखी है। यह आतोद्य नामक बाजा धारण करनेवाला कौन गण हैं ? मैं उसे अपने हाथसे वह खिलौना दूँगा।' उधर सखीके साथ पार्वती कभी दक्षिणसे पश्चिम, कभी पश्चिमसे उत्तर और कभी उत्तरसे पूर्वकी ओर घूम-घूमकर गवाक्ष मार्गसे बाहर खेलते हुए वीरककी ओर निहार रही थीं। जब जगन्माता पार्वतीके चित्तमें (पुत्रको खेलते हुए देखकर) इस प्रकार व्यामोह उत्पन्न हो जाता है, तब भला स्वल्पबुद्धि, मूर्ख, मांस, विष्ठा और मूत्रकी राशिसे भरे हुए शरीरको धारण करनेवाला ऐसा कौन पुत्र-प्रेमी जन होगा, जिसे मोह न प्राप्त हो। इसी बीच देवगण भगवान् चन्द्रशेखरका दर्शन करनेके लिये कक्षके भीतर प्रविष्ट हुए और प्रमथगण अपने वाहनोंपर आरूढ हो गये। उनसे घिरे हुए वीरकने लोकपाल यमके अस्त्र खड्गको म्यानसे खींचकर कहा—'तुमलोग बतलाओ, निर्दय कृतान्त किस कारण किसका वध करना चाहता है ? तुमलोग मौन क्यों हो ? अस्त्रदण्डसे क्या अलभ्य है ! भयंकर आकृतिवाले मेरे वर्तमान रहते इस पर्वतपर ऐसा कौन-सा कार्य हैं, जो अस्त्रद्वारा सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ५६०–५६५ ॥

मा वृथा लोकपालानुगचित्तता एवमेवैतदित्यूचुरस्मै तदा देवताः।
देवदेवानुगं वीरकं लक्षणा प्राह देवी वनं पर्वता निर्झराण्यग्निदेव्यान्यथो॥ ५६६ ॥
भूतपा निर्झराम्भोनिपातेषु निमज्जत पुष्पजालावनद्धेषु धामस्वपि शेत प्रोत्तुङ्ग।
नानाद्रिकुजेष्वनुगञ्जन्तु हेमारुतास्फोटसंक्षेपणात्कामतः ॥ ५६७ ॥
काञ्चनोत्तुङ्गशृङ्गावरोहक्षितौ हेमरेणूत्करासङ्गद्युतिं खेचराणां वनाधायिनि
रम्ये बहुरूपसम्पत्प्रकरे गणान्वासितं मन्दरकन्दरे सुन्दरमन्दारपुष्पप्रवालाम्बुजे ॥ ५६८ ॥
सिद्धनारीभिरापीतरूपामृतं विस्तृतैर्नेत्रपात्रैरनुन्मेषिभिर्वीरकं
शैलपुत्री निमेषान्तरादस्मरत्पुत्रगृघ्नी विनोदार्थिनी ॥ ५६९ ॥
सोऽपि नादृक्क्षणावाप्तपुण्योदयो योऽपि जन्मान्तरस्यात्मजत्वं गतः
क्रीडतस्तस्य तृप्तिः कथं जायते योऽपि भाविजगद्वेधसा तेजसः कल्पितः
प्रतिक्षणं दिव्यगीतक्षणो नृत्यलोलो गणेशैः प्रणतः ॥ ५७० ॥
क्षणं सिंहनादाकुले गण्डशैले स्रजद्रत्नजाले बृहत्सालताले।
क्षणं फुल्लनानातमालालिकाले क्षणं वृक्षमूले विलोलो मराले ॥ ५७१ ॥
क्षणे स्वल्पपङ्के जले पङ्कजाढ्ये क्षणं मातुरङ्के शुभे निष्कलङ्के।
परिक्रीडते बाललीलाविहारी गणेशाधिपो देवतानन्दकारी
निकुञ्जेषु विद्याधरैर्गीतशीलः पिनाकीव लीलाविलासैः सलीलः ॥ ५७२ ॥

वीरकके इस प्रकार कहनेपर देवताओंने उनसे कहा—'वीरक ! तुम्हें इस प्रकार लोकपालोंके चित्तका अनुगमन नहीं करना चाहिये।' फिर लक्षणादेवी देवाधिदेव महादेवके अनुचर वीरकसे बोलीं—'तुमलोग प्राणियोंकी रक्षा करते हुए वन, पर्वत, निर्झर और अग्नियुक्त स्थानोंपर विचरण करते हुए झरनोंके जल-प्रवाहमें मज्जन करो, पुष्पोंसे सुसज्जित भवनोंमें शयन करो और ऊँचे-ऊँचे विभिन्न पर्वतोंके कुँओंमें स्वेच्छानुसार झंझावातके अव्यक्त शब्दका अनुकरण करते हुए गर्जना करो। विनोदकी अभिलाषावाली पुत्रप्रेमी पार्वती ऊँचे स्वर्णमय शिखरोंकी ढाल भूमिसे युक्त, आकाशचारियोंकी रमणीय वनस्थलीरूप, अनेकों प्रकारकी सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण तथा सुन्दर मन्दारपुष्प, प्रवाल और कमल-पुष्पोंसे सुशोभित मन्दराचलके खोहोंमें खेलते

वीरकको जिसकी अङ्गकान्ति सुवर्णकी रेणु-सरीखी थी, सिद्धोंकी स्त्रियाँ जिसके रूपामृतका पान कर रही थीं और जो गणोंके साथ विराजमान था, क्षण-क्षणपर निमेष-रहित विस्फारित नेत्रोंसे देखती हुई स्मरण करती रहती थीं। वीरकका भी उस समय जन्मान्तरका पुण्य उदय हो गया था, जिससे वह पार्वतीका पुत्र हो गया। ऐसी दशामें उसे खेलसे तृप्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? वह जगत्कर्ता ब्रह्माद्वारा तेजके भावी अंशसे कल्पित किया गया था। वह प्रतिक्षण दिव्य गीतोंको सुनता था और स्वयं भी चञ्चलतापूर्वक नृत्य करता था। गणेश्वर उसके सामने नतमस्तक रहते थे। वह चञ्चलतापूर्वक किसी क्षण सिंहनादसे व्याप्त, रत्नसमूहोंकी खानवाले तथा बड़े-बड़े साल और ताड़के वृक्षोंसे सुशोभित पर्वत-शिखरपर, किसी क्षण खिले हुए बहुत-से तमाल वृक्षोंसे युक्त होनेके कारण काले दीखनेवाले वनोंमें, किसी क्षण राजहंसपर चढ़कर, किसी क्षण कमलसे भरे हुए थोड़े कीचड़ और जलवाले सरोवरमें तथा किसी क्षण माताकी निष्कलंक सुन्दर गोदमें बैठकर क्रीडा करता था। इस प्रकार देवताओंको आनन्द प्रदान करनेवाला एवं गणेश्वरोंका भी अधिपति वह बाललीलाविहारी वीरक निकुञ्जोंमें विद्याधरोंके साथ गान करता और शंकरजीकी तरह लीलाविलाससे युक्त हो क्रीडा करता था ॥ ५६६—५७२ ॥

प्रकाश्य भुवनाभोगी ततो दिनकरे गते। देशान्तरं तदा पश्चाद् दूरमस्तावनीधरम् ॥ ५७३ ॥
उदयास्ते पुरो भावी यो हि चास्तेऽवनीधरः। मित्रत्वमस्य सुदृढं हृदये परिचिन्त्यताम् ॥ ५७४ ॥
नित्यमाराधितः श्रीमान् पृथुमूलः समुन्नतः। नाकरात् सेवितुं मेरुरुपहारं पतिष्यतः ॥ ५७५ ॥
जलेऽप्येषा व्यवस्थेति संशयेताखिलं बुधः। दिनान्तानुगतो भानुः स्वजनत्वमपूरयत् ॥ ५७६ ॥
संध्यावद्धाञ्जलिपुटा मुनयोऽभिमुखा रविम्। याचन्त्यागमनं शीघ्रं निवार्यात्मनि भाविताम् ॥ ५७७ ॥
व्यजृम्भदथ लोकेऽस्मिन् क्रमाद् वैभावरं तमः। कुटिलस्येव हृदये कालुष्यं दूषयन्मनः ॥ ५७८ ॥

तदनन्तर भगवान् सूर्य सारे भुवनोंको प्रकाशित करनेके पश्चात् सायंकाल अस्ताचलकी ओर प्रस्थित हुए। उदयाचल और अस्ताचल—ये दोनों पर्वत पूर्वकालकी निश्चित योजनाके अनुसार स्थित हैं। इनमें सूर्यकी अस्ताचलके साथ सुदृढ़ मित्रता है—ऐसा विचारकर नित्य सूर्यद्वारा आराधित, शोभाशाली, स्थूल मूल भागवाले एवं समुन्नत मेरुने गिरते हुए सूर्यकी सेवा करनेके लिये कोई उपहार नहीं समर्पित किया। जलमें भी यही व्यवस्था है—इन सभी विषयोंपर बुद्धिमान् पुरुष संशय करेंगे। दिनके अवसानका अनुगमन करनेवाले सूर्यने अपनत्वकी पूर्ति की। संध्याके समय हाथ जोड़े हुए मुनिगण सूर्यके सम्मुख उपस्थित हो आत्मामें उत्पन्न हुई (विछोहकी) भावनाको रोककर पुनः शीघ्र ही आगमनकी याचना कर रहे हैं। इस प्रकार सूर्यके अस्त हो जानेपर सारे जगत्में रात्रिका अन्धकार क्रमशः उसी प्रकार बढ़ने लगा, जैसे कुटिल मनुष्यके हृदयमें पाप मनको दूषित करते हुए फैल जाता है ॥ ५७३—५७८ ॥

ज्वलत्फणिफणारत्नदीपोद्योतितभित्तिके। शयनं शशिसङ्घातशुभ्रवस्त्रोत्तरच्छदम् ॥ ५७९ ॥
नानारत्नद्युतिलसच्छक्रचापविडम्बकम्। रत्नकिङ्किणिकाजालं लम्बमुक्ताकलापकम् ॥ ५८० ॥
कमनीयचलल्लोलवितानाच्छादिताम्बरम्। मन्दिरे मन्दसञ्चारः शनैर्गिरिसुतायुतः ॥ ५८१ ॥
तस्थौ गिरिसुतावाहुलतामीलितकन्धरः। शशिमौलिसितज्योत्स्नाशुचिपूरितगोचरः ॥ ५८२ ॥
गिरिजाप्यसितापाङ्गी नीलोत्पलदलच्छविः।
विभावर्या च सम्पृक्ता बभूवातितमोमयी। तामुवाच ततो देवः क्रीडाकेलिकलायुतम् ॥ ५८३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे कुमारसम्भवे चतुःपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

तत्पश्चात् जिसकी दीवालें प्रभापूर्ण सर्पोंकी मणि-रूपी दीपकोंसे उद्भासित हो रही थीं, ऐसे भवनमें शय्या बिछी थी, जिसपर चाँदनीकी राशि-जैसी उज्ज्वल चादर बिछी थी, नाना प्रकारके रत्नोंकी कान्तिसे सुशोभित होनेके कारण वह इन्द्रधनुषकी विडम्बना कर रही थी, उसमें रत्ननिर्मित क्षुद्रघण्टिकाएँ तथा मोतियोंकी लम्बी-लम्बी झालरें लटक रही थीं और उसका ऊपरी भाग हिलते हुए कमनीय वितानसे आच्छादित था, ऐसी शय्यापर मन्दगतिसे चलते हुए भगवान् शंकर पार्वतीके साथ विराजमान हुए। उस समय उनका कंधा पार्वतीकी भुजलतासे संयुक्त था। चन्द्रभूषणकी उज्ज्वल एवं निर्मल प्रभा सर्वत्र फैल रही थी। कजराले नेत्रोंवाली गिरिजाकी भी छवि नीले कमल-दलके समान थी। रात्रिसे संयुक्त होनेके कारण वे विशेष रूपसे तमोमयी दीख रही थीं। उस समय भगवान् शंकर पार्वतीसे क्रीडाकेलिकी कलासे युक्त वचन बोले॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके कुमारसम्भवमें एक सौ चौवनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १५४॥

एक सौ पचपनवाँ अध्याय

भगवान् शिवद्वारा पार्वतीके वर्णपर आक्षेप, पार्वतीका वीरकको अन्तःपुरका रक्षक नियुक्त कर पुनः तपश्चर्याके लिये प्रस्थान

शर्व उवाच

शरीरे मम तन्वङ्गि सिते भास्यसितद्युतिः। भुजङ्गीवासिता शुद्धा संश्लिष्टा चन्दने तरौ॥ १॥
चन्द्रातपेन सम्पृक्ता रुचिराम्बरया तथा। रजनीवासिते पक्षे दृष्टिदोषं ददासि मे॥ २॥
इत्युक्ता गिरिजा तेन मुक्तकण्ठा पिनाकिना। उवाच कोपरक्ताक्षी भ्रुकुटीकुटिलानना॥ ३॥

शिवजीने (विवाहके बाद एक बार पार्वतीसे) कहा—कृशाङ्गी पार्वति! कृष्ण कान्तिसे युक्त तुम मेरे श्वेत शरीरमें लिपटनेपर चन्दन-वृक्षमें लिपटी हुई सीधी काली नागिन-जैसी दीखती हो। तुम कृष्णपक्षमें चाँदनीके पीछे काले आकाश तथा अँधेरी रात्रिकी तरह मेरी दृष्टिको दूषित कर रही हो। भगवान् शंकरद्वारा इस प्रकार कही जानेपर पार्वती उनके गलेसे अलग हो गयीं। क्रोधके कारण उनके नेत्र लाल हो गये। तब वे मुख और भौंहोंको टेढ़ी करके बोलीं॥ १—३॥

देव्युवाच

स्वकृतेन जनः सर्वो जाड्येन परिभूयते। अवश्यमर्थी प्राप्नोति खण्डनं शशिमण्डन॥ ४॥
तपोभिर्दीर्घचरितैर्यच्च प्रार्थितवत्यहम्। तस्या मे नियतस्त्वेष ह्यवमानः पदे पदे॥ ५॥
नैवास्मि कुटिला शर्व विषमा नैव धूर्जटे। सविषस्त्वं गतः ख्यातिं व्यक्तं दोषाकराश्रयः॥ ६॥
नाहं पूष्णोऽपि दशना नेत्रे चास्मि भगस्य हि। आदित्यश्च विजानाति भगवान् द्वादशात्मकः॥ ७॥
मूर्ध्नि शूलं जनयसि स्वैर्दोषैर्मामधिक्षिपन्। यत्त्वं मामाह कृष्णेति महाकालेति विश्रुतः॥ ८॥
यास्याम्यहं परित्यक्त्वा चात्मानं तपसा गिरिम्। जीवन्त्या नास्ति मे कृत्यं धूर्तेन परिभूतया॥ ९॥
निशम्य तस्या वचनं कोपतीक्ष्णाक्षरं भवः। उवाचाधिकसम्भ्रान्तिप्रणयोन्मिश्रया गिरा॥ १०॥

देवीने कहा—चन्द्रभूषण! सभी लोग अपनेद्वारा की गयी मूर्खताका दुष्परिणाम भोगते हैं। स्वार्थी मनुष्य जनसमाजमें अवश्य ही अपमानित होता है। दीर्घकालिक तपस्याद्वारा मैंने जिस मनोरथकी प्रार्थना की थी, उसीके परिणामस्वरूप मुझे यह पग-पगपर तिरस्कार प्राप्त हो रहा है। जटाधारी शंकर! (आपके

कथनानुसार) न तो मैं कुटिल हूँ और न विषम ही हूँ, अपितु आप स्वयं स्पष्टरूपसे विषयुक्त अर्थात् विषयी और दोषोंके समूह (अथवा चन्द्रमा) के आश्रयरूपसे प्रसिद्ध हैं। मैं पूषाके दाँत और भगके नेत्र भी नहीं हूँ। बारह भागोंमें विभक्त भगवान् सूर्य मुझे भलीभाँति जानते हैं। अपने दोषोंद्वारा मुझपर आक्षेप करते हुए आप मेरे सिरमें पीड़ा उत्पन्न कर रहे हैं। आपने मुझे जो 'कृष्णा' नामसे सम्बोधित किया है सो आप भी तो 'महाकाल' नामसे विख्यात हैं। अतः अब मैं जीवनका मोह त्यागकर तपस्या करनेके लिये पर्वतपर जाऊँगी; क्योंकि आप-जैसे धूर्तसे अपमानित होकर जीवित रहनेसे मैं अपना कोई प्रयोजन नहीं समझ रही हूँ। तब पार्वतीके इस प्रकार क्रोधके कारण तीखे अक्षरोंसे युक्त वचनको सुनकर भगवान् शंकर अतिशय प्रेमसे सनी हुई वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ ४-१० ॥

शर्व उवाच

अगात्मजासि गिरिजे नाहं निन्दापरस्तव । त्वद्भक्तिबुद्ध्या कृतवांस्तवाहं नामसंश्रयम् ॥ ११ ॥
विकल्पः स्वस्थचित्तेऽपि गिरिजे नैव कल्पना । यद्येवं कुपिता भीरु त्वं तवाहं न वै पुनः ॥ १२ ॥
नर्मवादी भविष्यामि जहि कोपं शुचिस्मिते । शिरसा प्रणतश्चाहं रचितस्ते मयाञ्जलिः ॥ १३ ॥
स्नेहेनावमानेन निन्दितेनेति विक्रियाम् । तस्मान्न जातु रुष्टस्य नर्मस्पृष्टो जनः किल ॥ १४ ॥
अनेकैश्चाटुभिर्देवी देवेन प्रतिबोधिता । कोपं तीव्रं न तत्याज सती मर्मणि घट्टिता ॥ १५ ॥
अवष्टब्धमथास्फाल्य चासः शङ्करपाणिना । विपर्यस्तालका वेगाद्यातुमैच्छत शैलजा ॥ १६ ॥
तस्या व्रजन्त्याः कोपेन पुनराह पुरान्तकः । सत्यं सर्वैरवयवैः सुतासि सदृशी पितुः ॥ १७ ॥
हिमाचलस्य शृङ्गैस्तैर्मेघजालाकुलैर्नभः । तथा दुरवगाहेभ्यो हृदयेभ्यस्तवाशयः ॥ १८ ॥
काठिन्याङ्कस्त्वमसभ्यं वनेभ्यो बहुधा गता ।
कुटिलत्वं च वर्त्मभ्यो दुःसेव्यत्वं हिमादपि । संक्रान्ति सर्वमेवैतत् तन्वङ्गि हिमभूधरात् ॥ १९ ॥
इत्युक्ता सा पुनः प्राह गिरिशं शैलजा तदा । कम्पकम्पितमूर्धा च प्रस्फुरद्दशनच्छदा ॥ २० ॥

शंकरजीने कहा—गिरिजे ! तुम पर्वतकी पुत्री हो, अतः मैं तुम्हारी निन्दा करनेपर उतारू नहीं हूँ। यह तो मैंने तुम्हारे ऊपर भक्तिपूर्ण बुद्धिसे तुम्हारे नामका कारण बतलाया है। गिरिजे ! मेरे स्वस्थ चित्तमें भी तुम्हें विकल्पकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। भीरु ! यदि तुम इस प्रकार कुपित हो गयी हो तो अब मैं पुनः तुम्हारे साथ परिहासकी बात नहीं करूँगा। शुचिस्मिते ! तुम क्रोध छोड़ दो। देखो, मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़कर सिर झुकाये हूँ। जो प्रेमयुक्त अवमानना तथा व्याजनिन्दासे क्रुद्ध हो जाता है, उस व्यक्तिके साथ कभी भी परिहासकी बात नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार महादेवजीने अनेकों चाटुकारिताभरी बातोंसे पार्वतीको समझाया, परंतु सतीका वह उत्कट क्रोध शान्त नहीं हुआ; क्योंकि उस व्यङ्गसे उनका मर्मस्थल विद्ध हो गया था। तत्पश्चात् पार्वती शंकरजीके हाथसे पकड़े हुए अपने वस्त्रको छुड़ाकर बाल बिखेरे हुए वेगपूर्वक वहाँसे चली जानेकी चेष्टा करने लगीं। क्रोधावेशसे जानेके लिये उद्यत हुई पार्वतीसे त्रिपुरारिने पुनः कहा—'तुम सचमुच ही सभी अवयवोंद्वारा अपने पिताके सदृश उनकी कन्या हो। जैसे हिमाचलके मेघसमूहसे व्याप्त ऊँचे शिखरोंके कारण आकाश दुर्गम्य हो जाता है, उसी तरह तुम्हारा हृदय भी दुःखगाह्य हृदयोंसे भी अत्यन्त कठोर है। तुम्हारे सभी चिह्न बहुधा वनोंकी अपेक्षा कठिनतासे परिपूर्ण हैं। तुम्हारी चालमें पहाड़ी मार्गोंसे भी बढ़कर कुटिलता है। तुम्हारा सेवन बर्फसे भी अधिक कठिन है। सूक्ष्माङ्गी पार्वती ! ये सभी गुण तुम्हारे शरीरमें हिमाचलसे ही संक्रमित हुए हैं।' शिवजीद्वारा इस प्रकार कही जानेपर पार्वतीका मस्तक क्रोधके कारण काँपने लगा और होंठ फड़कने लगे। तब वे पुनः शंकरजीसे बोलीं ॥ ११-२० ॥

उमोवाच

मा सर्वान् दोषदानेन निन्दान्यान् गुणिनो जनान् । तवापि दुष्टसम्पर्कात्संक्रान्तं सर्वमेव हि ॥ २१ ॥
व्यालेभ्योऽधिकजिह्मत्वं भस्मना स्नेहवन्धनम् । हृत्कालुष्यं शशाङ्कात्तु दुर्बोधित्वं वृषादपि ॥ २२ ॥
तथा वहु किमुक्तेन अलं वाचा श्रमेण ते । श्मशानवासान्निर्भीस्त्वं नग्नत्वान्न तव त्रपा ॥ २३ ॥
निर्घृणत्वं कपालित्वाद् दया ते विगता चिरम् । इत्युक्त्वा मन्दिरात् तस्मान्निर्जगाम हिमाद्रिजा ॥ २४ ॥
तस्यां व्रजन्त्यां देवेशगणैः किलकिलो ध्वनिः । क्व मातर्गच्छसि त्यक्त्वा रुदन्तो धाविताः पुनः ॥ २५ ॥
विष्टभ्य चरणौ देव्या वीरको बाष्पगद्गदम् । प्रोवाच मातः किंत्वेतत्क्व यासि कुपितान्तरा ॥ २६ ॥
अहं त्वामनुयास्यामि व्रजन्तीं स्नेहवर्जिताम् । नो चेत् पतिष्ये शिखरात् तपोनिष्ठे त्वयोज्झितः ॥ २७ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आप अन्यान्य सभी गुणीजनोंमें दोष लगाकर उनकी निन्दा मत करें; क्योंकि आपमें भी तो सभी गुण दुष्टोंके संसर्गसे ही प्रविष्ट हुए हैं । आपमें सर्पोंके सम्पर्कसे अधिक टेढ़ापन, भस्मसे प्रेमहीनता, चन्द्रमासे हृदयकी कालिमा और वृषसे दुर्बोधता भर गयी है । आपके विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? वह तो केवल वचनका परिश्रम ही होगा । आप श्मशानमें निवास करनेके कारण निर्भीक हो गये हैं । नग्न रहनेके कारण आपमें लज्जा रह नहीं गयी है । कपाली होनेके कारण आप निर्मम हो गये हैं और आपकी दया तो चिरकालसे नष्ट हो गयी है । ऐसा कहकर पार्वती उस भवनसे बाहर निकल गयीं । उनको इस प्रकार जाती देखकर देवेशके गण (प्रमथ) किलकारी मारकर रोते हुए उनके पीछे दौड़े और कहने लगे—'माँ ! हमलोगोंको छोड़कर आप कहाँ जा रही हैं ?' तत्पश्चात् वीरक देवीके दोनों चरणोंको पकड़कर बाष्पगद्गद वाणीमें बोला— 'माँ ! यह क्या हो गया ? आप क्रुद्ध होकर कहाँ जा रही हैं ? तपोनिष्ठे ! इस प्रकार स्नेह छोड़कर जाती हुई आपके पीछे मैं भी चलूँगा, अन्यथा आपके त्याग देनेपर मैं पर्वतशिखरसे कूदकर प्राण दे दूँगा' ॥ २१–२७ ॥

उन्नाम्य वदनं देवी दक्षिणेन तु पाणिना । उवाच वीरकं माता शोकं पुत्रक मा कृथाः ॥ २८ ॥
शैलाग्रात् पतितुं नैव न चागन्तुं मया सह । युक्तं ते पुत्र वक्ष्यामि येन कार्येण तच्छृणु ॥ २९ ॥
कृष्णेत्युक्त्वा हरेणाहं निन्दिता चाप्यनिन्दिता । साहं तपः करिष्यामि येन गौरीत्वमाप्नुयाम् ॥ ३० ॥
एष स्त्रीलम्पटो देवो यातायां मय्यनन्तरम् । द्वाररक्षा त्वया कार्या नित्यं रन्ध्रान्ववेक्षिणा ॥ ३१ ॥
यथा न काचित् प्रविशेद्योषिदत्र हरान्तिकम् । दृष्ट्वा परां स्त्रियं चात्र वदेथा मम पुत्रक ॥ ३२ ॥
शीघ्रमेव करिष्यामि यथायुक्तमनन्तरम् । एवमस्त्विति देवीं स वीरकः प्राह साम्प्रतम् ॥ ३३ ॥
मातुराज्ञामृताह्लादप्लाविताङ्गो गतज्वरः । जगाम कक्ष्यां संद्रष्टुं प्रणिपत्य च मातरम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे कुमारसम्भवे देव्यास्तपोऽनुगमनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

तदनन्तर माता पार्वती अपने दाहिने हाथसे वीरकके मुखको ऊपर उठाकर बोलीं—'बेटा ! शोक मत करो । तुम्हारा पर्वतशिखरसे कूदना या मेरे साथ चलना उचित नहीं है । पुत्र ! मैं जिस कार्यसे जा रही हूँ, वह तुम्हें बतला रही हूँ, सुनो । मेरे अनिन्द्य होनेपर भी शंकरजीने मुझे 'कृष्णा' कहकर मेरी निन्दा की है । इसलिये अब मैं तपस्या करूँगी, जिससे गौर वर्णकी प्राप्ति कर सकूँ । मेरे चले जानेके बाद ये महादेव स्त्रीलम्पट न हो जायँ, इसके लिये तुम्हें सभी छिद्रोंपर दृष्टि रखते हुए नित्य द्वारकी रक्षा करनी चाहिये, जिससे यहाँ कोई स्त्री शंकरजीके निकट प्रवेश न करने पावे । बेटा ! यहाँ किसी परायी स्त्रीको देखकर मुझे तुरंत सूचित करना । फिर उसके बाद जैसा उचित होगा, मैं शीघ्र ही उपाय कर लूँगी ।' इसपर वीरकने

देवीसे कहा—'माँ ! ऐसा ही होगा।' इस प्रकार माताकी आज्ञारूपी अमृतके आह्लादसे आप्लावित अङ्गोंवाला वीरक शोकरहित हो माताके चरणोंमें प्रणाम कर अन्तःपुरकी रखवाली करनेके लिये चला गया ॥ २८-३४ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके कुमारसम्भव-प्रसङ्गमें देवीका तपके लिये अनुगमन नामक एक सौ पचपनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १५५ ॥

एक सौ छप्पनवाँ अध्याय

कुसुमामोदिनी और पार्वतीकी गुप्त मन्त्रणा, पार्वतीका तपस्यामें निरत होना, आडि दैत्यका पार्वती-रूपमें शंकरके पास जाना और मृत्युको प्राप्त होना तथा पार्वतीद्वारा वीरकको शाप

सूत उवाच

देवीं सापश्यदायान्तीं सखीं मातुर्विभूषिताम्। कुसुमामोदिनीं नाम तस्य शैलस्य देवताम् ॥ १ ॥
सापि दृष्ट्वा गिरिसुतां स्नेहविक्लवमानसा। क्व पुत्रि गच्छसीत्युच्चैरालिङ्ग्योवाच देवता ॥ २ ॥
सा चास्यै सर्वमाचख्यौ शंकरात्कोपकारणम्। पुनश्चोवाच गिरिजा देवतां मातृसम्मताम् ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! आगे बढ़नेपर पार्वतीने शृङ्गारसे विभूषित कुसुमामोदिनी (देवी)को आते देखा, जो पार्वतीकी माता मेनाकी सखी और पर्वतराजकी प्रधान देवता थीं। उधर पार्वतीको देखकर कुसुमामोदिनीका भी मन स्नेहसे व्याकुल हो उठा। तब उन देवताने पार्वतीका आलिङ्गन कर उच्चस्वरसे पूछा—'बेटी ! कहाँ जा रही हो ?' तत्पश्चात् गिरिजाने उन देवीसे शंकरजीके प्रति उत्पन्न हुए अपने क्रोधके सारे कारणोंका वर्णन किया और फिर मातृ-तुल्य हितैषिणी देवतासे इस प्रकार कहा ॥ १-३ ॥

उमोवाच

नित्यं शैलाधिराजस्य देवता त्वमनिन्दिते। सर्वतः संनिधानं ते मम चातीव वत्सला ॥ ४ ॥
अतस्तु ते प्रवक्ष्यामि यद्विधेयं तदा धिया। अन्यस्त्रीसम्प्रवेशस्तु त्वया रक्ष्यः प्रयत्नतः ॥ ५ ॥
रहस्यत्र प्रयत्नेन चेतसा सततं गिरौ। पिनाकिनः प्रविष्टायां वक्तव्यं मे त्वयानघे ॥ ६ ॥
ततोऽहं संविधास्यामि यत्कृत्यं तदनन्तरम्। इत्युक्ता सा तथेत्युक्त्वा जगाम स्वगिरिं शुभम् ॥ ७ ॥
उमापि पितुरुद्यानं जगामाद्रिसुता द्रुतम्। अन्तरिक्षं समाविश्य मेघमालामिव प्रभा ॥ ८ ॥
ततो विभूषणान्यस्य वृक्षवल्कलधारिणी। ग्रीष्मे पञ्चाग्निसंतप्ता वर्षासु च जलोषिता ॥ ९ ॥
वन्याहारा निराहारा शुष्का स्थण्डिलशायिनी। एवं साधयती तत्र तपसा संव्यवस्थिता ॥ १० ॥

उमा बोली—अनिन्दिते ! आप मेरे पिता पर्वतराज हिमाचलकी देवता हैं, अतः आपका यहाँ नित्य निवास है। साथ ही मुझपर भी आपका अत्यन्त स्नेह है, इसलिये इस समय जो कार्य करना है, उसे मैं आपके ध्यानमें ला रही हूँ। आपको इस पर्वतपर सावधान-चित्तसे निरन्तर प्रयत्नपूर्वक ऐसी देखभाल करनी चाहिये कि यहाँ शिवजीके पास एकान्तमें कोई अन्य स्त्री प्रवेश न करने पाये। अनघे ! यदि कोई स्त्री शंकरजीके पास प्रवेश करती है तो आपको मुझे तुरंत उसकी सूचना देनी चाहिये। उसके बाद जो कुछ करना होगा, उसका विधान मैं कर लूँगी। ऐसा कहे जानेपर वे 'तथेति—ऐसा ही करूँगी' यों कहकर अपने मङ्गलमय पर्वतकी ओर चली गयीं। इधर गिरिराजकुमारी उमा भी तुरंत ही मेघसमूहमें

चमकती हुई बिजलीकी तरह आकाशमार्गसे अपने पिताके उद्यानमें जा पहुँचीं। वहाँ उन्होंने आभूषणोंका परित्याग कर वृक्षोंका वल्कल धारण कर लिया। वे ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्नि तपती थीं, वर्षाऋतुमें जलमें निवास करती थीं और जाड़ेमें शुष्क बंजरभूमिपर शयन करती थीं। वनके फल-मूल ही उनके आहार थे तथा वे कभी-कभी निराहार ही रह जाती थीं। इस प्रकार साधना करती हुई वे वहाँ तपस्यामें संलग्न हो गयीं ॥४-१०॥

ज्ञात्वा तु तां गिरिसुतां दैत्यस्तत्रान्तरे बली। अन्धकस्य सुतो दृप्तः पितुर्वधमनुस्मरन् ॥ ११ ॥
देवान् सर्वान् विजित्याजौ बकभ्राता रणोत्कटः। आडिर्नामान्तरप्रेक्षी सततं चन्द्रमौलिनः ॥ १२ ॥
आजगामामररिपुः पुरं त्रिपुरघातिनः। स तत्रागत्य ददृशे वीरकं द्वार्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
विचिन्त्यासीद्वरं दत्तं स पुरा पद्मजन्मना। हते तदान्धके दैत्ये गिरिशेनामरद्विषि ॥ १४ ॥
आडिश्चकार विपुलं तपः परमदारुणम्। तमागत्याब्रवीद् ब्रह्मा तपसा परितोषितः ॥ १५ ॥
किमाडे दानवश्रेष्ठ तपसा प्राप्तुमिच्छसि। ब्रह्माणमाह दैत्यस्तु निर्मृत्युत्वमहं वृणे ॥ १६ ॥

इसी बीच अन्धकासुरका पुत्र एवं बकासुरका भ्राता आडि नामक दैत्य, जो बलवान्, घमंडी, रणमें दुःसह, देवताओंका शत्रु और निरन्तर शंकरजीके छिद्रान्वेषणमें निरत रहनेवाला था, पार्वतीको तपस्यामें संलग्न जानकर अपने पिताके वधका अनुस्मरण करते हुए युद्धस्थलमें सभी देवताओंको पराजित कर त्रिपुरहन्ता शंकरजीके नगरमें आ धमका। वहाँ आकर उसने वीरकको द्वारपर स्थित देखा। तब वह पूर्वकालमें ब्रह्माद्वारा दिये गये अपने वरदानके विषयमें सोच-विचार करने लगा। शंकरजीद्वारा देवद्रोही अन्धक दैत्यके मारे जानेपर आडिने बहुत दिनोंतक परम कठोर तप किया था। तब उसकी तपस्यासे संतुष्ट हो ब्रह्माने उसके निकट आकर कहा था—'दानवश्रेष्ठ आडि! तुम तपस्याद्वारा क्या प्राप्त करना चाहते हो?' तब उस दैत्यने ब्रह्मासे कहा था—'प्रभो! मैं अमरताका वरदान चाहता हूँ' ॥११—१६॥

ब्रह्मोवाच

न कश्चिच्च विना मृत्युं नरो दानव विद्यते। यतस्ततोऽपि दैत्येन्द्र मृत्युः प्राप्यः शरीरिणा ॥ १७ ॥
इत्युक्तो दैत्यसिंहस्तु प्रोवाचाम्बुजसम्भवम्। रूपस्य परिवर्तो मे यदा स्यात्पद्मसम्भव ॥ १८ ॥
तदा मृत्युर्मम भवेदन्यथा त्वमरो ह्यहम्। इत्युक्तस्तु तदोवाच तुष्टः कमलसम्भवः ॥ १९ ॥
यदा द्वितीयो रूपस्य विवर्तस्ते भविष्यति। तदा ते भविता मृत्युरन्यथा न भविष्यति ॥ २० ॥
इत्युक्तोऽमरतां मेने दैत्यसूनुर्महाबलः। तस्मिन् काले तु संस्मृत्य तद्वधोपायमात्मनः ॥ २१ ॥
परिहर्तुं दृष्टिपथं वीरकस्याभवत्तदा। भुजङ्गरूपी रन्ध्रेण प्रविवेश दृशः पथम् ॥ २२ ॥
परिहृत्य गणेशस्य दानवोऽसौ सुदुर्जयः। अलक्षितो गणेशेन प्रविष्टोऽथ पुरान्तकम् ॥ २३ ॥
भुजङ्गरूपं संत्यज्य बभूवाथ महासुरः। उमारूपी च्छलयितुं गिरिशं मूढचेतनः ॥ २४ ॥
कृत्वा मायां ततो रूपमप्रतर्क्यमनोहरम्। सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वाभिज्ञानसंवृतम् ॥ २५ ॥
कृत्वा मुखान्तरे दन्तान् दैत्यो वज्रोपमान् दृढान्। तीक्ष्णाग्रान् बुद्धिमोहेन गिरिशं हन्तुमुद्यतः ॥ २६ ॥

तब ब्रह्माने कहा था—दानव! इस सृष्टिमें कोई भी मनुष्य मृत्युसे रहित नहीं है। दैत्येन्द्र! शरीरधारीको किसी-न-किसी प्रकारसे मृत्यु प्राप्त होती ही है। ऐसा कहे जानेपर दैत्यसिंह आडिने पद्मयोनि ब्रह्मासे कहा था—'पद्मसम्भव! जब मेरे रूपका परिवर्तन हो जाय तभी मेरी मृत्यु हो, अन्यथा मैं अमर बना रहूँ।' उसके द्वारा ऐसा कहे जानेपर उस समय कमलयोनि ब्रह्माने प्रसन्न होकर उससे कहा था कि 'ठीक है, जब तुम्हारे रूपका दूसरा परिवर्तन होगा, तभी तुम्हारी मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं होगी।' ब्रह्माद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर

वह महाबली दैत्यपुत्र आडि अपनेको अमर मानने लगा। उस समय उसने अपनी मृत्युके उस उपायका स्मरणकर वीरकके दृष्टिमार्गको बचानेके लिये सर्पका रूप धारण कर लिया और एक बिलमें प्रविष्ट हो गया। फिर वह परम दुर्जय दानव गणेश्वर वीरकके दृष्टिपथको बचाकर उनसे अलक्षितरूपसे भगवान् शंकरके पास पहुँच गया। तदनन्तर उस मोहित चित्तवाले महासुर आडिने शंकरजीको छलनेके लिये सर्पका रूप त्यागकर उमाका रूप धारण कर लिया। उसने मायाका आश्रय लेकर पार्वतीके ऐसे अकल्पनीय एवं मनोहर रूपका निर्माण किया था, जो सभी अवयवोंसे परिपूर्ण तथा सभी लक्षणोंसे युक्त था। फिर वह दैत्य मुखके भीतर वज्रके समान सुदृढ और तीखे अग्रभागवाले दाँतोंका निर्माण कर मूर्खतावश शंकरजीका वध करनेके लिये उद्यत हुआ॥

कृत्वोमारूपसंस्थानं गतो दैत्यो हरान्तिकम्। पापो रम्याकृतिश्चित्रभूषणाम्बरभूषितः॥ २७॥
तं दृष्ट्वा गिरिशस्तुष्टस्तदाऽऽलिङ्ग्य महासुरम्। मन्यमानो गिरिसुतां सर्वैरवयवान्तरैः॥ २८॥
अपृच्छत् साधु ते भावो गिरिपुत्रि न कृत्रिमः। या त्वं मदाशयं ज्ञात्वा प्राप्तेह वरवर्णिनि॥ २९॥
त्वया विरहितं शून्यं मन्यमानो जगत्त्रयम्। प्राप्ता प्रसन्नवदना युक्तमेवंविधं त्वयि॥ ३०॥
इत्युक्तो दानवेन्द्रस्तु तदाभाषत् स्मयञ्शनैः। न चाबुध्यदभिज्ञानं प्रायस्त्रिपुरघातिनः॥ ३१॥

तदनन्तर वह पापी दैत्य सुन्दर रूप एवं चित्र-विचित्र आभूषणों और वस्त्रोंसे विभूषित हो उमाका रूप धारण कर शंकरजीके निकट गया। उसे देखकर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। तब उन्होंने उस महासुरको सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे पार्वती मानते हुए उसका आलिङ्गन करके पूछा—'गिरिजे! अब तो मेरे प्रति तुम्हारा भाव उत्तम है न? बनावटी तो नहीं है? सुन्दरि! (ऐसा प्रतीत होता है कि) तुम मेरे अभिप्रायको जानकर ही यहाँ आयी हो; क्योंकि तुम्हारे बिना मैं त्रिलोकीको सूना-सा मान रहा था। अब जो तुम प्रसन्नतापूर्वक यहाँ आ गयी हो, तुम्हारे लिये ऐसा करना उचित ही है।' इस प्रकार कहे जानेपर दानवेन्द्र आडि मुसकराते हुए धीरे-धीरे बोला। वह त्रिपुरहन्ता शंकरजीद्वारा पार्वतीके शरीरमें लक्षित किये गये चिह्नको प्रायः नहीं जानता था॥ २७—३१॥

देव्युवाच

यातास्म्यहं तपश्चर्तुं वाल्लभ्याय तवातुलम्। रतिश्च तत्र मे नाभूत्ततः प्राप्ता त्वदन्तिकम्॥ ३२॥
इत्युक्तः शङ्करः शङ्कां कांचित्प्राप्यावधारयत्। हृदयेन समाधाय देवः प्रहसिताननः॥ ३३॥
कुपिता मयि तन्वङ्गि प्रकृत्या च दृढव्रता। अप्राप्तकामा सम्प्राप्ता किमेतत्संशयो मम॥ ३४॥
इति चिन्त्य हरस्तस्या अभिज्ञानं विचारयन्। नापश्यद्वामपार्श्वे तु तदङ्गे पद्मलक्षणम्॥ ३५॥
लोमावर्तं तु रचितं ततो देवः पिनाकधृक्। अबुध्यद्दानवीं मायामाकारं गूहयंस्ततः॥ ३६॥
मेढ्रे वज्रास्त्रमादाय दानवं तमसूदयत्। अबुध्यद्वीरको नैव दानवेन्द्रं निषूदितम्॥ ३७॥
हरेण सूदितं दृष्ट्वा स्त्रीरूपं दानवेश्वरम्। अपरिच्छिन्नतत्त्वार्था शैलपुत्र्यै न्यवेदयत्॥ ३८॥
दूतेन मारुतेनाशुगामिना नगदेवता।
श्रुत्वा वायुमुखाद्देवी क्रोधरक्तविलोचना। अशपद्वीरकं पुत्रं हृदयेन विदूयता॥ ३९॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे कुमारसम्भवे आडिवधो नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५६॥

देवी (रूपधारी आडि) ने कहा—पतिदेव! आपके अतुलनीय पति-प्रेमकी प्राप्तिके अभिप्रायसे मैं तपस्या करने गयी थी, किंतु उसमें मेरा मन नहीं लगा, अतः पुनः आपके निकट लौट आयी हूँ। उसके ऐसा कहनेपर शंकरजीके मनमें कुछ शङ्का उत्पन्न हो गयी, परंतु उसे उन्होंने हृदयमें ही समाधान करके छिपा

लिया। फिर वे मुसकराते हुए बोले—'सूक्ष्माङ्गि ! तुम तो मुझपर कुपित होकर तपस्या करने गयी थी न ? साथ ही तुम स्वभावसे ही सुदृढ़ प्रतिज्ञावाली हो, फिर बिना मनोरथ सिद्ध किये लौट आयी हो, यह क्या बात है ? इससे तो मुझे संदेह हो रहा है।' ऐसा विचारकर शंकरजी पार्वतीके उस लक्षणका स्मरण करने लगे, जिसे उन्होंने पार्वतीके शरीरके बायें भागमें बालोंको घुमाकर पद्मके रूपमें बनाया था, परंतु वह उन्हें दिखायी न पड़ा।* तब पिनाकधारी महादेवने समझ लिया कि यह दानवी माया है। फिर तो उन्होंने अपने आकारको छिपाते हुए जननेन्द्रियमें वज्रास्त्रको अभिमन्त्रित करके उस दैत्यको मार डाला। इस प्रकार मारे गये दानवेन्द्र आडिकी बात वीरकको नहीं ज्ञात हुई। उधर इसके यथार्थ तत्त्वको न जाननेवाली हिमाचलकी देवता कुसुमामोदिनीने शंकरजीद्वारा स्त्रीरूपधारी दानवेश्वरको मारा गया देखकर अपने शीघ्रगामी दूत वायुद्वारा पार्वतीको इसकी सूचना भेज दी। वायुके मुखसे वह संदेश सुनकर पार्वती देवीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। तब वे दुःखी हृदयसे अपने पुत्र वीरकको शाप देते हुए बोलीं ॥ ३२—३९ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके कुमारसम्भव-प्रसङ्गमें आडिवध नामक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १५६ ॥

एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय

पार्वतीद्वारा वीरकको शाप, ब्रह्माका पार्वती तथा एकानंशाको वरदान, एकानंशाका विन्ध्याचलके लिये प्रस्थान, पार्वतीका भवनद्वारपर पहुँचना और वीरकद्वारा रोका जाना

देव्युवाच

मातरं मां परित्यज्य यस्मात् त्वं स्नेहविक्लवात्। विहितावसरः स्त्रीणां शंकरस्य रहोविधौ ॥ १ ॥
तस्मात् ते परुषा रूक्षा जडा हृदयवर्जिता। गणेश क्षारसदृशी शिला माता भविष्यति ॥ २ ॥
निमित्तमेतद् विख्यातं वीरकस्य शिलोदये। सोऽभवत् क्रमेणैव विचित्राख्यानसंश्रयः ॥ ३ ॥
एवमुत्सृष्टशापाया गिरिपुत्र्यास्त्वनन्तरम्। निर्जगाम मुखात् क्रोधः सिंहरूपी महाबलः ॥ ४ ॥
स तु सिंहः करालास्यो जटाजटिलकन्धरः। प्रोद्धूतलम्बलाङ्गूलो दंष्ट्रोत्कटमुखातटः ॥ ५ ॥
व्यावृत्तास्यो ललज्जिह्वः क्षामकुक्षिश्चिखादिषुः। तस्याशु वर्तितुं देवी व्यवस्यत सती तदा ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा मनोगतं तस्या भगवांश्चतुराननः।
आजगामाश्रमपदं सम्पदामाश्रयं तदा। आगम्योवाच देवेशो गिरिजां स्पष्टया गिरा ॥ ७ ॥

देवीने कहा—गणेश्वर वीरक ! चूँकि तुमने मुझ माताका परित्याग कर स्नेहसे विकल हो शंकरजीके एकान्तमें अन्य स्त्रियोंको प्रवेश करनेका अवसर दिया है, इसलिये अत्यन्त कठोर, स्नेहहीन, मूर्ख, हृदयरहित एवं राख-सदृशी रूखी शिला तुम्हारी माता होगी। वीरकका शिलासे उत्पन्न होनेमें यही कारण विख्यात है। आगे चलकर वही शाप क्रमशः विचित्र कथाओंका आश्रयस्थान बन गया। इस प्रकार पार्वतीके शाप दे देनेके पश्चात् क्रोध उनके मुखसे महाबली सिंहके रूपमें बाहर निकला। उस सिंहका मुख विकराल था, उसका कंधा जटाओंसे आच्छादित था, उसकी लम्बी पूँछ ऊपर उठी हुई थी, उसके मुखके दोनों

* यह महा-सौभाग्यजनक चिह्न है। भगवान् विष्णु तथा अन्य भाग्यशालियोंके शरीरमें ऐसा चिह्न श्रीवत्स नामसे प्रसिद्ध है।

किनारे भयंकर दाढ़ोंसे युक्त थे, वह मुख फैलाये हुए जीभ लपलपा रहा था, उसकी कुक्षि दुबली-पतली थी और वह किसीको खा जानेकी टोहमें था। यह देखकर पार्वतीदेवी शीघ्र ही उसपर आरूढ़ होनेकी चेष्टा करने लगीं। तब उनके मनोगत भावको जानकर भगवान् ब्रह्मा उस आश्रमस्थानपर आये, जो सभी सम्पदाओंका आश्रयस्थान था। वहाँ आकर देवेश्वर ब्रह्मा गिरिजासे स्पष्ट वाणीमें बोले ॥ १–७ ॥

ब्रह्मोवाच

किं पुत्रि प्राप्तुकामासि किमलभ्यं ददामि ते। विरम्यतामतिक्लेशात्तपसोऽस्मान्मदाज्ञया ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वोवाच गिरिजा गुरुं गौरवगर्भितम्। वाक्यं वाचा चिरोद्गीर्णवर्णनिर्णीतवाञ्छितम्॥ ९ ॥

ब्रह्माने कहा—पुत्रि! अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इस अत्यन्त कष्टकर तपस्यासे विरत हो जाओ। बताओ, तुम क्या प्राप्त करना चाहती हो? मै तुम्हें कौन-सी दुर्लभ वस्तु प्रदान करूँ? यह सुनकर गिरिजाने गौरवास्पद गुरुजन ब्रह्मासे अपने चिरकालसे निर्णीत मनोरथको स्पष्टाक्षरोंसे युक्त वाणीद्वारा व्यक्त करते हुए कहा ॥ ८-९ ॥

देव्युवाच

तपसा दुष्करेणाप्तः पतित्वे शङ्करो मया। स मां श्यामलवर्णेति बहुशः प्रोक्तवान् भवः॥ १० ॥
स्यामहं काञ्चनाकारा वाल्लभ्येन च संयुता। भर्तुर्भूतपतेरङ्गमेकतो निर्विशेऽङ्गवत् ॥ ११ ॥
तस्यास्तद् भाषितं श्रुत्वा प्रोवाच कमलासनः। एवं भव त्वं भूयश्च भर्तुर्देहार्धधारिणी ॥ १२ ॥
ततस्तत्याज भृङ्गाङ्गं फुल्लनीलोत्पलत्वचम् ॥ १३ ॥
त्वचा सा चाभवद् दीप्ता घण्टाहस्ता त्रिलोचना। नानाभरणपूर्णाङ्गी पीतकौशेयधारिणी ॥ १४ ॥
तामब्रवीत्ततो ब्रह्मा देवीं नीलाम्बुजत्विषम्। निशे भूधरजादेहसम्पर्कात्त्वं ममाज्ञया ॥ १५ ॥
सम्प्राप्ता कृतकृत्यत्वमेकानंशा पुरा ह्यसि। य एष सिंहः प्रोद्भूतो देव्याः क्रोधाद् वरानने ॥ १६ ॥
स तेऽस्तु वाहनं देवि केतौ चास्तु महाबलः। गच्छ विन्ध्याचलं तत्र सुरकार्यं करिष्यसि ॥ १७ ॥
पञ्चालो नाम यक्षोऽयं यक्षलक्षपदानुगः। दत्तस्ते किङ्करो देवि मया मायाशतैर्युतः ॥ १८ ॥
इत्युक्ता कौशिकी देवी विन्ध्यशैलं जगाम ह।

देवी बोलीं—प्रभो! मैने कठोर तपस्याके फलस्वरूप शंकरजीको पतिरूपमें प्राप्त किया है, किंतु वे मुझे बहुधा 'श्यामवर्णा—काले रंगकी' कहकर अपमानित करते रहते हैं। अतः मै चाहती हूँ कि मेरा वर्ण सुवर्ण-सा गौर हो जाय, मै उनकी परम वल्लभा बन जाऊँ और अपने भूतनाथ पतिदेवके शरीरमें एक ओर उन्हींके अङ्गकी तरह प्रविष्ट हो जाऊँ। पार्वतीके उस कथनको सुनकर कमलासन ब्रह्माने कहा—'ठीक है, तुम ऐसी ही होकर पुनः अपने पतिदेवके शरीरके अर्धभागको धारण करनेवाली हो जाओ।' ऐसा वरदान पाकर पार्वतीने अपने भ्रमर-सरीखे काले एवं खिले हुए नीले कमलके-से नीले चमडेको त्याग दिया। तब उनकी त्वचा उद्दीप्त हो उठी और वे तीन नेत्रोंसे भी युक्त हो गयीं। तदुपरान्त उन्होंने अपने शरीरको नाना प्रकारके आभूषणोसे विभूपित कर पीले रंगकी रेशमी साड़ी धारण किया और हाथमें घण्टा ले लिया। तत्पश्चात् ब्रह्माने उस नीले कमलकी-सी कान्तिवाली देवीसे कहा—'निशे! तुम पहलेसे ही एकानंशा नामसे विख्यात हो और इस समय मेरी आज्ञासे पार्वतीके शरीरका सम्पर्क होनेके कारण तुम कृतकृत्य हो गयी हो। वरानने! पार्वतीदेवीके क्रोधसे जो यह सिंह प्रादुर्भूत हुआ है, वह तुम्हारा वाहन होगा और तुम्हारी ध्वजापर भी इस महाबलीका आकार विद्यमान रहेगा। अब तुम विन्ध्याचलको जाओ।

वहाँ देवताओंका कार्य सिद्ध करो। देवि! जिसके पीछे एक लाख यक्ष चलते हैं, उस इस पञ्चाल नामक यक्षको मैं तुम्हें किंकरके रूपमें प्रदान कर रहा हूँ, यह सैकड़ों प्रकारकी मायाओंका ज्ञाता है।' ब्रह्माद्वारा ऐसा आदेश पाकर कौशिकी देवी विन्ध्यपर्वतकी ओर चली गयीं॥ १०—१८½॥

उमापि प्राप्तसंकल्पा जगाम गिरिशान्तिकम्॥ १९॥
प्रविशन्तीं तु तां द्वारादपकृष्य समाहितः। रुरोध वीरको देवीं हेमवेत्रलताधरः॥ २०॥
तामुवाच च कोपेन रूपात्तु व्यभिचारिणीम्। प्रयोजनं न तेऽस्तीह गच्छ यावन्न भेत्स्यसि॥ २१॥
देव्या रूपधरो दैत्यो देवं वञ्चयितुं त्विह। प्रविष्टो न च दृष्टोऽसौ स वै देवेन घातितः॥ २२॥
घातिते चाहमाज्ञप्तो नीलकण्ठेन कोपिना। द्वारेषु नावधानं ते यस्मात् पश्यामि वै ततः॥ २३॥
भविष्यसि न मद्द्वाःस्थो वर्षपूगान्यनेकशः। अतस्तेऽत्र न दास्यामि प्रवेशं गम्यतां द्रुतम्॥ २४॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे कुमारसम्भवे वीरकशापो नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १५७॥

इधर उमा भी अपना मनोवाञ्छित वरदान प्राप्त कर शंकरजीके पास चलीं। वहाँ द्वारपर हाथमें सोनेका डंडा धारण किये हुए वीरक सावधानीपूर्वक पहरा दे रहा था। उसने प्रवेश करती हुई पार्वतीको दरवाजेसे खींचकर रोक दिया और गौर रूपसे दूसरी स्त्री-सी प्रतीत होनेवाली उनसे क्रोधपूर्वक कहा—'तुम्हारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, अतः जबतक मैं तुम्हें पीट नहीं दे रहा हूँ, उससे पहले ही भाग जाओ। यहीं महादेवजीको छलनेके लिये एक दैत्य माता पार्वतीदेवीका रूप धारण कर प्रविष्ट हो गया था, जिसे मैं देख नहीं पाया था, किंतु महादेवजीने उसे यमलोकका पथिक बना दिया। उसे मारनेके बाद नीलकण्ठ शिवजीने क्रुद्ध होकर मुझे आज्ञा दी है कि अबसे तुम द्वारपर असावधानी मत करना। तभीसे मैं अच्छी तरह सजग होकर पहरा दे रहा हूँ। द्वारपर मेरे स्थित रहते हुए तुम अनेकों वर्षसमूहोतक प्रविष्ट न हो सकोगी, इसलिये मैं तुम्हें भवनमें प्रवेश नहीं करने दूँगा। तुम शीघ्र ही यहाँसे चली जाओ'॥ १९—२४॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके कुमारसम्भव-प्रसङ्गमें वीरक-शाप नामक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १५७॥

एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय

वीरकद्वारा पार्वतीकी स्तुति, पार्वती और शंकरका पुनः समागम, अग्निको शाप, कृत्तिकाओंकी प्रतिज्ञा और स्कन्दकी उत्पत्ति

वीरक उवाच

एवमुक्त्वा गिरिसुता माता मे स्नेहवत्सला। प्रवेशं लभते नान्या नारी कमललोचने॥ १॥
इत्युक्ता तु तदा देवी चिन्तयामास चेतसा। न सा नारीति दैत्योऽसौ वायुर्मे यामभाषत॥ २॥
वृथैव वीरकः शप्तो मया क्रोधपरीतया। अकार्यं क्रियते मूढैः प्रायः क्रोधसमीरितैः॥ ३॥
क्रोधेन नश्यते कीर्तिः क्रोधो हन्ति स्थिरां श्रियम्।
अपरिच्छिन्नतत्त्वार्था पुत्रं शापितवत्यहम्। विपरीतार्थबुद्धीनां सुलभो विपदोदयः॥ ४॥
संचिन्त्यैवमुवाचेदं वीरकं प्रति शैलजा। लज्जासज्जविकारेण वदनेनाम्बुजत्विषा॥ ५॥

वीरकने कहा—कमललोचने! मेरी स्नेहवत्सला माता पार्वतीने भी मुझे ऐसा ही आदेश दिया है, अतः कोई भी परायी स्त्री भवनके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। वीरकद्वारा ऐसा कही जानेपर पार्वतीदेवी मनमें

विचार करने लगीं कि वायुने मुझे जिस स्त्रीके विषयमें सूचना दी थी, वह स्त्री नहीं थी, प्रत्युत वह कोई दैत्य था। क्रोधके वशीभूत हो मैंने व्यर्थ ही वीरकको शाप दे दिया। क्रोधसे प्रेरित हुए मूर्खलोग प्रायः इसी प्रकार अकार्य कर बैठते हैं। क्रोध करनेसे कीर्ति नष्ट हो जाती है और क्रोध सुस्थिर लक्ष्मीका भी विनाश कर देता है। इसी कारण तत्त्वार्थको निश्चित रूपसे न जानकर मैंने अपने पुत्रको ही शाप दे दिया। जिनकी बुद्धि विपरीत अर्थको ग्रहण करती है, उन्हें विपत्तियाँ मिलती हैं। ऐसा विचारकर पार्वती कमल-सी कान्तिवाले मुखसे लज्जाका नाट्य करती हुई वीरकसे इस प्रकार कहने लगीं ॥ १—५ ॥

देव्युवाच

अहं वीरक ते माता मा तेऽस्तु मनसो भ्रमः। शङ्करस्यास्मि दयिता सुता तुहिनभूभृतः ॥ ६ ॥
मम गात्रच्छविभ्रान्त्या मा शङ्कां पुत्र भावय। तुष्टेन गौरता दत्ता ममेयं पद्मजन्मना ॥ ७ ॥
मया शप्तोऽस्यविदिते वृत्तान्ते दैत्यनिर्मिते। ज्ञात्वा नारीप्रवेशं तु शङ्करे रहसि स्थिते ॥ ८ ॥
न निवर्तयितुं शक्यः शापः किंतु ब्रवीमि ते। शीघ्रमेष्यसि मानुष्यात्सं त्वं कामसमन्वितः ॥ ९ ॥

देवी बोलीं—वीरक! तुम अपने मनमें मेरे प्रति संदेह मत करो। मै ही हिमाचलकी पुत्री, शंकरजीकी प्रियतमा पत्नी और तुम्हारी माता हूँ। बेटा! मेरे शरीरकी अभिनव शोभाके भ्रमसे तुम शङ्का मत करो। यह गौर कान्ति मुझे ब्रह्माने प्रसन्न होकर प्रदान की है। मुझे यह दैत्यद्वारा निर्मित वृत्तान्त ज्ञात नहीं था, अतः शंकरजीके एकान्तमें स्थित रहनेपर किसी अन्य नारीका प्रवेश (तुम्हारी असावधानीसे) जानकर मैंने तुम्हें शाप दे दिया है। वह शाप तो अब टाला नहीं जा सकता, किंतु उससे उद्धारका उपाय तुम्हें बतला रही हूँ। तुम मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर वहाँ अपना मनोरथ पूरा करके शीघ्र ही मेरे पास वापस आ जाओगे ॥ ६—९ ॥

सूत उवाच

शिरसा तु ततो वन्द्य मातरं पूर्णमानसः। उवाचोदितपूर्णेन्दुद्युतिं च हिमशैलजाम् ॥ १० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर वीरक प्रसन्न मनसे उदय हुए पूर्णिमाके चन्द्रमाकी-सी कान्ति-वाली माता पार्वतीको सिर झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् बोला ॥ १० ॥

वीरक उवाच

नतसुरासुरमौलिमिलन्मणिप्रचयकान्तिकरालनखाङ्किते।
नगसुते शरणागतवत्सले तव नतोऽस्मि नतार्तिविनाशिनि ॥ ११ ॥
तपनमण्डलमण्डितकन्धरे पृथुसुवर्णसुवर्णनगद्युते।
विषभुजङ्गनिषङ्गविभूषिते गिरिसुते भवतीमहमाश्रये ॥ १२ ॥
जगति कः प्रणताभिमतं ददौ झटिति सिद्धनुते भवती यथा।
जगति कां च न वाञ्छति शङ्करो भुवनधृत्तनये भवतीं यथा ॥ १३ ॥
विमलयोगविनिर्मितदुर्जयस्वतनुतुल्यमहेश्वरमण्डले।
विदलितान्धकबान्धवसंहतिः सुरवरैः प्रथमं त्वमभिष्टुता ॥ १४ ॥
सितसटापटलोद्धतकन्धराभरमहामृगराजरथस्थिता।
विमलशक्तिमुखानलपिङ्गलायतभुजौघविपिष्टमहासुरा ॥ १५ ॥

वीरकने कहा—गिरिराजकुमारी! आपके चरण-नख प्रणत हुए सुरों और असुरोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणि-समूहोंकी उत्कट कान्तिसे सुशोभित होते रहते हैं। आप शरणागतवत्सला तथा प्रणतजनोंका कष्ट दूर

करनेवाली हैं। मै आपके चरणोंमें नमस्कार कर रहा हूँ। गिरिनन्दिनि ! आपके कंधे सूर्य-मण्डलके समान चमकते हुए सुशोभित हो रहे हैं। आपकी शरीर-कान्ति प्रचुर सुवर्णसे परिपूर्ण सुमेरु गिरिकी तरह है। आप विषैले सर्परूपी तरकससे विभूषित हैं, मै आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ। सिद्धोंद्वारा नमस्कार की जानेवाली देवि ! आपके समान जगत्में प्रणतजनोंके अभीष्टको तुरंत प्रदान करनेवाला दूसरा कौन है ? गिरिजे ! इस जगत्में भगवान् शंकर आपके समान किसी अन्य स्त्रीकी इच्छा नहीं करते। आपने महेश्वर-मण्डलको निर्मल योगबलसे निर्मित अपने शरीरके तुल्य दुर्जय बना दिया है। आप मारे गये अन्धकासुरके भाई-बन्धुओंका संहार करनेवाली हैं। सुरेश्वरोंने सर्वप्रथम आपकी स्तुति की है। आप श्वेत वर्णकी जटा (केश) समूहसे आच्छादित कंधेवाले विशालकाय सिंहरूपी रथपर आरूढ होती हैं। आपने चमकती हुई शक्तिके मुखसे निकलनेवाली अग्निकी कान्तिसे पीली पड़ने वाली लम्बी भुजाओंसे प्रधान-प्रधान असुरोंको पीसकर चूर्ण कर दिया है ॥ ११–१५ ॥

निगदिता भुवनैरिति चण्डिका जननि शुम्भनिशुम्भनिषूदनी।
प्रणतचिन्तितदानवदानवप्रमथनैकरतिस्तरसा भुवि ॥ १६ ॥
वियति वायुपथे ज्वलनोज्ज्वलेऽवनितले तव देवि च यद्वपुः।
तदजितेऽप्रतिमे प्रणमाम्यहं भुवनभाविनि ते भववल्लभे ॥ १७ ॥
जलधयो ललितोद्धतवीचयो हुतवहद्युतयश्च चराचरम्।
फणसहस्रभृतश्च भुजङ्गमास्त्वदभिधास्यति मय्यभयंकराः ॥ १८ ॥
भगवति स्थिरभक्तजनाश्रये प्रतिगतो भवतीचरणाश्रयम्।
करणजातमिहास्तु ममाचलं नुतिलवाप्तिफलाशयहेतुतः ॥ १९ ॥
प्रशममेहि ममात्मजवत्सले तव नमोऽस्तु जगत्त्रयसंश्रये।
त्वयि ममास्तु मतिः सततं शिवे शरणगोऽस्मि नतोऽस्मि नमोऽस्तु ते ॥ २० ॥

जननि ! त्रिभुवनके प्राणी आपको शुम्भ-निशुम्भका संहार करनेवाली चण्डिका कहते हैं। एकमात्र आप इस भूतलपर विनम्रजनोंद्वारा चिन्तना किये गये प्रधान-प्रधान दानवोंका वेगपूर्वक मर्दन करनेमें उत्साह रखनेवाली है। देवि ! आप अजेय, अनुपम, त्रिभुवन-सुन्दरी और शिवजीकी प्राणप्रिया है, आपका जो शरीर आकाशमे, वायुके मार्गमें; अग्निकी भीषण ज्वालाओंमे तथा पृथ्वीतलपर भासमान है, उसे मै प्रणाम करता हूँ। रुचिर एवं भीषण लहरोंसे युक्त महासागर, अग्निकी लपटें, चराचर जगत् तथा हजारों फण धारण करनेवाले बड़े-बड़े नाग—ये सभी आपका नाम लेनेवाले मेरे लिये भयंकर नहीं दीख पड़ते। अनन्य भक्तजनोंकी आश्रय-भूता भगवति ! मै आपके चरणोंकी शरणमें आ पड़ा हूँ। आपके चरणोंमें प्रणत होनेसे प्राप्त हुए थोड़े-से फलके कारण मेरा इन्द्रियसमुदाय आपके चरणोंमें अटल स्थान प्राप्त करे। पुत्रवत्सले ! मेरे लिये पूर्णरूपसे शान्त हो जाइये। त्रिलोकीकी आश्रयभूता देवि ! आपको नमस्कार है। शिवे ! मेरी बुद्धि निरन्तर आपके चिन्तनमें ही लगी रहे। मै आपके शरणागत हूँ और चरणोंमें पड़ा हूँ। आपको नमस्कार है ॥ १६–२० ॥

सूत उवाच

प्रसन्ना तु ततो देवी वीरकस्येति संस्तुता। प्रविवेश शुभं भर्तुर्भवनं भूधरात्मजा ॥ २१ ॥
द्वारस्थो वीरको देवान् हरदर्शनकाङ्क्षिणः। व्यसर्जयत् स्वकान्येव गृहाण्यादरपूर्वकम् ॥ २२ ॥
नास्त्यत्रावसरो देवा देव्या सह वृषाकपिः। निभृतः क्रीडतीत्युक्ता ययुस्ते च यथागतम् ॥ २३ ॥

गते वर्षसहस्रे तु देवास्त्वरितमानसाः। ज्वलनं चोदयामासुर्ज्ञातुं शङ्करचेष्टितम्॥ २४॥
प्रविश्य जालरन्ध्रेण शुकरूपी हुताशनः। ददर्श शयने शर्वं रतं गिरिजया सह॥ २५॥
ददर्श तं च देवेशो हुताशं शुकरूपिणम्। तमुवाच महादेवः किंचित्कोपसमन्वितः॥ २६॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! वीरकके इस प्रकार संस्तवन करनेपर पार्वतीदेवी प्रसन्न हो गयीं, तब वे अपने पति शिवजीके सुन्दर भवनमें प्रविष्ट हुईं। इधर द्वारपाल वीरकने शिवजीके दर्शनकी अभिलाषासे आये हुए देवोंको आदरपूर्वक ऐसा कहकर अपने-अपने घरोंको लौटा दिया कि 'देवगण! इस समय मिलनेका अवसर नहीं है; क्योंकि भगवान् शंकर एकान्तमें पार्वतीदेवीके साथ क्रीडा कर रहे हैं।' ऐसा कहे जानेपर वे जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये। इस प्रकार एक हजार वर्ष व्यतीत हो जानेपर देवताओंके मनमें उतावली उत्पन्न हो गयी, तब उन्होंने शंकरजीकी चेष्टाका पता लगानेके लिये अग्निको भेजा। वहाँ जाकर अग्निदेवने शुकका रूप धारण किया और गवाक्षमार्गसे भीतर प्रवेश करके देखा कि शंकरजी गिरिजाके साथ शय्यापर विराजमान हैं। उधर देवेश्वर शंकरजीकी दृष्टि शुकरूपी अग्निपर पड गयी, तब महादेव कुछ क्रुद्ध-से होकर अग्निसे बोले॥

शर्व उवाच

यस्मात्तु त्वत्कृतो विघ्नस्तस्मात्त्वय्युपपद्यते। इत्युक्तः प्राञ्जलिर्वह्निरपिबद् वीर्यमाहितम्॥ २७॥
तेनापूर्यत तान् देवांस्तत्तत्कायविभेदतः। विपाट्य जठरं तेषां वीर्यं माहेश्वरं ततः॥ २८॥
निष्क्रान्तं तप्तहेमाभं वितते शङ्कराश्रमे। तस्मिन् सरो महज्जातं विमलं बहुयोजनम्॥ २९॥
प्रोत्फुल्लहेमकमलं नानाविहगनादितम्। तच्छ्रुत्वा तु ततो देवी हेमद्रुममहाजलम्॥ ३०॥
जगाम कौतुकाविष्टा तत्सरः कनकाम्बुजम्। तत्र कृत्वा जलक्रीडां तदब्जकृतशेखरा॥ ३१॥
उपविष्टा ततस्तस्य तीरे देवी सखीयुता। पातुकामा च तत्तोयं स्वादु निर्मलपङ्कजम्॥ ३२॥
अपश्यत् कृत्तिकाः स्नाताः षडर्कद्युतिसन्निभाः। पद्मपत्रे तु तद्वारि गृहीत्वोपस्थिता गृहम्॥ ३३॥
हर्षादुवाच पश्यामि पद्मपत्रे स्थितं पयः। ततस्ता ऊचुरखिलं कृत्तिका हिमशैलजाम्॥ ३४॥

शिवजीने कहा—अग्ने! चूँकि तुमने ही यह विघ्न उपस्थित किया है, इसलिये इसका फल भी तुम्हें भोगना पड़ेगा। ऐसा कहे जानेपर अग्नि हाथ जोड़कर शंकरजीद्वारा आधान किये गये वीर्यको पी गये और उसे सभी देवताओंके शरीरमें विभक्त करके उन्हें पूर्ण कर दिया। तदनन्तर शंकरजीका वह तपाये हुए स्वर्णके समान कान्तिमान् वीर्य देवताओंका उदर फाड़कर बाहर निकल आया और शंकरजीके उस विस्तृत आश्रममें अनेकों योजनोंमें विस्तृत एवं निर्मल जलसे पूर्ण महान् सरोवरके रूपमें परिणत हो गया। उसमें स्वर्णकी-सी कान्तिवाले कमल खिले हुए थे और नाना प्रकारके पक्षी चहचहा रहे थे। तत्पश्चात् स्वर्णमय वृक्ष एवं अगाध जलसे सम्पन्न उस सरोवरके विषयमें सुनकर कुतूहलसे भरी हुई पार्वतीदेवी उस स्वर्णमय कमलसे भरे हुए सरोवरके तटपर गयीं और उसके कमलको सिरपर धारण करके जलक्रीडा करने लगीं। तत्पश्चात् पार्वतीदेवी सखीके साथ उस सरोवरके तटपर बैठ गयीं और उस सरोवरके कमलकी गन्धसे सुवासित स्वच्छ स्वादिष्ट जलको पीनेकी इच्छा करने लगीं। इतनेमें ही उनकी दृष्टि उस सरोवरमें स्नान कर निकली हुई छहों कृत्तिकाओंपर पड़ी, जो सूर्यकी कान्तिके समान उद्भासित हो रही थीं तथा कमलके पत्तेके दोनेमें उस सरोवरके जलको लेकर घरकी ओर जानेके लिये उद्यत थीं। तब पार्वतीने उनसे हर्षपूर्वक कहा—'मैं कमलके पत्तेमें रखे हुए जलको देख रही हूँ।' यह सुनकर उन कृत्तिकाओंने पार्वतीसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥ २७—३४॥

कृत्तिका ऊचुः

दास्यामो यदि ते गर्भः सम्भूतो यो भविष्यति।
सोऽस्माकमपि पुत्रः स्यादस्मन्नाम्ना च वर्तताम्। भवेल्लोकेषु विख्यातः सर्वेष्वपि शुभानने ॥ ३५ ॥
इत्युक्तोवाच गिरिजा कथं मद्गात्रसम्भवः। सर्वैरवयवैर्युक्तो भवतीभ्यः सुतो भवेत् ॥ ३६ ॥
ततस्तां कृत्तिका ऊचुर्विधास्यामोऽस्य वै वयम्। उत्तमान्युत्तमाङ्गानि यद्येवं तु भविष्यति ॥ ३७ ॥
उक्ता वै शैलजा प्राह भवत्वेवमनिन्दिताः। ततस्ता हर्षसम्पूर्णाः पद्मपत्रस्थितं पयः ॥ ३८ ॥
तस्यै ददुस्तया चापि तत्पीतं क्रमशो जलम्। पीते तु सलिले तस्मिंस्ततस्तस्मिन् सरोवरे ॥ ३९ ॥
विपाट्य देव्याश्च ततो दक्षिणां कुक्षिमुद्गतः। निश्चक्रामाद्भुतो बालः सर्वलोकविभासकः ॥ ४० ॥
प्रभाकरप्रभाकारः प्रकाशकनकप्रभः। गृहीतनिर्मलोदग्रशक्तिशूलः षडाननः ॥ ४१ ॥
दीप्तो मारयितुं दैत्यान् कुत्सितान् कनकच्छविः। एतस्मात् कारणाद् देवः कुमारश्चापि सोऽभवत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकोपाख्याने कुमारसम्भवो नामाष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

कृत्तिकाओंने कहा—शुभानने ! यह जल हमलोग आपको दे देंगी, किंतु यदि आप यह प्रतिज्ञा करें कि इस जलके पान करनेसे जो गर्भ स्थित होगा, उससे उत्पन्न हुआ बालक हमलोगोंका भी पुत्र कहलाये और हमलोगोंके नामपर उसका नामकरण किया जाय। वह बालक सभी लोकोंमें विख्यात होगा। इस प्रकार कही जानेपर पार्वतीने कहा—'भला जो मेरे समान सभी अङ्गोंसे युक्त होकर मेरे शरीरसे उत्पन्न होगा, वह आप लोगोंका पुत्र कैसे हो सकेगा ?' तब कृत्तिकाओंने पार्वतीसे कहा—'यदि हमलोग इस बालकके उत्तम मस्तकोंकी रचना करेंगी तो यह वैसा हो सकता है।' उनके ऐसा कहनेपर पार्वतीने कहा—'अनिन्द्य सुन्दरियो ! ऐसा ही हो।' तब हर्षसे भरी हुई कृत्तिकाओंने कमलके पत्तेमें रखे हुए उस जलको पार्वतीको समर्पित कर दिया और पार्वतीने भी उस सारे जलको क्रमशः पी लिया। उस जलके पी लेनेपर उसी सरोवरके तटपर पार्वतीदेवीकी दाहिनी कोखको फाड़कर एक अद्भुत बालक निकल पड़ा, जो समस्त लोकोंको उद्भासित कर रहा था। उसकी शरीरकान्ति सूर्यके समान थी। वह स्वर्ण-सदृश प्रकाशमान तथा हाथोंमें निर्मल एवं भयावनी शक्ति और शूल धारण किये हुए था। उसके छः मुख थे। वह सुवर्णकी-सी छविसे युक्त हो उद्दीप्त हो रहा था और पापाचारी दैत्योंको मारनेके लिये उद्यत-सा दीख रहा था। इसी कारण वे देव 'कुमार' नामसे भी प्रसिद्ध हुए ॥ ३५—४२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकोपाख्यानमें कुमारसम्भव नामक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१५८॥

एक सौ उनसठवाँ अध्याय

स्कन्दकी उत्पत्ति, उनका नामकरण, उनसे देवताओंकी प्रार्थना और उनके द्वारा देवताओंको आश्वासन, तारकके पास देवदूतद्वारा संदेश भेजा जाना और सिद्धोंद्वारा कुमारकी स्तुति

सूत उवाच

वामं विदार्य निष्क्रान्तः सुतो देव्याः पुनः शिशुः। स्कन्दाच्च वदने वह्नेः शुक्रात् सुवदनोऽरिहा ॥ १ ॥
कृत्तिकामेलनादेव शाखाभिः सविशेषतः। शाखाभिधाः समाख्याताः षट्सु वक्त्रेषु विस्तृताः ॥ २ ॥
यतस्ततो विशाखोऽसौ ख्यातो लोकेषु षण्मुखः। स्कन्दो विशाखः षड्वक्त्रः कार्तिकेयश्च विश्रुतः ॥ ३ ॥
चैत्रस्य बहुले पक्षे पञ्चदश्यां महाबलौ। सम्भूतावर्कसदृशौ विशाले शरकानने ॥ ४ ॥

चैत्रस्यैव सिते पक्षे पञ्चम्यां पाकशासनः। बालकाभ्यां चकारैकं मत्वा चामरभूतये ॥ ५ ॥
तस्यामेव ततः षष्ठ्यामभिषिक्तो गुहः प्रभुः। सर्वैरमरसंघातैर्ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रभास्करैः ॥ ६ ॥
गन्धमाल्यैः शुभैर्धूपैस्तथा क्रीडनकैरपि। छत्रैश्चामरजालैश्च भूषणैश्च विलेपनैः ॥ ७ ॥
अभिषिक्तो विधानेन यथावत् षण्मुखः प्रभुः। सुतामस्मै ददौ शक्रो देवसेनेति विश्रुताम् ॥ ८ ॥
पत्न्यर्थं देवदेवस्य ददौ विष्णुस्तदायुधान्। यक्षाणां दशलक्षाणि ददावस्मै धनाधिपः ॥ ९ ॥
ददौ हुताशनस्तेजो ददौ वायुश्च वाहनम्।
ददौ क्रीडनकं त्वष्टा कुक्कुटं कामरूपिणम्। एवं सुरास्तु ते सर्वे परिवारमनुत्तमम् ॥ १० ॥
ददुर्मुदितचेतस्काः स्कन्दायादित्यवर्चसे ॥ ११ ॥
जानुभ्यामवनीं स्थित्वा सुरसंघास्तमस्तुवन्। स्तोत्रेणानेन वरदं षण्मुखं मुख्यशः सुराः ॥ १२ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! पुनः पार्वती देवीकी बायीं कोखको फाड़कर दूसरा शिशु पुत्ररूपमें बाहर निकला। सर्वप्रथम अग्निके मुखमें वीर्यका क्षरण होनेके कारण वह बालक सुन्दर मुखवाला और शत्रुओंका विनाशक हुआ। उसके छः मुख हुए। चूँकि छहों मुखोंमें विस्तृत शाखा नामसे प्रसिद्ध कृतिकाओंकी शाखाओंका विशेषरूपसे मेल हुआ था, इसलिये वह बालक लोकोंमें 'विशाख' नामसे विख्यात हुआ। इस प्रकार वह स्कन्द, विशाख, षडवक्त्र और कार्तिकेयके नामसे प्रख्यात हुआ। चैत्र मासके कृष्णपक्षकी पंद्रहवी तिथि (अमावास्या)को विशाल सरपतके वनमें सूर्यके समान तेजस्वी एवं महाबली ये दोनोंशिशु उत्पन्न हुए थे। पुनः चैत्र मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको पाकशासन इन्द्रने देवताओंके लिये कल्याणकारी मानकर दोनों बालकोंको सम्मिलित करके एकीभूत कर दिया। उसी मासकी षष्ठी तिथिको ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, सूर्य आदि सभी देवसमूहोंद्वारा सामर्थ्यशाली गुह (देव-सेनापतिके पदपर) अभिषिक्त किये गये। उस समय चन्दन, पुष्पमाला, माङ्गलिक धूप, खिलौना, छत्र, चवँरसमूह, आभूषण और अङ्गरागद्वारा भगवान् षण्मुखका विधिपूर्वक यथावत् अभिषेक किया गया था। इन्द्रने 'देवसेना' नामसे विख्यात कन्याको उन्हें पत्नीरूपमें प्रदान किया। भगवान् विष्णुने देवाधिदेव गुहको अनेकों आयुध समर्पित किया। कुबेर उन्हें दस लाख यक्ष प्रदान किये। अग्निने तेज दिया। वायुने वाहन समर्पित किया। त्वष्टाने खिलौना तथा स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाला एक मुर्गा प्रदान किया। इस प्रकार उन सभी देवताओंने प्रसन्न मनसे सूर्यके समान तेजस्वी स्कन्दको सर्वश्रेष्ठ परिवार प्रदान किया। तत्पश्चात् प्रधान-प्रधान देवताओंके समूह पृथ्वीपर घुटने टेककर उन वरदायक षण्मुखकी निम्नाङ्कित स्तोत्रद्वारा स्तुति करने लगे ॥ १–१२ ॥

देवा ऊचुः

नमः कुमाराय महाप्रभाय स्कन्दाय च स्कन्दितदानवाय।
नवार्कविद्युद्द्युतये नमोऽस्तु ते नमोऽस्तु ते षण्मुख कामरूप ॥ १३ ॥
पिनद्धनानाभरणाय भर्त्रे नमो रणे दारुणदारुणाय।
नमोऽस्तु तेऽर्कप्रतिमप्रभाय नमोऽस्तु गुह्याय गुहाय तुभ्यम् ॥ १४ ॥
नमोऽस्तु त्रैलोक्यभयापहाय नमोऽस्तु ते बालकृपापराय।
नमो विशालामललोचनाय नमो विशाखाय महाव्रताय ॥ १५ ॥
नमो नमस्तेऽस्तु मनोहराय नमो नमस्तेऽस्तु रणोत्कटाय।
नमो मयूरोज्ज्वलवाहनाय नमोऽस्तु केयूरधराय तुभ्यम् ॥ १६ ॥

नमो धृतोदग्रपताकिने नमो नमः प्रभावप्रणताय तेऽस्तु ।
नमो नमस्ते वरवीर्यशालिने कृपापरो नो भव भव्यमूर्ते ॥ १७ ॥
क्रियापरा यज्ञपतिं च स्तुत्वा विरेमुरेवं त्वमराधिपाद्याः ।
एवं तदा षड्वदनं तु सेन्द्रा मुदा सुतुष्टश्च गुहस्ततस्तान् ।
निरीक्ष्य नेत्रैरमलैः सुरेशाञ् शत्रून् हनिष्यामि गतज्वराः स्थ ॥ १८ ॥

देवताओंने कहा—कामरूप षण्मुख ! आप कुमार, महान् तेजस्वी, शिवतेजसे उत्पन्न और दानवोंका कचूमर निकालनेवाले हैं । आपकी शरीर-कान्ति उदयकालीन सूर्य एवं बिजलीकी-सी है । आपको हमारा बारंबार नमस्कार प्राप्त हो । आप नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित, जगत्के पालनकर्ता और रणभूमिमें भीषण दानवोंके लिये अत्यन्त भयंकर हैं, आपको प्रणाम है । सूर्य-सरीखे प्रतिभाशाली आपको अभिवादन है । गुह्य रूपवाले आप गुहको हमारा नमस्कार है । त्रिलोकीके भयको दूर करनेवाले आपको प्रणाम है । कृपा करनेमें तत्पर रहनेवाले बालरूप आपको अभिवादन है । विशाल एवं निर्मल नेत्रोंवाले आपको नमस्कार है । महान् व्रतका पालन करनेवाले आप विशाखको प्रणाम है । सामान्यतया मनोहर रूपधारी तथा रणभूमिमें भयानक रूपसे युक्त आपको बारंबार अभिवादन है । उज्ज्वल मयूरपर सवार होनेवाले आपको नमस्कार है । आप केयूरधारीको प्रणाम है । अत्यन्त ऊँचाईपर फहरानेवाली पताकाको धारण करनेवाले आपको अभिवादन है । प्रणतजनोंपर प्रभाव डालनेवाले आपको नमस्कार है । आप सर्वश्रेष्ठ पराक्रमसे सम्पन्न हैं, आपको बारंबार प्रणाम है । मनोहर रूपधारिन् ! हमलोगोंपर कृपा कीजिये । इस प्रकार देवराज इन्द्र आदि सभी क्रियापरायण देवगण जब हर्षपूर्वक यज्ञपति षडाननकी स्तुति करके चुप हो गये, तब परम प्रसन्न हुए गुह अपने निर्मल नेत्रोंसे उन सुरेश्वरोंकी ओर निहारकर बोले—'देवगण ! मैं आपलोगोंके शत्रुओंका संहार करूँगा, अब आपलोग शोकरहित हो जायँ' ॥ १३–१८ ॥

कुमार उवाच

कं वः कामं प्रयच्छामि देवता ब्रूत निर्वृताः । यद्यप्यसाध्यं हृद्यं वो हृदये चिन्तितं परम् ॥ १९ ॥
इत्युक्तास्तु सुरास्तेन प्रोचुः प्रणतमौलयः । सर्व एव महात्मानं गुहं तद्गतमानसाः ॥ २० ॥
दैत्येन्द्रस्तारको नाम सर्वामरकुलान्तकृत् । बलवान् दुर्जयो दुष्टो दुराचारोऽतिकोपनः ।
तमेव जहि हृद्योऽर्थ एषोऽस्माकं भयापह ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सर्वामरपदानुगः । जगाम जगतां नाथः स्तूयमानोऽमरेश्वरैः ॥ २२ ॥
तारकस्य वधार्थाय जगतः कण्टकस्य वै । ततश्च प्रेषयामास शक्रो लब्धसमाश्रयः ॥ २३ ॥
दूतं दानवसिंहस्य परुषाक्षरवादिनम् । स तु गत्वाब्रवीद् दैत्यं निर्भयो भीमदर्शनः ॥ २४ ॥

कुमारने पूछा—देवगण ! आपलोग निःसंकोच बतलायें कि मैं आपलोगोंकी कौन-सी अभिलाषा पूर्ण करूँ ? वह उत्तम अभिलाषा, जिसे आपलोगोंने अपने हृदयमें चिरकालसे सोच रखा है, यदि दुःसाध्य भी होगी तो भी मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा । कुमारद्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर सभी देवता उनके मनोऽनुकूल हो सिर झुकाकर महात्मा गुहसे बोले—'भय-विनाशक गुह ! तारक नामवाले दैत्येन्द्रने सभी देवकुलोंका विनाश कर दिया है । वह बलवान्, दुर्जय, अत्यन्त दुष्ट, दुराचारी और अतिशय क्रोधी है, आप उसीका वध कीजिये । यही हमलोगोंकी हार्दिक अभिलाषा है ।' देवताओंद्वारा ऐसा निवेदन किये जानेपर गुहने 'तथेति' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली । तत्पश्चात् वे जगन्नाथ गुह देवेश्वरोंद्वारा स्तुति

एक सौ साठवाँ अध्याय

तारकासुर और कुमारका भीषण युद्ध तथा कुमारद्वारा तारकका वध

सूत उवाच

श्रुत्वैतत्तारकः सर्वमुद्घुष्टं देववन्दिभिः। सस्मार ब्रह्मणो वाक्यं वधं बालादुपस्थितम् ॥ १ ॥
स्मृत्वा धर्मं ह्यवर्माङ्गः पदातिरपदानुगः। मन्दिरान्निर्जगामाशु शोकग्रस्तेन चेतसा ॥ २ ॥
कालनेमिमुखा दैत्याः संरम्भाद् भ्रान्तचेतसः। योधा धावत गृह्णीत योजयध्वं वरूथिनीम् ॥ ३ ॥
कुमारं तारको दृष्ट्वा बभाषे भीषणाकृतिः। किं बाल योद्धुकामोऽसि क्रीड कन्दुकलीलया ॥ ४ ॥
त्वया न दानवा दृष्टा यत्सङ्गरविभीषकाः। बालत्वादथ ते बुद्धिरेवं स्वल्पार्थदर्शिनी ॥ ५ ॥
कुमारोऽपि तमग्रस्थं बभाषे हर्षयन् सुरान्। शृणु तारक शास्त्रार्थस्तव चैव निरूप्यते ॥ ६ ॥
शास्त्रैरर्थो न दृश्यन्ते समये निर्भयैर्भटैः। शिशुत्वं मावमंस्था मे शिशुः कालभुजंगमः ॥ ७ ॥
दुष्प्रेक्ष्यो भास्करो बालस्तथाहं दुर्जयः शिशुः। अल्पाक्षरो न मन्त्रः किं सुस्फुरो दैत्य दृश्यते ॥ ८ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! देवबन्दियोंद्वारा उद्घोषित वह सारा प्रसङ्ग सुनकर तारकको ब्रह्माद्वारा कही हुई बालकके हाथसे वध होनेवाली बातका स्मरण हो आया। तब वह कालधर्मका स्मरण कर कवचरहित अवस्थामें अकेले पैदल ही तुरंत अपने भवनसे बाहर निकल पड़ा। उस समय उसका चित्त शोकसे ग्रस्त था। उसने पुकारकर कहा—'अरे कालनेमि आदि प्रमुख दैत्य योद्धाओ ! यद्यपि आतुरतावश तुमलोगोंका चित्त उद्भ्रान्त हो उठा है, तथापि तुमलोग दौड़ो, इसे पकड लो और इस सेनाके साथ युद्ध करो।' तत्पश्चात् भयंकर आकृतिवाला तारक कुमारको देखकर बोला—'अरे बच्चे ! क्या तुम युद्ध करना चाहते हो ? यदि ऐसी बात है तो आओ और कन्दुकक्रीडाकी तरह खेलो। तुमने अभीतक रणभूमिमें भय उत्पन्न करनेवाले दानवोंको नहीं देखा है। बालक होनेके कारण तुम्हारी बुद्धि इस प्रकारके छोटे-मोटे प्रयोजनोंको देखनेवाली है अर्थात् दूरदर्शिनी नहीं है।' यह सुनकर कुमार भी देवताओंको हर्षित करते हुए आगे खड़े हुए तारकसे बोले—'तारक ! सुनो, मैं तुम्हारे शास्त्रीय अर्थका निरूपण कर रहा हूँ। निर्भीक योद्धा समरभूमिमें शास्त्रीय प्रयोजनको नहीं देखते। तुम मेरे बालकपनकी अवहेलना मत करो। जैसे साँपका बच्चा कष्टकारक होता है और उदयकालीन सूर्यकी ओर भी नहीं देखा जा सकता, उसी तरह मैं दुर्जय बालक हूँ। दैत्य ! थोडे अक्षरोंवाला मन्त्र क्या महान् स्फूर्तिदायक नहीं देखा जाता ?' ॥ १–८ ॥

कुमारे प्रोक्तवत्येवं दैत्यश्चिक्षेप मुद्गरम्। कुमारस्तं निरस्याथ वज्रेणामोघवर्चसा ॥ ९ ॥
ततश्चिक्षेप दैत्येन्द्रो भिन्दिपालमयोमयम्। करेण तच्च जग्राह कार्तिकेयोऽमरारिहा ॥ १० ॥
गदां मुमोच दैत्याय षण्मुखोऽपि खरस्वनाम्। तया हतस्ततो दैत्यश्चकम्पेऽचलराडिव ॥ ११ ॥
मेने च दुर्जयं दैत्यस्तदा षड्वदनं रणे। चिन्तयामास बुद्ध्या तु प्राप्तः कालो न संशयः ॥ १२ ॥
कुपितं तु यमालोक्य कालनेमिपुरोगमाः। सर्वे दैत्येश्वरा जघ्नुः कुमारं रणदारुणम् ॥ १३ ॥
स तैः प्रहारैरस्पृष्टो वृथाक्लेशो महाद्युतिः। रणशौण्डास्तु दैत्येन्द्राः पुनः प्रासैः शिलीमुखैः ॥ १४ ॥
कुमारं सामरं जघ्नुर्बलिनो देवकण्टकाः। कुमारस्य व्यथा नाभूद् दैत्यास्त्रनिहतस्य तु ॥ १५ ॥
प्राणान्तकरणो जातो देवानां दानवाहवः। दैत्यास्त्रपीडितान् दृष्ट्वा कुमारः कोपमाविशत् ॥ १६ ॥
ततोऽस्त्रैर्वारयामास दानवानामनीकिनीम्। ततस्तैर्निष्प्रतीकारैस्ताडिताः सुरकण्टकाः ॥ १७ ॥
कालनेमिमुखाः सर्वे रणादासन् पराङ्मुखाः।

कुमार इस प्रकारकी बातें कह ही रहे थे कि दैत्यने उनपर मुद्गरसे आघात किया। तब कुमारने अपने अमोघ वर्चस्वी वज्रसे उसे निरस्त कर दिया। तत्पश्चात् दैत्येन्द्रने उनपर लोहनिर्मित भिन्दिपाल चलाया, किंतु देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले कार्तिकेयने उसे हाथसे पकड़ लिया। फिर षडाननने उस दैत्यके ऊपर घोर शब्द करती हुई गदा फेंकी। उस गदासे आहत हो वह दैत्य पर्वतराजकी तरह काँप उठा। तब उस दैत्यने षडाननको रणभूमिमें अजेय मान लिया और वह बुद्धिसे विचार करने लगा कि निश्चय ही मेरा काल आ पहुँचा है। तदनन्तर रणमें भीषण कार्य करनेवाले उन कुमारको क्रुद्ध देखकर कालनेमि आदि सभी दैत्येश्वर उनपर प्रहार करने लगे, परंतु उन प्रहारोंका परम कान्तिमान् कुमारपर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उनका शस्त्रास्त्र छोड़नेका श्रम व्यर्थ हो गया। पुनः युद्धनिपुण, देवकण्टक महाबली दैत्येन्द्र देवताओंसहित कुमारपर भाले और बाणोंसे प्रहार करने लगे। इस प्रकार दैत्योंद्वारा प्रहार करनेपर भी कुमारको कुछ भी पीड़ा न हुई। पर दानवोंका वह युद्ध जब देवताओंके लिये प्राणघातक-सा दीखने लगा, तब देवताओंको अत्यन्त पीड़ित देख कुमार क्रुद्ध हो उठे। फिर तो उन्होंने अपने अस्त्रोंके प्रहारसे दानवोंकी सेनाको खदेड़ दिया। उन अनिवार्य अस्त्रोंकी चोटसे कालनेमि आदि सभी देवकण्टक दानव घायल हो गये, तब वे युद्धसे विमुख हो भाग खड़े हुए ॥ ९–१७½ ॥

विद्रुतेष्वथ दैत्येषु हतेषु च समंततः ॥ १८ ॥
ततः क्रुद्धो महादैत्यस्तारकोऽसुरनायकः। जग्राह च गदां दिव्यां हेमजालपरिष्कृताम् ॥ १९ ॥
जघ्ने कुमारं गदया निष्टप्तकनकाङ्गदः। शरैर्मयूरं चित्रैश्च चकार विमुखान् सुरान् ॥ २० ॥
तथा परैर्महाभल्लैर्मयूरं गुहवाहनम्। बिभेद तारकः क्रुद्धः स सैन्येऽसुरनायकः ॥ २१ ॥
दृष्ट्वा पराङ्मुखान् देवान् शुक्तरक्तं स्ववाहनम्। जग्राह शक्तिं विमलां रणे कनकभूषणाम् ॥ २२ ॥
बाहुना हेमकेयूररुचिरेण षडाननः। ततो जगाद महासेनस्तारकं दानवाधिपम् ॥ २३ ॥
तिष्ठ तिष्ठ सुदुर्बुद्धे जीवलोकं विलोकय। हतोऽस्यद्य मया शक्त्या स्मर शस्त्रं सुशिक्षितम् ॥ २४ ॥
इत्युक्त्वा च ततः शक्तिं मुमोच दितिजं प्रति।
सा कुमारभुजोत्सृष्टा तत्केयूररवानुगा। बिभेद दैत्यहृदयं वज्रशैलेन्द्रकर्कशम् ॥ २५ ॥
गतासुः स पपातोर्व्यां प्रलये भूधरो यथा। विकीर्णमुकुटोष्णीषो विस्रस्ताखिलभूषणः ॥ २६ ॥

तदनन्तर चारों ओर दैत्योंके इस प्रकार मारे जाने एवं पलायन कर जानेपर असुरनायक महादैत्य तारक क्रोधसे भर गया। तब तपाये हुए स्वर्णके बने हुए बाजूबंदको धारण करनेवाले उस दैत्यने स्वर्णसमूहसे विभूषित अपनी दिव्य गदा हाथमें ली और उस गदासे कुमारपर प्रहार किया। फिर मोर-पंखसे सुशोभित बाणोंके आघातसे देवताओंको युद्ध-विमुख कर दिया। तदुपरान्त क्रोधसे भरे हुए असुरनायक तारकने उस सेनामें दूसरे भल्ल नामक विशाल बाणोंसे गुहके वाहन मयूरको विदीर्ण कर दिया। इस प्रकार रणभूमिमें देवताओंको युद्धविमुख और अपने वाहन मयूरको खून उगलते देखकर षडाननने वेगपूर्वक अपने स्वर्णनिर्मित केयूरसे विभूषित हाथमें स्वर्णजटित निर्मल शक्ति ग्रहण की। तत्पश्चात् देव-सेनानायक कुमार दानवेश्वर तारकको ललकारते हुए बोले—'दुर्बुद्धे! खड़ा रह, खड़ा रह और जीवलोककी ओर दृष्टिपात कर ले। अपने भलीभाँति सीखे हुए शस्त्रका स्मरण कर ले। अब तू मेरी शक्तिद्वारा मारा जा चुका।' ऐसा कहकर उन्होंने उस दैत्यपर अपनी शक्ति छोड़ दी। कुमारके हाथसे छूटी हुई उस शक्तिने उनके केयूरके शब्दका अनुगमन

करती हुई आगे बढ़कर उस दैत्यके हृदयको, जो वज्र और पर्वतके समान अत्यन्त कठोर था, विदीर्ण कर दिया । फिर तो वह प्राणरहित हो भूतलपर उसी प्रकार गिर पड़ा, जैसे प्रलयकालमें पर्वत धराशायी हो जाते हैं । उसकी पगड़ी और मुकुट छिन्न-भिन्न हो गये और सारे आभूषण पृथ्वीपर बिखर गये ॥ १८—२६ ॥

तस्मिन् विनिहते दैत्ये त्रिदशानां महोत्सवे । नाभूत्कश्चित्तदा दुःखी नरकेष्वपि पापकृत् ॥ २७ ॥
स्तुवन्तः षण्मुखं देवाः क्रीडन्तश्चाङ्गनायुताः । जग्मुः स्वानेव भवनान् भूरिधामान उत्सुकाः ॥ २८ ॥
ददुश्चापि वरं सर्वे देवाः स्कन्दमुखं प्रति । तुष्टाः सम्प्राप्तसर्वेच्छाः सह सिद्धैस्तपोधनैः ॥ २९ ॥

इस प्रकार उस दैत्यके मारे जानेपर देवताओंके उस महोत्सवके अवसरपर नरकोंमें भी कोई पापकर्मा प्राणी दुःखी नहीं था । परम तेजस्वी देवगण षडाननकी स्तुति करके अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित क्रीडा करते हुए उत्सुकतापूर्वक अपने-अपने गृहोंको चले गये । सभी इच्छाओंकी पूर्ति हो जानेके कारण सभी देवता परम संतुष्ट थे । वे जाते समय तपोधन सिद्धोंके साथ स्कन्दको वर देते हुए बोले ॥ २७—२९ ॥

देवा ऊचुः

यः पठेत् स्कन्दसम्बद्धां कथां मर्त्यो महामतिः । शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि स भवेत् कीर्तिमान्नरः ॥ ३० ॥
बह्वायुः सुभगः श्रीमान् कान्तिमाञ्छुभदर्शनः । भूतेभ्यो निर्भयश्चापि सर्वदुःखविवर्जितः ॥ ३१ ॥
संध्यामुपास्य यः पूर्वां स्कन्दस्य चरितं पठेत् । स मुक्तः किल्बिषैः सर्वैर्महाधनपतिर्भवेत् ॥ ३२ ॥
बालानां व्याधिजुष्टानां राजद्वारं च सेवताम् ।
इदं तत्परमं दिव्यं सर्वदा सर्वकामदम् । तनुक्षये च सायुज्यं षण्मुखस्य व्रजेन्नरः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकवधो नाम षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

देवताओंने कहा—जो महाबुद्धिमान् मरणधर्मा मनुष्य स्कन्दसे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको पढ़ेगा, सुनेगा अथवा दूसरेको सुनायेगा, वह कीर्तिमान्, दीर्घायु, सौभाग्यशाली, श्रीसम्पन्न, कान्तिमान्, शुभदर्शन, सभी प्राणियोंसे निर्भय और सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित हो जायगा । जो मनुष्य प्रातःकालिक संध्याकी उपासना करनेके बाद स्कन्दके चरित्रका पाठ करेगा वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर महान् धनराशिका स्वामी होगा । यह परम दिव्य स्कन्द-चरित बालकों, रोगियों और राजद्वारपर सेवा करनेवाले पुरुषोंके लिये सर्वदा सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है । इसका पाठ करनेवाला मनुष्य शरीरान्त होनेपर षडाननकी सायुज्यताको प्राप्त हो जायगा ॥ ३०—३३ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें तारकवध नामक एक सौ साठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६० ॥

एक सौ एकसठवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपुकी तपस्या, ब्रह्माद्वारा उसे वर-प्राप्ति, हिरण्यकशिपुका अत्याचार, विष्णुद्वारा देवताओंको अभयदान, भगवान् विष्णुका नृसिंहरूप धारण करके हिरण्यकशिपुकी विचित्र सभामें प्रवेश

ऋषय ऊचुः

इदानीं श्रोतुमिच्छामो हिरण्यकशिपोर्वधम् । नरसिंहस्य माहात्म्यं तथा पापविनाशनम् ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! अब हमलोग दानवराज हिरण्यकशिपुका वध तथा भगवान् नरसिंहके पापविनाशक माहात्म्यको सुनना चाहते हैं (आप उसे हमें सुनाइये) ॥ १ ॥

*

सूत उवाच

पुरा कृतयुगे विप्रा हिरण्यकशिपुः प्रभुः। दैत्यानामादिपुरुषश्चकार स महत्तपः॥ २॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च। जलवासी समभवत् स्नानमौनधृतव्रतः॥ ३॥
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि। ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च॥ ४॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य तत्र ह। विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता॥ ५॥
आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्दैवतैस्तथा। रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः॥ ६॥
दिग्भिश्चैव विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा। नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्च महाग्रहैः॥ ७॥
देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा। राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वाप्सरसां गणैः॥ ८॥
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैर्दिवौकसैः। ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत्॥ ९॥
प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत। वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥ १०॥

सूतजी कहते हैं—विप्रवरो! पूर्वकालमें कृतयुगमें दैत्योंके आदि पुरुष सामर्थ्यशाली हिरण्यकशिपुने महान् तप किया। उसने स्नान और मौनका व्रत धारण करके ग्यारह हजार वर्षोंतक जलमें निवास किया। तब उसके मनःसंयम, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या और नियम-पालनसे ब्रह्मा प्रसन्न हो गये। तत्पश्चात् स्वयं भगवान् ब्रह्मा सूर्यके समान तेजस्वी एवं चमकीले विमानपर, जिसमें हंस जुते हुए थे, सवार होकर आदित्यों, वसुओं, साध्यों, मरुद्गणों, देवताओं, रुद्रों, विश्वेदेवों, यक्षों, राक्षसो, नागों, दिशाओं, विदिशाओं, नदियों, सागरों, नक्षत्रो, मुहूर्तों, आकाशचारी महान् ग्रहों, देवगणों, ब्रह्मर्षियों, सिद्धो, सप्तर्षियों, पुण्यकर्मा राजर्षियों, गन्धर्वों और अप्सराओंके गणोंके साथ वहाँ आये। तदुपरान्त सम्पूर्ण देवताओसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचर-गुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यसे इस प्रकार बोले—'सुव्रत! तुम-जैसे भक्तकी इस तपस्यासे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम यथेष्ट वर माँग लो और अपना मनोरथ सिद्ध करो' ॥२—१०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः। न मानुषाः पिशाचा वा हन्युर्मां देवसत्तम॥ ११॥
ऋषयो वा न मां शापैः शपेयुः प्रपितामह। यदि मे भगवान् प्रीतो वर एष वृतो मया॥ १२॥
न चास्त्रेण न शस्त्रेण गिरिणा पादपेन च। न शुष्केण न चार्द्रेण न दिवा न निशाथ वा॥ १३॥
भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः। सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश॥ १४॥
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः। धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः॥ १५॥

हिरण्यकशिपु बोला—देवसत्तम! देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य अथवा पिशाच—ये कोई भी मुझे न मार सके। प्रपितामह! ऋषिगण अपने शापोंद्वारा मुझे अभिशप्त न कर सकें। न अस्त्रसे, न शस्त्रसे, न पर्वतसे, न वृक्षसे, न शुष्क पदार्थसे, न गीले पदार्थसे, न दिनमें, न रातमें—अर्थात् कभी भी अथवा किसीसे भी मेरी मृत्यु न हो। मै ही सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, इन्द्र, यम, धनाध्यक्ष कुबेर और किम्पुरुषोंका अधीश्वर यक्ष हो जाऊँ। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मै यही वर माँग रहा हूँ ॥११—१५॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या परास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः। सर्वान्कामान्सदा वत्स प्राप्स्यसे त्वं न संशयः॥ १६॥
एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगामाकाश एव हि। वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम्॥ १७॥
ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह। वरप्रदानं श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः॥ १८॥

ब्रह्माने कहा—तात ! मैंने तुम्हें इन दिव्य एवं अद्भुत वरदानोंको प्रदान कर दिया। वत्स ! तुम सदा सभी मनोरथोंको प्राप्त करते रहोगे, इसमें संशय नहीं है। ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे ब्रह्मर्षियों-द्वारा सेवित अपने वैराज नामक निवासस्थानको चले गये। तदनन्तर ऋषियोंसहित देवता, नाग और गन्धर्व इस प्रकारके वरप्रदानकी बात सुनते ही पितामहके पास पहुँचे (और बोले) ॥ १६-१८ ॥

देवा ऊचुः

वरप्रदानाद् भगवन् वधिष्यति स नोऽसुरः। तत्प्रसीदाशु भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥ १९ ॥
भगवन् सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः। स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्बुधः ॥ २० ॥
सर्वलोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः। आश्वासयामास सुरान् सुशीतैर्वचनाम्बुभिः ॥ २१ ॥
अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम्। तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं विष्णुः करिष्यति ॥ २२ ॥
तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं सर्वे पङ्कजजन्मनः। स्वानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदान्विताः ॥ २३ ॥

देवताओंने कहा—भगवन् ! आपके इस वरप्रदानसे तो वह असुर हमलोगोंका वध कर डालेगा। अतः प्रभो ! कृपा कीजिये और शीघ्र ही उसके वधका भी उपाय सोचिये। भगवन् ! आप स्वयं सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिकर्ता, स्वामी, हव्य एवं कव्यके स्रष्टा, अव्यक्तप्रकृति और सर्वज्ञ हैं। देवताओंके समस्त लोकोंके लिये हितकारक ऐसे वचनको सुनकर प्रजापति ब्रह्मा अपने परम शीतल वचनरूपी जलसे देवताओंको संसिक्त एवं आश्वस्त करते हुए बोले—'देवगण ! उसे अपनी तपस्याका फल तो अवश्य ही मिलना चाहिये। हाँ, तपस्याके पुण्यफलके समाप्त हो जानेपर भगवान् विष्णु उसका वध करेंगे।' कमलजन्मा ब्रह्माकी वह बात सुनकर सभी देवता हर्षपूर्वक अपने-अपने दिव्य स्थानोंको लौट गये ॥ १९-२३ ॥

लब्धमात्रे वरे चाथ सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः। हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥ २४ ॥
आश्रमेषु महाभागान् स मुनीञ्छंसितव्रतान्। सत्यधर्मपरान् दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥ २५ ॥
देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः। त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥
यदा वरमदोत्सिक्तश्चोदितः कालधर्मतः। यज्ञियानकरोद् दैत्यानयज्ञियाश्च देवताः ॥ २७ ॥
तदादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा। सेन्द्रा देवगणा यक्षाः सिद्धद्विजमहर्षयः ॥ २८ ॥
शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम्। देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

उधर वर प्राप्त होते ही उस वरदानसे गर्वित हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु सभी प्रजाओंको कष्ट देना प्रारम्भ किया। उस दानवने आश्रमोंमें जाकर उन महान् भाग्यशाली मुनियोंको, जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यधर्म-परायण और जितेन्द्रिय थे, धर्षित कर दिया। उस महान् असुरने त्रिभुवनमें स्थित सभी देवताओंको पराजित कर दिया। तब वह दानव त्रिलोकीको अपने अधीन करके स्वर्गमें निवास करने लगा। इस प्रकार कालधर्मकी प्रेरणासे जब उसने वरदानके मदसे उन्मत्त हो दैत्योंको यज्ञभागका अधिकारी बनाया और देवताओंको उनके समुचित यज्ञभागोंसे वञ्चित कर दिया, तब आदित्यगण, साध्यगण, विश्वेदेव, वसुगण, इन्द्रसहित देवगण, यक्ष, सिद्धगण और महर्षिगण—ये सभी उन महाबली विष्णुकी शरणमें गये, जो शरणदाता, देवाधिदेव, यज्ञमूर्ति, वसुदेवके पुत्र और अविनाशी हैं ॥ २४-२९ ॥

देवा ऊचुः

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः। त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥ ३० ॥
त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः। त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥ ३१ ॥

देवताओंने कहा—महाभाग्यशाली नारायण ! हम सभी देवता आपकी शरणमें आये हुए हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये । प्रभो ! आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध कीजिये । सुरोत्तम ! आप ही हमलोगोंके परम पालक हैं, आप ही हमलोगोंके सर्वोत्कृष्ट गुरु हैं और आप ही हम ब्रह्मा आदि देवताओंके परम देव हैं ॥

विष्णुरुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥ ३२ ॥
एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥ ३३ ॥
एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । वधं संकल्पयामास हिरण्यकशिपोः प्रभुः ॥ ३४ ॥
साहाय्यं च महाबाहुरोङ्कारं गृह्य सत्वरम् । अथोङ्कारसहायस्तु भगवान् विष्णुरव्ययः ॥ ३५ ॥
हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः । तेजसा भास्कराकारः शशी कान्त्यैव चापरः ॥ ३६ ॥
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा । नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ३७ ॥
ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम् । सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ॥ ३८ ॥
विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायताम् । वैहायसीं कामगमां पञ्चयोजनविस्तृताम् ॥ ३९ ॥
जराशोकक्लमापेतां निष्प्रकम्पां शिवां सुखाम् । वेश्महर्म्यवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥ ४० ॥

भगवान् विष्णुने कहा—देवताओ ! तुमलोग भय छोड़ दो । मै तुमलोगोंको अभयदान दे रहा हूँ । पहलेकी तरह पुनः तुमलोगोंका शीघ्र ही स्वर्गपर अधिकार हो जायगा । मै सेनासहित उस दानवराज दैत्यका, जो वरदानकी प्राप्तिसे गर्वीला और देवेश्वरोंके लिये अवध्य हो गया है, वध करूँगा । ऐसा कहकर महाबाहु भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा कर दिया और स्वयं शीघ्रतापूर्वक ओंकारको (सहायकरूपमें) साथ लेकर हिरण्यकशिपुके वधका विचार करने लगे । तदनन्तर जो सर्वव्यापक, अविनाशी, परमेश्वर, सूर्यके समान तेजस्वी और दूसरे चन्द्रमाके-से कान्तिमान् थे, वे भगवान् श्रीहरि ओंकारको साथ लेकर हिरण्यकशिपुके स्थानपर गये । उस समय वे आधा मनुष्यका और आधा सिंहका शरीर धारण कर नरसिंह रूपसे स्थित हो हाथसे हाथ मल रहे थे । तदनन्तर उन्होंने हिरण्यकशिपुकी चमकती हुई दिव्य सभा देखी, जो विस्तृत, अत्यन्त रुचिर, मनको लुभानेवाली और सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थोंसे युक्त थी । सौ योजनके विस्तारमें फैली हुई वह सभा पचास योजन लम्बी और पाँच योजन चौड़ी थी । वह स्वेच्छानुसार आकाशमें उड़नेवाली तथा बुढ़ापा, शोक और थकावटसे रहित, निश्चल, कल्याणकारिणी, सुखदायिनी और परम रमणीय थी । उसमें अट्टालिकाओंसे युक्त भवन बने थे और वह तेजसे प्रज्वलित-सी हो रही थी ॥ ३२—४० ॥

अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा । दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युताम् ॥ ४१ ॥
नीलपीतसितश्यामैः कृष्णैर्लोहितकैरपि । अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीशतधारिभिः ॥ ४२ ॥
सिताभ्रघनसङ्काशा प्लवन्तीव व्यदृश्यत । रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धमनोरमा ॥ ४३ ॥
सुसुखा न च दुःखा सा न शीता न च घर्मदा । न क्षुत्पिपासे ग्लानिं वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ॥ ४४ ॥
नानारूपैरुपकृतां विचित्रैरतिभास्वरैः । स्तम्भैर्न विधृता सा वै शाश्वती चाक्षया सदा ॥ ४५ ॥
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्तीव भास्करान् ॥ ४६ ॥
सर्वे च कामाः प्रचुरा ये दिव्या ये च मानुषाः । रसयुक्तं प्रभूतं च भक्ष्यभोज्यमनन्तकम् ॥ ४७ ॥
पुण्यगन्धस्रजश्चात्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः । उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति च ॥ ४८ ॥
पुष्पिताग्रा महाशाखाः प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंछन्ना नदीषु च सरःसु च ॥ ४९ ॥
वृक्षान् बहुविधांस्तत्र मृगेन्द्रो ददृशे प्रभुः । गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च ॥ ५० ॥

नातिशीतानि नोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च ।

उसके भीतर जलाशय थे । वह फल-पुष्प प्रदान करनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे संयुक्त थी । उसे विश्वकर्माने बनाया था । वह नीले, पीले, श्वेत, श्याम, कृष्ण और लोहित रंगके आवरणों और सैकड़ों मंजरियोंसे युक्त गुल्मोंसे आच्छादित होनेके कारण श्वेत बादलकी तरह उड़ती हुई-सी दीख रही थी । उसमेंसे किरणें फूट रही थीं । वह चमकीली और दिव्य गन्धसे युक्त होनेके कारण मनोरम थी । वह सर्वथा सुखदायिनी थी । उसमें दुःख, सर्दी और धूपका नाम-निशान नहीं था । उसमे पहुँचकर दानवोंको भूख-प्यास और ग्लानिकी प्राप्ति नहीं होती थी । वह चित्र-विचित्र रंगवाले एवं अत्यन्त चमकीले नाना प्रकारके खम्भोंसे युक्त थी, परंतु उन खम्भोंपर आधारित नहीं थी । वहाँ रात नहीं होती थी, अपितु निरन्तर दिन ही बना रहता था । वह अपनी प्रभासे सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका तिरस्कार कर रही थी तथा स्वर्गलोकमें स्थित होकर अनेकों सूर्योंको उद्भासित करती हुई-सी उद्दीप्त हो रही थी । सभी प्रकारके मनोरथ, चाहे वे दिव्य हों या मानुष, सब-के-सब वहाँ प्रचुरमात्रामें उपलब्ध थे । वहाँ असंख्य प्रकारके अधिक-से-अधिक रसीले भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थ और पुण्यगन्धमयी मालाएँ सुलभ थीं । वहाँके वृक्ष नित्य पुष्प और फल देनेवाले थे । वहाँका जल गर्मीमें शीतल और सर्दीमें उष्ण रहता था । वहाँ नदियों और सरोवरोंके तटपर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले वृक्ष लगे थे, जिनके अग्रभागमें पुष्प खिले हुए थे और जो लाल-लाल पल्लवों और अङ्कुरोंसे सुशोभित एवं लतारूपी वितानसे आच्छादित थे । भगवान् नृसिंह वहाँ ऐसे अनेकों प्रकारके वृक्ष देखे, जो सुगन्धित पुष्पों और रसदार फलोंसे लदे हुए थे । वहाँ यत्र-तत्र सरोवर भी थे, जिनमें न तो अत्यन्त शीतल और न गरम जल भरा रहता था ॥ ४१–५०½ ॥

अपश्यत् सर्वतीर्थानि सभायां तस्य स प्रभुः ॥ ५१ ॥
नलिनैः पुण्डरीकैश्च शतपत्रैः सुगन्धिभिः । रक्तैः कुवलयैर्नीलैः कुमुदैः संवृतानि च ॥ ५२ ॥
सुकान्तैर्धार्तराष्ट्रैश्च राजहंसैश्च सुप्रियैः । कारण्डवैश्चक्रवाकैः सारसैः कुररैरपि ॥ ५३ ॥
विमलैः स्फाटिकाभैश्च पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः । बहुहंसोपगीतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ५४ ॥
गन्धवत्यः शुभास्तत्र पुष्पमञ्जरिधारिणीः । दृष्टवान् पर्वताग्रेषु नानापुष्पधरा लताः ॥ ५५ ॥
केतक्यशोकसरलाः पुन्नागतिलकार्जुनाः । चूता नीपाः प्रस्थपुष्पाः कदम्बा बकुला धवाः ॥ ५६ ॥
प्रियङ्गुपाटलावृक्षाः शाल्मल्यः सहरिद्रकाः । सालास्तालास्तमालाश्च चम्पकाश्च मनोरमाः ॥ ५७ ॥
तथैवान्ये व्यराजन्त सभायां पुष्पिता द्रुमाः । विद्रुमाश्च द्रुमाश्चैव ज्वलिताग्निसमप्रभाः ॥ ५८ ॥
स्कन्धवन्तः सुशाखाश्च बहुतालसमुच्छ्रयाः । अर्जुनाशोकवर्णाश्च बहवश्चित्रका द्रुमाः ॥ ५९ ॥
वरुणो वत्सनाभश्च पनसाः सह चन्दनैः । नीपाः सुमनसश्चैव निम्बा अश्वत्थतिन्दुकाः ॥ ६० ॥
पारिजाताश्च लोध्राश्च मल्लिका भद्रदारवः । आमलक्यस्तथा जम्बूलकुचाः शलवालुकाः ॥ ६१ ॥
खर्जूर्यो नारिकेलाश्च हरीतकविभीतकाः । कालीयका दुकालाश्च हिङ्गवः पारियात्रकाः ॥ ६२ ॥
मन्दारकुन्दलताश्च पतङ्गाः कुटजास्तथा । रक्ताः कुरण्टकाश्चैव नीलाश्चागरुभिः सह ॥ ६३ ॥
कदम्बाश्चैव भव्याश्च दाडिमा बीजपूरकाः । सप्तपर्णाश्च बिल्वाश्च मधुपरावृतास्तथा ॥ ६४ ॥
अशोकाश्च तमालाश्च नानागुल्मलतावृताः । मधूकाः सप्तपर्णाश्च बहवस्तीरगा द्रुमाः ॥ ६५ ॥

भगवान् नृसिंहने उसकी सभामें सभी पुण्यक्षेत्रोंको भी देखा, जो सुगन्धयुक्त कमल, श्वेत कमल, लाल कमल, नील कमल और कुमुदिनी आदि पुष्पोंसे तथा अत्यन्त सुन्दर काली चोंच और काले पैरोंवाले हंसों, परमप्रिय लगनेवाले राजहंसों, बतखों, चक्रवाकों, सारसों, करॉकुलों एवं स्फटिककी-सी कान्तिवाले निर्मल और पीले पंखोंसे सुशोभित अन्यान्य पक्षियोंसे आच्छादित थे । उनमें बहुत-से हंस कूज

रहे थे और सर्वत्र सारसोकी बोली सुनायी पड़ती थी। भगवान् नृसिंहने पर्वत-शिखरोपर पुष्पोसे लदी हुई अनेको प्रकारकी लताओको भी देखा, जो सुन्दर मंजरियोसे सुशोभित थीं और जिनसे मनोरम गन्ध फैल रही थीं। उस सभामें केतकी, अशोक, सरल (चीड़), पुन्नाग, तिलक, अर्जुन, आम, नीप, प्रस्थपुष्प, कदम्ब, बकुल, धव, प्रियगु, पाटल, शाल्मली, हरिद्रक, साल, ताल, तमाल, मनोरम, चम्पक, विद्रुम तथा प्रज्वलित अग्निकी-सी कान्तिवाले अन्यान्य वृक्ष फूलोसे लद हुए शोभा पा रहे थे। वहाँ अर्जुन और अशोकके-से वर्णवाले मोटी-मोटी डालो एवं सुन्दर शाखाओसे युक्त बहुत-से चित्रक (रेंड़ या तिलक) के वृक्ष थे, जिनकी ऊँचाई अनेको तालवृक्षोके बराबर थी। वहाँ वरुण, वत्सनाभ, कटहल, चन्दन, सुन्दर पुष्पोसे युक्त नीप, नीम, पीपल, तिन्दुक, पारिजात, लोध्र, मल्लिका, भद्रदारु, आमला, जामुन, बड़हर, शैलवालुक, खजूर, नारियल, हरीतक, विभीतक, कालीयक, दुकाल, हींग, पारियात्रक, मन्दार, कुन्द, लकुच, पतग, कुटज, लाल कुरण्टक, अगुरु, कदम्ब, सुन्दर अनार, बिजौरा नीबू, सप्तपर्ण, बेल, भँवरोंसे घिरे हुए अशोक, अनेको गुल्मो और लताओसे आच्छादित तमाल, महुआ और सप्तपर्ण आदि बहुत-से वृक्ष तटपर उगे हुए थे ॥५१—६५॥

लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः। एते चान्ये च बहवस्तत्र काननजा द्रुमाः ॥ ६६ ॥
नानापुष्पफलोपेता व्यराजन्त समततः। चकाराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥ ६७ ॥
पुष्पिताः पुष्पिताग्रेश्च सम्पतन्ति महाद्रुमाः। रक्तपीतारुणास्तत्र पादपाग्रगताः खगाः ॥ ६८ ॥
परस्परमवेक्षन्ते प्रहृष्टा जीवजीवकाः। तस्यां सभायां दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तदा ॥ ६९ ॥
स्त्रीसहस्रैः परिवृतो विचित्राभरणाम्बरः। अनर्घ्यमणिवज्रार्चिःशिखाज्वलितकुण्डलः ॥ ७० ॥
आसीनश्चासने चित्रे दशनल्वप्रमाणतः। दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥ ७१ ॥
दिव्यगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ। हिरण्यकशिपुर्दैत्य आस्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ ७२ ॥
उपचेरुर्महादैत्यं हिरण्यकशिपुं तदा। दिव्यतानेन गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमाः ॥ ७३ ॥

वहाँ पत्र, पुष्प और फलसे सुशोभित अनेकों प्रकारकी लताएँ फैली हुई थीं। ये तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य बहुत-से जगली वृक्ष नाना प्रकारके पुष्पो और फलोंसे लदे हुए चारो ओर शोभा पा रहे थे। चकोर, शतपत्र (कठफोड़वा), मतवाली कोयल और मैना एक पुष्पित वृक्षके पल्लवसे उड़कर दूसरे पुष्पित महान् वृक्षपर बैठ रही थीं। वहाँ रक्त, पीत और अरुण वर्णवाले बहुतेरे पक्षी वृक्षोके शिखरोपर बैठे थे तथा चकोर प्रसन्न मनसे परस्पर एक-दूसरेकी ओर देख रहे थे। उसी सभामें उस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु सूर्यके समान चमकीले एवं दिव्य बिछौनोसे आच्छादित एक दस नल्व[1] प्रमाणवाले रमणीय दिव्य सिंहासनपर आसीन था। वह विचित्र ढंगके आभूषणो और वस्त्रोसे सुसज्जित तथा हजारो स्त्रियोसे घिरा हुआ था। उसके कुण्डल बहुमूल्य मणियो और हीरेकी प्रभासे उद्भासित हो रहे थे। ऐसे उद्दीप्त कुण्डलोसे विभूषित दैत्यराज हिरण्यकशिपु वहाँ विराजमान था। उस समय दिव्य गन्धसे युक्त परम सुखदायिनी वायु चल रही थी। परिचारकगण महादैत्य हिरण्यकशिपुकी सेवामें जुटे हुए थे। गन्धर्वश्रेष्ठ दिव्य तानद्वारा गीत अलाप रहे थे ॥ ६६—७३ ॥

विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचेत्यभिविश्रुता। दिव्याथ सौरसेयी च समीची पुञ्जिकस्थली ॥ ७४ ॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रलेखा शुचिस्मिता। चारुकेशी घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥ ७५ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः। उपतिष्ठन्ति राजानं हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥ ७६ ॥

१—चार सौ हाथका या किसी-किसीके मतसे एक सौ हाथका प्राचीन माप।

तत्रासीनं महाबाहुं हिरण्यकशिपुं प्रभुम् । उपासन्ते दितेः पुत्राः सर्वे लब्धवरास्तथा ॥ ७७ ॥
तमप्रतिमकर्माणं शतशोऽथ सहस्रशः । बलिर्विरोचनस्तत्र नरकः पृथिवीसुतः ॥ ७८ ॥
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुरः । सुरहन्ता दुःखहन्ता सुनामा सुमतिर्वरः ॥ ७९ ॥
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा । विश्वरूपः सुरूपश्च स्वबलश्च महाबलः ॥ ८० ॥
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा महासुरः । घटास्योऽकम्पनश्चैव प्रजनश्चेन्द्रतापनः ॥ ८१ ॥
दैत्यदानवसङ्घास्ते सर्वे ज्वलितकुण्डलाः । स्रग्विणो वाग्मिनः सर्वे सदैव चरितव्रताः ॥ ८२ ॥
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः । एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥ ८३ ॥
उपासन्ति महात्मानं सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानैर्विविधाकारैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥ ८४ ॥
महेन्द्रवपुषः सर्वे विचित्राङ्गदबाहवः । भूषिताङ्गा दितेः पुत्रास्तमुपासन्त सर्वशः ॥ ८५ ॥
तस्यां सभायां दिव्यायामसुराः पर्वतोपमाः । हिरण्यवपुषः सर्वे दिवाकरसमप्रभाः ॥ ८६ ॥
न श्रुतं नैव दृष्टं हि हिरण्यकशिपोर्यथा । ऐश्वर्यं दैत्यसिंहस्य यथा तस्य महात्मनः ॥ ८७ ॥

उस समय विश्वाची, सहजन्या, सुविख्यात प्रम्लोचा, दिव्या, सौरभेयी, समीची, पुंजिकस्थली, मिश्रकेशी, रम्भा, पवित्र मुसकानवाली चित्रलेखा, चारुकेशी, घृताची, मेनका तथा उर्वशी—ये तथा अन्य हजारों नाचने-गानेमें निपुण अप्सराएँ सामर्थ्यशाली दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सेवामें उपस्थित थीं । अनुपम कर्म करनेवाले सामर्थ्यशाली महाबाहु हिरण्यकशिपुके वहाँ विराजमान होनेपर वरप्राप्तिवाले सैकड़ों-हजारों दैत्य उसकी सेवा करते रहते थे । बलि, विरोचन, भूमि-पुत्र नरक, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, महान् असुर गविष्ठ, सुरहन्ता, दुःखहन्ता, सुनामा, असुरश्रेष्ठ सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, सुरूप, महाबली स्वबल, दशग्रीव, वाली, महान् असुर मेघवासा, घटास्य, अकम्पन, प्रजन और इन्द्रतापन—ये तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से दैत्यों एवं दानवोंके समुदाय महान् आत्मबलसे सम्पन्न एवं सामर्थ्यशाली हिरण्यकशिपुकी सेवा कर रहे थे । उन सबके कानोंमें चमकीले कुण्डल झलमला रहे थे और गलेमें माला शोभा पा रही थी । वे सभी बोलनेमें निपुण तथा सदा व्रतका पालन करनेवाले थे । वे सभी शूरवीर, वरदानसे सम्पन्न, मृत्युरहित और दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित थे । वे अग्निके समान चमकीले विविध प्रकारके विमानोंसे सम्पन्न थे । उनके शरीर आभूषणोंसे विभूषित थे । उनकी भुजाओंपर विचित्र केयूर बँधा हुआ था और उनके शरीर महेन्द्रके समान सुन्दर थे । इस प्रकार वे दैत्य सब तरहसे हिरण्यकशिपुकी उपासना कर रहे थे । उस दिव्य सभामें बैठनेवाले सभी असुर पर्वतके समान विशालकाय थे । उनका शरीर स्वर्णके समान चमकीला था और उनकी कान्ति सूर्यके समान थी । महान् आत्मबलसे सम्पन्न उस दैत्यसिंह हिरण्यकशिपुका जैसा ऐश्वर्य था, वैसा न कभी देखा गया था और न सुना ही गया था ॥ ७४—८७ ॥

कनकरजतचित्रवेदिकायां परिहृतरत्नविचित्रवीथिकायाम् ।
स ददर्श मृगाधिपः सभायां सुरचितरत्नगवाक्षशोभितायाम् ॥ ८८ ॥
कनकविमलहारविभूषिताङ्गं दितितनयं स मृगाधिपो ददर्श ।
दिवसकरमहाप्रभाज्वलन्तं दितिजसहस्रशतैर्निषेव्यमाणम् ॥ ८९ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नारसिंहप्रादुर्भावे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

जिसमें सुवर्ण और चाँदीकी सुन्दर वेदिकाएँ बनी थीं, रत्नजटित होनेके कारण जिसकी गलियाँ अत्यन्त मनोहर लग रही थीं और जो सुन्दर ढंगसे बनाये गये रत्नोंके झरोखोंसे सुशोभित थी। उस सभामें भगवान् नृसिंहने दितिनन्दन हिरण्यकशिपुको देखा, उसका शरीर स्वर्णनिर्मित्त विमल हारसे विभूषित था, वह सूर्यकी उत्कट प्रभाके समान उद्दीप्त हो रहा था और उसकी सैकड़ों-हजारों दैत्य सेवा कर रहे थे ॥८८-८९॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नरसिंहप्रादुर्भावप्रसङ्गमें एक सौ एकसठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१६१॥

एक सौ बासठवाँ अध्याय

प्रह्लादद्वारा भगवान् नरसिंहका स्वरूप-वर्णन तथा नरसिंह और दानवोंका भीषण युद्ध

सूत उवाच

ततो दृष्ट्वा महात्मानं कालचक्रमिवागतम्। नरसिंहवपुश्छन्नं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ १ ॥
हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान्। दिव्येन चक्षुषा सिंहमपश्यद् देवमागतम् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा रुक्मशैलाभमपूर्वां तनुमाश्रितम्। विस्मिता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर राखमें छिपी हुई अग्निकी तरह नरसिंह-शरीरमें छिपे हुए महात्मा विष्णुको कालचक्रकी भाँति आया देख हिरण्यकशिपुके पुत्र पराक्रमी प्रह्लादने दिव्य दृष्टिसे सिंहको देखकर समझ लिया कि भगवान् विष्णु आ गये। सुमेरु पर्वतकी-सी कान्तिवाले अपूर्व शरीरको धारण किये हुए उस सिंहको देखकर हिरण्यकशिपु-सहित सभी दानव घबरा गये ॥ १—३ ॥

प्रह्लाद उवाच

महाबाहो महाराज दैत्यानामादिसम्भव। न श्रुतं न च नो दृष्टं नारसिंहमिदं वपुः ॥ ४ ॥
अव्यक्तप्रभवं दिव्यं किमिदं रूपमागतम्। दैत्यान्तकरणं घोरं संशतीव मनो मम ॥ ५ ॥
अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः। हिमवान् पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥ ६ ॥
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरादित्यैर्वसुभिः सह। धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रः शचीपतिः ॥ ७ ॥
मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः। नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥ ८ ॥
ब्रह्मा देवः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति वै। स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥ ९ ॥
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्वृतः। विमानशतसङ्कीर्णा तथैव भवतः सभा ॥ १० ॥
सर्वं त्रिभुवनं राजँल्लोकधर्माश्च शाश्वताः। दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिंस्तथेदमखिलं जगत् ॥ ११ ॥
प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च महीरुहाश्च।
उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ १२ ॥
सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवा ऋषयश्च सर्वे।
क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो धर्मश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ १३ ॥

तब प्रह्लादने कहा—महाबाहु महाराज! आप दैत्योंके मूल पुरुष हैं। आपके इस नरसिंह-शरीरके विषयमें अबतक कभी कुछ न सुना ही गया और न इसे कभी देखा ही गया, अज्ञातरूपसे उत्पन्न होनेवाला यह कौन-सा दिव्यरूप आ पहुँचा है? मुझे ऐसा है कि आपका यह भयंकर रूप दैत्योंका अन्त ही करनेवाला है। इस सिंहके शरीरमें सभी देवता, समुद्र, सभी नदियाँ, हिमवान्, पारियात्र (विन्ध्य) आदि सभी कुलपर्वत, नक्षत्रों, आदित्यगणों और वसुगणोंसहित चन्द्रमा, कुबेर, वरुण, यमराज, शचीपति इन्द्र, मरुद्गण,

देवगन्धर्व, तपोधन महर्षि, नाग, यक्ष, पिशाच, भयंकर पराक्रमी राक्षस, ब्रह्मा और भगवान् शंकर स्थित हैं। ये सभी ललाटमें स्थित होकर भ्रमण कर रहे हैं। राजन्! सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी, हमलोगोंसहित तथा समस्त दैत्यगणोंसे घिरे हुए आप, सैकड़ों विमानोंसे भरी हुई आपकी यह सभा, सारी त्रिलोकी, शाश्वत लोकधर्म तथा यह अखिल जगत् इस नरसिंहके शरीरमें दिखायी पड़ रहे हैं। साथ ही इस शरीरमें प्रजापति, महात्मा मनु, ग्रह, योग, वृक्ष, उत्पात, काल, धृति, मति, रति, सत्य, तप, दम, महानुभाव सनत्कुमार, विश्वेदेवगण, सभी ऋषिगण, क्रोध, काम, हर्ष, धर्म, मोह और सभी पितृगण भी विद्यमान हैं ॥ ४—१३ ॥

प्रह्लादस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः। उवाच दानवान् सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥ १४ ॥
मृगेन्द्रो गृह्यतामेष अपूर्वां तनुमास्थितः। यदि वा संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥ १५ ॥
ते दानवगणाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम्। परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ १६ ॥
सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः। बभञ्ज तां सभां सर्वां व्यादितास्य इवान्तकः ॥ १७ ॥
सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम्। चिक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषाद् व्याकुललोचनः ॥ १८ ॥

इस प्रकार प्रह्लादकी बात सुनकर दानवगणोंके अधीश्वर सामर्थ्यशाली हिरण्यकशिपुने सभी दानवगणोंको आदेश देते हुए कहा—'दानवो! अपूर्व शरीर धारण करनेवाले इस मृगेन्द्रको पकड़ लो। अथवा यदि पकड़नेमें कोई संदेह हो तो इस वनैले जीवको मार डालो।' यह सुनकर वे सभी दानवगण हर्षपूर्वक उस भयंकर पराक्रमी मृगेन्द्रपर टूट पड़े और बलपूर्वक त्रास देने लगे। तदनन्तर मुख फैलाये हुए कालकी तरह भीषण दीखनेवाले महाबली नरसिंहने सिंहनाद करके उस सारी सभाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सभाको विध्वंस होते देखकर हिरण्यकशिपुके नेत्र क्रोधसे व्याकुल हो गये, तब वह स्वयं नरसिंहपर अस्त्र छोड़ने लगा ॥

सर्वास्त्राणामथ ज्येष्ठं दण्डमस्त्रं सुदारुणम्। कालचक्रं तथा घोरं विष्णुचक्रं तथा परम् ॥ १९ ॥
पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यदहनं महत्। विचित्रामशनीं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥ २० ॥
रौद्रं तथोग्रं शूलं च कङ्कालं मुसलं तथा। मोहनं शोषणं चैव सन्तापनविलापनम् ॥ २१ ॥
वायव्यं मथनं चैव कापालमथ कैङ्करम्। तथाप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ २२ ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं शिशिरं तथा। कम्पनं शातनं चैव त्वाष्ट्रं चैव सुभैरवम् ॥ २३ ॥
कालमुद्गरमक्षोभ्यं तपनं च महाबलम्। संवर्तनं मादनं च तथा मायाधरं परम् ॥ २४ ॥
गान्धर्वमस्त्रं दयितमसिरत्नं च नन्दकम्।
प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम्। अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याप्रतिहता गतिः ॥ २५ ॥
अस्त्रं हयशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च। नारायणास्त्रमैन्द्रं च सार्पमस्त्रं तथाद्भुतम् ॥ २६ ॥
पैशाचमस्त्रमजितं शोषदं शामनं तथा। महाबलं भावनं च प्रस्थापनविकम्पने ॥ २७ ॥
एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा। असृजन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाहुतिम् ॥ २८ ॥
अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः। विवस्वान् घर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः ॥ २९ ॥
स ह्यमर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः। क्षणेन प्लावयामास मैनाकमिव सागरः ॥ ३० ॥
प्रासैः पाशैश्च खड्गैश्च गदाभिर्मुसलैस्तथा। वज्रैरशनिभिश्चैव साग्निभिश्च महाद्रुमैः ॥ ३१ ॥
मुद्गरैर्भिन्दिपालैश्च शिलोलूखलपर्वतैः। शतघ्नीभिश्च दीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारुणैः ॥ ३२ ॥

उस समय हिरण्यकशिपु सम्पूर्ण अस्त्रोंमें सबसे बड़ा दण्ड अस्त्र, अत्यन्त भीषण कालचक्र, अतिशय भयंकर विष्णुचक्र, त्रिलोकीको भस्म कर देनेवाला अत्यन्त उग्र पितामहका महान् अस्त्र ब्रह्मास्त्र, विचित्र

वज्र, सूखी और गीली दोनों प्रकारकी अशनि, भयानक तथा उग्र शूल, कंकाल, मूसल, मोहन, शाषण, संतापन, विलापन, बायव्य, मथन, कापाल, कैंकर, अमोघ शक्ति, क्रौञ्चास्त्र, ब्रह्मशिरा अस्त्र, सोमास्त्र, शिशिर, कम्पन, शातन, अत्यन्त भयंकर त्वाष्ट्रास्त्र, कभी क्षुब्ध न होनेवाला कालमुद्गर, महाबलशाली तपन, संवर्तन, मादन, परमोत्कृष्ट मायाधर, परमप्रिय गान्धर्वास्त्र, असिरत्न नन्दक, प्रस्वापन, प्रमथन, सर्वोत्तम वारुणास्त्र, जिसकी गति अप्रतिहत होती है ऐसा पाशुपतास्त्र, हयशिरा अस्त्र, ब्राह्म अस्त्र, नारायणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, अद्भुत नागास्त्र, अजेय पैशाचास्त्र, शोषण, शामन, महाबलसे सम्पन्न भावन, प्रस्थापन, विकम्पन—इन सभी दिव्यास्त्रोंको नरसिंहके ऊपर उसी प्रकार छोड़ रहा था, मानो प्रज्वलित अग्निमे आहुति डाल रहा हो। उस असुरश्रेष्ठने नरसिंहको प्रज्वलित अस्त्रोंद्वारा ऐसा आच्छादित कर दिया, जैसे ग्रीष्म ऋतुमे सूर्य अपनी किरणोंसे हिमवान् पर्वतको ढक लेते हैं। दैत्योंका वह सेनारूपी सागर क्रोधरूपी वायुसे उच्छ्वलित हो उठा और क्षणमात्रमे ही वहाँकी भूमिपर इस प्रकार छा गया, जैसे सागर मैनाक पर्वतको डुबाकर उबल उठा था। फिर तो वे भाला, पाश, तलवार, गदा, मुसल, वज्र, अग्निसहित अशनि, विशाल वृक्ष, मुद्गर, भिन्दिपाल, शिला, ओखली, पर्वत, प्रज्वलित शतघ्नी (तोप) और अत्यन्त भीषण दण्डसे नरसिंहपर प्रहार करने लगे ॥

ते दानवाः पाशगृहीतहस्ता महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगाः।
समन्ततोऽभ्युद्यतबाहुकायाः स्थितास्त्रिशीर्षा इव नागपाशाः ॥ ३३ ॥
सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गाः पीतांशुकाभोगविभाविताङ्गाः।
मुक्तावलीदामसनाथकक्षा हंसा इवाभान्ति विशालपक्षाः ॥ ३४ ॥
तेषां तु वायुप्रतिमौजसां वै केयूरमौलीवलयोत्कटानाम्।
तान्युत्तमाङ्गान्यभितो विभान्ति प्रभातसूर्यांशुसमप्रभाणि ॥ ३५ ॥
क्षिपद्भिरुग्रैर्ज्वलितैर्महाबलैर्महास्त्रपूगैः सुसमावृतो बभौ।
गिरिर्यथा संततवर्षिभिर्घनैः कृतान्धकारान्तरकन्दरो द्रुमैः ॥ ३६ ॥
तैर्हन्यमानोऽपि महास्त्रजालैर्महाबलैर्दैत्यगणैः समेतैः।
नाकम्पताजौ भगवान् प्रतापस्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ ३७ ॥
संत्रासितास्तेन नृसिंहरूपिणा दितेः सुताः पावकतुल्यतेजसा।
भयाद् विचेलुः पवनोद्धुताङ्गा यथोर्मयः सागरवारिसम्भवाः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नारसिंहप्रादुर्भावो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

उस समय महेन्द्रके वज्र एवं अशनिके समान वेगशाली वे दानव हाथमें पाश लिये हुए चारो ओर अपनी भुजाओ और शरीरोको ऊपर उठाये हुए स्थित थे, जो तीन शिखावाले नागपाशकी तरह दीख रहे थे। उनके शरीर सोनेकी मालाओसे विभूषित थे, उनके अङ्गोंपर पीला रेशमी वस्त्र शोभा पा रहा था तथा कटिबंध मोतियोंकी लड़ियोसे संयुक्त थे, जिससे वे विशाल पंखधारी हंसकी भाँति शोभा पा रहे थे। केयूर, मुकुट और कंकणसे सुशोभित उन उत्कट पराक्रमी एवं वायुके समान ओजस्वी दानवोंके मस्तक प्रातःकालीन सूर्यकी किरणोकी कान्ति-सदृश चमक रहे थे। उन महाबली दानवोद्वारा चलाये गये भयंकर एवं उद्दीप्त महान् अस्त्रसमूहोसे आच्छादित हुए भगवान् नरसिंह उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, मानो निरन्तर वर्षा करनेवाले बादलो और वृक्षोसे अन्धकारित किये गये गुफाओसे युक्त पर्वत हो। संगठित हुए उन

महाबली दैत्योंद्वारा महान् अस्त्रसमूहोंसे आघात किये जानेपर भी प्रतापशाली भगवान् नरसिंह युद्धस्थलमें विचलित नहीं हुए, अपितु प्रकृतिसे अटल रहनेवाले हिमवान्‌की तरह अडिग होकर डटे रहे। अग्निके समान तेजस्वी नृसिंहरूपधारी भगवान् विष्णुके द्वारा डराये गये दैत्यगण भयके कारण उसी प्रकार विचलित हो गये, जैसे समुद्रके जलमें उठी हुई लहरें वायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हो जाती हैं ॥ ३३—३८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें नारसिंहप्रादुर्भाव नामक एक सौ बासठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६२ ॥

एक सौ तिरसठवाँ अध्याय

नरसिंह और हिरण्यकशिपुका भीषण युद्ध, दैत्योंको उत्पातदर्शन, हिरण्यकशिपुका अत्याचार, नरसिंहद्वारा हिरण्यकशिपुका वध तथा ब्रह्माद्वारा नरसिंहकी स्तुति

सूत उवाच

खरश्वानमुखाश्चैव मकराशीविषाननाः। ईहामृगमुखाश्चान्ये वराहमुखसंस्थिताः ॥ १ ॥
बालसूर्यमुखाश्चान्ये धूमकेतुमुखास्तथा। अर्धचन्द्रार्धवक्त्राश्च अग्निदीप्तमुखास्तथा ॥ २ ॥
हंसकुक्कुटवक्त्राश्च व्यादितास्या भयावहाः। सिंहास्या लेलिहानाश्च काकगृध्रमुखास्तथा ॥ ३ ॥
द्विजिह्वका वक्रशीर्षास्तथोल्कामुखसंस्थिताः। महाग्राहमुखाश्चान्ये दानवा बलदर्पिताः ॥ ४ ॥
शैलसंवर्ष्मणस्तस्य शरीरे शरवृष्टिभिः। अवध्यस्य मृगेन्द्रस्य न व्यथां चक्रुराहवे ॥ ५ ॥
एवं भूयो परान् घोरानसृजन् दानवेश्वराः। मृगेन्द्रस्योपरि क्रुद्धा निःश्वसन्त इवोरगाः ॥ ६ ॥
ते दानवशरा घोरा दानवेन्द्रसमीरिताः। विलयं जग्मुराकाशे खद्योता इव पर्वते ॥ ७ ॥
ततश्चक्राणि दिव्यानि दैत्याः क्रोधसमन्विताः। मृगेन्द्रायासृजन्नाशु ज्वलितानि समन्ततः ॥ ८ ॥
तैरासीद् गगनं चक्रैः सम्पतद्भिरितस्ततः। युगान्ते सम्प्रकाशद्भिश्चन्द्रादित्यग्रहैरिव ॥ ९ ॥
तानि सर्वाणि चक्राणि मृगेन्द्रेण महात्मना। ग्रस्तान्युदीर्णानि तदा पावकार्चिःसमानि वै ॥ १० ॥
तानि चक्राणि वदने विशमानानि भान्ति वै। मेघोदरदरीष्विव चन्द्रसूर्यग्रहा इव ॥ ११ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! उन दानवोंमें किन्हींके मुख गधे और कुत्तेके समान थे तो कुछ मकर और सर्पके-से मुखवाले थे। किन्हींके मुख भेड़िया-सदृश तो कुछके सूअर-जैसे थे। कुछ उदयकालीन सूर्यके समान तो कुछ धूमकेतु-से मुखवाले थे। किन्हींके मुख अर्धचन्द्र तथा किन्हींके अग्निकी तरह उद्दीप्त थे। किन्हींका मुख आधा ही था। किन्हींके मुख हंस और मुर्गेके समान थे। किन्हींके मुख फैले हुए थे, जो बड़े भयावने लग रहे थे। कुछ सिंहके-से मुखवाले दानव जीभ लपलपा रहे थे। किन्हींके मुख कौआ और गीधा-जैसे थे। किन्हींके मुखमें दो जिह्वाएँ थीं, किन्हींके मस्तक टेढ़े थे और कुछ उल्का-सरीखे मुखवाले थे। किन्हींके मुख महाग्राह-सदृश थे। इस प्रकार के बलाभिमानी दानव रणभूमिमें पर्वतके समान सुदृढ़ शरीरवाले उन अवध्य मृगेन्द्रके शरीरपर बाणोंकी वृष्टि करके उन्हें पीड़ित न कर सके। तब क्रुद्ध हुए सर्पकी भाँति निःश्वास छोड़ते हुए वे दानवेश्वर नरसिंहके ऊपर पुनः दूसरे भयंकर बाणोंकी वृष्टि करने लगे, परंतु दानवेश्वरोंद्वारा छोड़े गये वे भयंकर बाण उसी प्रकार आकाशमें विलीन हो जाते थे, जैसे पर्वतपर चमकते हुए जुगुनू। तत्पश्चात् क्रोधसे भरे हुए दैत्य शीघ्र ही नरसिंहके ऊपर चारों ओरसे चमकते हुए दिव्य चक्रोंकी वर्षा करने लगे। इधर-उधर गिरते हुए उन चक्रोंसे आकाशमण्डल ऐसा दीख रहा था, मानो युगान्तके समय प्रकाशित हुए चन्द्रमा, सूर्य आदि ग्रहोंसे युक्त हो गया हो। अग्निकी लपटोंके समान

उठते हुए उन सभी चक्रोंको महात्मा नरसिंह निगल गये। उस समय उनके मुखमें प्रविष्ट होते हुए वे चक्र मेघोंकी घनघोर घटामें घुसते हुए चन्द्र, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ १—११ ॥

हिरण्यकशिपुर्दैत्यो भूयः प्रासृजदूर्जिताम। शक्तिं प्रज्वलितां घोरां धौतशस्त्रतडित्प्रभाम् ॥ १२ ॥
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य मृगेन्द्रः शक्तिमुज्ज्वलाम्। हुङ्कारेणैव रौद्रेण बभञ्ज भगवांस्तदा ॥ १३ ॥
रराज भग्ना सा शक्तिर्मृगेन्द्रेण महीतले। सविस्फुलिङ्गा ज्वलिता महोल्केव दिवश्च्युता ॥ १४ ॥
नाराचपङ्क्तिः सिंहस्य प्राप्ता रेजेऽविदूरतः। नीलोत्पलपलाशानां मालेवोज्ज्वलदर्शना ॥ १५ ॥
स गर्जित्वा यथान्यायं विक्रम्य च यथासुखम्। तत्सैन्यमुत्सारितवांस्तृणाग्राणीव मारुतः ॥ १६ ॥
ततोऽश्मवर्षं दैत्येन्द्रा व्यसृजन्त नभोगताः। नगमात्रैः शिलाखण्डैर्गिरिशृङ्गैर्महाप्रभैः ॥ १७ ॥
तदश्मवर्षं सिंहस्य महन्मूर्धनि पातितम्। दिशो दश विकीर्णं वै खद्योतप्रकरा इव ॥ १८ ॥
तदाश्मौघैर्दैत्यगणाः पुनः सिंहमरिन्दमम्। छादयांचक्रिरे मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥ १९ ॥
न च तं चालयामासुर्दैत्यौघा देवसत्तमम्। भीमवेगोऽचलश्रेष्ठं समुद्र इव मन्दरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर दैत्यराज हिरण्यकशिपुने भगवान् नरसिंह-पर पुनः अपनी भयंकर शक्ति छोड़ी, जो चमकीली, अत्यन्त शक्तिशालिनी और धुली होनेके कारण बिजली-सी चमक रही थी। तब उस उज्ज्वल शक्तिको अपनी ओर आती हुई देखकर भगवान् नरसिंहने अपने भयंकर हुंकारसे ही उसे तोड़कर टूक-टूक कर दिया। नरसिंहद्वारा तोड़ी गयी वह शक्ति ऐसी शोभा पा रही थी, जैसे आकाशसे भूतलपर गिरी हुई चिनगारियोंसहित प्रज्वलित महान् उल्का हो। नरसिंहके निकट पहुँची हुई (दैत्योंद्वारा छोड़े गये) बाणोंकी उज्ज्वल वर्णवाली पंक्ति नीले कमल-दलकी मालाकी तरह शोभा पा रही थी। यह देखकर भगवान् नरसिंहने न्यायतः पराक्रम प्रदर्शित कर सुखपूर्वक गर्जना की और उस दानव-सेनाको वायुद्वारा उड़ाये गये क्षुद्र तिनकोंकी तरह खदेड़ दिया। तदुपरान्त दैत्येश्वरगण आकाशमें स्थित होकर पत्थरकी वर्षा करने लगे। पत्थरोंकी वह वर्षा नरसिंहके विशाल मस्तकपर गिरकर चूर-चूर हो जुगनुओंके समूहकी भाँति दसों दिशाओंमें बिखर गयी। तब दैत्यगणोंने पुनः पर्वत-सरीखे शिलाखण्डों, पर्वत-शिखरों और पत्थरोंसे उन शत्रुसूदन नरसिंहको इस प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे मेघ जलकी धाराओंद्वारा पर्वतको ढक देते हैं। फिर भी वह दैत्यसमुदाय उन देवश्रेष्ठ नरसिंहको उसी प्रकार विचलित नहीं कर सका, जैसे भयंकर वेगशाली समुद्र पर्वतश्रेष्ठ मन्दरको नहीं डिगा सका ॥ १२—२० ॥

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षमनन्तरम्। धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ २१ ॥
नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवेगाः समंततः। आवृत्य सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥ २२ ॥
धारा दिवि च सर्वत्र वसुधायां च सर्वशः। न स्पृशन्ति च ता देवं निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥ २३ ॥
बाह्यतो ववृषुर्वर्षं नोपरिष्टाच्च ववृषुः। मृगेन्द्रप्रतिरूपस्य स्थितस्य युधि मायया ॥ २४ ॥
हतेऽश्मवर्षे तुमुले जलवर्षे च शोषिते। सोऽसृजद् दानवो मायामग्निवायुसमीरिताम् ॥ २५ ॥
महेन्द्रस्तोयदैः सार्धं सहस्राक्षो महाद्युतिः। महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम् ॥ २६ ॥
तस्यां प्रतिहतायां तु मायायां युधि दानवः। असृजद् घोरसंकाशं तमस्तीव्रं समन्ततः ॥ २७ ॥
तमसा संवृते लोके दैत्येष्वात्तायुधेषु च। स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवाबभौ ॥ २८ ॥
त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुर्दानवा रणे। ललाटस्थां त्रिशूलाङ्कां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ २९ ॥

तदनन्तर पत्थरोंकी वृष्टिके विफल हो जानेपर चारों ओर मूसलाधार जलकी वृष्टि होने लगी। चारों ओर आकाशसे गिरती हुई वे तीव्र वेगवाली धाराएँ सब ओरसे आकाश, दिशाओं तथा विदिशाओंको

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैर्ग्रहैः सह तमोनुदः। चराचरविनाशाय रोहिणीं नाभ्यनन्दत ॥ ४१ ॥
गृह्यते राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते। उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे विचरन्ति यथासुखम् ॥ ४२ ॥
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम्। अपतन्गगनादुल्का विद्युद्रूपा महास्वनाः ॥ ४३ ॥
अकाले च द्रुमाः सर्वे पुष्पन्ति च फलन्ति च। लताश्च सफलाः सर्वा ये चाहुर्दैत्यनाशनम् ॥ ४४ ॥
फलैः फलान्यजायन्त पुष्पैः पुष्पं तथैव च। उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥ ४५ ॥
विक्रोशन्ति च गम्भीरा धूमयन्ति ज्वलन्ति च। प्रतिमाः सर्वदेवानां वेदयन्ति महद् भयम् ॥ ४६ ॥
आरण्यैः सह संसृष्टा ग्राम्याश्च मृगपक्षिणः। चक्रुः सुभैरवं तत्र महायुद्धमुपस्थितम् ॥ ४७ ॥
नद्यश्च प्रतिकूलानि वहन्ति कलुषोदकाः। न प्रकाशन्ति च दिशो रक्तरेणुसमाकुलाः ॥ ४८ ॥
वानस्पत्यो न पूज्यन्ते पूजनार्हाः कथञ्चन। वायुवेगेन हन्यन्ते भज्यन्ते प्रणमन्ति च ॥ ४९ ॥

इसी प्रकार अन्धकारका विनाश करनेवाले चन्द्रमा नक्षत्रों और ग्रहोंके साथ रहकर चराचर जगत्का विनाश करनेके लिये रोहिणीका अभिनन्दन नहीं कर रहे थे। राहु चन्द्रमाको ग्रस्त कर रहा था और उल्काएँ उन्हें मार भी रही थीं। प्रज्वलित उल्काएँ चन्द्रलोकमें सुखपूर्वक विचरण कर रही थीं। जो देवताओंका भी देवता (इन्द्र) है, वह रक्तकी वर्षा करने लगा। आकाशसे बिजलीकी-सी कान्तिवाली उल्काएँ भयंकर शब्द करती हुई पृथ्वीपर गिरने लगीं। सभी वृक्ष असमयमें ही फूलने और फलने लगे तथा सभी लताएँ फलसे युक्त हो गयीं, जो दैत्योंके विनाशकी सूचना दे रही थीं। फलोंसे फल तथा फूलोंसे फूल प्रकट होने लगे। सभी देवताओंकी मूर्तियाँ कभी आँख फाड़कर देखतीं, कभी आँखें बंद कर लेतीं, कभी हँसती थीं तो कभी रोने लगती थीं। वे कभी जोर-जोरसे चिल्लाने लगती थीं, कभी गम्भीररूपसे धुआँ फेंकती थीं तो कभी प्रज्वलित हो जाती थीं। इस प्रकार वे महान् भयकी सूचना दे रही थीं। उस समय ग्रामीण मृग-पक्षी वन्य मृग-पक्षियोंसे संयुक्त होकर अत्यन्त भयंकर महान् युद्ध करने लगे। गंदे जलसे भरी हुई नदियाँ उलटी दिशामें बहने लगीं। रक्त और धूलसे व्याप्त दिशाएँ दिखायी नहीं दे रही थीं। पूजनीय वृक्षोंकी किसी प्रकार पूजा (रक्षा) नहीं हो रही थी। वे वायुके झोंकेसे प्रताडित हो रहे थे, झुक जाते थे और टूट भी जाते थे ॥ ४१–४९ ॥

यदा च सर्वभूतानां छाया न परिवर्तते। अपराह्णगते सूर्ये लोकानां युगसंक्षये ॥ ५० ॥
तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरि वेश्मनः। भाण्डागारायुधागारे निविष्टमभवन्मधु ॥ ५१ ॥
असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च। दृश्यन्ते विविधोत्पाता घोरा घोरनिदर्शनाः ॥ ५२ ॥
एते चान्ये च बहवो घोरोत्पाताः समुत्थिताः। दैत्येन्द्रस्य विनाशाय दृश्यन्ते कालनिर्मिताः ॥ ५३ ॥
मेदिन्यां कम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना। महीधरा नागगणा निपेतुरमितौजसः ॥ ५४ ॥
विषज्वालाकुलैर्वक्त्रैर्विमुञ्चन्तो हुताशनम्। चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः ॥ ५५ ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ। एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् ॥ ५६ ॥
सहस्रशीर्षो नागो वै हेमतालध्वजः प्रभुः। शेषोऽनन्तो महाभागो दुष्प्रकम्प्यः प्रकम्पितः ॥ ५७ ॥
दीप्तान्यन्तर्जलस्थानि पृथिवीधरणानि च। तदा क्रुद्धेन महता कम्पितानि समन्ततः ॥ ५८ ॥
नागास्तेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः। हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान् महीम् ॥ ५९ ॥
संदष्टौष्ठपुटः क्रोधाद्वाराह इव पूर्वजः।

इस प्रकार लोकोंके युगान्तके समय सूर्यके अपराह्ण-समयमें पहुँचनेपर जब सभी प्राणियोंकी छायामें कोई परिवर्तन नहीं दीखने लगा, तब दैत्यराज हिरण्यकशिपुके महल, भाण्डागार और आयुधागारके ऊपर मधु टपकने लगा। इस प्रकार असुरोंके विनाश और देवताओंकी विजयके लिये भयकी सूचना देनेवाले अनेकों प्रकारके

भयंकर उत्पात दिखायी दे रहे थे। ये तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से भयंकर उत्पात, जो कालद्वारा निर्मित थे, दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुके विनाशके लिये प्रकट हुए दीख रहे थे। महान् आत्मबलसे सम्पन्न दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुद्वारा पृथ्वीके प्रकम्पित किये जानेपर पर्वत तथा अमित तेजस्वी नागगण गिरने लगे। वे चार, पाँच अथवा सात सिरवाले नाग विषकी ज्वालासे व्याप्त मुखोंद्वारा अग्नि उगलने लगे। वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, एलामुख, कालिय, पराक्रमी महापद्म, एक हजार फणोंवाला सामर्थ्यशाली नाग हेमतालध्वज तथा महान् भाग्यशाली अनन्त शेषनाग—इन सबका काँपना यद्यपि अत्यन्त कठिन था, तथापि ये सभी काँप उठे। उसने चारों ओर जलके भीतर स्थित रहनेवाले उद्दीप्त पर्वतोंको भी अत्यन्त क्रोधवश कँपा दिया। उस समय पाताललोकमें विचरण करनेवाले तेजस्वी नाग भी प्रकम्पित हो उठे। इस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपु क्रोधवश दाँतोंसे होठोंको दबाये हुए जब पृथ्वीपर खड़ा हुआ तो वह पूर्वकालमें प्रकट हुए वाराहकी तरह दीख रहा था॥

नदी भागीरथी चैव शरयूः कौशिकी तथा ॥ ६० ॥
यमुना त्वथ कावेरी कृष्णवेणा च निम्नगा। सुवेणा च महाभागा नदी गोदावरी तथा ॥ ६१ ॥
चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः। कमलप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥ ६२ ॥
नर्मदा शुभतोया च तथा वेत्रवती नदी। गोमती गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वसरस्वती ॥ ६३ ॥
मही कालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी। जम्बूद्वीपं रत्नवटं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥ ६४ ॥
सुवर्णप्रकटं चैव सुवर्णाकरमण्डितम्। महानदं च लौहित्यं शैलकाननशोभितम् ॥ ६५ ॥
पत्तनं कोशकरणमृषिवीरजनाकरम्। मागधाश्च महाग्रामा मुण्डाः शुङ्गास्तथैव च ॥ ६६ ॥
सुह्मा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोसलाः। भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणाभिकम्पितम् ॥ ६७ ॥
कैलासशिखराकारं यत् कृतं विश्वकर्मणा। रक्ततोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥ ६८ ॥
उदयश्च महाशैल उच्छ्रितः शतयोजनम्। सुवर्णवेदिकः श्रीमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥ ६९ ॥
भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥ ७० ॥
अयोमुखश्च विख्यातः पर्वतो धातुमण्डितः। तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥ ७१ ॥
सुराष्ट्राश्च सबाह्लीकाः शूराभीरास्तथैव च। भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥ ७२ ॥
तथैवोण्ड्राश्च पौण्ड्राश्च वामचूडाः सकेरलाः। क्षोभितास्तेन दैत्येन सदेवाश्चाप्सरोगणाः ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार भागीरथी नदी, सरयू, कौशिकी, यमुना, कावेरी, कृष्णवेणा नदी, महाभागा सुवेणा, गोदावरी नदी, चर्मण्वती, सिन्धु, नद और नदियोंका स्वामी, कमल उत्पन्न करनेवाला तथा मणिसदृश जलसे परिपूर्ण शोण, पुण्यसलिला नर्मदा, वेत्रवती नदी, गोकुलसे सेवित होनेवाली गोमती, प्राचीसरस्वती, मही, कालमही, तमसा, पुष्पवाहिनी, जम्बूद्वीप, सम्पूर्ण रत्नोंसे सुशोभित रत्नवट, सुवर्णकी खानोंसे युक्त सुवर्णप्रकट, पर्वतों और काननोंसे सुशोभित महानद लौहित्य, ऋषियों और वीरजनोंका उत्पत्तिस्थानस्वरूप कोशकरण नामक नगर, बड़े-बड़े ग्रामोंसे युक्त मागध, मुण्ड, शुङ्ग, सुह्म, मल्ल, विदेह, मालव, काशी, कोसल—इन सबको तथा गरुडके भवनको, जो कैलासके शिखरकी-सी आकृतिवाला था तथा जिसे विश्वकर्माने बनाया था, उस दैत्येन्द्रने प्रकम्पित कर दिया। रक्तरूपी जलसे भरा हुआ महान् भयंकर लौहित्यसागर तथा जो स्वर्णमयी वेदिकासे युक्त, शोभाशाली, मेघकी पङ्क्तियोंद्वारा सुसेवित और सूर्य-सदृश एवं स्वर्णमय खिले हुए साल, ताल, तमाल और कनेरके वृक्षोंसे सुशोभित है, वह सौ योजन ऊँचा महान् पर्वत उदयाचल, धातुओंसे विभूषित अयोमुख नामक विख्यात

पर्वत, तमाल-वनके गन्धसे सुवासित सुन्दर मलय पर्वत, सुराष्ट्र, बाह्लीक, शूर, आभीर, भोज, पाण्ड्य, वङ्ग, कलिङ्ग, ताम्रलिप्तक, उण्ड्र, पौण्ड्र, केरल—इन सबको तथा देवों और अप्सराओंके समूहोंको उस दैत्यने क्षुब्ध कर दिया ॥

अगस्त्यभवनं चैव यदगम्यं कृतं पुरा । सिद्धचारणसङ्घैश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ ७४ ॥
विचित्रनानाविहगं सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमयैः शृङ्गैरप्सरोगणनादितम् ॥ ७५ ॥
गिरिपुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः ।
उत्थितः सागरं भित्त्वा विश्रामश्चन्द्रसूर्ययोः । रराज सुमहाशृङ्गैर्गगनं विलिखन्निव ॥ ७६ ॥
चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशैः सागराम्बुसमावृतैः । विद्युत्वान् सर्वतः श्रीमानायतः शतयोजनम् ॥ ७७ ॥
विद्युतां यत्र सङ्घाता निपात्यन्ते नगोत्तमे । ऋषभः पर्वतश्चैव श्रीमान् वृषभसंज्ञितः ॥ ७८ ॥
कुञ्जरः पर्वतः श्रीमान् यत्रागस्त्यगृहं शुभम् । विशालाक्षश्च दुर्धर्षः सर्पाणामालयः पुरी ॥ ७९ ॥
तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणाभिकम्पिता । महासेनो गिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः ॥ ८० ॥
चक्रवांश्च गिरिश्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः । प्राग्ज्यौतिषपुरं चापि जातरूपमयं शुभम् ॥ ८१ ॥
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः । मेघश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ ८२ ॥
षष्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां द्विजोत्तमाः । तरुणादित्यसंकाशो मेरुस्तत्र महागिरिः ॥ ८३ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः । हेमगर्भो महाशैलस्तथा हेमसखो गिरिः ॥ ८४ ॥
कैलासश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पिताः ।

इसी प्रकार जो पहले अगम्य कर दिया गया था तथा सिद्धों और चारणोंके समूहोंसे व्याप्त, मनोहर, नाना प्रकारके रंग-बिरंगे पक्षियोंसे युक्त और पुष्पोंसे लदे हुए महान् वृक्षोंसे सुशोभित था, उस अगस्त्य-भवनको भी कँपा दिया। इसके बाद जो लक्ष्मीवान्, प्रियदर्शन और अपने अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे आकाशमें रेखा-सी खींच रहा था तथा चन्द्रमा और सूर्यको विश्राम देनेके लिये सागरका भेदन कर बाहर निकला था, वह पुष्पितक गिरि अपने स्वर्णमय शिखरोंसे शोभा पा रहा था। फिर चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले एवं सागरके जलसे घिरे हुए शिखरोंसे युक्त शोभाशाली विद्युत्वान् पर्वत था, जो सब ओरसे सौ योजन विस्तृत था। उस पर्वतश्रेष्ठपर बिजलियोंके समूह गिराये जाते थे। वृषभ नामसे पुकारा जानेवाला शोभासम्पन्न ऋषभ पर्वत तथा शोभाशाली कुंजर पर्वत, जिसपर महर्षि अगस्त्यका सुन्दर आश्रम था। सर्पोंका दुर्धर्ष निवासस्थान विशालाक्ष तथा भोगवती पुरी—ये सभी दैत्येन्द्रद्वारा प्रकम्पित कर दिये गये। द्विजवरो! वहाँ महासेन गिरि, पारियात्र पर्वत, गिरिश्रेष्ठ चक्रवान्, वाराह पर्वत, स्वर्णनिर्मित रमणीय प्राग्ज्योतिषपुर, जिसमें नरक नामक दुष्टात्मा दानव निवास करता है, बादलोंके समान गम्भीर शब्द करनेवाला पर्वतश्रेष्ठ मेघ आदि साठ हजार पर्वत थे, वहीं मध्याह्नकालीन सूर्यके समान प्रकाशमान विशाल पर्वत मेरु था, जिसकी कन्दराओंमें यक्ष, राक्षस और गन्धर्व नित्य निवास करते थे। महान् पर्वत हेमगर्भ, हेमसख गिरि तथा पर्वतराज कैलास—इन सबको भी दानवेन्द्र हिरण्यकशिपुने कँपा दिया ॥

हेमपुष्करसंछन्नं तेन वैखानसं सरः ॥ ८५ ॥
कम्पितं मानसं चैव हंसकारण्डवाकुलम् । त्रिशृङ्गपर्वतश्चैव कुमारी च सरिद्वरा ॥ ८६ ॥
तुषारचयसंछन्नो मन्दरश्चापि पर्वतः । उशीरबिन्दुश्च गिरिश्चन्द्रप्रस्थस्तथाद्रिराट् ॥ ८७ ॥
प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः । देवाभ्रपर्वतश्चैव तथा वै रेणुको गिरिः ॥ ८८ ॥
क्रौञ्चः सप्तर्षिशैलश्च धूम्रवर्णश्च पर्वतः । एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा ॥ ८९ ॥
नद्यः ससागराः सर्वाः सोऽकम्पयत दानवः । कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्रवांश्चैव कम्पितः ॥ ९० ॥
खेचराश्च सतीपुत्राः पातालतलवासिनः । गणस्तथा परो रौद्रो मेघनामाङ्कुशायुधः ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च सर्व एवाभिकम्पिताः। गदी शूली करालश्च हिरण्यकशिपुस्तदा॥ ९२॥
जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिःस्वनः। जीमूतघननिर्घोषो जीमूत इव वेगवान्॥ ९३॥
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत्। समुत्पत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण महानखैः॥ ९४॥
तदोंकारसहायेन विदार्य निहतो युधि।

हिरण्यकशिपुने स्वर्ण-सदृश कमल-पुष्पोंसे आच्छादित वैखानस सरोवर तथा हंसों और बतखोंसे भरे हुए मान-सरोवरको भी कम्पित कर दिया। इसके बाद त्रिशृङ्ग पर्वत, नदियोंमें श्रेष्ठ कुमारी नदी, तुषारसमूहसे आच्छादित मन्दर पर्वत, उशीरबिन्दु गिरि, पर्वतराज चन्द्रप्रस्थ, प्रजापति गिरि, पुष्कर पर्वत, देवाभ्रपर्वत, रेणुक गिरि, क्रौंच पर्वत, सप्तर्षिशैल तथा धूम्रवर्ण पर्वत—इनको तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य पर्वतों, देशों, जनपदों तथा सागरोंसहित सभी नदियोंको उस दानवने कम्पित कर दिया। साथ ही महीपुत्र कपिल और व्याघ्रवान् भी काँप उठे। आकाशचारी एवं पाताललोकमें निवास करनेवाले सतीके पुत्र, अङ्कुशको अस्त्ररूपमें धारण करनेवाला परम भयंकर मेघ नामक गण तथा उर्ध्वग और भीमवेग—ये सभी कँपा दिये गये। तदनन्तर जो गदा और त्रिशूल धारण किये हुए था, जिसकी आकृति बड़ी विकराल थी, जो देवताओंका शत्रु, घने बादलके समान कान्तिमान्, घने बादल-जैसा बोलनेवाला, घने बादल-सदृश गरजनेवाला और बादल-सा वेगशाली था, उस दिति-नन्दन वीरवर हिरण्यकशिपुने भगवान् नरसिंहपर आक्रमण किया। तब युद्धस्थलमें ओंकारकी सहायतासे भगवान् नरसिंहने आकाशमें उछलकर अपने तीखे विशाल नखोंसे उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर उसे मार डाला॥ ८५—९४½॥

मही च कालश्च शशी नभश्च ग्रहाश्च सूर्यश्च दिशश्च सर्वाः।
नद्यश्च शैलाश्च महार्णवाश्च गताः प्रसादं दितिपुत्रनाशात्॥ ९५॥
ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधनाः। तुष्टुवुर्नामभिर्दिव्यैरादिदेवं सनातनम्॥ ९६॥
यत्त्वया विहितं देव नारसिंहमिदं वपुः। एतदेवार्चयिष्यन्ति परावरविदो जनाः॥ ९७॥

इस प्रकार उस दितिपुत्र हिरण्यकशिपुके मौतके मुखमें चले जानेसे पृथ्वी, काल, चन्द्रमा, आकाश, ग्रहगण, सूर्य, सभी दिशाएँ, नदियाँ, पर्वत और महासागर प्रसन्न हो गये। तदनन्तर हर्षसे फूले हुए देवता और तपोधन ऋषिगण दिव्य नामोंद्वारा उन अविनाशी आदि-देवकी स्तुति करते हुए कहने लगे—'देव! आपने जो यह नरसिंहका शरीर धारण किया है, इसकी पूर्वापरके ज्ञाता लोग अर्चना करेंगे'॥ ९५—९७॥

ब्रह्मोवाच

भवान् ब्रह्मा च रुद्रश्च महेन्द्रो देवसत्तमः। भवान् कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभवाव्ययः॥ ९८॥
परां च सिद्धिं च परं च देवं परं च मन्त्रं परमं हविश्च।
परं च धर्मं परमं च विश्वं त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥ ९९॥
परं शरीरं परमं च ब्रह्म परं च योगं परमां च वाणीम्।
परं रहस्यं परमां गतिं च त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥१००॥
एवं परस्यापि परं पदं यत्परं परस्यापि परं च देवम्।
परं परस्यापि परं च भूतं त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥१०१॥
परं परस्यापि परं रहस्यं परं परस्यापि परं महत्त्वम्।
परं परस्यापि परं महद्यत् त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥१०२॥

परं परस्यापि परं निधानं परं परस्यापि परं पवित्रम्।
परं परस्यापि परं च दान्तं त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥१०३॥
एवमुक्त्वा तु भगवान् सर्वलोकपितामहः। स्तुत्वा नारायणं देवं ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥१०४॥
ततो नदत्सु तूर्येषु नृत्यन्तीष्वप्सरःसु च। क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जगाम हरिरीश्वरः ॥१०५॥
नारसिंहं वपुर्देवः स्थापयित्वा सुदीप्तिमत्। पौराणं रूपमास्थाय प्रययौ गरुडध्वजः ॥१०६॥
अष्टचक्रेण यानेन भूतयुक्तेन भास्वता। अव्यक्तप्रकृतिर्देवः स्वस्थानं गतवान् प्रभुः ॥१०७॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे हिरण्यकशिपुवधो नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देव ! आप ही ब्रह्मा, रुद्र और देवश्रेष्ठ महेन्द्र हैं। आप ही लोकोंके कर्ता, संहर्ता और उत्पत्तिस्थान हैं। आपका कभी विनाश नहीं होता। आपको ही परमोत्कृष्ट सिद्धि, परात्पर देव, परम मन्त्र, परम हवि, परम धर्म, परम विश्व और आदि पुराणपुरुष कहा जाता है। आपको ही परम शरीर, परम ब्रह्म, परम योग, परमा वाणी, परम रहस्य, परम गति और अग्रजन्मा पुराण पुरुष कहा जाता है। इसी प्रकार जो परात्पर पद, परात्पर देव, परात्पर भूत और सर्वश्रेष्ठ पुराणपुरुष है, वह आप ही हैं। जो परात्पर रहस्य, परात्पर महत्त्व और परात्पर महत्तत्त्व है, वह सब आप अग्रजन्मा पुराणपुरुषको ही कहा जाता है। आप सर्वश्रेष्ठ पुराणपुरुषको परसे भी परम निधान, परसे भी परम पवित्र और परसे भी परम उदार कहा जाता है। ऐसा कहकर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह सामर्थ्यशाली भगवान् ब्रह्मा नारायणदेवकी स्तुति कर ब्रह्मलोकको चले गये। उस समय तुरहियाँ बज रही थीं और अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। इसी बीच जगदीश्वर श्रीहरि क्षीरसागरके उत्तर तटपर जानेके लिये उद्यत हुए। वहाँसे जाते समय भगवान् गरुडध्वजने परम कान्तिमान् उस नरसिंह-शरीरको जगत्में स्थापित कर अपने पुराने रूपको धारण कर लिया था। फिर अव्यक्त प्रकृतिवाले भगवान् विष्णु पञ्चभूतोंसे युक्त एवं चमकीले आठ पहियेवाले रथपर सवार हो अपने निवास-स्थानको चले गये ॥ ९८–१०७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें हिरण्यकशिपु-वध नामक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६३ ॥

एक सौ चौंसठवाँ अध्याय

पद्मोद्भवके प्रसङ्गमें मनुद्वारा भगवान् विष्णुसे सृष्टिसम्बन्धी विविध प्रश्न और भगवान्का उत्तर

ऋषय ऊचुः

कथितं नरसिंहस्य माहात्म्यं विस्तरेण च। पुनस्तस्यैव माहात्म्यमन्यद्विस्तरतो वद ॥ १ ॥
पद्मरूपमभूदेतत् कथं हेममयं जगत्। कथं च वैष्णवी सृष्टिः पद्ममध्येऽभवत् पुरा ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! आप भगवान् नरसिंहके माहात्म्यका तो विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके, अब पुनः उन्हीं भगवान्के दूसरे माहात्म्यको विस्तारपूर्वक बतलाइये। भला, पूर्वकालमें स्वर्णमय कमलसे यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ था और उस कमलमेंसे वैष्णवी सृष्टि कैसे प्रादुर्भूत हुई थी ? ॥ १–२ ॥

सूत उवाच

श्रुत्वा च नरसिंहस्य माहात्म्यं रविनन्दनः। विस्मयोत्फुल्लनयनः पुनः पप्रच्छ केशवम् ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! भगवान् नरसिंहके माहात्म्यको सुनकर सूर्यपुत्र मनुके नेत्र आश्चर्यसे उत्फुल्ल हो उठे, तब उन्होंने पुनः भगवान् केशवसे प्रश्न किया ॥ ३ ॥

मनुरुवाच

कथं पाद्मे महाकल्पे तव पद्ममयं जगत्। जलार्णवगतस्येह नाभौ जातं जनार्दन ॥ ४ ॥
प्रभावात् पद्मनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि। पुष्करे च कथं भूता देवाः सर्षिगणाः पुरा ॥ ५ ॥
एतमाख्याहि निखिलं योगं योगविदां पते। शृण्वतस्तस्य मे कीर्ति न तृप्तिरुपजायते ॥ ६ ॥
कियता चैव कालेन शेते वै पुरुषोत्तमः। कियन्तं वा स्वपिति च कोऽस्य कालस्य सम्भवः ॥ ७ ॥
कियता वाथ कालेन ह्युत्तिष्ठति महायशाः। कथं चोत्थाय भगवान् सृजते निखिलं जगत् ॥ ८ ॥
के प्रजापतयस्तावदासन् पूर्वं महामुने। कथं निर्मितवांश्चैव चित्रं लोकं सनातनम् ॥ ९ ॥
कथमेकार्णवे शून्ये नष्टस्थावरजङ्गमे। दग्धे देवासुरनरे प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ १० ॥
नष्टानिलानले लोके नष्टाकाशमहीतले। केवलं गह्वरीभूते महाभूतविपर्यये ॥ ११ ॥
विभुर्महाभूतपतिर्महातेजा महाकृतिः। आस्ते सुरवरश्रेष्ठो विधिमास्थाय योगवित् ॥ १२ ॥
शृणुयां परया भक्त्या ब्रह्मन्नेतदशेषतः। वक्तुमर्हसि धर्मिष्ठ यशो नारायणात्मकम् ॥ १३ ॥
श्रद्धया चोपविष्टानां भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

मनुने पूछा—जनार्दन! 'पाद्मकल्प'में जब आप इस जलार्णवके मध्यमें स्थित थे, तब आपकी नाभिसे यह पद्ममय जगत् कैसे उत्पन्न हुआ था? पूर्वकालमें समुद्रके जलमें शयन करनेवाले भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे उस कमलमे ऋषिगणों-सहित देवगण कैसे उत्पन्न हुए थे? योगवेत्ताओंके अधीश्वर! इस सम्पूर्ण योगका वर्णन कीजिये; क्योंकि भगवान्की कीर्तिका वर्णन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। (कृपया यह बतलाइये कि) भगवान् पुरुषोत्तम कितने समयके पश्चात् शयन करते हैं? कितने कालतक सोते हैं? इस कालका उद्भव (निर्धारण) कहाँसे होता है? फिर वे महायशस्वी भगवान् कितने समयके बाद निद्रा त्यागकर उठते हैं? निद्रासे उठकर वे भगवान् किस प्रकार सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं? महामुने! पूर्वकालमें कौन-कौनसे प्रजापति थे? इस विचित्र सनातन लोकका निर्माण किस प्रकार किया गया था? महाप्रलयके समय जब स्थावर-जङ्गम—सभी प्राणी नष्ट हो जाते हैं, देवता, राक्षस और मनुष्य जलकर भस्म हो जाते हैं, नागों और राक्षसोंका विनाश हो जाता है, लोकमें अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वीतलका सर्वथा लोप हो जाता है, उस समय पञ्चमहाभूतोंका विपर्यय हो जानेपर केवल घना अन्धकार छाया रहता है, तब उस शून्य एकार्णवके जलमें सर्वव्यापी, पञ्चमहाभूतोंके स्वामी, महातेजस्वी, विशालकाय, सुरेश्वरोंमें श्रेष्ठ एवं योगवेत्ता भगवान् किस प्रकार विधिका सहारा लेकर स्थित रहते हैं? ब्रह्मन्! यह सारा प्रसङ्ग मैं परम भक्तिके साथ सुनना चाहता हूँ। धर्मिष्ठ! आप इस नारायण-सम्बन्धी यशका वर्णन कीजिये। भगवन्! हमलोग श्रद्धापूर्वक आपके समक्ष बैठे हैं, अतः आप इसका अवश्य वर्णन कीजिये ॥ ४-१४ ॥

मत्स्य उवाच

नारायणस्य यशसः श्रवणे या तव स्पृहा। तद्वंशान्वयभूतस्य न्याय्यं रविकुलर्षभ ॥ १५ ॥
शृणुष्वादिपुराणेषु वेदेभ्यश्च यथा श्रुतम्। ब्राह्मणानां च वदतां श्रुत्वा वै सुमहात्मनाम् ॥ १६ ॥
यथा च तपसा दृष्ट्वा बृहस्पतिसमद्युतिः। पराशरसुतः श्रीमान् गुरुर्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १७ ॥
तत्तेऽहं कथयिष्यामि यथाशक्ति यथाश्रुति। यद्विज्ञातुं मया शक्यमृषिमात्रेण सत्तमाः ॥ १८ ॥
कः समुत्सहते ज्ञातुं परं नारायणात्मकम्। विश्वायनश्च यद् ब्रह्मा न वेदयति तत्त्वतः ॥ १९ ॥
तत्कर्म विश्वबेदानां तद्रहस्यं महर्षिणाम्।

तमिज्यं सर्वयज्ञानां तत्तत्त्वं सर्वदर्शिनाम् । तदध्यात्मविदां चिन्त्यं नरकं च विकर्मिणाम् ॥ २० ॥
अधिदैवं च यद्दैवमधियज्ञं सुसंज्ञितम् । तद्भूतमधिभूतं च तत्परं परमर्षिणाम् ॥ २१ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—सूर्यकुलसत्तम ! नारायणकी यशोगाथा सुननेमें जो आपकी विशेष स्पृहा है, यह नारायणके वंशजोंके कुलमें उत्पन्न होनेवाले आपके लिये उचित ही है। मैंने पुराणों, वेदों तथा प्रवचनकर्ता श्रेष्ठ महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे जैसा सुना है तथा बृहस्पतिके समान कान्तिमान् पराशरनन्दन गुरुदेव श्रीमान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीने तपोबलसे साक्षात्कार करके जैसा मुझे बतलाया है, वही मैं अपनी जानकारीके अनुसार यथाशक्ति आपसे वर्णन कर रहा हूँ, सावधानीपूर्वक श्रवण कीजिये। द्विजवरो ! जिसे ऋषियोंमें केवल मैं ही जान सकता हूँ। जिसे विश्वके आश्रयस्थान ब्रह्मा भी तत्त्वपूर्वक नहीं जानते, नारायणके उस परम तत्त्वको जाननेके लिये दूसरा कौन उत्साह कर सकता है। वही समस्त वेदोंका कर्म है। वही महर्षियोंका रहस्य है। सम्पूर्ण यज्ञोंद्वारा पूजनीय वही है। वही सर्वज्ञोंका तत्त्व है। अध्यात्मवेत्ताओंके लिये वही चिन्तनीय और कुकर्मियोंके लिये नरकस्वरूप है। उसीको अधिदेव, देव और अधियज्ञ नामसे अभिहित किया जाता है। वही भूत, अधिभूत और परमर्षियोका परम तत्त्व है ॥ १५—२१ ॥

स यज्ञो वेदनिर्दिष्टस्तत्तपः कवयो विदुः । यः कर्ता कारको बुद्धिर्मनः क्षेत्रज्ञ एव च ॥ २२ ॥
प्रणवः पुरुषः शास्ता एकश्चेति विभाव्यते । प्राणः पञ्चविधश्चैव ध्रुव अक्षर एव च ॥ २३ ॥
कालः पाकश्च पक्ता च द्रष्टा स्वाध्याय एव च । उच्यते विविधैर्देवैः स एवायं न तत्परम् ॥ २४ ॥
स एव भगवान् सर्वं करोति विकरोति च । सोऽस्मान् कारयते सर्वान् सोऽत्येति व्याकुलीकृतान् ॥ २५ ॥
यजामहे तमेवाद्यं तमेवेच्छाम निर्वृताः । यो वक्ता यच्च वक्तव्यं यच्चाहं तद् ब्रवीमि वः ॥ २६ ॥
श्रूयते यच्च वै श्राव्यं यच्चान्यत् परिजल्प्यते ।
याः कथाश्चैव वर्तन्ते श्रुतयो चाथ तत्पराः । विश्वं विश्वपतिर्यश्च स तु नारायणः स्मृतः ॥ २७ ॥
यत्सत्यं यदमृतमक्षरं परं यद्यद्भूतं परममिदं च यद्भविष्यत् ।
यत् किंचिच्चरमचरं यदस्ति चान्यत् तत् सर्वं पुरुषवरः प्रभुः पुराणः ॥ २८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

वेदोंद्वारा निर्दिष्ट यज्ञ वही है। विद्वान्लोग उसे तपरूपसे जानते हैं। जो कर्ता, कारक, बुद्धि, मन, क्षेत्रज्ञ, प्रणव, पुरुष, शास्ता और अद्वितीय कहा जाता है तथा विभिन्न देवता जिसे पाँच प्रकारका प्राण, अविनाशी ध्रुव, काल, पाक, पक्ता (पचानेवाला), द्रष्टा और स्वाध्याय कहते हैं, वह यही है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वे ही भगवान् सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक हैं और वे ही संहारक भी हैं। वे ही हम सबलोगोंको उत्पन्न करते हैं और अन्तमें व्याकुल करके नष्ट कर देते हैं। हमलोग उन्हीं आदिपुरुषकी यज्ञद्वारा आराधना करते है और निवृत्तिपरायण होकर उन्हींको प्राप्त करनेकी इच्छा करते है। जो वक्ता है, जो वक्तव्य है, जिसके विषयमें मै आपलोगोंसे कह रहा हूँ, जो सुना जाता है, जो सुनने योग्य है, जिसके विषयमें अन्य सारी बातें कही जाती हैं, जो कथाएँ प्रचलित हैं, श्रुतियाँ जिसके परायण हैं, जो विश्वस्वरूप और विश्वका स्वामी है, वही नारायण कहा गया है। जो सत्य है, जो अमृत है, जो अक्षर है, जो परात्पर है, जो भूत है और जो भविष्यत् है, जो चर-अचर जगत् है, इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह सब कुछ सामर्थ्यशाली एवं सर्वश्रेष्ठ पुराणपुरुष ही है ॥ २२—२८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ चौसठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६४ ॥

एक सौ पैंसठवाँ अध्याय

चारों युगोंकी व्यवस्थाका वर्णन

मत्स्य उवाच

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा रविनन्दन ॥ १ ॥
यत्र धर्मश्चतुष्पादस्त्वधर्मः पादविग्रहः। स्वधर्मनिरताः सन्तो जायन्ते यत्र मानवाः ॥ २ ॥
विप्राः स्थिता धर्मपरा राजवृत्तौ स्थिता नृपाः। कृष्यामभिरता वैश्याः शूद्राः शुश्रूषवः स्थिताः ॥ ३ ॥
तदा सत्यं च शौचं च धर्मश्चैव विवर्धते। सद्भिराचरितं कर्म क्रियते ख्यायते च वै ॥ ४ ॥
एतत्कार्तयुगं वृत्तं सर्वेषामपि पार्थिव। प्राणिनां धर्मसक्तानामपि वै नीचजन्मनाम् ॥ ५ ॥
त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते। तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा परिकीर्त्यते ॥ ६ ॥
द्वाभ्यामधर्मः पादाभ्यां त्रिभिर्धर्मो व्यवस्थितः। यत्र सत्यं च सत्त्वं च त्रेताधर्मो विधीयते ॥ ७ ॥
त्रेतायां विकृतिं यान्ति वर्णास्त्वेते न संशयः। चतुर्वर्णस्य वैकृत्याद्यान्ति दौर्बल्यमाश्रमाः ॥ ८ ॥
एषा त्रेतायुगगतिर्विचित्रा देवनिर्मिता। द्वापरस्य तु या चेष्टा तामपि श्रोतुमर्हसि ॥ ९ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—रविनन्दन ! कृतयुगकी अवधि चार हजार दिव्य वर्षोंकी बतलायी जाती है और उसकी संध्या उससे दुगुनी शती अर्थात् आठ सौ वर्षोंकी होती है। उस युगमें धर्म अपने चारों पादोंसे विद्यमान रहता है और अधर्म चतुर्थांशमात्र रहता है। उस युगमें उत्पन्न होनेवाले मानव अपने धर्ममें निरत रहते हैं। ब्राह्मण धर्म-पालनमें तत्पर रहते हैं। क्षत्रिय राज-धर्ममें स्थित रहते हैं। वैश्य कृषिकर्ममें लगे रहते हैं और शूद्र सेवाकार्यमें तल्लीन रहते हैं। उस समय सत्य, शौच और धर्मकी अभिवृद्धि होती है। सभी लोग सत्पुरुषोंद्वारा आचरित कर्मका अनुकरण करते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं। पार्थिव ! कृतयुगका यह आचार सभी प्राणियोंमें पाया जाता है, चाहे वे धर्मप्राण विप्र आदि हों अथवा नीच जातिके हों। इसके बाद तीन हजार वर्षोंका त्रेतायुग कहलाता है। उसकी संध्या उससे दुगुनी शती अर्थात् छः सौ वर्षकी कही गयी है। इस युगमें धर्म तीन चरणोंसे और अधर्म दो पादोंसे स्थित रहता है। उस समय त्रेताधर्म सत्य और सत्त्वगुणप्रधान माना जाता है। इसमें संदेह नहीं कि त्रेतायुगमें ये ब्राह्मणादि चारों वर्ण (कुछ) विकृत हो जाते हैं और इनके विकृत हो जानेके कारण चारों आश्रम भी दुर्बलताको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्द्वारा निर्मित त्रेतायुगकी यह विचित्र गति है। अब द्वापरयुगकी जो चेष्टा है, उसे भी सुनिये ॥ १—९ ॥

द्वापरं द्वे सहस्रे तु वर्षाणां रविनन्दन। तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा युगमुच्यते ॥ १० ॥
तत्र चार्थपराः सर्वे प्राणिनो रजसा हताः। सर्वे नैष्कृतिकाः क्षुद्रा जायन्ते रविनन्दन ॥ ११ ॥
द्वाभ्यां धर्मः स्थितः पद्भ्यामधर्मस्त्रिभिरुत्थितः। विपर्ययाच्छनैर्धर्मः क्षयमेति कलौ युगे ॥ १२ ॥
ब्राह्मण्यभावस्य ततस्तथौत्सुक्यं विशीर्यते। व्रतोपवासास्त्यज्यन्ते द्वापरे युगपर्यये ॥ १३ ॥
तथा वर्षसहस्रं तु वर्षाणां द्वे शते अपि। संध्यया सह संख्यातं क्रूरं कलियुगं स्मृतम् ॥ १४ ॥
यत्राधर्मश्चतुष्पादः स्याद् धर्मः पादविग्रहः। कामिनस्तपसा हीना जायन्ते तत्र मानवाः ॥ १५ ॥
नैवातिसात्त्विकः कश्चिन्न साधुर्न च सत्यवाक्। नास्तिका ब्रह्मभक्ता वा जायन्ते तत्र मानवाः ॥ १६ ॥
अहंकारगृहीताश्च प्रक्षीणस्नेहबन्धनाः। विप्राः शूद्रसमाचाराः सन्ति सर्वे कलौ युगे ॥ १७ ॥
आश्रमाणां विपर्यासः कलौ सम्परिवर्तते। वर्णानां चैव संदेहो युगान्ते रविनन्दन ॥ १८ ॥

रविनन्दन ! द्वापरयुग दो हजार दिव्य वर्षोंका होता है। उसकी संध्या चार सौ वर्षोंकी कही जाती है। सूर्यपुत्र ! उस युगमें रजोगुणसे ग्रस्त सभी प्राणी अर्थपरायण होते हैं। उस युगमें जन्म लेनेवाले सभी प्राणी निष्कर्मी एवं क्षुद्र विचारवाले होते हैं। उस समय धर्म दो चरणोंसे स्थित रहता है और अधर्मकी वृद्धि तीन चरणोंसे होती है। इस प्रकार धीरे-धीरे परिवर्तन होनेके कारण कलियुगमें धर्म नष्ट हो जाता है। द्वापरयुगके परिवर्तनके समय लोगोंमें ब्राह्मणोंके प्रति आस्था नष्ट हो जाती है और लोग व्रत-उपवास आदिको छोड़ बैठते हैं। उस समय क्रूर कलियुगका प्रवेश होता है, जिसकी संख्या संध्याके दो सौ वर्षोंसहित एक हजारकी बतलायी गयी है। उस युगमें अधर्म चारों पादोंसे प्रभावी हो जाता है और धर्म चतुर्थांशमात्र रह जाता है। उस युगमें जन्म लेनेवाले मानव कामपरायण और तपस्यासे हीन होते हैं। कलियुगमें उत्पन्न होनेवाले मानवोंमें न तो कोई अत्यन्त सात्त्विक होता है और न साधुस्वभाव एवं सत्यवादी ही होता है। सभी नास्तिक हो जाते हैं और अपनेको परब्रह्मका भक्त बतलाते हैं। लोग अहंकारके वशीभूत और प्रेमबन्धनसे रहित हो जाते हैं। कलियुगमें सभी ब्राह्मण शूद्रके समान आचरण करने लगते हैं। रविनन्दन ! कलियुगमें आश्रमोंमें भी परिवर्तन हो जाता है। युगान्तका समय आनेपर तो लोगोंमें वर्णोंका भी संदेह उत्पन्न हो जाता है ॥ १०–१८ ॥

विद्याद् द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां पूर्वनिर्मिताम्। एवं सहस्रपर्यन्तं तदहर्ब्राह्ममुच्यते ॥ १९ ॥
ततोऽहनि गते तस्मिन् सर्वेषामेव जीविनाम्। शरीरनिर्वृतिं दृष्ट्वा लोकसंहारबुद्धितः ॥ २० ॥
देवतानां च सर्वासां ब्रह्मादीनां महीपते। दैत्यानां दानवानां च यक्षराक्षसपक्षिणाम् ॥ २१ ॥
गन्धर्वाणामप्सरसां भुजङ्गानां च पार्थिव।
पर्वतानां नदीनां च पशूनां चैव सत्तम। तिर्यग्योनिगतानां च सत्त्वानां कृमिणां तथा ॥ २२ ॥
महाभूतपतिः पञ्च हत्वा भूतानि भूतकृत्। जगत्संहरणार्थाय कुरुते वैशसं महत् ॥ २३ ॥
भूत्वा सूर्यश्चक्षुषी चाददानो भूत्वा वायुः प्राणिनां प्राणजालम्।
भूत्वा वह्निर्निर्दहन् सर्वलोकान् भूत्वा मेघो भूय उग्रोऽप्यवर्षत् ॥ २४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

महीपते ! इस प्रकार पूर्वकालमें निर्मित बारह हजारकी युग-संख्या जाननी चाहिये। इस प्रकार जब एक हजार चतुर्युगी बीत जाती है, तब ब्रह्माका एक दिन कहा जाता है। ब्रह्माके उस दिनके व्यतीत हो जानेपर जीवोंके उत्पादक महाभूतपति श्रीहरि सभी प्राणियोंके शरीर-मोक्षको देखकर लोकसंहारकी भावनासे ब्रह्मा आदि सभी देवताओं, दैत्यों, दानवों, यक्षों, राक्षसों, पक्षियो, गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, पर्वतों, नदियों, पशुओं, तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए जीवों तथा कीटोंके पञ्चमहाभूतोंका विनाश कर जगत्का संहार करनेके निमित्त महान् विनाशकारी दृश्य उत्पन्न कर देते हैं। उस समय वे सूर्य बनकर सभीके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट कर देते हैं, वायुरूप होकर जीवोंके प्राणसमूहको समेट लेते हैं, अग्निका रूप धारणकर सभी लोकोंको जलाकर भस्म कर देते हैं तथा मेघ बनकर पुनः भयंकर वृष्टि करते हैं ॥ १९–२४ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रसङ्गमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६५ ॥

एक सौ छाछठवाँ अध्याय

महाप्रलयका वर्णन

मत्स्य उवाच

भूत्वा नारायणो योगी सत्त्वमूर्तिर्विभावसुः । गभस्तिभिः प्रदीप्ताभिः संशोषयति सागरान् ॥ १ ॥
ततः पीत्वार्णवान् सर्वान् नदीः कूपांश्च सर्वशः । पर्वतानां च सलिलं सर्वमादाय रश्मिभिः ॥ २ ॥
भित्त्वा गभस्तिभिश्चैव महीं गत्वा रसातलात् । पातालजलमादाय पिबते रसमुत्तमम् ॥ ३ ॥
मूत्रासृक्क्लेदमन्यच्च यदस्ति प्राणिषु ध्रुवम् । तत्सर्वमरविन्दाक्ष आदत्ते पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥
वायुश्च भगवान् भूत्वा विधुन्वानोऽखिलं जगत् । प्राणापानसमानाद्यान् वायूनाकर्षते हरिः ॥ ५ ॥
ततो देवगणाः सर्वे भूतान्येव च यानि तु । गन्धो घ्राणं शरीरं च पृथिवीं संश्रिता गुणाः ॥ ६ ॥
जिह्वा रसश्च स्नेहश्च संश्रिताः सलिले गुणाः । रूपं चक्षुर्विपाकश्च ज्योतिरेवाश्रिता गुणाः ॥ ७ ॥
स्पर्शः प्राणश्च चेष्टा च पवने संश्रिता गुणाः । शब्दः श्रोत्रं च खान्येव गगने संश्रिता गुणाः ॥ ८ ॥
लोकमाया भगवता मुहूर्तेन विनाशिता ।

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—रविनन्दन ! तदनन्तर वे सत्त्वमूर्ति योगी नारायण सूर्यका रूप धारण कर अपनी उद्दीप्त किरणोंसे सागरोंको सोख लेते हैं । इस प्रकार सभी सागरोंको सुखा देनेके पश्चात् अपनी किरणोंद्वारा नदियों, कुओं और पर्वतोंका सारा जल खींच लेते हैं । फिर वे किरणोंद्वारा पृथ्वीका भेदन करके रसातलमें जा पहुँचते हैं और वहाँ पातालके उत्तम रसरूप जलका पान करते हैं । तत्पश्चात् कमलनयन पुरुषोत्तम नारायण प्राणियोंके शरीरमें निश्चितरूपसे रहनेवाले मूत्र, रक्त, मज्जा तथा अन्य जो गीले पदार्थ होते हैं, उन सबके रसको ग्रहण कर लेते हैं । तदुपरान्त भगवान् श्रीहरि वायुरूप होकर सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकम्पित करते हुए प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूप पाँचों प्राण-वायुओंको खींच लेते हैं । तदनन्तर सभी देवगण, पाँचों महाभूत, गन्ध, घ्राण, शरीर—ये सभी गुण पृथ्वीमें विलीन हो जाते हैं । जिह्वा, रस, स्नेह (चिकनाहट)—ये सभी गुण जलमें लीन हो जाते हैं । रूप, चक्षु, विपाक (परिणाम)—ये गुण अग्निमें मिल जाते हैं । स्पर्श, प्राण, चेष्टा—ये सभी गुण वायुका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं । शब्द, श्रोत्र, इन्द्रियाँ—ये सभी गुण आकाशमें विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार भगवान् नारायण दो ही घड़ीमें सारी लोकमायाको विनष्ट कर देते हैं ॥

मनो बुद्धिश्च सर्वेषां क्षेत्रज्ञश्चेति यः श्रुतः ॥ ९ ॥
तं वरेण्यं परमेष्ठी हृषीकेशमुपाश्रितः । ततो भगवतस्तस्य रश्मिभिः परिवारितः ॥ १० ॥
वायुनाक्रम्यमाणासु द्रुमशाखासु चाश्रितः । तेषां संघर्षणोद्भूतः पावकः शतधा ज्वलन् ॥ ११ ॥
अदहच्च तदा सर्वं वृतः संवर्तकोऽनलः । सपर्वतद्रुमान् गुल्मॉंल्लतावल्लीस्तृणानि च ॥ १२ ॥
विमानानि च दिव्यानि पुराणि विविधानि च । यानि चाश्रयणीयानि तानि सर्वाणि सोऽदहत् ॥ १३ ॥
भस्मीकृत्य ततः सर्वाँल्लोकाँल्लोकगुरुर्हरिः । भूयो निर्वापयामास युगान्तेन च कर्मणा ॥ १४ ॥
सहस्रवृष्टिः शतधा भूत्वा कृष्णो महाबलः । दिव्यतोयेन हविषा तर्पयामास मेदिनीम् ॥ १५ ॥
ततः क्षीरनिकायेन स्वादुना परमाम्भसा । शिवेन पुण्येन मही निर्वाणमगमत्परम् ॥ १६ ॥
तेन रोधेन संछन्ना पयसां वर्षतो धरा । एकार्णवजलीभूता सर्वसत्त्वविवर्जिता ॥ १७ ॥

तदनन्तर जो सभी प्राणियोंका मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, वह अग्नि उन सर्वश्रेष्ठ हृषीकेशके निकट पहुँचता है और उन भगवान्‌की किरणोंसे युक्त हो वायुद्वारा आक्रान्त वृक्षोंकी शाखाओंका आश्रय ग्रहण करता है । वहाँ वृक्षोंके संघर्षसे उत्पन्न हुई वह अग्नि सैकड़ों ज्वालाएँ फेंकने लगती है । फिर उससे घिरा हुआ

संवर्तक अग्नि सबको जलाना आरम्भ करती है। वह पर्वतीय वृक्षोंसहित गुल्मों, लताओं, वल्लियों, घास-फूसों, दिव्य विमानों, अनेकों नगरों तथा अन्यान्य जो आश्रय लेनेयोग्य स्थान होते हैं, उन सबको जलाकर भस्म कर देती है। इस प्रकार लोकोंके गुरुस्वरूप श्रीहरि समस्त लोकोंको जलाकर पुनः युगान्तकालिक कर्मद्वारा समूची सृष्टिका विनाश कर देते हैं। तदुपरान्त महाबली विष्णु सैकड़ों-हजारों प्रकारकी वृष्टिका रूप धारण कर दिव्य जलरूपी हविसे पृथ्वीको तृप्त कर देते हैं। तब उस दूध-सदृश स्वादिष्ट कल्याणकारक पुण्यमय उत्तम जलसे पृथ्वी परम शान्त हो जाती है। बरसते हुए जलके उस घेरेसे आच्छादित हुई पृथ्वी समस्त प्राणियोंसे रहित हो एकार्णवके जलके रूपमें परिणत हो जाती है॥ ९—१७॥

महासत्त्वान्यपि विष्णुं प्रविष्टान्यमितौजसम्। नष्टार्कपवनाकाशे सूक्ष्मे जगति संवृते॥ १८॥
संशोषमात्मना कृत्वा समुद्रानपि देहिनः। दग्ध्वा सम्प्लाव्य च तथा स्वपित्येकः सनातनः॥ १९॥
पौराणं रूपमास्थाय स्वपित्यमितविक्रमः। एकार्णवजलव्यापी योगी योगमुपाश्रितः॥ २०॥
अनेकानि सहस्राणि युगान्येकार्णवाम्भसि। न चैनं कश्चिदव्यक्तं व्यक्तं वेदितुमर्हति॥ २१॥
कश्चैव पुरुषो नाम किं योगः कश्च योगवान्।
असौ कियन्तं कालं च एकार्णवविधिं प्रभुः। करिष्यतीति भगवानिति कश्चिन्न बुध्यते॥ २२॥
न द्रष्टा नैव गमिता न ज्ञाता नैव पार्श्वगः। तस्य न ज्ञायते किंचित्तमृते देवसत्तमम्॥ २३॥
नभः क्षितिं पवनमपः प्रकाशं प्रजापतिं भुवनधरं सुरेश्वरम्।
पितामहं श्रुतिनिलयं महामुनिं प्रशाम्य भूयः शयनं ह्यरोचयत्॥ २४॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६६॥

उस समय सूर्य, वायु और आकाशके नष्ट हो जानेपर तथा सूक्ष्म जगत्के आच्छादित हो जानेपर महान्-से-महान् जीव-जन्तु भी अमित ओजस्वी एवं सर्वव्यापी नारायणमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वे सनातन भगवान् स्वयं अपनेद्वारा समुद्रोंको सुखाकर, देहधारियोंको जलाकर तथा पृथ्वीको जलमें निमग्न करके अकेले शयन करते हैं। अमित पराक्रमी, एकार्णवके जलमें व्याप्त रहनेवाले एवं योगबलसम्पन्न नारायण योगका आश्रय ले उस एकार्णवके जलमें अपना पुराना रूप धारण कर अनेकों हजार युगोंतक शयन करते हैं। उस समय कोई भी इन अव्यक्त नारायणको व्यक्तरूपसे नहीं जान सकता। वह पुरुष कौन है? उसका क्या योग है? वह किस योगसे युक्त है? वे सामर्थ्यशाली भगवान् कितने समयतक इस एकार्णवके विधानको करेंगे? इसे कोई नहीं जानता। उस समय न कोई उन्हें देख सकता है, न कोई वहाँ जा सकता है, न कोई उन्हें जान सकता है और न कोई उनके निकट पहुँच सकता है। उन देवश्रेष्ठके अतिरिक्त दूसरा कोई भी उनके विषयमें कुछ भी नहीं जान सकता। इस प्रकार आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, प्रजापति, पर्वत, सुरेश्वर, पितामह ब्रह्मा, वेदसमूह और महर्षि—इन सबको प्रशान्त कर वे पुनः शयनकी इच्छा करते हैं॥ १८—२४॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १६६॥

एक सौ सड़सठवाँ अध्याय

भगवान् विष्णुका एकार्णवके जलमें शयन, मार्कण्डयको आश्चर्य तथा भगवान् विष्णु और मार्कण्डेयका संवाद

मत्स्य उवाच

एवमेकार्णवीभूते शेते लोके महाद्युतिः। प्रच्छाद्य सलिलेनोर्वीं हंसो नारायणस्तदा ॥ १ ॥
महतो रजसो मध्ये महार्णवसरःसु वै। विरजस्कं महाबाहुमक्षयं ब्रह्म यं विदुः ॥ २ ॥
आत्मरूपप्रकाशेन तमसा संवृतः प्रभुः। मनः सात्त्विकमाधाय यत्र तत्सत्यमासत ॥ ३ ॥
याथातथ्यं परं ज्ञानं भूतं तद् ब्रह्मणा पुरा। रहस्यारण्यकोद्दिष्टं यच्चौपनिषदं स्मृतम् ॥ ४ ॥
पुरुषो यज्ञ इत्येतद्यत्परं परिकीर्तितम्। यश्चान्यः पुरुषाख्यः स्यात् स एव पुरुषोत्तमः ॥ ५ ॥
ये च यज्ञकरा विप्रा ये चर्त्विज इति स्मृताः। अस्मादेव पुरा भूता यज्ञेभ्यः श्रूयतां तथा ॥ ६ ॥
ब्रह्माणं प्रथमं वक्त्रादुद्गातारं च सामगम्। होतारमपि चाध्वर्युं बाहुभ्यामसृजत् प्रभुः ॥ ७ ॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणाच्छंसि प्रस्तोतारं च सर्वशः। तौ मित्रावरुणौ पृष्ठात् प्रतिप्रस्तारमेव च ॥ ८ ॥
उदरात् प्रतिहर्तारं पोतारं चैव पार्थिव। अच्छावाकमथोरुभ्यां नेष्टारं चैव पार्थिव ॥ ९ ॥
पाणिभ्यामथ चाग्नीध्रं सुब्रह्मण्यं च जानुतः। ग्रावस्तुतं तु पादाभ्यामुन्नेतारं च याजुषम् ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजर्षे! इस प्रकार जगत्‌के एकार्णवके जलमें निमग्न हो जानेपर परम कान्तिमान् हंसस्वरूपी नारायण पृथ्वीको जलसे भलीभाँति आच्छादित कर विशाल रेतीले टापूके मध्यमें स्थित उस महार्णवके सरोवरमें शयन करते हैं। उन्हीं महाबाहुको रजोगुणरहित अविनाशी ब्रह्म कहा जाता है। अन्धकारसे आच्छादित हुए भगवान् अपने स्वरूपके प्रकाशसे प्रकाशित हो मनको सत्त्वगुणमें स्थापितकर वहाँ विराजित होते हैं। वे ही सत्यस्वरूप हैं। यथार्थ परम ज्ञान भी वे ही हैं, जिसका पूर्वकालमें ब्रह्माने अनुभव किया था। वे ही आरण्यकोंद्वारा उपदिष्ट रहस्य और उपनिषत्प्रतिपादित ज्ञान हैं। उन्हींको परमोत्कृष्ट यज्ञपुरुष कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो दूसरा पुरुष नामसे विख्यात है, वह पुरुषोत्तम भी वे ही हैं। जो यज्ञपरायण ब्राह्मण और जो ऋत्विज कहे गये हैं, वे सभी पूर्वकालमें इन्हींसे उत्पन्न हुए थे। अब यज्ञोंके विषयमें सुनिये। राजन्! उन प्रभुने सर्वप्रथम मुखसे ब्रह्मा और सामगान करनेवाले उद्गाताको, दोनों भुजाओंसे होता और अध्वर्युको, ब्रह्मासे ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोताको, पृष्ठभागसे मैत्रावरुण और प्रतिप्रस्तोताको, उदरसे प्रतिहर्ता और पोताको, ऊरुओंसे अच्छावाक् और नेष्टाको, हाथोंसे आग्नीध्रको, जानुओंसे सुब्रह्मण्यको तथा पैरोंसे ग्रावस्तुत और यजुर्वेदी उन्नेताको उत्पन्न किया ॥ १—१० ॥

एवमेवैष भगवान् षोडशैव जगत्पतिः। प्रवक्तॄन् सर्वयज्ञानामृत्विजोऽसृजदुत्तमान् ॥ ११ ॥
तदेष वै वेदमयः पुरुषो यज्ञसंस्थितः। वेदाश्चैतन्मयाः सर्वे साङ्गोपनिषदक्रियाः ॥ १२ ॥
स्वपित्येकार्णवे चैव यदाश्चर्यमभूत् पुरा। श्रूयन्तां तद्यथा विप्रा मार्कण्डेयकुतूहलम् ॥ १३ ॥
गीर्णो भगवतस्तस्य कुक्षावेव महामुनिः। बहुवर्षसहस्रायुस्तस्यैव वरतेजसा ॥ १४ ॥
अटंस्तीर्थप्रसङ्गेन पृथिवीं तीर्थगोचराम्। आश्रमाणि च पुण्यानि देवतायतनानि च ॥ १५ ॥
देशान् राष्ट्राणि चित्राणि पुराणि विविधानि च। जपहोमपरः शान्तस्तपो घोरं समास्थितः ॥ १६ ॥
मार्कण्डेयस्ततस्तस्य शनैर्वक्त्राद् विनिःसृतः। स निष्क्रामन् न चात्मानं जानीते देवमायया ॥ १७ ॥
निष्क्रम्याप्यस्य वदनादेकार्णवमथो जगत्। सर्वतस्तमसाच्छन्नं मार्कण्डेयोऽन्ववैक्षत ॥ १८ ॥
तस्योत्पन्नं भयं तीव्रं संशयश्चात्मजीविते। देवदर्शनसंहृष्टो विस्मयं परमं गतः ॥ १९ ॥

इस प्रकार इन जगदीश्वर भगवान्ने सम्पूर्ण यज्ञोंके प्रवक्ता सोलह श्रेष्ठ ऋत्विजोंको उत्पन्न किया। ये ही वेदमय पुरुष यज्ञोंमें भी स्थित रहते हैं। सभी वेद और उपनिषदोंकी साङ्गोपाङ्ग क्रियाएँ इन्हींके स्वरूप हैं। विप्रवरो! पूर्वकालमें एकार्णवके जलमें शयन करते समय मार्कण्डेय मुनिको कुतूहल उत्पन्न करनेवाली एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी। अब आप उसे सुनिये। भगवान्द्वारा निगले गये महामुनि मार्कण्डेय उन्हींकी कुक्षिमें उन्हींके श्रेष्ठ तेजसे कई हजार वर्षोंकी आयुतक भ्रमण करते रहे। वे तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे तीर्थोंको प्रकट करनेवाली पृथ्वी, पुण्यमय आश्रमों, देव-मन्दिरों, देशों, राष्ट्रों और अनेकों रमणीय नगरोंको देखते हुए जप और होममें तत्पर रहकर शान्तभावसे घोर तपस्यामें लगे हुए थे। तत्पश्चात् मार्कण्डेय मुनि धीरे-धीरे भ्रमण करते हुए भगवान्के मुखसे बाहर निकल आये, किंतु देवमायाके वशीभूत होनेके कारण वे अपनेको मुखसे निकला हुआ न जान सके। भगवान्के मुखसे बाहर निकलनेपर मार्कण्डेयजीने देखा कि सारा जगत् एकार्णवके जलमें निमग्न है और सब ओर अन्धकार छाया हुआ है। यह देखकर उनके मनमें महान् भय उत्पन्न हो गया और उन्हें अपने जीवनमें भी संशय दिखायी पड़ने लगा। इसी समय हृदयमें भगवान्का दर्शन होनेसे प्रसन्नता तो हुई, साथ ही महान् आश्चर्य भी हुआ ॥ ११–१९ ॥

चिन्तयन् जलमध्यस्थो मार्कण्डेयो विशङ्कितः। किं नु स्यान्मम चिन्तेयं मोहः स्वप्नोऽनुभूयते ॥ २० ॥
व्यक्तमन्यतमो भावस्तेषां सम्भावितो मम। न हीदृशं जगत्क्लेशमयुक्तं सत्यमर्हति ॥ २१ ॥
नष्टचन्द्रार्कपवने नष्टपर्वतभूतले। कतमः स्यादयं लोक इति चिन्तामवस्थितः ॥ २२ ॥
ददर्श चापि पुरुषं स्वपन्तं पर्वतोपमम्। सलिलेऽर्धमयो मग्नं जीमूतमिव सागरे ॥ २३ ॥
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्गोयुक्तमिव भास्करम्। शर्वर्यां जाग्रतमिव भासन्तं स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥
देवं द्रष्टुमिहायातः को भवानिति विस्मयात्। तथैव स मुनिः कुक्षिं पुनरेव प्रवेशितः ॥ २५ ॥
सम्प्रविष्टः पुनः कुक्षिं मार्कण्डेयोऽतिविस्मयः। तथैव च पुनर्भूयो विजानन् स्वप्नदर्शनम् ॥ २६ ॥
स तथैव यथापूर्वं यो धरामटते पुरा। पुण्यतीर्थजलोपेतां विविधान्याश्रमाणि च ॥ २७ ॥
क्रतुभिर्यजमानांश्च समाप्तवरदक्षिणान्। अपश्यद् देवकुक्षिस्थान् याजकाञ्छतशो द्विजान् ॥ २८ ॥
सद्वृत्तमास्थिताः सर्वे वर्णा ब्राह्मणपूर्वकाः। चत्वारश्चाश्रमाः सम्यग्यथोद्दिष्टा मया तव ॥ २९ ॥

इस प्रकार जलके मध्यमें स्थित मार्कण्डेय मुनि शंकित-चित्तसे विचार करने लगे कि यह मेरी आकस्मिक चिन्ता है या मेरी बुद्धिपर मोह छा गया है अथवा मैं स्वप्नका अनुभव कर रहा हूँ? परंतु यह तो स्पष्ट है कि मैं इनमेंसे किसी एक भावका अनुभव तो अवश्य कर रहा हूँ; क्योंकि इस प्रकार क्लेशसे रहित जगत् सत्य नहीं हो सकता। जब चन्द्रमा, सूर्य और वायु नष्ट हो गये तथा पर्वत और पृथ्वीका विनाश हो गया, तब यह कौन-सा लोक हो सकता है? वे इस प्रकारकी चिन्तासे ग्रस्त हो गये। इतनेमें ही उन्हें वहाँ एक पर्वतसरीखा विशालकाय पुरुष शयन करता हुआ दीख पड़ा, जिसके शरीरका आधा भाग सागरमें बादलकी तरह जलमें डूबा हुआ था। वह अपने तेजसे किरणयुक्त सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। अपने तेजसे उद्भासित होता हुआ वह रात्रिके अन्धकारमें जाग्रत्-सा दीख रहा था। तब मार्कण्डेय मुनि आश्चर्ययुक्त हो उस देवको देखनेके लिये ज्यों ही उसके निकट जाकर बोले—'आप कौन हैं?' त्यों ही उसने पुनः उन्हें अपनी कुक्षिमें समेट लिया। पुनः कुक्षिमें प्रविष्ट हुए मार्कण्डेयको परम विस्मय हुआ। वे बाह्य जगत्को पूर्ववत् स्वप्नदर्शन ही मान रहे थे। वे उस कुक्षिके अन्तर्गत जैसे पहले पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे, उसी प्रकार पुनः भ्रमण

करने लगे। उन्होंने पुण्यमय तीर्थजलसे भरी हुई नदियों, अनेकों आश्रमों तथा कुक्षिके भीतर स्थित सैकड़ों याजक ब्राह्मणोंको देखा, जो कहीं यज्ञोंद्वारा यजन कर रहे थे और कहीं यज्ञ समाप्त होनेके पश्चात् उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त थे। जैसा मैंने तुम्हें पहले बतलाया है, उसके अनुसार ब्राह्मण आदि सभी वर्णों तथा चारों आश्रमोंके लोग सम्यक् प्रकारसे सदाचारका पालन करते थे ॥ २०—२९ ॥

एवं वर्षशतं साग्रं मार्कण्डेयस्य धीमतः। चरतः पृथिवीं सर्वां न कुक्ष्यन्तः समीक्षितः ॥ ३० ॥
ततः कदाचिदथ वै पुनर्वक्त्राद्विनिःसृतः। सुप्तं न्यग्रोधशाखायां बालमेकं निरैक्षत ॥ ३१ ॥
तथैवैकार्णवजले नीहारेणावृताम्बरे। अव्यग्रः क्रीडते लोके सर्वभूतविवर्जिते ॥ ३२ ॥
स मुनिर्विस्मयाविष्टः कौतूहलसमन्वितः। बालमादित्यसंकाशं नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ३३ ॥
स चिन्तयंस्तथैकान्ते स्थित्वा सलिलसन्निधौ। पूर्वदृष्टमिदं मन्ये शङ्कितो देवमायया ॥ ३४ ॥
अगाधसलिले तस्मिन् मार्कण्डेयः सुविस्मयः। प्लवंस्तथार्तिमगमद् भयात् संत्रस्तलोचनः ॥ ३५ ॥
स तस्मै भगवानाह स्वागतं बालयोगवान्। बभाषे मेघतुल्येन स्वरेण पुरुषोत्तमः ॥ ३६ ॥
मा भैर्वत्स न भेतव्यमिहैवायाहि मेऽन्तिकम्। मार्कण्डेयो मुनिस्त्वाह बालं तं श्रमपीडितः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् मार्कण्डेयके सौ वर्षोंसे भी अधिक कालतक समूची पृथ्वीपर भ्रमण करते रहनेपर भी उन्हें उस कुक्षिका अन्त न दीख पड़ा। तत्पश्चात् किसी समय वे पुनः उस पुरुषके मुखसे बाहर निकल आये। उस समय उन्होंने बरगदकी शाखामें छिपे हुए एक बालकको देखा, जो उसी प्रकारके एकार्णवके जलमें, यद्यपि आकाश नीहारसे आच्छादित था तथा जगत् समस्त प्राणियोंसे शून्य हो गया था, तथापि निश्चिन्तभावसे खेल रहा था। यह देखकर मार्कण्डेय मुनि आश्चर्यचकित हो गये। उनके मनमें उसे जाननेके लिये कुतूहल उत्पन्न हो गया, किंतु वे सूर्यके समान तेजस्वी उस बालककी ओर देखनेमें असमर्थ हो गये। तब जलके निकट एकान्त स्थानमें स्थित होकर विचार करते हुए मार्कण्डेयजी देवमायाके प्रभावसे सशङ्कित हो उसे पहले देखा हुआ मानने लगे। परम विस्मित हुए मार्कण्डेय उस अथाह जलमें तैरते हुए कष्टका अनुभव करने लगे तथा भयके कारण उनके नेत्र कातर हो गये। तब बालयोगी भगवान् पुरुषोत्तम मेघ-सदृश गम्भीर स्वरसे मार्कण्डेयसे स्वागतपूर्वक बोले—'वत्स! डरो मत, तुम्हें डरना नहीं चाहिये। यहाँ मेरे निकट आओ।' तदुपरान्त थके-माँदे मार्कण्डेय मुनि उस बालकसे बोले ॥ ३०—३७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

को मां नाम्ना कीर्तयति तपः परिभवन्मम। दिव्यं वर्षसहस्राख्यं धर्षयन्निव मे वयः ॥ ३८ ॥
न ह्येष वः समाचारो देवेष्वपि ममोचितः। मां ब्रह्मापि हि देवेशो दीर्घायुरिति भाषते ॥ ३९ ॥
कस्तमो घोरमासाद्य मामद्य त्यक्तजीवितः। मार्कण्डेयेति मामुक्त्वा मृत्युमीक्षितुमर्हति ॥ ४० ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—यह कौन है, जो मेरी तपस्याका तिरस्कार करता हुआ मेरा नाम लेकर पुकार रहा है? यह एक हजार दिव्य वर्षोंवाली मेरी आयुका भी अपमान-सा कर रहा है। देवताओंमें भी किसीको मेरे प्रति ऐसा व्यवहार करना उचित नहीं है; क्योंकि देवेश्वर ब्रह्मा भी मुझे 'दीर्घायु' कहकर ही पुकारते हैं। जीवनसे हाथ धोनेवाला ऐसा कौन है, जो घोर अज्ञानान्धकारका आश्रय लेकर आज मुझे 'मार्कण्डेय' ऐसा कहकर मृत्युका मुख देखना चाहता है? ॥३८—४०॥

सूत उवाच

एवमाभाष्य तं क्रोधान्मार्कण्डेयो महामुनिः। तथैव भगवान् भूयो बभाषे मधुसूदनः॥ ४१॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! महामुनि मार्कण्डेय क्रोधवश उस बालकसे ऐसा कहकर चुप हो गये। तब भगवान् मधुसूदन पुनः उसी प्रकार बोले॥ ४१॥

श्रीभगवानुवाच

अहं ते जनको वत्स हृषीकेशः पिता गुरुः। आयुष्प्रदाता पौराणः किं मां त्वं नोपसर्पसि॥ ४२॥
मां पुत्रकामः प्रथमं पिता तेऽङ्गिरसो मुनिः। पूर्वमाराधयामास तपस्तीव्रं समाश्रितः॥ ४३॥
ततस्त्वां घोरतपसा प्रावृणोदमितौजसम्। उक्तवानहमात्मस्थं महर्षिममितौजसम्॥ ४४॥
कः समुत्सहते चान्यो यो न भूतात्मकात्मजः। द्रष्टुमेकार्णवगतं क्रीडन्तं योगवर्त्मना॥ ४५॥
ततः प्रहृष्टवदनो विस्मयोत्फुल्ललोचनः। मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटो मार्कण्डेयो महातपाः॥ ४६॥
नामगोत्रे ततः प्रोच्य दीर्घायुर्लोकपूजितः। तस्मै भगवते भक्त्या नमस्कारमथाकरोत्॥ ४७॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—वत्स! मै पुराणप्रसिद्ध हृषीकेश ही तुम्हें जन्म देनेवाला तुम्हारा पिता और गुरु हूँ। मैने ही तुम्हें दीर्घायु प्रदान किया है, तुम मेरे निकट क्यो नहीं आ रहे हो? तुम्हारे पिता अङ्गिरा मुनिने पहले पुत्र-प्राप्तिकी कामनासे कठोर तपका आश्रय ले मेरी आराधना की थी और उस घोर तपस्याके परिणाम-स्वरूप तुम्हारे-जैसे अमित ओजस्वी पुत्रका वरदान माँगा था, तब मैने उन आत्मज्ञानमें लीन एवं अमित पराक्रमी महर्षिको वरदान दिया था। अन्यथा तुम्हारे अतिरिक्त पञ्चभूतात्मक शरीरधारीका पुत्र दूसरा कौन है, जो एकार्णवके जलमें योगमार्गका आश्रय लेकर क्रीडा करते हुए मुझे देखनेका साहस कर सकता है? यह सुनकर महातपस्वी मार्कण्डेयका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उनके नेत्र विस्मयसे उत्फुल्ल हो गये। तब वे लोकपूजित दीर्घायु मुनि मस्तकपर हाथ जोड़कर नाम और गोत्रका उच्चारण करके भक्ति-पूर्वक उन भगवान्‌को नमस्कार करते हुए बोले॥ ४२—४७॥

मार्कण्डेय उवाच

इच्छेयं तत्त्वतो मायामिमां ज्ञातुं तवानघ। यदेकार्णवमध्यस्थः शेषे त्वं बालरूपवान्॥ ४८॥
किं संज्ञश्चैव भगवाँल्लोके विज्ञायसे प्रभो। तर्कये त्वां महात्मानं को ह्यन्यः स्थातुमर्हति॥ ४९॥

मार्कण्डेयजीने कहा—अनघ! मैं आपकी इस मायाको तत्त्वपूर्वक जानना चाहता हूँ, जो आप बालक-का रूप धारण करके इस एकार्णवके जलके मध्यमें स्थित होकर शयन करते हैं। ऐश्वर्यशाली प्रभो! आप इस लोकमें किस नामसे विख्यात होते हैं? मै आपको एक महान् आत्मबल-सम्पन्न पुरुष मानता हूँ, अन्यथा दूसरा कौन इस प्रकार स्थित रह सकता है॥ ४८—४९॥

श्रीभगवानुवाच

अहं नारायणो ब्रह्मन् सर्वभूः सर्वनाशनः। अहं सहस्रशीर्षाख्यैर्यैः पदैरभिसंज्ञितः॥ ५०॥
आदित्यवर्णः पुरुषो मखे ब्रह्ममयो मखः। अहमग्निर्हव्यवाहो यादसां पतिरव्ययः॥ ५१॥
अहमिन्द्रपदे शक्रो वर्षाणां परिवत्सरः। अहं योगी युगाख्यश्च युगान्तावर्त एव च॥ ५२॥
अहं सर्वाणि सत्त्वानि दैवतान्यखिलानि तु। भुजङ्गानामहं शेषस्तार्क्ष्यो वै सर्वपक्षिणाम्॥ ५३॥
कृतान्तः सर्वभूतानां विश्वेषां कालसंज्ञितः। अहं धर्मस्तपश्चाहं सर्वाश्रमनिवासिनाम्॥ ५४॥
अहं चैव सरिद्दिव्या क्षीरोदश्च महार्णवः। यत्तत्सत्यं च परममहमेकः प्रजापतिः॥ ५५॥

अहं सांख्यमहं योगोऽप्यहं तत्परमं पदम्। अहमिज्याक्रिया चाहमहं विद्याधिपः स्मृतः ॥ ५६ ॥
अहं ज्योतिरहं वायुरहं भूमिरहं नभः। अहमापः समुद्राश्च नक्षत्राणि दिशो दश ॥ ५७ ॥
अहं वर्षमहं सोमः पर्जन्योऽहमहं रविः। क्षीरोदसागरे चाहं समुद्रे वडवामुखः ॥ ५८ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन् ! मै सभी प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला तथा सबका विनाशक नारायण हूँ। जो सहस्रशीर्ष आदि नामोंसे अभिहित होता है, वह मैं ही हूँ। मै ही आदित्यवर्ण पुरुष और यज्ञमें ब्रह्ममय यज्ञ हूँ। मैं ही हव्यको वहन करनेवाला अग्नि और जल-जन्तुओं-का अविनाशी स्वामी हूँ। इन्द्रपदपर स्थित रहनेवाला इन्द्र तथा वर्षोंमें परिवत्सर मै हूँ। मै ही योगी, युग नामसे प्रसिद्ध और युगोंका अन्त करनेवाला हूँ। समस्त प्राणी और सम्पूर्ण देवता मेरे ही स्वरूप हैं। मैं सर्पोंमें शेषनाग और सम्पूर्ण पक्षियोंमें गरुड हूँ। मै सभी प्राणियोंका अन्त करनेवाला तथा लोकोंका काल हूँ। चारों आश्रमोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंका धर्म और तप मैं ही हूँ। मैं दिव्य नदी गङ्गा और दूधरूपी जलसे भरा हुआ महासागर हूँ। जो परम सत्य है, वह मैं हूँ। मै ही एकमात्र प्रजापति हूँ। मैं ही सांख्य, मैं ही योग और मै ही वह परमपद हूँ। मैं ही यज्ञकी क्रिया और मै ही विद्याका अधिपति कहलाता हूँ। मै ही अग्नि, मै ही वायु, मैं ही पृथ्वी, मै ही आकाश, मैं ही जल, समुद्र, नक्षत्र और दसों दिशाएँ हूँ। मै ही वर्ष, मैं ही चन्द्रमा, मै ही बादल तथा मै ही रवि हूँ। क्षीरसागरमें शयन करनेवाला मै ही हूँ। मै ही समुद्रमें वडवाग्नि हूँ ॥५०—५८॥

वह्निः संवर्तको भूत्वा पिबंस्तोयमयं हविः। अहं पुराणः परमं तथैवाहं परायणम् ॥ ५९ ॥
अहं भूतस्य भव्यस्य वर्तमानस्य सम्भवः। यत्किञ्चित् पश्यसे विप्र यच्छ्रृणोपि च किञ्चन॥ ६० ॥
यल्लोके चानुभवसि तत्सर्वं मामनुस्मर। विश्वं सृष्टं मया पूर्वं सृज्यं चाद्यापि पश्य माम्॥ ६१ ॥
युगे युगे च स्रक्ष्यामि मार्कण्डेयाखिलं जगत्। तदेतदखिलं सर्वं मार्कण्डेयावधारय ॥ ६२ ॥
शुश्रूषुर्मम धर्मांश्च कुक्षौ चर सुखं मम। मम ब्रह्मा शरीरस्थो देवैश्च ऋषिभिः सह ॥ ६३ ॥
व्यक्तमव्यक्तयोगं मामवगच्छासुरद्विषम्। अहमेकाक्षरो मन्त्रस्त्र्यक्षरश्चैव तारकः ॥ ६४ ॥
परस्त्रिवर्गादोंकारस्त्रिवर्गार्थनिदर्शनः। एवमादिपुराणेशो वदन्नेव महामतिः ॥ ६५ ॥
वक्त्रमाहृतवानाशु मार्कण्डेयं महामुनिम्।
ततो भगवतः कुक्षिं प्रविष्टो मुनिसत्तमः। स तस्मिन् सुखमेकान्ते शुश्रूषुर्हंसमव्ययम् ॥ ६६ ॥
योऽहमेव विविधतनुं परिश्रितो महार्णवे व्यपगतचन्द्रभास्करे।
शनैश्चरन् प्रभुरपि हंससंज्ञितोऽसृजज्जगद्विरहितकालपर्यये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

मै ही संवर्तक अग्नि बनकर जलरूप हविका पान करता हूँ। जैसे मै पुराण-पुरुष हूँ, उसी प्रकार मैं सबके लिये आश्रयदाता भी हूँ। भूत, भविष्य और वर्तमानका उत्पत्तिस्थान मै हूँ। विप्रवर ! तुम जो कुछ देख रहे हो, जो कुछ सुन रहे हो और लोकमें जिसका अनुभव कर रहे हो, उस सबमें मेरा ही स्मरण करो। मार्कण्डेय ! पूर्वकालमें मैने ही विश्वकी सृष्टि की थी और इस समय भी सृष्टिकर्ता मुझे ही समझो। मार्कण्डेय ! प्रत्येक युगमें मै ही सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करता हूँ, अतः तुम इन सबका रहस्य इस प्रकार जानो। यदि तुम मेरे धर्मोंको सुनना चाहते हो तो मेरी कुक्षिमें प्रवेश करके सुखपूर्वक विचरण करो। देवताओ और ऋषियोंके साथ ब्रह्मा मेरे शरीरमे ही विद्यमान हैं। मुझे ही व्यक्त (प्रकट) और अव्यक्त (अप्रकट) योगवाला तथा

असुरोंका शत्रु समझो। मैं ही एक अक्षर तथा तीन अक्षरोंवाला तारक मन्त्र हूँ। त्रिवर्गसे परे तथा त्रिवर्गके अभिप्रायको निर्दिष्ट करनेवाला ओंकार मैं ही हूँ। आदि-पुराणेश महाबुद्धिमान् भगवान् इस प्रकार कह ही रहे थे कि उन्होंने शीघ्र ही महामुनि मार्कण्डेयको अपने मुखमें समेट लिया। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय भगवान्‌की कुक्षिमें प्रविष्ट हो गये और उस एकान्त स्थानमें अविनाशी हंसधर्मको सुननेकी इच्छासे सुखपूर्वक विचरण करने लगे। (इतनेमें ही ऐसी ध्वनि सुनायी पड़ी—) मैं ही वह हूँ, जो चन्द्रमा और सूर्यसे रहित महार्णवके जलमें विविध शरीर धारण कर समर्थ होते हुए भी शनैः-शनैः विचरण करता हूँ और हंस नामसे पुकारा जाता हूँ तथा काल-परिवर्तनके समाप्त होनेपर पुनः जगत्‌की सृष्टि करता हूँ ॥५९—६७॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ सड़सठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६७ ॥

एक सौ अड़सठवाँ अध्याय

पञ्चमहाभूतोंका प्राकट्य तथा नारायणकी नाभिसे कमलकी उत्पत्ति

मत्स्य उवाच

आपवः स विभुर्भूत्वा चारयामास वै तपः। छादयित्वाऽऽत्मनो देहं यादसां कुलसम्भवम् ॥ १ ॥
ततो महात्मातिबलो मतिं लोकस्य सर्जने। महतां पञ्चभूतानां विश्वो विश्वमचिन्तयत् ॥ २ ॥
तस्य चिन्तयमानस्य निर्वाते संस्थितेऽर्णवे। निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे ॥ ३ ॥
ईषत् संक्षोभयामास सोऽर्णवं सलिलाश्रयः। अनन्तरोर्मिभिः सूक्ष्ममथ च्छिद्रमभूत् पुरा ॥ ४ ॥
शब्दं प्रति तदोद्भूतो मारुतश्छिद्रसम्भवः। स लब्ध्वान्तरमक्षोभ्यो व्यवर्धत समीरणः ॥ ५ ॥
विवर्धता बलवता वेगाद् विक्षोभितोऽर्णवः।
तस्यार्णवस्य क्षुब्धस्य तस्मिन्नम्भसि मन्थिते। कृष्णवर्त्मा समभवत् प्रभुर्वैश्वानरो महान् ॥ ६ ॥
ततः स शोषयामास पावकः सलिलं बहु। क्षयाज्जलनिधेश्छिद्रमभवद् विस्तृतं नभः ॥ ७ ॥
आत्मतेजोद्भवाः पुण्या आपोऽमृतरसोपमाः। आकाशं छिद्रसम्भूतं वायुराकाशसम्भवः ॥ ८ ॥
आभ्यां सङ्घर्षणोद्भूतं पावकं वायुसम्भवम्। दृष्ट्वा प्रीतो महादेवो महाभूतविभावनः ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा भूतानि भगवाँल्लोकसृष्ट्यर्थमुत्तमम्। ब्रह्मणो जन्मसहितं बहुरूपो व्यचिन्तयत् ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! तदनन्तर वे सर्वव्यापी नारायण जलजन्तुओंके कुलमें उत्पन्न अपने शरीरको छिपाकर जलमें निवास करते हुए तपस्यामें संलग्न हो गये। कुछ समयके पश्चात् उन महाबली महात्माने जगत्‌की सृष्टि करनेका विचार किया। तब उन विश्वात्माने पञ्चमहाभूतोंकी समष्टिरूप विश्वका चिन्तन किया। उनके चिन्तन करते समय महासागर वायुरहित होनेके कारण शान्त था। आकाशका विनाश हो गया था, सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था, उसके गह्वरमें सूक्ष्म जगत् विद्यमान था, उस समय जलके मध्यमें स्थित नारायणने उस एकार्णवको थोड़ा संक्षुब्ध कर दिया। तदनन्तर उससे उठी हुई लहरोंसे सर्वप्रथम सूक्ष्म छिद्र प्रकट हुआ। छिद्रसे शब्द-गुणवाला आकाश उत्पन्न हुआ। उस छिद्राकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई। वह दुर्धर्ष पवन अवसर पाकर वृद्धिको प्राप्त हुआ। तब वेगपूर्वक बढ़ते हुए उस बलवान् पवनने महासागरको विक्षुब्ध कर दिया। उस क्षुब्ध हुए महासागरके जलके मथित होनेपर महान् प्रभावशाली कृष्णवर्त्मा वैश्वानर (अग्नि) प्रकट हुए। तब उस अग्निने अधिकांश जलको सोख लिया। समुद्र-जलके

संकुचित हो जानेसे वह छिद्र विस्तृत आकाशके रूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार अपने तेजसे उत्पन्न हुए एवं अमृत-रसके समान स्वादिष्ट पुण्यमय जल, छिद्रसे उत्पन्न हुए आकाश, आकाशसे प्रकट हुए पवन तथा आकाश और पवनके संघर्षसे उद्भूत हुए वायुजनित अग्निको देखकर महाभूतोंको उत्पन्न करनेवाले वे महान् देव प्रसन्न हो गये। तब विविध रूप धारण करनेवाले भगवान् उन महाभूतोंको उपस्थित देखकर लोककी सृष्टिके लिये ब्रह्माके जन्मसहित अन्यान्य उत्तम साधनोंके विषयमें विशेषरूपसे विचार करने लगे ॥

चतुर्युगाभिसंख्याते सहस्रयुगपर्यये। बहुजन्मविशुद्धात्मा ब्रह्मणेह निरुच्यते ॥ ११ ॥
यत्पृथिव्यां द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम्। ज्ञानं दृष्टं तु विश्वार्थे योगिनां याति मुख्यताम् ॥ १२ ॥
तं योगवन्तं विज्ञाय सम्पूर्णैश्वर्यमुत्तमम्। पदे ब्रह्मणि विश्वेशं न्ययोजयत योगवित् ॥ १३ ॥
ततस्तस्मिन् महातोये महीशो हरिरच्युतः। स्वयं क्रीडंश्च विधिवन्मोदते सर्वलोककृत् ॥ १४ ॥
पद्मं नाभ्युद्भवं चैकं समुत्पादितवांस्तदा। सहस्रपर्णं विरजं भास्कराभं हिरण्मयम् ॥ १५ ॥
हुताशनज्वलितशिखोज्ज्वलत्प्रभमुपस्थितं शरदमलार्कतेजसम्।
विराजते कमलमुदारवर्चसं ममात्मनस्तनुरुहचारुदर्शनम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे पद्मोद्भवो नामाष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार चारों युगोंकी संख्यासे युक्त एक हजार युग बीत जानेपर बारंबार जन्म लेनेपर भी जिसका आत्मा विशुद्ध होता है, उसे ब्रह्मा कहा जाता है। योगवेत्ता भगवान् भूतलपर जिसे तपस्यासे पवित्र आत्मावाले महर्षियोंके ज्ञान और योगियोंकी मुख्यतासे युक्त देखते हैं, उसे योगसम्पन्न सम्पूर्ण उत्तम ऐश्वर्योंसे युक्त और विश्वके शासनकी क्षमतासे पूर्ण जानकर ब्रह्माके पदपर नियुक्त कर देते हैं। तत्पश्चात् जो सम्पूर्ण लोकोंके रचयिता, पृथ्वीके स्वामी और अपनी महिमासे कभी भी च्युत होनेवाले नहीं हैं, वे श्रीहरि उस महार्णवके जलमें स्वयं विधिपूर्वक क्रीडा करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं। उस समय वे अपनी नाभिसे एक कमल उत्पन्न करते हैं। उस स्वर्णमय कमलमें एक हजार पत्ते होते हैं। वह परागरहित और सूर्यके समान कान्तिमान् होता है। उस समय अग्निकी जलती हुई शिखाओंकी उज्ज्वल कान्तिके समान देदीप्यमान, शरत्कालीन निर्मल सूर्यके सदृश तेजस्वी, भगवान्‌की रोमावलि-सरीखे परम दर्शनीय तथा उत्तम कान्तिमान् उस प्रकट हुए कमलकी विशेष शोभा होती है ॥ ११-१६ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसंगमें पद्मोभव नामक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १६८ ॥

एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय

नाभिकमलसे ब्रह्माका प्रादुर्भाव तथा उस कमलका साङ्गोपाङ्ग वर्णन

मत्स्य उवाच

अथ योगवतां श्रेष्ठमसृजद् भूरितेजसम्। स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ॥ १ ॥
यस्मिन् हिरण्मये पद्मे बहुयोजनविस्तृते। सर्वतेजोगुणमयं पार्थिवैर्लक्षणैर्वृतम् ॥ २ ॥
तच्च पद्मं पुराणज्ञाः पृथिवीरूपमुत्तमम्। नारायणसमुद्भूतं प्रवदन्ति महर्षयः ॥ ३ ॥
या पद्मा सा रसा देवी पृथिवी परिचक्ष्यते। ये पद्मसारगुरवस्तान् दिव्यान् पर्वतान् विदुः ॥ ४ ॥

हिमवन्तं च मेरुं च नीलं निषधमेव च। कैलासं मुञ्जवन्तं च तथान्यं गन्धमादनम्॥ ५॥
पुण्यं त्रिशिखरं चैव कान्तं मन्दरमेव च। उदयं पिञ्जरं चैव विन्ध्यवन्तं च पर्वतम्॥ ६॥
एते देवगणानां च सिद्धानां च महात्मनाम्। आश्रयाः पुण्यशीलानां सर्वकामफलप्रदाः॥ ७॥
एतेषामन्तरे देशो जम्बूद्वीप इति स्मृतः। जम्बूद्वीपस्य संस्थानं यज्ञिया यत्र वै क्रियाः॥ ८॥
एभ्यो यत् स्रवते तोयं दिव्यामृतरसोपमम्। दिव्यास्तीर्थशताधाराः सुरम्याः सरितः स्मृताः॥ ९॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजर्षे! तदनन्तर नारायणने अनेकों योजन विस्तारवाले उस स्वर्णमय कमलमें सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करनेवाले ब्रह्माको उत्पन्न किया। वे योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम तेजस्वी, सब ओर मुखवाले, सभी तेजोमय गुणोंसे युक्त और राजलक्षणोंसे सुशोभित थे। पुराणोंके ज्ञाता महर्षिगण उस कमलको नारायणसे उत्पन्न हुआ उत्तम पृथ्वीरूप बतलाते हैं। जो पद्म है, वही रसा नामसे विख्यात पृथ्वीदेवी कही जाती है और जो कमलके सार-तत्त्वसे युक्त होनेके कारण भारी अंश हैं, उन्हें दिव्य पर्वत कहा जाता है। इस प्रकार जो हिमवान्, मेरु, नील, निषध, कैलास, मुञ्जवान् तथा दूसरा गन्धमादन, पुण्यमय त्रिशिखर, रमणीय मन्दर, उदयाचल, पिञ्जर तथा विन्ध्यवान् पर्वत हैं—ये सभी देवगणों, सिद्धों और पुण्यशील महात्माओंके निवासस्थान तथा समस्त कामनाओंका फल प्रदान करनेवाले हैं। इन सभी पर्वतोंके मध्यवर्ती देशको जम्बूद्वीप कहा जाता है। जम्बूद्वीपकी पहचान यह है कि वहाँ सभी यज्ञ-सम्बन्धिनी क्रियाएँ होती हैं। इन पर्वतोंसे जो दिव्य अमृत-रसके समान सुस्वादु जल प्रवाहित होता है, वह सैकड़ों धाराओंमें विभक्त होकर दिव्य तीर्थ बन जाता है और वे धाराएँ सुरम्य नदियाँ कहलाती हैं॥ १—९॥

स्मृतानि यानि पद्मस्य केसराणि समंततः। असंख्येयाः पृथिव्यास्ते विश्वे वै धातुपर्वताः॥ १०॥
यानि पद्मस्य पर्णानि भूरीणि तु नराधिप। ते दुर्गमाः शैलचिता म्लेच्छदेशा विकल्पिताः॥ ११॥
यान्यधोभागपर्णानि ते निवासास्तु भागशः। दैत्यानामुरगाणां च पतङ्गानां च पार्थिव॥ १२॥
तेषां महार्णवो यत्र तद्रसेत्यभिसंज्ञितम्। महापातककर्माणो मज्जन्ते यत्र मानवाः॥ १३॥
पद्मस्यान्तरतो यत्तदेकार्णवगता मही। प्रोक्ताथ दिक्षु सर्वासु चत्वारः सलिलाकराः॥ १४॥
एवं नारायणस्यार्थे मही पुष्करसम्भवा। प्रादुर्भावोऽप्ययं तस्मान्नाम्ना पुष्करसंज्ञितः॥ १५॥
एतस्मात् कारणात्तज्ज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः। याज्ञिकैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः॥ १६॥
एवं भगवता तेन विश्वेषां धारणाविधिः। पर्वतानां नदीनां च ह्रदानां चैव निर्मितः॥ १७॥
विभुस्तथैवाप्रतिमप्रभावः प्रभाकराभो वरुणासितद्युतिः।
शनैः स्वयम्भूः शयनं सृजत्तदा जगन्मयं पद्मविधिं महार्णवे॥ १८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६९॥

राजन्! उस कमलके चारों ओर जो केसर कहे जाते हैं, वे विश्वमें पृथ्वीके असंख्य धातुपर्वत हैं। उस कमलमें जो बहुसंख्यक पत्ते हैं, वे म्लेच्छोंके देश कहे जाते हैं, जो पर्वतोंसे व्याप्त होनेके कारण दुर्गम हैं। भूपाल! उस कमलमें जो निचले भागमें पत्ते हैं, वे विभागपूर्वक दैत्यों, नागों और कीट-पतंगोंके निवासस्थान हैं। इन सबका जहाँ महासागर है, उसे 'रसा' नामसे पुकारा जाता है। वहीं महान् पाप करनेवाले मानव डूबते-उतराते रहते हैं। उस कमलके अन्तर्गत जो ठोस भाग दीखता है, वही एकार्णवमें डूबी हुई पृथ्वी कही गयी है। उसकी सभी दिशाओंमें जलसे भरे हुए चार महासागर हैं। इस प्रकार नारायणकी कार्य-सिद्धिके लिये पृथ्वी कमलसे

उद्भूत हुई है। इसी कारण यह प्रादुर्भाव भी पुष्कर नामसे कहा जाता है। इसी कारण उस वृत्तान्तको जाननेवाले प्राचीन याज्ञिक महर्षियोंने वेदके दृष्टान्तोंद्वारा यज्ञमें कमलकी रचनाका विधान बतलाया है। इस प्रकार उन भगवान्‌ने सम्पूर्ण पर्वतों, नदियों और जलाशयोंकी धारणाकी विधिका निर्माण किया है। तदुपरान्त जो अनुपम प्रभावशाली, सूर्य-सरीखे द्युतिमान् और वरुणकी-सी कृष्ण कान्तिवाले हैं, वे सर्वव्यापी स्वयम्भू भगवान् उस महार्णवमें जगन्मय कमलका विधान करके पुनः पूर्ववत् शयन करने लगे॥ १०—१८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १६९॥

एक सौ सत्तरवाँ अध्याय

मधु-कैटभकी उत्पत्ति, उनका ब्रह्माके साथ वार्तालाप और भगवान्‌द्वारा वध

मत्स्य उवाच

विघ्नस्तपसि सम्भूतो मधुर्नाम महासुरः। तेनैव च सहोद्भूतो रजसा कैटभस्ततः॥ १॥
तौ रजस्तमसौ विघ्नसम्भूतौ तामसौ गणौ। एकार्णवे जगत् सर्वं क्षोभयन्तौ महाबलौ॥ २॥
दिव्यरक्ताम्बरधरौ श्वेतदीप्ताग्रदंष्ट्रिणौ। किरीटकुण्डलोदग्रौ केयूरवलयोज्ज्वलौ॥ ३॥
महाविवृतताम्राक्षौ पीनोरस्कौ महाभुजौ। महागिरेः संहननौ जङ्गमाविव पर्वतौ॥ ४॥
नवमेघप्रतीकाशावादित्यसदृशाननौ। विद्युदाभौ गदाग्राभ्यां कराभ्यामतिभीषणौ॥ ५॥
तौ पादयोस्तु विन्यासादुत्क्षिपन्ताविवार्णवम्। कम्पयन्ताविव हरिं शयानं मधुसूदनम्॥ ६॥
तौ तत्र विचरन्तौ स्म पुष्करे विश्वतोमुखम्। योगिनां श्रेष्ठमासाद्य दीप्तं ददृशतुस्तदा॥ ७॥
नारायणसमाज्ञातं सृजन्तमखिलाः प्रजाः। दैवतानि च विश्वानि मानसानसुरानृषीन्॥ ८॥
ततस्तावूचतुस्तत्र ब्रह्माणमसुरोत्तमौ। दीप्तौ मुमूर्षू संक्रुद्धौ रोषव्याकुलितेक्षणौ॥ ९॥
कस्त्वं पुष्करमध्यस्थः सितोष्णीषश्चतुर्भुजः। आधाय नियमं मोहादास्से त्वं विगतज्वरः॥ १०॥
एह्यागच्छावयोर्युद्धं देहि त्वं कमलोद्भव। आवाभ्यां परमीशाभ्यामशक्तस्त्वमिहार्णवे॥ ११॥
तत्र कश्चोद्भवस्तुभ्यं केन वासि नियोजितः। कः स्रष्टा कश्च ते गोप्ता केन नाम्ना विधीयसे॥ १२॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! भगवान्‌के योगनिद्राके वशीभूत हो शयन करते समय मधु नामका महान् असुर उत्पन्न हुआ, जो ब्रह्माजीकी तपस्यामें विघ्नस्वरूप था। तत्पश्चात् उसीके साथ रजोगुणसे युक्त कैटभ भी उत्पन्न हुआ। रजोगुण और तमोगुणसे युक्त एवं विघ्नस्वरूप उत्पन्न हुए वे दोनों महाबली तामसी असुर एकार्णवके जलमें सम्पूर्ण जगत्‌को क्षुब्ध कर रहे थे। वे लाल रंगका दिव्य वस्त्र धारण किये हुए थे, उनकी श्वेत वर्णकी दाढ़ोंके अग्रभाग चमक रहे थे, वे उद्दीप्त किरीट और कुण्डल तथा उज्ज्वल केयूर और कंकणसे विभूषित थे, उनके लाल रंगके विशाल नेत्र खुले हुए थे, उनकी छाती मोटी और भुजाएँ लम्बी थीं, उनका शरीर विशाल पर्वतके समान था, वे चलते हुए पर्वत-जैसा जान पड़ते थे, उनकी शरीर-कान्ति नूतन मेघ-जैसी थी, उनका मुख सूर्यके समान प्रकाशमान था, वे बिजलीकी तरह चमक रहे थे और हाथमें गदा धारण करनेके कारण अत्यन्त भयानक दीख रहे थे, चलते समय वे पैरोंको इस प्रकार रख रहे थे मानो समुद्रको उछाल रहे हों और शयन करते हुए भगवान् मधुसूदनको कम्पित-सा कर रहे थे। इस प्रकार वहाँ विचरण करते हुए उन दोनोंने कमलपर उद्भासित होते हुए चारों ओर मुखवाले योगियोंमें श्रेष्ठ ब्रह्माके निकट पहुँचकर उन्हें नारायणकी आज्ञासे मानसिक संकल्पद्वारा

समस्त प्रजाओं, सम्पूर्ण देवताओ, असुरो और ऋषियोंकी सृष्टि करते हुए देखा। वे दोनों असुरश्रेष्ठ अपनी कान्तिसे उद्दीप्त, क्रोधसे परिपूर्ण और आसन्नमृत्यु थे, उनके नेत्र क्रोधसे व्याकुल हो रहे थे। उन्होने ब्रह्मासे पूछा—'श्वेत रंगकी पगड़ी बाँधे, चार भुजाधारी एवं कमलके मध्यमें स्थित तुम कौन हो? तुम मोहवश नियम धारणकर ,यहाँ शान्तचित्त होकर क्यों बैठे हो? कमलजन्मा! तुम यहाँ आओ और हम दोनोंके साथ युद्ध करो। हम दोनों सामर्थ्यशालियोके अतिरिक्त तुम इस महासागरमें स्थित नहीं रह सकते। तुम्हें उत्पन्न करनेवाला कौन है? तुम किसके द्वारा इस काममें नियुक्त किये गये हो? तुम्हारी सृष्टि करनेवाला कौन है? तुम्हारा रक्षक कौन है? तुम किस नामसे पुकारे जाते हो?' ॥ १–१२ ॥

ब्रह्मोवाच

एक इत्युच्यते लोकैरविचिन्त्यः सहस्रदृक्। तत्संयोगेन भवतोः कर्म नामावगच्छताम् ॥ १३ ॥

ब्रह्माने कहा—जो ध्यानसे परे एवं हजारों नेत्रोंवाला है, उस परम पुरुषको तो लोग अद्वितीय बतलाते हैं, (परंतु तुम दोनों कौन हो?) अतः मैं तुम दोनोंके नाम और कर्मको जानना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

मधुकैटभावूचतुः

नावयोः परमं लोके किंचिदस्ति महामते। आवाभ्यां छाद्यते विश्वं तमसा रजसाथ वै ॥ १४ ॥
रजस्तमोमयावावामृषीणामवलङ्घितौ। छाद्यमानौ धर्मशीलौ दुस्तरौ सर्वदेहिनाम् ॥ १५ ॥
आवाभ्यामुह्यते लोको दुष्कराभ्यां युगे युगे। आवामर्थश्च कामश्च यज्ञः स्वर्गपरिग्रहः ॥ १६ ॥
सुखं यत्र मुदा युक्तं यत्र श्रीः कीर्तिरेव च। येषां यत्काङ्क्षितं चैव तत्तदावां विचिन्तय ॥ १७ ॥

मधुकैटभ बोले—महामते! जगत्में हम दोनोसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। हमीं दोनोंने तमोगुण और रजोगुणद्वारा विश्वको आच्छादित कर रखा है। रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त होनेके कारण हम दोनो ऋषियोंके लिये अलङ्घनीय हैं। धर्म और शील-स्वभावका आच्छादन करनेवाले हम दोनों समस्त देहधारियोंके लिये अजेय हैं। प्रत्येक युगमें दुष्कर कर्म करनेवाले हमीं दोनों लोकका वहन करते हैं। अर्थ, काम, यज्ञ, स्वर्ग-संकलन—यह सब हम दोनोंके लिये ही हैं। जहाँ जो कुछ प्रसन्नतायुक्त सुख, लक्ष्मी और कीर्ति है तथा प्राणियोंके जो मनोरथ हैं, उनके रूपमें हमीं दोनोको जानना चाहिये ॥ १४–१७ ॥

ब्रह्मोवाच

यत्नाद्योगवतो दृष्ट्या योगः पूर्वं मयार्जितः। तं समाधाय गुणवत्सत्त्वं चास्मि समाश्रितः ॥ १८ ॥
यः परो योगमतिमान् योगाख्यः सत्त्वमेव च। रजसस्तमसश्चैव यः स्रष्टा विश्वसम्भवः ॥ १९ ॥
ततो भूतानि जायन्ते सात्त्विकानीतराणि च। स एव हि युवां नाशे वशी देवो हनिष्यति ॥ २० ॥

ब्रह्माने कहा—पूर्वकालमें मैने यत्नपूर्वक योगदृष्टि-द्वारा योगका उपार्जन किया था, उसी गुणशाली योगको धारण करके मैं सत्त्वगुणसे युक्त हो सका हूँ। जो परात्पर, योगकी बुद्धिसे युक्त, 'योग' नामवाले, सत्त्व-गुणस्वरूप, रजोगुण और तमोगुणके रचयिता तथा विश्वको उत्पन्न करनेवाले हैं, जिनसे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, वे ही देव तुम दोनोंका विनाश करनेमें समर्थ हैं, अत वे ही तुम दोनोंका वध करेंगे ॥ १८–२० ॥

स्वपन्नेव ततः श्रीमान् बहुयोजनविस्तृतम्। बाहुं नारायणो ब्रह्म कृतवानात्ममायया ॥ २१ ॥
कृष्यमाणौ ततस्तस्य बाहुना बाहुशालिनः। चेरतुस्तौ विगलितौ शकुनाविव पीवरौ ॥ २२ ॥

ततस्तावाहतुर्गत्वा तदा देवं सनातनम्। पद्मनाभं हृषीकेशं प्रणिपत्य स्थितावुभौ ॥ २३ ॥
जानीवस्त्वां विश्वयोनिं त्वामेकं पुरुषोत्तमम्। त्वमावां पाहि हेत्वर्थमिदं नौ बुद्धिकारणम् ॥ २४ ॥
अमोघदर्शनः स त्वं यतस्त्वां विद्मःशाश्वतम्। ततस्त्वामागतावावामभितः प्रसमीक्षितुम् ॥ २५ ॥
तदिच्छावो वरं देव त्वत्तोऽद्भुतमरिन्दम। अमोघदर्शनोऽसि त्वं नमस्ते समितिंजय ॥ २६ ॥

ठीक उसी अवसरपर परब्रह्म श्रीमान् नारायणने शयन करते हुए ही अपनी मायासे अपने बाहुको अनेकों योजनके विस्तारवाला बना लिया। तब दीर्घ बाहुवाले भगवान्‌की उस भुजासे खींचे जाते हुए वे दोनों दैत्य स्थानसे भ्रष्ट होकर दो मोटे पक्षियोंकी भाँति घूमने लगे। इस प्रकार खिंचते हुए वे दोनों असुर अविनाशी पद्मनाभ हृषीकेशके निकट जा पहुँचे और उन्हे नमस्कार कर सामने खडे हो गये और इस प्रकार बोले—'देव! हम दोनो आपको विश्वका उत्पादक, अद्वितीय और पुरुषोत्तम जानते है। आप हम दोनोंकी रक्षा करें। हमलोगोंकी ऐसी बुद्धिका कारण किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये है। आपका दर्शन अमोघ होता है। इसीलिये हम दोनों आपको अविनाशी मानते हैं। देव! इसी कारण हम दोनो आपका दर्शन करनेके लिये यहाँ आये हैं। शत्रुसूदन! हम दोनों आपसे अद्भुत वर प्राप्त करना चाहते हैं। युद्धविजयी देव! आप अमोघदर्शन हैं, अर्थात् आपका दर्शन निष्फल नहीं होता। आपको नमस्कार है' ॥ २१–२६ ॥

श्रीभगवानुवाच

किमर्थं हि द्रुतं ब्रूतं वरं ह्यसुरसत्तमौ। दत्तायुष्कौ पुनर्भूयो रहो जीवितुमिच्छथः ॥ २७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—श्रेष्ठ असुरो! तुमलोगोंकी क्या अभिलाषा है? शीघ्र वर माँगो। तुमलोगोने अपनी आयु तो दे दी है, अब तुमलोग पुनः एकान्तमें कैसे जीवित रहना चाहते हो? ॥ २७ ॥

मधुकैटभावूचतुः

यस्मिन्न कश्चिन्मृतवान् देव तस्मिन् प्रभो वधम्। तमिच्छावो वधश्चैव त्वत्तो नोऽस्तु महाव्रत ॥ २८ ॥

मधु-कैटभ बोले—सामर्थ्यशाली देव! जिस स्थानपर कोई भी न मरा हो, वहाँ हम अपनी मृत्यु चाहते हैं। साथ ही महाव्रत! हमारी वह मृत्यु आपके हाथों होनी चाहिये ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

बाढं युवां तु प्रवरौ भविष्यत्कालसम्भवे। भविष्यतो न संदेहः सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम् ॥ २९ ॥
वरं प्रदायाथ महासुराभ्यां सनातनो विश्ववरः सुरोत्तमः।
रजस्तमोवर्गभवायनौ यमौ ममन्थ तावूरुतलेन वै प्रभुः ॥ ३० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावे सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—ठीक है, भविष्य कालमें तुम दोनो असुरोंमे श्रेष्ठ होकर उत्पन्न होओगे, इसमे संदेह नहीं है। यह मैं तुम दोनोसे सत्य कह रहा हूँ। इस प्रकार विश्वमें श्रेष्ठ सनातन सुरवर भगवान्‌ने उन दोनों महान् असुरोंको वर प्रदान करनेके पश्चात् रजोगुण और तमोगुणके उत्पत्तिस्थानस्वरूप उन दोनों असुरोको अपनी जाँघपर सुलाकर उनका कचूमर निकाल लिया ॥ २९–३० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७० ॥

एक सौ एकहत्तरवाँ अध्याय

ब्रह्माके मानस पुत्रोंकी उत्पत्ति, दक्षकी बारह कन्याओंका वृत्तान्त, ब्रह्माद्वारा सृष्टिका विकास तथा विविध देवयोनियोंकी उत्पत्ति

मत्स्य उवाच

स्थित्वा च तस्मिन् कमले ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः। ऊर्ध्वबाहुर्महातेजास्तपो घोरं समाश्रितः॥ १ ॥
प्रज्वलन्निव तेजोभिर्भाभिः स्वाभिस्तमोनुदः। बभासे सर्वधर्मस्थः सहस्रांशुरिवांशुभिः॥ २ ॥
अथान्यद् रूपमास्थाय शम्भुर्नारायणोऽव्ययः। आजगाम महातेजा योगाचार्यो महायशाः॥ ३ ॥
सांख्याचार्यो हि मतिमान् कपिलो ब्राह्मणो वरः। उभावपि महात्मानौ स्तुवन्तौ क्षेत्रतत्परौ॥ ४ ॥
तौ प्रासावूचतुस्तत्र ब्रह्माणममितौजसम्। परावरविशेषज्ञौ पूजितौ च महर्षिभिः॥ ५ ॥
ब्रह्मात्मदृढबन्धश्च विशालो जगदास्थितः। ग्रामणीः सर्वभूतानां ब्रह्मा त्रैलोक्यपूजितः॥ ६ ॥
तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्माभ्याहृतयोगवित्। त्रीनिमान् कृतवाँल्लोकान् यथेयं ब्रह्मणः श्रुतिः॥ ७ ॥
पुत्रं च शम्भवे चैकं समुत्पादितवान् ऋषिः। तस्याग्रे वाग्यतस्तस्थौ ब्रह्माणमजमव्ययम्॥ ८ ॥
सोत्पन्नमात्रो ब्रह्माणमुक्तवान् मानसः सुतः। किं कुर्मस्तव साहाय्यं ब्रवीतु भगवान् ऋषिः॥ ९ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महान् तेजस्वी ब्रह्मा उस कमलपर स्थित होकर हाथोंको ऊपर उठाये हुए घोर तपस्यामें संलग्न हो गये। उस समय सम्पूर्ण धर्मोंके निवासस्थान ब्रह्मा अपने तेज और अपनी कान्तिसे प्रज्वलित होते हुए-से अन्धकारका विनाश कर रहे थे और अपनी किरणोंसे प्रकाशित सूर्यकी तरह उद्भासित हो रहे थे। तदनन्तर जो जगत्का कल्याण करनेवाले अविनाशी महान् यशस्वी एवं योगके आचार्य हैं, वे महान् तेजस्वी नारायण दूसरा रूप धारण कर वहाँ आये। साथ ही ब्राह्मणोंमे श्रेष्ठ सांख्याचार्य बुद्धिमान् कपिलजी भी उपस्थित हुए। वे दोनों महात्मा परावरके विशेषज्ञ, महर्षियोंद्वारा पूजित और अपने-अपने मार्गमें तत्पर रहनेवाले थे। वे वहाँ पहुँचकर अमिततेजस्वी ब्रह्माकी प्रशंसा करते हुए बोले—'सर्वश्रेष्ठ, जगत्के रचयिता, त्रिलोकीद्वारा पूजित, सभी प्राणियोके नायक ब्रह्मा अपने सुदृढ़ आसनपर विराजमान हैं।' उन दोनोंकी वह बात सुनकर पूर्वकथित योगके ज्ञाता ब्रह्माने इन तीन लोकोंकी रचना की, ब्रह्माके विषयमें यह श्रुति प्रसिद्ध है। उस समय ऋषिश्रेष्ठ ब्रह्माने जगत्के कल्याणके लिये एक पुत्र उत्पन्न किया। ब्रह्माका वह मानस पुत्र उत्पन्न होते ही उनके समक्ष चुपचाप खड़ा हो गया और फिर उन अजन्मा अविनाशी ब्रह्मासे इस प्रकार बोला—'आप ऐश्वर्यशाली ऋषि बतलावें कि मै आपकी कौन-सी सहायता करूँ?'॥ १—९॥

ब्रह्मोवाच

य एष कपिलो ब्रह्म नारायणमयस्तथा। वदते भवतस्तत्त्वं तत्कुरुष्व महामते॥ १० ॥
ब्रह्मणस्तु तदर्थं तु तदा भूयः समुत्थितः। शुश्रूपुरस्मि युवयोः किं करोमि कृताञ्जलिः॥ ११ ॥

ब्रह्माने कहा—महामते! ये जो महर्षि कपिल और नारायणस्वरूप ब्रह्म सामने उपस्थित हैं, ये दोनों तुमसे जिस तत्त्वका वर्णन करें, तुम वैसा ही करो। ब्रह्माके उस अभिप्रायको जानकर वह पुनः उठ खड़ा हुआ और उनके समक्ष जाकर हाथ जोड़कर बोला—'मैं आपलोगोंका आदेश सुनना चाहता हूँ, कहिये क्या करूँ?'॥

श्रीभगवानुवाच

यत्सत्यमक्षरं ब्रह्म ह्यष्टादशविधं तु तत्। यत्सत्यं यदृतं तत्तु परं पदमनुस्मर॥ १२ ॥
एतद्वचो निशम्यैव ययौ स दिशमुत्तराम्। गत्वा च तत्र ब्रह्मत्वमगमज्ज्ञानतेजसा॥ १३ ॥

ततो ब्रह्मा भुवं नाम द्वितीयमसृजत् प्रभुः। संकल्पयित्वा मनसा तमेव च महामनाः ॥ १४ ॥
ततः सोऽथाब्रवीद् वाक्यं किं करोमि पितामह। पितामहसमाज्ञातो ब्रह्माणं समुपस्थितः ॥ १५ ॥
ब्रह्माभ्यासं तु कृतवान् भुवश्च पृथिवीं गतः। प्राप्तं च परमं स्थानं स तयोः पार्श्वमागतः ॥ १६ ॥
तस्मिन्नपि गते पुत्रे तृतीयमसृजत् प्रभुः। सांख्यप्रवृत्तिकुशलं भूर्भुवं नामतो विभुम् ॥ १७ ॥
गोपतित्वं समासाद्य तयोरेवागमद् गतिम्। एवं पुत्रास्त्रयोऽप्येत उक्ताः शम्भोर्महात्मनः ॥ १८ ॥
तान् गृहीत्वा सुतांस्तस्य प्रयातः स्वार्जितां गतिम्। नारायणश्च भगवान् कपिलश्च यतीश्वरः ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! जो सत्य और अविनाशी ब्रह्म है, वह अठारह प्रकारका है। जो सत्य है, जो ऋत है, वही परम पद है। तुम उसका अनुस्मरण करो। ऐसी बात सुनते ही वह उत्तर दिशाकी ओर चला गया और वहाँ जाकर उसने अपने ज्ञानके तेजसे ब्रह्मत्वको प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् महामना एवं सामर्थ्यशाली ब्रह्माने मानसिक संकल्पद्वारा 'भुव' नामक दूसरे पुत्रकी सृष्टि की। तब उसने भी ब्रह्माके समक्ष खड़ा होकर इस प्रकार कहा—'पितामह! मै कौन-सा कार्य करूँ?' फिर ब्रह्माकी आज्ञासे वह ब्रह्मके निकट गया। तदुपरान्त 'भुव'ने भूतलपर आकर ब्रह्मका अभ्यास किया और ब्रह्म एवं महर्षि कपिलके पास आकर परम पदको प्राप्त कर लिया। उस पुत्रके भी चले जानेपर भगवान् ब्रह्माने 'भूर्भुव' नामक तीसरे पुत्रको प्रकट किया, जो सर्वव्यापी और सांख्यशास्त्रमें परम प्रवीण था। यह भी इन्द्रियजयी होकर उन दोनों भाइयोंकी गतिको प्राप्त हो गया। इस प्रकार कल्याणकारी महात्मा ब्रह्माके ये तीनों पुत्र कहे गये हैं। तदनन्तर भगवान् नारायण और यतीश्वर कपिल ब्रह्माके उन तीनों पुत्रोंको साथ लेकर अपने तपद्वारा उपार्जित गतिको प्राप्त हो गये ॥१२–१९॥

यं कालं तौ गतौ मुक्तौ ब्रह्मा तं कालमेव हि। ततो घोरतमं भूयः संश्रितः परमं व्रतम् ॥ २० ॥
न रेमेऽथ ततो ब्रह्मा प्रभुरेकस्तपश्चरन्। शरीरात्तां ततो भार्यां समुत्पादितवाञ्छुभाम् ॥ २१ ॥
तपसा तेजसा चैव वर्चसा नियमेन च। सदृशीमात्मनो देवीं समर्थां लोकसर्जने ॥ २२ ॥
तया समाहितस्तत्र रेमे ब्रह्मा तपश्चरन्। ततो जगाद त्रिपदां गायत्रीं वेदपूजिताम् ॥ २३ ॥
सृजन् प्रजानां पतयः सागरांश्चासृजद् विभुः। अपरांश्चैव चतुरो वेदान् गायत्रिसम्भवान् ॥ २४ ॥
आत्मनः सदृशान् पुत्रानसृजद् वै पितामहः। विश्वे प्रजानां पतयो येभ्यो लोका विनिःसृताः ॥ २५ ॥
विश्वेशं प्रथमं तावन्महातापसमात्मजम्। सर्वमन्त्रहितं पुण्यं नाम्ना धर्मं स सृष्टवान् ॥ २६ ॥
दक्षं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। वसिष्ठं गौतमं चैव भृगुमङ्गिरसं मनुम् ॥ २७ ॥
अथैवाद्भुतमित्येते ज्ञेयाः पैतामहर्षयः। त्रयोदशगुणं धर्ममालभन्त महर्षयः ॥ २८ ॥

इधर जिस समय वे दोनों मुक्त पुरुष चले गये, उसी समयसे ब्रह्मा पुनः अत्यन्त कठोर परम व्रतके पालनमें संलग्न हो गये। जब सामर्थ्यशाली ब्रह्माको अकेले तपस्या करते हुए आनन्दका अनुभव नहीं हुआ, तब उन्होंने अपने शरीरसे एक ऐसी सुन्दरी भार्याको उत्पन्न किया, जो तपस्या, तेज, ओजस्विता और नियम-पालनमें उन्हींके समान थी। वह देवी लोककी सृष्टि करनेमें भी समर्थ थी। उससे युक्त होकर वहाँ तपस्या करते हुए ब्रह्माको संतोषका अनुभव हुआ, तब उन्होंने वेदपूजित त्रिपदा गायत्रीका उच्चारण किया। तत्पश्चात् सर्वव्यापी ब्रह्माने प्रजापतियोंकी सृष्टि करते हुए सागरोंकी तथा गायत्रीसे उत्पन्न होनेवाले अन्य चारों वेदोंकी रचना की। फिर ब्रह्माने अपने ही सदृश पुत्रोंको उत्पन्न किया, जो विश्वमें प्रजापतिके नामसे विख्यात हुए और जिनसे सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुईं। सर्वप्रथम उन्होंने अपने धर्म नामक पुत्रको प्रकट किया, जो विश्वके ईश्वर,

महान् तपस्वी, सम्पूर्ण मन्त्रोंद्वारा अभिरक्षित और परम पावन थे। तदुपरान्त उन्होंने दक्ष, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, गौतम, भृगु, अङ्गिरा और मनुको उत्पन्न किया।* ब्रह्माके पुत्रभूत इन महर्षियोंको अत्यन्त अद्भुत जानना चाहिये। इन्हीं महर्षियोंने तेरह प्रकारके गुणोंसे युक्त धर्मका प्रतिपादन एवं अनुसरण किया॥

अदितिर्दितिर्दनुः काला अनायुः सिंहिका मुनिः। ताम्रा क्रोधाथ सुरसा विनता कद्रुरेव च॥ २९॥
दक्षस्यापत्यमेता वै कन्या द्वादश पार्थिव। मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तपसा निर्मितः किल॥ ३०॥
तस्मै कन्या द्वादशान्या दक्षस्ताः प्रददौ तदा। नक्षत्राणि च सोमाय तदा वै दत्तवान् ऋषिः॥ ३१॥
रोहिण्यादीनि सर्वाणि पुण्यानि रविनन्दन। लक्ष्मीर्मरुत्वती साध्या विश्वेशा च मता शुभा॥ ३२॥
देवी सरस्वती चैव ब्रह्मणा निर्मिताः पुरा। एताः पञ्च वरिष्ठा वै सुरश्रेष्ठाय पार्थिव॥ ३३॥
दत्ता भद्राय धर्माय ब्रह्मणा दृष्टकर्मणा। या तु रूपवती पत्नी ब्रह्मणः कामरूपिणी॥ ३४॥
सुरभिः सा हिता भूत्वा ब्रह्माणं समुपस्थिता। ततस्तामगमद् ब्रह्मा मैथुनं लोकपूजितः॥ ३५॥
लोकसर्जनहेतुज्ञो गवामर्थाय सत्तमः। जज्ञिरे च सुतास्तस्यां विपुला धूमसन्निभाः॥ ३६॥
नक्तसंध्याभ्रसङ्काशा प्रादहंस्तिग्मतेजसः। ते रुदन्तो द्रवन्तश्च गर्हयन्तः पितामहम्॥ ३७॥
रोदनाद् द्रवणाच्चैव रुद्रा इति ततः स्मृताः। निर्ऋतिश्चैव शम्भुर्वै तृतीयश्चापराजितः॥ ३८॥
मृगव्याधः कपर्दी च दहनोऽथेश्वरश्च वै। अहिर्बुध्न्यश्च भगवान् कपाली चापि पिङ्गलः॥ ३९॥
सेनानीश्च महातेजा रुद्रास्त्वेकादश स्मृताः।

राजन्! अदिति, दिति, दनु, काला, अनायु, सिंहिका, मुनि, ताम्रा, क्रोधा, सुरसा, विनता और कद्रू—ये बारह कन्याएँ दक्ष प्रजापतिकी संतान हैं। कश्यप महर्षि मरीचिके पुत्र थे, जो पिताकी तपस्याके प्रभावसे उत्पन्न हुए थे। उस समय दक्षने कश्यपको अपनी उन बारह कन्याओंको पत्नीरूपमें प्रदान किया था। रविनन्दन! उसी समय ऋषिवर ब्रह्माने नक्षत्रसंज्ञक रोहिणी आदि सभी पुण्यमयी कन्याओंको चन्द्रमाके हाथोंमें सौंप दिया। लक्ष्मी, मरुत्वती, साध्या, शुभा विश्वेशा और सरस्वतीदेवी—ये पूर्वकालमें ब्रह्माद्वारा निर्मित हुई थीं। राजन्! कर्मपर दृष्टि रखनेवाले ब्रह्माने इन पाँचों सर्वश्रेष्ठ कन्याओंको मङ्गलकारक सुरश्रेष्ठ धर्मको समर्पित कर दिया। इसी बीच ब्रह्माकी स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाली एवं हितकारिणी सुन्दरी पत्नी सुरभिका रूप धारण कर ब्रह्माके निकट उपस्थित हुई। तब लोक-सृष्टिके कारणोंके ज्ञाता लोकपूजित देवश्रेष्ठ ब्रह्माने गौओंकी उत्पत्तिके निमित्त उसके साथ मानसिक समागम किया। उससे धूमकी-सी कान्तिवाले विशालकाय पुत्र उत्पन्न हुए। उनका वर्ण रात्रि और संध्याके संयोग-कालमें छाये हुए बादलोंके समान था। वे अपने प्रचण्ड तेजसे सबको जला रहे थे और ब्रह्माकी निन्दा करते हुए रोते-से वे इधर-उधर दौड़ रहे थे। इस प्रकार रोने और दौड़नेके कारण वे 'रुद्र' कहे जाते हैं। निर्ऋति, शम्भु, तीसरे अपराजित, मृगव्याध, कपर्दी, दहन, ईश्वर, अहिर्बुध्न्य, भगवान् कपाली, पिंगल और महातेजस्वी सेनानी—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं॥२९–३९½॥

तस्यामेव सुरभ्यां च गावो यज्ञेश्वराश्च वै॥ ४०॥
प्रकृष्टाश्च तथा मायाः सुरभ्याः पशवोऽक्षराः। अजाश्चैव तु हंसाश्च तथैवामृतमुत्तमम्॥ ४१॥
ओषध्यः प्रवरायाश्च सुरभ्यास्ताः समुत्थिताः। धर्माल्लक्ष्मीस्तथा कामं साध्या साध्यान् व्यजायत॥ ४२॥
भवं च प्रभवं चैव हीशं चासुरहं तथा। अरुणं चारुणिं चैव विश्वावसुबलध्रुवान्॥ ४३॥
हविष्यं च वितानं च विधानशमितावपि। वत्सरं चैव भूतिं च सर्वासुरनिषूदनम्॥ ४४॥
सुपर्वाणं बृहत्कान्तिः साध्या लोकनमस्कृता। तमेवानुगता देवी जनयामास वै सुरान्॥ ४५॥

* यह विषय प्रजापतिसर्गनिरूपण नामक पहलेके अध्यायोंमें भी वर्णित हुआ है।

वरं वै प्रथमं देवं द्वितीयं ध्रुवमव्ययम्। विश्वावसुं तृतीयं च चतुर्थं सोममीश्वरम् ॥ ४६ ॥
ततोऽनुरूपमायं च यमस्तस्मादनन्तरम्। सप्तमं च तथा वायुमष्टमं निर्ऋतिं वसुम् ॥ ४७ ॥
धर्मस्यापत्यमेतद् वै सुदेव्यां समजायत। विश्वे देवाश्च विश्वायां धर्माज्जाता इति श्रुतिः ॥ ४८ ॥
दक्षश्चैव महाबाहुः पुष्करस्वन एव च। चाक्षुषस्तु मनुश्चैव तथा मधुमहोरगौ ॥ ४९ ॥
विश्रान्तकवपुर्वालो विष्कम्भश्च महायशाः। गरुडश्चातिसत्त्वौजा भास्करप्रतिमश्रुतिः ॥ ५० ॥
विश्वान् देवान् देवमाता विश्वेशाजनयत् सुतान्।

तदनन्तर उसी श्रेष्ठ सुरभिसे यज्ञकी साधनभूता गौएँ, प्रकृष्ट माया, अविनाशी पशुगण, बकरियाँ, हंस, उत्तम अमृत और ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। धर्मके संयोगसे लक्ष्मीने कामको और साध्याने साध्यगणोंको जन्म दिया। भव, प्रभव, ईश, असुरहन्ता, अरुण, आरुणि, विश्वावसु, बल, ध्रुव, हविष्य, वितान, विधान, शमित, वत्सर, सम्पूर्ण असुरोंके विनाशक भूति और सुपर्वा—इन देवताओंको लोकनमस्कृता परम सुन्दरी साध्यादेवीने धर्मके संयोगसे जन्म दिया। इसी प्रकार प्रथम वर, दूसरे अविनाशी ध्रुव, तीसरे विश्वावसु, चौथे ऐश्वर्यशाली सोम, पाँचवें अनुरूपमाय, तदनन्तर छठे यम, सातवें वायु और आठवें वसु निर्ऋति—ये सभी धर्मके पुत्र सुदेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। धर्मके संयोगसे विश्वाके गर्भसे विश्वेदेवोंकी उत्पत्ति हुई है—ऐसा सुना जाता है। महाबाहु दक्ष, पुष्करस्वन, चाक्षुष मनु, मधु, महोरग, विश्रान्तकवपु, बाल, महायशस्वी विष्कम्भ और सूर्यकी-सी कान्तिवाले अत्यन्त पराक्रमी एवं तेजस्वी गरुड—इन विश्वेदेवोंको देवमाता विश्वेशाने पुत्ररूपमें जन्म दिया॥४०–५०½॥

मरुत्वती मरुत्वतो देवानजनयत् सुतान् ॥ ५१ ॥
अग्निं चक्षुं रविर्ज्योतिः सावित्रं मित्रमेव च। अमरं शरवृष्टिं च सुकर्षं च महाभुजम् ॥ ५२ ॥
विराजं चैव वाचं च विश्वावसुमतिं तथा। अश्वमित्रं चित्ररश्मिं तथा निषधनं नृप ॥ ५३ ॥
ह्यन्तं वाडवं चैव चारित्रं मन्दपन्नगम्। बृहन्तं वै बृहद्रूपं तथा वै पूतनानुगम् ॥ ५४ ॥
मरुत्वती पुरा जज्ञे एतान् वै मरुतां गणान्। अदितिः कश्यपाज्जज्ञ आदित्यान् द्वादशैव हि ॥ ५५ ॥
इन्द्रो विष्णुर्भगस्त्वष्टा वरुणो ह्यर्यमा रविः। पूषा मित्रश्च धनदो धाता पर्जन्य एव च ॥ ५६ ॥
इत्येते द्वादशादित्या वरिष्ठास्त्रिदिवौकसः। आदित्यस्य सरस्वत्यां जज्ञाते द्वौ सुतौ वरौ ॥ ५७ ॥
तपःश्रेष्ठौ गुणिश्रेष्ठौ त्रिदिवस्यापि सम्मतौ। दनुस्तु दानवाञ्जज्ञे दितिर्दैत्यान् व्यजायत ॥ ५८ ॥
काला तु वै कालकेयानसुरान् राक्षसांस्तु वै। अनायुषायास्तनया व्याधयः सुमहाबलाः ॥ ५९ ॥
सिंहिका ग्रहमाता वै गन्धर्वजननी मुनिः। ताम्रा त्वप्सरसां माता पुण्यानां भारतोद्भव ॥ ६० ॥
क्रोधायाः सर्वभूतानि पिशाचाश्चैव पार्थिव। जज्ञे यक्षगणांश्चैव राक्षसांश्च विशाम्पते ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार मरुत्वतीने मरुत् देवताओंको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया। अग्नि, चक्षु, रवि, ज्योति, सावित्र, मित्र, अमर, शरवृष्टि, महाभुज सुकर्ष, विराज, वाच, विश्वावसु, मति, अश्वमित्र, चित्ररश्मि, निषधन, ह्यन्त, वाडव, चारित्र, मन्दपन्नग, बृहन्त, बृहद्रूप तथा पूतनानुग—इन मरुद्गणोंको पूर्वकालमें मरुत्वतीने जन्म दिया था। अदितिने कश्यपके संयोगसे बारह आदित्योंको उत्पन्न किया। उनके नाम हैं—इन्द्र, विष्णु, भग, त्वष्टा, वरुण, अर्यमा, रवि, पूषा, मित्र, धनद, धाता और पर्जन्य। ये बारह आदित्य देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। आदित्यके सरस्वतीके गर्भसे दो श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए, जो तपस्वियोमें श्रेष्ठ, गुणवानोंमें प्रधान और देवताओंके लिये भी पूजनीय कहे जाते हैं। दनुने दानवोंको और दितिने दैत्योंको उत्पन्न किया। कालाने कालकेय नामक असुरों और राक्षसोंको जन्म दिया। अत्यन्त बलवती व्याधियाँ अनायुषाकी संतान हैं। सिंहिका राहुग्रहकी माता है

और मुनि गन्धर्वोंकी जननी कही जाती है। भरतकुलोत्पन्न राजन्! ताम्रा पवित्रात्मा अप्सराओंकी माता है। क्रोधासे सभी भूत और पिशाच पैदा हुए। विशाम्पते! क्रोधाने यक्षगणों और राक्षसोंको भी जन्म दिया था ॥५१-६१॥

चतुष्पदानि सत्त्वानि तथा गावस्तु सौरभाः। सुपर्णान् पक्षिणश्चैव विनता चाप्यजायत ॥ ६२ ॥
महीधरान् सर्वनागान् देवी कद्रूर्व्यजायत। एवं वृद्धिं समगमन् विश्वे लोकाः परंतप ॥ ६३ ॥
तदा वै पौष्करो राजन् प्रादुर्भावो महात्मनः। प्रादुर्भावो पौष्करस्ते मया द्वैपायनेरितः ॥ ६४ ॥
पुराणः पुरुषश्चैव मया विष्णुर्हरिः प्रभुः। कथितस्तेऽऽनुपूर्व्येण संस्तुतः परमर्षिभिः ॥ ६५ ॥
यश्चेदमग्र्यं शृणुयात् पुराणं सदा नरः पर्वसु गौरवेण।
अवाप्य लोकान् स हि वीतरागः परत्र च स्वर्गफलानि भुङ्क्ते ॥ ६६ ॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्। प्रसादयति यः कृष्णं तं कृष्णोऽनुप्रसीदति ॥ ६७ ॥
राजा च लभते राज्यमधनश्चोत्तमं धनम्। क्षीणायुर्लभते चायुः पुत्रकामः सुतं तथा ॥ ६८ ॥
यज्ञा वेदास्तथा कामास्तपांसि विविधानि च। प्राप्नोति विविधं पुण्यं विष्णुभक्तो धनानि च ॥ ६९ ॥
यद्यत्कामयते किंचित् तत्तल्लोकेश्वराद् भवेत्। सर्वं विहाय य इमं पठेत् पौष्करकं हरेः ॥ ७० ॥
प्रादुर्भावं नृपश्रेष्ठ न तस्य ह्यशुभं भवेत्।
एष पौष्करको नाम प्रादुर्भावो महात्मनः। कीर्तितस्ते महाभाग व्यासश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावो नामैकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

राजन्! सभी चौपाये जीव तथा गौएँ सुरभीकी संतान हैं। विनताने सुन्दर पंखधारी पक्षियोंको पैदा किया। कद्रूदेवीने पृथ्वीको धारण करनेवाले सभी प्रकारके नागोंको उत्पन्न किया। परंतप! इसी प्रकार विश्वमें लोकसृष्टि वृद्धिको प्राप्त हुई है। राजन्! यही महात्मा विष्णुका पुष्करसम्बन्धी प्रादुर्भाव है। व्यासद्वारा कहे गये इस पौष्कर प्रादुर्भावका तथा जो पुराणपुरुष, सर्वव्यापी और महर्षियोंद्वारा संस्तुत हैं, उन भगवान् श्रीहरिका वर्णन मैंने तुम्हे आनुपूर्वी सुना दिया। जो मनुष्य सदा पर्वोके समय गौरवपूर्वक इस श्रेष्ठ पुराणको श्रवण करता है, वह वीतराग होकर लौकिक सुखोंका उपभोग करके परलोकमें स्वर्गफलोंका भोग करता है। जो मनुष्य श्रीकृष्णको नेत्र, मन, वचन और कर्म—इन चारों प्रकारोंसे प्रसन्न करता है तो श्रीकृष्ण भी उसे उसी प्रकार आनन्दित करते हैं। राजाको राज्यकी, निर्धनको उत्तम धनकी, क्षीणायुको दीर्घायुकी तथा पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है। विष्णुभक्त मनुष्य यज्ञ, वेद, कामनापूर्ति, अनेकविध तप, विविध पुण्य और धनको प्राप्त करता है। नृपश्रेष्ठ! जो मनुष्य सबका परित्याग करके श्रीहरिके इस पौष्कर-प्रादुर्भावका पाठ करता है, वह जो-जो कामनाएँ करता है, वह सब कुछ उसे लोकेश्वर भगवान्‌से प्राप्त हो जाता है और उसका कभी अमङ्गल नहीं होता। महाभाग! इस प्रकार मैंने तुमसे महात्मा विष्णुके पुष्कर या कमलके प्रादुर्भावका वर्णन कर चुका। यह व्यासके वचनो तथा श्रुतियोंका निदर्शन है ॥ ६२-७१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके पद्मोद्भवप्रादुर्भाव-प्रसङ्गमें एक सौ एकहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७१ ॥

एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय

तारकामय-संग्रामकी भूमिका एवं भगवान् विष्णुका महासमुद्रके रूपमें वर्णन, तारकादि असुरोंके अत्याचारसे दुःखी होकर देवताओंकी भगवान् विष्णुसे प्रार्थना और भगवान्का उन्हें आश्वासन

मत्स्य उवाच

विष्णुत्वं शृणु विष्णोश्च हरित्वं च कृते युगे। वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च ॥ १ ॥
ईश्वरस्य हि तस्यैषा कर्मणां गहना गतिः। सम्प्रत्यतीतान् भव्यांश्च शृणु राजन् यथातथम्॥ २ ॥
अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः। नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च ॥ ३ ॥
एष नारायणो भूत्वा हरिरासीत् सनातनः। ब्रह्मा वायुश्च सोमश्च धर्मः शक्रो बृहस्पतिः ॥ ४ ॥
अदितेरपि पुत्रत्वं समेत्य रविनन्दन। एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजो विभुः ॥ ५ ॥
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्याः पुत्रकारणम्। वधार्थं सुरशत्रूणां दैत्यदानवरक्षसाम् ॥ ६ ॥
प्रधानात्मा पुरा ह्येष ब्रह्माणमसृजत् प्रभुः। सोऽसृजत् पूर्वपुरुषः पुराकल्पे प्रजापतीन् ॥ ७ ॥
असृजन्मानवांस्तत्र ब्रह्मवंशाननुत्तमान्। तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम्॥ ८ ॥
एतदाश्चर्यभूतस्य विष्णोः कर्मानुकीर्तनम्। कीर्तनीयस्य लोकेषु कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ९ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! अब मैं कृतयुगमें घटित हुए भगवान् विष्णुके विष्णुत्व एवं हरित्व, देवताओंमें वैकुण्ठत्व और मनुष्योंमें कृष्णत्वका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो। उस ईश्वरके कर्मोंकी यह गति बड़ी गहन है। इस समय तुम विष्णुके भूत एवं भावी अवतारोंके विषयमें यथार्थरूपसे श्रवण करो। जो ये ऐश्वर्यशाली अव्यक्तस्वरूप भगवान् हैं, वे ही व्यक्तरूपमे भी प्रकट होते हैं। वे ही नारायण अनन्तात्मा, सबके उत्पत्तिस्थान और अविनाशी भी कहे जाते हैं। ये सनातन नारायण श्रीहरि ब्रह्मा, वायु, सोम, धर्म, इन्द्र और बृहस्पतिके रूपमें भी प्रकट होते हैं। रविनन्दन! ये सर्वव्यापी विष्णु अदितिके पुत्ररूपमें उत्पन्न होकर इन्द्रके अनुज 'उपेन्द्र' के नामसे विख्यात होते हैं। इन सर्वव्यापीका अदितिके पुत्ररूपमें उत्पन्न होनेके दो कारण हैं—एक तो अदितिपर कृपा करना और दूसरा देवशत्रु दैत्यों, दानवों और राक्षसोंका वध करना। इन प्रधानात्मा प्रभुने सर्वप्रथम ब्रह्माको उत्पन्न किया। उन पूर्वपुरुषने पूर्व कल्पमें प्रजापतियोंकी सृष्टि की। तत्पश्चात् ब्रह्माके वंशमें उत्पन्न होनेवाले सर्वश्रेष्ठ मानवोंको उत्पन्न किया। उन महात्माओंके सम्पर्कसे एक ही शाश्वत ब्रह्म अनेक रूपोंमें विभक्त हो गया। लोकोंमें वर्णन करनेयोग्य भगवान् विष्णुके कर्मोंका यह अनुकीर्तन परम आश्चर्यजनक है। मै उसका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो॥ १—९ ॥

वृत्ते वृत्रवधे तत्र वर्तमाने कृते युगे। आसीत् त्रैलोक्यविख्यातः संग्रामस्तारकामयः॥ १० ॥
यत्र ते दानवा घोराः सर्वे संग्रामदुर्जयाः। घ्नन्ति देवगणान् सर्वान् सयक्षोरगराक्षसान्॥ ११ ॥
ते वध्यमाना विमुखाः क्षीणप्रहरणा रणे। त्रातारं मनसा जग्मुर्देवं नारायणं प्रभुम् ॥ १२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे मेघा निर्वाणाङ्गारवर्चसः। सार्कचन्द्रग्रहगणं छादयन्तो नभस्तलम् ॥ १३ ॥
चण्डविद्युद्गणोपेता घोरनिर्ह्रादकारिणः। अन्योऽन्यवेगाभिहताः प्रववुः सप्त मारुताः ॥ १४ ॥
दीप्ततोयाशनिघनैर्वज्रवेगानलानिलैः। रवैः सुघोरैरुत्पातैर्दह्यमानमिवाम्बरम् ॥ १५ ॥
तत उल्कासहस्राणि निपेतुः खगतान्यपि। दिव्यानि च विमानानि प्रपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ १६ ॥
चतुर्युगान्ते पर्याये लोकानां यद्भयं भवेत्। अरूपवन्ति रूपाणि तस्मिन्नुत्पातलक्षणे ॥ १७ ॥
जातं च निष्प्रभं सर्वं न प्राज्ञायत किंचन। तिमिरौघपरिक्षिप्ता न रेजुश्च दिशो दश ॥ १८ ॥
विवेश रूपिणी काली कालमेघावगुण्ठिता। द्यौर्नभात्यभिभूतार्का घोरेण तमसावृता ॥ १९ ॥

राजन्! कृतयुगकी स्थितिके समय वृत्रासुरका वध हो जानेके पश्चात् त्रिलोकीमें विख्यात तारकामय संग्राम हुआ था। जिसमें संग्राममें कठिनतासे जीते जानेवाले सभी भयंकर दानव यक्ष, नाग और राक्षसोंसहित सभी देवगणोंका संहार कर रहे थे। इस प्रकार मारे जाते हुए वे देवगण शस्त्ररहित हो युद्धसे विमुख हो गये और मनसे अपने रक्षक सामर्थ्यशाली भगवान् नारायणकी शरणमें गये। इसी बीच बुझते हुए अंगारकी-सी कान्तिवाले मेघोंने सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहगणोंसमेत आकाशमण्डलको आच्छादित कर लिया। वे प्रचण्ड बिजलियोंसे युक्त थे तथा भयंकर गर्जना कर रहे थे। पुनः एक-दूसरेके वेगसे आहत हो सातों प्रकारकी वायु बहने लगी। उस समय कौंधती हुई बिजली और जलसे युक्त बादलों, वज्रके समान वेगशाली अग्नि और वायुके झकोरों तथा अत्यन्त भयंकर शब्दोंसे युक्त उत्पातोंद्वारा आकाश जलता हुआ-सा दीख रहा था। आकाशमें उड़ती हुई हजारों उल्काएँ भूतलपर गिरने लगीं। दिव्य विमान लड़खड़ाते हुए गिरने लगे। चारों युगोंकी समाप्तिके समय लोकोंके लिये जैसा भयकारी विनाश उपस्थित होता है, वैसा ही उत्पात उस समय भी घटित हुआ। सभी रूपवती वस्तुएँ विकृत हो गयीं। सारा जगत् प्रकाशहीन हो गया, जिससे कुछ भी जाना नहीं जा सकता था। घने अन्धकारसे ढकी हुई दसों दिशाएँ शोभाहीन हो गयीं। उस समय काले मेघोंके अवगुण्ठनसे युक्त काला रूप धारण करनेवाली देवी आकाशमें प्रविष्ट हुई। घोर अन्धकारसे आवृत होनेके कारण सूर्यके छिप जानेसे आकाशमण्डलकी शोभा जाती रही॥ १०—१९॥

तान् घनौघान् सतिमिरान् दोर्भ्यामाक्षिप्य स प्रभुः। वपुः सन्दर्शयामास दिव्यं कृष्णवपुर्हरिः॥ २०॥
बलाहकाञ्जननिभं बलाहकतनूरुहम्। तेजसा वपुषा चैव कृष्णं कृष्णमिवाचलम्॥ २१॥
दीप्तपीताम्बरधरं तप्तकाञ्चनभूषणम्। धूमान्धकारवपुषं युगान्ताग्निमिवोत्थितम्॥ २२॥
चतुर्द्विगुणपीनांसं किरीटच्छन्नमूर्धजम्। बभौ चामीकरप्रख्यैरायुधैरुपशोभितम्॥ २३॥
चन्द्रार्ककिरणोद्द्योतं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम्। नन्दकानन्दितकरं शराशीविषधारिणम्॥ २४॥
शक्तिचित्रफलोदग्रशङ्खचक्रगदाधरम्। विष्णुशैलं क्षमामूलं श्रीवृक्षं शार्ङ्गधन्विनम्॥ २५॥
त्रिदशोदारफलदं स्वर्गस्त्रीचारुपल्लवम्। सर्वलोकमनःकान्तं सर्वसत्त्वमनोहरम्॥ २६॥
नानाविमानविटपं तोयदाम्बुमधुस्रवम्। विद्याहंकारसाराढ्यं महाभूतप्ररोहणम्॥ २७॥
विशेषपत्रैर्निचितं ग्रहनक्षत्रपुष्पितम्। दैत्यलोकमहास्कन्धं मर्त्यलोके प्रकाशितम्॥ २८॥

उसी समय सामर्थ्यशाली भगवान्‌ने अपने दोनों हाथोंसे अन्धकारसहित घन-समूहोंको दूर हटाकर कृष्ण-वर्णका दिव्य शरीर प्रकट किया। उसकी कान्ति काले मेघ और कज्जलके समान थी, उसके रोएँ भी काले मेघ-जैसे थे, वह तेज और शरीर—दोनोंसे कज्जल-गिरिकी भाँति कृष्ण था, उसपर उद्दीप्त पीताम्बर शोभा पा रहा था, वह तपाये हुए स्वर्णमय आभूषणोंसे विभूषित, धुएँके अन्धकारकी-सी कान्तिसे युक्त तथा प्रलयकालमें प्रकट हुई अग्निके समान उद्भासित हो रहा था, उसके कंधे दुगुने एवं चौगुने मोटे थे, उसके बाल किरीटसे ढके होनेके कारण शोभा पा रहे थे, वह स्वर्ण-सदृश चमकीले आयुधोंसे सुशोभित था, उससे चन्द्रमा और सूर्यकी किरणों-जैसी प्रभा निकल रही थी, वह पर्वत-शिखरकी तरह ऊँचा था, उसके हाथ नन्दक नामक खड्ग और विषैले सर्पों-जैसे बाणोंसे युक्त थे, वह चित्तल मछलीके समान विशाल शक्ति, शङ्ख, चक्र और गदा धारण किये हुए था, क्षमा जिसका मूल था, जो श्रीवृक्षसे सम्पन्न, शार्ङ्गधनुषसे युक्त, देवताओंको उत्तम फल देनेवाला, देवाङ्गनारूपी रुचिर पल्लवोंसे सुशोभित, सभी लोगोंके मनको प्रिय लगनेवाला,

सम्पूर्ण जीवोंसे युक्त होनेके कारण मनोहर, नाना प्रकारके विमानरूपी वृक्षोंसे युक्त और बादलोंके मीठे जलको टपकानेवाला, विद्या और अहंकारके सारसे सम्पन्न तथा महाभूतरूपी वृक्षोंको उगानेवाला था, वह घने पत्तोंसे आच्छादित था, उसपर ग्रह-नक्षत्ररूप पुष्प खिले हुए थे, दैत्योंके लोक उसकी विशाल शाखाके रूपमें थे, ऐसा वह विष्णुशैल मृत्युलोकमें प्रकाशित हो रहा था ॥ २०–२८ ॥

सागराकारनिर्ह्रादं रसातलमहाश्रयम् । मृगेन्द्रपाशैर्विततं पक्षजन्तुनिषेवितम् ॥ २९ ॥
शीलार्थचारुगन्धाढ्यं सर्वलोकमहाद्रुमम् । अव्यक्तानन्तसलिलं व्यक्ताहङ्कारफेनिलम् ॥ ३० ॥
महाभूततरङ्गौघं ग्रहनक्षत्रबुद्बुदम् । विमानगरुतव्याप्तं तोयदाडम्बराकुलम् ॥ ३१ ॥
जन्तुमत्स्यगणाकीर्णं शैलशङ्खकुलैर्युतम् । त्रैगुण्यविषयावर्तं सर्वलोकतिमिङ्गिलम् ॥ ३२ ॥
वीरवृक्षलतागुल्मं भुजगोत्कृष्टशैवलम् । द्वादशार्कमहाद्वीपं रुद्रैकादशपत्तनम् ॥ ३३ ॥
वस्वष्टपर्वतोपेतं त्रैलोक्याम्भोमहोदधिम् । संध्यासंख्योर्मिसलिलं सुपर्णानिलसेवितम् ॥ ३४ ॥
दैत्यरक्षोगणग्राहं यक्षोरगझषाकुलम् । पितामहमहावीर्यं सर्वस्त्रीरत्नशोभितम् ॥ ३५ ॥
श्रीकीर्तिकान्तिलक्ष्मीभिर्नदीभिरुपशोभितम् । कालयोगिमहापर्वप्रलयोत्पत्तिवेगिनम् ॥ ३६ ॥
तं तु योगमहापारं नारायणमहार्णवम् ।

रसातलतक व्याप्त रहनेवाला वह नारायणरूप महासागर सागरकी भाँति शब्द कर रहा था, वह मृगेन्द्ररूपी पाशोंसे व्याप्त, पंखधारी जन्तुओंसे सेवित, शील और अर्थकी सुन्दर गन्धसे युक्त तथा सम्पूर्ण लोकरूपी महान् वृक्षसे सम्पन्न था, नारायणका अव्यक्त स्वरूप उसका अगाध जल था, वह व्यक्त अहंकाररूप फेनसे युक्त था, उसमें महाभूतगण लहरोंके समूह थे, ग्रह और नक्षत्र बुद्बुदकी तरह शोभा पा रहे थे, वह विमानोंके चलनेसे होनेवाले शब्दोंसे व्याप्त था, वह बादलोंके आडम्बरसे सम्पन्न, जलजन्तुओं और मत्स्यसमूहोंसे परिपूर्ण और समुद्रस्थ पर्वतों एवं शङ्खसमूहसे युक्त था। उसमें त्रिगुणयुक्त विषयोंकी भँवरें उठ रही थीं और सारा लोक तिमिंगिल (बहुत बड़ी मछली) के समान था, वीरगण वृक्षों और लताओंके झुरमुट थे, बड़े-बड़े नाग सेवारके समान थे, बारहों आदित्य महाद्वीप और ग्यारहों रुद्र नगर थे, वह महासागर आठों वसुओंरूप पर्वतसे युक्त और त्रिलोकी-रूप जलसे भरा हुआ था, उसके जलमें असंख्य संध्यारूप लहरें उठ रही थीं, वह सुपर्णरूप वायुसे सेवित, दैत्य और राक्षसगणरूप ग्राह तथा यक्ष एवं नागरूप मीनसे व्याप्त था, पितामह ब्रह्मा ही उसमें महान् पराक्रमी व्यक्ति थे, वह सभी स्त्री-रत्नों तथा श्री, कीर्ति, कान्ति और लक्ष्मीरूपी नदियोंसे सुशोभित था, उसमें समयानुसार महान् पर्व और प्रलयकी उत्पत्ति होती रहती थी, ऐसा वह योगरूप महान् तटवाला नारायण-महासागर था ॥ २९–३६½ ॥

देवाधिदेवं वरदं भक्तानां भक्तवत्सलम् ॥ ३७ ॥
अनुग्रहकरं देवं प्रशान्तिकरणं शुभम् । हर्यश्वरथसंयुक्ते सुपर्णध्वजसेविते ॥ ३८ ॥
ग्रहचन्द्रार्करचिते मन्दराक्षवरावृते । अनन्तरश्मिभिर्युक्ते विस्तीर्णे मेरुगह्वरे ॥ ३९ ॥
तारकाचित्रकुसुमे ग्रहनक्षत्रबन्धुरे । भयेष्वभयदं व्योम्नि देवा दैत्यपराजिताः ॥ ४० ॥
ददृशुस्ते स्थितं देवं दिव्ये लोकमये रथे। ते कृताञ्जलयः सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ ४१ ॥
जयशब्दं पुरस्कृत्य शरण्यं शरणं गताः ।

उस समय दैत्योंसे पराजित हुए देवताओंने आकाशमें उन देवाधिदेव भगवान्‌को, जो भक्तोंके वरदायक, भक्तवत्सल, अनुग्रह करनेवाले, प्रशान्तिकारक, शुभमय और भयके अवसरोंपर अभय प्रदान करनेवाले हैं, देखा। वे ऐसे लोकमय दिव्य रथपर विराजमान थे, जो इन्द्रके रथके समान था, जिसपर गरुडध्वज फहरा रहा था, जिसमें सभी ग्रह, चन्द्र और सूर्य उपस्थित थे, जो मन्दराचलकी श्रेष्ठ धुरीपर आधारित था, वह असंख्य

किरणोंसे युक्त मेरुकी विस्तृत गुफा-जैसा लग रहा था, उसमें तारकाएँ विचित्र पुष्पोंके सदृश तथा ग्रह और नक्षत्र हंसके समान शोभा पा रहे थे। तब इन्द्र आदि वे सभी देवता हाथ जोड़कर जय-जयकार करते हुए उन शरणागतवत्सलकी शरणमें गये ॥ ३७-४१½ ॥

स तेषां तां गिरं श्रुत्वा विष्णुर्दैवतदैवतम् ॥ ४२ ॥

मनश्चक्रे विनाशाय दानवानां महामृधे। आकाशे तु स्थितो विष्णुरुत्तमं वपुरास्थितः ॥ ४३ ॥
उवाच देवताः सर्वाः सप्रतिज्ञमिदं वचः। शान्तिं व्रजत भद्रं वो मा भैष्ट मरुतां गणाः ॥ ४४ ॥
जिता मे दानवाः सर्वे त्रैलोक्यं परिगृह्यताम्। ते तस्य सत्यसंधस्य विष्णोर्वाक्येन तोषिताः ॥ ४५ ॥
देवाः प्रीतिं समाजग्मुः प्राश्यामृतमिवोत्तमम्। ततस्तमः संहृतं तद्विनेशुश्च बलाहकाः ॥ ४६ ॥
प्रववुश्च शिवा वाता प्रशान्ताश्च दिशो दश। शुद्धप्रभाणि ज्योतींषि सोमश्चक्रुः प्रदक्षिणाम् ॥ ४७ ॥
न विग्रहं ग्रहाश्चक्रुः प्रशान्ताश्चापि सिन्धवः। विरजस्काभवन् मार्गा नाकवर्गादयस्त्रयः ॥ ४८ ॥
यथार्थमूहुः सरितो नापि चुक्षुभिरेऽर्णवाः। आसञ्छुभानीन्द्रियाणि नराणामन्तरात्मसु ॥ ४९ ॥
महर्षयो वीतशोका वेदानुच्चैरधीयत। यज्ञेषु च हविः पाकं शिवमाप च पावकः ॥ ५० ॥
प्रवृत्तधर्माः संवृत्ता लोका मुदितमानसाः। विष्णोर्दत्तप्रतिज्ञस्य श्रुत्वारिनिधने गिरम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामयसंग्रामे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार देवताओंकी वह आर्त-वाणी सुनकर देवाधिदेव भगवान् विष्णुने महासमरमें दानवोंका विनाश करनेको सोचा। तब उत्तम शरीर धारण करके आकाशमें स्थित हुए भगवान् विष्णु सभी देवताओंसे प्रतिज्ञापूर्वक ऐसी वाणी बोले—'देवगण! तुम्हारा कल्याण हो। तुमलोग शान्त हो जाओ, भय मत करो, ऐसा समझो कि मैंने सभी दानवोंको जीत लिया है। अब तुमलोग पुनः त्रिलोकीका राज्य ग्रहण करो।' इस प्रकार उन सत्यसंध भगवान् विष्णुके वचनसे वे देवगण परम संतुष्ट हुए और उन्हें ऐसी प्रसन्नता प्राप्त हुई, मानो उत्तम अमृत ही पान करनेको मिल गया हो। तदनन्तर वह निविड़ अन्धकार नष्ट हो गया। बादल विनष्ट हो गये। सुखदायिनी वायु चलने लगी और दसों दिशाएँ शान्त हो गयीं। ज्योतिर्गणोंकी प्रभा निर्मल हो गयी। तब चन्द्रमा और वे सभी ज्योतिर्गण प्रदक्षिणा करने लगे। ग्रहोंमें परस्पर विग्रहका भाव नष्ट हो गया। सागर प्रशान्त हो गये। मार्ग धूलरहित हो गये। स्वर्गादि तीनों लोकोंमें शान्ति स्थापित हो गयी। नदियाँ यथार्थरूपसे प्रवाहित होने लगीं। समुद्रोंका ज्वार-भाटा शान्त हो गया। मनुष्योंकी अन्तरात्माएँ तथा इन्द्रियाँ शुभकारिणी हो गयीं। महर्षियोंका शोक नष्ट हो गया, वे उच्च स्वरसे वेदोंका अध्ययन करने लगे। यज्ञोंमें अग्निको पके हुए मङ्गलकारक हविकी प्राप्ति होने लगी। इस प्रकार शत्रुका विनाश करनेके विषयमें दत्तप्रतिज्ञ भगवान् विष्णुकी वाणी सुनकर सभी लोगोंका मन हर्षित हो गया, तब वे अपने-अपने धर्मोंमें संलग्न हो गये ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकामयसंग्राममें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७२ ॥

एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय

दैत्यों और दानवोंकी युद्धार्थ तैयारी

मत्स्य उवाच

ततोऽभयं विष्णुवचः श्रुत्वा दैत्याश्च दानवाः। उद्योगं विपुलं चक्रुर्युद्धाय विजयाय च ॥ १ ॥
मयस्तु काञ्चनमयं त्रिनल्वायतमक्षयम्। चतुश्चक्रं सुविपुलं सुकल्पितमहायुगम् ॥ २ ॥

किङ्किणीजालनिर्घोषं द्वीपिचर्मपरिष्कृतम्। रुचिरं रत्नजालैश्च हेमजालैश्च शोभितम्॥ ३॥
ईहामृगगणाकीर्णं पक्षिपङ्क्तिविराजितम्। दिव्यास्त्रतूणीरधरं पयोधरनिनादितम्॥ ४॥
स्वक्षं रथवरोदारं सूपस्थं गगनोपमम्। गदापरिघसम्पूर्णं मूर्तिमन्तमिवार्णवम्॥ ५॥
हेमकेयूरवलयं स्वर्णमण्डलकूबरम्। सपताकध्वजोपेतं सादित्यमिव मन्दरम्॥ ६॥
गजेन्द्राभोगवपुषं क्वचित् केसरिवर्चसम्। युक्तमृक्षसहस्रेण समृद्धाम्बुदनादितम्॥ ७॥
दीप्तमाकाशगं दिव्यं रथं पररथारुजम्। अध्यतिष्ठद्रणाकाङ्क्षी मेरुं दीप्त इवांशुमान्॥ ८॥

मत्स्यभगवान् बोले—रविनन्दन! तदनन्तर देवताओंके लिये उपयुक्त भगवान् विष्णुके उस अभयदायक वचनको सुनकर दैत्य और दानव युद्ध एवं उसमें विजयप्राप्तिके लिये महान् उद्योग करने लगे। उस समय युद्धाकाङ्क्षी मय एक ऐसे दिव्य रथपर सवार हुआ, जो सोनेका बना हुआ था। वह अविनाशी रथ तीन नल्व* विस्तारवाला अत्यन्त विशाल तथा चार पहियों और परम सुन्दर महान् जुएसे युक्त था। उसमें क्षुद्र घंटिकाओंके रुनझुन शब्द हो रहे थे। वह गैंड़के चमड़ेसे आच्छादित, रत्नों और सुवर्णकी सुन्दर जालियोंसे सुशोभित, भेड़ियों और पङ्क्तिबद्ध पक्षियोंकी पच्चीकारीसे समलंकृत तथा दिव्यास्त्र और तरकससे परिपूर्ण था। उससे मेघकी गड़गड़ाहटके समान शब्द निकल रहा था। वह श्रेष्ठ रथ सुन्दर धुरी और सुदृढ़ मध्यभागसे युक्त, आकाशमण्डल-जैसा विस्तृत तथा गदा और परिघसे परिपूर्ण होनेके कारण मूर्तिमान् सागर-सा लग रहा था। उसके केयूर, वलय और कूबर (युगंधर) सोनेके बने हुए थे तथा उसपर पताकाएँ और ध्वज फहरा रहे थे, जिससे वह सूर्ययुक्त मन्दराचलकी भाँति शोभित हो रहा था। उसका ऊपरी भाग कहीं गजेन्द्र-चर्म तो कहीं सिंह-चर्म-जैसा चमक रहा था। उसमें एक हजार रीछ जुते हुए थे, वह घने बादलकी तरह शब्द कर रहा था, शत्रुओंके रथको रौंदनेवाला वह दीप्तिशाली रथ आकाशगामी था, उसपर बैठा हुआ मय ऐसा लग रहा था मानो दीप्तिमान् सूर्य सुमेरु पर्वतपर विराजमान हों॥ १—८॥

तारमुत्क्रोशविस्तारं सर्वं हेममयं रथम्। शैलाकारमसम्बाधं नीलाञ्जनचयोपमम्॥ ९॥
कार्ष्णायसमयं दिव्यं लोहेषाबद्धकूबरम्। तिमिरोद्गारिकिरणं गर्जन्तमिव तोयदम्॥ १०॥
लोहजालेन महता सगवाक्षेण दंशितम्। आयसैः परिघैः पूर्णं क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः॥ ११॥
प्रासैः पाशैश्च विततैरसंयुक्तैश्च कण्टकैः। शोभितं त्रासयानैश्च तोमरैश्च परश्वधैः॥ १२॥
उद्यन्तं द्विषतां हेतोर्द्वितीयमिव मन्दरम्। युक्तं खरसहस्रेण सोऽध्यारोहद्रथोत्तमम्॥ १३॥
विरोचनस्तु संक्रुद्धो गदापाणिरवस्थितः। प्रमुखे तस्य सैन्यस्य दीप्तशृङ्ग इवाचलः॥ १४॥
युक्तं रथसहस्रेण हयग्रीवस्तु दानवः। स्यन्दनं वाहयामास सपत्नानीकमर्दनः॥ १५॥
व्यायतं किष्कुसाहस्रं धनुर्विस्फारयन् महत्। वाराहः प्रमुखे तस्थौ सप्ररोह इवाचलः॥ १६॥
खरस्तु विक्षरन् दर्पान्नेत्राभ्यां रोषजं जलम्। स्फुरद्दन्तोष्ठलयनं संग्रामं सोऽभ्यकाङ्क्षत॥ १७॥

इसी प्रकार जो अत्यन्त ऊँचा और दूरतक शब्द करनेवाला था, जिसके सभी अङ्ग स्वर्णमय थे, जो आकारमें पर्वतके समान और नीलाञ्जनकी राशि-सा दीख रहा था, काले लोहेका बना हुआ था, जिसके लोहेके हरसेमें कूबर बँधा हुआ था, जिसमें कहीं-कहीं अंधकारको फाड़कर किरणें चमक रही थीं, जो बादलकी तरह गर्जना कर रहा था, लोहेकी विशाल जाली और झरोखोंसे सुशोभित था, लोहनिर्मित परिघ, क्षेपणीय (ढेलवाँस) और मुद्गरोंसे परिपूर्ण था, भाला, पाश, बड़े-बड़े शङ्कु, कण्टक, भयदायक तोमर

* एक फर्लांगका एक प्राचीन माप।

और कुठारोंसे सुशोभित था, शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये उद्यत दूसरे मन्दराचलकी भाँति दीख रहा था तथा जिसमें एक हजार गधे जुते हुए थे, ऐसे उत्तम दिव्य रथपर तारकासुर सवार हुआ। क्रोधसे भरा हुआ विरोचन हाथमें गदा लिये हुए उस सेनाके मुहानेपर खड़ा हुआ। वह देदीप्यमान शिखरवाले पर्वतके समान लग रहा था। शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाले दानवश्रेष्ठ हयग्रीवने एक हजार रथके साथ अपने रथको आगे बढ़ाया। वाराह नामक दानव अपने एक हजार किष्कु* लम्बे विशाल धनुषका टंकार करते हुए सेनाके अग्रभागमें स्थित हुआ, जो वृक्षोंसहित पर्वत-सा दीख रहा था। खर नामक दैत्य अभिमानवश नेत्रोंसे रोषजनित जल गिराता हुआ संग्रामके लिये उद्यत हुआ, उस समय उसके दाँत, होंठ और नेत्र फड़क रहे थे ॥ ९–१७ ॥

त्वष्टा त्वष्टगजं घोरं यानमास्थाय दानवः। व्यूहितुं दानवव्यूहं परिचक्राम वीर्यवान् ॥ १८ ॥
विप्रचित्तिसुतः श्वेतः श्वेतकुण्डलभूषणः। श्वेतशैलप्रतीकाशो युद्धायाभिमुखे स्थितः ॥ १९ ॥
अरिष्टो बलिपुत्रश्च वरिष्ठोऽद्रिशिलायुधः। युद्धायाभिमुखस्तस्थौ धराधरविकम्पनः ॥ २० ॥
किशोरस्त्वभिसंहर्षात्किशोर इति चोदितः। सबला दानवाश्चैव सन्नह्यन्ते यथाक्रमम् ॥ २१ ॥
अभवद् दैत्यसैन्यस्य मध्ये रविरिवोदितः। लम्बस्तु नवमेघाभः प्रलम्बाम्बरभूषणः ॥ २२ ॥
दैत्यव्यूहगतो भाति सनीहार इवांशुमान्। स्वर्भानुरास्ययोधी तु दशनोष्ठेक्षणायुधः ॥ २३ ॥
हसंस्तिष्ठति दैत्यानां प्रमुखे स महाग्रहः। अन्ये हयगतास्तत्र गजस्कन्धगताः परे ॥ २४ ॥
सिंहव्याघ्रगताश्चान्ये वराहर्क्षेषु चापरे। केचित्खरोष्ट्रयातारः केचिच्छ्वापदवाहनाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार पराक्रमी दानवराज त्वष्टा, जिसमें आठ हाथी जुते हुए थे, ऐसे भयंकर रथपर बैठकर दानवसेनाको व्यूहबद्ध करनेका प्रयत्न करने लगा। विप्रचित्तिका पुत्र श्वेत, जो श्वेत पर्वतके समान विशालकाय और श्वेत कुण्डलोंसे विभूषित था, युद्धके लिये सेनाके अग्रभागमें स्थित हुआ। बलिका पुत्र अरिष्ट, जो महान् बलसम्पन्न और पर्वतको कँपा देनेवाला था तथा पर्वत-शिलाएँ जिसकी आयुधभूता थीं, युद्धकी कामनासे सेनाके सम्मुख खड़ा हुआ। किशोर नामक दैत्य प्रेरित किये गये सिंह-किशोरकी तरह अत्यन्त हर्षके साथ दैत्य-सेनाके मध्यभागमें उपस्थित हुआ, जो उदयकालीन सूर्य-सा प्रतीत हो रहा था। नवीन मेघकी-सी कान्तिवाला लम्ब नामक दानव, जो लम्बे वस्त्रों और आभूषणोंसे विभूषित था, दैत्यसेनामें पहुँचकर कुहासेसे घिरे हुए सूर्यकी तरह शोभा पा रहा था। महान् ग्रह राहु, जो मुख, दाँत, होंठ और नेत्रोंसे युद्ध करनेवाला था, हँसते हुए दैत्योंके आगे खड़ा हुआ। इस प्रकार अन्यान्य दानव भी क्रमशः सेनासहित कवच धारण करके युद्धके लिये प्रस्थित हुए। उनमें कुछ लोग घोड़ोंपर सवार थे तो कुछ लोग गजराजोंके कंधोंपर बैठे थे। दूसरे कुछ लोग सिंह, व्याघ्र, वराह और रीछोंपर सवार थे। कुछ गधे और ऊँटोंपर चढ़कर चल रहे थे तो किन्हींके वाहन चीते थे ॥ १८–२५ ॥

पत्तिनस्त्वपरे दैत्या भीषणा विकृताननाः। एकपादार्धपादाश्च ननृतुर्युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
आस्फोटयन्तो बहवः क्ष्वेडन्तश्च तथापरे। हृष्टशार्दूलनिर्घोषा नेदुर्दानवपुङ्गवाः ॥ २७ ॥
ते गदापरिघैरुग्रैः शिलामुसलपाणयः। बाहुभिः परिघाकारैस्तर्जयन्ति स्म देवताः ॥ २८ ॥
पाशैः प्रासैश्च परिघैस्तोमराङ्कुशपट्टिशैः। चिक्रीडुस्ते शतघ्नीभिः शतधारैश्च मुद्गरैः ॥ २९ ॥
गण्डशैलैश्च शैलैश्च परिघैश्चोत्तमायसैः। चक्रैश्च दैत्यप्रवराश्चक्रुरानन्दितं बलम् ॥ ३० ॥

* बीस अंगुल या मतान्तरसे एक हाथका प्राचीन माप।

एतद्दानवसैन्यं तत् सर्वं युद्धमदोत्कटम्। देवानभिमुखे तस्थौ मेघानीकमिवोद्धतम् ॥ ३१ ॥
तदद्भुतं दैत्यसहस्रगाढं वाय्वग्निशैलाम्बुदतोयकल्पम्।
बलं रणौघाभ्युदयेऽभ्युदीर्णं युयुत्सयोन्मत्तमिवावभासे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामयसंग्रामे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

दूसरे भीषण दैत्य, जिनमें कुछके मुख टेढ़े थे, किन्हींके एक पैर तथा किन्हींके आधा पैर ही था, युद्धकी अभिलाषासे पैदल ही नाचते हुए चल रहे थे। उन दानवश्रेष्ठोंमें कुछ ताल ठोंक रहे थे, बहुतेरे उछल-कूद रहे थे और कुछ हर्षित होकर सिंहनाद कर रहे थे। इस प्रकार वे दानवगण हाथोंमें भयंकर गदा, परिघ, शिला और मुसल धारण करके अपनी परिघाकार भुजाओंसे देवताओंको धमका रहे थे। उस समय श्रेष्ठ दैत्यगण पाश, भाला, परिघ, तोमर (लकड़ीका बना गोलाकार अस्त्र), अङ्कुश, पट्टिश, शतघ्नी (तोप), शतधार, मुद्गर, गण्डशैल, शैल, उत्तम लोहेके बने हुए परिघ और चक्रोंसे क्रीडा करते हुए दैत्यसेनाको आनन्दित करने लगे। इस प्रकार दानवोंकी वह सारी सेना युद्धके मदसे उन्मत्त हो देवताओंके सम्मुख खड़ी हुई, जो उमड़े हुए मेघोंकी सेना-सी प्रतीत हो रही थी। दानवोंकी वह अद्‌भुत एवं प्रचण्ड सेना, जो हजारों प्रधान दैत्योंसे भरी हुई तथा वायु, अग्नि, पर्वत और मेघके समान भीषण दीख रही थी, युद्धकी तैयारीके समय युद्धकी इच्छासे उन्मत्त हुई-सी शोभा पा रही थी ॥ २६—३२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकामय-संग्राममें एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७३ ॥

एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय

देवताओंका युद्धार्थ अभियान

मत्स्य उवाच

श्रुतस्ते दैत्यसैन्यस्य विस्तारो रविनन्दन। सुराणामपि सैन्यस्य विस्तारं वैष्णवं शृणु ॥ १ ॥
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च महाबलौ। सबलाः सानुगाश्चैव सन्नह्यन्त यथाक्रमम् ॥ २ ॥
पुरुहूतस्तु पुरतो लोकपालः सहस्रदृक्। ग्रामणीः सर्वदेवानामारुरोह सुरद्विपम् ॥ ३ ॥
मध्ये चास्य रथः सर्वपक्षिप्रवररंहसः। सुचारुचक्रचरणो हेमवज्रपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
देवगन्धर्वयक्षौघैरनुयातः सहस्रशः। दीप्तिमद्भिः सदस्यैश्च ब्रह्मर्षिभिरभिष्टुतः ॥ ५ ॥
वज्रविस्फूर्जितोद्धूतैर्विद्युदिन्द्रायुधोदितैः। युक्तो बलाहकगणैः पर्वतैरिव कामगैः ॥ ६ ॥
यमारूढः स भगवान् पर्येति सकलं जगत्। हविर्धानेषु गायन्ति विप्रा मखमुखे स्थिताः ॥ ७ ॥
स्वर्गे शक्रानुयातेषु देवतूर्यनिनादिषु। सुन्दर्यः परिनृत्यन्ति शतशोऽप्सरसां गणाः ॥ ८ ॥
केतुना नागराजेन राजमानो यथा रविः। युक्तो हयसहस्रेण मनोमारुतरंहसा ॥ ९ ॥
स स्यन्दनवरो भाति गुप्तो मातलिना तदा। कृत्स्नः परिवृतो मेरुर्भास्करस्येव तेजसा ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—रविनन्दन! तुम दैत्योंकी सेनाका विस्तार तो सुन ही चुके, अब देवताओंकी—विशेषकर विष्णुकी सेनाका विस्तार श्रवण करो। उस समय आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण और दोनों महाबली अश्विनीकुमार—इन सभीने क्रमशः अपनी-अपनी सेना और अनुयायियोंसहित कवच धारण कर लिया। सहस्र नेत्रधारी लोकपाल इन्द्र जो समस्त देवताओंके नायक हैं, सर्वप्रथम सुरगजेन्द्र ऐरावतपर आरूढ हुए। सेनाके

मध्यभागमें इन्द्रका वह रथ भी खड़ा किया गया, जो समस्त पक्षियोमे श्रेष्ठ गरुडके समान वेगशाली था। उसमें सुन्दर पहिये लगे हुए थे तथा वह स्वर्ण और वज्रसे विभूषित था। सहस्रों-की संख्यामें देवताओं, गन्धर्वों और यक्षोंके समूह उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। दीप्तिशाली सदस्य और महर्षि उसकी स्तुति कर रहे थे तथा वह वज्रकी गड़गड़ाहटके सदृश शब्द करनेवाले, बिजली और इन्द्रधनुषसे सुशोभित तथा स्वेच्छाचारी पर्वतकी तरह दीखनेवाले मेघसमूहोसे घिरा हुआ था। उसपर सवार होकर ऐश्वर्यशाली इन्द्र समस्त जगत्में भ्रमण करते हैं, यज्ञोंमें स्थित ब्राह्मणलोग यज्ञके प्रारम्भमे उसकी प्रशंसा करते हैं, स्वर्गलोकमें उसपर बैठकर इन्द्रके प्रस्थित होनेपर उनके पीछे देवताओंकी तुरहियाँ बजने लगती हैं और सैकड़ों सुन्दरी अप्सराएँ संगठित होकर नृत्य करती हैं। वह रथ शेषनागसे अङ्कित ध्वजसे युक्त होकर सूर्यकी भाँति शोभा पाता है तथा उसमें मन और वायुके समान वेगशाली एक हजार घोड़े जोते जाते हैं। उस समय मातलिद्वारा सुरक्षित वह श्रेष्ठ रथ उसी प्रकार सुशोभित हो रहा था, जैसे सूर्यके तेजसे पूर्णतया घिरा हुआ सुमेरुपर्वत हो ॥ १—१० ॥

यमस्तु दण्डमुद्यम्य कालयुक्तश्च मुद्गरम्। तस्थौ सुरगणानीके दैत्यान् नादेन भीषयन् ॥ ११ ॥
चतुर्भिः सागरैर्युक्तो लेलिहानैश्च पन्नगैः। शङ्खमुक्ताङ्गदधरो बिभ्रत् तोयमयं वपुः ॥ १२ ॥
कालपाशान् समाविध्यन् हयैः शशिकरोपमैः। वाय्वीरितैर्जलाकारैः कुर्वल्लीलाः सहस्रशः ॥ १३ ॥
पाण्डुरोद्धूतवसनः प्रवालरुचिराङ्गदः। मणिश्यामोत्तमवपुर्हरिभारार्पितो वरः ॥ १४ ॥
वरुणः पाशधृङ्मध्ये देवानीकस्य तस्थिवान्। युद्धवेलामभिलषन् भिन्नवेल इवार्णवः ॥ १५ ॥
यक्षराक्षससैन्येन गुह्यकानां गणैरपि। युक्तश्च शङ्खपद्माभ्यां निधीनामधिपः प्रभुः ॥ १६ ॥
राजराजेश्वरः श्रीमान् गदापाणिरदृश्यत। विमानयोधी धनदो विमाने पुष्पके स्थितः ॥ १७ ॥
स राजराजः शुशुभे युद्धार्थी नरवाहनः। उक्षाणमास्थितः संख्ये साक्षादिव शिवः स्वयम् ॥ १८ ॥
पूर्वपक्षः सहस्राक्षः पितृराजस्तु दक्षिणः। वरुणः पश्चिमं पक्षमुत्तरं नरवाहनः ॥ १९ ॥
चतुर्षु युक्ताश्चत्वारो लोकपाला महाबलाः। स्वासु दिक्षु स्वरक्षन्त तस्य देवबलस्य ते ॥ २० ॥

इसी प्रकार कालसहित यमराज भी दण्ड और मुद्गरको हाथमें लेकर अपने सिंहनादसे दैत्योंको भयभीत करते हुए देवसेनामें खड़े हुए। पाशधारी वरुण जलमय शरीर धारणकर देवसेनाके मध्यभागमें स्थित हुए। उनके साथ चारों सागर तथा जीभ लपलपाते हुए नाग भी थे, वे शङ्ख और मुक्ताजटित केयूर धारण किये हुए थे, हाथमे कालपाश लिये हुए थे, वायुके समान वेगशाली, चन्द्र-किरणोंके-से उज्ज्वल तथा जलाकार घोड़ोंसे युक्त रथपर सवार थे। वे हजारों प्रकारकी लीलाएँ कर रहे थे, पीले वस्त्र और प्रवालजटित अङ्गारसे विभूषित थे, उनकी शरीरकान्ति नीलमणिकी-सी सुन्दर थी, उन श्रेष्ठ देवपर इन्द्रने अपना भार सौंप रखा था। वे तटको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले सागरकी तरह युद्ध-वेलाकी बाट जोह रहे थे। तत्पश्चात् निधियोंके अधिपति एवं विमानद्वारा युद्ध करनेवाले सामर्थ्यशाली राजराजेश्वर श्रीमान् कुबेर यक्षों, राक्षसों और गुह्यकोंकी सेना तथा शङ्ख और पद्मके साथ हाथमें गदा धारण किये हुए पुष्पकविमानपर आरूढ हुए दिखायी पड़े। उस समय युद्धकी इच्छासे आये हुए राजराजेश्वर नरवाहन कुबेरकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो युद्धस्थलमें नन्दीश्वरपर बैठे हुए साक्षात् स्वयं शिवजी ही हों। सेनाके पूर्वभागमें इन्द्र, दक्षिणभागमें यमराज, पश्चिमभागमें वरुण और उत्तरभागमें कुबेर—इस प्रकार ये चारों महाबली लोकपाल चारों दिशाओंमें स्थित हुए। वे अपनी-अपनी दिशाओंमें बड़ी सतर्कताके साथ उस देवसेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥ ११—२० ॥

सूर्यः सप्ताश्वयुक्तेन रथेनामितगामिना । श्रिया जाज्वल्यमानेन दीप्यमानश्च रश्मिभिः ॥ २१ ॥
उदयास्तगचक्रेण मेरुपर्वतगामिना । त्रिदिवद्वारचक्रेण तपता लोकमव्ययम् ॥ २२ ॥
सहस्ररश्मियुक्तेन भ्राजमानेन तेजसा । चचार मध्ये लोकानां द्वादशात्मा दिनेश्वरः ॥ २३ ॥
सोमः श्वेतहये भाति स्यन्दने शीतरश्मिवान् । हिमवत्तोयपूर्णाभिर्भाभिराह्लादयञ्जगत् ॥ २४ ॥
तमृक्षपूगानुगतं शिशिरांशुं द्विजेश्वरम् । शशच्छायाङ्कितततनुं नैशस्य तमसः क्षयम् ॥ २५ ॥
ज्योतिषामीश्वरं व्योम्नि रसानां रसदं प्रभुम् । ओषधीनां सहस्राणां निधानममृतस्य च ॥ २६ ॥
जगतः प्रथमं भागं सौम्यं सत्यमयं रथम् । ददृशुर्दानवाः सोमं हिमप्रहरणं स्थितम् ॥ २७ ॥

तदुपरान्त सहस्र किरणोंके सम्मिलित तेजसे उद्भासित द्वादशात्मा दिनेश्वर सूर्य अपने अमित वेगशाली रथपर, जिसमें सात घोड़े जुते हुए थे, जो शोभासे प्रकाशित, सूर्यकी किरणोंसे देदीप्यमान, उदयाचल, अस्ताचल और मेरुपर्वतपर भ्रमण करनेवाला तथा स्वर्गद्वाररूप एक चक्रसे सुशोभित था, सवार हो अविनाशी लोकोंको संतप्त करते हुए लोगोके बीच विचरण करने लगे । शीतरश्मि चन्द्रमा श्वेत घोडे जुते हुए रथपर सवार हो अपनी जलपूर्ण हिमकी-सी कान्तिसे जगत्को आह्लादित करते हुए सुशोभित हुए । उस समय शीतल किरणोंवाले द्विजेश्वर चन्द्रमाके पीछे नक्षत्रगण चल रहे थे । उनके शरीरमें खरगोशका चिह्न झलक रहा था, वे रात्रिके अन्धकारके विनाशक, सामर्थ्यशाली, आकाशमण्डलमें स्थित ज्योतिर्गणोंके अधीश्वर, रसीले पदार्थोंको रस प्रदान करनेवाले, सहस्रों प्रकारकी ओषधियों तथा अमृतके निधान, जगत्के प्रथम भागस्वरूप और सौम्यस्वभाववाले हैं, उनका रथ सत्यमय है । इस प्रकार हिमसे प्रहार करनेवाले चन्द्रमाको दानवोंने वहाँ उपस्थित देखा ॥

यः प्राणः सर्वभूतानां पञ्चधा भिद्यते नृषु । सप्तधातुगतो लोकांस्त्रीन् दधार चचार च ॥ २८ ॥
यमाहुरग्निकर्तारं सर्वप्रभवमीश्वरम् । सप्तस्वरगतो यश्च नित्यं गीर्भिरुदीर्यते ॥ २९ ॥
यं वदन्त्युत्तमं भूतं यं वदन्त्यशरीरिणम् । यमाहुराकाशगमं शीघ्रगं शब्दयोगिनम् ॥ ३० ॥
स वायुः सर्वभूतायुरुद्भूतः स्वेन तेजसा । ववौ प्रव्यथयन् दैत्यान्प्रतिलोमं सतोयदः ॥ ३१ ॥
मरुतो दिव्यगन्धर्वैर्विद्याधरगणैः सह । चिक्रीडुरसिभिः शुभ्रैर्निर्मुक्तैरिव पन्नगैः ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियोंका प्राणस्वरूप है, मनुष्योंके शरीरोंमे पाँच प्रकारसे विभक्त होता है, जिसकी सातो धातुओंमें गति है, जो तीनो लोकोंको धारण करता तथा उनमें विचरण करता है, जिसे अग्निका कर्ता, सबका उत्पत्तिस्थान और ईश्वर कहते है, जो नित्य सातो स्वरोंमें विचरण करता हुआ वाणीद्वारा उच्चरित होता है । जिसे पाँचो भूतोमें उत्तम भूत, शरीर-रहित, आकाशचारी, शीघ्रगामी और शब्दयोगी अर्थात् शब्दको उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है, सम्पूर्ण प्राणियोंका आयुस्वरूप वह वायु वहाँ अपने तेजसे प्रकट हुआ । वह बादलोको साथ लेकर दैत्योको प्रव्यथित करता हुआ उनकी प्रतिकूल दिशामें बहने लगा । मरुद्गण दिव्य गन्धर्वो और विद्याधरोंके साथ केचुलसे छूटे हुए सर्पकी भाँति निर्मल तलवारोसे क्रीडा करने लगे ॥ २८—३२ ॥

सृजन्तः सर्पपतयस्तीव्रतोयमयं विषम् । शरभूता दिवीन्द्राणां चेरुर्व्यात्ताननाः दिवि ॥ ३३ ॥
पर्वतैश्च शिलाशृङ्गैः शतशश्चैव पादपैः । उपतस्थुः सुरगणाः प्रहर्तुं दानवं बलम् ॥ ३४ ॥
यः स देवो हृषीकेशः पद्मनाभस्त्रिविक्रमः । युगान्ते कृष्णवर्णाभो विश्वस्य जगतः प्रभुः ॥ ३५ ॥
सर्वयोनिः स मधुहा हव्यभुक् क्रतुसंस्थितः । भूम्यापोव्योमभूतात्मा श्यामः शान्तिकरोऽरिहा॥ ३६ ॥
अरिघ्नममरादीनां चक्रं गृह्य गदाधरः । अर्कं नगादिवोद्यन्तमुद्यम्योत्तमतेजसा ॥ ३७ ॥
सव्येनालम्ब्य महतीं सर्वासुरविनाशिनीम् । करेण कालीं वपुषा शत्रुकालप्रदां गदाम् ॥ ३८ ॥
अन्यैर्भुजैः प्रदीप्ताभैर्भुजगारिध्वजः प्रभुः । दधारायुधजातानि शार्ङ्गादीनि महाबलः ॥ ३९ ॥

*

इसी प्रकार नागाधीश्वरगण आकाशमें मुख फैलाये हुए तीव्र जलमय विषको उगलते हुए आकाशचारियोंके बाणरूप होकर विचरण करने लगे। अन्यान्य देवगण सैकड़ों पर्वतों, शिलाओं, शिखरों और वृक्षोंसे दानव-सेनापर प्रहार करनेके लिये उपस्थित हुए। तत्पश्चात् जो इन्द्रियोंके अधीश्वर, पद्मनाभ, तीन पगसे त्रिलोकीको नाप लेनेवाले, प्रलयकालमें कृष्ण वर्णकी आभासे युक्त, सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी, सबके उत्पत्तिस्थान, मधु नामक दैत्यके वधकर्ता, यज्ञमें स्थित होकर हव्यके भोक्ता, पृथ्वी-जल-आकाशस्वरूप, श्याम वर्णवाले, शान्तिकर्ता और शत्रुओंका हनन करनेवाले हैं, उन भगवान् गदाधरने देवताओंके शत्रुओंका विनाश करनेवाले अपने सुदर्शन चक्रको, जो अपने उत्तम तेजसे उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके समान चमक रहा था, हाथमें ऊपर उठा लिया। फिर उन्होंने बायें हाथसे अपनी विशाल गदाका आलम्बन लिया, जो समस्त असुरोंकी विनाशिनी, काले रंगवाली और शत्रुओंको कालके गालमें डालनेवाली थी। महाबली गरुडध्वज भगवान्‌ने अपनी अन्य देदीप्यमान भुजाओंसे शार्ङ्गधनुष आदि अन्यान्य आयुधोंको धारण किया ॥ ३३—३९ ॥

स कश्यपस्यात्मभुवं द्विजं भुजगभोजनम्। पवनाधिकसम्पातं गगनक्षोभणं खगम् ॥ ४० ॥
भुजगेन्द्रेण वदने निविष्टेन विराजितम्। अमृतारम्भनिर्मुक्तं मन्दराद्रिमिवोच्छ्रितम् ॥ ४१ ॥
देवासुरविमर्देषु बहुशो दृढविक्रमम्। महेन्द्रेणामृतस्यार्थे वज्रेण कृतलक्षणम् ॥ ४२ ॥
शिखिनं बलिनं चैव तप्तकुण्डलभूषणम्। विचित्रपत्रवसनं धातुमन्तमिवाचलम् ॥ ४३ ॥
स्फीतक्रोडावलम्बेन शीतांशुसमतेजसा। भोगिभोगावसिक्तेन मणिरत्नेन भास्वता ॥ ४४ ॥
पक्षाभ्यां चारुपत्राभ्यामावृत्य दिवि लीलया। युगान्ते सेन्द्रचापाभ्यां तोयदाभ्यामिवाम्बरम् ॥ ४५ ॥
नीललोहितपीताभिः पताकाभिरलंकृतम्। केतुवेषप्रतिच्छन्नं महाकायनिकेतनम् ॥ ४६ ॥
अरुणावरजं श्रीमानारुह्य समरे विभुः। सुवर्णस्वर्णवपुषा सुपर्णं खेचरोत्तमम् ॥ ४७ ॥
तमन्वयुर्देवगणा मुनयश्च समाहिताः। गीर्भिः परममन्त्राभिस्तुष्टुवुश्च जनार्दनम् ॥ ४८ ॥
तद्वैश्रवणसंश्लिष्टं वैवस्वतपुरःसरम्। द्विजराजपरिक्षिप्तं देवराजविराजितम् ॥ ४९ ॥
चन्द्रप्रभाभिर्विपुलं युद्धाय समवर्तत।
स्वस्त्यस्तु देवेभ्य इति बृहस्पतिरभाषत। स्वस्त्यस्तु दानवानीके उशना वाक्यमाददे ॥ ५० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामयसंग्रामे चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

तदनन्तर जो कश्यपके पुत्र, सर्पभक्षी, वायुसे भी अधिक वेगशाली, आकाशको क्षुब्ध कर देनेवाले, आकाशचारी, मुखमें दबाये हुए सर्पसे सुशोभित, अमृत-मन्थनसे मुक्त हुए मन्दराचलके समान ऊँचे, अनेकों बार घटित हुए देवासुर-संग्राममें सुदृढ पराक्रम दिखानेवाले, अमृतके लिये इन्द्रके द्वारा वज्रके प्रहारसे किये गये चिह्नसे युक्त, शिखाधारी, महाबली, तपाये हुए स्वर्ण-निर्मित कुण्डलोंसे विभूषित, विचित्र पंखरूपी वस्त्रवाले और धातुयुक्त पर्वतके समान शोभायमान थे, उनका वक्षःस्थल लम्बा और चौड़ा था, जो चन्द्रमाके समान उद्भासित हो रहा था, उसपर नागोंके फणोंमें लगी हुई मणियाँ चमक रही थीं, वे अपने दोनों सुन्दर पंखोंसे आकाशको उसी प्रकार लीलापूर्वक आच्छादित किये हुए थे, जैसे युगान्तके समय दो इन्द्रधनुषोंसे युक्त बादल आकाशको ढक लेते हैं। वे नीली, लाल और पीली पताकाओंसे सुशोभित थे, जो केतु (पताका) के वेषमें छिपे हुए, विशालकाय और अरुणके छोटे भाई थे, उन सुन्दर वर्णवाले, सुनहले शरीरसे सुशोभित पक्षि-श्रेष्ठ गरुडपर आरूढ़ होकर श्रीमान् भगवान् विष्णु समरभूमिमें उपस्थित हुए। फिर तो देवगणों तथा मुनियोंने सावधान-चित्तसे उनका अनुगमन किया और

परमोत्कृष्ट मन्त्रोंसे युक्त वाणियोंद्वारा उन जनार्दनका स्तवन किया। इस प्रकार देवताओंकी वह विशाल सेना जब कुबेरसे युक्त, यमराजसे समन्वित, चन्द्रमासे सुरक्षित, इन्द्रसे सुशोभित और चन्द्रमाकी प्रभासे समलंकृत हो युद्धके लिये आगे बढ़ी, तब बृहस्पतिने कहा—'देवताओंका मङ्गल हो।' इसी प्रकार दानव-सेनामें भी शुक्राचार्यने 'दानवोंका कल्याण हो' ऐसा वचन उच्चारण किया॥ ४०—५०॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकामयसंग्राममें एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १७४॥

एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंका घमासान युद्ध, मयकी तामसी माया, और्वाग्निकी उत्पत्ति और महर्षि ऊर्वद्वारा हिरण्यकशिपुको उसकी प्राप्ति

मत्स्य उवाच

ताभ्यां बलाभ्यां संजज्ञे तुमुलो विग्रहस्तदा। सुराणामसुराणां च परस्परजयैषिणाम्॥ १॥
दानवा दैवतैः सार्धं नानाप्रहरणोद्यताः। समीयुर्युध्यमाना वै पर्वता इव पर्वतैः॥ २॥
तत्सुरासुरसंयुक्तं युद्धमत्यद्भुतं बभौ। धर्माधर्मसमायुक्तं दर्पेण विनयेन च॥ ३॥
ततो रथैर्विप्रयुक्तैर्वारणैश्च प्रचोदितैः। उत्पतद्भिश्च गगनमसिहस्तैः समंततः॥ ४॥
क्षिप्यमाणैश्च मुसलैः सम्पतद्भिश्च सायकैः। चापैर्विस्फार्यमाणैश्च पात्यमानैश्च मुद्गरैः॥ ५॥
तद् युद्धमभवद् घोरं देवदानवसंकुलम्। जगत्संत्रासजननं युगसंवर्तकोपमम्॥ ६॥
हस्तमुक्तैश्च परिघैर्विप्रयुक्तैश्च पर्वतैः। दानवाः समरे जघ्नुर्देवानिन्द्रपुरोगमान्॥ ७॥
ते बध्यमाना बलिभिर्दानवैर्जयकाङ्क्षिभिः। विषण्णवदना देवा जग्मुरार्तिं परां मृधे॥ ८॥
तैस्त्रिशूलप्रमथिताः परिघैर्भिन्नमस्तकाः। भिन्नोरस्का दितिसुतैर्वेमू रक्तं व्रणैर्बहु॥ ९॥
वेष्टिताः शरजालैश्च निर्यत्नाश्चासुरैः कृताः। प्रविष्टा दानवीं मायां न शेकुस्ते विचेष्टितुम्॥ १०॥
अस्तंगतमिवाभाति निष्प्राणसदृशाकृतिः। बलं सुराणामसुरैर्निष्प्रयत्नायुधं कृतम्॥ ११॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—रविनन्दन! तदनन्तर परस्पर विजयकी अभिलाषावाले देवताओं और दानवोंकी उन दोनो सेनाओंमें घमासान युद्ध होने लगा। नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे लैस हुए दानवगण देवताओंके साथ युद्ध करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये। उस समय वे ऐसा प्रतीत हो रहे थे मानो पर्वत पर्वतोंके साथ भिड़ गये हों। देवताओं और असुरोंके बीच छिड़ा हुआ वह युद्ध धर्म, अधर्म, दर्प और विनयसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त अद्भुत लग रहा था। उस समय रथोंको पृथक्-पृथक् आगे बढ़ाया जा रहा था, हाथियोंको उत्तेजित किया जा रहा था, चारों ओर सैनिक हाथमें तलवार लिये हुए आकाशमें उछल रहे थे, मुसल फेंके जा रहे थे, बाणोंकी वर्षा हो रही थी, धनुषोंका टंकार हो रहा था, मुद्गर गिराये जा रहे थे, इस प्रकार देवों और दानवोंसे व्याप्त हुए उस युद्धने भयंकर रूप धारण कर लिया है। वह युगान्तकालिक संवर्तक अग्निकी तरह जगत्को भयभीत करने लगा। दानवगण समरभूमिमें पृथक्-पृथक् हाथोंसे फेंके गये परिघों और पर्वतोंसे इन्द्र आदि देवताओंपर प्रहार करने लगे। इस प्रकार रणभूमिमें विजयाभिलाषी बलवान् दानवोंद्वारा मारे जाते हुए उन देवताओंका मुख सूख गया और वे बड़ी कष्टपूर्ण स्थितिमें पड़ गये। दानवोंने उन्हें शूलोंसे बींध डाला, परिघोंकी चोटसे उनके मस्तक विदीर्ण तथा वक्षःस्थल चूर-चूर हो गये और उनके

बाणोंसे अविरल रक्त प्रवाहित होने लगा। असुरोंने देवताओंको बाणसमूहोंसे परिवेष्टित करके प्रयत्नहीन कर दिया। वे दानवी मायामें प्रविष्ट होकर किसी प्रकारकी भी चेष्टा करनेमें असमर्थ हो गये। देवताओंकी वह सेना प्राणरहितकी तरह विनष्ट हुई-सी दीख रही थी। असुरोंने उसे आयुध और प्रयत्नसे रहित कर दिया था ॥ १–११ ॥

दैत्यचापच्युतान् घोरांश्छित्वा वज्रेण ताञ्शरान्। शक्रो दैत्यबलं घोरं विवेश बहुलोचनः ॥ १२ ॥
स दैत्यप्रमुखान् हत्वा तद्दानवबलं महत्। तामसेनास्त्रजालेन तमोभूतमथाकरोत् ॥ १३ ॥
तेऽन्योऽन्यं नावबुध्यन्त देवानां वाहनानि च। घोरेण तमसाविष्टाः पुरुहूतस्य तेजसा ॥ १४ ॥
मायापाशैर्विमुक्तास्तु यत्नवन्तः सुरोत्तमाः। वपूंषि दैत्यसिंहानां तमोभूतान्यपातयन् ॥ १५ ॥
अपध्वस्ता विसंज्ञाश्च तमसा नीलवर्चसा। पेतुस्ते दानवगणाश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ १६ ॥
तद् घनीभूतदैत्येन्द्रमन्धकार इवार्णवे। दानवं देवकदनं तमोभूतमिवाभवत् ॥ १७ ॥
तदा सृजन् महामायां मयस्तां तामसीं दहन्। युगान्तोद्योतजननीं सृष्टामौर्वेण वह्निना ॥ १८ ॥
सा ददाह ततः सर्वान् मायाः मयविकल्पिताः। दैत्याश्चादित्यवपुषः सद्य उत्तस्थुराहवे ॥ १९ ॥
मायामौर्वीं समासाद्य दह्यमाना दिवौकसः। भेजिरे चेन्द्रविषयं शीतांशुसलिलप्रदम् ॥ २० ॥
ते दह्यमाना ह्यौर्वेण वह्निना नष्टचेतसः। शशंसुर्वज्रिणं देवाः संतप्ताः शरणैषिणः ॥ २१ ॥

तदनन्तर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र वज्रद्वारा दैत्योंके धनुर्षोंसे छूटे हुए उन भयंकर बाणोंको छिन्न-भिन्न करके दैत्योंकी भीषण सेनामें प्रविष्ट हुए। उन्होंने प्रधान-प्रधान दैत्योंका वध करके दानवोंकी उस विशाल सेनाको तामस अस्त्रसमूहके प्रयोगसे अन्धकारमय बना दिया। इस प्रकार इन्द्रके पराक्रमसे घोर अन्धकारसे घिरे हुए वे दानव परस्पर एक-दूसरेको तथा देवताओंके वाहनोंको भी नहीं पहचान पाते थे। इधर दानवी मायाके पाशसे मुक्त हुए श्रेष्ठ देवगण प्रयत्न करके दैत्येन्द्रोंके अन्धकारमय शरीरोंको काटकर गिराने लगे। उस नील कान्तिवाले अन्धकारसे घिरे हुए वे दानवगण मूर्च्छित होकर धराशायी होते हुए ऐसे लग रहे थे मानो कटे हुए पंखवाले पर्वत हों। दैत्येन्द्रोंकी वह सेना समुद्रमें अन्धकारकी तरह एकत्र हो गयी और देवताओंद्वारा मारे जाते हुए दानव अन्धकारमय-से हो गये। यह देखकर मय दानवने इन्द्रकी उस तामसी मायाको नष्ट करते हुए अपनी महान् राक्षसी मायाका सृजन किया। वह और्व नामक अग्निसे उत्पन्न हुई और प्रलयकालीन (भयंकर) प्रकाशको प्रकट कर रही थी। मयद्वारा रची गयी उस मायाने सम्पूर्ण देवताओं-को जलाना आरम्भ किया। इधर सूर्यके समान तेजस्वी शरीरवाले दैत्यगण युद्धस्थलमें तुरंत उठ खडे हुए। इस प्रकार और्वी मायाके सम्पर्कसे जलते हुए देवगण शीतल किरणोंवाले एवं जलप्रदाता इन्द्रकी शरणमें गये। और्व अग्निसे जलनेके कारण देवताओंकी चेतना नष्ट हो रही थी। तब संतप्त हुए देवगणोंने शरणकी इच्छासे वज्रधारी इन्द्रके पास जाकर उन्हे सूचित किया ॥ १२–२१ ॥

संतप्ते मायया सैन्ये हन्यमाने च दानवैः। चोदितो देवराजेन वरुणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥
ऊर्वो ब्रह्मर्षिजः शक्र तपस्तेपे सुदारुणम्। ऊर्वः स पूर्वतेजस्वी सदृशो ब्रह्मणो गुणैः ॥ २३ ॥
तं तपन्तमिवादित्यं तपसा जगदव्ययम्। उपतस्थुर्मुनिगणा दिव्या देवर्षिभिः सह ॥ २४ ॥
हिरण्यकशिपुश्चैव दानवो दानवेश्वरः। ऋषिं विज्ञापयामासुः पुरा परमतेजसम् ॥ २५ ॥
ऊचुर्ब्रह्मर्षयस्तं तु वचनं धर्मसंहितम्। ऋषिवंशेषु भगवंश्छिन्नमूलमिदं पदम् ॥ २६ ॥
एकस्त्वमनपत्यश्च गोत्रायान्यो न वर्तते। कौमारं व्रतमास्थाय क्लेशमेवानुवर्तसे ॥ २७ ॥
बहूनि विप्रगोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम्। एकदेहानि तिष्ठन्ति विविक्तानि विना प्रजाः ॥ २८ ॥

एवमुच्छिन्नमूलैश्च पुत्रैर्नो नास्ति कारणम् । भवांस्तु तपसा श्रेष्ठो प्रजापतिसमद्युतिः ॥ २९ ॥
तत्र वर्तस्व वंशाय वर्धयात्मानमात्मना । त्वया धर्मोर्जितस्तेन द्वितीयां कुरु वै तनुम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार अपनी सेनाको मायाद्वारा संतप्त होती तथा दानवोद्वारा मारी जाती देखकर देवराज इन्द्रके पूछनेपर वरुणने इस प्रकार कहा—'इन्द्र ! ऊर्व एक ब्रह्मर्पिके पुत्र हैं । वे पहलेसे ही तेजस्वी और गुणोंमें ब्रह्माके समान थे । उन्होंने अत्यन्त कठोर तप किया था । जब उनकी तपस्यासे सारा जगत् सूर्यकी भाँति संतप्त हो उठा, तब उनके निकट देवर्पियोसहित दिव्य महर्पिगण उपस्थित हुए । उसी समय वहाँ दानवेश्वर हिरण्यकशिपु दानव भी पहुँचा । तब ब्रह्मर्पियोंने सर्वप्रथम उन परम तेजस्वी ऊर्व ऋपिको सूचना दी और फिर इस प्रकार धर्मयुक्त कहा—'ऐश्वर्यशाली ऊर्व ! ऋपियोके वंशोंमे इस संतान-परम्पराकी जड़ कट चुकी है । एकमात्र आप शेप हैं, सो भी संतानहीन हैं । दूसरा कोई गोत्रकी वृद्धि करनेवाला विद्यमान है नहीं और आप ब्रह्मचर्य-व्रतको धारणकर क्लेश सहन करते हुए तपमें ही लगे हुए हैं । भावितात्मा मुनियों तथा ब्राह्मणोके बहुत-से गोत्र संततिके बिना केवल एक व्यक्तितक ही सीमित रह गये हैं । इस प्रकार मूलके नष्ट हो जानेपर हमलोगोंको पुनः पुत्रोत्पत्तिका कोई कारण नहीं दीख रहा है । आप तो तपस्याके प्रभावसे श्रेष्ठ और प्रजापतिके समान तेजस्वी हो गये हैं, अतः वंश-प्राप्तिके लिये प्रयत्न कीजिये और अपनेद्वारा अपनी वृद्धि कीजिये । आपने धर्मोपार्जन तो कर ही लिया है, इसलिये अब दूसरे शरीरकी रचना कीजिये अर्थात् संतानोत्पत्तिके लिये प्रयत्नशील होइये' ॥ २२–३० ॥

स एवमुक्तो मुनिभिर्व्ह्र्वो मर्मसु ताडितः । जगर्हे तानृषिगणान् वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
यथायं विहितो धर्मो मुनीनां शाश्वतस्तु सः । आर्पं वै सेवतः कर्म वन्यमूलफलाशिनः ॥ ३२ ॥
ब्रह्मयोनौ प्रसूतस्य ब्राह्मणस्यात्मदर्शिनः । ब्रह्मचर्यं सुचरितं ब्रह्माणमपि चालयेत् ॥ ३३ ॥
जनानां वृत्तयस्तिस्रो ये गृहाश्रमवासिनः । अस्माकं तु वरं वृत्तिर्वनाश्रमनिवासिनाम् ॥ ३४ ॥
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च दन्तोलूखलिनस्तथा । अश्मकुट्टा दशतपाः पञ्चातपसहाश्च ये ॥ ३५ ॥
एते तपसि तिष्ठन्ति व्रतैरपि सुदुष्करैः । ब्रह्मचर्यं पुरस्कृत्य प्रार्थयन्ति परां गतिम् ॥ ३६ ॥
ब्रह्मचर्याद् ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वं विधीयते । एवमाहुः परे लोके ब्रह्मचर्यविदो जनाः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः । ये स्थिता ब्रह्मचर्ये तु ब्राह्मणास्ते दिवि स्थिताः ॥ ३८ ॥
नास्ति योगं विना सिद्धिर्न वा सिद्धिं विना यशः । नास्ति लोके यशोमूलं ब्रह्मचर्यात् परं तपः ॥ ३९ ॥
यो निगृह्येन्द्रियग्रामं भूतग्रामं च पञ्चकम् । ब्रह्मचर्येण वर्तेत किमतः परमं तपः ॥ ४० ॥

मुनियोद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर ऊर्व-ऋपिके मर्मस्थानोपर विशेप आघात पहुँचा, तब उन्होने उन ऋपियोकी निन्दा करते हुए इस प्रकार कहा—'ब्राह्मण-कुलोत्पन्न जंगली फल-मूलका आहार करते हुए आर्प कर्मके सेवनमें निरत आत्मदर्शी ब्राह्मणका भलीभाँति आचरण किया गया ब्रह्मचर्य ब्रह्माको भी विचलित कर सकता है । जो गृहस्थाश्रममें निवास करनेवाले हैं, उन लोगोके लिये अन्य तीन वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं, परंतु वनमें आश्रम बनाकर निवास करनेवाले हमलोगोके लिये यही वृत्ति उत्तम है । जो लोग केवल जल पीकर, वायुका आहार कर, दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेकर, पत्थरपर कुटे हुए पदार्थोको खाकर, दस या पाँच स्थानोंपर अग्नि जलाकर उनके मध्यमें बैठकर तपस्या करनेवाले हैं तथा सुदुष्कर व्रतोंका पालन करते हुए तपस्यामें निरत हैं, वे लोग भी ब्रह्मचर्यको प्रधान मानकर परम गतिको प्राप्त होते हैं । परलोकमें ब्रह्मचर्यके

महत्त्वको जाननेवाले लोग ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मचर्यके पालनसे ब्राह्मणको ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्यमें धैर्य स्थित है, ब्रह्मचर्यमें तप स्थित है तथा जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्यमे स्थित रहते हैं, वे मानो स्वर्गमें स्थित हैं। लोकमें योगके बिना सिद्धि और सिद्धिके बिना यशकी प्राप्ति नहीं हो सकती तथा यशःप्राप्तिका मूल कारण परम तप ब्रह्मचर्यके बिना नहीं हो सकता। जो इन्द्रिय-समूह और पञ्चमहाभूतोको वशमें करके ब्रह्मचर्यका पालन करता है, उसके लिये इससे बढ़कर और कौन-सा तप हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३१—४० ॥

अयोगे केशधरणमसंकल्पे व्रतक्रिया। अब्रह्मचर्या चर्या च त्रयं स्याद् दम्भसंज्ञकम् ॥ ४१ ॥
क्व दाराः क्व च संयोगः क्व च भावविपर्ययः। नन्वियं ब्रह्मणा सृष्टा मनसा मानसी प्रजा ॥ ४२ ॥
यद्यस्ति तपसो वीर्यं युष्माकं विदितात्मनाम्। सृजध्वं मानसान् पुत्रान् प्राजापत्येन कर्मणा ॥ ४३ ॥
मनसा निर्मिता योनिराधातव्या तपस्विभिः। न दारयोगो बीजं वा व्रतमुक्तं तपस्विनाम् ॥ ४४ ॥
यदिदं लुप्तधर्मार्थं युष्माभिरिह निर्भयैः। व्याहृतं सद्भिरत्यर्थमसद्भिरिव मे मतम् ॥ ४५ ॥
वपुर्दीप्तान्तरात्मानमेतत् कृत्वा मनोमयम्। दारयोगं विना स्रक्ष्ये पुत्रमात्मतनूरुहम् ॥ ४६ ॥
एवमात्मानमात्मा मे द्वितीयं जनयिष्यति। वन्येनानेन विधिना दिधिक्षन्तमिव प्रजाः ॥ ४७ ॥
ऊर्वस्तु तपसाविष्टो निवेश्योरुं हुताशने। ममन्थैकेन दर्भेण सुतस्य प्रभवारणिम् ॥ ४८ ॥
तस्योरुं सहसा भित्त्वा ज्वालामाली ह्यनिन्धनः। जगतो दहनाकाङ्क्षी पुत्रोऽग्निः समपद्यत ॥ ४९ ॥
ऊर्वस्योरुं विनिर्भिद्य और्वो नामान्तकोऽनलः। दिधक्षन्निव लोकांस्त्रीञ्जज्ञे परमकोपनः ॥ ५० ॥
उत्पन्नमात्रश्चोवाच पितरं क्षीणया गिरा। क्षुधा मे बाधते तात जगद् भक्ष्ये त्यजस्व माम् ॥ ५१ ॥
त्रिदिवारोहिभिर्ज्वालैर्जृम्भमाणो दिशो दश। निर्दहन् सर्वभूतानि ववृधे सोऽन्तकोऽनलः ॥ ५२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा मुनिमूर्वं सभाजयन्। उवाच वार्यतां पुत्रो जगतश्च दयां कुरु ॥ ५३ ॥
अस्यापत्यस्य ते विप्र करिष्ये स्थानमुत्तमम्। तथ्यमेतद्वचः पुत्र शृणु त्वं वदतां वर ॥ ५४ ॥

'योगाभ्यासके बिना जटा धारण करना, संकल्पके बिना व्रताचरण और ब्रह्मचर्य-हीन दशामे नियमोंका पालन—ये तीनो दम्भ कहे जाते है। कहाँ स्त्री, कहाँ स्त्री-संयोग और कहाँ स्त्री-पुरुषका भाव-परिवर्तन? परंतु इन सबके अभावमें ही ब्रह्माने इस सृष्टिको मनसे उत्पन्न की है और सारी प्रजाएँ भी मनसे ही प्रादुर्भूत हुई है। इसलिये आत्मज्ञानी आपलोगोमे यदि तपस्याका बल है तो प्रजापतिके कर्मानुसार आपलोग भी मानसिक पुत्रोकी सृष्टि कीजिये। तपस्वियोको मानसिक संकल्प-द्वारा योनिका निर्माण कर उसमें आधान करना चाहिये। उनके लिये स्त्रीसंयोग, बीज और व्रत आदिका विधान नहीं है। आपलोगोंने मेरे सामने निर्भय होकर जो यह धर्म और अर्थसे हीन वचन कहा है, यह सत्पुरुषोद्वारा अत्यन्त गर्हित है। मेरे विचारसे तो यह अज्ञानियोंकी उक्ति-जैसा है। मै अपने इस उद्दीप्त अन्तरात्मावाले शरीरको मनोमय करके स्त्री-संयोगके बिना ही अपने शरीरसे पुत्रकी सृष्टि करूँगा। इस प्रकार मेरा आत्मा इस वन्य (वानप्रस्थ) विधिके अनुसार प्रजाओको जला देनेवाले दूसरे आत्मा (पुत्र) को उत्पन्न करेगा।' तत्पश्चात् ऊर्वने तपस्यामें संलग्न होकर अपनी जाँघको अग्निमें डालकर पुत्रकी उत्पत्तिके लिये एक कुशसे अरणि-मन्थन किया। तब सहसा उनकी जाँघका भेदन कर इन्धनरहित होनेपर भी ज्वालाओंसे युक्त अग्नि जगत्को जला देनेकी इच्छासे पुत्ररूपमें प्रकट हुआ। इस प्रकार ऊर्वकी जाँघका भेदन कर वह और्व नामक विनाशकारी अग्नि उत्पन्न हुआ, जो परम क्रोधी और तीनो लोकोंको जला डालना चाहता था। उत्पन्न होते ही उसने मन्द स्वरमें पितासे कहा—'तात! मुझे भूख कष्ट दे रही है, अतः मुझे छोड़िये। मै जगत्को खा जाऊँगा।' ऐसा कहकर

वह विनाशकारी और्व अग्नि स्वर्गतक पहुँचनेवाली ज्वालाओंसे युक्त हो दसों दिशाओंमें फैलकर समस्त प्राणियोंको भस्म करते हुए बढ़ने लगा। इसी बीच ब्रह्मा ऊर्व मुनिके निकट आये और उन्हें आदर देते हुए बोले—'विप्रवर! तुम मेरी बात तो सुनो! अपने पुत्रको मना कर दो, जगत्‌पर दया तो करो। मैं तुम्हारे इस पुत्रको उत्तम स्थान प्रदान करूँगा। वक्ताओंमें श्रेष्ठ पुत्र! मेरी यह बात एकदम सच है'॥

ऊर्व उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मेऽद्य भगवाञ् शिशोः। मतिमेतां ददातीह परमानुग्रहाय वै॥ ५५॥
प्रभातकाले सम्प्राप्ते काङ्क्षितव्ये समागमे। भगवंस्तर्पितः पुत्रः कैर्हव्यैः प्राप्स्यते सुखम्॥ ५६॥
कुत्र चास्य निवासः स्याद् भोजनं वा किमात्मकम्। विधास्यतीह भगवान् वीर्यतुल्यं महौजसः॥ ५७॥

ऊर्व बोले—भगवन्! आज मैं धन्य हो गया। आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया, जो मेरे पुत्रके लिये इस प्रकारकी बुद्धि दे रहे हैं। यह आपका मुझपर परम अनुग्रह है। किंतु प्रातःकाल होनेपर जब वह पुत्र मेरे पास आयेगा तब मै उसे किन पदार्थोंसे तृप्त करूँगा, जिससे उसे सुख प्राप्त हो सकेगा? इसका निवासस्थान कहाँ होगा? और इसका भोजन किस प्रकारका होगा? (मुझे आशा है कि) आप इस महान् तेजस्वीके पराक्रमके अनुरूप ही सब विधान करेंगे॥५५—५७॥

ब्रह्मोवाच

वडवामुखेऽस्य वसतिः समुद्रे वै भविष्यति। मम योनिर्जलं विप्र तस्य पीतवतः सुखम्॥ ५८॥
यत्राहमास नियतं पिबन् वारिमयं हविः। तद्धविस्तव पुत्रस्य विसृजाम्यालयं च तत्॥ ५९॥
ततो युगान्ते भूतानामेष चाहं च पुत्रक। सहितौ विचरिष्यावो निष्पुत्राणामृणापहः॥ ६०॥
एषोऽग्निरन्तकाले तु सलिलाशी मया कृतः। दहनः सर्वभूतानां सदेवासुररक्षसाम्॥ ६१॥
एवमस्त्विति तं सोऽग्निः संवृतज्वालमण्डलः। प्रविवेशार्णवमुखं प्रक्षिप्य पितरि प्रभाम्॥ ६२॥
प्रतियातस्ततो ब्रह्मा ये च सर्वे महर्षयः। और्वस्याग्नेः प्रभां ज्ञात्वा स्वां स्वां गतिमुपाश्रिताः॥ ६३॥

ब्रह्माने कहा—विप्रवर! समुद्रमें स्थित वडवाके मुखमें इसका निवास होगा और मेरे उत्पत्तिस्थानभूत जलको यह सुखपूर्वक पान करेगा। जहाँ मै जलमय हविका पान करता हुआ नियत रूपसे निवास करता हूँ, वही हवि और वही स्थान मै तुम्हारे पुत्रके लिये भी दे रहा हूँ। पुत्र! तत्पश्चात् युगान्तके समय यह और मैं—दोनों एक साथ होकर पुत्रहीन प्राणियोंको पितृ-ऋणसे मुक्त करते हुए विचरण करेंगे। इस प्रकार मैने इस अग्निको जलभक्षी तथा अन्तकालमें देवता, असुर और राक्षसोंसहित समस्त प्राणियोंको दग्ध कर देनेवाला बना दिया। यह सुनकर ऊर्वने 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' कहकर ब्रह्म-वाणीका अनुमोदन किया। तदुपरान्त ज्वाला-मण्डलसे घिरा हुआ वह अग्नि अपनी कान्तिको पिता ऊर्वमे निहित कर समुद्रके मुखमें प्रविष्ट हो गया। इसके बाद ब्रह्मा ब्रह्मलोकको चले गये और वहाँ उपस्थित सभी महर्षि और्व अग्निकी प्रभाका महत्त्व जानकर अपने-अपने स्थानको चले गये॥५८—६३॥

हिरण्यकशिपुर्दृष्ट्वा तदा तन्महदद्भुतम्। उच्चैः प्रणतसर्वाङ्गो वाक्यमेतदुवाच ह॥ ६४॥
भगवन्नद्भुतमिदं संवृत्तं लोकसाक्षिकम्। तपसा ते मुनिश्रेष्ठ परितुष्टः पितामहः॥ ६५॥
अहं तु तव पुत्रस्य तव चैव महाव्रत। भृत्य इत्यवगन्तव्यः साध्यो यदिह कर्मणा॥ ६६॥
तन्मां पश्य समापन्नं तवैवाराधने रतम्। यदि सीदेन्मुनिश्रेष्ठ तवैव स्यात्पराजयः॥ ६७॥

तदनन्तर उस महान् अद्भुत प्रसङ्गको देखकर हिरण्यकशिपु ऊर्व मुनिको साष्टाङ्ग प्रणामकर उच्चस्वरसे इस प्रकार बोला—'भगवन्! यह तो अत्यन्त अद्भुत घटना घटित हुई। सारा जगत् इसका साक्षी है। मुनिश्रेष्ठ! आपकी तपस्यासे पितामह ब्रह्मा संतुष्ट हो गये हैं। महाव्रत! आप ऐसा समझिये कि मैं आपका तथा आपके पुत्रका भृत्य हूँ, अतः यहाँ जो कुछ कार्य हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये। मुझे अपना शरणागत समझिये। मैं आपकी ही आराधनामें निरत हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इसपर भी यदि मैं कष्ट पाता हूँ तो यह आपकी ही पराजय होगी' ॥ ६४–६७ ॥

ऊर्व उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य तेऽहं गुरुः स्थितः। नास्ति मे तपसानेन भयमद्येह सुव्रत ॥ ६८ ॥
तामेव मायां गृह्णीष्व मम पुत्रेण निर्मिताम्। निरिन्धनामग्निमयीं दुर्धर्षां पावकैरपि ॥ ६९ ॥
एषा ते स्वस्य वंशस्य वशगारिविनिग्रहे। संरक्षत्यात्मपक्षं च विपक्षं च प्रधर्षति ॥ ७० ॥
एवमस्त्विति तां गृह्य प्रणम्य मुनिपुंगवम्। जगाम त्रिदिवं हृष्टः कृतार्थो दानवेश्वरः ॥ ७१ ॥
एषा दुर्विषहा माया देवैरपि दुरासदा। और्वेण निर्मिता पूर्वं पावकेनोर्वसूनुना ॥ ७२ ॥
तस्मिंस्तु व्युत्थिते दैत्ये निर्वीर्यैषा न संशयः। शापो ह्यस्याः पुरा दत्तः सृष्टा येनैव तेजसा ॥ ७३ ॥
यद्येषा प्रतिहन्तव्या कर्तव्यो भगवान् सुखी। दीयतां मे सखा शक्र तोययोनिर्निशाकरः ॥ ७४ ॥
तेनाहं सह संगम्य यादोभिश्च समावृतः। मायामेतां हनिष्यामि त्वत्प्रसादान्न संशयः ॥ ७५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामयसंग्रामे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

ऊर्वने कहा—सुव्रत! यदि मैं तुम्हारे गुरुके रूपमें स्थित हूँ तो मैं धन्य हो गया। तुमने मुझपर महान् अनुग्रह किया। अब तुम्हें मेरी इस तपस्याके बलसे जगत्में किसी प्रकारका भय नहीं है। इसके लिये तुम मेरे पुत्रद्वारा निर्मित उसी मायाको ग्रहण करो, जो इन्धनरहित होनेपर भी अग्निमयी और अग्नियोंद्वारा भी दुर्धर्ष है। शत्रुओंका निग्रह करते समय यह माया तुम्हारे निजी वंशके वशमे रहेगी। यह आत्मपक्षका संरक्षण और विपक्षका विनाश करेगी। यह सुनकर दानवेश्वर हिरण्यकशिपुने 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' यों कहकर उस मायाको ग्रहणकर मुनिश्रेष्ठ ऊर्वको प्रणाम किया और वह कृतार्थ होकर प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गको चला गया। (वरुण कहते हैं—) यह वही माया है, जो असह्य और देवताओंके लिये भी दुर्गम्य है। इसे पूर्वकालमें ऊर्वके पुत्र और्व अग्निने निर्मित किया था। उस हिरण्यकशिपु दैत्यके मर जानेपर निःसंदेह यह माया शक्तिहीन हो जायगी; क्योंकि यह जिसके तेजसे उत्पन्न हुई थी, उन ऊर्व ऋषिने इसे पहले ही ऐसा शाप दे रखा है। अतः शक्र! यदि आप इसका विनाश करके सबको सुखी करना चाहते हैं तो जलके उत्पत्ति-स्थान चन्द्रमाको मुझे सखारूपमें प्रदान कीजिये। जल-जन्तुओंसे घिरा हुआ मै उनके साथ रहकर आपकी कृपासे इस मायाको नष्ट कर डालूँगा—इसमे संशय नहीं है ॥ ६८–७५ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकामयसंग्राममे एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७५ ॥

एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय

चन्द्रमाकी सहायतासे वरुणद्वारा और्वाग्नि-मायाका प्रशमन, मयद्वारा शैली-मायाका प्राकट्य, भगवान् विष्णुके आदेशसे अग्नि और वायुद्वारा उस मायाका निवारण तथा कालनेमिका रणभूमिमें आगमन

मत्स्य उवाच

एवमस्त्विति संहृष्टः शक्रस्त्रिदशवर्धनः। संदिदेशाग्रतः सोमं युद्धाय शिशिरायुधम्॥ १॥
गच्छ सोम सहायत्वं कुरु पाशधरस्य वै। असुराणां विनाशाय जयार्थं च दिवौकसाम्॥ २॥
त्वं मत्तः प्रतिवीर्यश्च ज्योतिषां चेश्वरेश्वरः। त्वन्मयं सर्वलोकेषु रसं रसविदो विदुः॥ ३॥
क्षयवृद्धी तव व्यक्ते सागरस्येव मण्डले। परिवर्तस्यहोरात्रं कालं जगति योजयन्॥ ४॥
लोकच्छायामयं लक्ष्म तवाङ्कः शशसंनिभः। न विदुः सोम देवापि ये च नक्षत्रयोनयः॥ ५॥
त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरि स्थितः। तमः प्रोत्सार्य महसा भासयस्यखिलं जगत्॥ ६॥
श्वेतभानुर्हिमतनुर्ज्योतिषामधिपः शशी। अब्दिकृत्कालयोगात्मा इष्टो यज्ञरसोऽव्ययः॥ ७॥
ओषधीशः क्रियायोनिर्हरशेखरभाक् तथा। शीतांशुरमृताधारश्चपलः श्वेतवाहनः॥ ८॥
त्वं कान्तिः कान्तिवपुषां त्वं सोमः सोमपायिनाम्। सौम्यस्त्वं सर्वभूतानां तिमिरघ्नस्त्वमृक्षराट्॥ ९॥
तद् गच्छ त्वं महासेन वरुणेन वरूथिना। शमय त्वासुरीं मायां यया दह्याम संयुगे॥ १०॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—देवताओंकी वृद्धि करनेवाले इन्द्र परम प्रसन्न हुए और 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' यों कहकर सर्वप्रथम शीतायुध चन्द्रमाको युद्धके लिये आदेश देते हुए बोले—'सोम! आप जाइये और असुरोंके विनाश तथा देवताओंकी विजयके निमित्त पाशधारी वरुणकी सहायता कीजिये। आप मुझसे भी बढ़कर पराक्रमी और ज्योतिर्गणोंके अधीश्वर हैं। रसज्ञ लोग सम्पूर्ण लोकोंमें जितने रस हैं, उन्हें आपसे ही युक्त मानते हैं। आपके मण्डलमें सागरकी तरह क्षय और वृद्धि स्पष्टरूपसे होती रहती है। आप जगत्में कालका योग करते हुए दिन-रातका परिवर्तन करते रहते हैं। आपका चिह्न लोककी छायासे युक्त है। आप मृगलाञ्छन हैं। सोम! जो नक्षत्रोंके उत्पत्ति-कर्ता हैं, वे देवता भी आपकी महिमाको नहीं जानते। आप सूर्यके मार्गसे ऊपर सभी ज्योतिर्गणोंके ऊपरी भागमें स्थित हैं और अपने तेजसे अन्धकारको दूर कर सम्पूर्ण जगत्को उद्भासित करते हैं। आप श्वेतभानु, हिमतनु, ज्योतियोंके अधीश्वर, शशलाञ्छन, कालयोग-स्वरूप, अग्निहोत्र-वेदाध्ययन आदि कर्मरूप, यज्ञके परिणामभूत, अविनाशी, ओषधियोंके स्वामी, कर्मके उत्पादक, शिवजीके मस्तकपर स्थित, शीतल किरणों-वाले, अमृतके आश्रयस्थान, चञ्चल और श्वेतवाहन हैं। आप ही सौन्दर्यशाली व्यक्तियोंके सौन्दर्य हैं और आप ही सोम-पान करनेवालोंके लिये सोम हैं। आपका स्वभाव समस्त प्राणियोंके लिये सौम्य है। आप अन्धकारके विनाशक और नक्षत्रोंके स्वामी हैं। इसलिये महासेन! आप कवचधारी वरुणके साथ जाइये और उस आसुरी मायाको शान्त कीजिये, जिससे हमलोग युद्धस्थलमें जल रहे हैं' ॥ १—१०॥

सोम उवाच

यन्मां वदसि युद्धार्थे देवराज वरप्रद। एष वर्षामि शिशिरं दैत्यमायापकर्षणम्॥ ११॥
एतान् मच्छीतनिर्दग्धान् पश्य त्वं हिमवेष्टितान्। विमायान् विमदांश्चैव दैत्यसिंहान् महाहवे॥ १२॥
तेषां हिमकरोत्सृष्टाः सपाशा हिमवृष्टयः। वेष्टयन्ति स्म तान् घोरान् दैत्यान् मेघगणा इव॥ १३॥
तौ पाशशीतांशुधरौ वरुणेन्दू महाबलौ। जघ्नतुर्हिमपातैश्च पाशपातैश्च दानवान्॥ १४॥

द्वावम्बुनाथौ समरे तौ पाशहिमयोधिनौ। मृधे चेरतुरम्भोभिः क्षुब्धाविव महार्णवौ ॥ १५ ॥
ताभ्यामाप्लावितं सैन्यं तद्दानवमदृश्यत। जगत्संवर्तकाम्भोदैः प्रविष्टैरिव संवृतम् ॥ १६ ॥
तावुद्यताम्बुनाथौ तु शशाङ्कवरुणावुभौ। शमयामासतुर्मायां देवौ दैत्येन्द्रनिर्मिताम् ॥ १७ ॥
शीतांशुजालनिर्दग्धाः पाशैश्च स्पन्दिता रणे। न शेकुश्चलितुं दैत्या विशिरस्का इवाद्रयः ॥ १८ ॥
शीतांशुनिहतास्ते तु दैत्यास्तोयहिमार्दिताः। हिमाप्लावितसर्वाङ्गा निरूष्माण इवाग्नयः ॥ १९ ॥
तेषां तु दिवि दैत्यानां विपरीतप्रभाणि वै। विमानानि विचित्राणि प्रपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ २० ॥

सोमने कहा—वरदायक देवराज ! यदि आप मुझे युद्धके लिये आदेश देते हैं तो मै अभी दैत्योंकी मायाका विनाश करनेवाले शिशिरकी वर्षा करता हूँ। आप इस भीषण युद्धमे मेरेद्वारा प्रयुक्त किये गये शीतसे जले हुए, हिमपरिवेष्टित, माया और गर्वसे रहित इन दैत्यसिंहोको देखिये। फिर तो वरुणके पाशसहित चन्द्रमाद्वारा छोड़ी गयी हिमवृष्टिने उन भयंकर दैत्योंको मेघसमूहकी तरह घेर लिया। वे दोनो महाबली पाशधारी वरुण और शीतांशु चन्द्रमा पाश और हिमके प्रहारसे दानवोका संहार करने लगे। वे दोनों जलके स्वामी और समरमे पाश एवं हिमके द्वारा युद्ध करनेवाले थे, अतः वे रणभूमिमे जलसे क्षुब्ध हुए दो महासागरकी भाँति विचरण करने लगे। उन दोनोंके द्वारा जलमग्न की गयी हुई दानवोकी वह सेना उमड़े हुए संवर्तक नामक बादलोंसे आच्छादित जगत्‌की तरह दीख रही थी। इस प्रकार जलके स्वामी उन दोनों देवता चन्द्रमा और वरुणने दैत्येन्द्रद्वारा निर्मित मायाको शान्त कर दिया। रणभूमिमे शीतल किरण-समूहोंसे जले हुए तथा पाशोंसे जकडे हुए दैत्यगण शिखररहित पर्वतोंकी तरह चलनेमे भी असमर्थ हो गये। शीतांशुके आघातसे उन दैत्योके सर्वाङ्ग हिमसे आप्लावित हो गये और वे जलकी ठण्ढकसे ठिठुर गये। इस प्रकार वे गरमीरहित अग्निकी तरह दीख रहे थे। आकाशमण्डलमे विचरनेवाले उन दैत्योके विचित्र विमानोंकी कान्ति विपरीत हो गयी और वे लड़खडाकर गिरने-पड़ने लगे ॥ ११—२० ॥

तान् पाशहस्तग्रथितांश्छादिताञ् शीतरश्मिभिः। मयो ददर्श मायावी दानवान् दिवि दानवः ॥ २१ ॥
स शिलाजालविततां खड्गचर्माट्टहासिनीम्। पादपोत्कटकूटाग्रां कन्दराकीर्णकाननाम् ॥ २२ ॥
सिंहव्याघ्रगणाकीर्णां नदद्भिर्गजयूथपैः। ईहामृगगणाकीर्णां पवनाघूर्णितद्रुमाम् ॥ २३ ॥
निर्मितां स्वेन यत्नेन कूजितां दिवि कामगाम्। प्रथितां पार्वतीं मायामसृजत्स समन्ततः ॥ २४ ॥
सासिशब्दैः शिलावर्षैः सम्पतद्भिश्च पादपैः। जघान देवसङ्घांश्च दानवांश्चाप्यजीवयत् ॥ २५ ॥
नैशाकरी वारुणी च मायेऽन्तर्दधतुस्ततः। असिभिश्चायसगणैः किरन् देवगणान् रणे ॥ २६ ॥
साश्मयन्त्रायुधघना द्रुमपर्वतसङ्कटा। अभवद् घोरसंचारा पृथिवी पर्वतैरिव ॥ २७ ॥
अश्मना प्रहताः केचिच्छिलाभिः शकलीकृताः। नानिरुद्धो द्रुमगणैर्देवोऽदृश्यत कश्चन ॥ २८ ॥
तदपध्वस्तधनुषं भग्नप्रहरणाविलम्। निष्प्रयत्नं सुरानीकं वर्जयित्वा गदाधरम् ॥ २९ ॥
स हि युद्धगतः श्रीमानीशो न स्म व्यकम्पत। सहिष्णुत्वाज्जगत्स्वामी न चुक्रोध गदाधरः ॥ ३० ॥
कालज्ञः कालमेघाभः समीक्षन् कालमाहवे। देवासुरविमर्दं तु द्रष्टुकामस्तदा हरिः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जब मायावी मय दानवने आकाशमे उन दानवोको वरुणके पाशद्वारा बँधे हुए तथा शीतल किरणोंद्वारा आच्छादित देखा, तब उसने चारो ओर सुप्रसिद्ध पार्वती मायाकी सृष्टि की, जो शिलासमूहसे व्याप्त तथा ढाल-तलवारसे युक्त हो अट्टहास करनेवाली थी, जिसका अग्रभाग घने वृक्षोंसे आच्छादित होनेके कारण भयंकर था, जो कन्दराओंसे व्याप्त काननोसे युक्त, सिंहो, व्याघ्रो, चिग्घाड़ते हुए गजयूथो और

भेड़ियोंसे परिपूर्ण थी, जिसके वृक्ष वायुके झकोरेसे चक्कर काट रहे थे, जो अपने ही प्रयत्नसे निर्मित, घोर शब्द करनेवाली और आकाशमें स्वेच्छानुसार गमन करनेवाली थी। वह पार्वती-माया तलवारोंकी खनखनाहट, शिलाओंकी वृष्टि और गिरते हुए वृक्षोंसे देवसमूहोंका संहार करने लगी। उधर उसने दानवोंको जीवित भी कर दिया। उसके प्रभावसे चन्द्रमा और वरुणकी दोनों मायाएँ अन्तर्हित हो गयीं। वह दैत्य रणभूमिमें देवगणोंके ऊपर तलवारों और लोहनिर्मित अन्यान्य अस्त्रोंका प्रयोग कर रहा था। उसने रणभूमिको शिलाओं, यन्त्रों, अस्त्रों, वृक्षों और पर्वतोंसे ऐसा सघनरूपसे पाट दिया कि वहाँकी पृथ्वी पर्वतोंकी तरह चलने-फिरनेके लिये दुर्गम हो गयी। उस समय कुछ देवता पत्थरोंसे आहत कर दिये गये, कुछ शिलाओंकी मारसे खण्ड-खण्ड कर दिये गये तथा कोई भी देवता ऐसा नहीं दीख रहा था, जो वृक्षसमूहोंसे ढक न गया हो। इस प्रकार एकमात्र भगवान् गदाधरको छोड़कर देवताओंकी उस सेनाके धनुष छिन्न-भिन्न हो गये, अस्त्रसमूह नष्ट हो गये और वह प्रयत्नहीन हो गयी। शोभाशाली परमेश्वर गदाधर युद्धस्थलमें उपस्थित होनेपर भी विचलित नहीं हुए तथा सहनशील होनेके कारण उन जगदीश्वरको क्रोध भी नहीं आया। काले मेघकी-सी कान्तिवाले कालके ज्ञाता श्रीहरि रणभूमिमें देवताओं और असुरोंके युद्धको देखनेकी इच्छासे कालकी प्रतीक्षा करते हुए स्थित थे ॥ २१—३१ ॥

ततो भगवता दृष्टौ रणे पावकमारुतौ। चोदितौ विष्णुवाक्येन तौ मायामपकर्षताम् ॥ ३२ ॥
ताभ्यामुद्भ्रान्तवेगाभ्यां प्रवृद्धाभ्यां महाहवे। दग्धा सा पार्वती माया भस्मीभूता ननाश ह ॥ ३३ ॥
सोऽनिलोऽनलसंयुक्तः सोऽनलश्चानिलाकुलः। दैत्यसेनां ददहतुर्युगान्तेष्विव मूर्च्छितौ ॥ ३४ ॥
वायुः प्रधावितस्तत्र पश्चादग्निस्तु मारुतम्। चेरतुर्दानवानीके क्रीडन्तावनिलानलौ ॥ ३५ ॥
भस्मावयवभूतेषु प्रपतत्सूत्पतत्सु च। दानवानां विमानेषु निपतत्सु समन्ततः ॥ ३६ ॥
वातस्कन्धापविद्धेषु कृतकर्मणि पावके। मायाबन्धे निवृत्ते तु स्तूयमाने गदाधरे ॥ ३७ ॥
निष्प्रयत्नेषु दैत्येषु त्रैलोक्ये मुक्तबन्धने। सम्प्रहृष्टेषु देवेषु साधु साध्विति सर्वशः ॥ ३८ ॥
जये दशशताक्षस्य दैत्यानां च पराजये। दिक्षु सर्वासु शुद्धासु प्रवृत्ते धर्मविस्तरे ॥ ३९ ॥
अपावृते चन्द्रमसि स्वस्थानस्थे दिवाकरे। प्रकृतिस्थेषु लोकेषु त्रिषु चारित्रबन्धुषु ॥ ४० ॥
यजमानेषु भूतेषु प्रशान्तेषु च पाप्मसु। अभिन्नबन्धने मृत्यौ हूयमाने हुताशने ॥ ४१ ॥
यज्ञशोभिषु देवेषु स्वर्गार्थं दर्शयत्सु च। लोकपालेषु सर्वेषु दिक्षु संयानवर्तिषु ॥ ४२ ॥
भावे तपसि सिद्धानामभावे पापकर्मणाम्। देवपक्षे प्रमुदिते दैत्यपक्षे विषीदति ॥ ४३ ॥
त्रिपादविग्रहे धर्मे अधर्मे पादविग्रहे। अपावृत्ते महाद्वारे वर्तमाने च सत्पथे ॥ ४४ ॥
लोके प्रवृत्ते धर्मेषु सुधर्मेष्वाश्रमेषु च। प्रजारक्षणयुक्तेषु भ्राजमानेषु राजसु ॥ ४५ ॥
प्रशान्तकल्मषे लोके शान्ते तमसि दानवे। अग्निमारुतयोस्तत्र वृत्ते संग्रामकर्मणि ॥ ४६ ॥
तन्मया विपुला लोकास्ताभ्यां कृतजयक्रिया।

तदनन्तर रणभूमिमें भगवान्‌को अग्नि और वायु दीख पड़े। तब भगवान् विष्णुने उन्हें प्रेरित किया कि तुम दोनों इस मायाको नष्ट कर डालो। तब वृद्धिकी अन्तिम सीमापर पहुँचे हुए उन प्रचण्ड वेगशाली वायु और अग्निके प्रभावसे उस महासमरमें वह पार्वती माया जलकर भस्म हो गयी और सर्वथा नष्ट हो गयी। इसके बाद अग्निसे संयुक्त वायु और वायुसे संयुक्त अग्नि—दोनों पूरी शक्ति लगाकर युगान्तकी तरह दैत्यसेनाको भस्म करने लगे। आगे-आगे वायुदेव चलते थे, फिर वायुदेवके पीछे अग्निदेव चलते थे। इस प्रकार अग्नि और वायु उस दानव-सेनामें क्रीडा करते हुए विचरण कर रहे थे। दानवोंकी सेना जलती हुई इधर-उधर

भागने लगी और विमान चारो ओर जलकर गिरने लगे । दानवोके कंधे वायुसे अकड़ गये । इस प्रकार अग्निद्वारा अपना कर्म कर चुकनेपर मायाका बन्धन निवृत्त हो गया, भगवान् गदाधरकी स्तुति की जाने लगी, दैत्यगण प्रयत्नहीन हो गये, त्रिलोकी बन्धनसे मुक्त हो गयी, परम प्रसन्न हुए देवगण सब ओर 'ठीक है, ठीक है' ऐसा शब्द बोलने लगे । इन्द्रकी विजय और दैत्योंकी पराजय हो गयी, सभी दिशाएँ शुद्ध हो गयीं, धर्मका विस्तार होने लगा ।' चन्द्रमाका आवरण हट गया, सूर्य अपने स्थानपर स्थित हो गये, तीनो लोक निश्चिन्त हो गये, लोगोंमें चरित्रबल और बन्धुत्व-की भावना जाग्रत् हो गयी, सभी प्राणी यज्ञकी भावनासे पूर्ण हो गये, पापोका प्रशमन हो गया, मृत्युका बन्धन सुदृढ़ हो गया, अग्निमें आहुतियाँ पड़ने लगीं, यज्ञोंमें शोभा पानेवाले देवगण स्वर्गकी प्राप्तिके हेतु मार्गदर्शन करने लगे, लोकपालगण सभी दिशाओंके लिये प्रस्थित हो गये, सिद्धोंकी भावना तपस्यामें संलग्न हो गयी, पापकर्मोका अभाव हो गया, देवपक्षमें आनन्द मनाया जाने लगा, दैत्यपक्षमें उदासी छा गयी, धर्म तीन चरणोसे स्थित हुआ और अधर्मका एक चरण रह गया, महाद्वार (यममार्ग) बंद हो गया और सन्मार्गका प्रचार होने लगा, सभी लोग अपने-अपने वर्णधर्म एवं आश्रमधर्ममे प्रवृत्त हो गये, राजाओका दल प्रजाकी रक्षामें तत्पर होकर सुशोभित होने लगा, दानवरूपी तमोगुणके शान्त हो जानेपर जगत्मे पापका विनाश हो गया । इस प्रकार अग्नि और वायुद्वारा युद्धकर्म किये जानेपर सभी विशाल लोक उन्हींसे युक्त हो गये और उन्हींके द्वारा यह विजयकी क्रिया सम्पन्न हुई ॥

पूर्वं दैत्यभयं श्रुत्वा मारुताग्निकृतं महत् ॥ ४७ ॥
कालनेमीति विख्यातो दानवः प्रत्यदृश्यत । भास्कराकारमुकुटः शिञ्जिताभरणाङ्गदः ॥ ४८ ॥
मन्दराद्रिप्रतीकाशो महारजतपर्वतः । शतप्रहरणोदग्रः शतबाहुः शताननः ॥ ४९ ॥
शतशीर्षः स्थितः श्रीमाञ्छतशृङ्ग इवाचलः । पक्षे महति संवृद्धो निदाघ इव पावकः ॥ ५० ॥
धूम्रकेशो हरिच्छ्मश्रुः संदष्टौष्ठपुटाननः । त्रैलोक्यान्तरविस्तारि धारयन् विपुलं वपुः ॥ ५१ ॥
बाहुभिस्तुलयन् व्योम क्षिपन् पद्भ्यां महीधरान् । ईरयन् मुखनिःश्वासैर्वृष्टियुक्तान् वलाहकान् ॥ ५२ ॥
तिर्यगायतरक्ताक्षं मन्दरोदग्रवर्चसम् । दिधक्षन्तमिवायान्तं सर्वान् देवगणान् मृधे ॥ ५३ ॥
तर्जयन्तं सुरगणांश्छादयन्तं दिशो दश । संवर्तकाले तृषितं दृष्टं मृत्युमिवोत्थितम् ॥ ५४ ॥
सुतलेनोच्छ्रयवता विपुलाङ्गुलिपर्वणा । लम्बाभरणपूर्णेन किंचिच्चलितवर्मणा ॥ ५५ ॥
उच्छ्रितेनाग्रहस्तेन दक्षिणेन वपुष्मता । दानवान् देवनिहतानुत्तिष्ठध्वमिति ब्रुवन् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर दैत्योंके लिये वायु और अग्निद्वारा उत्पन्न किये गये महान् भयको सुनकर सर्वप्रथम कालनेमि नामसे विख्यात दानव (युद्धभूमिमें) दिखायी पड़ा । वह सुवर्णसे युक्त मन्दराचलके समान विशालकाय था, उसके मस्तकपर सूर्य-सरीखा मुकुट चमक रहा था, वह मधुर शब्द करते हुए बाजूबंदसे विभूषित था, उसके सौ बाहु, सौ मुख और सौ मस्तक थे, वह परम भयानक सौ अस्त्रोंको एक साथ धारण किये हुए था, इस प्रकार वह सौ शिखरोंवाले पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था, दैत्योके विशाल पक्षमें आगे बढ़ा हुआ वह दानव ग्रीष्मकालीन अग्निकी तरह दीख रहा था, उसके बाल धूमिल थे, उसकी दाढ़ी हरे रंगकी थी, वह दाँतोंसे होठोको दबाये हुए मुखसे युक्त था, इस प्रकार वह समूची त्रिलोकीमें विस्तृत विशाल शरीर धारण किये हुए था । वह भुजाओसे आकाशको नापता हुआ, पैरोंसे पर्वतोको फेंकता हुआ और मुखके निःश्वाससे जलयुक्त बादलोंको तितर-बितर करता हुआ चल रहा था । उसकी बड़ी-बड़ी लाल आँखें तिरछी मढ़ी हुई

थीं। वह मन्दराचलके समान परम तेजस्वी था। वह युद्धस्थलमें समस्त देवगणोंको जलाते हुएकी तरह आ रहा था। वह देवगणोंको भयभीत कर रहा था, दसों दिशाओंको आच्छादित किये हुए था और प्रलयकालमें प्रकट हुए प्यासे मृत्युकी तरह दीख रहा था। जो सुतलसे निकला था, जिसकी अंगुलियोंके पर्व (पोरु) विशाल थे, जो आभरणोंसे युक्त था, जिसका कवच कुछ हिल रहा था और जिसके दाहिने हाथका अग्रभाग उठा हुआ था, ऐसे शरीरसे युक्त कालनेमिने देवताओंद्वारा मारे गये दानवोंसे कहा—'अब तुमलोग उठकर खड़े हो जाओ' ॥ ४७–५६ ॥

तं कालनेमिं समरे द्विषतां कालचेष्टिनम्। वीक्षन्ते स्म सुराः सर्वे भयवित्रस्तलोचनाः॥ ५७॥
तं वीक्षन्ति स्म भूतानि क्रमन्तं कालनेमिनम्। त्रिविक्रमं विक्रमन्तं नारायणमिवापरम्॥ ५८॥
सोऽत्युच्छ्रयपुरःपादमारुताघूर्णिताम्बरः। प्रकामन्नसुरो युद्धे त्रासयामास देवताः॥ ५९॥
स मयेनासुरेन्द्रेण परिष्वक्तस्ततो रणे। कालनेमिर्बभौ दैत्यः सविष्णुरिव मन्दरः॥ ६०॥
अथ विव्यथिरे देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः। कालनेमिं समायान्तं दृष्ट्वा कालमिवापरम्॥ ६१॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामययुद्धे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७६॥

इस प्रकार समरभूमिमें शत्रुओंके प्रति कालकी-सी भीषण चेष्टा करनेवाले उस कालनेमिकी ओर सभी देवता एकटक निहारने लगे। उस समय उनके नेत्र भयसे कातर हो रहे थे। समस्त प्राणी चलते हुए उस कालनेमिको इस प्रकार देख रहे थे मानो तीन पगसे त्रिलोकीको नापनेके लिये चलते हुए दूसरे नारायण हों। अत्यन्त विशाल शरीरवाले कालनेमिके चलते हुए पैरोंकी वायुसे आकाश चक्कर-सा काटने लगता था, इस प्रकार वह असुर युद्धभूमिमें विचरण करता हुआ देवताओंको भयभीत करने लगा। तदुपरान्त रणक्षेत्रमें असुरराज मयने कालनेमिका आलिङ्गन किया। उस समय वह दैत्य विष्णुसहित मन्दराचलके समान सुशोभित हो रहा था। तदनन्तर इन्द्र आदि सभी देवता दूसरे कालकी तरह कालनेमिको आया हुआ देखकर अत्यन्त व्यथित हो गये॥ ५७–६१॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके तारकामययुद्धमें एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १७६॥

एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय

देवताओं और दैत्योंकी सेनाओंकी अद्भुत मुठभेड़, कालनेमिका भीषण पराक्रम और उसकी देवसेनापर विजय

मत्स्य उवाच

दानवानामनीकेषु कालनेमिर्महासुरः। व्यवर्धत महातेजास्तपान्ते जलदो यथा॥ १॥
तं त्रैलोक्यान्तरगतं दृष्ट्वा ते दानवेश्वराः। उत्तस्थुरपरिश्रान्ताः पीत्वामृतमनुत्तमम्॥ २॥
ते वीतभयसंत्रासा मयतारपुरोगमाः। तारकामयसंग्रामे सततं जितकाशिनः॥ ३॥
रेजुरायोधनगता दानवा युद्धकाङ्क्षिणः। मन्त्रमभ्यसतां तेषां व्यूहं च परिधावताम्॥ ४॥
प्रेक्षतां चाभवत् प्रीतिर्दानवं कालनेमिनम्। ये तु तत्र मयस्यासन् मुख्या युद्धपुरःसराः॥ ५॥
ते तु सर्वे भयं त्यक्त्वा हृष्टा योद्धुमुपस्थिताः। मयस्तारो वराहश्च हयग्रीवश्च वीर्यवान्॥ ६॥
विप्रचित्तिसुतः श्वेतः खरलम्बावुभावपि। अरिष्टो बलिपुत्रश्च किशोराख्यस्तथैव च॥ ७॥

स्वर्भानुश्चामरप्रख्यो वक्त्रयोधी महासुरः। एतेऽस्त्रवेदिनः सर्वे सर्वे तपसि सुस्थिताः॥ ८॥
दानवाः कृतिनो जग्मुः कालनेमिं तमुद्धतम्। ते गदाभिर्भुशुण्डीभिश्चक्रैरथ परश्वधैः॥ ९॥
कालकल्पैश्च मुसलैः क्षेपणीयैश्च मुद्गरैः। अश्मभिश्चाद्रिसदृशैर्गण्डशैलैश्च दारुणैः॥ १०॥
पट्टिशैर्भिन्दिपालैश्च परिघैश्चोत्तमायसैः। घातनीभिः सुगुर्वीभिः शतघ्नीभिस्तथैव च॥ ११॥
युगैर्यन्त्रैश्च निर्मुक्तैर्मार्गणैरुग्रताडितैः। दोर्भिश्चायतदीप्तैश्च प्रासैः पाशैश्च मूर्च्छनैः॥ १२॥
भुजङ्गवक्त्रैर्लेलिहानैर्विसर्पद्भिश्च सायकैः। वज्रैः प्रहरणीयैश्च दीप्यमानैश्च तोमरैः॥ १३॥
विकोशैरसिभिस्तीक्ष्णैः शूलैश्च शितनिर्मलैः। दैत्याः संदीप्तमनसः प्रगृहीतशरासनाः॥ १४॥
ततः पुरस्कृत्य तदा कालनेमिं महाहवे। सा दीप्तशस्त्रप्रवरा दैत्यानां रुरुचे चमूः॥ १५॥
द्यौर्निमीलितसर्वाङ्गा घनानीलाम्बुदागमे।

मत्स्यभगवान्ने कहा—रविनन्दन! महान् तेजस्वी महासुर कालनेमि दानवोंकी सेनामे उसी प्रकार वृद्धिंगत होने लगा, जैसे ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें बादल उमड़ पड़ते हैं। तब वे सभी दानव यूथपति काल नेमिको त्रिलोकीमे व्याप्त देखकर श्रमरहित हो गये और सर्वोत्तम अमृतका पान कर उठ खड़े हुए। उनके भय और त्रास समाप्त हो चुके थे। वे तारकामय संग्राममे मय और तारकको आगे रखकर सदा विजयी होते रहे हैं। युद्धाभिलाषी वे दानव युद्धभूमिमे उपस्थित होकर शोभा पा रहे थे। उनमे कुछ परस्पर मन्त्रणा कर रहे थे, कुछ व्यूहकी रचना कर रहे थे और कुछ रक्षकके रूपमे थे। उन सबका कालनेमि दानवके प्रति प्रगाढ प्रेम हो गया। तत्पश्चात् वहाँ मय दानवके जितने मुख्य-मुख्य युद्धके अगुआ थे, वे सभी भय छोड़कर हर्षपूर्वक युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए। फिर मय, तारक, वराह, पराक्रमी हयग्रीव, विप्रचित्तिका पुत्र श्वेत, खर, लम्ब, बलिका पुत्र अरिष्ट, किशोर और देवरूपसे प्रसिद्ध मुखसे युद्ध करनेवाला महान् असुर स्वर्भानु—ये सभी अस्त्रवेत्ता थे और सभी तपोबलसे सम्पन्न थे। वे सभी सफलप्रयत्नवाले दानव उस उद्दण्ड कालनेमिके निकट गये। गदा, भुशुण्डि, चक्र, कुठार, काल-सदृश मुसल, क्षेपणीय (ढेलवाँस), मुद्गर, पर्वत-सदृश पत्थर, भीषण गण्डशैल, पट्टिश, भिन्दिपाल, उत्तम लोहेके बने हुए परिघ, संहारकारिणी बड़ी-बड़ी तोप, यन्त्र, हाथोंसे छूटनेपर भयानक चोट करनेवाले बाण, लम्बे चमकीले भाले, पाश, मूर्च्छन (बेहोश करनेका यन्त्र), रेंगते हुए जीभ लपलपानेवाले सर्पमुख बाण, फेंकने योग्य वज्र, चमचमाते हुए तोमर, म्यानसे बाहर निकली हुई तीखी तलवार और तीखे निर्मल शूलोंसे युक्त तथा धनुष धारण करनेवाले उन दैत्योंके मन उत्साहसे सम्पन्न थे, वे उस महासमरमे कालनेमिको आगे करके खड़े हो गये। उस समय देदीप्यमान शस्त्रोंसे युक्त दैत्योंकी वह सेना इस प्रकार शोभा पा रही थी मानो सघन नील बादलोंके छा जानेपर सर्वथा आच्छादित हुआ आकाशमण्डल हो॥ १—१५½॥

देवतानामपि चमूर्मुमुदे शक्रपालिता॥ १६॥
उपेतसितकृष्णाभ्यां ताराभ्यां चन्द्रसूर्ययोः। वायुवेगवती सौम्या तारागणपताकिनी॥ १७॥
तोयदाविद्धवसना ग्रहनक्षत्रहासिनी। यमेन्द्रवरुणैर्गुप्ता धनदेन च धीमता॥ १८॥
सम्प्रदीप्ताग्निनयना नारायणपरायणा। सा समुद्रौघसदृशी दिव्या देवमहाचमूः॥ १९॥
रराजास्त्रवती भीमा यक्षगन्धर्वशालिनी। तयोश्चम्वोस्तदानीं तु बभूव स समागमः॥ २०॥
द्यावापृथिव्योः संयोगो यथा स्याद् युगपर्यये। तद् युद्धमभवद् घोरं देवदानवसंकुलम्॥ २१॥
क्षमापराक्रमपरं दर्पस्य विनयस्य च। निश्चक्रमुर्बलाभ्यां तु भीमास्तत्र सुरासुराः॥ २२॥
पूर्वापराभ्यां संरब्धाः सागराभ्यामिवाम्बुदाः। ताभ्यां बलाभ्यां संहृष्टाश्चेरुस्ते देवदानवाः॥ २३॥
वनाभ्यां पार्वतीयाभ्यां पुष्पिताभ्यां यथा गजाः।

दूसरी ओर इन्द्रद्वारा सुरक्षित देवताओंकी सेना भी अट्टहास कर रही थी। वह चन्द्रमा और सूर्यकी श्वेत और कृष्ण ताराओंसे युक्त, वायुकी-सी वेगशालिनी, सौम्य और तारागणको पताकारूपमें धारण करनेवाली थी। उसके वस्त्र बादलोंसे संयुक्त थे। वह ग्रहों और नक्षत्रोंका उपहास-सी कर रही थी। बुद्धिमान् कुबेर, यम, इन्द्र और वरुण उसकी रक्षा कर रहे थे। वह प्रज्वलित अग्निरूप नेत्रोंवाली और नारायणके आश्रित थी। इस प्रकार यक्षों एवं गन्धर्वोंसे युक्त सागरसमूहकी तरह भयंकर देवताओंकी वह विशाल दिव्य सेना अस्त्र धारण किये हुए शोभा पा रही थी। उस समय उन दोनों सेनाओंका ऐसा समागम हुआ जैसे प्रलयकालमें पृथ्वी और आकाशमण्डलका संयोग होता है। देवताओं और दानवोंसे व्याप्त तथा दर्प और विनयकी क्षमा और पराक्रमसे युक्त वह युद्ध अत्यन्त भयंकर हो गया। वहाँ दोनों सेनाओंमेंसे कुछ ऐसे भयंकर देवता और राक्षस निकल रहे थे, जो पूर्वी एवं पश्चिमी सागरोंसे निकलते हुए संक्षुब्ध बादलों-जैसे प्रतीत हो रहे थे। उन दोनों सेनाओंसे निकले हुए वे देवता और दानव इस प्रकार हर्षपूर्वक विचरण कर रहे थे, मानो खिले हुए पुष्पोंसे युक्त पर्वतीय वनोंसे गजराज निकल रहे हों ॥ १६–२३½ ॥

समाजघ्नुस्ततो भेरीः शङ्खान् दध्मुरनेकशः ॥ २४ ॥
स शब्दो द्यां भुवं खं च दिशश्च समपूरयत्। ज्याघाततलनिर्घोषो धनुषां कूजितानि च ॥ २५ ॥
दुन्दुभीनां च निनदो दैत्यमन्तर्दधुः स्वनम्। तेऽन्योन्यमभिसम्पेतुः पातयन्तः परस्परम् ॥ २६ ॥
बभञ्जुर्बाहुभिर्बाहून् द्वन्द्वमन्ये युयुत्सवः। देवास्तु चाशनिं घोरं परिघांश्चोत्तमायसान् ॥ २७ ॥
निस्त्रिंशान् ससृजुः संख्ये गदा गुर्वीश्च दानवाः। गदानिपातैर्भग्नाङ्गा बाणैश्च शकलीकृताः ॥ २८ ॥
परिपेतुर्भृशं केचित् पुनः केचित् तु जघ्निरे। ततो रथैः सतुरगैर्विमानैश्चाशुगामिभिः ॥ २९ ॥
समीयुस्ते सुसंरब्धा रोषादन्योन्यमाहवे। संवर्तमानाः समरे संदष्टौष्ठपुटाननाः ॥ ३० ॥
रथा रथैर्निरुद्ध्यन्ते पादाताश्च पदातिभिः। तेषां रथानां तुमुलः स शब्दः शब्दवाहिनाम् ॥ ३१ ॥
नभोनभश्च हि यथा नभस्यैर्जलदस्वनैः। बभञ्जुस्तु रथान् केचित् केचित् सम्मर्दिता रथैः ॥ ३२ ॥
सम्बाधमन्ये सम्प्राप्य न शेकुश्चलितुं रथाः। अन्योन्यमन्ये समरे दोर्भ्यामुत्क्षिप्य दंशिताः ॥ ३३ ॥
संह्रादमानाभरणा जघ्नुस्तत्रापि चर्मिणः।

तदनन्तर नगाड़ोंपर चोटें पड़ने लगीं और अनेकों शङ्ख बज उठे। वह शब्द अन्तरिक्ष, पृथ्वी, आकाश और दिशाओंमें व्याप्त हो गया। धनुषोंकी प्रत्यञ्चा चढ़ानेके शब्द तथा सैनिकोंके कोलाहल होने लगे। देवताओंकी दुन्दुभियोंका निनाद दैत्योंके वाद्यशब्दको पराभूत कर दिया। फिर तो वे एक-दूसरेपर टूट पड़े और परस्पर एक-दूसरेको मारकर गिराने लगे। कुछ द्वन्द्व-युद्ध करनेवाले वीर अपनी भुजाओंसे शत्रुकी भुजाओं-को मरोड़ दिये। रणभूमिमें देवगण भयंकर अशनि और उत्तम लोहेके बने हुए परिघोंसे प्रहार कर रहे थे तो दानवगण भारी गदाओं और खड्गोंका प्रयोग कर रहे थे। गदाके आघातसे बहुतोंके अङ्ग चूर हो गये। कुछ लोग तो बाणोंकी चोटसे टुकड़े-टुकड़े हो गये। कुछ अत्यन्त घायल होकर धराशायी हो गये। कुछ पुनः उठकर प्रहार करने लगे। तदनन्तर वे क्रोधसे विक्षुब्ध हो रणभूमिमें घोड़े जुते रथों और शीघ्रगामी विमानोंद्वारा एक-दूसरेसे भिड़ गये। युद्ध करते समय वे क्रोधवश अपने होठोंको दाँतों-तले दबाये हुए थे। इस प्रकार रथ रथोंके साथ तथा पैदल पैदलोंके साथ उलझ गये। शब्द करनेवाले उन रथोंका ऐसा भयंकर शब्द होने लगा मानो भाद्रपदमासमें बादल गरज रहे हों। कुछ लोग रथोंको तोड़ रहे थे और कुछ लोग रथोंके धक्केसे रौंदे जा चुके थे। दूसरे रथ मार्गके अवरुद्ध हो जानेके कारण आगे बढ़नेमें असमर्थ हो गये। कुछ कवचधारी

वीर समरभूमिमें एक-दूसरेको दोनों हाथोंसे उठाकर भूतलपर पटक देते थे। उस समय उनके आभूषण खनखना रहे थे। वहाँ कुछ ढाल धारण करनेवाले दूसरे अस्त्रोंद्वारा भी विपक्षियोंपर प्रहार कर रहे थे ॥ २४–३३½ ॥

अस्त्रैरन्ये विनिर्भिन्ना वेमू रक्तं हता युधि ॥ ३४ ॥
क्षरज्जलानां सदृशा जलदानां समागमे। तैरस्त्रशस्त्रग्रथितं क्षिप्तोत्क्षिप्तगदाविलम् ॥ ३५ ॥
देवदानवसंक्षुब्धं संकुलं युद्धमाबभौ। तद्दानवमहामेघं देवायुधविराजितम् ॥ ३६ ॥
अन्योन्यबाणवर्षेण युद्धदुर्दिनमाबभौ। एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धः कालनेमी स दानवः ॥ ३७ ॥
व्यवर्धत समुद्रौघैः पूर्यमाण इवाम्बुदः। तस्य विद्युच्चलापीडैः प्रदीप्ताशनिवर्षिणः ॥ ३८ ॥
गात्रैर्नगगिरिप्रख्या विनिपेतुर्बलाहकाः। क्रोधान्निःश्वसतस्तस्य भ्रूभेदस्वेदवर्षिणः ॥ ३९ ॥
साग्निस्फुलिङ्गप्रतता मुखान्निष्पेतुरर्चिषः। तिर्यगूर्ध्वं च गगने ववृधुस्तस्य बाहवः ॥ ४० ॥
पर्वतादिव निष्क्रान्ताः पञ्चास्या इव पन्नगाः। सोऽस्त्रजालैर्बहुविधैर्धनुर्भिः परिघैरपि ॥ ४१ ॥
दिव्यमाकाशमावव्रे पर्वतैरुच्छ्रितैरिव। सोऽनिलोद्धूतवसनस्तस्थौ संग्रामलालसः ॥ ४२ ॥
संध्यातपग्रस्तशिलः साक्षान्मेरुरिवाचलः। ऊरुवेगप्रमथितैः शैलशृङ्गाग्रपादपैः ॥ ४३ ॥
अपातयद् देवगणान् वज्रेणेव महागिरीन्।

इसी प्रकार अन्य वीर युद्धस्थलमें अस्त्रोंद्वारा घायल होकर रक्त वमन करते हुए जलकी वृष्टि करनेवाले बादलोंकी तरह प्रतीत हो रहे थे। उस समय वह युद्ध अस्त्रों एवं शस्त्रोंसे परिपूर्ण, फेंकी गयी एवं फेंकनेके लिये उठायी हुई गदाओंसे युक्त और देवताओं एवं दानवोंसे व्याप्त और संक्षुब्ध होकर शोभा पा रहा था। दानवरूपी महामेघसे युक्त और देवताओंके हथियारोंसे विभूषित वह युद्ध परस्परकी बाणवर्षासे मेघाच्छन्न दुर्दिन-सा लग रहा था। इसी बीच क्रोधसे भरा हुआ कालनेमि नामक दानव रणभूमिमें आगे बढ़ा। वह समुद्रकी लहरोंसे पूर्ण होते हुए बादलकी तरह शोभा पा रहा था। प्रज्वलित वज्रोंकी वर्षा करनेवाले उस दानवके बिजलीके समान चञ्चल मस्तकोंसे युक्त शरीरावयवोंसे टकराकर हाथी और पर्वत-सदृश विशाल बादल तितर-बितर होकर बिखर रहे थे। क्रोधवश निःश्वास लेते हुए उसकी टेढ़ी भौंहोंसे पसीनेकी बूँदें टपक रही थीं और मुखसे अग्निकी चिनगारियोंसे व्याप्त लपटें निकल रही थीं। उसकी भुजाएँ आकाशमें तिरछी होकर ऊपरकी ओर बढ़ रही थीं, जो पर्वतसे निकले हुए पाँच मुखवाले नागकी तरह लग रही थीं। उसने ऊँचे-ऊँचे पर्वतों-सरीखे अनेक प्रकारके अस्त्रसमूहों, धनुषों और परिघोंसे दिव्य आकाशको आच्छादित कर दिया। वायुद्वारा उड़ाये जाते हुए वस्त्रोंवाला वह दानव संग्रामकी लालसासे डटकर खड़ा हुआ। उस समय वह संध्याकालीन धूपसे ग्रस्त हुई शिलासे युक्त साक्षात् मेरुपर्वतकी तरह दीख रहा था। उसने अपनी जंघाओंके वेगसे उखाड़े गये पर्वतशिखरके अग्रवर्ती वृक्षोंके प्रहारसे देवगणोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रके आघातसे विशाल पर्वत ढाह दिये गये थे ॥ ३४–४३½ ॥

बहुभिः शस्त्रनिस्त्रिंशैश्छिन्नभिन्नशिरोरुहाः ॥ ४४ ॥
न शेकुश्चलितुं देवाः कालनेमिहता युधि। मुष्टिभिर्निहताः केचित् केचित् तु विदलीकृताः ॥ ४५ ॥
यक्षगन्धर्वपतयः पेतुः सह महोरगैः। तेन वित्रासिता देवाः समरे कालनेमिना ॥ ४६ ॥
न शेकुर्यत्नवन्तोऽपि यत्नं कर्तुं विचेतसः। तेन शक्रः सहस्राक्षः स्यन्दितः शरबन्धनैः ॥ ४७ ॥
ऐरावतगतः संख्ये चलितुं न शशाक ह। निर्जलाम्भोदसदृशो निर्जलार्णवसप्रभः ॥ ४८ ॥
निर्व्यापारः कृतस्तेन विपाशो वरुणो मृधे। रणे वैश्रवणस्तेन परिघैः कामरूपिणा ॥ ४९ ॥

विरथोऽपि कृतः संख्ये निर्जितः कालनेमिना। यमः सर्वहरस्तेन मृत्युप्रहरणे रणे ॥ ५० ॥
यास्यामवस्थां संत्यज्य भीतः स्वां दिशमाविशत्। स लोकपालानुत्सार्य कृत्वा तेषां च कर्म तत् ॥ ५१ ॥
दिक्षु सर्वासु देहं स्वं चतुर्धा विदधे तदा। स नक्षत्रपथं गत्वा दिव्यं स्वर्भानुदर्शनम् ॥ ५२ ॥
जहार लक्ष्मीं सोमस्य तं चास्य विषयं महत्।

इस प्रकार रणभूमिमें कालनेमिद्वारा आहत हुए देवगण चलने-फिरनेमें भी असमर्थ हो गये। बहुत-से शस्त्रों तथा खड्गोंकी चोटसे कुछ लोगोंके सिरके बालतक छिन्न-भिन्न हो गये थे। कुछ मुक्कोंकी मारसे मार डाले गये और कुछके टुकडे-टुकडे कर दिये गये। यक्षों और गन्धर्वोंके नायक बड़े-बड़े नागोंके साथ पृथ्वीकी गोदमें पड़ गये। समरभूमिमें उस कालनेमिद्वारा भयभीत किये गये देवगण प्रयत्न करनेके लिये उद्यत होनेपर भी कोई उपाय न कर सके; क्योंकि उनका मन भ्रमित हो उठा था। उसने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रको भी बाणोंके बन्धनसे इस प्रकार जकड दिया था कि वे युद्धस्थलमें ऐरावतपर बैठे हुए भी चलनेमें समर्थ न हो सके। उसने समरभूमिमें वरुणको जलहीन बादल और निर्जल महासागरकी भाँति कान्तिहीन, व्यापाररहित और पाशसे शून्य कर दिया। स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उस दानवने रणभूमिमें परिघोंकी मारसे वैश्रवण कुबेरको भी जीत लिया। मृत्यु-सदृश प्रहार होनेवाले उस युद्धमें कालनेमिने सबके प्राणहर्ता यमको पराजित कर दिया। वे डरकर युद्धका परित्याग कर अपनी दक्षिण दिशाकी ओर चले गये। इस प्रकार उसने चारों लोकपालोंको पराजित कर दिया और अपने शरीरको चार भागोंमें विभक्त कर वह सभी दिशाओंमें उनका कार्य स्वयं सँभालने लगा। फिर जहाँ ग्रहणके समय राहुका दर्शन होता है, उस दिव्य नक्षत्रमार्गमें जाकर चन्द्रमाकी लक्ष्मी तथा उनके विशाल साम्राज्यका अपहरण कर लिया ॥ ४४-५२ ½ ॥

चालयामास दीप्तांशुं स्वर्गद्वारात् सभास्करम् ॥ ५३ ॥
सायनं चास्य विषयं जहार दिनकर्म च। सोऽग्निं देवमुखं दृष्ट्वा चकारात्ममुखाश्रयम् ॥ ५४ ॥
वायुं च तरसा जित्वा चकारात्मवशानुगम्। स समुद्रान् समानीय सर्वांश्च सरितो बलात् ॥ ५५ ॥
चकारात्ममुखे वीर्याद् देहभूताश्च सिन्धवः। अपः स्ववशगाः कृत्वा दिविजा याश्च भूमिजाः ॥ ५६ ॥
स स्वयम्भूरिवाभाति महाभूतपतिर्यथा। सर्वलोकमयो दैत्यः सर्वभूतभयावहः ॥ ५७ ॥
स लोकपालैकवपुश्चन्द्रादित्यग्रहात्मवान्। स्थापयामास जगतीं सुगुप्तां धरणीधरैः ॥ ५८ ॥
पावकानिलसम्पातो रराज युधि दानवः।
पारमेष्ठ्ये स्थितः स्थाने लोकानां प्रभवोपमे। तं तुष्टुवुर्दैत्यगणा देवा इव पितामहम् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे तारकामययुद्धं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

उसने प्रदीप्त किरणोंवाले सूर्यको स्वर्गद्वारसे खदेड़ दिया और उनके सायन नामक साम्राज्य और दिनकी सृष्टि करनेकी शक्तिको छीन लिया। उसने देवताओंके मुखस्वरूप अग्निको सम्मुख देखकर उन्हें अपने मुखमें निगल लिया तथा वायुको वेगपूर्वक जीतकर उन्हें अपना वशवर्ती बना लिया। उसने अपने पराक्रमसे बलपूर्वक समुद्रोंको वशमें करके सभी नदियोंको अपने मुखमें डाल लिया और सागरोंको शरीरका अङ्ग बना लिया। इस प्रकार स्वर्ग अथवा भूतलपर जितने जल थे, उन सबको उसने अपने अधीन कर लिया। उस समय समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला वह दैत्य सम्पूर्ण लोकोंसे युक्त होकर महाभूतपति ब्रह्माकी तरह सुशोभित हो रहा था। सम्पूर्ण लोकपालोंके एकमात्र मूर्तस्वरूप तथा चन्द्र, सूर्य आदि ग्रहोंसे युक्त उस दानवने पर्वतोंद्वारा सुरक्षित पृथ्वीको स्थापित किया। इस प्रकार अग्नि और वायुके समान वेगशाली दानवराज कालनेमि युद्धस्थलमें

लोकोंकी उत्पत्तिके स्थानभूत ब्रह्माके पदपर स्थित होकर शोभा पा रहा था। उस समय दैत्यगण उसकी उसी प्रकार स्तुति कर रहे थे, जैसे देवगण ब्रह्माकी किया करते हैं ॥ ५३—५९ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें तारकामय-युद्ध नामक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७७ ॥

एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय

कालनेमि और भगवान् विष्णुका रोषपूर्वक वार्तालाप और भीषण युद्ध, विष्णुके चक्रके द्वारा कालनेमिका वध और देवताओंको पुनः निज पदकी प्राप्ति

मत्स्य उवाच

पञ्च तं नाभ्यवर्तन्त विपरीतेन कर्मणा। वेदो धर्मः क्षमा सत्यं श्रीश्च नारायणाश्रया ॥ १ ॥
स तेषामनुपस्थानात् सक्रोधो दानवेश्वरः। वैष्णवं पदमन्विच्छन् ययौ नारायणान्तिकम् ॥ २ ॥
स ददर्श सुपर्णस्थं शङ्खचक्रगदाधरम्। दानवानां विनाशाय भ्रामयन्तं गदां शुभाम् ॥ ३ ॥
सजलाम्भोदसदृशं विद्युत्सदृशवाससम्। स्वारूढं स्वर्णपक्षाढ्यं शिखिनं काश्यपं खगम् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा दैत्यविनाशाय रणे स्वस्थमवस्थितम्। दानवो विष्णुमक्षोभ्यं बभाषे क्षुब्धमानसः ॥ ५ ॥
अयं स रिपुरस्माकं पूर्वेषां प्राणनाशनः। अर्णवावासिनश्चैव मधोर्वै कैटभस्य च ॥ ६ ॥
अयं स विग्रहोऽस्माकमशाम्यः किल कथ्यते। अनेन संयुगेष्वद्य दानवा बहवो हताः ॥ ७ ॥
अयं स निर्घृणो लोके स्त्रीबालनिरपत्रपः। येन दानवनारीणां सीमन्तोद्धरणं कृतम् ॥ ८ ॥
अयं स विष्णुर्देवानां वैकुण्ठश्च दिवौकसाम्। अनन्तो भोगिनामप्सु स्वपन्नाद्यः स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥
अयं स नाथो देवानामस्माकं व्यथितात्मनाम्। अस्य क्रोधं समासाद्य हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान् बोले—रविनन्दन! कालनेमिद्वारा विपरीत कर्म किये जानेके कारण वेद, धर्म, क्षमा, सत्य और नारायणके आश्रयमें रहनेवाली लक्ष्मी—ये पाँचों उसके अधीन नहीं हुए। उनके उपस्थित न होनेसे क्रोधसे भरा हुआ दानवेश्वर कालनेमि वैष्णव-पदकी प्राप्तिकी अभिलाषासे नारायणके निकट गया। वहाँ जाकर उसने शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान्‌को गरुडकी पीठपर बैठे तथा दैत्योंका विनाश करनेके लिये कल्याणमयी गदा घुमाते देखा। उनके शरीरकी कान्ति सजल मेघके समान थी। उनका पीताम्बर बिजलीके समान चमक रहा था। वे स्वर्णमय पंखसे युक्त शिखाधारी कश्यपनन्दन गरुडपर समासीन थे। इस प्रकार रणभूमिमें दैत्योंका विनाश करनेके लिये स्वस्थचित्तसे स्थित अक्षोभ्य भगवान् विष्णुको देखकर दानवराज कालनेमिका मन क्षुब्ध हो उठा, तब वह कहने लगा—'यही हमलोगोंके पूर्वजोंका प्राणनाशक शत्रु है तथा यही महासागरमें निवास करनेवाले मधु और कैटभका भी प्राणहर्ता है। हमलोगोंका यह विग्रह शान्त होनेका नहीं, ऐसा निश्चितरूपसे कहा जाता है। बहुतेरे युद्धोंमें इसके द्वारा बहुत-से दानव मारे जा चुके हैं। यह बड़ा निष्ठुर है। इसे जगतमें स्त्री-बच्चोंपर भी हाथ उठाते समय लज्जा नहीं आती। इसने बहुत-सी दानव-पत्नियोंके सोहागका उन्मूलन कर दिया है। यही देवताओंमें विष्णु, स्वर्गवासियोंमें वैकुण्ठ, नागोंमें अनन्त और जलमें शयन करनेवाला आदि स्वयम्भू है। यही देवताओंका स्वामी और व्यथित हृदयवाले हमलोगोंका शत्रु है। इसीके क्रोधमें पड़कर हिरण्यकशिपु मारे गये हैं ॥ १—१० ॥

अस्य छायामुपाश्रित्य देवा मखमुखे श्रिताः। आज्यं महर्षिभिर्दत्तमश्नुवन्ति त्रिधा हुतम् ॥ ११ ॥
अयं स निधने हेतुः सर्वेषाममरद्विषाम्। यस्य चक्रे प्रविष्टानि कुलान्यस्माकमाहवे ॥ १२ ॥
अयं स किल युद्धेषु सुरार्थे त्यक्तजीवितः। सवितुस्तेजसा तुल्यं चक्रं क्षिपति शत्रुषु ॥ १३ ॥
अयं स कालो दैत्यानां कालभूतः समास्थितः। अतिक्रान्तस्य कालस्य फलं प्राप्स्यति केशवः ॥ १४ ॥
दिष्ट्येदानीं समक्षं मे विष्णुरेष समागतः। अद्य मद्बाहुनिष्पिष्टो मामेव प्रणयिष्यति ॥ १५ ॥
यास्याम्यपचितिं दिष्ट्या पूर्वेषामद्य संयुगे। इमं नारायणं हत्वा दानवानां भयावहम् ॥ १६ ॥
क्षिप्रमेव हनिष्यामि रणेऽमरगणांस्ततः। जात्यन्तरगतो ह्येष बाधते दानवान् मृधे ॥ १७ ॥
एषोऽनन्तः पुरा भूत्वा पद्मनाभ इति श्रुतः। जघानैकार्णवे घोरे तावुभौ मधुकैटभौ ॥ १८ ॥
द्विधाभूतं वपुः कृत्वा सिंहस्यार्धं नरस्य च। पितरं मे जघानैको हिरण्यकशिपुं पुरा ॥ १९ ॥
शुभं गर्भमधत्तैनमदितिर्देवतारणिः। त्रींल्लोकानुज्जहारैकः क्रममाणस्त्रिभिः क्रमैः ॥ २० ॥
भूयस्त्विदानीं संग्रामे सम्प्राप्ते तारकामये। मया सह समागम्य सदेवो विनशिष्यति ॥ २१ ॥
एवमुक्त्वा बहुविधं क्षिपन्नारायणं रणे। वाग्भिरप्रतिरूपाभिर्युद्धमेवाभ्यरोचयत् ॥ २२ ॥

'इसी प्रकार इसीका आश्रय ग्रहण कर यज्ञके प्रारम्भमें स्थित देवगण महर्षियोंद्वारा तीन प्रकारकी आहुति-रूपमें दिये गये आज्यका उपभोग करते हैं। यही सभी देवद्रोही असुरोंकी मृत्युका कारण है। युद्धभूमिमें हमारे सभी कुल इसीके चक्रमें प्रविष्ट हो गये हैं। यह युद्धोंमें देवताओंके हितके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देता है और शत्रुओंपर सूर्यके समान तेजस्वी चक्रका प्रयोग करता है। यह दैत्योंके कालरूपसे यहाँ स्थित है, किंतु अब यह केशव अपने बीते हुए कालका फल भोगेगा। सौभाग्यवश यह विष्णु इस समय मेरे ही समक्ष आ गया है। यह आज मेरी भुजाओंसे पिसकर मुझसे ही प्रेम करेगा। सौभाग्यकी बात है कि आज मैं रणभूमिमें दानवोंको भयभीत करनेवाले इस नारायणका वध कर पूर्वजोंके प्रायश्चित्तको पूर्ण कर दूँगा। तत्पश्चात् रणमें शीघ्र ही देवताओंका संहार कर डालूँगा। यह अन्य जातियोंमें भी उत्पन्न होकर समरमें दानवोंको कष्ट पहुँचाता है। यही पूर्वकालमें अनन्त होकर पुनः पद्मनाभ नामसे विख्यात हुआ। इसने ही भयंकर एकार्णवके जलमें मधु-कैटभ नामक दोनों दैत्योंका वध किया था। इसने अपने शरीरको आधा सिंह और आधा मनुष्य—इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त करके पूर्वकालमें मेरे पिता हिरण्यकशिपुको मौतके घाट उतारा था। देवताओंकी जननी अदितिने इसीको अपने मङ्गलमय गर्भमें धारण किया था। अकेले इसीने तीन पगोंसे नापते हुए त्रिलोकीका उद्धार किया था। इस समय यह पुनः तारकामय संग्रामके प्राप्त होनेपर उपस्थित हुआ है। यह मेरे साथ उलझकर सभी देवताओंसहित नष्ट हो जायगा।' ऐसा कहकर उसने रणके मैदानमें प्रतिकूल वचनोंद्वारा अनेकों प्रकारसे नारायणपर आक्षेप करते हुए युद्धके लिये ही अभिलाषा व्यक्त की ॥ ११-२२ ॥

क्षिप्यमाणोऽसुरेन्द्रेण न चुकोप गदाधरः। क्षमाबलेन महता सस्मितं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥
अल्पं दर्पबलं दैत्य स्थिरमक्रोधजं बलम्। हतस्त्वं दर्पजैर्दोषैर्हित्वा यद् भाषसे क्षमाम् ॥ २४ ॥
अधीरस्त्वं मम मतो धिगेतत् तव वाग्बलम्। न यत्र पुरुषाः सन्ति तत्र गर्जन्ति योषितः ॥ २५ ॥
अहं त्वां दैत्य पश्यामि पूर्वेषां मार्गगामिनम्। प्रजापतिकृतं सेतुं भित्त्वा कः स्वस्तिमान् व्रजेत् ॥ २६ ॥
अद्य त्वां नाशयिष्यामि देवव्यापारघातकम्। स्वेषु स्वेषु च स्थानेषु स्थापयिष्यामि देवताः ॥ २७ ॥

भगवान् गदाधरमें क्षमाका महान् बल है, जिसके कारण असुरेन्द्रद्वारा इस प्रकार आक्षेप किये जानेपर भी वे कुपित नहीं हुए, अपितु मुसकराते हुए इस प्रकार बोले—'दैत्य! दर्पका बल अल्पकालस्थायी होता है, किंतु क्षमाजनित बल स्थिर होता है। तुम क्षमाका परित्याग करके जो इस प्रकारकी ऊटपटाँग बातें बक रहे हो, इससे प्रतीत होता है कि तुम अपने दर्पजन्य दोषोंसे नष्ट हो चुके हो। मेरी समझसे तो तुम बड़े अधीर दीख रहे हो। तुम्हारे इस वाग्बलको धिक्कार है; क्योंकि ऐसी गर्जना तो जहाँ पुरुष नहीं होते, वहाँ स्त्रियाँ भी करती हैं। दैत्य! मैं तुम्हें भी पूर्वजोंके मार्गका अनुगामी ही देख रहा हूँ। भला, ब्रह्माद्वारा स्थापित की गयी मर्यादाओंको तोड़कर कौन कुशलपूर्वक जीवित रह सकता है। अतः देवताओंके कार्योंमें बाधा पहुँचानेवाले तुम्हें मैं आज ही नष्ट कर डालूँगा और देवताओंको पुनः अपने-अपने स्थानोंपर स्थापित कर दूँगा।' ॥ २३—२७ ॥

एवं ब्रुवति वाक्यं तु मृधे श्रीवत्सधारिणि। जहास दानवः क्रोधाद्धस्तांश्चक्रे सहायुधान् ॥ २८ ॥
स बाहुशतमुद्यम्य सर्वास्त्रग्रहणं रणे। क्रोधाद् द्विगुणरक्ताक्षो विष्णुं वक्षस्यताडयत् ॥ २९ ॥
दानवाश्चापि समरे मयतारपुरोगमाः। उद्यतायुधनिस्त्रिंशा विष्णुमभ्यद्रवन् रणे ॥ ३० ॥
स ताड्यमानोऽतिबलैर्दैत्यैः सर्वोद्यतायुधैः। न चचाल ततो युद्धेऽकम्पमान इवाचलः ॥ ३१ ॥
संसक्तश्च सुपर्णेन कालनेमी महासुरः। सर्वप्राणेन महतीं गदामुद्यम्य बाहुभिः ॥ ३२ ॥
घोरां ज्वलन्तीं मुमुचे संरब्धो गरुडोपरि। कर्मणा तेन दैत्यस्य विष्णुर्विस्मयमाविशत् ॥ ३३ ॥
यदा तेन सुपर्णस्य पातिता मूर्ध्नि सा गदा। सुपर्णं व्यथितं दृष्ट्वा क्षतं च वपुरात्मनः ॥ ३४ ॥
क्रोधसंरक्तनयनो वैकुण्ठश्चक्रमाददे। व्यवर्धत स वेगेन सुपर्णेन समं विभुः ॥ ३५ ॥
भुजाश्चास्य व्यवर्धन्त व्याप्नुवन्तो दिशो दश। प्रदिशश्चैव खं गां वै पूरयामास केशवः ॥ ३६ ॥

रणभूमिमें श्रीवत्सधारी भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर दानवराज कालनेमि ठहाका मारकर हँस पड़ा और फिर उसने क्रोधवश हाथोंमें हथियार धारण कर लिया। क्रोधके कारण उसके नेत्र दुगुने लाल हो गये थे। उसने रणभूमिमें सभी प्रकारके अस्त्रोंको धारण करनेवाली अपनी सैकड़ों भुजाओंको उठाकर भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलपर प्रहार किया। इसी प्रकार मय, तारक आदि अन्यान्य दानव भी खड्ग आदि आयुध लेकर युद्धस्थलमें भगवान् विष्णुपर टूट पड़े। यद्यपि सभी प्रकारके अस्त्रोंसे युक्त अत्यन्त बली दैत्य उनपर प्रहार कर रहे थे, तथापि वे विचलित नहीं हुए, अपितु युद्धभूमिमें पर्वतकी तरह अटल बने रहे। तब महान् असुर कालनेमि गरुडके साथ उलझ गया। उसने अपनी विशाल गदाको हाथोंमें धारण कर ली और क्रोधमें भरकर पूरी शक्तिके साथ उस चमकती हुई भयंकर गदाको गरुडके ऊपर छोड़ दिया। इस प्रकार उसके द्वारा फेंकी गयी वह गदा जब गरुडके मस्तकपर जा गिरी, तब दैत्यके उस कर्मसे भगवान् विष्णु आश्चर्यचकित हो उठे। फिर गरुडको पीड़ित तथा अपने शरीरको क्षत-विक्षत देखकर उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। तब उन्होंने चक्र हाथमें उठाया। फिर तो वे सर्वव्यापी विष्णु गरुडके साथ वेगपूर्वक आगे बढ़े। उनकी भुजाएँ दसों दिशाओंमें व्याप्त होकर बढ़ने लगीं। इस प्रकार भगवान् केशवने प्रदिशाओं, आकाशमण्डल और भूतलको आच्छादित कर लिया ॥ २८—३६ ॥

ववृधे च पुनर्लोकान् क्रान्तुकाम इवौजसा। तर्जनायासुरेन्द्राणां वर्धमानं नभस्तले ॥ ३७ ॥
ऋषयश्चैव गन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्। सर्वान् किरीटेन लिहन् साभ्रमम्बरमम्बरैः ॥ ३८ ॥
पद्भ्यामाक्रम्य वसुधां दिशः प्रच्छाद्य बाहुभिः। स सूर्यकरतुल्याभं सहस्रारमरिक्षयम् ॥ ३९ ॥

दीप्ताग्निसदृशं घोरं दर्शनेन सुदर्शनम्। सुवर्णरेणुपर्यन्तं वज्रनाभं भयावहम्॥ ४०॥
मेदोऽस्थिमज्जारुधिरैः सिक्तं दानवसम्भवैः। अद्वितीयप्रहरणं क्षुरपर्यन्तमण्डलम्॥ ४१॥
स्रग्दामसालावितनं कामगं कामरूपिणम्। स्वयं स्वयम्भुवा सृष्टं भयदं सर्वविद्विषाम्॥ ४२॥
महर्षिरोषैराविष्टं नित्यमाहवदर्पितम्। क्षेपणाद् यस्य मुह्यन्ति लोकाः स्थाणुजङ्गमाः॥ ४३॥
क्रव्यादानि च भूतानि तृप्तिं यान्ति महामृधे। तमप्रतिमकर्माग्रं समानं सूर्यवर्चसा॥ ४४॥

पुनः वे अपने तेजसे लोकोंका अतिक्रमण करते हुए-से बढ़ने लगे। जिस समय वे आकाशमण्डलमें असुरेन्द्रोंको भयभीत करनेके लिये बढ़ रहे थे, उस समय ऋषिगण और गन्धर्व भगवान् मधुसूदनकी स्तुति कर रहे थे। वे अपने किरीटसे ऊपरी सभी लोकोंको तथा वस्त्रोंसे मेघसहित आकाशको छूते हुए पैरोंसे पृथ्वीको आक्रान्त करके और भुजाओंसे दिशाओंको आच्छादित करके स्थित थे। उनके चक्रकी कान्ति सूर्यकी किरणोंकी-सी उद्दीप्त थी। उसमें हजारों अरे लगे थे। वह शत्रुओंका विनाशक था। वह प्रज्वलित अग्निकी तरह भयंकर होनेपर भी देखनेमें परम सुन्दर था। सुवर्णकी रेणुकासे धूसरित, वज्रकी नाभिसे युक्त और अत्यन्त भयानक था। वह दानवोंके शरीरसे निकले हुए मेदा, अस्थि, मज्जा और रुधिरसे चुपड़ा हुआ था। वह अपने ढंगका अकेला ही अस्त्र था। उसके चारों ओर छुरे लगे हुए थे। वह माला और हारसे विभूषित था। वह अभीप्सित स्थानपर जानेवाला तथा स्वेच्छानुकूल रूप धारण करनेवाला था। स्वयं ब्रह्माने उसकी रचना की थी। वह सम्पूर्ण शत्रुओंके लिये भयदायक था तथा महर्षिके क्रोधसे परिपूर्ण और नित्य युद्धमें गर्वीला बना रहता था। उसका प्रयोग करनेसे स्थावर-जङ्गमसहित सभी प्राणी मोहित हो जाते हैं तथा महासमरमें मांसभोजी जीव तृप्तिको प्राप्त होते हैं। वह अनुपम कर्म करनेवाला, भयंकर और सूर्यके समान तेजस्वी था॥ ३७—४४॥

तस्थौ शक्रप्रियं छत्वा कृतकर्मा गदाधरः।

चक्रमुद्यम्य समरे क्रोधदीप्तो गदाधरः। स मुष्णन् दानवं तेजः समरे स्वेन तेजसा॥ ४५॥
चिच्छेद बाहूंश्चक्रेण श्रीधरः कालनेमिनः। तस्य वक्त्रशतं घोरं साग्निपूर्णाट्टहासि वै॥ ४६॥
तस्य दैत्यस्य चक्रेण प्रममाथ बलाद्धरिः। स च्छिन्नबाहुर्विशिरा न प्राकम्पत दानवः॥ ४७॥
कबन्धोऽवस्थितः संख्ये विशाख इव पादपः। संवितत्य महापक्षौ वायोः कृत्वा समं जवम्॥ ४८॥
उरसा पातयामास गरुडः कालनेमिनम्। स तस्य देहो विमुखो विबाहुश्च परिभ्रमन्॥ ४९॥
निपपात दिवं त्यक्त्वा क्षोभयन् धरणीतलम्। तस्मिन् निपतिते दैत्ये देवाः सर्षिगणास्तदा॥ ५०॥
साधुसाध्विति वैकुण्ठं समेताः प्रत्यपूजयन्। अपरे ये तु दैत्याश्च युद्धे दृष्टपराक्रमाः॥ ५१॥
ते सर्वे बाहुभिर्व्याप्ता न शेकुश्चलितुं रणे। कांश्चित् केशेषु जग्राह कांश्चित् कण्ठेषु पीडयन्॥ ५२॥
चकर्ष कस्यचिद् वक्त्रं मध्ये गृह्णादथापरम्। ते गदाचक्रनिर्दग्धा गतसत्त्वा गतासवः॥ ५३॥
गगनाद् भ्रष्टसर्वाङ्गा निपेतुर्धरणीतले। तेषु दैत्येषु सर्वेषु हतेषु पुरुषोत्तमः॥ ५४॥

क्रोधसे उद्दीप्त हुए भगवान् गदाधरने समरभूमिमें उस चक्रको उठाकर अपने तेजसे दानवके तेजको नष्ट कर दिया और फिर उन श्रीधरने चक्रद्वारा कालनेमिकी भुजाओंको काट डाला। तत्पश्चात् श्रीहरिने उस दैत्यके सौ मुखोंको, जो भयंकर, अग्निके समान तेजस्वी और अट्टहास कर रहे थे, बलपूर्वक चक्रके प्रहारसे काट डाला। इस प्रकार भुजाओं और सिरोंके कट जानेपर भी वह दानव विचलित नहीं हुआ, अपितु युद्धभूमिमें शाखाओंसे हीन वृक्षकी तरह कबन्धरूपसे स्थित रहा। तब गरुडने अपने विशाल पंखोंको फैलाकर और वायुके समान वेग भरकर अपनी छातीके धक्केसे कालनेमिके कबन्धको धराशायी कर दिया। मुखों और भुजाओंसे

हीन उसका वह शरीर चक्कर काटता हुआ स्वर्गलोकको छोड़कर भूतलको क्षुब्ध करता हुआ नीचे गिर पड़ा। उस दैत्यके गिर जानेपर ऋषियोंसहित देवगणोंने उस समय संगठित होकर भगवान् विष्णुको साधुवाद देते हुए उनकी पूजा की। दूसरे दैत्यगण, जो युद्धमें भगवान्के पराक्रमको देख चुके थे, वे सभी भगवान्की भुजाओंके वशीभूत हो रणभूमिमें चलने-फिरनेमें भी असमर्थ थे। भगवान्ने किन्हींको केश पकड़कर पटक दिया तो किन्हींको गला घोंटकर मार डाला। किसीका मुख फाड़ दिया तो दूसरेकी कमर तोड़ दी। इस प्रकार वे सभी गदाकी चोट और चक्रसे जल चुके थे, उनके पराक्रम नष्ट हो गये थे और शरीरके सभी अङ्ग चूर-चूर हो गये थे। वे प्राणरहित होकर आकाशसे भूतलपर गिर पड़े। इस प्रकार उन सभी दैत्योंके मारे जानेपर पुरुषोत्तम भगवान् गदाधर इन्द्रका प्रिय कार्य करके कृतार्थ हो शान्तिपूर्वक स्थित हुए॥ ४५—५४½॥

तस्मिन् विमर्दे संग्रामे निवृत्ते तारकामये॥ ५५॥
तं देशमाजगामाशु ब्रह्मा लोकपितामहः। सर्वैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं गन्धर्वाप्सरसां गणैः॥ ५६॥
देवदेवो हरिं देवं पूजयन् वाक्यमब्रवीत्।
कृतं देव महत् कर्म सुराणां शल्यमुद्धृतम्। वधेनानेन दैत्यानां वयं च परितोषिताः॥ ५७॥
योऽयं त्वया हतो विष्णो कालनेमी महासुरः। त्वमेकोऽस्य मृधे हन्ता नान्यः कश्चन विद्यते॥ ५८॥
एष देवान् परिभवँल्लोकांश्च सहासुरान्। ऋषीणां कदनं कृत्वा मामपि प्रति गर्जति॥ ५९॥
तदनेन तवाग्र्येण परितुष्टोऽस्मि कर्मणा। यदयं कालकल्पस्तु कालनेमी निपातितः॥ ६०॥
तदागच्छस्व भद्रं ते गच्छामः दिवमुत्तमम्। ब्रह्मर्षयस्त्वां तत्रस्थाः प्रतीक्षन्ते सदोगताः॥ ६१॥
किं चाहं तव दास्यामि वरं वरवतां वर। सुरेष्वथ च दैत्येषु वराणां वरदो भवान्॥ ६२॥
निर्यातयैतत् त्रैलोक्यं स्फीतं निहतकण्टकम्। अस्मिन्नेव मृधे विष्णो शक्राय सुमहात्मने॥ ६३॥
एवमुक्तो भगवता ब्रह्मणा हरिरव्ययः। देवाञ् शक्रमुखान् सर्वानुवाच शुभया गिरा॥ ६४॥

तदनन्तर उस भयानक तारकामय संग्रामके निवृत्त होनेपर लोकपितामह ब्रह्मा तुरत ही उस स्थानपर आये। उस समय उनके साथ सभी ब्रह्मर्षि थे तथा गन्धर्वो एवं अप्सराओंका समुदाय भी था। तब देवाधिदेव ब्रह्माने भगवान् श्रीहरिका आदर करते हुए इस प्रकार कहा—'देव! आपने बहुत बड़ा काम किया है। आपने तो देवताओंका काँटा ही उखाड़ दिया। दैत्योंके इस संहारसे हमलोग परम संतुष्ट हैं। विष्णो! आपने जो इस महान् असुर कालनेमिका वध किया है, यह आपके ही योग्य है; क्योंकि एकमात्र आप ही रणभूमिमें इसके वधकर्ता हैं, दूसरा कोई नहीं है। यह दानव देवताओं और असुरोंसहित समस्त लोकों और देवताओंको निरस्कृत करते हुए ऋषियोंका संहार कर मेरे पास भी आकर गर्जता था। इसलिये जो यह कालके समान भयंकर कालनेमि मारा गया, आपके इस श्रेष्ठ कर्मसे मैं भलीभाँति संतुष्ट हूँ। अतः आपका कल्याण हो, आइये, अब हमलोग उत्तम स्वर्गलोकमें चलें। वहाँ सभामें बैठे हुए ब्रह्मर्षिगण आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वरदानियोंमें श्रेष्ठ भगवन्! आप तो स्वयं ही देवताओं और दैत्योंके लिये श्रेष्ठ वरदायक हैं। ऐसी दशामें मैं आपको कौन-सा वर प्रदान करूँ? विष्णो! त्रिलोकीका यह समृद्धिशाली राज्य अब कण्टकरहित हो गया है, इसे आप इसी युद्धस्थलमें महात्मा इन्द्रको समर्पित कर दीजिये।' भगवान् ब्रह्माद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर अविनाशी श्रीहरि इन्द्र आदि सभी देवताओंसे मधुर वाणीमें बोले॥ ५५—६४॥

विष्णुरुवाच

शृण्वन्तु त्रिदशाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः। श्रवणावहितैः श्रोत्रैः पुरस्कृत्य पुरंदरम्॥ ६५॥
अस्माभिः समरे सर्वे कालनेमिमुखा हताः। दानवा विक्रमोपेताः शक्रादपि महत्तराः॥ ६६॥
अस्मिन् महति संग्रामे दैतेयौ द्वौ विनिःसृतौ। विरोचनश्च दैत्येन्द्रः स्वर्भानुश्च महाग्रहः॥ ६७॥
स्वां दिशं भजतां शक्रो दिशं वरुण एव च। याम्यां यमः पालयतामुत्तरां च धनाधिपः॥ ६८॥
ऋक्षैः सह यथायोगं गच्छतां चैव चन्द्रमाः। अब्दमृतुमुखे सूर्यो भजतामयनैः सह॥ ६९॥
आज्यभागाः प्रवर्तन्तां सदस्यैरभिपूजिताः। हूयन्तामग्नयो विप्रैर्वेददृष्टेन कर्मणा॥ ७०॥
देवाश्चाप्यग्निहोमेन स्वाध्यायेन महर्षयः। श्राद्धेन पितरश्चैव तृप्तिं यान्तु यथासुखम्॥ ७१॥
वायुश्चरतु मार्गस्थस्त्रिधा दीप्यतु पावकः। त्रींस्तु वर्णांश्च लोकांस्त्रींस्तर्पयन्नात्मजैर्गुणैः॥ ७२॥

भगवान् विष्णुने कहा—यहाँ आये हुए जितने देवता हैं, वे सभी इन्द्रको आगे करके सावधानीपूर्वक कान लगाकर मेरी बात सुनें। इस समरमें हमलोगोंने कालनेमि आदि सभी महान् पराक्रमी दानवोंको, जो इन्द्रसे भी बढ़कर बलशाली थे, मार डाला है; किंतु इस महान् संग्राममें दैत्येन्द्र विरोचन और महान् ग्रह राहु—ये दोनों दैत्य भाग निकले हैं। अब इन्द्र अपनी पूर्व दिशाकी रक्षा करें तथा वरुण पश्चिम दिशाकी, यम दक्षिण दिशाका और कुबेर उत्तर दिशाका पालन करें। चन्द्रमा नक्षत्रोंके साथ पूर्ववत् अपने स्थानको चले जायँ। सूर्य अयनोंके साथ ऋतुकालानुसार वर्षका उपभोग करें। यज्ञोंमें सदस्योंद्वारा अभिपूजित हो देवगण आज्यभाग ग्रहण करें। ब्राह्मणलोग वेदविहित कर्मानुसार अग्निमें आहुतियाँ डालें। देवगण अग्निहोत्रसे, महर्षिगण स्वाध्यायसे और पितृगण श्राद्धसे सुखपूर्वक तृप्ति-लाभ करें। वायु अपने मार्गसे प्रवाहित हों। अग्नि अपने गुणोंसे तीनों वर्णों और तीनों लोकोंको तृप्त करते हुए तीन भागोंमें विभक्त होकर प्रकाशित हों॥ ६५—७२॥

क्रतवः सम्प्रवर्तन्तां दीक्षणीयैर्द्विजातिभिः। दक्षिणाश्चोपपाद्यन्तां याज्ञिकेभ्यः पृथक् पृथक्॥ ७३॥
गां तु सूर्यो रसान् सोमो वायुः प्राणांश्च प्राणिषु। तर्पयन्तः प्रवर्तन्तां सर्व एव स्वकर्मभिः॥ ७४॥
यथावदानुपूर्व्येण महेन्द्रमलयोद्भवाः। त्रैलोक्यमातरः सर्वाः समुद्रं यान्तु सिन्धवः॥ ७५॥
दैत्येभ्यस्त्यज्यतां भीश्च शान्तिं व्रजत देवताः। स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ७६॥
स्वगृहे स्वर्गलोके वा संग्रामे वा विशेषतः। विश्रम्भो वो न मन्तव्यो नित्यं क्षुद्रा हि दानवाः॥ ७७॥
छिद्रेषु प्रहरन्त्येते न तेषां संस्थितिर्ध्रुवा। सौम्यानामृजुभावानां भवतामार्जवं धनम्॥ ७८॥
एवमुक्त्वा सुरगणान् विष्णुः सत्यपराक्रमः। जगाम ब्रह्मणा सार्धं स्वलोकं तु महायशाः॥ ७९॥
एतदाश्चर्यमभवत् संग्रामे तारकामये। दानवानां च विष्णोश्च यन्मां त्वं परिपृष्टवान्॥ ८०॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पद्मोद्भवप्रादुर्भावसंग्रहो नामाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७८॥

दीक्षित ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ हो। याज्ञिक ब्राह्मणोंको पृथक्-पृथक् दक्षिणाएँ दी जायँ। सूर्य पृथ्वीको, चन्द्रमा रसोंको और वायु प्राणियोंमें स्थित प्राणोंको तृप्त करते हुए सभी अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हों। महेन्द्र और मलय पर्वतसे निकलनेवाली त्रिलोकीकी मातास्वरूप सभी नदियाँ आनुपूर्वी पूर्ववत् समुद्रमें प्रविष्ट हों। देवगण! आपलोग दैत्योंसे प्राप्त होनेवाले भयको छोड़ दें और शान्ति धारण करें। आपलोगोंका कल्याण हो। अब मैं सनातन ब्रह्मलोकको जा रहा हूँ। आपलोगोंको अपने घरमें अथवा स्वर्गलोकमें अथवा विशेषकर संग्राममें दैत्योंका विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि दानव सदा क्षुद्र प्रकृतिवाले होते हैं। वे छिद्र पाकर तुरंत प्रहार कर बैठते हैं। उनकी स्थिति कभी निश्चित नहीं रहती। इधर सौम्य एवं कोमल स्वभाववाले

आपलोगोंका आर्जव ही धन है । महायशस्वी एवं सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णु देवगणोंसे ऐसा कहकर ब्रह्माके साथ अपने लोकको चले गये । राजन् ! दानवों और भगवान् विष्णुके मध्य घटित हुए तारकामय संग्राममें यही आश्चर्य हुआ था, जिसके विषयमें तुमने मुझसे प्रश्न किया था ॥ ७३–८० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें पद्मोद्भवप्रादुर्भावसंग्रह नामक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७८ ॥

एक सौ उनासीवाँ अध्याय

शिवजीके साथ अन्धकासुरका युद्ध, शिवजीद्वारा मातृकाओंकी सृष्टि, शिवजीके हाथों अन्धककी मृत्यु और उसे गणेशत्वकी प्राप्ति, मातृकाओंकी विध्वंसलीला तथा विष्णु-निर्मित देवियोंद्वारा उनका अवरोध

ऋषय ऊचुः

श्रुतः पद्मोद्भवस्तात विस्तरेण त्वयेरितः । समासाद् भवमाहात्म्यं भैरवस्याभिधीयताम् ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—तात ! आपके द्वारा विस्तारपूर्वक कहे गये पद्मोद्भवके प्रसङ्गको हमलोग सुन चुके, अब आप भैरवस्वरूप शंकरजीके माहात्म्यका संक्षेपसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सूत उवाच

तस्यापि देवदेवस्य शृणुध्वं कर्म चोत्तमम् । आसीद् दैत्योऽन्धको नाम भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ २ ॥
तपसा महता युक्तो ह्यवध्यस्त्रिदिवौकसाम् । स कदाचिन्महादेवं पार्वत्या सहितं प्रभुम् ॥ ३ ॥
क्रीडमानं तदा दृष्ट्वा हर्तुं देवीं प्रचक्रमे । तस्य युद्धं तदा घोरमभवत् सह शम्भुना ॥ ४ ॥
आवन्त्ये विषये घोरे महाकालवनं प्रति । तस्मिन् युद्धे तदा रुद्रश्चान्धकेनातिपीडितः ॥ ५ ॥
ससृजे बाणमत्युग्रं नाम्ना पाशुपतं हि तत् । रुद्रबाणविनिर्भेदाद् रुधिरादन्धकस्य तु ॥ ६ ॥
अन्धकाश्च समुत्पन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः । तेषां विदार्यमाणानां रुधिरादपरे पुनः ॥ ७ ॥
बभूवुरन्धका घोरा यैर्व्याप्तमखिलं जगत् । एवं मायाविनं दृष्ट्वा तं च देवस्तदान्धकम् ॥ ८ ॥
पानार्थमन्धकास्रस्य सोऽसृजन्मातरस्तदा ।

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! अच्छा, आपलोग देवाधिदेव शंकरजीके भी उत्तम कर्मको सुनिये । पूर्वकालमें अञ्जनसमूहके सदृश वर्णवाला अन्धक नामका एक दैत्य हुआ था । वह महान् तपोबलसे सम्पन्न था, इसी कारण देवताओंद्वारा अवध्य था । किसी समय उसकी दृष्टि पार्वतीके साथ क्रीडा करते हुए भगवान् शंकरपर पड़ी, तब वह पार्वती देवीका अपहरण करनेके लिये प्रयास करने लगा । उस समय अवन्ती-प्रदेशमें स्थित भयंकर महाकालवनमें उसका शंकरजीके साथ भीषण संग्राम हुआ । उस युद्धमें जब भगवान् रुद्र अन्धकद्वारा अत्यन्त पीडित कर दिये गये, तब उन्होंने अतिशय भयंकर पाशुपत नामक बाणको प्रकट किया । शंकरजीके उस बाणके आघातसे निकलते हुए अन्धकके रक्तसे दूसरे सैकड़ों-हजारों अन्धक उत्पन्न हो गये । पुनः उनके घायल शरीरोंसे बहते हुए रुधिरसे दूसरे भयंकर अन्धक प्रकट हुए, जिनके द्वारा सारा जगत् व्याप्त हो गया । तब उस अन्धकको इस प्रकारका मायावी जानकर भगवान् शंकरने उसके रक्तको पान करनेके लिये मातृकाओंकी सृष्टि की ॥ २–८½ ॥

माहेश्वरी तथा ब्राह्मी कौमारी मालिनी तथा ॥ ९ ॥
सौपर्णी चाथ वायव्या शाक्री वै नैर्ऋता तथा । सौरी सौम्या शिवा दूती चामुण्डा चाथ वारुणी ॥ १० ॥
वाराही नारसिंही च वैष्णवी च चलच्छिखा । शतानन्दा भगानन्दा पिच्छिला भगमालिनी ॥ ११ ॥

बला चातिबला रक्ता सुरभी मुखमण्डिका । मातृनन्दा सुनन्दा च बिडाली शकुनी तथा ॥ १२ ॥
रेवती च महारक्ता तथैव पिलपिच्छिका । जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता ॥ १३ ॥
काली चैव महाकाली दूती चैव तथैव च । सुभगा दुर्भगा चैव कराली नन्दिनी तथा ॥ १४ ॥
अदितिश्च दितिश्चैव मारी वै मृत्युरेव च । कर्णमोटी तथा ग्राम्या उलूकी च घटोदरी ॥ १५ ॥
कपाली वज्रहस्ता च पिशाची राक्षसी तथा । भुशुण्डी शाङ्करी चण्डा लाङ्गली कुटभी तथा ॥ १६ ॥
खेटा सुलोचना धूम्रा एकवीरा करालिनी । विशालदंष्ट्रिणी श्यामा त्रिजटी कुक्कुटी तथा ॥ १७ ॥
वैनायकी च वैनाली उन्मत्तोदुम्बरी तथा । सिद्धिश्च लेलिहाना च केकरी गर्दभी तथा ॥ १८ ॥
भ्रूकुटी बहुपुत्री च प्रेतयाना विडम्बिनी । क्रौञ्चा शैलमुखी चैव विनता सुरसा दनुः ॥ १९ ॥
उषा रम्भा मेनका च ललिता चित्ररूपिणी । स्वाहा स्वधा वषट्कारा धृतिर्ज्येष्ठा कपर्दिनी ॥ २० ॥
माया विचित्ररूपा च कामरूपा च सङ्गमा । मुखेविला मङ्गला च महानासा महामुखी ॥ २१ ॥
कुमारी रोचना भीमा सदाहा सा मदोद्धता । अलम्बाक्षी कालपर्णा कुम्भकर्णी महासुरी ॥ २२ ॥
केशिनी शंखिनी लम्बा पिङ्गला लोहितामुखी । घण्टारवाथ दंष्ट्राला रोचना काकजङ्घिका ॥ २३ ॥
गोकर्णिकाजमुखिका महाग्रीवा महामुखी । उल्कामुखी धूमशिखा कम्पिनी परिकम्पिनी ॥ २४ ॥
मोहना कम्पना क्ष्वेला निर्भया बाहुशालिनी । सर्पकर्णी तथैकाक्षी विशोका नन्दिनी तथा ॥ २५ ॥
ज्योत्स्नामुखी च रभसा निकुम्भा रक्तकम्पना । अविकारा महाचित्रा चन्द्रसेना मनोरमा ॥ २६ ॥
अदर्शना हरत्पापा मातङ्गी लम्बमेखला । अबाला वञ्चना काली प्रमोदा लाङ्गलावती ॥ २७ ॥
चित्ता चित्तजला कोणा शान्तिकाघविनाशिनी । लम्बस्तनी लम्बसटा विसटा वासचूर्णिनी ॥ २८ ॥
स्खलन्ती दीर्घकेशी च सुचिरा सुन्दरी शुभा । अयोमुखी कटुमुखी क्रोधनी च तथाशनी ॥ २९ ॥
कुटुम्बिका मुक्तिका च चन्द्रिका बलमोहिनी । सामान्या हासिनी लम्बा कोविदारी समासवी ॥ ३० ॥
शङ्कुकर्णी महानादा महादेवी महोदरी । हुंकारी रुद्रसुसटा रुद्रेशी भूतडामरी ॥ ३१ ॥
पिण्डजिह्वा चलज्ज्वाला शिवा ज्वालामुखी तथा । एताश्चान्याश्च देवेशः सोऽसृजन्मानरस्तदा ॥ ३२ ॥

उन (मातृकाओं)के नाम हैं—माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, मालिनी, सौपर्णी, वायव्या, शाक्री, नैर्ऋती, सौरी, सौम्या, शिवा, दूती, चामुण्डा, वारुणी, वाराही, नारसिंही, वैष्णवी, चलच्छिखा, शतानन्दा, भगानन्दा, पिच्छिला, भगमालिनी, बला, अतिबला, रक्ता, सुरभी, मुखमण्डिका, मातृनन्दा, सुनन्दा, बिडाली, शकुनी, रेवती, महारक्ता, पिलपिच्छिका, जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, काली, महाकाली, दूती, सुभगा, दुर्भगा, कराली, नन्दिनी, अदिति, दिति, मारी, मृत्यु, कर्णमोटी, ग्राम्या, उलूकी, घटोदरी, कपाली, वज्रहस्ता, पिशाची, राक्षसी, भुशुण्डी, शांकरी, चण्डा, लाङ्गली, कुटभी, खेटा, सुलोचना, धूम्रा, एकवीरा, करालिनी, विशालदंष्ट्रिणी, श्यामा, त्रिजटी, कुक्कुटी, वैनायकी, वैताली, उन्मत्तोदुम्बरी, सिद्धि, लेलिहाना, केकरी, गर्दभी, भ्रुकुटी, बहुपुत्री, प्रेतयाना, विडम्बिनी, क्रौञ्चा, शैलमुखी, विनता, सुरसा, दनु, उषा, रम्भा, मेनका, सल्लिला, चित्ररूपिणी, स्वाहा, स्वधा, वषट्कारा, धृति, ज्येष्ठा, कपर्दिनी, माया, विचित्ररूपा, कामरूपा, संगमा, मुखेविला, मङ्गला, महानासा, महामुखी, कुमारी, रोचना, भीमा, सदाहा, मदोद्धता, अलम्बाक्षी, कालपर्णी, कुम्भकर्णी, महासुरी, केशिनी, शंखिनी, लम्बा, पिंगला, लोहितामुखी, घण्टारवा, दंष्ट्राला, रोचना, काकजंघिका, गोकर्णिका, अजमुखिका, महाग्रीवा, महामुखी, उल्कामुखी, धूमशिखा, कम्पिनी, परिकम्पिनी, मोहना, कम्पना, क्ष्वेला, निर्भया, बाहुशालिनी, सर्पकर्णा, एकाक्षी, विशोका, नन्दिनी, ज्योत्स्नामुखी, रभसा, निकुम्भा, रक्तकम्पना, अविकारा, महाचित्रा, चन्द्रसेना, मनोरमा, अदर्शना, हरत्पापा, मातंगी, लम्बमेखला, अबाला, वञ्चना, काली,

प्रमोदा, लाङ्गलावती, चित्ता, चित्तजला, कोणा, शान्तिका, अघविनाशिनी, लम्बस्तनी, लम्बसटा, विसटा, वासचूर्णिनी, स्खलन्ती, दीर्घकेशी, सुचिरा, सुन्दरी, शुभा, अयोमुखी, कटुमुखी, क्रोधनी, अशनी, कुटुम्बिका, मुक्तिका, चन्द्रिका, बलमोहिनी, सामान्या, हासिनी, लम्बा, कोविदारी, समासवी, शङ्कुकर्णी, महानादा, महादेवी, महोदरी, हुंकारी, रुद्रसुसटा, रुद्रेशी, भूतडामरी, पिण्डजिह्वा, चलज्ज्वाला, शिवा तथा ज्वालामुखी। इनकी तथा इनके अतिरिक्त अन्यान्य मातृकाओंकी* देवेश्वर शंकरने उस समय सृष्टि की ॥ १–३२ ॥

अन्धकानां महाघोराः पपुस्तद्रुधिरं तदा। ततोऽन्धकासृजः सर्वाः परां तृप्तिमुपागताः ॥ ३३ ॥
तासु तृप्तासु सम्भूता भूय एवान्धकप्रजाः। अर्दितस्तैर्महादेवः शूलमुद्गरपाणिभिः ॥ ३४ ॥
ततः स शङ्करो देवस्त्वन्धकैर्व्याकुलीकृतः। जगाम शरणं देवं वासुदेवमजं विभुम् ॥ ३५ ॥
ततस्तु भगवान् विष्णुः सृष्टवान् शुष्करेवतीम्। या पपौ सकलं तेषामन्धकानामसृक् क्षणात् ॥ ३६ ॥
यथा यथा च रुधिरं पिबत्यन्धकसम्भवम्। तथा तथाधिकं देवी संशुष्यति जनाधिप ॥ ३७ ॥
पीयमाने तया तेषामन्धकानां तथासृजि। अन्धकास्तु क्षयं नीताः सर्वे ते त्रिपुरारिणा ॥ ३८ ॥
मूलान्धकं तु विक्रम्य तदा शर्वस्त्रिलोकधृक्। चकार वेगाच्छूलाग्रे स च तुष्टाव शङ्करम् ॥ ३९ ॥
अन्धकस्तु महावीर्यस्तस्य तुष्टोऽभवद् भवः। सामीप्यं प्रददौ नित्यं गणेशत्वं तथैव च ॥ ४० ॥
ततो मातृगणाः सर्वे शंकरं वाक्यमब्रुवन्।
भगवन् भक्षयिष्यामः सदेवासुरमानुषान्। त्वत्प्रसादाज्जगत्सर्वं तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४१ ॥

तदनन्तर उत्पन्न हुई इन महाभयावनी मातृकाओंने अन्धकोंके रक्तको चूस लिया। इस प्रकार अन्धकोंके रक्तका पान करनेसे इन सबको परम तृप्तिका अनुभव हुआ। उनके तृप्त हो जानेके पश्चात् पुनः अन्धककी संतानें उत्पन्न हुईं। उन्होंने हाथमें शूल और मुद्गर धारण करके पुनः महादेवजीको पीडित कर दिया। इस प्रकार जब अन्धकोंने भगवान् शंकरको व्याकुल कर दिया, तब वे सर्वव्यापी एवं अजन्मा भगवान् वासुदेवकी शरणमें गये। तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने शुष्करेवती नामवाली एक देवीको प्रकट किया, जिसने क्षणमात्रमें ही उन अन्धकोंके सम्पूर्ण रक्तको चूस लिया। जनेश्वर! वह देवी ज्यों-ज्यों अन्धकोंके शरीरसे निकले हुए रुधिरको पीती जाती थी, त्यों-त्यों वह अधिक क्षुधित एवं पिपासित होती जाती थी। इस प्रकार जब उस देवीद्वारा उन अन्धकोंका रक्त पान कर लिया गया, तब त्रिपुरारि शंकरने उन सभी अन्धकोंको कालके हवाले कर दिया। फिर त्रिलोकीको धारण करनेवाले भगवान् शंकरने जब वेगपूर्वक पराक्रम प्रकट करके प्रधान अन्धकको अपने त्रिशूलके अग्रभागका लक्ष्य बनाया, तब वह महापराक्रमी अन्धक शंकरजीकी स्तुति करने लगा। उसके स्तवन करनेसे भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये, तब उन्होंने उसे अपना नित्य सामीप्य तथा गणेशत्वका पद प्रदान कर दिया। यह देखकर सभी मातृकाएँ शंकरजीसे इस प्रकार बोलीं—'भगवन्! हमलोग आपकी कृपासे देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्को खा जाना चाहती हैं, इसके लिये आप हमलोगोंको आज्ञा देनेकी कृपा करें' ॥ ३३–४१ ॥

शंकर उवाच

भवतीभिः प्रजाः सर्वा रक्षणीया न संशयः। तस्माद् घोरादभिप्रायान्मनः शीघ्रं निवर्त्यताम् ॥ ४२ ॥
इत्येवं शंकरेणोक्तमनादृत्य वचस्तदा। भक्षयामासुरत्युग्रास्त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ४३ ॥

---

* अन्धकका वृत्तान्त शिव, सौरादि प्रायः दस पुराणोंमें भी है। पर इतनी संख्यामें मातृकाओंका वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं आया है।

त्रैलोक्यं भक्ष्यमाणं तु तदा मातृगणेन वै। नृसिंहमूर्तिं देवेशं प्रदध्यौ भगवाञ्शिवः ॥ ४४ ॥
अनादिनिधनं देवं सर्वलोकभवोद्भवम्। दैत्येन्द्रवक्षोरुधिरचर्चिताग्रमहानखम् ॥ ४५ ॥
विद्युज्जिह्वं महादंष्ट्रं स्फुरत्केसरकण्ठकम्। कल्पान्तमारुतक्षुब्धं सप्तार्णवसमस्वनम् ॥ ४६ ॥
वज्रतीक्ष्णनखं घोरमाकर्णव्यादिताननम्। मेरुशैलप्रतीकाशमुदयार्कसमेक्षणम् ॥ ४७ ॥
हिमाद्रिशिखराकारं चारुदंष्ट्रोज्ज्वलाननम्। नखनिःसृतरोषाग्निज्वालाकेसरमालिनम् ॥ ४८ ॥
बद्धाङ्गदं सुमुकुटं हारकेयूरभूषणम्। श्रोणीसूत्रेण महता काञ्चनेन विराजितम् ॥ ४९ ॥
नीलोत्पलदलश्यामं वासोयुगविभूषणम्। तेजसाक्रान्तसकलब्रह्माण्डागारमण्डलम् ॥ ५० ॥
पवनभ्राम्यमाणानां हुतहव्यवहार्चिषाम्। आवर्तसदृशाकारैः संयुक्तं देहलोमजैः ॥ ५१ ॥
सर्वपुष्पविचित्रां च धारयन्तं महास्रजम्। स ध्यातमात्रो भगवान् प्रददौ तस्य दर्शनम् ॥ ५२ ॥
यादृशेनैव रूपेण ध्यातो रुद्रेण धीमता। तादृशेनैव रूपेण दुर्निरीक्ष्येण दैवतैः ॥ ५३ ॥
प्रणिपत्य तु देवेशं तदा तुष्टाव शंकरः ॥ ५४ ॥

शंकरजीने कहा—देवियो! आपलोगोंको तो निःसंदेह सभी प्रजाओंकी रक्षा करनी चाहिये, अतः आपलोग शीघ्र ही उस घोर अभिप्रायसे अपने मनको लौटा लें। इस प्रकार शंकरजीद्वारा कहे गये वचनकी अवहेलना करके वे अत्यन्त निष्ठुर मातृकाएँ चराचरसहित त्रिलोकीको भक्षण करने लगीं। तब मातृकाओंद्वारा त्रिलोकीको भक्षित होते हुए देखकर भगवान् शिवने उन नृसिंहमूर्ति भगवान् विष्णुका ध्यान किया, जो आदि-अन्तसे रहित और सभी लोकोंके उत्पादक हैं, जिनके विशाल नखोंका अग्रभाग दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलके रुधिरसे चर्चित है, जिनकी जीभ बिजलीकी तरह लपलपाती रहती है और दाढ़ें विशाल हैं, जिनके कंधेके बाल हिलते रहते हैं, जो प्रलयकालीन वायुकी तरह क्षुब्ध और सप्तार्णवकी भाँति गर्जना करनेवाले हैं, जिनके नख वज्र-सदृश तीक्ष्ण हैं, जिनकी आकृति भयंकर है, जिनका मुख कानतक फैला हुआ है, जो सुमेरु पर्वतके समान चमकते रहते हैं, जिनके नेत्र उदयकालीन सूर्य-सरीखे उद्दीप्त हैं, जिनकी आकृति हिमालयके शिखर-जैसी है, जिनका मुख सुन्दर उज्ज्वल दाढ़ोंसे विभूषित है, जो नखोंसे निकलती हुई क्रोधाग्निकी ज्वालारूपी केसरसे युक्त रहते हैं, जिनकी भुजाओंपर अङ्गद बँधा रहता है, जो सुन्दर मुकुट, हार और केयूरसे विभूषित रहते हैं, विशाल स्वर्णमयी करधनीसे जिनकी शोभा होती है, जिनकी कान्ति नीले कमलदलके समान श्याम है, जो दो वस्त्र धारण किये रहते हैं और अपने तेजसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डलको आक्रान्त किये रहते हैं, वायुद्वारा घुमायी जाती हुई हवनयुक्त अग्निकी लपटोंकी भँवर-सदृश आकारवाले शरीर-रोमसे संयुक्त हैं तथा जो सभी प्रकारके पुष्पोंसे बनी हुई हवनयुक्त विचित्र एवं विशाल मालाको धारण करते हैं। ध्यान करते ही भगवान् विष्णु शिवजीके नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो गये। बुद्धिमान् शंकरने जिस प्रकारके रूपका ध्यान किया था, वे उसी रूपसे प्रकट हुए। उनका वह रूप देवताओंद्वारा भी दुर्निरीक्ष्य था। तब शंकरजी उन देवेश्वरको प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ४२—५४ ॥

शंकर उवाच

नमस्तेऽस्तु जगन्नाथ नरसिंहवपुर्धर। दैत्यनाथासृजापूर्णनखशक्तिविराजित ॥ ५५ ॥
ततः सकलसंलग्न हेमपिङ्गलविग्रह। नतोऽस्मि पद्मनाभ त्वां सुरशक्रजगद्गुरो ॥ ५६ ॥
कल्पान्ताम्भोदनिर्घोष सूर्यकोटिसमप्रभ। सहस्रयमसंक्रोध सहस्रेन्द्रपराक्रम ॥ ५७ ॥
सहस्रधनदस्फीत सहस्रवरुणात्मक। सहस्रकालरचित सहस्रनियतेन्द्रिय ॥ ५८ ॥

सहस्रभूमहाधैर्य सहस्रानन्तमूर्तिमन् । सहस्रचन्द्रप्रतिम सहस्रग्रहविक्रम ॥ ५९ ॥
सहस्ररुद्रतेजस्क सहस्रब्रह्मसंस्तुत ।
सहस्रबाहुवेगोग्र सहस्रास्यनिरीक्षण । सहस्रयन्त्रमथन सहस्रवधमोचन ॥ ६० ॥
अन्धकस्य विनाशाय याः सृष्टा मातरो मया । अनादृत्य तु मद्वाक्यं भक्षयन्त्यद्य ताः प्रजाः ॥ ६१ ॥
कृत्वा ताश्च न शक्तोऽहं संहर्तुमपराजित । स्वयं कृत्वा कथं तासां विनाशमभिकारये ॥ ६२ ॥

शंकरजी बोले—जगन्नाथ ! आप नरसिंहका शरीर धारण करनेवाले हैं और आपकी नखशक्ति दैत्यराज हिरण्यकशिपुके रक्तसे रञ्जित होकर सुशोभित होती है, आपको नमस्कार है । पद्मनाभ ! आप सर्वव्यापी हैं, आपका शरीर स्वर्णके समान पीला है और आप देवता, इन्द्र तथा जगत्के गुरु हैं, आपको प्रणाम है । आपका सिंहनाद प्रलयकालीन मेघोंके समान है, आपकी कान्ति करोड़ो सूर्योंके सदृश है, आपका क्रोध हजारों यमराजके तथा पराक्रम सहस्रों इन्द्रके समान है, आप हजारों कुबेरोंसे भी बढ़कर समृद्ध, हजारों वरुणोंके समान, हजारों कालोंद्वारा रचित और हजारों इन्द्रियनिग्रहियोंसे बढ़कर हैं, आपका धैर्य सहस्रों पृथ्वियोंसे भी उत्तम है, आप सहस्रों अनन्तोंकी मूर्ति धारण करनेवाले, सहस्रों चन्द्रमा-सरीखे सौन्दर्यशाली और सहस्रों ग्रहों-सदृश पराक्रमी हैं, आपका तेज हजारों रुद्रोंके समान है, हजारों ब्रह्मा आपकी स्तुति करते हैं, आप हजारों बाहु, मुख और नेत्रवाले हैं, आपका वेग अत्यन्त उग्र है, आप सहस्रों यन्त्रोंको एक साथ तोड़ डालनेवाले तथा सहस्रोंका वध और सहस्रोंको बन्धनमुक्त करनेवाले हैं । भगवन् ! अन्धकका विनाश करनेके लिये मैंने जिन मातृकाओंकी सृष्टि की थी, वे सभी आज मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर प्रजाओंको खा जानेके लिये उतारू हैं । अपराजित ! उन्हें उत्पन्न कर मैं पुनः उन्हींका संहार नहीं कर सकता । स्वयं उत्पन्न करके भला मैं उनका विनाश कैसे करूँ ॥ ५५–६२ ॥

एवमुक्तः स रुद्रेण नरसिंहवपुर्धरः । ससर्ज देवो जिह्वायास्तदा वागीश्वरीं हरिः ॥ ६३ ॥
हृदयाच्च तथा माया गुह्याच्च भवमालिनी । अस्थिभ्यश्च तथा काली सृष्टा पूर्वं महात्मना ॥ ६४ ॥
यया तद्रुधिरं पीतमन्धकानां महात्मनाम् । या चास्मिन् कथिता लोके नामतः शुष्करेवती ॥ ६५ ॥
द्वात्रिंशन्मातरः सृष्टा गात्रेभ्यश्चक्रिणा ततः । तासां नामानि वक्ष्यामि तानि मे गदतः शृणु ॥ ६६ ॥
सर्वास्तास्तु महाभागा घण्टाकर्णी तथैव च । त्रैलोक्यमोहिनी पुण्या सर्वसत्त्ववशंकरी ॥ ६७ ॥
तथा च चक्रहृदया पञ्चमी व्योमचारिणी । शङ्खिनी लेखिनी चैव कालसंकर्षणी तथा ॥ ६८ ॥
इत्येताः पृष्ठगा राजन् वागीशानुचराः स्मृताः । संकर्षणी तथाश्वन्था बीजभावापराजिता ॥ ६९ ॥
कल्याणी मधुदंष्ट्री च कमलोत्पलहस्तिका । इति देव्यष्टकं राजन् मायानुचरमुच्यते ॥ ७० ॥
अजिता सूक्ष्महृदया वृद्धा वेशाश्मदर्शना । नृसिंहभैरवा बिल्वा गरुत्मद्धृदया जया ॥ ७१ ॥
भवमालिन्यनुचरा इत्यष्टौ नृप मातरः । आकर्णली सम्भटा च तथैवोत्तरमालिका ॥ ७२ ॥
ज्वालामुखी भीषणिका कामधेनुश्च बालिका । तथा पद्मकरा राजन् रेवत्यनुचराः स्मृताः ॥ ७३ ॥
अष्टौ महाबलाः सर्वा देवगात्रसमुद्भवाः । त्रैलोक्यसृष्टिसंहारसमर्थाः सर्वदेवताः ॥ ७४ ॥

रुद्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर नरसिंह-विग्रहधारी भगवान् श्रीहरिने अपनी जीभसे वागीश्वरीको, हृदयसे मायाको, गुह्यप्रदेशसे भवमालिनीको और हड्डियोंसे कालीको प्रकट किया । उन महात्माने इस कालीकी सृष्टि पहले भी की थी, जिसने महान् आत्मबलसे सम्पन्न अन्धकोंके रुधिरका पान किया था और जो इस लोकमें शुष्करेवती नामसे प्रसिद्ध है । इसी प्रकार सुदर्शन चक्रधारी भगवान्‌ने अपने अङ्गोंसे बत्तीस अन्य मातृकाओंकी सृष्टि की, वे सभी महान् भाग्यशालिनी थीं । मैं उनके नामोंका वर्णन कर रहा हूँ, तुम उन्हें

मुझसे श्रवण करो। उनके नाम हैं—घण्टाकर्णी, त्रैलोक्यमोहिनी, पुण्यमयी सर्वसत्त्ववशंकरी, चक्रहृदया, पाँचवीं व्योमचारिणी, शङ्खिनी, लेखिनी और काल-संकर्षणी। राजन्! ये वागीश्वरीके पीछे चलनेवाली उनकी अनुचरी कही गयी है। राजन्! संकर्षणी, अश्वत्था, बीजभावा, अपराजिता, कल्याणी, मधुदंष्ट्री, कमला और उत्पलहस्तिका—ये आठों देवियाँ मायाकी अनुचरी कहलाती हैं। नरेश! अजिता, सूक्ष्महृदया, वृद्धा, वेशाश्मदर्शना, नृसिंहभैरवा, बिल्वा, गरुत्मद्धृदया और जया—ये आठों मातृकाएँ भवमालिनीकी अनुचरी हैं। राजन्! आकर्णनी, सम्भटा, उत्तर-मालिका, ज्वालामुखी, भीषणिका, कामधेनु, बालिका तथा पद्मकरा—ये शुष्करेवतीकी अनुचरी कही जाती हैं। आठ-आठके विभागमें भगवान्‌के शरीरसे उद्भूत हुई ये सभी देवियाँ महान् बलवती तथा त्रिलोकीके सृजन और संहारमें समर्थ थीं॥ ६३—७४॥

ताः सृष्टमात्रा देवेन क्रुद्धा मातृगणस्य तु। प्रधाविता महाराज क्रोधविस्फारितेक्षणाः॥ ७५॥
अविषह्यतमं तासां दृष्टितेजः सुदारुणम्। तमेव शरणं प्राप्ता नृसिंहो वाक्यमब्रवीत्॥ ७६॥
यथा मनुष्याः पशवः पालयन्ति चिरात् सुतान्। जयन्ति ते तथैवाशु यथा वै देवतागणाः॥ ७७॥
भवत्यस्तु तथा लोकान् पालयन्तु मयेरिताः। मनुजैश्च तथा देवैर्यजध्वं त्रिपुरान्तकम्॥ ७८॥
न च बाधा प्रकर्तव्या ये भक्तास्त्रिपुरान्तके। ये च मां संस्मरन्तीह ते च रक्ष्याः सदा नराः॥ ७९॥
बलिकर्म करिष्यन्ति युष्माकं ये सदा नराः। सर्वकामप्रदास्तेषां भविष्यध्वं तथैव च॥ ८०॥
उच्छासनादिकं ये च कथयन्ति मयेरितम्। ते च रक्ष्याः सदा लोका रक्षितव्यं च शासनम्॥ ८१॥
रौद्रीं चैव परां मूर्तिं महादेवः प्रदास्यति। युष्मन्मुख्या महादेव्यस्तयुक्तं परिरक्ष्यथ॥ ८२॥
मया मातृगणः सृष्टो योऽयं विगतसाध्वसः। एष नित्यं विशालाक्षो मयैव सह रंस्यते॥ ८३॥
मया सार्धं तथा पूजां नरेभ्यश्चैव लप्स्यथ। पृथक् सुपूजिता लोके सर्वान् कामान् प्रदास्यथ॥ ८४॥
शुष्कां सम्पूजयिष्यन्ति ये च पुत्रार्थिनो जनाः। तेषां पुत्रप्रदा देवी भविष्यति न संशयः॥ ८५॥

महाराज! भगवान् विष्णुद्वारा प्रकट किये जाते ही वे देवियाँ कुपित हो मातृकाओंकी ओर क्रोधवश आँखें फाड़कर देखती हुई उनपर टूट पड़ीं। उन देवियोंके नेत्रोंका तेज अत्यन्त भीषण और सर्वथा असह्य था, इसलिये वे मातृकाएँ भगवान् नृसिंहकी शरणमें आ पड़ीं। तब भगवान् नरसिंहने उनसे इस प्रकार कहा—'जिस प्रकार मनुष्य और पशु चिरकालसे अपनी संतानका पालन-पोषण करते आ रहे हैं और जिस प्रकार शीघ्र दो देवताओंको वशमें कर लेते हैं, उसी तरह तुमलोग मेरे आदेशानुसार समस्त लोकोंकी रक्षा करो। मनुष्य तथा देवता सभी त्रिपुरहन्ता शिवजीका यजन करें। जो लोग शंकरजीके भक्त हैं, उनके प्रति तुमलोगोंको कोई बाधा नहीं करनी चाहिये। इस लोकमें जो मनुष्य मेरा स्मरण करते हैं, वे तुमलोगोंद्वारा सदा रक्षणीय हैं। जो मनुष्य सदा तुमलोगोंके निमित्त बलिकर्म करेंगे, तुमलोग उनके सभी मनोरथ पूर्ण करो। जो लोग मेरे इस चरित्रका कथन करेंगे, उन लोगोंकी सदा रक्षा तथा मेरे आदेशका भी पालन करना चाहिये। तुमलोगोंमें जो मुख्य महादेवियाँ हैं, उन्हें महादेवजी अपनी परमोत्कृष्ट रौद्री मूर्ति प्रदान करेंगे। तुमलोगोंको उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। लज्जा और भयसे रहित हो मैंने जो इस मातृगणकी सृष्टि की है, यह विशाल नेत्रोंवाला दल नित्य मेरे साथ ही निवास करेगा तथा मेरे साथ इसे मनुष्योंद्वारा प्रदान की गयी पूजा भी प्राप्त होती रहेगी। लोगोंद्वारा पृथक्-रूपसे सुपूजित होनेपर ये देवियाँ सभी कामनाएँ प्रदान करेंगी। जो पुत्राभिलाषी लोग शुष्करेवतीकी पूजा करेंगे, उनके लिये वह देवी पुत्र प्रदान करनेवाली होगी—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है'॥ ७५—८५॥

एवमुक्त्वा तु भगवान् सह मातृगणेन तु। ज्वालामालाकुलवपुस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८६ ॥
तत्र तीर्थं समुत्पन्नं कृतशौचेति यज्जगुः। तत्रापि पूर्वजो देवो जगदार्तिहरो हरः ॥ ८७ ॥
रौद्रस्य मातृवर्गस्य दत्त्वा रुद्रस्तु पार्थिव। रौद्रीं दिव्यां तनुं तत्र मातृमध्ये व्यवस्थितः ॥ ८८ ॥
सप्त ता मातरो देव्यः सार्धनारीनरः शिवः। निवेद्य रौद्रं तत्स्थानं तत्रैवान्तरधीयत ॥ ८९ ॥
समातृवर्गस्य हरस्य मूर्तिर्यदा यदा याति च तत्समीपे।
देवेश्वरस्यापि नृसिंहमूर्तेः पूजां विधत्ते त्रिपुरान्धकारिः ॥ ९० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽन्धकवधो नामैकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

राजन्! ऐसा कहकर ज्वालासमूहोंसे व्याप्त शरीरवाले भगवान् नरसिंह उस मातृगणके साथ वहीं अन्तर्हित हो गये। वहीं एक तीर्थ उत्पन्न हो गया, जिसे लोग 'कृतशौच' नामसे पुकारते हैं। वहीं सबके पूर्वज तथा जगत्‌का कष्ट दूर करनेवाले भगवान् रुद्र उस भयंकर मातृगणको अपनी रौद्री दिव्य मूर्ति प्रदान कर उन्हीं मातृकाओंके मध्यस्थित हो गये। इस प्रकार अर्द्धनारीनरस्वरूप शिव उन सातों मातृ-देवियोंको उस रौद्र-स्थानपर स्थापित कर स्वयं वहीं अन्तर्हित हो गये। मातृवर्गसमेत शिवजीकी मूर्ति जब-जब देवेश्वर भगवान् नरसिंहकी मूर्तिके निकट जाती है, तब-तब त्रिपुर एवं अन्धकके शत्रु शंकरजी उस नृसिंहमूर्तिकी पूजा करते हैं ॥ ८६—९० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें अन्धकवध नामक एक सौ उनासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १७९ ॥

एक सौ असीवाँ अध्याय

वाराणसी-माहात्म्यके प्रसङ्गमें हरिकेश यक्षकी तपस्या, अविमुक्तकी शोभा और उसका माहात्म्य तथा हरिकेशको शिवजीद्वारा वर-प्राप्ति

ऋषय ऊचुः

श्रुतोऽन्धकवधः सूत यथावत् त्वदुदीरितः। वाराणस्यास्तु माहात्म्यं श्रोतुमिच्छाम साम्प्रतम् ॥ १ ॥
भगवान् पिङ्गलः केन गणत्वं समुपागतः। अन्नदत्वं च संप्राप्तो वाराणस्यां महाद्युतिः ॥ २ ॥
क्षेत्रपालः कथं जातः प्रियत्वं च कथं गतः। एतदिच्छाम कथितं श्रोतुं ब्रह्मसुत त्वया ॥ ३ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! आपद्वारा कहा गया अन्धक-वधका प्रसङ्ग तो हमलोगोंने यथार्थरूपसे सुन लिया, अब हमलोग वाराणसीका माहात्म्य सुनना चाहते हैं। ब्रह्मपुत्र सूतजी! वाराणसीमें परम कान्तिमान् भगवान् पिङ्गलको गणेशत्वकी प्राप्ति कैसे हुई? वे अन्नदाता कैसे बने और क्षेत्रपाल कैसे हो गये? तथा वे शंकरजीके प्रेमपात्र कैसे बने? आपके द्वारा कहे गये इस सारे प्रसङ्गको सुननेके लिये हमलोगोंकी उत्कट अभिलाषा है ॥ १—३ ॥

सूत उवाच

शृणुध्वं वै यथा लेभे गणेशत्वं स पिङ्गलः। अन्नदत्वं च लोकानां स्थानं वाराणसी त्विह ॥ ४ ॥
पूर्णभद्रसुतः श्रीमानासीद् यक्षः प्रतापवान्। हरिकेश इति ख्यातो ब्रह्मण्यो धार्मिकश्च ह ॥ ५ ॥
तस्य जन्मप्रभृत्येव शर्वे भक्तिरनुत्तमा। तदासीत्तन्नमस्कारस्तन्निष्ठस्तत्परायणः ॥ ६ ॥
आसीनश्च शयानश्च गच्छंस्तिष्ठन्ननुव्रजन्। भुञ्जानोऽथ पिबन् वापि रुद्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७ ॥
तमेवं युक्तमनसं पूर्णभद्रः पिताब्रवीत्। न त्वां पुत्रमहं मन्ये दुर्जातो यस्त्वमन्यथा ॥ ८ ॥

न हि यक्षकुलीनानामेतद् वृत्तं भवत्युत। गुह्यका वत यूयं वै स्वभावात् क्रूरचेतसः ॥ ९ ॥
क्रव्यादाश्चैव किम्भक्षा हिंसाशीलाश्च पुत्रक। मैवं कार्षीर्न ते वृत्तिरेवं दृष्टा महात्मना ॥ १० ॥
स्वयम्भुवा यथाऽऽदिष्टा त्यक्तव्या यदि नो भवेत्। आश्रमान्तरजं कर्म न कुर्युर्गृहिणस्तु तत् ॥ ११ ॥
हित्वा मनुष्यभावं च कर्मभिर्विविधैश्चर। यत्त्वमेवं विमार्गस्थो मनुष्याज्जात एव च ॥ १२ ॥
यथावद् विविधं तेषां कर्म तज्जातिसंश्रयम्। मयापि विहितं पश्य कर्मैतन्नात्र संशयः ॥ १३ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! पिंगलको जिस प्रकार गणेशत्व, लोकोंके लिये अन्नदत्व और वाराणसी-जैसा स्थान प्राप्त हुआ था, वह प्रसङ्ग बतला रहा हूँ, सुनिये। प्राचीनकालमें हरिकेश नामसे विख्यात एक सौन्दर्यशाली यक्ष हो गया है, जो पूर्णभद्रका पुत्र था। वह महाप्रतापी, ब्राह्मणभक्त और धर्मात्मा था। जन्मसे ही उसकी शंकरजीमें प्रगाढ भक्ति थी। वह तन्मय होकर उन्हींको नमस्कार करनेमें, उन्हींकी भक्ति करनेमें और उन्हींके ध्यानमें तत्पर रहता था। वह बैठते, सोते, चलते, खडे होते, घूमते तथा खाते-पीते समय सदा शिवाजीके ध्यानमें ही मग्न रहता था। इस प्रकार शंकरजीमे लीन मनवाले उससे उसके पिता पूर्णभद्रने कहा—'पुत्र ! मै तुम्हें अपना पुत्र नहीं मानता। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अन्यथा ही उत्पन्न हुए हो; क्योंकि यक्षकुलमें उत्पन्न होनेवालोंका ऐसा आचरण नहीं होता। तुम गुह्यक* हो। राक्षस ही स्वभावसे क्रूर चित्तवाले, मांसभक्षी, सर्वभक्षी और हिंसापरायण होते हैं। महात्मा ब्रह्माद्वारा ऐसा ही निर्देश दिया गया है। तुम ऐसा मत करो; क्योंकि तुम्हारे लिये ऐसी वृत्ति नहीं बतलायी गयी है। गृहस्थ भी अन्य आश्रमोंका कर्म नहीं करते। इसलिये तुम मनुष्य-भावका परित्याग करके यक्षोंके अनुकूल विविध कर्मोंका आचरण करो। यदि तुम इस प्रकार विमार्गपर ही स्थित रहोगे तो मनुष्यसे उत्पन्न हुआ ही समझे जाओगे। अतः तुम यक्षजातिके अनुकूल विविध कर्मोंका ठीक-ठीक आचरण करो। देखो, मैं भी निःसंदेह वैसा ही आचरण कर रहा हूँ ॥ ९–१३ ॥

सूत उवाच

एवमुक्त्वा स तं पुत्रं पूर्णभद्रः प्रतापवान्। उवाच निष्क्रम क्षिप्रं गच्छ पुत्र यथेच्छसि ॥ १४ ॥
ततः स निर्गतस्त्यक्त्वा गृहं सम्बन्धिनस्तथा। वाराणसीं समासाद्य तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ १५ ॥
स्थाणुभूतो ह्यनिमिषः शुष्ककाष्ठोपलोपमः। संनियम्येन्द्रियग्राममवातिष्ठत निश्चलः ॥ १६ ॥
अथ तस्यैवमनिशं तत्परस्य तदाशिषः। सहस्रमेकं वर्षाणां दिव्यमप्यभ्यवर्तत ॥ १७ ॥
वल्मीकेन समाक्रान्तो भक्ष्यमाणः पिपीलिकैः। वज्रसूचीमुखैस्तीक्ष्णैर्विध्यमानस्तथैव च ॥ १८ ॥
निर्मांसरुधिरत्वक् च कुन्दशङ्खेन्दुसप्रभः। अस्थिशेषोऽभवच्छर्वं देवं वै चिन्तयन्नपि ॥ १९ ॥
एतस्मिन्नन्तरे देवी व्यज्ञापयत शङ्करम् ॥ २० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! प्रतापी पूर्णभद्रने अपने उस पुत्रसे इस प्रकार (कहा; किंतु जब उसपर कोई प्रभाव पड़ते नहीं देखा, तब वह पुनः कुपित होकर) बोला—'पुत्र ! तुम शीघ्र ही मेरे घरसे निकल जाओ और जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाओ।' तब वह हरिकेश गृह तथा सम्बन्धियोंका त्याग कर निकल पड़ा और वाराणसीमें आकर अत्यन्त दुष्कर तपस्यामें संलग्न हो गया। वहाँ वह इन्द्रियसमुदायको संयमित कर सूखे काष्ठ और पत्थरकी भाँति निश्चल हो एकटक स्थाणु (ठूँठ) की तरह स्थित हो गया। इस प्रकार

* अमर, व्याडि, हलायुध आदि कोशों एवं महाभारतादि प्रायः सभी ग्रन्थोंमें यक्षोंकी निधिरक्षक श्रेणीको ही गुह्यक कहा गया है—'निधिं गूहन्ति ये यक्षास्ते स्युर्गुह्यकसंज्ञकाः।'

निरन्तर तपस्यामे लगे रहनेवाले हरिकेशके एक सहस्र दिव्य वर्ष व्यतीत हो गये। उसके शरीरपर विमवट जम गयी। वज्रके समान कठोर और सूई-जैसे पतले एवं तीखे मुखवाली चींटियोंने उसमें छेद कर उसे खा डाला। इस प्रकार वह मांस, रुधिर और चमड़ेसे रहित हो अस्थिमात्र अवशेष रह गया, जो कुन्द, शङ्ख और चन्द्रमाके समान चमक रहा था। इतनेपर भी वह भगवान् शंकरका ध्यान कर ही रहा था। इसी बीच पार्वती देवीने भगवान् शंकरसे निवेदन किया ॥ १४–२० ॥

देव्युवाच

उद्यानं पुनरेवेदं द्रष्टुमिच्छामि सर्वदा।
क्षेत्रस्य देव माहात्म्यं श्रोतुं कौतूहलं हि मे। यतश्च प्रियमेतत् ते तथास्य फलमुत्तमम् ॥ २१ ॥
इति विज्ञापितो देवः शर्वाण्या परमेश्वरः। सर्वं पृष्टं ते यथातथ्यमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ २२ ॥
निर्जगाम च देवेशः पार्वत्या सह शंकरः। उद्यानं दर्शयामास देव्या देवः पिनाकधृक् ॥ २३ ॥

देवीने कहा—देव! मैं इस उद्यानको पुनः देखना चाहती हूँ। साथ ही इस क्षेत्रका माहात्म्य सुननेके लिये मेरे मनमे बड़ी उत्कण्ठा है; क्योंकि यह आपको परम प्रिय है और इसके श्रवणका फल भी उत्तम है। इस प्रकार भवानीद्वारा निवेदन किये जानेपर परमेश्वर शंकर प्रश्नानुसार सारा प्रसंग यथार्थरूपसे कहनेके लिये उद्यत हुए। तदनन्तर पिनाकधारी देवेश्वर भगवान् शंकर पार्वतीके साथ वहाँसे चल पड़े और देवीको उस उद्यानका दर्शन कराते हुए बोले ॥ २१–२३ ॥

देवदेव उवाच

प्रोत्फुल्लनानाविधगुल्मशोभितं लताप्रतानावनतं मनोहरम्।
विरूढपुष्पैः परितः प्रियङ्गुभिः सुपुष्पितैः कण्टकितैश्च केतकैः ॥ २४ ॥
तमालगुल्मैर्निचितं सुगन्धिभिः सकर्णिकारैर्बकुलैश्च सर्वशः।
अशोकपुंनागवरैः सुपुष्पितैर्द्विरेफमालाकुलपुष्पसंचयैः ॥ २५ ॥
क्वचित् प्रफुल्लाम्बुजरेणुरूषितैर्विहङ्गमैश्चारुकलप्रणादिभिः।
विनादितं सारसमण्डनादिभिः प्रमत्तदात्यूहरुतैश्च वल्गुभिः ॥ २६ ॥
क्वचिच्च चक्राह्वरवोपनादितं क्वचिच्च कादम्बकदम्बकैर्युतम्।
क्वचिच्च कारण्डवनादनादितं क्वचिच्च मत्तालिकुलाकुलीकृतम् ॥ २७ ॥
मदाकुलाभिस्त्वमराङ्गनाभिर्निषेवितं चारुसुगन्धिपुष्पम्।
क्वचित् सुपुष्पैः सहकारवृक्षैर्लतोपगूढैस्तिलकद्रुमैश्च ॥ २८ ॥
प्रगीतविद्याधरसिद्धचारणं प्रमत्तनृत्याप्सरसां गणाकुलम्।
प्रहृष्टनानाविधपक्षिसेवितं प्रमत्तहारीतकुलोपनादितम् ॥ २९ ॥
मृगेन्द्रनादाकुलसत्त्वमानसैः क्वचित्क्वचिद्द्वन्द्वकदम्बकैर्मृगैः।
प्रफुल्लनानाविधचारुपङ्कजैः सरस्तटाकैरुपशोभितं क्वचित् ॥ ३० ॥

देवाधिदेव शंकरने कहा—प्रिये! यह उद्यान खिले हुए नाना प्रकारके गुल्मोंसे सुशोभित है। यह लताओंके विस्तारसे अवनत होनेके कारण मनोहर लग रहा है। इसमें चारों ओर पुष्पोसे लदे हुए प्रियङ्गुके तथा भली-भाँति खिली हुई कँटीली केतकीके वृक्ष दीख रहे हैं। यह सब ओर तमालके गुल्मों, सुगन्धित कनेर और मौलसिरी तथा फूलोसे लदे हुए अशोक और पुंनागके उत्तम वृक्षोंसे, जिसके पुष्पोंपर भ्रमरसमूह गुंजार कर रहे हैं,

व्याप्त है। कहीं पूर्णरूपसे खिले हुए कमलके परागसे धूसरित अङ्गवाले पक्षी सुन्दर कलनाद कर रहे हैं, कहीं सारसोंका दल बोल रहा है। कहीं मतवाले चातकोंकी मधुर बोली सुनायी पड़ रही है। कहीं चक्रवाकोंका शब्द गूँज रहा है। कहीं यूथ-के-यूथ कलहंस विचर रहे हैं। कहीं बतखोंके नादसे निनादित हो रह है। कहीं झुंड-के-झुंड मतवाले भौंरे गुनगुना रहे हैं। कहीं मदसे मतवाली हुई देवाङ्गनाएँ सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पोंका सेवन कर रही है। कहीं सुन्दर पुष्पोंसे आच्छादित आमके वृक्ष और लताओंसे आच्छादित तिलकके वृक्ष शोभा पा रहे हैं। कहीं विद्याधर, सिद्ध और चारण राग अलाप रहे हैं तो कहीं अप्सराओंका दल उन्मत्त होकर नाच रहा है। इसमे नाना प्रकारके पक्षी प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं। यह मतवाले हारीतसमूहसे निनादित है। कहीं-कहीं झुंड-के-झुंड मृगके जोड़े सिंहकी दहाड़से व्याकुल मनवाले होकर इधर-उधर भाग रहे हैं। कहीं ऐसे तालाब शोभा पा रहे हैं, जिनके तटपर नाना प्रकारके सुन्दर कमल खिले हुए हैं॥ २४—३०॥

निविडनिचुलनीलं नीलकण्ठाभिरामं मदमुदितविहङ्गव्रातनादाभिरामम्।
कुसुमिततरुशाखालीनमत्तद्विरेफं नवकिसलयशोभाशोभितप्रान्तशाखम्॥ ३१॥
क्वचिच्च दन्तिक्षतचारुवीरुधं क्वचिल्लतालिङ्गितचारुवृक्षकम्।
क्वचिद्विलासालसगामिबर्हिणं निषेवितं किम्पुरुषव्रजैः क्वचित्॥ ३२॥
पारावतध्वनिविकूजितचारुशृङ्गैरभ्रंकषैः सितमनोहरचारुरूपैः।
आकीर्णपुष्पनिकुरम्बविमुक्तहासैर्विभ्राजितं त्रिदशदेवकुलैरनेकैः॥ ३३॥
फुल्लोत्पलागुरुसहस्रवितानयुक्तैस्तोयाशयैः समनुशोभितदेवमार्गम्।
मार्गान्तरागलितपुष्पविचित्रभक्तिसम्बद्धगुल्मविटपैर्विहगैरुपेतम्॥ ३४॥
तुङ्गाग्रैर्नीलपुष्पस्तवकभरनतप्रान्तशाखैरशोकै-
र्मत्तालिव्रातगीतश्रुतिसुखजननैर्भासितान्तर्मनोज्ञैः।
रात्रौ चन्द्रस्य भासा कुसुमिततिलकैरेकतां सम्प्रयातं
छायासुप्तप्रबुद्धस्थितहरिणकुलालुप्तदर्भाङ्कुराग्रम्॥ ३५॥
हंसानां पक्षपातप्रचलितकमलस्वच्छविस्तीर्णतोयं
तोयानां तीरजातप्रविकचकदलीवाटनृत्यन्मयूरम्।
मायूरैः पक्षचन्द्रैः क्वचिदपि पतितै रञ्जितक्ष्माप्रदेशं
देशे देशे विकीर्णप्रमुदितविलसन्मत्तहारीतवृक्षम्॥ ३६॥
सारङ्गैः क्वचिदपि सेवितप्रदेशं संछन्नं कुसुमचयैः क्वचिद्विचित्रैः।
हृष्टाभिः क्वचिदपि किंनराङ्गनाभिः क्षीवाभिः सुमधुरगीतवृक्षखण्डम्॥ ३७॥

यह घने बेतकी लताओं एवं नीलमयूरोंसे सुशोभित और मदसे उन्मत्त हुए पक्षिसमूहोंके नादसे मनोरम लग रहा है। इसके खिले हुए वृक्षोंकी शाखाओंमें मतवाले भौंरे छिपे हुए हैं और उन शाखाओंके प्रान्तभाग नये किसलयोंकी शोभासे सुशोभित हैं। कहीं सुन्दर वृक्ष हाथियोंके दाँतोंसे क्षत-विक्षत हो गये हैं। कहीं लताएँ मनोहर वृक्षोंका आलिङ्गन कर रही हैं। कहीं भोगसे अलसाये हुए मयूरगण मन्दगतिसे विचरण कर रहे हैं। कहीं किम्पुरुषगण निवास कर रहे हैं। जो कबूतरोंकी ध्वनिसे निनादित हो रहे थे, जिनका उज्ज्वल मनोहर रूप है, जिनपर बिखरे हुए पुष्पसमूह हासकी छटा दिखा रहे हैं और जिनपर अनेकों देवकुल निवास कर रहे हैं, उन गगनचुम्बी मनोहर शिखरोंसे सुशोभित हो रहा है। खिले हुए कमल और अगुरुके सहस्रों वितानोंसे

*

युक्त जलाशयोंसे जिसका देवमार्ग सुशोभित हो रहा है। उन मार्गोंपर पुष्प बिखरे हुए हैं और वह विचित्र भक्तिसे युक्त पक्षियोसे सेवित गुल्मों और वृक्षोसे युक्त है। जिनके अग्रभाग ऊँचे हैं, जिनकी शाखाओंका प्रान्त-भाग नीले पुष्पोके गुच्छोंके भारसे झुके हुए हैं तथा जिनकी शाखाओंके अन्तर्भागमे लीन मतवाले भ्रमर-समूहोकी श्रवण-सुखदायिनी मनोहर गीत हो रही है, ऐसे अशोकवृक्षोसे युक्त है। रात्रिमे यह अपने खिले हुए तिलक-वृक्षोंसे चन्द्रमाकी चाँदनीके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है। कहीं वृक्षोंकी छायामे सोये हुए, सोकर जगे हुए तथा बैठे हुए हरिणसमूहोंद्वारा काटे गये दूर्वाङ्कुरोके अग्रभागसे युक्त है। कहीं हंसोके पंख हिलानेसे चञ्चल हुए कमलोंसे युक्त, निर्मल एवं विस्तीर्ण जलराशि शोभा पा रही है। कहीं जलाशयोंके तटपर उगे हुए फूलोंसे सम्पन्न कदलीके लतामण्डपोंमें मयूर नृत्य कर रहे हैं। कहीं झड़कर गिरे हुए चन्द्रकयुक्त मयूरोंके पंखोसे भूतल अनुरंजित हो रहा है। जगह-जगह पृथक्-पृथक् यूथ बनाकर हर्षपूर्वक विलास करते हुए मतवाले हारीत पक्षियोसे युक्त वृक्ष शोभा पा रहे है। किसी प्रदेशमे सारङ्ग जातिके मृग बैठे हुए हैं। कुछ भाग विचित्र पुष्पसमूहोसे आच्छादित है। कहीं उन्मत्त हुई किंनराङ्गनाएँ हर्षपूर्वक सुमधुर गीत अलाप रही हैं, जिनसे वृक्षखण्ड मुखरित हो रहा है ॥ ३१—३७ ॥

संसृष्टैः क्वचिदुपलिप्तकीर्णपुष्पैरावासैः परिवृतपादपं मुनीनाम्।
आमूलात् फलनिचितैः क्वचिद्विशालैरुत्तुङ्गैः पनसमहीरुहैरुपेतम् ॥ ३८ ॥
फुल्लातिमुक्तकलतागृहसिद्धलीलं सिद्धाङ्गनाकनकनूपुरनादरम्यम्।
रम्यप्रियङ्गुतरुमञ्जरिसक्तभृङ्गं भृङ्गावलीपु स्खलिताम्बुकदम्बपुष्पम् ॥ ३९ ॥
पुष्पोत्करानिलविघूर्णितपादपाग्रमग्रेसरो भुवि निपातितवंशगुल्मम्।
गुल्मान्तरप्रभृतिलीनमृगीसमूहं सम्मुह्यतां तनुभृतामपवर्गदात ॥ ४० ॥
चन्द्रांशुजालधवलैस्तिलकैर्मनोज्ञैः सिन्दूरकुङ्कुमकुसुम्भनिभैरशोकैः।
चामीकराभनिचयैरथ कर्णिकारैः फुल्लारविन्दरचितं सुविशालशाखैः ॥ ४१ ॥
क्वचिद्रजतपर्णाभैः क्वचिद्विद्रुमसन्निभैः। क्वचित्काञ्चनसंकाशैः पुष्पैराचितभूतलम् ॥ ४२ ॥
पुंनागेपु द्विजगणविरुतं रक्ताशोकस्तवकभरनमितम्।
रम्योपान्तश्रमहरपवनं फुल्लाब्जेपु भ्रमरविलसितम् ॥ ४३ ॥
सकलभुवनभर्ता लोकनाथस्तदानीं तुहिनशिखरिपुत्र्याः सार्धमिष्टैर्गणेशैः।
विविधतरुविशालं मत्तहृष्टान्यपुष्टमुपवनतरुरम्यं दर्शयामास देव्याः ॥ ४४ ॥

कहीं वृक्षोंके नीचे मुनियोंके आवासस्थल बने हैं, जिनकी भूमि लिपी-पुती हुई है और उनपर पुष्प बिखेरा हुआ है। कहीं जिनमे जड़से लेकर अन्ततक फल लदे हुए हैं, ऐसे विशाल एवं ऊँचे कटहलके वृक्षोंसे युक्त है। कहीं खिली हुई अतिमुक्तक लताके बने हुए सिद्धोंके गृह शोभा पा रहे हैं, जिनमे सिद्धाङ्गनाओंके स्वर्णमय नूपुरोका सुरम्य नाद हो रहा है। कहीं मनोहर प्रियंगु वृक्षोंकी मंजरियोपर भँवरे मँडरा रहे हैं। कहीं भ्रमर-समूहोंके पंखोके आघातसे कदम्बके पुष्प नीचे गिर रहे हैं। कहीं पुष्पसमूहका स्पर्श करके बहती हुई वायु बडे-बडे वृक्षोके ऊपरकी शाखाओंको झुका दे रही है, जिनके आघातसे बासोके झुरमुट भूतलपर गिर जा रहे हैं। उन गुल्मोके अन्तर्गत हरिणियोंका समूह छिपा हुआ है। इस प्रकार यह उपवन मोहग्रस्त प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करनेवाला है। यहाँ कहीं चन्द्रमाकी किरणो-सरीखे उज्ज्वल मनोहर तिलकके वृक्ष, कहीं सिंदूर, कुंकुम और

कुसुम्भ-जैसे लाल रंगवाले अशोकके वृक्ष, कहीं स्वर्णके समान पीले एवं लम्बी शाखाओंवाले कनेरके वृक्ष और कहीं खिले हुए कमलके पुष्प शोभा पा रहे हैं। इस उपवनकी भूमि कहीं चाँदीके पत्र-जैसे श्वेत, कहीं मूँगे-सरीखे लाल और कहीं स्वर्ण-सदृश पीले पुष्पोंसे आच्छादित है। कहीं पुंनागके वृक्षोंपर पक्षिगण चहचहा रहे हैं। कहीं लाल अशोककी डालियाँ पुष्प-गुच्छोंके भारसे झुक गयी हैं। रमणीय एवं श्रमहारी पवन शरीरका स्पर्श करके बह रहा है। उत्फुल्ल कमल-पुष्पोंपर भौंरे गुंजार कर रहे हैं। इस प्रकार समस्त भुवनोंके पालक जगदीश्वर शंकरने अपने प्रिय गणेश्वरोंको साथ लेकर उस विविध प्रकारके विशाल वृक्षोंसे युक्त तथा उन्मत्त और हर्ष प्रदान करनेवाले उपवनको हिमालयकी पुत्री पार्वतीदेवीको दिखाया ॥३८-४४॥

देव्युवाच

उद्यानं दर्शितं देव शोभया परया युतम्। क्षेत्रस्य तु गुणान् सर्वान् पुनर्वक्तुमिहार्हसि ॥ ४५ ॥
अस्य क्षेत्रस्य माहात्म्यमविमुक्तस्य तत्तथा। श्रुत्वापि हि न मे तृप्तिरतो भूयो वदस्व मे ॥ ४६ ॥

देवीने पूछा—देव! अनुपम शोभासे युक्त इस उद्यानको तो आपने दिखला दिया। अब आप पुनः इस क्षेत्रके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन कीजिये। इस क्षेत्रका तथा अविमुक्तका माहात्म्य सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है, अतः आप पुनः मुझसे वर्णन कीजिये ॥४५-४६॥

देवदेव उवाच

इदं गुह्यतमं क्षेत्रं सदा वाराणसी मम। सर्वेषामेव भूतानां हेतुर्मोक्षस्य सर्वदा ॥ ४७ ॥
अस्मिन् सिद्धाः सदा देवि मदीयं व्रतमास्थिताः। नानालिङ्गधरा नित्यं मम लोकाभिकाङ्क्षिणः ॥ ४८ ॥
अभ्यस्यन्ति परं योगं मुक्तात्मानो जितेन्द्रियाः। नानावृक्षसमाकीर्णे नानाविहगकूजिते ॥ ४९ ॥
कमलोत्पलपुष्पाढ्यैः सरोभिः समलङ्कृते। अप्सरोगणगन्धर्वैः सदा संसेविते शुभे ॥ ५० ॥
रोचते मे सदा वासो येन कार्येण तच्छृणु। मन्मना मम भक्तश्च मयि सर्वार्पितक्रियः ॥ ५१ ॥
यथा मोक्षमिहाप्नोति ह्यन्यत्र न तथा क्वचित्। एतन्मम पुरं दिव्यं गुह्याद् गुह्यतरं महत् ॥ ५२ ॥
ब्रह्मादयस्तु जानन्ति येऽपि सिद्धा मुमुक्षवः। अतः प्रियतमं क्षेत्रं तस्माच्चेह रतिर्मम ॥ ५३ ॥
विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन। महत् क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिदं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
नैमिषेऽथ कुरुक्षेत्रे गङ्गाद्वारे च पुष्करे। स्नानात् संसेविताद् वापि न मोक्षः प्राप्यते यतः ॥ ५५ ॥
इह सम्प्राप्यते येन तत एतद् विशिष्यते। प्रयागे च भवेन्मोक्ष इह वा मत्परिग्रहात् ॥ ५६ ॥

देवाधिदेव शंकर बोले—देवि! मेरा यह वाराणसी क्षेत्र परम गुह्य है। यह सर्वदा सभी प्राणियोंके मोक्षका कारण है। देवि! इस क्षेत्रमें नाना प्रकारका स्वरूप धारण करनेवाले नित्य मेरे लोकके अभिलाषी मुक्तात्मा जितेन्द्रिय सिद्धगण मेरा व्रत धारण कर परम योगका अभ्यास करते हैं। अब इस नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, अनेकविध पक्षियोंद्वारा निनादित, कमल और उत्पलके पुष्पोंसे भरे हुए सरोवरोंसे सुशोभित और अप्सराओं तथा गन्धर्वोंद्वारा सदा संसेवित इस शुभमय उपवनमें जिस हेतुसे मुझे सदा निवास करना अच्छा लगता है, उसे सुनो। मेरा भक्त मुझमें मन लगाकर और सारी क्रियाएँ मुझमें समर्पित कर इस क्षेत्रमें जैसी सुगमतासे मोक्ष प्राप्त कर सकता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त कर सकता। यह मेरी महान् दिव्य नगरी गुह्यसे भी गुह्यतर है। ब्रह्मा आदि जो सिद्ध मुमुक्षु हैं, वे इसके विषयमें पूर्णरूपसे जानते हैं। अतः यह क्षेत्र मुझे परम प्रिय है और इसी कारण इसके प्रति मेरी विशेष रति है। चूँकि मैं कभी भी इस विमुक्त क्षेत्रका त्याग नहीं करता, इसलिये यह महान् क्षेत्र

अविमुक्त नामसे कहा जाता है। नैमिष, कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार और पुष्करमें निवास करने तथा स्नान करनेसे यदि मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तो इस क्षेत्रमें वह प्राप्त हो जाता है, इसीलिये यह उनसे विशिष्ट है। प्रयागमें अथवा मेरा आश्रय ग्रहण करनेसे काशीमें मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ४७—५६ ॥

प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादिदमेव महत् स्मृतम्। जैगीषव्यः परां सिद्धिं योगतः स महातपाः ॥ ५७ ॥
अस्य क्षेत्रस्य माहात्म्याद् भक्त्या च मम भावनात्। जैगीषव्यो मुनिश्रेष्ठो योगिनां स्थानमिष्यते ॥ ५८ ॥
ध्यायतस्तत्र मां नित्यं योगाग्निर्दीप्यते भृशम्। कैवल्यं परमं याति देवानामपि दुर्लभम् ॥ ५९ ॥
अव्यक्तलिङ्गैर्मुनिभिः सर्वसिद्धान्तवेदिभिः। इह सम्प्राप्यते मोक्षो दुर्लभो देवदानवैः ॥ ६० ॥
तेभ्यश्चाहं प्रयच्छामि भोगैश्वर्यमनुत्तमम्। आत्मनश्चैव सायुज्यमीप्सितं स्थानमेव च ॥ ६१ ॥
कुबेरस्तु महायक्षस्तथा सर्वार्पितक्रियः। क्षेत्रसंवसनादेव गणेशत्वमवाप ह ॥ ६२ ॥
संवर्तो भविता यश्च सोऽपि भक्त्या ममैव तु। इहैवाराध्य मां देवि सिद्धिं यास्यत्यनुत्तमाम् ॥ ६३ ॥
पराशरसुतो योगी ऋषिर्व्यासो महातपाः। धर्मकर्ता भविष्यश्च वेदसंस्थाप्रवर्तकः ॥ ६४ ॥
रंस्यते सोऽपि पद्माक्षि क्षेत्रेऽस्मिन् मुनिपुंगवः। ब्रह्मा देवर्षिभिः सार्धं विष्णुर्वायुर्दिवाकरः ॥ ६५ ॥
देवराजस्तथा शक्रो येऽपि चान्ये दिवौकसः। उपासन्ते महात्मानः सर्वे मामेव सुव्रते ॥ ६६ ॥
अन्येऽपि योगिनः सिद्धाश्छन्नरूपा महाव्रताः। अनन्यमनसो भूत्वा मामिहोपासते सदा ॥ ६७ ॥

यह तीर्थश्रेष्ठ प्रयागसे भी महान् कहा जाता है। महातपस्वी जैगीषव्य मुनि यहाँ परा सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। मुनिश्रेष्ठ जैगीषव्य इस क्षेत्रके माहात्म्यसे तथा भक्तिपूर्वक मेरी भावना करनेसे योगियोंके स्थानको प्राप्त कर लिये हैं। वहाँ नित्य मेरा ध्यान करनेसे योगाग्नि अत्यन्त उद्दीप्त हो जाती है, जिससे देवताओंके लिये भी परम दुर्लभ कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है। यहाँ सम्पूर्ण सिद्धान्तोंके ज्ञाता एवं अव्यक्त चिह्नवाले मुनियोंद्वारा देवों और दानवोंके लिये दुर्लभ मोक्ष प्राप्त कर लिया जाता है। मैं ऐसे मुनियोंको सर्वोत्तम भोग, ऐश्वर्य, अपना सायुज्य और मनोवाञ्छित स्थान प्रदान करता हूँ। महायक्ष कुबेर, जिन्होंने अपनी सारी क्रियाएँ मुझे अर्पित कर दी थीं, इस क्षेत्रमें निवास करनेके कारण ही गणाधिपत्यको प्राप्त हुए हैं। देवि! जो संवर्तनामक ऋषि होंगे, वे भी मेरे ही भक्त हैं। वे यहीं मेरी आराधना करके सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करेंगे। पद्माक्षि! जो योगसम्पन्न, धर्मके नियामक और वैदिक कर्मकाण्डके प्रवर्तक होंगे, महातपस्वी मुनिश्रेष्ठ पराशरनन्दन महर्षि व्यास भी इसी क्षेत्रमें निवास करेंगे। सुव्रते! देवर्षियोंके साथ ब्रह्मा, विष्णु, वायु, सूर्य, देवराज इन्द्र तथा जो अन्यान्य देवता हैं, सभी महात्मा मेरी ही उपासना करते हैं। दूसरे भी योगी, सिद्ध, गुप्त रूपधारी एवं महाव्रती अनन्यचित्त होकर यहाँ सदा मेरी उपासना करते हैं ॥ ५७—६७ ॥

अलर्कश्च पुरीमेतां मत्प्रसादादवाप्स्यति। स चैनां पूर्ववत्कृत्वा चातुर्वर्ण्याश्रमाकुलाम् ॥ ६८ ॥
स्फीतां जनसमाकीर्णां भक्त्या च सुचिरं नृपः। मयि सर्वार्पितप्राणो मामेव प्रतिपत्स्यते ॥ ६९ ॥
ततः प्रभृति चार्वङ्गि येऽपि क्षेत्रनिवासिनः। गृहिणो लिङ्गिनो वापि मद्भक्ता मत्परायणाः ॥ ७० ॥
मत्प्रसादाद् भजिष्यन्ति मोक्षं परमदुर्लभम्। विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः ॥ ७१ ॥
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारं न पुनर्विशेत्। ये पुनर्निर्ममा धीराः सत्त्वस्था विजितेन्द्रियाः ॥ ७२ ॥
व्रतिनश्च निरारम्भाः सर्वे ते मयि भाविताः।
देहभङ्गं समासाद्य धीमन्तः सङ्गवर्जिताः। गता एव परं मोक्षं प्रसादान्मम सुव्रते ॥ ७३ ॥
जन्मान्तरसहस्रेषु युञ्जन् योगमवाप्नुयात्। तमिहैव परं मोक्षं मरणादधिगच्छति ॥ ७४ ॥

एतत् संक्षेपतो देवि क्षेत्रस्यास्य महत्फलम् । अविमुक्तस्य कथितं मया ते गुह्यमुत्तमम् ॥ ७५ ॥
अतः परतरं नास्ति सिद्धिगुह्यं महेश्वरि । एतद् बुद्ध्यन्ति योगज्ञा ये च योगेश्वरा भुवि ॥ ७६ ॥
एतदेव परं स्थानमेतदेव परं शिवम् । एतदेव परं ब्रह्म एतदेव परं पदम् ॥ ७७ ॥
वाराणसी तु भुवनत्रयसारभूता रम्या सदा मम पुरी गिरिराजपुत्रि ।
अत्रागता विविधदुष्कृतकारिणोऽपि पापक्षयाद् विरजसः प्रतिभान्ति मर्त्याः ॥ ७८ ॥
एतत्स्मृतं प्रियतमं मम देवि नित्यं क्षेत्रं विचित्रतरुगुल्मलतासुपुष्पम् ।
अस्मिन् मृतास्तनुभृतः पदमाप्नुवन्ति मूर्खागमेन रहितापि न संशयोऽत्र ॥ ७९ ॥

अलर्क भी मेरी कृपासे इस पुरीको प्राप्त करेंगे । वे नरेश इसे पहलेकी तरह चारों वर्णों और आश्रमोंसे युक्त, समृद्धिशालिनी और मनुष्योंसे परिपूर्ण कर देंगे । तत्पश्चात् चिरकालतक भक्तिपूर्वक मुझमें प्राणोंसहित अपना सर्वस्व समर्पित करके मुझे ही प्राप्त कर लेंगे । सुन्दर अङ्गोंवाली देवि ! तभीसे इस क्षेत्रमें निवास करनेवाले जो भी मत्परायण मेरे भक्त, चाहे वे गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, मेरी कृपासे परम दुर्लभ मोक्षको प्राप्त कर लेंगे । जो मनुष्य धर्मत्यागका प्रेमी और विषयोंमें आसक्त चित्तवाला भी हो, वह भी यदि इस क्षेत्रमें प्राणत्याग करता है तो उसे पुनः संसारमें नहीं आना पड़ता । सुव्रते ! फिर जो ममतारहित, धैर्यशाली, पराक्रमी, जितेन्द्रिय, व्रतधारी, आरम्भरहित, बुद्धिमान् और आसक्तिहीन हैं, वे सभी मुझमें मन लगाकर यहाँ शरीरका त्याग करके मेरी कृपासे परम मोक्षको ही प्राप्त हुए हैं । हजारों जन्मोंमें योगका अभ्यास करनेसे जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह परम मोक्ष यहाँ मरनेसे ही प्राप्त हो जाता है । देवि ! मैंने तुमसे इस अविमुक्त क्षेत्रके इस उत्तम, गुह्य एवं महान् फलको संक्षेपरूपसे वर्णन किया है । महेश्वरि ! भूतलपर इससे बढ़कर सिद्धिदाता दूसरा कोई गुह्य स्थान नहीं है । इसे जो योगेश्वर एवं योगके ज्ञाता हैं, वे ही जानते हैं । यही परमोत्कृष्ट स्थान है, यही परम कल्याणकारक है, यही परब्रह्म है और यही परमपद है । गिरिराजपुत्रि ! मेरी रमणीय वाराणसीपुरी तो सदा त्रिभुवनकी सारभूता है । अनेकों प्रकारके पाप करनेवाले मानव भी यहाँ आकर पापोंके नष्ट हो जानेसे पापमुक्त हो सुशोभित होने लगते हैं । देवि ! विचित्र वृक्षों, गुल्मों, लताओं और सुगन्धित पुष्पोंसे युक्त यह क्षेत्र मेरे लिये सदा प्रियतम कहा जाता है । वेदाध्ययनसे रहित मूर्ख प्राणी भी यदि यहाँ मरते हैं तो परम पदको प्राप्त हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६८–७९ ॥

सूत उवाच

एतस्मिन्नन्तरे देवो देवीं प्राह गिरीन्द्रजाम् । दातुं प्रसादाद् यक्षाय वरं भक्ताय भामिनि ॥ ८० ॥
भक्तो मम वरारोहे तपसा हतकिल्बिषः । अहो वरमसौ लब्धुमसक्तो भुवनेश्वरि ॥ ८१ ॥
एवमुक्त्वा ततो देवः सह देव्या जगत्पतिः । जगाम यक्षो यत्रास्ते कृशो धमनिसन्ततः ॥ ८२ ॥
ततस्तं गुह्यकं देवी दृष्टिपातैर्निरीक्षती । श्वेतवर्णं विचर्माणं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम् ॥ ८३ ॥
देवी प्राह तदा देवं दर्शयन्ती च गुह्यकम् । सत्यं नाम भवानुग्रो देवैरुक्तस्तु शङ्कर ॥ ८४ ॥
ईदृशे चास्य तपसि न प्रयच्छसि यद्वरम् । अतः क्षेत्रे महादेव पुण्ये सम्यगुपासिते ॥ ८५ ॥
कथमेवं परिक्लेशं प्राप्तो यक्षकुमारकः । शीघ्रमस्य वरं यच्छ प्रसादात् परमेश्वर ॥ ८६ ॥
एवं मन्वादयो देव वदन्ति परमर्षयः ।
रुष्टाद् वा चाथ तुष्टाद् वा सिद्धिस्तूभयतो भवेत् । भोगप्राप्तिस्तथा राज्यमन्ते मोक्षः सदाशिवात् ॥ ८७ ॥
एवमुक्तस्ततो देवः सह देव्या जगत्पतिः । जगाम यक्षो यत्रास्ते कृशो धमनिसंततः ॥ ८८ ॥

तं दृष्ट्वा प्रणतं भक्त्या हरिकेशं वृषध्वजः। दिव्यं चक्षुरदात् तस्मै येनापश्यत् स शंकरम् ॥ ८९ ॥
अथ यक्षस्तदादेशाच्छनैरुन्मील्य चक्षुषी। अपश्यत् सगणं देवं वृषध्वजमुपस्थितम् ॥ ९० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इसी बीच महादेवजीने गिरिराजकुमारी पार्वतीदेवीसे भक्तराज यक्षको कृपारूप वर प्रदान करनेके लिये यों कहा—'भामिनि ! वह मेरा भक्त है। वरारोहे ! तपस्यासे उसके पाप नष्ट हो चुके है, अतः भुवनेश्वरि ! वह अब हमलोगोसे वर प्राप्त करनेका अधिकारी हो गया है।' तदनन्तर ऐसा कहकर जगदीश्वर महादेव पार्वतीदेवीके साथ उस स्थानके लिये चल पड़े, जहाँ धमनियोंसे व्याप्त दुर्बल यक्ष वर्तमान था। वहाँ पहुँचकर पार्वती देवी दृष्टि घुमाकर उस गुह्यककी ओर देखने लगीं, जिसका शरीर श्वेत रङ्गका हो गया था, चमड़ा गल गया था और अस्थिपंजर नसोंसे आबद्ध था। तब उस गुह्यकको दिखलाती हुई देवीने महादेवजीसे कहा—'शंकर! इस प्रकारकी घोर तपस्यामे निरत इसे आप जो वर नहीं प्रदान कर रहे हैं, इस कारण देवतालोग आपको जो अत्यन्त निष्ठुर बतलाते हैं, वह सत्य ही है। महादेव ! इस पुण्यक्षेत्रमें भली-भाँति उपासना करनेपर भी इस यक्षकुमारको इस प्रकारका महान् कष्ट कैसे प्राप्त हुआ ? अतः परमेश्वर! कृपा करके इसे शीघ्र ही वरदान दीजिये। देव ! मनु आदि परमर्षि ऐसा कहते हैं कि सदाशिव चाहे रुष्ट हो अथवा तुष्ट—दोनो प्रकारसे उनसे सिद्धि, भोगकी प्राप्ति, राज्य तथा अन्तमे मोक्षकी प्राप्ति होती ही है।' ऐसा कहे जानेपर जगदीश्वर महादेव पार्वतीके साथ उस स्थानके निकट गये, जहाँ धमनियोसे व्याप्त कृशकाय यक्ष स्थित था। (उनकी आहट पाकर यक्ष उनके चरणोपर गिर पड़ा।) इस प्रकार उस हरिकेशको भक्तिपूर्वक चरणोमे पड़ा हुआ देखकर शिवजीने उसे दिव्य चक्षु प्रदान किया, जिससे वह शंकरका दर्शन कर सके। तदनन्तर यक्षने महादेवजीके आदेशसे धीरेसे अपने दोनों नेत्रोंको खोलकर गणसहित वृषध्वज महादेवजीको सामने उपस्थित देखा ॥

देवदेव उवाच

वरं ददामि ते पूर्वं त्रैलोक्ये दर्शनं तथा। सावर्ण्यं च शरीरस्य पश्य मां विगतज्वरः ॥ ९१ ॥

देवाधिदेव शंकरने कहा—यक्ष! अब तुम कष्टरहित होकर मेरी ओर देखो। मैं तुम्हें पहले वह वर देता हूँ, जिससे तुम्हारे शरीरका वर्ण सुन्दर हो जाय तथा तुम त्रिलोकीमे देखने योग्य हो जाओ ॥ ९१ ॥

सूत उवाच

ततः स लब्ध्वा तु वरं शरीरेणाक्षतेन च। पादयोः प्रणतस्तस्थौ कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम् ॥ ९२ ॥
उवाचाथ तदा तेन वरदोऽस्मीति चोदितः। भगवन् भक्तिमव्यग्रां त्वय्यनन्यां विधत्स्व मे ॥ ९३ ॥
अन्नदत्व च लोकानां गाणपत्यं तथाक्षयम्। अविमुक्तं च ते स्थानं पश्येयं सर्वदा यथा ॥ ९४ ॥
एतदिच्छामि देवेश त्वत्तो वरमनुत्तमम् ॥ ९५ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! तत्पश्चात् वरदान पाकर वह अक्षत शरीरसे युक्त हो चरणोंपर गिर पड़ा, फिर मस्तकपर हाथ जोड़कर सम्मुख खड़ा हो गया और बोला—'भगवन्! आपने मुझसे कहा है कि 'मैं वरदाता हूँ' तो मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि आपमें मेरी अनन्य एवं अटल भक्ति हो जाय। मै अक्षय अन्नका दाता तथा लोकोके गणोका अधीश्वर हो जाऊँ, जिससे आपके अविमुक्त स्थानका सर्वदा दर्शन करता रहूँ। देवेश! मै आपसे यही उत्तम वर प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ९२–९५ ॥

देवदेव उवाच

जरामरणसंत्यक्तः सर्वरोगविवर्जितः। भविष्यसि गणाध्यक्षो धनदः सर्वपूजितः ॥ ९६ ॥
अजेयश्चापि सर्वेषां योगैश्वर्यं समाश्रितः। अन्नदश्चापि लोकेभ्यः क्षेत्रपालो भविष्यसि ॥ ९७ ॥
महाबलो महासत्त्वो ब्रह्मण्यो मम च प्रियः। त्र्यक्षश्च दण्डपाणिश्च महायोगी तथैव च ॥ ९८ ॥
उद्भ्रमः सम्भ्रमश्चैव गणौ ते परिचारकौ। तवाज्ञया करिष्येते लोकस्योद्भ्रमसम्भ्रमौ ॥ ९९ ॥

देवदेवने कहा—यक्ष! तुम जरा-मरणसे विमुक्त, सम्पूर्ण रोगोंसे रहित, सबके द्वारा सम्मानित धनदाता गणाध्यक्ष होओगे। तुम सभीके लिये अजेय, योगैश्वर्यसे युक्त, लोकोंके लिये अन्नदाता, क्षेत्रपाल, महाबली, महान् पराक्रमी, ब्राह्मणभक्त, मेरा प्रिय, त्रिनेत्रधारी, दण्डपाणि तथा महायोगी होओगे। उद्भ्रम और सम्भ्रम—ये दोनों गण तुम्हारे सेवक होंगे। ये उद्भ्रम और सम्भ्रम तुम्हारी आज्ञासे लोकका कार्य करेंगे ॥ ९६—९९ ॥

सूत उवाच

एवं स भगवांस्तत्र यक्षं कृत्वा गणेश्वरम्। जगाम वासं देवेशः सह तेन महेश्वरः ॥ १०० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे वाराणसीमाहात्म्ये दण्डपाणिवरप्रदानं नामाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इस प्रकार देवेश भगवान् महेश्वर वहाँ उस यक्षको गणेश्वर बनाकर उसके साथ अपने निवासस्थानको लौट गये ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके वाराणसी-माहात्म्यमें दण्डपाणि-वरप्रदान नामक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८० ॥

एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय

अविमुक्तक्षेत्र (वाराणसी)का माहात्म्य

सूत उवाच

इमां पुण्योद्भवां स्निग्धां कथां पापप्रणाशिनीम्। शृण्वन्तु ऋषयः सर्वे सुविशुद्धास्तपोधनाः ॥ १ ॥
गणेश्वरपतिं दिव्यं रुद्रतुल्यपराक्रमम्। सनत्कुमारो भगवानपृच्छन्नन्दिकेश्वरम् ॥ २ ॥
ब्रूहि गुह्यं यथातत्त्वं यत्र नित्यं भवः स्थितः। माहात्म्यं सर्वभूतानां परमात्मा महेश्वरः ॥ ३ ॥
घोररूपं समास्थाय दुष्करं देवदानवैः। आभूतसम्प्लवं यावत् स्थाणुभूतो महेश्वरः ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—परम विशुद्ध हृदयवाले तपस्वी ऋषियो! आप सबलोग इस उत्तम कथाको, जो पापकी विनाशिनी और पुण्यको उत्पन्न करनेवाली है, सुनिये! एक बार भगवान् सनत्कुमारने रुद्रके ही समान पराक्रमी तथा गणेश्वरोंके स्वामी दिव्य नन्दिकेश्वरसे पूछा—'जो सभी जीवोंके परमात्मा महेश्वर तथा देवताओं एवं दानवोंद्वारा दुष्प्राप्य हैं, वे महात्मा शंकर घोर स्वरूपको धारण कर सृष्टिसे प्रलयपर्यन्त स्थाणुरूपमें जहाँ नित्य अवस्थित रहते हैं, उस गोपनीय (स्थान)को आप रहस्यपूर्वक हमलोगोंको बतलाइये ॥ १—४ ॥

नन्दिकेश्वर उवाच

पुरा देवेन यत् प्रोक्तं पुराणं पुण्यमुत्तमम्। तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ॥ ५ ॥
ततो देवेन तुष्टेन उमायाः प्रियकाम्यया। कथितं भुवि विख्यातं यत्र नित्यं स्वयं स्थितः ॥ ६ ॥
रुद्रस्यार्धासनगता मेरुशृङ्गे यशस्विनी। महादेवं ततो देवी प्रणता परिपृच्छति ॥ ७ ॥

नन्दिकेश्वरने कहा—पूर्वकालमे महादेवने पुण्य प्रदान करनेवाले जिस श्रेष्ठ पुराणका वर्णन किया था, वह सब मै महेश्वरको नमस्कार कर वर्णन कर रहा हूँ। किसी समय उमाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे प्रसन्नमना महादेवने जिस स्थानपर वे सदा स्वयं विराजमान रहते हैं, उस विश्वविख्यात स्थानका वर्णन किया था। एक वार सुमेरुके शिखरपर रुद्रके आधे आसनपर विराजमान यशस्विनी देवी उमाने विनयभावसे महादेवजीसे प्रश्न किया ॥

भगवन् देवदेवेश चन्द्रार्धकृतशेखर। धर्मं प्रब्रूहि मर्त्यानां भुवि चैवोर्ध्वरेतसाम् ॥ ८ ॥
जप्तं दत्तं हुतं चेष्टं तपस्तप्तं कृतं च यत्। ध्यानाध्ययनसम्पन्नं कथं भवति चाक्षयम् ॥ ९ ॥
जन्मान्तरसहस्रेण यत् पापं पूर्वसंचितम्। कथं तत् क्षयमायाति तन्ममाचक्ष्व शंकर ॥ १० ॥
यस्मिन् व्यवस्थितो भक्त्या तुष्यसि त्वं महेश्वर। व्रतानि नियमाश्चैव आचारो धर्म एव च ॥ ११ ॥
सर्वसिद्धिकरं यत्र ह्यक्षयगतिदायकम्। वक्तुमर्हसि तत् सर्वं परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

देव्युवाच

देवीने पूछा—अर्धचन्द्रसे सुशोभित मस्तकवाले देवदेवेश्वर भगवन्! भूतलपर वर्तमान ऊर्ध्वरेता प्राणियोंके धर्मको विस्तारसे बतलाइये। साथ ही यह भी बतलाइये कि जप, दान, हवन, यज्ञ, तपस्या, शुभ कर्म, ध्यान और अध्ययन आदि किस प्रकार अक्षय भावको प्राप्त होते हैं? शंकर! हजारों पूर्वजन्मोंमें जो पाप संचित हुए हैं, वे किस प्रकार नष्ट होते हैं? यह आप मुझे स्पष्ट बतलाइये। महेश्वर! जिस स्थानपर स्थित होकर आप भक्तिसे प्रसन्न होते हैं तथा व्रत, नियम, आचार और धर्म जहाँ सभी सिद्धियोंके प्रदाता बन जाते हैं एवं अनश्वर गति प्रदान करते है, ये सभी बाते आप बतलाइये; क्योंकि इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी ही उत्कण्ठा है ॥

महेश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि गुह्यानां गुह्यमुत्तमम्। सर्वक्षेत्रेषु विख्यातमविमुक्तं प्रियं मम ॥ १३ ॥
अष्टषष्टिः पुरा प्रोक्ता स्थानानां स्थानमुत्तमम्। यत्र साक्षात् स्वयं रुद्रः कृत्तिवासाः स्वयं स्थितः ॥ १४ ॥
यत्र संनिहितो नित्यमविमुक्ते निरन्तरम्। तत्क्षेत्रं न मया मुक्तमविमुक्तं ततः स्मृतम् ॥ १५ ॥
अविमुक्ते परा सिद्धिरविमुक्ते परा गतिः। जप्तं दत्तं हुतं चेष्टं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥ १६ ॥
ध्यानमध्ययनं दानं सर्वं भवति चाक्षयम्। जन्मान्तरसहस्रेण यत् पापं पूर्वसंचितम् ॥ १७ ॥
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत् सर्वं व्रजति क्षयम्। अविमुक्ताग्निना दग्धमग्नौ तूलमिवाहितम् ॥ १८ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वर्णसंकराः। कृमिम्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः ॥ १९ ॥
कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः। कालेन निधनं प्राप्ता अविमुक्ते शृणु प्रिये ॥ २० ॥
चन्द्रार्धमौलिनः सर्वे ललाटाक्षा वृषध्वजाः। शिवे मम पुरे देवि जायन्ते तत्र मानवाः ॥ २१ ॥
अकामो वा सकामो वा ह्यपि तिर्यग्गतोऽपि वा। अविमुक्ते त्यजन् प्राणान् मम लोके महीयते ॥ २२ ॥
अविमुक्तं यदा गच्छेत् कदाचित् कालपर्ययात्। अश्मना चरणौ भित्त्वा तत्रैव निधनं व्रजेत् ॥ २३ ॥
अविमुक्तं गतो देवि न निर्गच्छेत् ततः पुनः। सोऽपि मत्पदमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ २४ ॥

महेश्वरने कहा—देवि! सुनो, मै तुम्हे गुप्तसे भी गुप्त उत्तम विषय बतला रहा हूँ। सभी क्षेत्रोमे प्रसिद्ध अविमुक्तक्षेत्र (वाराणसी) मुझे परम प्रिय है। पहले मैं अड़सठ श्रेष्ठ स्थानोका वर्णन कर चुका हूँ, जहाँ गजचर्म धारण कर मै साक्षात् रुद्रस्वरूपसे विराजमान रहता हूँ; परंतु अविमुक्तक्षेत्र (काशी)मे मै नित्य-निरन्तर निवास करता हूँ। उस क्षेत्रको मै कभी नहीं छोड़ता, इसीलिये इसे अविमुक्त कहा जाता है। उस अविमुक्त क्षेत्रमें परा सिद्धि और परमगति प्राप्त होती है। वहाँ किया गया जप, दान, हवन, यज्ञ, तप, शुभ कर्म, ध्यान,

अध्ययन, दान आदि सभी अक्षय हो जाते हैं। अविमुक्त क्षेत्रमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिके हजारों पूर्व जन्मोमे जो पाप संचित होते हैं, वे सभी नष्ट हो जाते हैं। वे अविमुक्तरूपी अग्निमे उसी प्रकार जळ जाते हैं, जैसे अग्निमे समर्पित की हुई रूई। प्रिये! यदि अविमुक्त क्षेत्रमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, कृमि, म्लेच्छ एवं अन्य निम्नस्तरके पापयोनिवाले कीट, चींटे, पशु, पक्षी आदि कालके वशीभूत हो मृत्युको प्राप्त होते हैं, (तो उनकी क्या गति होती है, उसे) सुनो। देवि! वे सभी मानव-शरीर धारणकर मस्तकपर अर्धचन्द्रसे सुशोभित, ललाटमे तृतीय नेत्रसे युक्त शिवस्वरूप होकर मेरे शिवपुरमे जन्म लेते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम अथवा तिर्यग्योनिगत ही क्यों न हो, यदि वह अविमुक्त क्षेत्रमे प्राणोंका त्याग करता है तो मेरे लोकमें पूजित होता है। देवि! यदि मनुष्य कालक्रमानुसार कभी अविमुक्त क्षेत्रमे पहुँच जाय तो वहाँ पत्थरसे अपने चरणोंको तोड़कर स्थित रहे और पुनः अविमुक्त क्षेत्रसे बाहर न जाय, वहीं मृत्युको प्राप्त हो जाय तो वह भी मेरे पदको प्राप्त होता है। इसमे विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १३–२४ ॥

वस्त्रापथं रुद्रकोटिं सिद्धेश्वरमहालयम्। गोकर्णं रुद्रकर्णं च सुवर्णाक्षं तथैव च ॥ २५ ॥
अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम्। एतानि हि पवित्राणि सांनिध्यात् संध्ययोर्द्वयोः ॥ २६ ॥
कालिञ्जरवनं चैव शंकुकर्णं स्थलेश्वरम्।
एतानि च पवित्राणि सांनिध्याद्धि मम प्रिये। अविमुक्ते वरारोहे त्रिसंध्यं नात्र संशयः ॥ २७ ॥
हरिश्चन्द्रं परं गुह्यं गुह्यमाम्रातकेश्वरम्। जालेश्वरं परं गुह्यं गुह्यं श्रीपर्वतं तथा ॥ २८ ॥
महालयं तथा गुह्यं कृमिचण्डेश्वरं शुभम्। गुह्यातिगुह्यं केदारं महाभैरवमेव च ॥ २९ ॥
अष्टावेतानि स्थानानि सांनिध्याद्धि मम प्रिये। अविमुक्ते वरारोहे त्रिसंध्यं नात्र संशयः ॥ ३० ॥
यानि स्थानानि श्रूयन्ते त्रिषु लोकेषु सुव्रते। अविमुक्तस्य पादेषु नित्यं संनिहितानि वै ॥ ३१ ॥
अथोत्तरां कथां दिव्यामविमुक्तस्य शोभने। स्कन्दो वक्ष्यति माहात्म्यमृषीणां भावितात्मनाम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽविमुक्तमाहात्म्ये एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

प्रिये! वस्त्रापथ (जूनागढ़, गिरिनार), रुद्रकोटि, सिद्धेश्वर, महालय, गोकर्ण, रुद्रकर्ण तथा सुवर्णाक्ष, अमरकण्टक, महाकाल (उज्जैनी) और कायावरोहण (कारावार, गुजरात)—ये सभी स्थान प्रातः और संध्याकालमे मेरी संनिधिसे पवित्र माने जाते हैं। इसी प्रकार कालिंजरवन, शङ्कुकर्ण और स्थलेश्वर (थानेश्वर)—ये भी मेरी संनिधिके कारण ही पवित्र हैं। वरारोहे! अविमुक्त क्षेत्रमे मैं तीनो संध्याओमे स्थित रहता हूँ—इसमे संदेह नहीं है। प्रिये! हरिश्चन्द्र, आम्रातकेश्वर, जालेश्वर, श्रीपर्वत महालय तथा शुभदायक कृमिचण्डेश्वर, केदार और महाभैरव—ये आठ स्थान परम गुह्य है और मेरी संनिधिसे पवित्र माने जाते हैं। किंतु सुन्दरि! अविमुक्तक्षेत्रमे मैं तीनो संध्याओमे निवास करता हूँ—इसमे संदेह नहीं है। सुव्रते! तीनो लोकोमे जो भी पवित्र स्थान सुने जाते हैं, वे सभी अविमुक्त क्षेत्रके चरणोमे सदा उपस्थित रहते हैं। शोभने! अविमुक्त क्षेत्रकी इसके बादकी दिव्य कथा और माहात्म्य स्कन्द आत्मद्रष्टा ऋषियोसे कहेंगे ॥ २५–३२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमे अविमुक्त-माहात्म्य नामक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८१ ॥

एक सौ बयासीवाँ अध्याय

अविमुक्त-माहात्म्य

सूत उवाच

कैलासपृष्ठमासीनं स्कन्दं ब्रह्मविदां वरम्। पप्रच्छुर्ऋषयः सर्वे सनकाद्यास्तपोधनाः ॥ १ ॥
तथा राजर्षयः सर्वे ये भक्तास्तु महेश्वरे। ब्रूहि त्वं स्कन्द भूर्लोके यत्र नित्यं भवः स्थितः ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! एक समय सनक आदि तपस्वी ब्रह्मर्षिगण, सकल राजर्षिवृन्द एवं महेश्वरके भक्तगणोंने कैलास पर्वतके शिखरपर बैठे हुए ब्रह्मज्ञानियोंमे श्रेष्ठ स्कन्दसे पूछा—'स्कन्द! मृत्युलोकमें जहाँ भगवान् शंकर सदैव विराजमान रहते हैं, वह स्थान आप (हमे) बतलाइये ॥ १-२ ॥

स्कन्द उवाच

महात्मा सर्वभूतात्मा देवदेवः सनातनः। घोररूपं समास्थाय दुष्करं देवदानवैः ॥ ३ ॥
आभूतसम्प्लवं यावत् स्थाणुभूतः स्थितः प्रभुः। गुह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥
अविमुक्ते सदा सिद्धिर्यत्र नित्यं भवः स्थितः। अस्य क्षेत्रस्य माहात्म्यं यदुक्तं त्वीश्वरेण तु ॥ ५ ॥
स्थानान्तरं पवित्रं च तीर्थमायतनं तथा। श्मशानसंस्थितं वेश्म दिव्यमन्तर्हितं च यत् ॥ ६ ॥
भूर्लोके नैव संयुक्तमन्तरिक्षे शिवालयम्। अयुक्तास्तु न पश्यन्ति युक्ताः पश्यन्ति चेतसा ॥ ७ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतोपेताः सिद्धा वेदान्तकोविदाः। आदेहपतनाद् यावत् तत् क्षेत्रं ये न मुञ्चति ॥ ८ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतैः सम्यक् सम्यगिष्टं मखैर्भवेत्। अपापात्मा गतिः सर्वा या तूक्ता च क्रियावताम् ॥ ९ ॥
यस्तत्र निवसेद् विप्रोऽसंयुक्तात्मासमाहितः। त्रिकालमपि भुञ्जानो वायुभक्षसमो भवेत् ॥ १० ॥
निमेषमात्रमपि यो ह्यविमुक्ते तु भक्तिमान्। ब्रह्मचर्यसमायुक्तः परमं प्राप्नुयात् तपः ॥ ११ ॥
योऽत्र मासं वसेद् धीरो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः। सम्यक् तेन व्रतं चीर्णं दिव्यं पाशुपतं महत् ॥ १२ ॥
जन्ममृत्युभयं तीर्त्वा स याति परमां गतिम्। नैःश्रेयसीं गतिं पुण्यां तथा योगगतिं व्रजेत् ॥ १३ ॥
न हि योगगतिर्दिव्या जन्मान्तरशतैरपि। प्राप्यते क्षेत्रमाहात्म्यात् प्रभावाच्छंकरस्य तु ॥ १४ ॥

स्कन्दने कहा—सभी प्राणियोके आत्मस्वरूप, महात्मा, सनातन, देवाधिदेव, सामर्थ्यशाली महादेव देवता एवं दानवोंसे दुष्प्राप्य, घोररूप धारणकर प्रलयपर्यन्त जहाँ स्थिर रूपसे निवास करते हैं, उसे अत्यन्त गुप्त अविमुक्त क्षेत्र कहा जाता है। जहाँ शिव सदा स्थित रहते हैं, उस अविमुक्तक्षेत्रमें सिद्धि सदा सुलभ है। इस स्थानका जो माहात्म्य भगवान् शंकरने स्वयं कहा है, उसे सुनिये। यह स्थान परम पवित्र तीर्थ और देवालय है। महाश्मशानपर स्थित जो दिव्य एवं सुगुप्त मन्दिर है, उसका पृथ्वीलोकसे सम्बन्ध नहीं है। वह शिवका मन्दिर अन्तरिक्षमें है। योगी व्यक्ति ही ज्ञानद्वारा उसका साक्षात्कार कर पाते हैं, किंतु जो योगसे रहित हैं, वे उसे नहीं देख पाते। जो ब्रह्मचारी, सिद्ध और वेदान्तको जाननेवाले मृत्युपर्यन्त उस स्थानका परित्याग नहीं करते, उन्हें वह पवित्र गति प्राप्त होती है, जो ब्रह्मचर्यपूर्वक यज्ञोंद्वारा भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर क्रियासम्पन्न व्यक्तियोके लिये कही गयी है। जो विप्र समाधिसे रहित, योगसे शून्य एवं तीनों समय भोजन करते हुए भी वहाँ निवास करता है, वह वायुभक्षीके समान माना जाता है। इस अविमुक्त क्षेत्रमे क्षणभर भी ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करनेवाला भक्तिमान् व्यक्ति परम तपको प्राप्त करता है। जो धीर पुरुष अल्प भोजन करते हुए इन्द्रियोंको वशमे कर एक मासतक यहाँ निवास करता है, वह (मानो) महान् दिव्य पाशुपत व्रतका अनुष्ठान

कर लेता है। वह पुरुष जन्म और मृत्युके भयको पारकर परमगतिको प्राप्त करता है तथा पुण्यदायक मोक्ष एवं योगगतिका अधिकारी हो जाता है। जिस दिव्य योगगतिको सैकड़ों जन्मोंमें भी नहीं प्राप्त किया जा सकता, वह स्थानके माहात्म्य और शंकरके प्रभावसे यहाँ प्राप्त हो जाती है ॥ ३—१४ ॥

ब्रह्महा योऽभिगच्छेत् तु अविमुक्तं कदाचन। तस्य क्षेत्रस्य माहात्म्याद् ब्रह्महत्या निवर्तते ॥ १५ ॥
आदेहपतनाद् यावत् क्षेत्रं यो न विमुञ्चति। न केवलं ब्रह्महत्या प्राक्कृतं च निवर्तते ॥ १६ ॥
प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते। अनन्यमानसो भूत्वा योऽविमुक्तं न मुञ्चति ॥ १७ ॥
तस्य देवः सदा तुष्टः सर्वान् कामान् प्रयच्छति। द्वारं यत् सांख्ययोगानां स तत्र वसति प्रभुः ॥ १८ ॥
सगणो हि भवो देवो भक्तानामनुकम्पया। अविमुक्तं परं क्षेत्रमविमुक्ते परा गतिः ॥ १९ ॥
अविमुक्ते परा सिद्धिरविमुक्ते परं पदम्। अविमुक्तं निषेवेत देवर्षिगणसेवितम् ॥ २० ॥
यदीच्छेन्मानवो धीमान् न पुनर्जायते क्वचित्। मेरोः शक्तो गुणान् वक्तुं द्वीपानां च तथैव च ॥ २१ ॥
समुद्राणां च सर्वेषां नाविमुक्तस्य शक्यते। अन्तकाले मनुष्याणां छिद्यमानेषु मर्मसु ॥ २२ ॥
वायुना प्रेर्यमाणानां स्मृतिर्नैवोपजायते। अविमुक्ते ह्यन्तकाले भक्तानामीश्वरः स्वयम् ॥ २३ ॥
कर्मभिः प्रेर्यमाणानां कर्णजापं प्रयच्छति। मणिकर्ण्यां त्यजन् देहं गतिमिष्टां व्रजेन्नरः ॥ २४ ॥
ईश्वरप्रेरितो याति दुष्प्रापामकृतात्मभिः। अशाश्वतमिदं ज्ञात्वा मानुष्यं बहुकिल्बिषम् ॥ २५ ॥
अविमुक्तं निषेवेत संसारभयमोचनम्। योगक्षेमप्रदं दिव्यं बहुविघ्नविनाशनम् ॥ २६ ॥
विघ्नैश्चालोड्यमानोऽपि योऽविमुक्तं न मुञ्चति।
स मुञ्चति जरां मृत्युं जन्म चैतदशाश्वतम्। अविमुक्तप्रसादात् तु शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥ २७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽविमुक्तमाहात्म्ये द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

ब्रह्महत्या करनेवाला व्यक्ति भी यदि किसी समय इस अविमुक्तक्षेत्रमे चला जाता है तो इस क्षेत्रके प्रभावसे उसकी ब्रह्महत्या निवृत्त हो जाती है। जो मृत्युपर्यन्त इस क्षेत्रका परित्याग नहीं करता, उसकी केवल ब्रह्महत्या ही नहीं, अपितु पहलेके किये हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। वह भगवान् विश्वेश्वरको प्राप्तकर पुनः संसारमे जन्म नहीं ग्रहण करता। जो अनन्यचित्त हो अविमुक्त क्षेत्रका परित्याग नहीं करता, उसपर भगवान् शंकर सदा प्रसन्न रहते है और उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। जो सांख्य और योगका द्वारस्वरूप है, उस स्थानपर भक्तोपर अनुकम्पा करनेके लिये सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् शंकर गणोके साथ निवास करते हैं। अविमुक्त क्षेत्र श्रेष्ठ स्थान है। अविमुक्तमे रहनेसे श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है। अविमुक्तमे रहनेसे परम सिद्धि प्राप्त होती है और अविमुक्तमे रहनेसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है। यदि बुद्धिमान् मनुष्य यह चाहता हो कि मेरा पुनर्जन्म न हो तो उसे देवर्षिगणोंसे सेवित अविमुक्त क्षेत्रमे निवास करना चाहिये। मेरु पर्वत, सभी द्वीपों तथा समुद्रोके गुणोंका वर्णन किया जा सकता है, किंतु अविमुक्त क्षेत्रके गुणोका वर्णन नहीं किया जा सकता। मृत्युके समय वायुसे प्रेरित मनुष्योके मर्मस्थानोंके छिन्न हो जानेपर स्मृति नहीं उत्पन्न होती, किंतु अविमुक्तमें अन्तसमय कर्मोसे प्रेरित भक्तोके कानमे स्वयं ईश्वर मन्त्रका जाप करते हैं। मनुष्य मणिकर्णिकामें शरीरका त्याग करनेपर इष्टगतिको प्राप्त करता है। जो गति अविशुद्ध आत्माओंद्वारा दुष्प्राप्य है, उसे भी वह ईश्वरकी प्रेरणाद्वारा यहाँ प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य अनेक पापोंसे परिपूर्ण इस मानव-योनिको नश्वर समझकर संसार-भयसे छुटकारा देनेवाले, योगक्षेमके प्रदाता, अनेक विघ्नोंके विनाशक, दिव्य अविमुक्त (काशी)में निवास करता

है तथा अनेक विघ्नोंसे आलोडित होनेपर भी अविमुक्त-को नहीं छोड़ता, वह वृद्धावस्था, मृत्यु और इस नश्वर जन्मसे छुटकारा पा लेता है तथा अविमुक्तके माहात्म्यसे शिवसायुज्यको प्राप्त करता है ॥ १५–२७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके अविमुक्त-माहात्म्य-वर्णनमें एक सौ बयासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८२ ॥

एक सौ तिरासीवाँ अध्याय

अविमुक्त-माहात्म्यके प्रसङ्गमें शिव-पार्वतीका प्रश्नोत्तर

देव्युवाच

हिमवन्तं गिरिं त्यक्त्वा मन्दरं गन्धमादनम्। कैलासं निषधं चैव मेरुपृष्ठं महाद्युति ॥ १ ॥
रम्यं त्रिशिखरं चैव मानसं सुमहागिरिम्। देवोद्यानानि रम्याणि नन्दनं वनमेव च ॥ २ ॥
सुरस्थानानि मुख्यानि तीर्थान्यायतनानि च। तानि सर्वाणि संत्यज्य अविमुक्ते रतिः कथम्॥ ३ ॥
किमत्र सुमहत् पुण्यं परं गुह्यं वदस्व मे। येन त्वं रमसे नित्यं भूतसम्पद्‌गुणैर्युतः ॥ ४ ॥
क्षेत्रस्य प्रवरत्वं च ये च तत्र निवासिनः। तेषामनुग्रहः कश्चित् तत्सर्वं ब्रूहि शंकर ॥ ५ ॥

देवी पार्वतीने पूछा—कल्याणकारी पतिदेव ! हिमालयपर्वत, मन्दर, गन्धमादन, कैलास, निषध, देदीप्यमान सुमेरुपीठ, मनोहर त्रिशिखर पर्वत एवं अतिशय विशाल मानस पर्वत, रमणीय देव-उद्यान, नन्दनवन, देव-स्थानों, मुख्य तीर्थों और मन्दिरों—इन सभी स्थानोंको छोड़कर आपका अविमुक्तक्षेत्रमे इतना अधिक प्रेम क्यों है ? यहाँ अतिशय गोपनीय कौन-सा बहुत बड़ा पुण्य है, जिससे आप प्रमथोंके साथ यहाँ नित्य रमण करते हैं। उस क्षेत्रकी तथा वहाँके निवासियोंकी जो श्रेष्ठता है और उनलोगोंपर आपका जो अपूर्व अनुग्रह है—वे सभी बातें मुझे बतलाइये ॥ १–५ ॥

शंकर उवाच

अत्यद्भुतमिमं प्रश्नं यत्त्वं पृच्छसि भामिनि। तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ६ ॥
वाराणस्यां नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता। प्रविष्टा त्रिपथा गङ्गा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये ॥ ७ ॥
ममैव प्रीतिरतुला कृत्तिवासे च सुन्दरि। सर्वेषां चैव स्थानानां स्थानं तत्तु यथाधिकम्॥ ८ ॥
तेन कार्येण सुश्रोणि तस्मिन् स्थाने रतिर्मम। तस्मिंल्लिङ्गे च सांनिध्यं मम देवि सुरेश्वरि ॥ ९ ॥
क्षेत्रस्य च प्रवक्ष्यामि गुणान् गुणवतां वरे। याञ्श्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १० ॥
यदि पापो यदि शठो यदि चाधार्मिको नरः। मुच्यते सर्वपापेभ्यो ह्यविमुक्तं व्रजेद् यदि ॥ ११ ॥
प्रलये सर्वभूतानां लोके स्थावरजङ्गमे। न हि त्यक्ष्यामि तत्स्थानं महागणशतैर्वृतः ॥ १२ ॥
यत्र देवाः सगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः। वक्त्रं मम महाभागे प्रविशन्ति युगक्षये ॥ १३ ॥
तेषां साक्षादहं पूजां प्रतिगृह्णामि पार्वति। सर्वगुह्योत्तमं स्थानं मम प्रियतमं शुभम् ॥ १४ ॥
धन्याः प्रविष्टाः सुश्रोणि मम भक्ता द्विजातयः। मद्भक्तिपरमा नित्यं ये मद्भक्तास्तु ते नराः ॥ १५ ॥
तस्मिन् प्राणान् परित्यज्य गच्छन्ति परमां गतिम्। सदा यजति रुद्रेण सदा दानं प्रयच्छति ॥ १६ ॥
सदा तपस्वी भवति अविमुक्तस्थितो नरः। यो मां पूजयते नित्यं तस्य तुष्याम्यहं प्रिये ॥ १७ ॥
सर्वदानानि यो दद्यात् सर्वयज्ञेषु दीक्षितः। सर्वतीर्थाभिषिक्तश्च स प्रपद्येत मामिह ॥ १८ ॥
अविमुक्तं सदा देवि ये व्रजन्ति सुनिश्चिताः। ते तिष्ठन्तीह सुश्रोणि मद्भक्ताश्च त्रिविष्टपे ॥ १९ ॥
मत्प्रसादात् तु ते देवि दीव्यन्ति शुभलोचने। दुर्धराश्चैव दुर्धर्षा भवन्ति विगतज्वराः ॥ २० ॥
अविमुक्तं शुभं प्राप्य मद्भक्ताः कृतनिश्चयाः। निर्धूतपापा विमला भवन्ति विगतज्वराः ॥ २१ ॥

शिवजी बोले—भामिनि ! तुम जो प्रश्न कर रही हो, यह अतिशय अद्भुत है। मैं वह सब स्पष्ट रूपसे कह रहा हूँ, सुनो। प्रिये! सिद्धों और गन्धर्वोंसे सेवित त्रिपथगामिनी पुण्य-शीला नदी श्रीगङ्गाजी मेरे उस क्षेत्र वाराणसीमें प्रविष्ट होती हैं। सुन्दरि! कृत्तिवास-लिङ्गपर मेरा अपार प्रेम है, इसीलिये वह स्थान सभी स्थानोंसे श्रेष्ठ है। सुश्रोणि ! इसी कारण मेरा उस स्थानपर अधिक राग है तथा सुरेश्वरि! उस लिङ्गमें मेरा सदा निवास रहता है। सभी गुणवानोंमे श्रेष्ठ देवि ! अब मैं क्षेत्रके गुणोंका वर्णन करता हूँ, जिन्हें सुनकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। पापी, दुष्ट अथवा अधार्मिक मनुष्य भी यदि अविमुक्त (काशी) में चला जाय तो वह सभी पापोंसे छूट जाता है। सभी प्राणियोंके स्थावर एवं जंगमसे व्याप्त लोकके प्रलयकालमें भी मैं सैकड़ों विशिष्ट गणोंके साथ रहकर उस स्थानको नहीं छोड़ता। महाभागे! जहाँ देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस—सभी युगके नाश-के समय मेरे मुखमें प्रवेश कर जाते हैं। पार्वति! उनकी पूजाको मैं साक्षात् रूपसे ग्रहण करता हूँ। यह शुभ-दायक अतिशय रहस्यमय स्थान मुझे परम प्रिय है। सुश्रोणि ! वहाँ निवास करनेवाले मेरे भक्त द्विजातिगण धन्य हैं। सदा मेरी भक्तिमें तत्पर जो मेरे भक्त हैं, वे वहाँ अपने शरीरका त्याग कर परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य अविमुक्त क्षेत्र (काशी) में निवास करता है, वह सदा रुद्रसूक्तसे पूजा करता है, सदा दान देता है और सदा तपस्यामें रत रहता है। प्रिये! जो मेरी नित्य पूजा करता है, उससे मै प्रसन्न रहता हूँ। जो सभी प्रकार-का दान करता है, सभी तरहके यज्ञोंमें दीक्षित होता है और सभी तीर्थोंके जलोंके अभिषेकसे सम्पन्न है, वही यहाँ मुझे प्राप्त करता है। देवि! जो सदा सुनिश्चित रूपसे अविमुक्त क्षेत्रमें जाते रहते हैं तथा यहाँ निवास करते हैं, वे स्वर्गमें भी मेरे भक्त बने रहते हैं। शुभलोचने देवि! मेरी कृपासे वे देदीप्यमान रहते हैं तथा किसीसे पराजित न होनेवाले, पराक्रमशाली और संतापरहित होते हैं। स्थिर निश्चयवाले मेरे भक्त शुभप्रद अविमुक्तको प्राप्तकर पापरहित, निर्मल और उद्वेगशून्य हो जाते हैं॥ ६–२१ ॥

पार्वत्युवाच

दक्षयज्ञस्त्वया देव मत्प्रियार्थे निषूदितः। अविमुक्तगुणानां तु न तृप्तिरिह जायते ॥ २२ ॥

पार्वतीने कहा—देव ! आपने मेरा प्रिय करनेके लिये दक्ष-यज्ञको विनष्ट किया था, किंतु अविमुक्तके गुणोंको सुननेसे मुझे यहाँ संतोष नहीं हो रहा है॥ २२ ॥

ईश्वर उवाच

क्रोधेन दक्षयज्ञस्तु त्वत्प्रियार्थे विलाशितः। महाप्रिये महाभागे नाशितोऽयं वरानने ॥ २३ ॥
अविमुक्ते यजन्ते तु मद्भक्ताः कृतनिश्चयाः। न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ २४ ॥

ईश्वर बोले—महाभागे ! तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये मैंने क्रोधवश दक्ष-यज्ञका विनाश किया था; क्योंकि वरानने ! तुम तो मेरी अतिशय प्रियतमा हो, इसीलिये उस यज्ञको नष्ट किया था। जो मेरे भक्त अविमुक्त क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक यज्ञ करते हैं, उनका सैकड़ों करोड़ कल्पोंमे भी पुनः संसारमें आगमन नहीं होता ॥ २३–२४ ॥

देव्युवाच

दुर्लभास्तु गुणा देव अविमुक्ते तु कीर्तिताः। सर्वांस्तान् मम तत्त्वेन कथयस्व महेश्वर ॥ २५ ॥
कौतूहलं महादेव हृदिस्थं मम वर्तते। तत्सर्वं मम तत्त्वेन आख्याहि परमेश्वर ॥ २६ ॥

देवीने पूछा—देव ! आपने अविमुक्त क्षेत्रके जिन दुर्लभ गुणोंका वर्णन किया है, महेश्वर ! आप उन सभी गुणोंको रहस्यपूर्वक मुझसे वर्णन कीजिये। महादेव ! मेरे हृदयमें परम आश्चर्य हो रहा है, अतः परमेश्वर ! उन सभी विषयोंको मुझे रहस्यपूर्वक बतलाइये ॥ २५–२६ ॥

ईश्वर उवाच

अक्षया ह्यमराश्चैव ह्यदेहाश्च भवन्ति ते। मत्प्रसादाद् वरारोहे मामेव प्रविशन्ति वै ॥ २७ ॥
ब्रूहि ब्रूहि विशालाक्षि किमन्यच्छ्रोतुमर्हसि ॥ २८ ॥

ईश्वर बोले—सुन्दरि ! जो अविमुक्त क्षेत्रमें निवास करते हैं, वे मेरी कृपासे विदेह, अक्षय और अमर हो जाते हैं तथा अन्तमें निश्चय ही मुझमें लीन हो जाते हैं । विशालनेत्रे ! कहो, कहो, तुम और क्या सुनना चाहती हो ? ॥ २७–२८ ॥

देव्युवाच

अविमुक्ते महाक्षेत्रे अहो पुण्यमहो गुणाः। न तृप्तिमधिगच्छामि ब्रूहि देव पुनर्गुणान् ॥ २९ ॥

देवीने पूछा—देव ! अविमुक्त नामक विशाल क्षेत्रका आश्चर्यजनक पुण्य है एवं आश्चर्यजनक गुण हैं, इनके सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है, अतः पुनः उन गुणोंका वर्णन कीजिये ॥ २९ ॥

ईश्वर उवाच

महेश्वरि वरारोहे शृणु तांस्तु मम प्रिये। अविमुक्ते गुणा ये तु तथान्यानपि तच्छृणु ॥ ३० ॥
शाकपर्णाशिनो दान्ताः सम्प्रक्षाल्या मरीचिपाः। दन्तोलूखलिनश्चान्ये अश्मकुट्टास्तथापरे ॥ ३१ ॥
मासि मासि कुशाग्रेण जलमास्वादयन्ति वै। वृक्षमूलनिकेताश्च शिलाशय्यास्तथा परे ॥ ३२ ॥
आदित्यवपुषः सर्वे जितक्रोधा जितेन्द्रियाः। एवं बहुविधैर्धर्मैरन्यत्र चरितव्रताः ॥ ३३ ॥
त्रिकालमपि भुञ्जाना येऽविमुक्तनिवासिनः।
तपश्चरन्ति वान्यत्र कलां नार्हन्ति षोडशीम्। येऽविमुक्ते वसन्तीह स्वर्गे प्रतिवसन्ति ते ॥ ३४ ॥

ईश्वरने कहा—महेश्वरि ! तुम तो परम सुन्दरी एवं मेरी प्रिया हो, अतः अविमुक्त क्षेत्रमें जो गुण हैं, उन्हें तथा उनके अतिरिक्त अन्यान्य गुणोंको भी सुनो । जो शाक एवं पत्तोंपर जीवन-निर्वाह करनेवाले, संयमी, भलीभाँति स्नानसे निर्मल, सूर्य-किरणोंका पान करनेवाले, दाँतरूपी ओखलीसे निर्वाह करनेवाले, पत्थरपर कूटकर भोजन करनेवाले, प्रतिमास कुशके अग्रभागसे जलका आस्वादन करनेवाले, वृक्षकी जड़में निवास करनेवाले, पत्थरपर शयन करनेवाले, आदित्यके समान तेजस्वी शरीरधारी, क्रोधविजयी और जितेन्द्रिय हैं तथा इसी तरह अनेक प्रकारके धर्मोंसे अन्य स्थानोंमें व्रतका आचरण करनेवाले हैं, अथवा तपस्यामें संलग्न हैं, वे सभी तीनों कालोंमें भोजन करनेवाले अविमुक्तनिवासी व्यक्तिकी सोलहवीं कलाकी बराबरी नहीं कर सकते । जो अविमुक्त क्षेत्रमें निवास कर रहे हैं, वे मानो स्वर्गमें ही निवास कर रहे हैं ॥ ३०–३४ ॥

मत्समः पुरुषो नास्ति त्वत्समा नास्ति योषिताम्। अविमुक्तसमं क्षेत्रं न भूतं न भविष्यति ॥ ३५ ॥
अविमुक्ते परो योगो ह्यविमुक्ते परा गतिः। अविमुक्ते परो मोक्षः क्षेत्रं नैवास्ति तादृशम् ॥ ३६ ॥
परं गुह्यं प्रवक्ष्यामि तत्त्वेन वरवर्णिनि। अविमुक्ते महाक्षेत्रे यदुक्तं हि मया पुरा ॥ ३७ ॥
जन्मान्तरशतैर्देवि योगोऽयं यदि लभ्यते। मोक्षः शतसहस्रेण जन्मना लभ्यते न वा ॥ ३८ ॥
अविमुक्ते न संदेहो मद्भक्तः कृतनिश्चयः। एकेन जन्मना सोऽपि योगं मोक्षं च विन्दति ॥ ३९ ॥
अविमुक्ते नरा देवि ये व्रजन्ति सुनिश्चिताः। ते विशन्ति परं स्थानं मोक्षं परमदुर्लभम् ॥ ४० ॥
पृथिव्यामीदृशं क्षेत्रं न भूतं न भविष्यति।
चतुर्मूर्तिः सदा धर्मस्तस्मिन् संनिहितः प्रिये। चतुर्णामपि वर्णानां गतिस्तु परमा स्मृता ॥ ४१ ॥

विश्वमें मेरे समान न कोई दूसरा पुरुष है, न तुम्हारे समान कोई स्त्री है और न अविमुक्तके समान कोई अन्य तीर्थस्थान हुआ है, न होगा। अविमुक्तमें परम योग, अविमुक्तमें श्रेष्ठ गति, अविमुक्तमें परम मोक्ष प्राप्त होता है, इसके समान अन्य कोई भी क्षेत्र नहीं है। शोभने! महाक्षेत्र अविमुक्तके विषयमें मैंने जो पूर्वमें कहा है, उस परम रहस्यको मैं यथार्थ रूपसे कह रहा हूँ। देवि! करोड़ों जन्मोंके पश्चात् मोक्षकी प्राप्ति होती है या नहीं, इसमें भी संदेह है, परंतु यदि कहीं सैकड़ों जन्मोंके बाद ऐसा योग उपलब्ध हो जाय तो दृढ़ निश्चयवाला मेरा भक्त अविमुक्त क्षेत्रमें एक ही जन्ममें योग और मोक्षको प्राप्त कर लेता है। देवि! जो दृढ़ निश्चयसे सम्पन्न पुरुष अविमुक्त क्षेत्रमें जाते हैं, वे परम दुर्लभ श्रेष्ठ मोक्षपदको प्राप्त करते हैं। प्रिये! पृथ्वीमें ऐसा क्षेत्र न हुआ है और न होगा। चार मूर्तिवाला धर्म इस क्षेत्रमें सदा निवास करता है। यहाँ चारों वर्णोंकी परम गति कही गयी है॥ ३५—४१॥

देव्युवाच

श्रुता गुणास्ते क्षेत्रस्य इह चान्यत्र ये प्रभो। वदस्व भुवि विप्रेन्द्राः कं वा यज्ञैर्यजन्ति ते॥ ४२॥

देवीने पूछा—प्रभो! आपके क्षेत्रके लौकिक और पारलौकिक गुणोंको मैंने सुन लिया। अब यह बतलाइये कि पृथ्वीपर जो श्रेष्ठ विप्रवृन्द हैं, वे यज्ञोंद्वारा किसका यजन करते हैं?॥ ४२॥

ईश्वर उवाच

इज्यया चैव मन्त्रेण मामेव हि यजन्ति ये। न तेषां भयमस्तीति भवं रुद्रं यजन्ति यत्॥ ४३॥
अमन्त्रो मन्त्रको देवि द्विविधो विधिरुच्यते। सांख्यं चैवाथ योगश्च द्विविधो योग उच्यते॥ ४४॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ४५॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ४६॥
निर्गुणः सगुणो वापि योगश्च कथितो भुवि। सगुणश्चैव विज्ञेयो निर्गुणो मनसः परः॥ ४७॥
एतत् ते कथितं देवि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ ४८॥

ईश्वरने कहा—जो यज्ञ और मन्त्रद्वारा मेरा ही यजन करते हैं, उन लोगोंको कोई भय नहीं रह जाता; क्योंकि वे भव और रुद्रकी आराधना करनेवाले हैं। देवि! मन्त्ररहित और मन्त्रसहित—दोनो प्रकारकी विधियाँ कही गयी हैं। इसी प्रकार सांख्य और योगके भेदसे योग भी दो प्रकारका कहा गया है। जो सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदोंसे शून्य हो सबको एक मानकर सभी प्राणियोंमें स्थित मेरी आराधना करता है, वह योगी सदा अपने स्वरूपमें रहता हुआ भी मुझमें ही स्थित रहता है। जो सर्वत्र सबको आत्मसदृश मुझमें अवस्थित देखता है, उससे न तो मैं वियुक्त होता हूँ और न वह मुझसे अलग होता है। भूतलपर निर्गुण और सगुण—दो प्रकारके योग कहे गये हैं। उनमें सगुण योग ही ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है, निर्गुण योग मनसे परे है। देवि! जो तुमने मुझसे पूछा है, वह मैंने तुम्हें बतला दिया॥ ४३—४८॥

देव्युवाच

या भक्तिस्त्रिविधा प्रोक्ता भक्तानां बहुधा त्वया। तामहं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः कथयस्व मे॥ ४९॥

देवीने पूछा—आपने भक्तोंकी जो तीन प्रकारकी भक्ति अनेक बार कही है, उसे मैं सुनना चाहती हूँ। आप उसका यथार्थ रूपमें मुझसे वर्णन कीजिये॥ ४९॥

ईश्वर उवाच

शृणु पार्वति देवेशि भक्तानां भक्तिवत्सले। प्राप्य सांख्यं च योगं च दुःखान्तं च नियच्छति ॥ ५० ॥
सदा यः सेवते भिक्षां ततो भवति रञ्जितः। रञ्जनात् तन्मयो भूत्वा लीयते स तु भक्तिमान् ॥ ५१ ॥
शास्त्राणां तु वरारोहे वहुकारणदर्शिनः। न मां पश्यन्ति ते देवि ज्ञानवाक्यविवादिनः ॥ ५२ ॥
परमार्थज्ञानतृप्ता युक्ता जानन्ति योगिनः। विद्यया विदितात्मानो योगस्य च द्विजातयः ॥ ५३ ॥
प्रत्याहारेण शुद्धात्मा नान्यथा चिन्तयेच्च तत्।
तुष्टिं च परमां प्राप्य योगं मोक्षं परं तथा। त्रिभिर्गुणैः समायुक्तो ज्ञानवान् पश्यतीह माम् ॥ ५४ ॥
एतत् ते कथितं देवि किमन्यच्छ्रोतुमर्हसि। भूय एव वरारोहे कथयिष्यामि सुव्रते ॥ ५५ ॥
गुह्यं पवित्रमथवा यच्चापि हृदि वर्त्तते। तत् सर्वं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमनाः प्रिये ॥ ५६ ॥

ईश्वर (शिव) ने कहा—भक्तोंके प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाली देवेश्वरी पार्वती! सुनो। जो सांख्य और योगको प्राप्त कर दुःखका सर्वथा विनाश कर लेता है, सदा भिक्षासे जीवन-यापन करता है और उसीसे प्रसन्न रहता है तथा इस प्रकार प्रसन्नताके कारण उसीमें तन्मय होकर लीन हो जाता है, वह भक्तिमान् कहलाता है। वरारोहे! जो शास्त्रोंके अनेकों कारणोंपर विचार करनेवाले हैं, वे ज्ञानवाक्योंमें विवाद करनेवाले लोग मेरा दर्शन नहीं कर पाते। देवि! जो परमार्थ-ज्ञानसम्पन्न योगी हैं तथा जो द्विजातिवृन्द योगके ज्ञानसे आत्मज्ञानको प्राप्त कर चुके हैं, वे ही मुझे जान पाते हैं। जिसका आत्मा प्रत्याहारके द्वारा विशुद्ध हो गया है, जो परम संतोष, उत्कृष्ट योग और मोक्षको पाकर अन्यथा विचार नहीं करते और तीनो गुणोंसे सम्पन्न हैं, ऐसे ज्ञानी इस अविमुक्त-क्षेत्रमे मेरा साक्षात्कार कर पाते हैं। देवि! यह तो मैने तुमसे कह दिया, अब तुम और क्या सुनना चाहती हो? उत्तम पातिव्रत धारण करनेवाली सुन्दरि! मै पुनः उसका वर्णन करूँगा। प्रिये! जो गोपनीय, पावन अथवा हृदयमें वर्तमान है, वह सब मैं कहूँगा, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ५०-५६ ॥

देव्युवाच

त्वद्रूपं कीदृशं देव युक्ताः पश्यन्ति योगिनः। एतं मे संशयं ब्रूहि नमस्ते सुरसत्तम ॥ ५७ ॥

देवीने पूछा—देव! योगसिद्धिसम्पन्न योगिगण आपके कैसे स्वरूपका दर्शन करते हैं? देवश्रेष्ठ! मै आपको नमस्कार करती हूँ, आप मेरे इस संदेहपर प्रकाश डालिये ॥ ५७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अमूर्तं चैव मूर्तं च ज्योतीरूपं हि तत् स्मृतम्। तस्योपलब्धिमन्विच्छन् यत्नः कार्यो विजानता ॥ ५८ ॥
गुणैर्वियुक्तो भूतात्मा एवं वक्तुं न शक्यते। शक्यते यदि वक्तुं वै दिव्यैर्वर्षशतैर्न वा ॥ ५९ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—मेरा वह ज्योतिःस्वरूप अमूर्त और मूर्त—दो प्रकारका कहा गया है। विद्वान् पुरुषको उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषासे प्रयत्न करना चाहिये। जो प्राणी गुणोंसे रहित हैं, वह इस प्रकार इसका वर्णन नहीं कर सकता। यदि करना चाहे तो सैकड़ो दिव्य वर्षोंमे कर सकता है या नहीं—इसमें भी संदेह है ॥

देव्युवाच

किं प्रमाणं तु तत्क्षेत्रं समन्तात् सर्वतो दिशम्। यत्र नित्यं स्थितो देवो महादेवो गणैर्युतः ॥ ६० ॥

देवीने पूछा—जहाँ देवाधिदेव महादेव अपने गणोंके साथ नित्य स्थित रहते हैं, वह क्षेत्र चारों ओर सभी दिशाओंमें कितनी दूरतक विस्तृत है? ॥ ६० ॥

ईश्वर उवाच

द्वियोजनं तु तत् क्षेत्रं पूर्वपश्चिमतः स्मृतम्। अर्धयोजनविस्तीर्णं तत् क्षेत्रं दक्षिणोत्तरम्॥ ६१॥
वरणाऽसी नदी यावत् तावच्छुष्कनदी तु वै। भीष्मचण्डिकमारभ्य पर्वतेश्वरमन्तिके॥ ६२॥
गणा यत्रावतिष्ठन्ति संनियुक्ता विनायकाः। कूष्माण्डगजतुण्डश्च जयन्तश्च मदोत्कटाः॥ ६३॥
सिंहव्याघ्रमुखाः केचिद् विकटाः कुब्जवामनाः। यत्र नन्दी महाकालश्चण्डघण्टो महेश्वरः॥ ६४॥
दण्डचण्डेश्वरश्चैव घण्टाकर्णो महाबलः। एते चान्ये च बहवो गणाश्चैव गणेश्वराः॥ ६५॥
महोदरा महाकाया वज्रशक्तिधरास्तथा।
रक्षन्ति सततं देवि ह्यविमुक्तं तपोवनम्। द्वारे द्वारे च तिष्ठन्ति शूलमुद्गरपाणयः॥ ६६॥

भगवान् शंकरने कहा—वह क्षेत्र पूर्वसे पश्चिम-तक दो योजन और दक्षिणसे उत्तरतक आधा योजन विस्तृत बतलाया जाता है। जहाँतक वरुणा और असी नदियाँ हैं, वहाँतक भीष्मचण्डिकासे लेकर पर्वतेश्वरके समीप-तक शुष्कनदी है। जहाँ कूष्माण्ड, गजतुण्ड, जयन्त, उत्कट पराक्रमी विनायकगण भलीभाँति नियुक्त होकर विराजमान रहते हैं। उनमे कुछ सिंह एवं बाघके-से मुखवाले, कुछ भयंकर, कुबडे और वामन (बौने) हैं। जहाँ नन्दी, महाकाल, चण्डघण्ट, महेश्वर, दण्डचण्डेश्वर, महाबली घण्टाकर्ण—ये एवं अन्य अनेक गणसमूह और गणेश्वरवृन्द विद्यमान रहते हैं। देवि! ये सभी विशाल उदरवाले एवं विशालकाय हैं तथा हाथमे वज्र और शक्ति धारण करके इस अविमुक्त तपोवनकी सदा रक्षा करते हैं। ये सभी हाथमें शूल और मुद्गर धारण कर प्रत्येक द्वारपर स्थित रहते हैं ॥ ६१–६६ ॥

सुवर्णशृङ्गीं रौप्यखुरां चैलाजिनपयस्विनीम्। वाराणस्यां तु यो दद्यात् सवत्सां कांस्यभाजनाम्॥ ६७॥
गां दत्त्वा तु वरारोहे ब्राह्मणे वेदपारगे। आसप्तमं कुलं तेन तारितं नात्र संशयः॥ ६८॥
यो दद्याद् ब्राह्मणे किंचित् तस्मिन् क्षेत्रे वरानने। कनकं रजतं वस्त्रमन्नाद्यं बहुविस्तरम्॥ ६९॥
अक्षयं चाव्ययं चैव स्यात्तं तस्य सुलोचने। शृणु तत्त्वेन तीर्थस्य विभूतिं व्युष्टिमेव च॥ ७०॥
तत्र स्नात्वा महाभागे भवन्ति नीरुजा नराः। दशानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः॥ ७१॥
तदवाप्नोति धर्मात्मा तत्र स्नात्वा वरानने। बहुस्वल्पं च यो दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे॥ ७२॥
शुभां गतिमवाप्नोति अग्निवच्चैव दीप्यते। वाराणसीजाह्नवीभ्यां संगमे लोकविश्रुते॥ ७३॥
दत्त्वान्नं च विधानेन न स भूयोऽभिजायते। एतत् ते कथितं देवि तीर्थस्य फलमुत्तमम्॥ ७४॥

वरारोहे! जो स्वर्णजटित सींगोवाली, चाँदीसे युक्त खुरोवाली, सुन्दर वस्त्र और मृगचर्मसे सुशोभित, दूध देनेवाली, कांसदोहनीसे युक्त सवत्सा गौका वाराणसीमे वेदपारङ्गत ब्राह्मणको दान करता है, वह अपनी सात पीढ़ियोंको तार देता है—इसमे संदेह नहीं है। वरानने! जो उस क्षेत्रमे थोड़ा अथवा अधिक मात्रामे सुवर्ण, रजत, वस्त्र, अन्न आदि ब्राह्मणको दान करता है, सुलोचने! उसका वह दान अक्षय एवं अविनाशी हो जाता है। महाभागे! इस तीर्थकी वास्तविक विभूति और विशिष्ट फलको सुनो। वहाँ स्नान कर मनुष्य रोगरहित हो जाते हैं। वरानने! दस अश्वमेध याग करनेसे मनुष्य जो फल प्राप्त करता है, वह उस धर्मात्मा व्यक्तिको वहाँ स्नान करनेसे ही प्राप्त हो जाता है। जो वेदके पारङ्गत ब्राह्मणको अधिक या स्वल्प—जो भी अपनी शक्तिके अनुसार दान देता है, उस दानसे उसे शुभ गति प्राप्त होती है और वह अग्निके समान तेजस्वी हो जाता है। जो संसारमें प्रसिद्ध वरुणा-असी और गङ्गाके संगमपर विधानपूर्वक अन्नका दान देता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। देवि! मैंने इस तीर्थका यह उत्तम फल तुम्हें बतला दिया ॥

*

पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि तीर्थस्य फलमुत्तमम् ।
उपवासं तु यः कृत्वा विप्रान् संतर्पयेन्नरः । सौत्रामणेश्च यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ७५ ॥
एकाहारस्तु यस्तिष्ठेन्मासं तत्र वरानने । यावज्जीवकृतं पापं सहसा तस्य नश्यति ॥ ७६ ॥
अग्निप्रवेशं ये कुर्युरविमुक्ते विधानतः । प्रविशन्ति मुखं ते मे निःसंदिग्धं वरानने ॥ ७७ ॥
कुर्वन्त्यनशनं ये तु मद्भक्ताः कृतनिश्चयाः । न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥ ७८ ॥
अर्चयेद् यस्तु मां देवि अविमुक्ते तपोवने । तस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि यदवाप्नोति मानवः ॥ ७९ ॥
दशाश्वमेधिकं पुण्यं लभते नात्र संशयः । दशसौवर्णिकं पुष्पं योऽविमुक्ते प्रयच्छति ॥ ८० ॥
अग्निहोत्रफलं धूपे गन्धदाने तथा शृणु । भूमिदानेन तत्तुल्यं गन्धदानफलं स्मृतम् ॥ ८१ ॥
सम्मार्जने पञ्चशतं सहस्रमनुलेपने । मालया शतसाहस्रमनन्तं गीतवाद्यतः ॥ ८२ ॥

अब मैं पुनः इस तीर्थका अन्य उत्तम फल बतला रहा हूँ । जो मनुष्य इस तीर्थमें उपवासपूर्वक विप्रोंको भलीभाँति तृप्त करता है, वह मानव सौत्रामणि नामक यज्ञका फल प्राप्त करता है । वरानने ! जो वहाँ एक मासतक एक समय भोजन कर जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवनपर्यन्त किया हुआ पाप अनायास ही नष्ट हो जाता है । वरानने ! जो इस अविमुक्त क्षेत्रमें विधानपूर्वक अग्निमें प्रवेश कर जाते हैं, वे निश्चय ही मेरे मुखमें प्रवेश करते हैं । जो मेरे भक्त यहाँ दृढ निश्चयपूर्वक निराहार रहते हैं, उनका सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें भी पुनः संसारमें आगमन नहीं होता । देवि ! जो इस अविमुक्त तपोवनमें मेरी पूजा करता है, उसका धर्म बतला रहा हूँ, जो उस मनुष्यको प्राप्त होता है । वह निःसंदेह दस अश्वमेध यागके फलको प्राप्त करता है । जो इस अविमुक्तमे दस सुवर्णनिर्मित पुष्पका दान करता है, तथा वहाँ धूप दान करता है, उसे अग्निहोत्रका फल प्राप्त होता है । अब गन्ध-दानका फल सुनो । भूमिदानके समान ही गन्ध-दानका फल कहा गया है । भलीभाँति स्नान करनेपर पाँच सौ, चन्दन लगानेसे एक हजार, माला समर्पण करनेसे एक लाख और गाने-बजानेसे अनन्त अग्निहोत्रके फलकी प्राप्ति होती है ॥ ७५-८२ ॥

देव्युवाच

अत्यद्भुतमिदं देव स्थानमेतत् प्रकीर्तितम् । रहस्यं श्रोतुमिच्छामि यदर्थं त्वं न मुञ्चसि ॥ ८३ ॥

देवीने पूछा—देव ! जैसा आपने बतलाया है, सचमुच ही यह स्थान अतिशय अद्भुत है । अब मैं उस रहस्यको सुनना चाहती हूँ, जिसके कारण आप इस स्थानको नहीं छोड़ते ॥ ८३ ॥

ईश्वर उवाच

आसीत् पूर्वं वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरो वरम् । पञ्चमं शृणु सुश्रोणि जातं काञ्चनसप्रभम् ॥ ८४ ॥
ज्वलत् तत् पञ्चमं शीर्षं जातं तस्य महात्मनः । तदेवमब्रवीद् देवि जन्म जानामि ते ह्यहम् ॥ ८५ ॥
ततः क्रोधपरीतेन संरक्तनयनेन च । वामाङ्गुष्ठनखाग्रेण छिन्नं तस्य शिरो मया ॥ ८६ ॥

ईश्वरने कहा—सुन्दर कटिभागवाली वरारोहे ! सुनो । प्राचीनकालमें ब्रह्माका सुवर्णके समान कान्तिमान् पाँचवाँ सुन्दर सिर उत्पन्न हुआ । देवि ! उस महात्माके उत्पन्न हुए उस पाँचवे देदीप्यमान मुखने इस प्रकार कहा कि मै तुम्हारा जन्म जानता हूँ । यह सुनकर मै क्रोधसे परिव्याप्त हो गया और मेरी आँखें लाल हो गयीं । तब मैने बायें अँगूठेके नखके अग्रभागसे उनके सिरको काट दिया ॥ ८४-८६ ॥

ब्रह्मोवाच

यदा निरपराधस्य शिरश्छिन्नं त्वया मम ।
तस्माच्छापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि । ब्रह्महत्याकुलो भूत्वा चर तीर्थानि भूतले ॥ ८७ ॥

ततोऽहं गतवान् देवि हिमवन्तं शिलोच्चयम् । तत्र नारायणः श्रीमान् मया भिक्षां प्रयाचितः ॥ ८८ ॥
ततस्तेन स्वकं पार्श्वं नखाग्रेण विदारितम् । स्रवतो महती धारा तस्य रक्तस्य निःसृता ॥ ८९ ॥
प्रयाता सातिविस्तीर्णा योजनार्धशतं तदा । न सम्पूर्णं कपालं तु घोरमद्भुतदर्शनम् ॥ ९० ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं तु सा च धारा प्रवाहिता । प्रोवाच भगवान् विष्णुः कपालं कुत ईदृशम् ॥ ९१ ॥
आश्चर्यभूतं देवेश संशयो हृदि वर्तते । कुतश्च सम्भवो देव सर्वं मे ब्रूहि पृच्छतः ॥ ९२ ॥

ब्रह्मा बोले—आपने बिना अपराधके ही मेरा सिर काट दिया है, अतः आप भी शापसे युक्त हो कपाली हो जायँगे । साथ ही आप ब्रह्महत्यासे व्याकुल होकर भूतलपर तीर्थोंमें भ्रमण कीजिये । देवि ! तब मैं हिमालय पर्वतपर चला गया और वहाँ मैने श्रीमान् नारायणसे भिक्षाकी याचना की । इसके बद उन्होंने नखके अग्रभागसे अपने पार्श्वभागको विदीर्ण कर दिया, तब उससे रक्तकी विपुल धारा प्रवाहित हुई । वह धारा बहती हुई पचास योजनतक परिव्याप्त हो गयी, किंतु भयंकर दीखनेवाला अद्भुत कपाल उससे नहीं भरा । इस प्रकार वह धारा हजार दिव्य वर्षोंतक अनवरत प्रवाहित होती रही । तब भगवान् विष्णुने पूछा कि 'ऐसा अद्भुत कपाल आपको कहाँसे प्राप्त हुआ है ? देवेश ! मेरे हृदयमें संदेह हो रहा है । देव ! यह कहाँसे उत्पन्न हुआ ? मुझ प्रश्नकर्ताको सभी बातें बतलाइये' ॥ ८७–९२ ॥

देवदेव उवाच

श्रूयतामस्य हे देव कपालस्य तु सम्भवः । शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ॥ ९३ ॥
ब्रह्मासृजद् वपुर्दिव्यमद्भुतं लोमहर्षणम् । तपसश्च प्रभावेण दिव्यं काञ्चनसंनिभम् ॥ ९४ ॥
ज्वलत् तत् पञ्चमं शीर्षं जातं तस्य महात्मनः । निकृत्तं तन्मया देव तदिदं पश्य दुर्जयम् ॥ ९५ ॥
यत्र यत्र च गच्छामि कपालं तत्र गच्छति । एवमुक्तस्ततो देवः प्रोवाच पुरुषोत्तमः ॥ ९६ ॥

(तब) देवाधिदेव शंकर बोले—देव ! आप इस कपालकी उत्पत्तिका विवरण सुनिये । ब्रह्माने सौ हजार वर्षोंतक अतिशय घोर तपस्या कर दिव्य रोमाञ्चकारी अद्भुत शरीरकी रचना की । उन महात्मा ब्रह्माके शरीरमें तपस्याके प्रभावसे सुवर्णके समान देदीप्यमान पाँचवाँ सिर उत्पन्न हुआ । देव ! मैने उसे काट दिया । यह वही दुर्जय कपाल है । अब देखिये, मै जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ यह कपाल भी मेरे पीछे लगा रहता है । (इस प्रकार) ऐसा कहे जानेपर पुरुषोत्तम भगवान्ने तब कहा—॥ ९३–९६ ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छ गच्छ स्वकं स्थानं ब्रह्मणस्त्वं प्रियं कुरु । तस्मिन् स्थास्यति भद्रं ते कपालं तस्य तेजसा ॥ ९७ ॥
ततः सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च । गतोऽस्मि पृथुलश्रोणि न क्वचित् प्रत्यतिष्ठत ॥ ९८ ॥
ततोऽहं समनुप्राप्तो ह्यविमुक्ते महाशये । अवस्थितः स्वके स्थाने शापश्च विगतो मम ॥ ९९ ॥
विष्णुप्रसादात् सुश्रोणि कपालं तत् सहस्रधा । स्फुटितं बहुधा जातं स्वप्नलब्धं धनं यथा ॥१००॥
ब्रह्महत्यापहं तीर्थं क्षेत्रमेतन्मया कृतम् । कपालमोचनं देवि देवानां प्रथितं भुवि ॥१०१॥
कालो भूत्वा जगत् सर्वं संहरामि सृजामि च । ततस्तत् पतितं तत्र शापश्च विगतो मम ॥१०२॥
कपालमोचनं तीर्थमभूद्धत्याविनाशनम् । मद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति विष्णुभक्तास्तथैव च ॥१०३॥
तत्रस्थोऽस्मि जगत् सर्वं सुकरोमि सुरेश्वरि । देवेशि सर्वगुह्यानां स्थानं प्रियतरं मम ॥१०४॥
ये भक्ता भास्करे देवि लोकनाथे दिवाकरे । तत्रस्थो यस्त्यजेद् देहं मामेव प्रविशेत् तु सः ॥१०५॥

श्रीभगवान् बोले—जाइये, आप अपने स्थानको लौट जाइये और ब्रह्माको प्रसन्न कीजिये । उनके तेजसे आपका यह श्रेष्ठ कपाल वहीं स्थित हो जायगा । पृथुलश्रोणि ! इसके बाद मैं सभी तीर्थों और पुण्य क्षेत्रोंमें गया,

परंतु यह कहीं भी ठहर न सका। तत्पश्चात् मैं अतिशय प्रभावशाली अविमुक्तक्षेत्रमें पहुँचा। वह वहाँ अपने स्थानपर स्थित हो गया और मेरा शाप समाप्त हो गया। सुश्रोणि! विष्णुकी कृपासे वह कपाल स्वप्नमें प्राप्त हुए धनके समान हजारों टुकड़ोंमे टूट-फूट गया। देवि! मैंने इस तीर्थको ब्रह्महत्याको दूर करनेवाला बना दिया। यह भूतलपर देवताओंके लिये कपालमोचनतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मैं कालके रूपमें उत्पन्न होकर सम्पूर्ण विश्वका संहार और सृजन करता हूँ। इस प्रकार वह कपाल इस क्षेत्रमें गिरा और मेरा शाप नष्ट हुआ। इसी कारण यह कपालमोचनतीर्थ ब्रह्महत्याका विनाशक हुआ। सुरेश्वरि! मै वहीं स्थित हूँ और सम्पूर्ण विश्वका कल्याण करता हूँ। देवेशि! सभी गुप्त स्थानोंमें यह अविमुक्तक्षेत्र मेरे लिये प्रियतर है। देवि! वहाँ मेरे भक्त, विष्णु-भक्त और जो लोकनाथ प्रभाशाली सूर्यके भक्त हैं, वे सभी जाते हैं। जो वहाँ रहकर शरीरका त्याग करता है, वह मुझमें ही प्रविष्ट हो जाता है॥ ९७–१०५॥

देव्युवाच

अत्यद्भुतमिदं देव यदुक्तं पद्मयोनिना। त्रिपुरान्तकरस्थानं गुह्यमेतन्महाद्युते॥१०६॥
यान्यन्यानि सुतीर्थानि कलां नार्हन्ति षोडशीम्। यत्र तिष्ठति देवेशो यत्र तिष्ठति शंकरः॥१०७॥
गङ्गा तीर्थसहस्राणां तुल्या भवति वा न वा। त्वमेव भक्तिर्देवेश त्वमेव गतिरुत्तमा॥१०८॥
ब्रह्मादीनां तु ते देव गतिरुक्ता सनातनी। श्राव्यते यद् द्विजातीनां भक्तानामनुकम्पया॥१०९॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽविमुक्तमाहात्म्ये त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

देवीने कहा—महाकान्तिशाली देव! ब्रह्माद्वारा कथित यह विषय अत्यद्भुत है। त्रिपुरका विनाश करनेवाले शिवजीका यह प्रिय गुप्त स्थान है। अन्य जितने उत्तम तीर्थस्थान हैं, वे सभी उस स्थानकी सोलहवीं कलाकी समता नहीं कर सकते। जहाँ देवेश भगवान् शंकर निवास करते हैं तथा जिससे हजारों तीर्थोंसे श्रेष्ठ गङ्गाकी तुलना नहीं हो सकती, वह भी यहीं स्थित है। देवेश! आप ही (ज्ञानात्मिका) भक्ति हैं और आप ही उत्तम गति हैं। देव! आपने ब्रह्मा आदिकी जो सनातनी गति बतलायी है, जिसे भक्त एवं द्विजातिगण सुनते हैं, वह सब भी आपकी ही अनुकम्पा है॥ १०६–१०९॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके अविमुक्त-माहात्म्यमें एक सौ तिरासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥१८३॥

एक सौ चौरासीवाँ अध्याय

काशीकी महिमाका वर्णन

महेश्वर उवाच

सेवितं बहुभिः सिद्धैरपुनर्भवकाङ्क्षिभिः। विदित्वा तु परं क्षेत्रमविमुक्तनिवासिनाम्॥ १॥
तद् गुह्यं देवदेवस्य तत् तीर्थं तत् तपोवनम्। परं स्थानं तु ते यान्ति सम्भवन्ति न ते पुनः॥ २॥
ज्ञाने विहितनिष्ठानां परमानन्दमिच्छताम्। या गतिर्विहिता सद्भिः साविमुक्ते मृतस्य तु॥ ३॥
भवस्य प्रीतिरतुला ह्यविमुक्ते ह्यनुत्तमा। असंख्येयं फलं तत्र ह्यक्षया च गतिर्भवेत्॥ ४॥
परं गुह्यं समाख्यातं श्मशानमिति संज्ञितम्। अविमुक्तं न सेवन्ते वञ्चितास्ते नरा भुवि॥ ५॥
अविमुक्ते स्थितैः पुण्यैः पांशुभिर्वायुनेरितैः। अपि दुष्कृतकर्माणो यास्यन्ति परमां गतिम्॥ ६॥
अविमुक्तगुणान् वक्तुं देवदानवमानवैः। न शक्यतेऽप्रमेयत्वात् स्वयं यत्र भवः स्थितः॥ ७॥
अनाहिताग्निर्नो यष्टा नोऽशुचिस्तस्करोऽपि वा। अविमुक्ते वसेद् यस्तु स वसेदीश्वरालये॥ ८॥

तत्र नापुण्यकृत् कश्चित् प्रसादादीश्वरस्य च । अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥ ९ ॥
यत्किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना । अविमुक्ते प्रविष्टस्य तत्सर्वं भस्मसाद् भवेत् ॥ १० ॥

भगवान् शिवने कहा—अविमुक्त-निवासियोंके इस परम श्रेष्ठ स्थानको जानकर पुनः संसारमें जन्मकी आकाङ्क्षा न रखनेवाले अनेक सिद्धगणोंने इस स्थानमें निवास किया है। महादेवका यह अतिशय गुह्य स्थान श्रेष्ठ तीर्थ तथा तपोवनस्वरूप है। जो लोग उस उत्तम क्षेत्रमें जाते हैं, वे पुनः संसारमें जन्म नहीं ग्रहण करते। सत्पुरुषोंद्वारा परमानन्दको प्राप्त करनेके इच्छुक तथा ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले व्यक्तियोंकी जो गति बतलायी गयी है, वह अविमुक्तक्षेत्रमें मरनेवालेको प्राप्त होती है। इस अविमुक्त क्षेत्रमें भगवान् शंकरकी अनुपम और अनुत्तम प्रीति है, अतः यहाँ जानेसे असंख्य फल और अक्षय गतिकी प्राप्ति होती है। (महा) श्मशानके* नामसे प्रसिद्ध यह अविमुक्त परम गुह्य कहा गया है। भूतलपर जो मनुष्य इसका सेवन नहीं करते, वे वस्तुतः ठगे गये हैं। अविमुक्त क्षेत्रमें स्थित वायुद्वारा उड़ायी गयी पवित्र धूलके स्पर्शसे अतिशय दुष्कर्म करनेवाले व्यक्ति भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं। जहाँ स्वयं भगवान् शंकर निवास करते हैं, उस अविमुक्तकी अनुपम महिमा होनेके कारण देवता, दानव और मनुष्य उसका वर्णन नहीं कर सकते। जो अग्निका आधान नहीं करता, यज्ञ नहीं करता, अपवित्र या चोर है, वह भी यदि अविमुक्त क्षेत्रमें निवास करता है तो मानो महेश्वरके लोकमें ही निवास कर रहा है। महेश्वरकी कृपासे वहाँ कोई भी पाप कर्म नहीं करता। स्त्री अथवा पुरुषद्वारा मानव-बुद्धिके अनुसार जान या अनजानमें भी जो कुछ दुष्कर्म किया होता है, वह सब अविमुक्त क्षेत्रमें प्रवेश करते ही भस्म हो जाता है ॥ १—१० ॥

सरितः सागराः शैलास्तीर्थान्यायतनानि च । भूतप्रेतपिशाचाश्च गणा मातृगणास्तथा ॥ ११ ॥
श्मशानिकपरीवाराः प्रियास्तस्य महात्मनः । न ते मुञ्चन्ति भूतेशं तान् भवस्तु न मुञ्चति ॥ १२ ॥
रमते च गणैः सार्धमविमुक्ते स्थितः प्रभुः । दृष्ट्वा तान् भीतकृपणान् पापदुष्कृतकारिणः ॥ १३ ॥
अनुकम्पया तु देवस्य प्रयान्ति परमां गतिम् । भक्तानुकम्पी भगवांस्तिर्यग्योनिगतानपि ॥ १४ ॥
नयत्येव वरं स्थानं यत्र यान्ति च याज्ञिकाः । भार्गवाङ्गिरसः सिद्धा ऋषयश्च महाव्रताः ॥ १५ ॥
अविमुक्ताग्निना दग्धा अग्नौ तूलमिवाहितम् । न सा गतिः कुरुक्षेत्रे गङ्गाद्वारे च पुष्करे ॥ १६ ॥
सा गतिर्विहिता पुंसामविमुक्तनिवासिनाम् ।
तिर्यग्योनिगताः सत्त्वा येऽविमुक्ते कृतालयाः । कालेन निधनं प्राप्तास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १७ ॥
मेरुमन्दरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः । अविमुक्तं समासाद्य तत् सर्वं व्रजति क्षयम् ॥ १८ ॥

नदियाँ, सागर, पर्वत, तीर्थ, देवालय, भूत, प्रेत, पिशाच, शिवगण, मातृगण तथा श्मशान-निवासी—ये सभी उन महात्मा शिवको प्रिय हैं, अतः न तो वे भूतपति शिवको छोड़ते हैं और न शिव उनका परित्याग करते हैं। अविमुक्तमें स्थित वे प्रभु अपने प्रमथगणोंके साथ रमण करते हैं। भयसे त्रस्त, पापी, दुराचाररत अथवा तिर्यग्योनिमें ही क्यों न उत्पन्न हुए हों, वे सभी अविमुक्त-को देखकर महादेवकी अनुकम्पासे परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं। भक्तोंपर अनुकम्पा करनेवाले भगवान् शंकर उन सभीको ऐसे श्रेष्ठ स्थानपर पहुँचा देते हैं, जहाँ यज्ञ करनेवाले, भृगुवंशी, अंगिरा-गोत्री, सिद्ध तथा महाव्रती ऋषिगण जाते हैं। उनके पाप अग्निमें डाली गयी रुईके समान अविमुक्तकी अग्निसे नष्ट हो जाते हैं। अविमुक्तक्षेत्रमें निवास करनेवाले पुरुषोंकी जो गति बतलायी गयी है, वह गति कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार और पुष्कर तीर्थमें नहीं मिलती। तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए जो जीव

* काशीखण्ड एवं काशीरहस्यादिके अनुसार प्रलयकालमें सभी प्राणियोंके शयन करनेसे इसका नाम महाश्मशान है।

अविमुक्तमें निवास करते हैं, वे समयानुसार मृत्युको प्राप्त होनेपर परमगतिको प्राप्त करते हैं। चाहे मेरु या मन्दराचलके बराबर भी पापकर्मकी राशि क्यों न हो, वह सब-का-सब पाप अविमुक्तमें आते ही नष्ट हो जाता है ॥

श्मशानमिति विख्यातमविमुक्तं शिवालयम्। तद् गुह्यं देवदेवस्य तत् तीर्थं तत् तपोवनम्॥ १९॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा नारायणपुरोगमाः। योगिनश्च तथा साध्या भगवन्तं सनातनम्॥ २०॥
उपासन्ते शिवं मुक्ता मद्भक्ता मत्परायणाः। या गतिर्ज्ञानतपसां या गतिर्यज्ञयाजिनाम्॥ २१॥
अविमुक्ते मृतानां तु सा गतिर्विहिता शुभा। संहर्तारश्च कर्तारस्तस्मिन् ब्रह्मादयः सुराः॥ २२॥
सम्राड्विराण्मया लोका जायन्ते ह्यपुनर्भवाः। महर्जनस्तपश्चैव सत्यलोकस्तथैव च॥ २३॥
मनसः परमो योगो भूतभव्यभवस्य च। ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य योनिः सांख्यादिमोक्षयोः॥ २४॥
येऽविमुक्तं न मुञ्चन्ति नरास्ते नैव वञ्चिताः। उत्तमं सर्वतीर्थानां स्थानानामुत्तमं च यत्॥ २५॥
क्षेत्राणामुत्तमं चैव श्मशानानां तथैव च। तडाकानां च सर्वेषां कूपानां स्रोतसां तथा॥ २६॥
शैलानामुत्तमं चैतत् तडागानां तथोत्तमम्। पुण्यकृद्भवभक्तैश्च ह्यविमुक्तं तु सेव्यते॥ २७॥

शिवजीका यह निवासस्थान अविमुक्त श्मशानके नामसे विख्यात है। उन देवाधिदेवका वह परम गुप्त स्थान है, वह तीर्थ है और वह तपोवन है। वहाँ नारायणसहित ब्रह्मा आदि देवगण, योगिसमूह, साध्यगण तथा जीवन्मुक्त शिवपरायण शिवभक्त सनातन भगवान् शिवकी उपासनामें रत रहते हैं। ज्ञान-सम्पन्न तपस्वियों तथा यज्ञोंका विधानपूर्वक अनुष्ठान करनेवालोंको जो गति प्राप्त होती है, वही शुभ गति अविमुक्तमें मरनेवालोंके लिये कही गयी है। जगत्‌की सृष्टि करनेवाले तथा जगत्‌का संहार करनेवाले ब्रह्मा आदि देवगण एवं सम्राट्, विराट् आदि मानवसमूह एवं महः, जन, तप और सत्यलोकमें निवास करनेवाले प्राणी अविमुक्त क्षेत्रमें आकर पुनर्जन्मसे छुटकारा पा जाते हैं। यह मनका तथा भूत, भविष्य और वर्तमानका, परम योग है और ब्रह्मासे लेकर स्थावर-पर्यन्त सभी प्राणिसमूहका तथा सांख्य आदि मोक्षका उत्पत्तिस्थान है। जो मनुष्य इस अविमुक्तका परित्याग नहीं करते, वे वञ्चित नहीं हैं। यह अविमुक्त क्षेत्र सभी तीर्थों, स्थानों, क्षेत्रों, श्मशानों, सरोवरों, सभी कूपों, नालों, पर्वतों और जलाशयोंमें उत्तम है। पुण्यकर्मा शिव-भक्त अविमुक्तका ही सेवन करते हैं ॥ १९—२७ ॥

ब्रह्मणः परमं स्थानं ब्रह्मणाध्यासितं च यत्। ब्रह्मणा सेवितं नित्यं ब्रह्मणा चैव रक्षितम्॥ २८॥
अत्रैव सप्तभुवनं काञ्चनो मेरुपर्वतः। मनसः परमो योगः प्रीत्यर्थं ब्रह्मणः स तु॥ २९॥
ब्रह्मा तु तत्र भगवांस्त्रिसंध्यं चेश्वरे स्थितः। पुण्यात् पुण्यतमं क्षेत्रं पुण्यकृद्भिर्निषेवितम्॥ ३०॥
आदित्योपासनं कृत्वा विप्राश्चामरतां गताः। अन्येऽपि ये त्रयो वर्णा भवभक्त्या समाहिताः॥ ३१॥
अविमुक्ते तनुं त्यक्त्वा गच्छन्ति परमां गतिम्। अष्टौ मासान् विहारस्य यतीनां संयतात्मनाम्॥ ३२॥
एकत्र चतुरो मासान् मासौ वा निवसेत् पुनः। अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारस्तु न विद्यते॥ ३३॥
न देहो भविता तत्र दृष्टं शास्त्रे पुरातने। मोक्षो ह्यसंशयस्तत्र पञ्चत्वं तु गतस्य वै॥ ३४॥
स्त्रियः पतिव्रता याश्च भवभक्ताः समाहिताः। अविमुक्ते विमुक्तास्ता यास्यन्ति परमां गतिम्॥ ३५॥
अन्या याः कामचारिण्यः स्त्रियो भोगपरायणाः। कालेन निधनं प्राप्ता गच्छन्ति परमां गतिम्॥ ३६॥

यह ब्रह्माका परमस्थान, ब्रह्माद्वारा अध्यासित, ब्रह्माद्वारा सदा सेवित और ब्रह्माद्वारा रक्षित है। ब्रह्माकी प्रसन्नताके लिये यहीं सातो भुवन और सुवर्णमय सुमेरु पर्वत है। यहीं मनका परम योग प्राप्त होता है। इस क्षेत्रमें भगवान् ब्रह्मा तीनों सन्ध्याओंमें शिवके ध्यानमें लीन रहते हैं। यह क्षेत्र पुण्यसे भी पुण्यतम है और पुण्यात्माओंद्वारा सेवित है। यहाँ आदित्यकी उपासना करके विप्रगण अमर हो गये हैं। जो अन्य तीनों वर्णोंके

प्राणी हैं, वे भी शिव-भक्तिसे युक्त हो अविमुक्तक्षेत्रमें शरीरका परित्याग कर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। संयत आत्मावाले यतियोंके लिये आठ मासोंका विहार विहित है। वे (चातुर्मासमें) एक स्थानमें केवल चार मास या दो मासतक निवास कर सकते हैं, किंतु अविमुक्तमें निवास करनेवाले यतियोंके लिये (यह) विहारका विधान नहीं है। (वे काशीमें सदा निवास कर सकते हैं।) प्राचीन शास्त्रमें ऐसा देखा गया है कि यहाँ मरनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता, वह निस्संदेह मोक्षको प्राप्त हो जाता है। जो पतिव्रता स्त्रियाँ शिवजीकी भक्तिमें लीन हैं, वे इस अविमुक्तमें शरीरका त्याग कर परमगतिको प्राप्त हो जाती हैं। इनसे अतिरिक्त जो कामपरायण एवं भोगमें आसक्त स्त्रियाँ हैं, वे इस क्षेत्रमें यथासमय मृत्युको प्राप्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाती हैं ॥ २८-३६ ॥

यत्र योगश्च मोक्षश्च प्राप्यते दुर्लभो नरैः। अविमुक्तं समासाद्य नान्यद् गच्छेत् तपोवनम्॥ ३७॥
सर्वात्मना तपः सेव्यं ब्राह्मणैर्नात्र संशयः। अविमुक्ते वसेद् यस्तु मम तुल्यो भवेन्नरः॥ ३८॥
यतो मया न मुक्तं हि त्वविमुक्तं ततः स्मृतम्। अविमुक्तं न सेवन्ते मूढा ये तमसावृताः॥ ३९॥
विण्मूत्ररेतसां मध्ये ते वसन्ति पुनः पुनः। कामः क्रोधश्च लोभश्च दम्भः स्तम्भोऽतिमत्सरः॥ ४०॥
निद्रा तन्द्रा तथाऽऽलस्यं पैशुन्यमिति ते दश। अविमुक्ते स्थिता विघ्नाः शक्रेण विहिताः स्वयम्॥ ४१॥
विनायकोपसर्गाश्च सततं मूर्ध्नि तिष्ठति। पुण्यमेतद् भवेत् सर्वं भक्तानामनुकम्पया॥ ४२॥
परं गुह्यमिति ज्ञात्वा ततः शास्त्रानुदर्शनात्। व्याहृतं देवदेवैस्तु मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ ४३॥
मेदसा विप्लुता भूमिरविमुक्ते तु वर्जिता। पूता समभवत् सर्वा महादेवेन रक्षिता॥ ४४॥
संस्कारस्तेन क्रियते भूमेरन्यत्र सूरिभिः। ये भक्त्या वरदं देवमक्षरं परमं पदम्॥ ४५॥
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः। अविमुक्तमुपासन्ते तन्निष्ठास्तत्परायणाः॥ ४६॥
ते विशन्ति महादेवमाज्याहुतिरिवानलम्। तं वै प्राप्य महादेवमीश्वराध्युषितं शुभम्॥ ४७॥
अविमुक्तं कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमुपलभ्यते।

जहाँ मनुष्य दुर्लभ योग और मोक्षको प्राप्त करते हैं, उस अविमुक्तक्षेत्रमें पहुँचकर किसी अन्य तपोवनमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मणोंको यहाँ निःसंदेह सर्वभावसे तपस्यामें तत्पर रहना चाहिये। जो मनुष्य अविमुक्तमें निवास करता है, वह मेरे समान हो जाता है; क्योंकि मैं इस स्थानको कभी नहीं छोड़ता, इसीलिये यह अविमुक्त नामसे कहा जाता है। जो मोहग्रस्त पुरुष तमोगुणसे आवृत हो अविमुक्तमें निवास नहीं करते, वे मल-मूत्र-वीर्यके मध्यमें पुनः-पुनः निवास करते हैं (अर्थात् उन्हें बारंबार जन्म लेना पड़ता है)। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, स्तम्भ, अतिशय मात्सर्य, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य तथा पिशुनता—ये दस विघ्न जो स्वयं इन्द्रद्वारा विहित हैं, अविमुक्तमें स्थित रहते हैं। इनके अतिरिक्त विनायकोंके उपद्रव निरन्तर सिरपर सवार रहते हैं, किंतु ये सभी भक्तोंके प्रति भगवान्‌की अनुकम्पाके कारण पुण्यफल प्रदान करते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ देवताओं और तत्त्वद्रष्टा मुनियोंके द्वारा शास्त्रकी आलोचनाके आधारपर इस स्थानको परम गुह्य कहा गया है। (प्राचीनकालमें मधु-कैटभकी) मज्जासे सम्पूर्ण पृथ्वी व्याप्त हो गयी थी, किंतु अविमुक्तकी भूमि उससे रहित थी। महादेवजीके द्वारा रक्षित यह सम्पूर्ण भूमि पवित्र ही बनी रही। इसीलिये (कल्पसूत्रोक्त-रीतिसे) मनीषिगण अन्यत्र भूमिका संस्कार करते हैं। जो देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और प्रधान नाग भगवान् भवमें निष्ठा रखते हुए उनकी भक्तिमें तत्पर हो अविमुक्त क्षेत्रमें आकर भक्तिपूर्वक वरप्रदान करनेवाले अविनाशी परमपदस्वरूप शंकरकी उपासना करते हैं, वे महादेवमें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे घीकी आहुति अग्निमें प्रविष्ट होती है। वे उन महादेवको तथा ईश्वरद्वारा अधिकृत शुभमय अविमुक्तको पाकर अपनेको 'मैं कृतार्थ हूँ'—ऐसा अनुभव करते हैं ॥ ३७-४७½ ॥

ऋषिदेवासुरगणैर्जपहोमपरायणैः ॥ ४८ ॥
यतिभिर्मोक्षकामैश्च ह्यविमुक्तं निषेव्यते। नाविमुक्ते मृतः कश्चिन्नरकं याति किल्बिषी ॥ ४९ ॥
ईश्वरानुगृहीता हि सर्वे यान्ति परां गतिम्। द्वियोजनमथार्धं च तत् क्षेत्रं पूर्वपश्चिमम् ॥ ५० ॥
अर्धयोजनविस्तीर्णं दक्षिणोत्तरतः स्मृतम्। वाराणसी तदीया च यावच्छुक्लनदी तु वै ॥ ५१ ॥
एष क्षेत्रस्य विस्तारः प्रोक्तो देवेन धीमता। लब्ध्वा योगं च मोक्षं च काङ्क्षन्तो ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५२ ॥
अविमुक्तं न मुञ्चन्ति तन्निष्ठास्तत्परायणाः। तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कदाचन ॥ ५३ ॥
योगक्षेत्रं तपःक्षेत्रं सिद्धगन्धर्वसेवितम्। सरितः सागराः शैला नाविमुक्तसमा भुवि ॥ ५४ ॥
भूर्लोके चान्तरिक्षे च दिवि तीर्थानि यानि च। अतीत्य वर्तते चान्यदविमुक्तं प्रभावतः ॥ ५५ ॥
ये तु ध्यानं समासाद्य मुक्तात्मानः समाहिताः। संनियम्येन्द्रियग्रामं जपन्ति शतरुद्रियम् ॥ ५६ ॥
अविमुक्ते स्थिता नित्यं कृतार्थास्ते द्विजातयः। भवभक्तिं समासाद्य रमन्ते तु सुनिश्चिताः ॥ ५७ ॥
संहृत्य शक्तितः कामान् विषयेभ्यो वहिः स्थिताः। शक्तितः सर्वतो मुक्ताः शक्तितस्तपसि स्थिताः ॥ ५८ ॥
करणानीह चात्मानमपुनर्भवभाविताः। तं वै प्राप्य महात्मानमीश्वरं निर्भयाः स्थिताः ॥ ५९ ॥
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि। अविमुक्ते तु गृह्यन्ते भवेन विभुना स्वयम् ॥ ६० ॥

ऋषि, देव, असुर तथा जप-होम-परायण मुमुक्षु और यतिसमूह इस अविमुक्तमें निवास करते हैं। कोई भी पापी अविमुक्तक्षेत्रमें मरकर नरकमें नहीं जाता; क्योंकि ईश्वरके अनुग्रहसे वे सभी परमगतिको प्राप्त होते हैं। यह क्षेत्र पूर्वसे पश्चिमतक ढाई योजन और दक्षिणसे उत्तरतक आधा योजन विस्तृत बतलाया जाता है। यह शिवपुरी वाराणसी शुक्लनदीतक बसी हुई है। बुद्धिमान् महादेवने इस क्षेत्रका यह विस्तार स्वयं बतलाया है। शिवमें निष्ठावान् और शिवपरायण भक्तगण योग और मोक्षको प्राप्तकर उत्तम ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अविमुक्तक्षेत्रका परित्याग नहीं करते। जो मृत्युलोकवासी व्यक्ति इस क्षेत्रमें निवास करते हैं, वे कभी भी शोचनीय नहीं होते। यह अविमुक्तक्षेत्र योगक्षेत्र है, तपःक्षेत्र है तथा सिद्ध और गन्धर्वोंसे सेवित है। भूतलपर नदी, सागर और पर्वत—कोई भी अविमुक्तके समान नहीं है। भूलोक, अन्तरिक्ष और स्वर्गमें जितने तीर्थ हैं, उनका अविमुक्त अपने प्रभावसे अतिक्रमण कर विराजमान है। अविमुक्तमें नित्य निवास करनेवाले जो द्विजगण ध्यानयोगकी प्राप्तिसे मुक्तात्मा हो समाहित चित्तसे इन्द्रियोंको निरुद्धकर शतरुद्रीका जप करते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं और भवकी भक्तिको प्राप्त कर निश्चितरूपसे रमण करते हैं। जो यथाशक्ति कामनाओंका परित्याग कर विषय-वासनासे रहित, यथाशक्ति सब तरहसे मुक्त, यथाशक्ति तपस्यामें स्थित तथा अपनी इन्द्रियों और आत्माको वशमें कर चुके हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे उन महात्मा शिवको प्राप्तकर निर्भय विचरण करते हैं। सर्वव्यापी शिव अविमुक्तमें उन व्यक्तियोंको स्वयं ग्रहण कर लेते हैं, अतः सैकड़ों कोटि कल्पोंमें भी उनका पुनरागमन नहीं होता ॥ ४८-६० ॥

उत्पादितं महाक्षेत्र सिद्ध्यन्ते यत्र मानवाः। उद्देशमात्रं कथिता अविमुक्तगुणास्तथा ॥ ६१ ॥
समुद्रस्येव रत्नानामविमुक्तस्य विस्तरम्। मोहनं तदभक्तानां भक्तानां भक्तिवर्धनम् ॥ ६२ ॥
मूढास्ते तु न पश्यन्ति श्मशानमिति मोहिताः। हन्यमानोऽपि यो विद्वान् वसेद् विघ्नशतैरपि ॥ ६३ ॥
स याति परमं स्थानं यत्र गत्वा न शोचति। जन्ममृत्युजरामुक्तः परं याति शिवालयम् ॥ ६४ ॥
अपुनर्मरणानां हि सा गतिर्मोक्षकाङ्क्षिणाम्। यां प्राप्य कृतकृत्यः स्यादिति मन्येत पण्डितः ॥ ६५ ॥
न दानैर्न तपोभिर्वा न यज्ञैर्नापि विद्यया। प्राप्यते गतिरिष्टा या ह्यविमुक्ते तु लभ्यते ॥ ६६ ॥

नानावर्णा विवर्णाश्च चण्डाला ये जुगुप्सिताः। किल्विषैः पूर्णदेहाश्च प्रकृष्टैः पातकैस्तथा ॥ ६७ ॥
भेषजं परमं तेषामविमुक्तं विदुर्बुधाः। जात्यन्तरसहस्रेषु ह्यविमुक्ते म्रियेत् तु यः ॥ ६८ ॥
भक्तो विश्वेश्वरे देवे न स भूयोऽभिजायते। यत्र चेष्टं हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥ ६९ ॥
सर्वमक्षयमेतस्मिन्नविमुक्ते न संशयः। कालेनोपरता यान्ति भवे सायुज्यमक्षयम् ॥ ७० ॥
कृत्वा पापसहस्राणि पश्चात् संतापमेत्य वै। योऽविमुक्ते वियुज्येत स याति परमां गतिम् ॥ ७१ ॥
उत्तरं दक्षिणं चापि अयनं न विकल्पयेत्। सर्वस्तेषां शुभः कालो ह्यविमुक्ते म्रियन्ति ये ॥ ७२ ॥
न तत्र कालो मीमांस्यः शुभो वा यदि वाशुभः।
तस्य देवस्य माहात्म्यात् स्थानमद्भुतकर्मणः। सर्वेषामेव नाथस्य सर्वेषां विभुना स्वयम् ॥ ७३ ॥
श्रुत्वेदमृषयः सर्वे स्कन्देन कथितं पुरा। अविमुक्ताश्रमं पुण्यं भावयेत्करणैः शुभैः ॥ ७४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽविमुक्तमाहात्म्यं नाम चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस महाक्षेत्रको (स्वयं भगवान् शिवने) उत्पन्न किया है, जहाँ मानवोंको सभी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। मैंने अविमुक्तके गुणोंका संक्षेपसे वर्णन किया है। अविमुक्त क्षेत्रका विस्तार समुद्रके रत्नोंकी भाँति दुष्कर है। यह अभक्तोंको मोहित करनेवाला और भक्तोंकी भक्तिकी वृद्धि करनेवाला है। मोहग्रस्त मूढ़ व्यक्ति इसे श्मशान समझकर इसकी ओर नहीं देखते। जो विद्वान् सैकड़ों विघ्नोंसे बाधित होकर भी अविमुक्त क्षेत्रमें निवास करता है, वह उस परमपदको प्राप्त होता है, जहाँ जाकर शोक नहीं करना पड़ता। वह जन्म-जरा-मरणसे रहित होकर शिवलोकको प्राप्त हो जाता है। मोक्षकी कामना करनेवाले पुनर्जन्मसे रहित व्यक्तियोंको जो गति प्राप्त होती है, उसी गतिको प्राप्तकर विद्वान् अपनेको कृतकृत्य मानता है। जो अभीष्ट गति दान, तप, यज्ञ और ज्ञानसे नहीं प्राप्त होती, वह अविमुक्त क्षेत्रमें सुलभ हो जाती है। जो चाण्डालयोनिमें उत्पन्न, अनेकों रंगोंवाले, कुरूप और निन्दित हैं, जिनका शरीर उत्कृष्ट पातकों एवं पापोंसे परिपूर्ण है, उनके लिये अविमुक्त क्षेत्र परम औषधके समान है—ऐसा पण्डितवर्ग मानते हैं। जो भगवान् विश्वेश्वरका भक्त हजारों जन्मोंके बाद अविमुक्तमें मृत्युको प्राप्त होता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। इस अविमुक्त क्षेत्रमें किया हुआ यज्ञ, दान, तप, होम आदि सभी कर्म अक्षय हो जाते हैं—इसमें संदेह नहीं है। ऐसे लोग समयानुसार मृत्युको प्राप्तकर अविनाशी शिवसायुज्यको प्राप्त करते हैं। जो हजारों पापोंका सम्पादन कर बादमें पश्चात्तापका अनुभव करता है, वह अविमुक्तक्षेत्रमें प्राणोंका त्याग करके परमगतिको प्राप्त होता है। इस विषयमें उत्तरायण एवं दक्षिणायनकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। जो अविमुक्तमें प्राण-त्याग करते हैं, उनके लिये सभी समय शुभ है। उस समय शुभ या अशुभ कालका विचार नहीं करना चाहिये। सभीके नाथ, सर्वव्यापी, अद्भुतकर्मा स्वयं महादेवके माहात्म्यसे यह स्थान परम अद्भुत है। पूर्व समयमें सभी ऋषियोंने स्कन्दद्वारा कथित इस पवित्र वृत्तान्तको सुनकर यह निर्णय किया कि इस अविमुक्त क्षेत्रका विशुद्ध इन्द्रियोंद्वारा सेवन करना चाहिये ॥ ६१—७४ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें अविमुक्त-माहात्म्य-वर्णननामक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८४ ॥
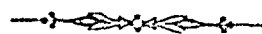
एक सौ पचासीवाँ अध्याय

वाराणसी-माहात्म्य

सूत उवाच

अविमुक्ते महापुण्ये चास्तिकाः शुभदर्शनाः। विस्मयं परमं जग्मुर्हर्षगद्गदनिःस्वनाः ॥ १ ॥
ऊचुस्ते हृष्टमनसः स्कन्दं ब्रह्मविदां वरम्। ब्रह्मण्यो देवपुत्रस्त्वं ब्राह्मणो ब्राह्मणप्रियः ॥ २ ॥
ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मविद् ब्रह्मा ब्रह्मेन्द्रो ब्रह्मलोककृत्। ब्रह्मकृद् ब्रह्मचारी त्वं ब्रह्मादिर्ब्रह्मवत्सलः ॥ ३ ॥
ब्रह्मतुल्योद्भवकरो ब्रह्मतुल्यो नमोऽस्तु ते। ऋषयो भावितात्मानः श्रुत्वेदं पावनं महत् ॥ ४ ॥
तत्त्वं तु परमं ज्ञातं यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामो भूर्लोकं शंकरालयम् ॥ ५ ॥
यत्रासौ सर्वभूतात्मा स्थाणुभूतः स्थितः प्रभुः। सर्वलोकहितार्थाय तपस्युग्रे व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
संयोज्य योगेनात्मानं रौद्रीं तनुमुपाश्रितः। गुह्यकैरात्मभूतस्तु आत्मतुल्यगुणैर्वृतः ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! अतिशय पुण्यमय अविमुक्तक्षेत्रमे आस्तिक, शुभ दर्शनवाले एवं हर्षगद्गद वाणीसे युक्त उन ऋषियोंको (इस आश्चर्यजनक आख्यानको सुनकर) महान् आश्चर्य हुआ। तब उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ स्कन्दजीसे कहा—भगवन् ! आप ब्राह्मण-भक्त, महादेवजीके पुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणोंके प्रिय, ब्रह्ममें स्थित, ब्रह्मज्ञ, स्वयं ब्रह्मस्वरूप, ब्रह्मेन्द्र, ब्रह्मलोककर्ता, ब्रह्मकृत्, ब्रह्मचारी, ब्रह्मासे भी पुरातन, ब्रह्मवत्सल, ब्रह्माके समान सृष्टिकर्ता और ब्रह्मतुल्य हैं, आपको नमस्कार है। इस अतिशय पवित्र कथाको सुनकर हम ऋषिगण कृतार्थ हुए। हमने उस परम तत्त्वको जान लिया, जिसे जानकर अमरत्व (मोक्ष)-की प्राप्ति होती है। आपका कल्याण हो, अब हमलोग पृथ्वीलोकमे शिवजीके उस निवासस्थानपर जा रहे हैं, जहाँ सभी जीवोंके आत्मस्वरूप सामर्थ्यशाली शिव स्थाणुरूपमे स्थित हैं। वे वहाँ सभी प्राणियोंके कल्याणकी कामनासे उग्र तपस्यामें संलग्न हैं। वे अपनेको योगयुक्त कर रुद्रभावापन्न शरीरका आश्रयण किये हुए हैं और अपने समान गुणोंसे युक्त आत्मभूत गुह्यकोंसे घिरे हुए विराजमान हैं ॥ १—७ ॥

ततो ब्रह्मादिभिर्देवैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः। विज्ञप्तः परया भक्त्या त्वत्प्रसादाद् गणेश्वर ॥ ८ ॥
वस्तुमिच्छाम नियतमविमुक्ते सुनिश्चिताः। एवंगुणे तथा मर्त्या ह्यविमुक्ते वसन्ति ये ॥ ९ ॥
धर्मशीला जितक्रोधा निर्ममा नियतेन्द्रियाः। ध्यानयोगपराः सिद्धिं गच्छन्ति परमाव्ययाम् ॥ १० ॥
योगिनो योगसिद्धाश्च योगमोक्षप्रदं विभुम्। उपासते भक्तियुक्ता गुह्यं देवं सनातनम् ॥ ११ ॥
अविमुक्तं समासाद्य प्राप्तयोगान्महेश्वरात्। सप्त ब्रह्मर्षयो नीता भवसायुज्यमागताः ॥ १२ ॥
एतत्तु परमं क्षेत्रमविमुक्तं विदुर्बुधाः। अप्रबुद्धा न पश्यन्ति भवमायाविमोहिताः ॥ १३ ॥
तेनैव चाभ्यनुज्ञातास्तन्निष्ठास्तत्परायणाः। अविमुक्ते तनुं त्यक्त्वा शान्ता योगगतिं गताः ॥ १४ ॥

गणेश्वर ! अब हमलोग ब्रह्मादि देवों, महर्षियों और सिद्धोंसे आज्ञा लेकर परम भक्तिपूर्वक आपकी कृपासे अविमुक्त क्षेत्रमें नियमपूर्वक सुनिश्चितरूपसे निवास करना चाहते हैं। पूर्वकथित गुणोंसे सम्पन्न इस अविमुक्तमें जो धर्मशील, क्रोधजयी, आसक्तिरहित, जितेन्द्रिय, और ध्यानयोगपरायण मनुष्य निवास करते हैं, वे अविनाशिनी परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं। योगसिद्ध योगिगण भक्तिपूर्वक योग और मोक्षको देनेवाले, सर्वव्यापी, सनातन एवं गुह्य महादेवकी उपासना करते हैं। सात ब्रह्मर्षियोंने अविमुक्त क्षेत्रमें आकर महेश्वरकी कृपासे

योगको प्राप्तकर भवसायुज्यको प्राप्त किया है। ज्ञानिगण इस अविमुक्तको परम क्षेत्र मानते हैं, किंतु भवकी मायासे विमोहित अज्ञानीलोग इसे नहीं जानते। शिवनिष्ठ एवं शिवभक्तिपरायण ऋषिगण शिवजीकी आज्ञासे अविमुक्तमें शरीरका त्यागकर शान्तिपूर्वक योगकी गतिको प्राप्त हो गये ॥ ८–१४ ॥

स्थानं गुह्यं श्मशानानां सर्वेषामेतदुच्यते। न हि योगादृते मोक्षः प्राप्यते भुवि मानवैः ॥ १५ ॥
अविमुक्ते निवसतां योगो मोक्षश्च सिद्ध्यति।
एक एव प्रभावोऽस्ति क्षेत्रस्य परमेश्वरि। अनेन जन्मनैवेह प्राप्यते गतिरुत्तमा ॥ १६ ॥
अविमुक्ते निवसता व्यासेनामिततेजसा। नैव लब्धा क्वचिद् भिक्षा भ्रममाणेन यत्नतः ॥ १७ ॥
क्षुधाविष्टस्ततः क्रुद्धोऽचिन्तयच्छापमुत्तमम्। दिनं दिनं प्रति व्यासः षण्मासं योऽवतिष्ठति ॥ १८ ॥
कथं ममेदं नगरं भिक्षादोषाद्धतं त्विदम्। विप्रो वा क्षत्रियो वापि ब्राह्मणी विधवापि वा ॥ १९ ॥
संस्कृतासंस्कृता वापि परिपक्वाः कथं नु मे। न प्रयच्छन्ति वै लोका ब्राह्मणाश्चर्यकारकम् ॥ २० ॥
एषां शापं प्रदास्यामि तीर्थस्य नगरस्य तु। तीर्थं चातीर्थतां यातु नगरं शापयाम्यहम् ॥ २१ ॥
मा भूत्त्रिपौरुषी विद्या मा भूत्त्रिपौरुषं धनम्। मा भूत्त्रिपुरुषं सख्यं व्यासो वाराणसीं शपन् ॥ २२ ॥
अविमुक्ते निवसतां जनानां पुण्यकर्मणाम्। विघ्नं सृजामि सर्वेषां येन सिद्धिर्न विद्यते ॥ २३ ॥
व्यासचित्तं तदा ज्ञात्वा देवदेव उमापतिः। भीतभीतस्तदा गौरीं तां प्रियां पर्यभाषत ॥ २४ ॥
शृणु देवि वचो मह्यं यादृशं प्रत्युपस्थितम्। कृष्णद्वैपायनः कोपाच्छापं दातुं समुद्यतः ॥ २५ ॥

सभी श्मशानोंमें यह अविमुक्त गुह्य स्थान कहा गया है। मनुष्य संसारमें योगके विना मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकते, किंतु अविमुक्तमें निवास करनेवालोंके लिये योग और मोक्ष—दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं। परमेश्वरि! इस अविमुक्तक्षेत्रका एक ही प्रभाव है कि इसी जन्ममें और यहीं उत्तम गतिको प्राप्त किया जा सकता है। किसी समय असीम प्रतापी व्यास अविमुक्तमें निवास करते हुए प्रयत्नपूर्वक घूमते रहनेपर भी कहीं भी भिक्षा नहीं पा सके। तब वे भूखसे पीड़ित होकर क्रोधपूर्वक भयंकर शाप देनेका विचार करने लगे। इस प्रकार एक-एक दिन करते व्यासके छः मास बीत गये, (तब वे सोचने लगे कि) क्या कारण है कि इस नगरमें मुझे भिक्षा नहीं मिल रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्राह्मणी, विधवा, संस्कृता या असंस्कृता, वृद्धा कोई भी नारी या कोई भी प्राणी और ब्राह्मण मुझे भिक्षा नहीं दे रहा है—आश्चर्य है! अतः मैं यहाँके निवासी, तीर्थ और नगर—सभीको ऐसा शाप दे रहा हूँ कि यह तीर्थ अतीर्थ हो जाय। अब मै नगरको शाप दे रहा हूँ—यहाँ तीन पीढ़ीतक लोगोंकी विद्या नहीं रहेगी, तीन पीढ़ीतक धन नहीं रहेगा और तीन पीढ़ीतक मित्रता स्थिर नहीं रहेगी। अविमुक्तमें निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके पुण्यकर्मोंमें विघ्न उत्पन्न हो जायगा, जिससे उन्हें सिद्धि नहीं मिल सकेगी। उस समय देवदेव उमापति व्यासके हृदयको जानकर भयभीत हो गये। तब वे अपनी प्रिया गौरीसे बोले—'देवि! इस नगरमें जैसी घटना घटित होनेवाली है, वह कह रहा हूँ, मेरी बात सुनो। श्रीकृष्णद्वैपायन क्रोधवश शाप देनेके लिये उद्यत हो गये हैं' ॥ १५–२५ ॥

देव्युवाच

किमर्थं शपने क्रुद्धो व्यासः केन प्रकोपितः। किं कृतं भगवंस्तस्य येन शापं प्रयच्छति ॥ २६ ॥

देवीने पूछा—भगवन्! व्यासजी क्रुद्ध होकर शाप देनेके लिये क्यों उद्यत हैं? वे किसके द्वारा क्रुद्ध किये गये हैं? उनका क्या अप्रिय कर दिया गया, जिससे वे शाप दे रहे हैं? ॥ २६ ॥

देवदेव उवाच

अनेन सुतपस्तप्तं बहून् वर्षगणान् प्रिये। मौनिना ध्यानयुक्तेन द्वादशाब्दान् वरानने ॥ २७॥
ततः क्षुधा सुसंजाता भिक्षामटितुमागतः। नैवास्य केनचिद् भिक्षा ग्रासार्धमपि भामिनि ॥ २८॥
एवं भगवतः काल आसीत् षाण्मासिको मुनेः। ततः क्रोधपरीतात्मा शापं दास्यति सोऽधुना ॥ २९॥
यावन्नैष शपेत्तावदुपायस्तत्र चिन्त्यताम्। कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रिये ॥ ३०॥
कोऽस्य शापान्न बिभेति ह्यपि साक्षात् पितामहः। अदैवं दैवतं कुर्याद् दैवं चाप्यपदैवतम् ॥ ३१॥
आवां तु मानुषौ भूत्वा गृहस्थाविहवासिनौ। तस्य तृप्तिकरीं भिक्षां प्रयच्छावो वरानने ॥ ३२॥

देवाधिदेव महादेवने कहा—प्रिये ! व्यासजीने अनेक वर्षोंतक कठोर तपस्या की है। वरानने ! ये मौन धारणकर ध्यानपरायण हो बारह वर्षोंतक तपस्यामें लीन रहे। तदनन्तर भूख लगनेपर ये भिक्षा माँगनेके लिये यहाँ आये हैं, किंतु भामिनि ! किसीने इन्हें आधा ग्रास भी भिक्षा नहीं दी। इस प्रकार भगवान् व्यासमुनिके छः महीने बीत गये। इसी कारण इस समय ये क्रोधसे अभिभूत होकर शाप देनेको उद्यत हो गये हैं। प्रिये ! कृष्णद्वैपायन व्यासको साक्षात् नारायण समझो, अतः जबतक ये शाप नहीं दे देते, तभीतक इस विषयमें कोई उपाय सोच लो। कौन है, जो इनके शापसे नहीं डरता, चाहे वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो! ये मनुष्यको देवता और देवताको मनुष्य कर सकते हैं। वरानने ! हम दोनों मनुष्य होकर यहाँ गृहस्थाश्रममें निवास कर रहे हैं, अतः उन्हें संतुष्ट करनेवाली भिक्षा समर्पित करें ॥ २७–३२ ॥

एवमुक्ता ततो देवी देवेन शम्भुना तदा। व्यासस्य दर्शनं दत्त्वा कृत्वा वेषं तु मानुषम् ॥ ३३॥
एह्येहि भगवन् साधो भिक्षां गृहाण सत्तम। अस्मद् गृहे कदाचित् त्वं नागतोऽसि महामुने ॥ ३४॥
एतच्छ्रुत्वा प्रीतमना भिक्षां ग्रहीतुमागतः। भिक्षां दत्त्वा तु व्यासाय षड्रसाममृतोपमाम् ॥ ३५॥
अनास्वादितपूर्वा सा भक्षिता मुनिना तदा। भिक्षां व्यासस्ततो भुक्त्वा चिन्तयन् हृष्टमानसः ॥ ३६॥
ववन्दे वरदं देवं देवीं च गिरिजां तदा। व्यासः कमलपत्राक्ष इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३७॥
देवो देवी नदी गङ्गा मिष्टमन्नं शुभा गतिः। वाराणस्यां विशालाक्षि वासः कस्य न रोचते ॥ ३८॥
एवमुक्त्वा ततो व्यासो नगरीमवलोकयन्। चिन्तयानस्ततो भिक्षां हृदयानन्दकारिणीम् ॥ ३९॥
अपश्यत् पुरतो देवं देवीं च गिरिजां तदा। गृहाङ्गणस्थितं व्यासं देवदेवोऽब्रवीदिदम् ॥ ४०॥
इह क्षेत्रे न वस्तव्यं क्रोधनस्त्वं महामुने। एवं विस्मयमापन्नो देवं व्यासोऽब्रवीद् वचः ॥ ४१॥

तब महादेव शिवद्वारा इस प्रकार कही जानेपर देवीने मनुष्यका वेष धारण कर व्यासको दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ साधो ! आइये, आइये, भिक्षा ग्रहण कीजिये। महामुने ! सम्भवतः आपने मेरे घरपर कभी आनेकी कृपा नहीं की है।' यह सुनकर व्यासजी प्रसन्नचित्त हो भिक्षा ग्रहण करनेके लिये आये। तब देवीने व्यासजीको छः रसोंसे समन्वित अमृतके समान भिक्षा प्रदान की। मुनिने पहले वैसी न खायी हुई भिक्षाको खाया। तत्पश्चात् भिक्षाको खाकर प्रसन्नचित्त हुए व्यासजी कुछ विचार करने लगे। तदुपरान्त कमलदलनेत्र व्यासजीने वरदाता शिव और देवी पार्वतीकी वन्दना की और इस प्रकार कहा—'विशाल नेत्रोंवाली देवि ! वाराणसीमें महादेव, पार्वतीदेवी, गङ्गा नदी, स्वादिष्ट भोजन और शुभगति—सभी सुलभ हैं, फिर यहाँका निवास किसे अच्छा नहीं लगेगा !' ऐसा कहकर व्यासजी हृदयको आनन्द देनेवाली भिक्षाको सोचते हुए, नगरीका अवलोकन करते हुए घूमने लगे। तदनन्तर उन्होंने

महादेव और देवी पार्वतीको अपने समक्ष उपस्थित देखा। तब देवाधिदेव महादेवने घरके आँगनमें अवस्थित व्याससे यह कहा—'महामुने! आप अतिशय क्रोधी स्वभावके हैं, अतः आपको इस क्षेत्रमें निवास नहीं करना चाहिये।' यह सुनकर व्यासजी आश्चर्यचकित हो गये और महादेवजीसे इस प्रकार बोले॥ ३३–४१॥

व्यास उवाच

चतुर्दश्यामथाष्टम्यां प्रवेशं दातुमर्हसि। एवमस्त्विति तत्रैवान्तरधीयत॥ ४२॥
न तद् गृहं न सा देवी न देवो ज्ञायते क्वचित्। एवं त्रैलोक्यविख्यातः पुरा व्यासो महातपाः॥ ४३॥
ज्ञात्वा क्षेत्रगुणान् सर्वान् स्थितस्तस्यैव पार्श्वतः। एवं व्यासं स्थितं ज्ञात्वा क्षेत्रं शंसन्ति पण्डिताः॥ ४४॥

व्यासजीने कहा—भगवन्! चतुर्दशी और अष्टमीको मुझे यहाँ निवास करनेकी अनुमति दीजिये। अच्छा, 'ऐसा ही हो' यों अनुमति देकर शिवजी वहीं अन्तर्धान हो गये। फिर तो वहाँ न कहीं कोई घर था, न वह देवी थीं और न महादेव ही थे। वे कहाँ चले गये, कुछ भी समझमें न आया। प्राचीनकालमें इस प्रकार तीनों लोकोंमें विख्यात महातपस्वी व्यास इस क्षेत्रके सभी गुणोंको जानकर उसीके पास (गङ्गाजीके पूर्वतटपर दक्षिणकी ओर) निवास करने लगे। इस प्रकार व्यासको वहाँ स्थित जानकर पण्डितगण इस क्षेत्रकी प्रशंसा करते हैं॥ ४२–४४॥

अविमुक्तगुणानां तु कः समर्थो वदिष्यति। देवब्राह्मणविद्विष्टा देवभक्तिविडम्बकाः॥ ४५॥
ब्रह्मघ्नाश्च कृतघ्नाश्च तथा नैष्कृतिकाश्च ये। लोकद्विषो गुरुद्विषस्तीर्थायतनदूषकाः॥ ४६॥
सदा पापरताश्चैव ये चान्ये कुत्सिता भुवि। तेषां नास्तीति वासो वै स्थितोऽसौ दण्डनायकः॥ ४७॥
रक्षणार्थं नियुक्तं वै दण्डनायकमुत्तमम्। पूजयित्वा यथाशक्त्या गन्धपुष्पादिधूपकैः॥ ४८॥
नमस्कारं ततः कृत्वा नायकस्य तु मन्त्रवित्। सर्ववर्णावृते क्षेत्रे नानाविधसरीसृपे॥ ४९॥
ईश्वरानुगृहीता हि गतिं गाणेश्वरीं गताः। नानारूपधरा दिव्या नानावेषधरास्तथा॥ ५०॥
सुरा वै ये तु सर्वे च तन्निष्ठास्तत्परायणाः। यदिच्छन्ति परं स्थानमक्षयं तदवाप्नुयुः॥ ५१॥
परं पुरं देवपुराद् विशिष्यते तदुत्तरं ब्रह्मपुरात् पुरः स्थितम्।
तपोबलादीश्वरयोगनिर्मितं न तत्समं ब्रह्मदिवौकसालयम्।
मनोरमं कामगमं ह्यनामयमतीत्य तेजांसि तपांसि योगवत्॥ ५२॥
अधिष्ठितस्तु तत्स्थाने देवदेवो विराजते। तपांसि यानि तप्यन्ते व्रतानि नियमाश्च ये॥ ५३॥
सर्वतीर्थाभिषेकं तु सर्वदानफलानि च। सर्वयज्ञेषु यत् पुण्यमविमुक्ते तदाप्नुयात्॥ ५४॥
अतीतं वर्तमानं च यज्ज्ञानाज्ञानतोऽपि वा। सर्वं तस्य च यत्पापं क्षेत्रं दृष्ट्वा विनश्यति॥ ५५॥

अविमुक्त क्षेत्रके सभी गुणोंका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? देवता और ब्राह्मणसे विद्वेष करनेवाले, देवभक्तिकी विडम्बना करनेवाले, ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले, किये हुए उपकारको न माननेवाले, निश्चेष्ट-अकर्मण्य, लोकद्वेषी, गुरुद्वेषी, तीर्थस्थानोंको दूषित करनेवाले, सदा पापमें रत तथा इनके अतिरिक्त जो निषिद्ध कर्मोंके आचरण करनेवाले हैं—उन सबके लिये यहाँ स्थान नहीं है; क्योंकि यहाँ दण्डनायक अवस्थित हैं। यहाँ श्रेष्ठ दण्डनायकको इसकी रक्षाके लिये नियुक्त किया गया है। सभी वर्णाश्रमियों तथा अनेक प्रकारके जन्तुओंसे भरे हुए इस क्षेत्रमें नायकके परामर्शसे यथाशक्ति गन्ध, पुष्प, धूप आदिसे पूजन करनेके पश्चात् उन्हें नमस्कार करके ईश्वरके अनुग्रहसे बहुत-से लोग गणेश्वरकी गतिको प्राप्त हो गये हैं। अनेकों वेष और विभिन्न रूप धारण करनेवाले सभी दिव्य देव, शिवमें श्रद्धा-सम्पन्न एवं शिवभक्ति-परायण हो जिस अक्षय श्रेष्ठ

स्थानकी कामना करते हैं, वह उन्हे प्राप्त हो जाता है। यह श्रेष्ठ नगर अमरावतीसे भी विशिष्ट है। इस अविमुक्तनगरका उत्तरी भाग ब्रह्मलोकसे भी अधिक प्रतिष्ठित है। यह शिवजीके तपोबल और उनकी योगमहिमासे निर्मित है, अतः इसके समान ब्रह्मलोक तथा स्वर्ग भी नहीं है। यह मनोरम, अभिलाषाको पूर्ण करनेवाला, रोगरहित, तेज और तपस्यासे परे तथा योगयुक्त है। इस अविमुक्त क्षेत्रमे देवाधिदेव शंकर सदा विराजमान रहते हैं। जो लोग सभी प्रकारके तप, व्रत, नियम, सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान, सभी प्रकारके दान और सभी प्रकारके यज्ञानुष्ठानसे जो पुण्य प्राप्त करते हैं, वह अविमुक्त नगरमें प्राप्त हो जाता है। अतीत या वर्तमानमें ज्ञानसे या अज्ञानसे किये गये उसके सभी पाप क्षेत्रके दर्शनमात्रसे विनष्ट हो जाते हैं ॥४५—५५॥

शान्तैर्दान्तैस्तपस्तप्तं यत्किञ्चिद् धर्मसंज्ञितम्। सर्वं च तदवाप्नोति अविमुक्ते जितेन्द्रियः ॥५६॥
अविमुक्तं समासाद्य लिङ्गमर्चयते नरः। कल्पकोटिशतैश्चापि नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥५७॥
अमरा ह्यक्षयाश्चैव क्रीडन्ति भवसंनिधौ। क्षेत्रतीर्थोपनिषदमविमुक्तं न संशयः ॥५८॥
अविमुक्ते महादेवमर्चयन्ति स्तुवन्ति वै। सर्वपापविनिर्मुक्तास्ते तिष्ठन्त्यजरामराः ॥५९॥
सर्वकामाश्च ये यज्ञाः पुनरावृत्तिकाः स्मृताः। अविमुक्ते मृता ये च सर्वे ते ह्यनिवर्तकाः ॥६०॥
ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनाद् भयम्। अविमुक्ते मृतानां तु पतनं नैव विद्यते ॥६१॥
कल्पकोटिसहस्रैस्तु कल्पकोटिशतैरपि। न तेषां पुनरावृत्तिर्मृता ये क्षेत्र उत्तमे ॥६२॥
संसारसागरे घोरे भ्रमन्तः कालपर्ययात्। अविमुक्तं समासाद्य गच्छन्ति परमां गतिम् ॥६३॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमे रखकर शान्तचित्तसे की गयी तपस्यासे एवं विहित कर्मोंके आचरणसे जो फल मिलते हैं, वह सब अविमुक्त नगरमे जितेन्द्रियको प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य अविमुक्त नगरमे आकर शिवलिङ्गकी पूजा करता है, उसका सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें भी पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसे लोग अमर और अविनश्वर रूपमें शिवके समीप क्रीडा करते हैं। यह अविमुक्त नगर अन्य स्थानो और तीर्थोका प्रकाश-संवित्स्वरूप है—इसमे संदेह नहीं है। जो अविमुक्त-नगरमें महादेवकी पूजा और स्तुति करते हैं, वे सभी पापोंसे विनिर्मुक्त होकर अजर-अमर हो जाते हैं। सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले जो यज्ञ हैं, वे सभी पुनर्जन्म प्रदान करनेवाले हैं; किंतु जो अविमुक्त नगरमें शरीरका त्याग करते हैं, उनका संसारमे पुनः आगमन नहीं होता। ग्रह, नक्षत्र और तारागणोको समयानुसार पतनका भय बना रहता है, किंतु अविमुक्तमें मरनेवालोका पतन कभी नहीं होता। जो इस उत्तम क्षेत्रमें मरते हैं, उनका सैकड़ों-करोड़ो कल्पोमें क्या हजारों-करोड़ कल्पोमे भी पुनरागमन नहीं होता। जो कालक्रमानुसार संसार-सागरमे भ्रमण करते हुए अविमुक्त नगरमें आ जाते हैं, वे परमगतिको प्राप्त हो जाते है ॥ ५६—६३ ॥

ज्ञात्वा कलियुगं घोरं हाहाभूतमचेतनम्। अविमुक्तं न मुञ्चन्ति कृतार्थास्ते नरा भुवि ॥६४॥
अविमुक्तं प्रविष्टस्तु यदि गच्छेत् ततः पुनः। तदा हसन्ति भूतानि अन्योन्यं करताडनैः ॥६५॥
कामक्रोधेन लोभेन ग्रस्ता ये भुवि मानवाः। निष्क्रमन्ते नरा देवि दण्डनायकमोहिताः ॥६६॥
जपध्यानविहीनानां ज्ञानवर्जितचेतसाम्। ततो दुःखहतानां च गतिर्वाराणसी नृणाम् ॥६७॥
तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने। दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः ॥६८॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। एभिस्तु तीर्थवर्यैश्च वर्ण्यते ह्यविमुक्तकम् ॥६९॥
एक एव प्रभावोऽस्ति क्षेत्रस्य परमेश्वरि। एकेन जन्मना देवि मोक्षं पश्यन्त्यनुत्तमम् ॥७०॥
एतद् वै कथितं सर्वं देव्यै देवेन भाषितम्। अविमुक्तस्य क्षेत्रस्य तत् सर्वं कथितं द्विजाः ॥७१॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽविमुक्तमाहात्म्यं नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८५॥

जो मनुष्य हाहाकारमय एवं ज्ञानरहित भयंकर कलियुगको जानकर अविमुक्तका परित्याग नहीं करते, वे ही इस भूतलपर कृतार्थ हैं। जो अविमुक्त नगरमें जाकर यदि यहाँसे चला जाता है तो सभी प्राणी ताली बजाकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। देवि! जो मानव भूतलपर क्रोध और लोभसे ग्रस्त हैं, वे ही दण्ट-नायककी मायासे मोहित होकर इस नगरसे चले जाते हैं। जो मनुष्य जप-ध्यानसे रहित, ज्ञानशून्य और दुःखसे संतप्त हैं, उनकी गति वाराणसी है। विश्वेश्वरके इस आनन्द-काननमें दशाश्वमेध, लोलार्क, केशव, बिन्दुमाधव और पाँचवीं जो परमश्रेष्ठ मणिकर्णिका कही गयी है—ये पाँचों तीर्थोंके सार कहे गये हैं। इन्हीं श्रेष्ठ तीर्थोंसे अविमुक्तकी प्रशंसा होती है। परमेश्वरी देवि! इस क्षेत्रकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ही जन्ममें मनुष्य परमश्रेष्ठ मोक्षको प्राप्त कर लेता है। द्विजगण! अविमुक्तक्षेत्रके विषयमें महादेवजीने पार्वतीसे जो बात कही थी, वह सभी मैंने आप लोगोंसे वर्णन कर दिया ॥ ६४—७१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें अविमुक्त-माहात्म्यवर्णन नामक एक सौ पचासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८५ ॥

एक सौ छियासीवाँ अध्याय

नर्मदा-माहात्म्यका उपक्रम

ऋषय ऊचुः

माहात्म्यमविमुक्तस्य यथावत् कथितं त्वया। इदानीं नर्मदायास्तु माहात्म्यं वद सत्तम ॥ १ ॥
यत्रोंकारस्य माहात्म्यं कपिलासंगमस्य च। अमरेशस्य चैवाहुर्माहात्म्यं पापनाशनम् ॥ २ ॥
कथं प्रलयकाले तु न नष्टा नर्मदा पुरा।
मार्कण्डेयश्च भगवान् न विनष्टस्तदा किल। त्वयोक्तं तदिदं सर्वं पुनर्विस्तरतो वद ॥ ३ ॥

ऋषियोंने पूछा—सज्जनोंमें श्रेष्ठ सूतजी! आपने अविमुक्तका माहात्म्य तो भलीभाँति कह दिया, अब नर्मदाके माहात्म्यका वर्णन कीजिये, जहाँ ओंकार, कपिलासंगम और अमरेश पर्वतका पापनाशक माहात्म्य कहा जाता है। प्रलयकालमें भी नर्मदाका नाश क्यों नहीं होता? एवं भगवान् मार्कण्डेयका भी पूर्व प्रलयके समयमें विनाश क्यों नहीं हुआ? यद्यपि आपने ये बातें पूर्वमें कही हैं, तथापि इस समय पुनः विस्तारके साथ वर्णन कीजिये ॥

सूत उवाच

एतदेव पुरा पृष्टः पाण्डवेन महात्मना। नर्मदायास्तु माहात्म्यं मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ४ ॥
उग्रेण तपसा युक्तो वनस्थो वनवासिना। पृष्टः पूर्वं महागाथां धर्मपुत्रेण धीमता ॥ ५ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! प्राचीनकालमें धर्मपुत्र बुद्धिमान् महात्मा युधिष्ठिरने वनमें निवास करते समय वनवासी उग्र तपस्वी महामुनि मार्कण्डेयजीसे नर्मदाके माहात्म्यकी विस्तृत कथाके विषयमें प्रश्न किया था ॥ ४-५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुता मे विविधा धर्मास्त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम। भूयश्च श्रोतुमिच्छामि तन्मे कथय सुव्रत ॥ ६ ॥
कथमेषा महापुण्या नदी सर्वत्र विश्रुता। नर्मदा नाम विख्याता तन्मे ब्रूहि महामुने ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! आपकी कृपासे मैंने विभिन्न धर्मोंको सुना। सुव्रत! अब मैं पुनः जो सुनना चाहता हूँ, उसे आप बतलाइये? महामुने! यह महा-पुण्यप्रदायिनी नर्मदा-नामसे विख्यात नदी सर्वत्र क्यों प्रसिद्ध हुई—इसका रहस्य मुझे बतलाइये ॥ ६-७ ॥

मार्कण्डेय उवाच

नर्मदा सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी। तारयेत् सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ८ ॥
नर्मदायास्तु माहात्म्यं पुराणे यन्मया श्रुतम्। तदेतद्धि महाराज तत्सर्वं कथयामि ते ॥ ९ ॥
पुण्या कनखले गङ्गा कुरुक्षेत्रे सरस्वती। ग्रामे वा यदि वारण्ये पुण्या सर्वत्र नर्मदा ॥ १० ॥
त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्। सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥ ११ ॥
कलिङ्गदेशे पश्चार्धे पर्वतेऽमरकण्टके। पुण्या च त्रिषु लोकेषु रमणीया मनोरमा ॥ १२ ॥
सदेवासुरगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः। तपस्तप्त्वा महाराज सिद्धिं च परमां गताः ॥ १३ ॥
यत्र स्नात्वा नरो राजन् नियमस्थो जितेन्द्रियः। उपोष्य रजनीमेकां कुलानां तारयेच्छतम् ॥ १४ ॥
जलेश्वरे नरः स्नात्वा पिण्डं दत्त्वा यथाविधि। पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् १५ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—सभी पापोंका नाश करनेवाली नदियोंमे श्रेष्ठ नर्मदा सभी स्थावर-जङ्गम जीवोंका उद्धार करनेवाली है। महाराज! मैंने इस नर्मदा नदीका जो माहात्म्य पुराणमे आपसे सुना है, वह सब कह रहा हूँ। कनखलमें गङ्गा और कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदी पुण्यप्रदा कही गयी हैं, किंतु चाहे गाँव हो या वन, नर्मदा तो सभी जगह पुण्यप्रदायिनी है। सरस्वतीका जल तीन दिनों-तक सेवन करनेसे, यमुनाका जल सात दिनोंमें और गङ्गाका जल (स्नान-पानादिसे) उसी समय पवित्र कर देता है, परंतु नर्मदाका जल तो दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देता है। कलिङ्ग देशकी पश्चिमी सीमापर स्थित अमरकण्टक पर्वतसे त्रिलोकीमें विख्यात, रमणीय, मनोरम एवं पुण्यदायिनी नर्मदा प्रवाहित होती है। महाराज! इसके तटपर देवता, असुर, गन्धर्व और तपस्यामें रत ऋषिगणोंने तपस्या कर परम सिद्धिको प्राप्त किया है। राजन्! यदि नियमनिष्ठ एवं जितेन्द्रिय मनुष्य नर्मदामे स्नानकर एक रात उपवास करके वहाँ निवास करे तो वह अपनी सौ पीढ़ियोंको तार देता है। यदि मनुष्य जलेश्वर (जालेश्वर) तीर्थमें स्नानकर पिण्ड-दान करता है तो उसके पितर विधिपूर्वक प्रलयकालपर्यन्त तृप्त रहते हैं ॥ ८—१५ ॥

पर्वतस्य समंतात् तु रुद्रकोटिः प्रतिष्ठिता। स्नात्वा यः कुरुते तत्र गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥ १६ ॥
प्रीतस्तस्य भवेच्छर्वो रुद्रकोटिर्न संशयः। पश्चिमे पर्वतस्यान्ते स्वयं देवो महेश्वरः ॥ १७ ॥
तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः। पितृकार्यं च कुर्वीत विधिवन्नियतेन्द्रियः ॥ १८ ॥
तिलोदकेन तत्रैव तर्पयेत् पितृदेवताः। आसप्तमं कुलं तस्य स्वर्गे मोदेत पाण्डव ॥ १९ ॥
षष्टिर्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते। अप्सरोगणसंकीर्णे सिद्धचारणसेविते ॥ २० ॥
दिव्यगन्धानुलिप्तश्च दिव्यालंकारभूषितः। ततः स्वर्गात् परिभ्रष्टो जायते विपुले कुले ॥ २१ ॥
धनवान् दानशीलश्च धार्मिकस्त्वेव जायते। पुनः स्मरति तत् तीर्थं गमनं तत्र रोचते ॥ २२ ॥
कुलानि तारयेत् सप्त रुद्रलोकं स गच्छति। योजनानां शतं साग्रं श्रूयते सरिदुत्तमा ॥ २३ ॥
विस्तारेण तु राजेन्द्र योजनद्वयमायता। षष्टिस्तीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथैव च ॥ २४ ॥
सर्वं तस्य समंतात् तु तिष्ठत्यमरकण्टके।

अमरकण्टक पर्वतके चारों ओर करोड़ों रुद्र प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य वहाँ स्नानकर गन्ध, माल्य और चन्दनोंसे शिवजीकी पूजा करता है, उसपर भगवान् रुद्रकोटि प्रसन्न हो जाते हैं—इसमें संदेह नहीं है। पाण्डुनन्दन! उस पर्वतके पश्चिम भागके अन्तमें साक्षात् महेश्वरदेव विराजमान हैं। जो मनुष्य वहाँ स्नान करके पवित्र हो जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी एवं इन्द्रियोंको वशमे करके विधिपूर्वक पितृकार्य करता है तथा तिल-जलसे पितरों और देवताओंका तर्पण करता है, उसके सात पीढ़ी-तकके पितर स्वर्गमें आनन्दका भोग करते हैं। साथ ही

वह व्यक्ति दिव्य गन्धोंके अनुलेपनसे युक्त तथा दिव्य अलंकारोंसे विभूषित हो साठ हजार वर्षोंतक अप्सरा-समूहोंसे परिव्याप्त एवं सिद्धों और चारणोंसे सेवित स्वर्गलोकमें पूजित होता है। तदनन्तर स्वर्गसे भ्रष्ट होनेपर प्रतिष्ठित कुलमें जन्म ग्रहण करता है। वहाँ वह धनवान्, दानशील और धार्मिक होता है। वह उस तीर्थका पुनः-पुनः स्मरण करता है तथा उसको वहाँ जाना प्रिय लगता है। वहाँ जाकर वह सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है और रुद्रलोकको चला जाता है। राजेन्द्र! ऐसी ख्याति है कि यह श्रेष्ठ नदी सौ योजनसे अधिक लम्बी और दो योजन चौड़ी है। साठ करोड़ साठ हजार तीर्थ इस अमरकण्टकके चारों ओर वर्तमान हैं॥

ब्रह्मचारी शुचिर्भूत्वा जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥ २५॥
सर्वहिंसानिवृत्तस्तु सर्वभूतहिते रतः। एवं सर्वसमाचारो यस्तु प्राणान् परित्यजेत्॥ २६॥
तस्य पुण्यफलं राजञ्शृणुष्वावहितो मम। शतं वर्षसहस्राणां स्वर्गे मोदेत पाण्डव॥ २७॥
अप्सरोगणसंकीर्णे सिद्धचारणसेविते। दिव्यगन्धानुलिप्तश्च दिव्यपुष्पोपशोभितः॥ २८॥
क्रीडते देवलोकस्थो दैवतैः सह मोदते। ततः स्वर्गात् परिभ्रष्टो राजा भवति वीर्यवान्॥ २९॥
गृहं तु लभते वै स नानारत्नविभूषितम्। स्तम्भैर्मणिमयैर्दिव्यैर्वज्रवैडूर्यभूषितैः॥ ३०॥
आलेख्यसहितं दिव्यं दासीदाससमन्वितम्। मत्तमातङ्गशब्दैश्च हयानां हेषितेन च॥ ३१॥
क्षुभ्यते तस्य तद्द्वारमिन्द्रस्य भवनं यथा। राजराजेश्वरः श्रीमान् सर्वस्त्रीजनवल्लभः॥ ३२॥
तस्मिन् गृहे उषित्वा तु क्रीडाभोगसमन्विते। जीवेद् वर्षशतं साग्रं सर्वरोगविवर्जितः॥ ३३॥
एवं भोगो भवेत् तस्य यो मृतोऽमरकण्टके। अग्नौ विषजले वापि तथा चैव ह्यनाशके॥ ३४॥
अनिवर्तिका गतिस्तस्य पवनस्याम्बरे यथा। पतनं कुरुते यस्तु अमरेशे नराधिप॥ ३५॥
कन्यानां त्रिसहस्राणि एकैकस्यापि चापरे।
तिष्ठन्ति भुवने तस्य प्रेषणं प्रार्थयन्ति च। दिव्यभोगैः सुसम्पन्नः क्रीडते कालमक्षयम्॥ ३६॥

राजन्! जो मनुष्य ब्रह्मचारी, पवित्र, क्रोधजयी, जितेन्द्रिय, सभी प्रकारकी हिंसाओंसे रहित, सभी प्राणियोंके हितमें तत्पर—इस प्रकार सभी सदाचारोंसे युक्त होकर यहाँ अपने प्राणोंका परित्याग करता है, उसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है, उसे आप मुझसे सावधान होकर सुनिये। पाण्डुपुत्र! वह एक लाख वर्षोंतक अप्सराओंसे व्याप्त तथा सिद्धों एवं चारणोंसे सेवित स्वर्गमें आनन्दका उपभोग करता है। वह दिव्य चन्दनके लेपसे युक्त एवं दिव्य पुष्पोंसे सुशोभित हो देवलोकमें रहता हुआ देवोंके साथ क्रीड़ा करते हुए आनन्दका अनुभव करता है। तत्पश्चात् स्वर्गसे भ्रष्ट होकर इस लोकमें पराक्रमी राजा होता है। उसे अनेक प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत ऐसे भवनकी प्राप्ति होती है, जो दिव्य हीरे, वैदूर्य और मणिमय स्तम्भोंसे विभूषित होता है। वह दिव्य चित्रोंसे सुशोभित तथा दासी-दाससे समन्वित रहता है। उसका द्वार मदमत्त हाथियोंके चिग्घाड़ और घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे इन्द्रभवनके समान संकुलित रहता है। वह सम्पूर्ण स्त्रीजनोंका प्रिय, श्रीसम्पन्न और सभी प्रकारके रोगोंसे रहित होकर राजराजेश्वरके रूपमें क्रीडा और भोगसे समन्वित उस गृहमें निवासकर सौ वर्षोंसे भी अधिक समयतक जीवित रहता है। जो अमरकण्टकमें शरीरका त्याग करता है, उसे इस प्रकारके आनन्दका उपभोग मिलता है। जो अग्नि, विष, जल तथा अनशन करके यहाँ मरता है, उसे आकाशमें वायुके समान स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। नरेश्वर! जो इस अमरकण्टक पर्वतसे गिरकर देहत्याग करता है, उसके भवनमें एक-से-एक बढ़कर सुन्दरी तीन हजार कन्याएँ स्थित रहती हैं, जो उसकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। वह दिव्य भोगोंसे परिपूर्ण होकर अक्षय कालतक क्रीडा करता है॥ २५—३६॥

*

पृथिव्यामासमुद्रायामीदृशो नैव जायते । यादृशोऽयं नृपश्रेष्ठ पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ३७ ॥
तावत् तीर्थं तु विज्ञेयं पर्वतस्य तु पश्चिमे । ह्रदो जलेश्वरो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ३८ ॥
तत्र पिण्डप्रदानेन संध्योपासनकर्मणा । पितरो दश वर्षाणि तर्पितास्तु भवन्ति वै ॥ ३९ ॥
दक्षिणे नर्मदाकूले कपिलेति महानदी । सकलार्जुनसंच्छन्ना नातिदूरे व्यवस्थिता ॥ ४० ॥
सापि पुण्या महाभागा त्रिषु लोकेषु विश्रुता । तत्र कोटिशतं साग्रं तीर्थानां तु युधिष्ठिर ॥ ४१ ॥
पुराणे श्रूयते राजन् सर्वं कोटिगुणं भवेत् । तस्यास्तीरे तु ये वृक्षाः पतिताः कालपर्ययात् ॥ ४२ ॥
नर्मदातोयसंस्पृष्टास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । द्वितीया तु महाभागा विशल्यकरणी शुभा ॥ ४३ ॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा विशल्यो भवति क्षणात् । तत्र देवगणाः सर्वे सकिंनरमहोरगाः ॥ ४४ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । सर्वे समागतास्तत्र पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ४५ ॥
तैश्च सर्वैः समागम्य मुनिभिश्च तपोधनैः । नर्मदामाश्रिता पुण्या विशल्या नाम नामतः ॥ ४६ ॥
उत्पादिता महाभागा सर्वपापप्रणाशिनी । तत्र स्नात्वा नरो राजन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ४७ ॥
उपोष्य रजनीमेकां कुलानां तारयेच्छतम् । कपिला च विशल्या च श्रूयते राजसत्तम ॥ ४८ ॥
ईश्वरेण पुरा प्रोक्ते लोकानां हितकाम्यया । तत्र स्नात्वा नरो राजन्नश्वमेधफलं लभेत् ॥ ४९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अमरकण्टक पर्वतपर शरीरका त्याग करनेसे जैसा पुण्य होता है, वैसा समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर कहीं भी नहीं होता । इस तीर्थको पर्वतके पश्चिम प्रान्तमें समझना चाहिये । यहीं तीनों लोकोंमें विख्यात जलेश्वर नामक कुण्ड वर्तमान है, वहाँ पिण्डदान एवं संध्योपासन कर्म करनेसे पितरगण दस वर्षोंतक तृप्त बने रहते हैं । नर्मदाके दक्षिण तटपर समीप ही कपिला नामकी महानदी स्थित है । वह सब ओरसे अर्जुन वृक्षोंसे परिव्याप्त है । युधिष्ठिर ! वह महाभागा पुण्यतोया नदी भी तीनों लोकोंमें विख्यात है । वहाँ सौ करोड़से भी अधिक तीर्थ हैं । राजन् ! पुराणमें जैसा वर्णन है, उसके अनुसार वे सभी तीर्थ करोड़गुना फल देनेवाले हैं । उसके तटके जो वृक्ष कालवश गिर जाते हैं, वे भी नर्मदाके जलके स्पर्शसे श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हो जाते हैं । दूसरी महाभागा मङ्गलदायिनी विशल्यकरणी नदी है । मनुष्य उस तीर्थमें स्नानकर उसी क्षण दुःखरहित हो जाता है । वहाँ सभी देवगण, किन्नर, महान् सर्पगण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, तपस्वी ऋषिगण आये और उस अमरकण्टकपर्वतपर मुनियों और तपस्वियोंके साथ स्थित हुए । वहाँ उन लोगोंने सभी पापोंका विनाश करनेवाली महाभागा पुण्यसलिला विशल्या नामसे विख्यात नदीको उत्पन्न किया, जो नर्मदामें मिलती है । राजन् ! वहाँ जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक जितेन्द्रिय होकर स्नानकर उपवासपूर्वक एक रात भी निवास करता है, वह अपनी सौ पीढ़ियोंको तार देता है । नृपश्रेष्ठ ! ऐसा सुना जाता है कि पूर्वकालमें लोगोंके हितकी कामनासे महेश्वरने कपिला और विशल्या नामके तीर्थोंका वर्णन किया था । राजन् ! वहाँ स्नान करके मनुष्य अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है ॥ ३७—४९ ॥

अनाशकं तु यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप । सर्वपापविशुद्धात्मा रुद्रलोकं स गच्छति ॥ ५० ॥
नर्मदायास्तु राजेन्द्र पुराणे यन्मया श्रुतम् । यत्र यत्र नरः स्नात्वा चाश्वमेधफलं लभेत् ॥ ५१ ॥
ये वसन्त्युत्तरे कूले रुद्रलोके वसन्ति ते । सरस्वत्यां च गङ्गायां नर्मदायां युधिष्ठिर ॥ ५२ ॥
समं स्नानं च दानं च यथा मे शंकरोऽब्रवीत् । परित्यजति यः प्राणान् पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ५३ ॥
वर्षकोटिशतं साग्रं रुद्रलोके महीयते । नर्मदाया जलं पुण्यं फेनोर्मिभिरलंकृतम् ॥ ५४ ॥
पवित्रं शिरसा वन्द्यं सर्वपापैः प्रमोचनम् । नर्मदा च सदा पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी ॥ ५५ ॥
अहोरात्रोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया । एवं रम्या च पुण्या च नर्मदा पाण्डुनन्दन ॥ ५६ ॥

त्रयाणामपि लोकानां पुण्या ह्येषा महानदी। वटेश्वरे महापुण्ये गङ्गाद्वारे तपोवने॥ ५७॥
एतेषु सर्वस्थानेषु द्विजाः स्युः संशितव्रताः। श्रुतं दशगुणं पुण्यं नर्मदोदधिसंगमे॥ ५८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८६॥

नरेश्वर! इस तीर्थमें जो अनशन करता है, वह सभी पापोंसे रहित होकर रुद्रलोकको प्राप्त करता है। राजेन्द्र! मैंने स्कन्दपुराणमें नर्मदाका जो फल सुना है, उसके अनुसार वहाँ-वहाँ स्नानकर मनुष्य अश्वमेधके फलको प्राप्त करता है। जो नर्मदाके उत्तर तटपर निवास करते हैं, वे रुद्रलोकमें निवास करते हैं। युधिष्ठिर! जैसा मुझसे शंकरजीने कहा था, उसके अनुसार सरस्वती, गङ्गा और नर्मदामें स्नान और दानका फल समान होता है। जो अमरकण्टक पर्वतपर प्राणोंका परित्याग करता है, वह सौ करोड़ वर्षोंसे भी अधिक कालतक रुद्रलोकमें पूजित होता है। नर्मदाका लहरियोंके फेनसे अलंकृत, पुण्यमय पवित्र जल सभी पापोंसे मुक्त करनेवाला है, अतः वह सिरसे वन्दना करनेयोग्य है। पुण्यतोया नर्मदा ब्रह्महत्याका नाश करनेवाली है। यहाँ एक दिन-रात उपवास करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। पाण्डुपुत्र! नर्मदा इस प्रकार पुण्यमयी और रमणीया है। यह महानदी तीनों लोकोंमें भी पुण्यमयी है। महापुण्यप्रद वटेश्वर, तपोवन और गङ्गाद्वार—इन स्थानोंमें द्विजगण व्रतानुष्ठान करते हैं, परंतु नर्मदा और समुद्रके सङ्गमपर उससे दसगुना अधिक फल सुना जाता है॥ ५०—५८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नर्मदा-माहात्म्यमें एक सौ छियासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १८६॥

एक सौ सतासीवाँ अध्याय

नर्मदा-माहात्म्यके प्रसङ्गमें पुनः* त्रिपुराख्यान

मार्कण्डेय उवाच

नर्मदा तु नदी श्रेष्ठा पुण्यात् पुण्यतमा हिता। मुनिभिस्तु महाभागैर्विभक्ता मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ १॥
यज्ञोपवीतमात्राणि प्रविभक्तानि पाण्डव। तेषु स्नात्वा तु राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २॥
जलेश्वरं परं तीर्थं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तस्योत्पत्तिं कथयतः शृणु त्वं पाण्डुनन्दन॥ ३॥
पुरा सुरगणाः सर्वे सेन्द्राश्चैव मरुद्गणाः।
स्तुवन्ति ते महात्मानं देवदेवं महेश्वरम्। स्तुवन्तस्ते तु सम्प्राप्ता यत्र देवो महेश्वरः॥ ४॥
विज्ञापयन्ति देवेशं सेन्द्राश्चैव मरुद्गणाः। भयोद्विग्ना विरूपाक्षं परित्रायस्व नः प्रभो॥ ५॥

मार्कण्डेयजीने कहा—पाण्डुनन्दन! नर्मदा नदियोंमें श्रेष्ठ है, वह अतिशय पुण्यदायिनी, हितकारिणी तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले महाभाग्यशाली मुनियोंद्वारा सेवित है। वह यज्ञोपवीतकी दूरीपर (तीर्थ) विभक्त हैं। नृपश्रेष्ठ! मनुष्य उनमें स्नानकर सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। पाण्डु-पुत्र! जलेश्वर नामक श्रेष्ठ तीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है, मैं उसकी उत्पत्तिका वर्णन कर रहा हूँ, आप सुनिये। पूर्वकालमें इन्द्रसहित सभी देवता और मरुद्गण देवाधिदेव महात्मा महेश्वरकी स्तुति कर रहे थे। स्तुति करते हुए वे इन्द्रसहित मरुद्गण महेश्वरदेवके पास पहुँचे और भयसे व्याकुल होकर विरूपाक्ष भगवान् शंकरसे कहने लगे—'प्रभो! हमलोगोंकी रक्षा कीजिये'॥ १—५॥

* इसी पुराणके पहले भी १२९-४० १२ अध्यायोंमें त्रिपुरवृत्त विस्तारसे आया है। अन्तर इतना ही है कि यह बाणासुरका कहा गया है और वह तारकाक्ष आदिका है। शेष बातें प्रायः समान हैं।

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं तु सुरश्रेष्ठाः किमर्थमिह चागताः। किं दुःखं को नु संतापः कुतो वा भयमागतम् ॥ ६ ॥
कथयध्वं महाभागा एवमिच्छामि वेदितुम्। एवमुक्तास्तु रुद्रेण कथयन् संशितव्रताः ॥ ७ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—सुरश्रेष्ठगण ! आपलोगोंका स्वागत है। आपलोग यहाँ किसलिये आये हैं ? आप लोगोंको कौन-सा दुःख है ? कैसी पीड़ा है ? और कहाँसे भय उपस्थित हो गया है ? महाभाग देवगण ! आपलोग कहिये, मैं उसे जानना चाहता हूँ। इस प्रकार रुद्रद्वारा कहे जानेपर भलीभाँति व्रतोंका सम्पादन करनेवाले देवताओंने कहा ॥६-७॥

देवा ऊचुः

अतिवीर्यो महाघोरो दानवो बलदर्पितः। बाणो नामेति विख्यातो यस्य वै त्रिपुरं पुरम् ॥ ८ ॥
गगने सततं दिव्यं भ्रमते तस्य तेजसा। ततो भीता विरूपाक्ष त्वामेव शरणं गताः ॥ ९ ॥
त्रायस्व महतो दुःखात् त्वं हि नः परमा गतिः। एवं प्रसादं देवेश सर्वेषां कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥
येन देवाः सगन्धर्वाः सुखमेधन्ति शंकर। परां निर्वृतिमायान्ति तत् प्रभो कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

देवगण बोले—विरूपाक्ष ! अतिशय भीषण, महान् पराक्रमी और बलाभिमानी बाण नामसे विख्यात एक दानव है, जिसका त्रिपुरनामक नगर है। वह दिव्य नगर उसके प्रभावसे सदा आकाशमें घूमता रहता है। उससे भयभीत होकर हमलोग आपकी शरणमें आये हैं। आप इस महान् कष्टसे हमलोगोंकी रक्षा कीजिये; क्योंकि आप ही हमलोगोंकी परमगति हैं। देवेश ! इस प्रकार आप हम सभी लोगोंपर कृपा कीजिये। सामर्थ्यशाली शंकर ! जिस कार्यसे गन्धर्वोसहित देवगण सुखी हो सकें तथा परम संतोष प्राप्त कर लें, आप वही कीजिये ॥८-११॥

श्रीभगवानुवाच

एतत् सर्वं करिष्यामि मा विषादं गमिष्यथ। अचिरेणैव कालेन कुर्यां युष्मत् सुखावहम् ॥ १२ ॥
आश्वास्य स तु तान् सर्वान् नर्मदातटमाश्रितः। चिन्तयामास देवेशस्तद्वधं प्रति मानद ॥ १३ ॥
अथ केन प्रकारेण हन्तव्यं त्रिपुरं मया।
एवं संचिन्त्य भगवान् नारदं चास्मरत् तदा। स्मरणादेव सम्प्राप्तो नारदः समुपस्थितः ॥ १४ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—देवगण ! आपलोग विषाद मत करें। मैं यह सब करूँगा। मैं थोड़े ही समयमें आप लोगोंके लिये सुखप्रद कार्यका सम्पादन करूँगा। मानद ! इस प्रकार उन लोगोंको आश्वासन देकर देवेश नर्मदाके तटपर आये और उसके वधके विषयमें सोचने लगे कि मुझे त्रिपुरका विनाश किस प्रकार करना चाहिये। ऐसा सोच-विचार कर भगवान्‌ने उस समय नारदका स्मरण किया। स्मरण करते ही नारदजी वहाँ उपस्थित हो गये ॥

नारद उवाच

आज्ञापय महादेव किमर्थं च स्मृतो ह्यहम्। किं कार्यं तु मया देव कर्तव्यं कथयस्व मे ॥ १५ ॥

नारदजीने कहा—महादेव ! मुझे आज्ञा दीजिये, किसलिये मेरा स्मरण किया गया है ? देव ! मुझे क्या करना है ? मेरे लिये उस कर्तव्यका निर्देश कीजिये ॥ १५ ॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छ नारद तत्रैव यत्र तत् त्रिपुरं महत्। बाणस्य दानवेन्द्रस्य शीघ्रं गत्वा च तत् कुरु ॥ १६ ॥
ता भर्तृदेवतास्तत्र स्त्रियश्चाप्सरसां समाः। तासां वै तेजसा विप्र भ्रमते त्रिपुरं दिवि ॥ १७ ॥
तत्र गत्वा तु विप्रेन्द्र मतिमन्यां प्रचोदय। देवस्य वचनं श्रुत्वा मुनिस्त्वरितविक्रमः ॥ १८ ॥

स्त्रीणां हृदयनाशाय प्रविष्टस्तत्पुरं प्रति। शोभते यत्पुरं दिव्यं नानारत्नोपशोभितम्॥ १९॥
शतयोजनविस्तीर्णं ततो द्विगुणमायतम्। ततोऽपश्यद्धि तत्रैव बाणं तु बलदर्पितम्॥ २०॥
मणिकुण्डलकेयूरमुकुटेन विराजितम्। हेमहारशतै रत्नैश्चन्द्रकान्तविभूषितम्॥ २१॥
रशना तस्य रत्नाढ्या बाहू कनकमण्डितौ। चन्द्रकान्तमहावज्रमणिविद्रुमभूषिते ॥ २२॥
द्वादशार्कद्युतिनिभे निविष्टं परमासने। उत्थितो नारदं दृष्ट्वा दानवेन्द्रो महाबलः॥ २३॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—नारदजी! दानवराज बाणका यह महान् त्रिपुर जहाँ स्थित है, आप वहीं जाइये और वहाँ जाकर शीघ्र ही ऐसा कीजिये। विप्र! वहाँकी स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी हैं और वे सभी पतिव्रता हैं। उन्हींके तेजसे त्रिपुर आकाशमें घूमता है। विप्रेन्द्र! वहाँ जाकर आप उनकी बुद्धिको परिवर्तित कर दीजिये। महादेवजीकी बात सुनकर शीघ्र पराक्रमी नारदजी उन स्त्रियोंके हृदयको विकृत करनेके लिये उस त्रिपुरमें प्रविष्ट हुए। वह दिव्य पुर अनेक प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत, सौ योजन विस्तृत और दो सौ योजन चौड़ा था। वहाँ उन्होंने बलाभिमानी बाणको देखा। वह मणिमय कुण्डल, भुजबंद और मुकुटसे अलंकृत तथा सैकड़ों स्वर्णमय एवं रत्नोंके हारों और चन्द्रकान्त मणिसे विभूषित था। उसकी करधनी रत्नोंकी बनी थी तथा भुजाएँ स्वर्णमय आभूषणोंसे मण्डित थीं। वह चन्द्रकान्त, हीरक, मणि और मूँगोंसे जटित एवं बारह आदित्योंकी द्युतिके समान देदीप्यमान श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठा था। नारदजीको देखकर वह महाबली दानवराज उठकर खड़ा हो गया॥ १९–२३॥

बाण उवाच

देवर्षे त्वं स्वयं प्राप्तो ह्यर्घ्यं पाद्यं निवेदये। सोऽभिवाद्य यथान्यायं क्रियतां किं द्विजोत्तम॥ २४॥
चिरात् त्वमागतो विप्र स्थीयतामिदमासनम्।
एवं सम्भाषयित्वा तु नारदमृषिसत्तमम्। तस्य भार्या महादेवी ह्यनौपम्या तु नामतः॥ २५॥

बाणासुर बोला—देवर्षे! आप स्वयं मेरे नगरमें पधारे हैं, मै आपको अर्घ्य एवं पाद्य निवेदित कर रहा हूँ। फिर उसने विधिपूर्वक अभिवादन कर कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मै आपका कौन-सा कार्य करूँ? ब्राह्मणदेव! आप बहुत दिनोंके बाद पधारे हैं। इस आसनपर बैठिये।' इस प्रकार ऋषिश्रेष्ठ नारदजीसे वार्तालाप करनेके पश्चात् उसकी पत्नी महादेवी अनौपम्याने प्रश्न किया॥ २४-२५॥

अनौपम्योवाच

भगवन् मानुषे लोके केन तुष्यति केशवः। व्रतेन नियमेनाथ दानेन तपसापि वा॥ २६॥

अनौपम्याने पूछा—भगवन्! मनुष्यलोकमें केशव व्रत, नियम, दान अथवा तपस्या—इनमें किससे प्रसन्न होते हैं?

नारद उवाच

तिलधेनुं च यो दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे। ससागरवनद्वीपा दत्ता भवति मेदिनी॥ २७॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशैर्विमानैः सार्वकामिकैः। मोदते चाक्षयं कालं यावच्चन्द्रार्कतारकम्॥ २८॥
आम्रामलकपित्थानि बदराणि तथैव च। कदम्बचम्पकाशोकपुंनागविविधद्रुमान् ॥ २९॥
अश्वत्थपिप्पलांश्चैव कदलीवटदाडिमान्। पिचुमन्दं मधूकं च उपोष्य स्त्री ददाति या॥ ३०॥
स्तनौ कपित्थसदृशावूरू च कदलीसमौ। अश्वत्थे वन्दनीया च पिचुमन्दे सुगन्धिनी॥ ३१॥
चम्पके चम्पकाभा स्यादशोके शोकवर्जिता। मधूके मधुरं वक्ति वटे च मृदुगात्रिका॥ ३२॥

बदरी सर्वदा स्त्रीणां महासौभाग्यदायिनी। कुक्कुटी कर्कटी चैव द्रव्यषष्ठी न शस्यते ॥ ३३ ॥
कदम्बमिश्रकनकमञ्जरीपूजनं तथा। अनग्निपक्वमन्नं च पक्वान्नानामभक्षणम् ॥ ३४ ॥
फलानां च परित्यागः संध्यामौनं तथैव च। प्रथमं क्षेत्रपालस्य पूजा कार्या प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥
तस्या भवति वै भर्ता मुखप्रेक्षी सदानघे। अष्टमी च चतुर्थी च पञ्चमी द्वादशी तथा ॥ ३६ ॥
संक्रान्तिर्विषुवच्चैव दिनच्छिद्रमुखं तथा।
एतांस्तु दिवसान् दिव्यानुपवसन्ति याः स्त्रियः। तासां तु धर्मयुक्तानां स्वर्गवासो न संशयः ॥ ३७ ॥
कलिकालुष्यनिर्मुक्ताः सर्वपापविवर्जिताः। उपवासरतां नारीं नोपसर्पति तां यमः ॥ ३८ ॥

नारदजीने कहा—जो मनुष्य वेदमें पारङ्गत ब्राह्मणको तिलधेनुका दान करता है, उसके द्वारा समुद्र, वन और द्वीपोंसहित पृथ्वीका दान सम्पन्न हुआ समझना चाहिये। वह दाता करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान एवं सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले विमानोंद्वारा सूर्य, चन्द्र और तारोंकी स्थितिपर्यन्त अक्षय कालतक आनन्द मनाता है। जो स्त्री उपवास करके आम, आँवला, कैथ, बेर, कदम्ब, चम्पक, अशोक, पुंनाग, जायफल, पीपल, केला, वट, अनार, नीम, महुआ आदि अनेक प्रकारके वृक्षोंका दान करती है, उसके दोनो स्तन कैथके समान और दोनों जंघाएँ केलेके सदृश सुन्दर होती हैं। वह अश्वत्थके दानसे वन्दनीय और नीमके दानसे सुगन्धयुक्त होती है। वह चम्पाके दानसे चम्पाकी-सी कान्तिवाली और अशोकके दानसे शोकरहित होती है। महुआके दानसे वह मधुरभाषिणी होती है और वटके दानसे उसका शरीर कोमल होता है। बेर स्त्रियोंके लिये सदा महान् सौभाग्यदायी होता है। ककड़ी, जटाधारी और द्रव्य-षष्ठीका दान, कदम्बसे मिश्रित धतूरेकी मंजरीसे पूजन, बिना अग्निसे पकाया हुआ अन्न एव पके हुए अन्नोंका अभक्षण, फलोंका परित्याग तथा संध्याकालमें मौन-धारण—ये स्त्रियोंके लिये प्रशस्त नहीं हैं। सर्वप्रथम प्रयत्नपूर्वक क्षेत्रपालकी पूजा करनी चाहिये। पापशून्ये! उस स्त्रीका पति सदा उसका मुख ही देखा करता है। जो स्त्रियाँ अष्टमी, चतुर्थी, पञ्चमी और द्वादशी तिथि, संक्रान्ति, विषुवयोग और दिनच्छिद्रमुख (दोपहरमें चन्द्रमाका नये मासकी तिथिमें प्रवेश करना)—इन दिव्य दिनोमे उपवास करती हैं, उन धर्मयुक्त स्त्रियोंका स्वर्गमे निवास होता है—इसमें संदेह नहीं है। वे कलियुगके पापोसे रहित और सभी पापोंसे शून्य हो जाती हैं। इस प्रकार जो स्त्री उपवासमें तत्पर रहती है, उसके समीप यम भी नहीं आते ॥

अनौपम्योवाच

अस्मिन् कृतेन पुण्येन पुराजन्मकृतेन वा। भवदागमनं भूतं किंचित् पृच्छाम्यहं व्रतम् ॥ ३९ ॥
अस्ति विन्ध्यावलिर्नाम बलिपत्नी यशस्विनी। श्वश्रूर्ममापि विप्रेन्द्र न तुष्यति कदाचन ॥ ४० ॥
श्वशुरोऽपि सर्वकालं दृष्ट्वा चापि न पश्यति। अस्ति कुम्भीनसी नाम ननान्दा पापकारिणी ॥ ४१ ॥
दृष्ट्वा चैवाङ्गुलीभङ्गं सदा कालं करोति माम्। दिव्येन तु पथा याति मम सौख्यं कथं वद ॥ ४२ ॥
ऊषरे न प्ररोहन्ति बीजाङ्कुराः कथंचन।
येन व्रतेन चीर्णेन भवन्ति वशगा मम। तद्व्रतं ब्रूहि विप्रेन्द्र दासभावं व्रजामि ते ॥ ४३ ॥

अनौपम्या बोली—नारदजी! पता नहीं, इस जन्ममें या पूर्व जन्ममे किये हुए पुण्यसे ही आपका यहाँ आगमन हुआ है। अब मैं आपसे कतिपय व्रतोंके विषयमें पूछती हूँ। विप्रवर! जो बलिकी पत्नी यशस्विनी विन्ध्यावलि हैं, वे मेरी भी सास हैं। वे मुझसे कभी भी प्रसन्न नहीं रहतीं। मेरे श्वशुर भी मुझे सभी समय देखते हुए भी अनदेखी करते हैं। पापाचरणमें रत रहनेवाली कुम्भीनसी नामकी मेरी ननद है। वह सभी समय मुझे देखकर अङ्गुली तोड़ती रहती है। वह दिव्य

मार्गसे कैसे चले और मुझे सुखकी प्राप्ति कैसे हो— यह बतानेकी कृपा करें। (यह सत्य है कि) ऊसर भूमिमें डाले हुए बीजसे किसी प्रकार भी अङ्कुर नहीं उत्पन्न होते, फिर भी जिस व्रतका अनुष्ठान करनेसे ये मेरे वशमें आ जायँ, वह व्रत मुझे बतलाइये। विप्रेन्द्र ! मैं आपकी दासी हूँ ॥ ३९—४३॥

नारद उवाच

यदेतत् ते मया पूर्वं व्रतमुक्तं शुभानने। अनेन पार्वती देवी चीर्णेन वरवर्णिनि ॥ ४४॥
शंकरस्य शरीरस्था विष्णोर्लक्ष्मीस्तथैव च। सावित्री ब्रह्मणश्चैव वसिष्ठस्याप्यरुन्धती ॥ ४५॥
एतेनोपोषितेनेह भर्ता स्थास्यति ते वशे। श्वश्रूश्वशुरयोश्चैव मुखबन्धो भविष्यति ॥ ४६॥
एवं श्रुत्वा तु सुश्रोणि यथेष्टं कर्तुमर्हसि। नारदस्य वचः श्रुत्वा राज्ञी वचनमब्रवीत् ॥ ४७॥
प्रसादं कुरु विप्रेन्द्र दानं ग्राह्यं यथेप्सितम्। सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ४८॥
तव दास्याम्यहं विप्र यच्चान्यदपि दुर्लभम्। प्रगृहाण द्विजश्रेष्ठ प्रीयेतां हरिशंकरौ ॥ ४९॥

नारदजीने कहा—सुन्दर मुखवाली ! जो व्रत मैंने पूर्वमें तुमसे कहा है, उस व्रतका अनुष्ठान करनेसे पार्वतीदेवी शंकरके, लक्ष्मी विष्णुके, सावित्री ब्रह्माके, अरुन्धती वसिष्ठके शरीरमें विराजमान रहती हैं। इस उपवास-व्रतसे तुम्हारा पति भी तुम्हारे अधीन रहेगा तथा सास और श्वसुरका भी मुख बंद हो जायगा अर्थात् वे तुमसे प्रेम करने लगेंगे। सुश्रोणि ! ऐसा सुनकर तुम जैसा चाहो वैसा कर सकती हो। नारदजीके वचनको सुनकर रानीने इस प्रकार कहा— 'विप्रवर ! मुझपर कृपा कीजिये और यथाभिलषित दान स्वीकार कीजिये। विप्र ! सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषण एवं अन्य जो भी दुर्लभ पदार्थ हैं, वह सब मैं आपको दूँगी। द्विजश्रेष्ठ ! आप उसे ग्रहण करें, जिससे विष्णु और शंकर मुझपर प्रसन्न हो जायँ ॥ ४४—४९ ॥

नारद उवाच

अन्यस्मै दीयतां भद्रे क्षीणवृत्तिस्तु यो द्विजः। अहं तु सर्वसम्पन्नो मद्भक्तिः क्रियतामिति ॥ ५० ॥
एवं तासां मनो हृत्वा सर्वासां तु पतिव्रतात्। जगाम भरतश्रेष्ठ स्वकीयं स्थानकं पुनः ॥ ५१॥
ततो ह्युद्विग्नहृदया अन्यतोगतमानसाः।
पतिव्रतात्वमुत्सृज्य तासां तेजो गतं ततः। पुरे छिद्रं समुत्पन्नं बाणस्य तु महात्मनः ॥ ५२॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

नारदजी बोले—कल्याणि ! जो ब्राह्मण जीविका-रहित हो, उसे ही यह दान दो। मैं तो सर्वसम्पन्न हूँ। तुम मेरे प्रति भक्ति-भाव रखो। भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उन सभी स्त्रियोंके मनको पतिव्रतसे विचलित कर नारदजी पुनः अपने स्थानपर चले गये। तभीसे उन स्त्रियोंका हृदय उदास रहने लगा और उनका मन दूसरी ओर लग गया। इस प्रकार पातिव्रत्यके त्यागसे उनका तेज नष्ट हो गया तथा महान् आत्मबलसे सम्पन्न बाणके नगरमें छिद्र (दोष) उत्पन्न हो गया ॥ ५०—५२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें नर्मदामाहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ सतासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८७॥

एक सौ अठासीवाँ अध्याय

त्रिपुर-दाहका वृत्तान्त

मार्कण्डेय उवाच

यन्मां पृच्छसि कौन्तेय तन्मे कथयतः शृणु। एतस्मिन्नन्तरे रुद्रो नर्मदातटमास्थितः ॥ १ ॥
नाम्ना माहेश्वरं स्थानं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तस्मिन् स्थाने महादेवोऽचिन्तयत् त्रिपुरक्षयम् ॥ २ ॥

गाण्डीवं मन्दरं कृत्वा गुणं कृत्वा च वासुकिम् । स्थानं कृत्वा तु वैशाखं विष्णुं कृत्वा शरोत्तमम् ॥ ३ ॥
शल्ये चाग्निं प्रतिष्ठाप्य पुंखे वायुं समर्पयत् । हयांश्च चतुरो वेदान् सर्वदेवमयं रथम् ॥ ४ ॥
अभीषवोऽश्विनौ देवावक्षो वज्रधरः स्वयम् । स तस्याज्ञां समादाय तोरणे धनदः स्थितः ॥ ५ ॥
यमस्तु दक्षिणे हस्ते वामे कालस्तु दारुणः । चक्रे त्वमरकोट्यस्तु गन्धर्वा लोकविश्रुताः ॥ ६ ॥
प्रजापतिरथ श्रेष्ठो ब्रह्मा चैव तु सारथिः । एवं कृत्वा तु देवेशः सर्वदेवमयं रथम् ॥ ७ ॥
सोऽतिष्ठत् स्थाणुभूतस्तु सहस्रपरिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षे स्थितानि वै ॥ ८ ॥
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि व्यभेदयत् । शरः प्रचोदितस्तेन रुद्रेण त्रिपुरं प्रति ॥ ९ ॥
भ्रष्टतेजाः स्त्रियो जाता बलं तासां व्यशीर्यत । उत्पाताश्च पुरे तस्मिन् प्रादुर्भूताः सहस्रशः ॥ १० ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! आपने जो मुझसे पूछा है, उसे मैं कह रहा हूँ, सुनिये ! इसी बीच रुद्रदेव नर्मदा-तटपर आये । वहाँ जो तीनों लोकोंमें विख्यात माहेश्वर नामक स्थान है, उस स्थानपर बैठकर महादेव त्रिपुर-संहारके विषयमें सोचने लगे । उन्होंने मन्दराचलको गाण्डीव धनुष, वासुकि सर्पको धनुषकी प्रत्यञ्चा, कार्तिकेयको तरकस, विष्णुको श्रेष्ठ बाण, बाणके अग्रभागमें अग्निको और पुच्छ भागमें वायुको प्रतिष्ठित करके चारों वेदोंको घोड़ा बनाया । इस प्रकार उन्होंने सर्वदेवमय रथका निर्माण किया । दोनों अश्विनीकुमारोंको बागडोर और रथकी धुरीके रूपमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्रको नियुक्त किया । उनकी आज्ञाको स्वीकार कर कुबेर तोरणके स्थानपर स्थित हुए । दाहिने हाथपर यम और बायें हाथपर भयंकर काल स्थित हुए । करोड़ों देवगण और लोकविश्रुत गन्धर्वगण रथके चक्के हुए तथा श्रेष्ठ प्रजापति ब्रह्मा सारथि बने । इस प्रकार शिवजी सर्वदेवमय रथका निर्माण कर उसपर स्थाणुरूपमें एक हजार वर्षोंतक स्थित रहे । जब तीनों पुर अन्तरिक्षमें एक साथ सम्मिलित हुए, तब उन्होंने तीन पर्वोंवाले तीन बाणोंसे उनका भेदन किया । जिस समय भगवान् रुद्रने उस बाणको त्रिपुरके ऊपर चलाया, उस समय वहाँकी स्त्रियाँ तेजोहीन हो गयीं और उनका पातिव्रत्य-बल नष्ट हो गया तथा उस नगरमें हजारों प्रकारके उपद्रव उत्पन्न होने लगे ॥ १-१० ॥

त्रिपुरस्य विनाशाय कालरूपाभवंस्तदा । अट्टहासं प्रमुञ्चन्ति हयाः काष्ठमयास्तदा ॥ ११ ॥
निमेषोन्मेषणं चैव कुर्वन्ति चित्ररूपिणः । स्वप्ने पश्यन्ति चात्मानं रक्ताम्बरविभूषितम् ॥ १२ ॥
स्वप्ने तु सर्वे पश्यन्ति विपरीतानि यानि तु । एतान् पश्यन्ति उत्पातांस्तत्र स्थाने तु ये जनाः ॥ १३ ॥
तेषां बलं च बुद्धिश्च हरकोपेन नाशिते । ततः सांवर्तको वायुर्युगान्तप्रतिमो महान् ॥ १४ ॥
समीरितोऽनलस्तेन उत्तमाङ्गेन धावति । ज्वलन्ति पादपास्तत्र पतन्ति शिखराणि च ॥ १५ ॥
सर्वतो व्याकुलीभूतं हाहाकारमचेतनम् । भग्नोद्यानानि सर्वाणि क्षिप्रं तत् प्रत्यभज्यत ॥ १६ ॥
तेनैव पीडितं सर्वं ज्वलितं त्रिशिखैः शरैः । द्रुमाश्चारामखण्डानि गृहाणि विविधानि च ॥ १७ ॥
दशदिक्षु प्रवृत्तोऽयं समृद्धो हव्यवाहनः । मनःशिलापुञ्जनिभो दिशो दश विभागशः ॥ १८ ॥
शिखाशतैरनेकैस्तु प्रजज्वाल हुताशनः । सर्वं किंशुकवर्णाभं ज्वलितं दृश्यते पुरम् ॥ १९ ॥

उस समय वे स्त्रियाँ भी त्रिपुर-नाशके लिये काल-स्वरूप हो गयीं । काष्ठमय घोड़े अट्टहास करने लगे । चित्ररूपमें निर्मित जीव आँखको खोलने और बंद करने लगे । वहाँके निवासी स्वप्नमें अपनेको लाल वस्त्रसे अलंकृत देखने लगे । उन्हें स्वप्नमें सभी वस्तुएँ विपरीत दिखायी पड़ने लगीं । वे इस प्रकार इन उत्पातोंको देखने लगे । शंकरजीके कोपसे उनके बल और बुद्धि नष्ट हो गये । तदनन्तर प्रलयकालके समान

प्रचण्ड सांवर्तक वायु बहने लगा। वायुसे प्रेरित आगकी भयंकर लपटें भी इधर-उधर व्याप्त होने लगीं। जिससे वहाँ वृक्ष-समूह जलने लगे और पर्वतके शिखर गिरने लगे। सभी ओर लोग व्याकुल होकर चेतनारहित हो गये। चतुर्दिक् भयंकर हाहाकार मच गया। सभी उद्यान नष्ट हो गये। वहाँ सब कुछ शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। शंकरजीद्वारा सभी दुःखमग्न कर दिये गये। तीन शिखाओंवाले बाणोंसे वृक्ष, वाटिकाएँ और विविध प्रासाद जलने लगे। यह प्रदीप्त अग्नि दसों दिशाओंमें फैल गया। उस समय दसों दिशाएँ मैनशिलसमूहके समान दीखने लगीं। अग्निदेव अनेकों प्रकारकी सैकड़ों शिखाओंसे युक्त प्रज्वलित हो उठे, जिससे जला हुआ वह सम्पूर्ण त्रिपुर पलाशपुष्पके समान लाल रंगका दिखायी पड़ रहा था॥ ११—१९॥

गृहाद् गृहान्तरं नैव गन्तुं धूमेन शक्यते। हरकोपानलैर्दग्धं क्रन्दमानं सुदुःखितम्॥ २०॥
प्रदीप्तं सर्वतो दिक्षु दह्यते त्रिपुरं पुरम्। प्रासादशिखराग्राणि व्यशीर्यन्त सहस्रशः॥ २१॥
नानामणिविचित्राणि विमानान्यप्यनेकधा। गृहाणि चैव रम्याणि दह्यन्ते दीप्तवह्निना॥ २२॥
धावन्ति द्रुमखण्डेषु वलभीषु तथा जनाः। देवागारेषु सर्वेषु प्रज्वलन्तः प्रधाविताः॥ २३॥
क्रन्दन्ति चानलप्लुष्टा रुदन्ति विविधैः स्वरैः। गिरिकूटनिभास्तत्र दृश्यन्तेऽङ्गारराशयः॥ २४॥
गजाश्च गिरिकूटाभा दह्यमाना यतस्ततः।
स्तुवन्ति देवदेवेशं परित्रायस्व नः प्रभो। अन्योऽन्यं च परिष्वज्य हुताशनप्रधर्षिताः॥ २५॥
स्नेहात् प्रदह्यमानाश्च तथैव वलयंगताः। दह्यन्ते दानवास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः॥ २६॥

उस समय धुएँके कारण एक घरसे दूसरे घरमें जाना सम्भव नहीं था। सभी लोग शंकरजीकी क्रोधाग्निसे जलते हुए अत्यन्त दुःखके कारण चीत्कार कर रहे थे। इस प्रकार सभी दिशाओंमें धधकता हुआ त्रिपुरनगर जल रहा था। राजभवनोंके शिखरोंके अग्रभाग हजारों टुकड़ोंमें टूटकर गिर रहे थे। विविध मणियोंसे जटित अनेकों विमान और रमणीय घर उद्दीप्त आगसे जल रहे थे। वहाँके निवासी वृक्षोंके समूहोंमें, घरोंके छज्जोंके नीचे तथा सभी देवगृहोंमें जलते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे। आगकी चपेटमें आकर वे सभी विचित्र स्वरोंमें क्रन्दन कर रहे थे। वहाँ पर्वतशिखरके समान अङ्गारसमूह दिखायी दे रहे थे। पर्वतशिखरके समान विशाल गजराज इधर-उधर जल रहे थे। सभी देवाधिदेव शंकरकी यों स्तुति कर रहे थे—'प्रभो! हमलोगोंकी रक्षा कीजिये।' वे अग्निसे जलते हुए स्नेहके कारण एक दूसरेका आलिङ्गन कर उसी प्रकार जलते हुए नष्ट हो रहे थे। इस प्रकार वहाँ सैकड़ों-हजारों दानव जल रहे थे॥ २०—२६॥

हंसकारण्डवाकीर्णा नलिन्यः सहपङ्कजाः। दृश्यन्तेऽनलदग्धानि पुरोद्यानानि दीपिकाः॥ २७॥
अम्लानपङ्कजच्छन्ना विस्तीर्णा योजनायताः। गिरिकूटनिभास्तत्र प्रासादा रत्नभूषिताः॥ २८॥
पतन्त्यनलनिर्दग्धा निस्तोया जलदा इव। वरस्त्रीबालवृद्धेषु गोषु पक्षिषु वाजिषु॥ २९॥
निर्दयो व्यदहद् वह्निर्हरक्रोधेन प्रेरितः। सहस्रशः प्रबुद्धाश्च सुप्ताश्च बहवो जनाः॥ ३०॥
पुत्रमालिङ्ग्य ते गाढं दह्यन्ते त्रिपुराग्निना। निदाघोऽभून्महावह्नेरन्तकालो यथा तथा॥ ३१॥
केचिद् गुप्ताः प्रदग्धास्तु भार्योत्सङ्गगतास्तथा। पित्रा मात्रा च सुश्लिष्टा दग्धास्ते त्रिपुराग्निना॥ ३२॥
अथ तस्मिन् पुरे दीप्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः॥ ३३॥
अग्निज्वालाहतास्तत्र ह्यपतन् धरणीतले। काचिच्छ्यामा विशालाक्षी मुक्तावलिविभूषिता॥ ३४॥
धूमेनाकुलिता सा तु पतिता धरणीतले। काचित् कनकवर्णाभा इन्द्रनीलविभूषिता॥ ३५॥
भर्तारं पतितं दृष्ट्वा पतिता तस्य चोपरि। काचिदादित्यसङ्काशा प्रसुप्ता च गृहे स्थिता॥ ३६॥
अग्निज्वालाहता सा तु पतिता गतचेतना। उत्थितो दानवस्तत्र खड्गहस्तो महाबलः॥ ३७॥

वैश्वानरहतः सोऽपि पतितो धरणीतले। मेघवर्णापरा नारी हारकेयूरभूषिता ॥ ३८ ॥
श्वेतवस्त्रपरीधाना बालं स्तन्यं न्यधापयत्। दह्यन्तं बालकं दृष्ट्वा रुदती मेघशब्दवत् ॥ ३९ ॥
एवं स तु दहन्नग्निर्हरकोपेन प्रेरितः।

हंसों और बतखोंसे परिपूर्ण एवं कमलोंसे युक्त पुष्करिणी, बगीचे तथा बावलियाँ, जो एक योजन लम्बी-चौड़ी और खिले हुए कमलोंसे व्याप्त थीं, अग्निसे जलती हुई दिखायी दे रही थीं। वहाँ रत्नोंसे विभूषित पर्वत-शिखरके समान राजभवन अग्निके द्वारा भस्म होकर गिर रहे थे। वे जलशून्य मेघके समान दिखायीं दे रहे थे। शंकरजीके क्रोधसे प्रेरित अग्नि श्रेष्ठ स्त्री, बालक, वृद्ध, गौ, पक्षी और घोड़ोंमें फैलकर निर्दयतापूर्वक जला रहे थे। हजारों जागे हुए एवं अनेकों सोये हुए व्यक्ति, जो पुत्रका गाढ़ आलिङ्गन किये हुए थे, त्रिपुराग्निसे जल रहे थे। वहाँ प्रचण्ड अग्निके कारण प्रलयकालीन संताप परिव्याप्त था। उस त्रिपुराग्निसे कुछ लोग पत्नीकी गोदमें छिपे हुए ही भस्म हो गये तो कुछ लोग माँ-बापसे चिपके हुए ही जलकर भस्मसात् हो गये। उस प्रज्वलित त्रिपुरमे अप्सराओंके समान सुन्दरी स्त्रियाँ अग्निकी ज्वालाओंसे झुलसकर पृथ्वीपर गिर रही थीं। कोई मोतीकी मालाओंसे अलंकृत विशाल नेत्रोंवाली षोडश-वर्षीया नायिका धूएँसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। कोई इन्द्रनील मणिसे अलंकृत स्वर्णके समान कान्तिवाली स्त्री पतिको गिरा हुआ देखकर उसीके ऊपर गिर पड़ी। कोई सूर्यके समान तेजस्विनी नारी घरमें ही स्थित रहकर सो रही थी, वह अग्निकी ज्वालासे चेतनारहित होकर धराशायी हो गयी। उसी समय अतिशय बलशाली एक दानव हाथमें तलवार लेकर उठ खड़ा हुआ, किंतु अग्निसे जलकर वह भी पृथ्वीपर गिर पड़ा। मेघके समान श्यामवर्णकी दूसरी स्त्री, जो हार और केयूरसे अलंकृत तथा श्वेतवस्त्र पहने हुए अपने दुधमुँहे बच्चेको सुलाये हुए थी, वह उस बच्चेको जलते हुए देखकर मेघके शब्दके समान रोने लगी। इस प्रकार शंकरजीके कोपसे प्रेरित वह अग्नि त्रिपुरको जला रही थी ॥ २७—३९½ ॥

काचिच्चन्द्रप्रभा सौम्या वज्रवैडूर्यभूषिता ॥ ४० ॥
सुतमालिङ्ग्य वेपन्ती दग्धा पतति भूतले। काचित् कुन्देन्दुवर्णाभा क्रीडन्ती स्वगृहे स्थिता ॥ ४१ ॥
गृहे प्रज्वलिते सा तु प्रतिबुद्धा शिखार्दिता। पश्यन्ती ज्वलितं सर्वं हा सुतो मे कथं गतः ॥ ४२ ॥
सुतं संदग्धमालिङ्ग्य पतिता धरणीतले। आदित्योदयवर्णाभा लक्ष्मीवदनशोभना ॥ ४३ ॥
त्वरिता दह्यमाना सा पतिता धरणीतले। काचित् सुवर्णवर्णाभा नीलरत्नैर्विभूषिता ॥ ४४ ॥
धूमेनाकुलिता सा तु प्रसुप्ता धरणीतले। अन्या गृहीतहस्ता तु सखि दह्यति बालिका ॥ ४५ ॥
अनेकदिव्यरत्नाढ्या दृष्ट्वा दहनमोहिता। शिरसि ह्यञ्जलिं कृत्वा विज्ञापयति पावकम् ॥ ४६ ॥
भगवन् यदि वैरं ते पुरुषेष्वपकारिषु। स्त्रियः किमपराध्यन्ते गृहपञ्जरकोकिलाः ॥ ४७ ॥
पाप निर्दय निर्लज्ज कस्ते कोपः स्त्रियः प्रति। न दाक्षिण्यं न ते लज्जा न सत्यं शौर्यवर्जितः ॥ ४८ ॥
अनेन ह्युपसर्गेण तूपालम्भं शिखिन्यदात्। किं त्वया न श्रुतं लोके ह्यवध्याः शत्रुयोषितः ॥ ४९ ॥
किंतु तुभ्यं गुणा ह्येते दहनोत्सादनं प्रति। न कारुण्यं भयं वापि दाक्षिण्यं न स्त्रियः प्रति ॥ ५० ॥
दयां कुर्वन्ति म्लेच्छापि दहन्तीं वीक्ष्य योषितम्। म्लेच्छानामपि कष्टोऽसि दुर्निवारो ह्यचेतनः ॥ ५१ ॥
एते चैव गुणास्तुभ्यं दहनोत्सादनं प्रति। आसामपि दुराचार स्त्रीणां किं ते निपातने ॥ ५२ ॥
दुष्ट निर्घृण निर्लज्ज हुताशिन् मन्दभाग्यक। निराशत्वं दुरावास बलाद् दहसि निर्दय ॥ ५३ ॥
एवं विलपमानास्ता जल्पन्त्यश्च बहून्यपि। अन्याः क्रोशन्ति संक्रुद्धा बालशोकेन मोहिताः ॥ ५४ ॥
दहते निर्दयो वह्निः संक्रुद्धः पूर्वशत्रुवत्। पुष्करिण्यां जलं दग्धं कूपेष्वपि तथैव च ॥ ५५ ॥
अस्मान् संदह्य म्लेच्छ त्वं कां गतिं प्रापयिष्यसि। एवं प्रलपितं तासां श्रुत्वा देवो विभावसुः।
मूर्तिमान् सहसोत्थाय वह्निर्वचनमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

कोई चन्द्रके समान कान्तिशाली एवं हीरक और वैदूर्यसे अलंकृत सज्जन नायिका अपने पुत्रको गोदमें लेकर काँपती हुई जलकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। कोई कुन्द-पुष्प एवं चन्द्रमाके समान कान्तिशाली स्त्री क्रीडा करती हुई अपने घरमें ही सो रही थी, वह घरके जलनेपर अग्निशिखासे पीड़ित हो जाग उठी और सबको जलता हुआ देखकर 'हा! मेरा पुत्र कहाँ चला गया?' ऐसा कहती हुई जलते हुए पुत्रका आलिङ्गन कर पृथ्वीपर गिर पड़ी। उदयकालीन सूर्यके समान कान्तिसे युक्त एवं लक्ष्मीके मुखके समान शोभायमान मुखवाली कोई स्त्री भागती हुई जलकर पृथ्वीपर गिर गयी। कोई स्वर्णके समान कान्तिवाली नीलरत्नोंसे अलंकृत स्त्री धुएँसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर सो गयी। अन्य स्त्री अपनी सखीका हाथ पकड़कर कह रही है—'सखि! बालिका जल रही है!' कोई अनेक दिव्य रत्नोंसे अलङ्कृत नारी अग्निको देखकर मोहित हो गयी, तब वह सिरपर हाथ जोड़कर अग्निसे प्रार्थना करने लगी—'भगवन्! यदि तुम्हारा अपकारी पुरुषोंसे वैर है तो घरके पिंजरेमें कोयलके समान आबद्ध स्त्रियोंने तुम्हारा क्या अपराध किया है? अरे पापी! तुम तो बड़े निर्दयी और निर्लज्ज हो। स्त्रियोंके प्रति यह तुम्हारा कैसा क्रोध है! अरे कायर! न तो तुममें कुशलता है, न लज्जा है और न सत्यता है।' वह ऐसे आक्षेपयुक्त वाक्योंसे अग्निको उलाहना देने लगी। (फिर दूसरी कहने लगी—) 'क्या तुमने यह नहीं सुना है कि शत्रुकी स्त्रियाँ भी अवध्य होती हैं? क्या जलाना और नाश करना ये ही तुम्हारे गुण हैं? तुम्हारेमें स्त्रियोंके प्रति दया, भय अथवा उदारता नहीं है। म्लेच्छगण भी स्त्रियोंको जलती हुई देखकर उनपर दया करते हैं। तुम तो म्लेच्छोंसे भी बढ़कर हृदय-शून्य दुर्निवार कष्ट हो। दुराचारिन्! इन स्त्रियोंको मारनेसे तुम्हें क्या मिलेगा? क्या जलाना और मारना ये ही तुम्हारे गुण हैं? दुष्ट हुताशिन्! तुम बड़े दयाहीन, निर्लज्ज, अभागा, कठोर और कपटी हो। अरे निर्दय! तुम क्यों बलपूर्वक स्त्रियोंको जला रहे हो?' इस प्रकार वे स्त्रियाँ अनेकों प्रकारसे विलाप करती हुई चीत्कार कर रही थीं? अन्य कुछ स्त्रियाँ बालशोकसे मोहित होकर विलाप कर रही थीं। यह निष्ठुर अग्नि क्रुद्ध होकर पुराने शत्रुके समान हमलोगोंको जला रहा है। पुष्करिणियों और कुओंके भी जल सूख गये। अरे म्लेच्छ! हमलोगोंको जलाकर तुम किस गतिको प्राप्त होगे? इस प्रकार उनका प्रलाप सुनकर अग्निदेव सहसा मूर्तिमान् होकर उठ खड़े हुए और इस प्रकार बोले॥ ४०—५६॥

अग्निरुवाच

स्ववशो नैव युष्माकं विनाशं तु करोम्यहम्। अहमादेशकर्ता वै नाहं कर्तास्म्यनुग्रहम्॥ ५७॥
रुद्रक्रोधसमाविष्टो विचरामि यथेच्छया। ततो बाणो महातेजास्त्रिपुरं वीक्ष्य दीपितम्॥ ५८॥
सिंहासनस्थः प्रोवाच ह्यहं देवैर्विनाशितः। अल्पसत्त्वैर्दुराचारैरीश्वरस्य निवेदितम्॥ ५९॥
अपरीक्ष्य त्वहं दग्धः शंकरेण महात्मना। नान्यः शक्तिस्तु मां हन्तुं वर्जयित्वा त्रिलोचनम्॥ ६०॥
उत्थितः शिरसा कृत्वा लिङ्गं त्रिभुवनेश्वरम्। निर्गतः स पुरद्वारात् परित्यज्य सुहृत्सुतान्॥ ६१॥
रत्नानि यान्यनर्घाणि स्त्रियो नानाविधास्तथा। गृहीत्वा शिरसा लिङ्गं गच्छन् गगनमण्डलम्॥ ६२॥
स्तुवंश्च देवदेवेशं त्रिलोकाधिपतिं शिवम्। त्यक्ता पुरी मया देव यदि वध्योऽस्मि शंकर॥ ६३॥
त्वत्प्रसादान्महादेव मा मे लिङ्गं विनश्यतु। अर्चितं हि मया देव भक्त्या परमया सदा॥ ६४॥
त्वत्कोपाद् यदि वध्योऽहं तदिदं मा विनश्यतु। श्लाघ्यमेतन्महादेव त्वत्कोपाद् दहनं मम॥ ६५॥
प्रतिजन्म महादेव त्वत्पादनिरतो ह्यहम्। तोटकच्छन्दसा देव स्तौमि त्वां परमेश्वर॥ ६६॥

अग्निदेवने कहा—मैं अपनी इच्छाके अनुसार तुमलोगोंका विनाश नहीं कर रहा हूँ, अपितु मैं आदेश-का पालक हूँ। मै अनुग्रहका कर्ता नहीं हूँ। मैं रुद्रके क्रोधसे आविष्ट होकर इच्छानुसार विचरण कर रहा हूँ।

तदनन्तर सिंहासनपर बैठा हुआ महातेजस्वी बाण त्रिपुरको जलता हुआ देखकर बोला— 'मैं देवताओंद्वारा विनष्ट कर दिया गया। उन स्वल्पबलशाली दुराचारियोंने शंकरसे निवेदन किया और महात्मा शंकरने भी बिना विचारे ही मुझे जला दिया। उन त्रिलोचनको छोड़कर अन्य कोई भी मेरा विनाश नहीं कर सकता। तब वह सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ और त्रिभुवनपति शंकरके लिङ्गको सिरपर धारणकर मित्र, पुत्र, बहुमूल्य रत्नो, स्त्रियों और अन्यान्य अनेक प्रकारके पदार्थोंको छोड़कर नगरद्वारसे बाहर निकला। वह लिङ्गको सिरपर धारण कर गगनमण्डलमें जा पहुँचा और देवदेवेश त्रिभुवनपति शिवकी स्तुति करते हुए कहने लगा—'देव! मैंने अपनी पुरीका परित्याग कर दिया है। शंकर! यदि मैं वस्तुतः वध करने योग्य हूँ तो महादेव! आपकी कृपासे मेरा यह लिङ्ग विनष्ट न हो। देव! मैंने परमभक्तिके साथ सदा इसकी पूजा की है, अतः यदि मैं आपके कोपके कारण वध्य हूँ तो यह लिङ्ग विनष्ट न हो। महादेव! आपके कोपसे मेरा यह जल जाना प्रशस्त ही है। महादेव! प्रत्येक जन्ममें मैं आपके चरणोंमें ही लीन हूँ, अतः देवाधिदेव परमेश्वर! मै तोटक छन्दद्वारा आपकी स्तुति कर रहा हूँ ॥ ५७–६६ ॥

शिव शंकर शर्व हराय नमो भव भीम महेश्वर सर्व नमः।
कुसुमायुधदेहविनाशकर त्रिपुरान्तक अन्धकशूलधर ॥ ६७ ॥
प्रमदाप्रिय कान्त विरक्त नमः ससुरासुरसिद्धगणैर्नमित।
हयवानरसिंहगजेन्द्रमुखैरतिह्रस्वसुदीर्घविशालमुखैः ॥ ६८ ॥
उपलब्धुमशक्यतरैरसुरैः प्रथितोऽस्मि च बाहुशतैर्बहुभिः।
प्रणतोऽस्मि भवं भवभक्तिरतश्चलचन्द्रकलाङ्कुर देव नमः ॥ ६९ ॥
न च पुत्रकलत्रहयादिधनं मम तु त्वदनुस्मरणं शरणम्।
व्यथितोऽस्मि शरीरशतैर्बहुभिर्गमिता च महानरकस्य गतिः ॥ ७० ॥
न निवर्तति जन्म न पापमतिः शुचिकर्म निबद्धमपि त्यजति।
अनुकम्पति विभ्रमति त्रसति मम चैव कुकर्म निवारयति ॥ ७१ ॥
यः पठेत् तोटकं दिव्यं प्रयतः शुचिमानसः। बाणस्येव यथा रुद्रस्तस्यापि वरदो भवेत् ॥ ७२ ॥
इमं स्तवं महादिव्यं श्रुत्वा देवो महेश्वरः। प्रसन्नस्तु तदा तस्य स्वयं वचनमब्रवीत् ॥ ७३ ॥

आप शिव, शंकर, शर्व और हरको नमस्कार है। भव, भीम, महेश्वर और सर्वभूतमयको प्रणाम है। आप कामदेवके शरीरके नाशक, त्रिपुरान्तक, अन्धक-त्रिशूलधर, आनन्दप्रिय, कान्त, विरक्त और सुर-असुर-सिद्धगणोंसे नमस्कृत हैं, आपको नमस्कार है। मै अश्व, वानर, सिंह और गजेन्द्रके-से मुखोंवाले, अतिशय छोटे, विस्तृत विशालमुखोंसे युक्त और सैकड़ों भुजाओंसे सम्पन्न बहुत-से अजेय असुरोंद्वारा प्राप्त करनेके लिये अशक्यरूपसे विख्यात हूँ। शिवजीकी भक्तिमें लीन रहनेवाला वही मै भवके चरणोंमें प्रणिपात कर रहा हूँ। चञ्चल चन्द्रकलासे सुशोभित देव! आपको नमस्कार है। ये पुत्र, स्त्री, अश्वादि वैभव मेरे नहीं हैं, मेरे लिये तो आपका चिन्तन ही एकमात्र शरण है। मै सैकड़ों शरीर (जन्म) धारण कर पीड़ित हो चुका हूँ। आगे महानरकमें पड़नेकी सम्भावना है। न जन्मसे छुटकारा मिलेगा, न पापबुद्धि ही निवृत्त होगी, शुद्ध कर्ममें लगा हुआ भी मन उसे छोड़ देता है, काँपता है, भ्रमित होता है और भयभीत होता है। मेरे ही कुकर्म अच्छे कर्मोंसे मुझे हटाते हैं। जो मनुष्य संयत होकर पवित्र मनसे इस दिव्य तोटकछन्दमें रचित स्तोत्रको पढ़ता है, उसके लिये भी रुद्र बाणके समान वरदायक होते हैं। उस समय स्वयं महेश्वरदेव इस महादिव्य स्तोत्रको सुनकर उसपर प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले ॥

महेश्वर उवाच

न भेतव्यं त्वया वत्स सौवर्णे तिष्ठ दानव। पुत्रपौत्रसुहृद्बन्धुभार्याभृत्यजनैः सह ॥ ७४ ॥
अद्यप्रभृति बाण त्वमवध्यस्त्रिदशैरपि। भूयस्तस्य वरो दत्तो देवदेवेन पाण्डव ॥ ७५ ॥
अक्षयश्चाव्ययो लोके विचरस्वाकुतोभयः। ततो निवारयामास रुद्रः सप्तशिखं तदा ॥ ७६ ॥
तृतीयं रक्षितं तस्य शंकरेण महात्मना। भ्रमत्तु गगने दिव्यं रुद्रतेजःप्रभावतः ॥ ७७ ॥
एवं तु त्रिपुरं दग्धं शंकरेण महात्मना। ज्वालामालाप्रदीप्तं तत् पतितं धरणीतले ॥ ७८ ॥
एकं निपतितं तत्र श्रीशैले त्रिपुरान्तके। द्वितीयं पतितं तस्मिन् पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ७९ ॥
दग्धेषु तेषु राजेन्द्र रुद्रकोटिः प्रतिष्ठिता। ज्वलत्तदपतत् तत्र तेन ज्वालेश्वरः स्मृतः ॥ ८० ॥
ऊर्ध्वेन प्रस्थितास्तस्य दिव्यज्वाला दिवं गताः। हाहाकारस्तदा जातो देवासुरकृतो महान् ॥ ८१ ॥
शरमस्तम्भयद् रुद्रो माहेश्वरपुरोत्तमे। एवं वृत्तं तदा तस्मिन् पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ८२ ॥
चतुर्दशाख्यं भुवनं स भुक्त्वा पाण्डुनन्दन। वर्षकोटिसहस्रं तु त्रिंशत्कोट्यस्तथापराः ॥ ८३ ॥
ततो महीतलं प्राप्य राजा भवति धार्मिकः। पृथिवीमेकच्छत्रेण भुङ्क्ते स तु न संशयः ॥ ८४ ॥

भगवान् महेश्वरने कहा—वत्स! तुम्हें डरना नहीं चाहिये। दानव! तुम पुत्र, मित्र, बन्धु, पत्नी और भृत्य-जनोंके साथ सुवर्णनिर्मित नगरमें निवास करो। बाण! आजसे तुम देवताओंद्वारा अवध्य हो गये। अब तुम लोकमें सर्वथा निर्भय, अव्यय और अक्षय होकर विचरण करो। पाण्डुनन्दन! इस प्रकार देवाधिदेवने बाणको पुनः वर प्रदान किया। तदनन्तर रुद्रने अग्निको जलानेसे मना कर दिया। इस प्रकार महात्मा शंकरने बाणासुरके तृतीय पुरकी रक्षा की। वह पुर रुद्रके तेजके प्रभावसे गगनमण्डलमें घूमने लगा। इस प्रकार महात्मा शंकरने त्रिपुरको जलाया। वह ज्वालामालासे प्रदीप्त होकर पृथ्वी-तलपर गिर पड़ा। उनमेंसे एक पुर त्रिपुरान्तकके श्रीशैलपर गिरा और द्वितीय उस अमरकण्टक पर्वतपर गिरा। राजेन्द्र! उनके जल जानेपर उसपर करोड़ों रुद्र प्रतिष्ठित हुए। वह जलता हुआ गिरा था, इस कारण ज्वालेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसकी दिव्य ज्वालाएँ ऊपरको उठती हुई स्वर्गलोकतक जा पहुँचीं। उस समय देवों और असुरोंके द्वारा किया गया भयंकर हाहाकार व्याप्त हो गया। तब रुद्रने अमरकण्टक पर्वतपर उत्तम माहेश्वर-पुरमें शरको स्तम्भित कर दिया। पाण्डुनन्दन! (इस प्रकार अमरकण्टकपर्वत पर जो व्यक्ति रुद्रकोटिकी अर्चना करता है,) वह तीस करोड़ एक हजार वर्षपर्यन्त चौदहों भुवनोंका उपभोग कर अन्तमें पृथ्वीपर जन्म लेकर धार्मिक राजा होता है। वह एकच्छत्र सम्राट् होकर पृथ्वीका उपभोग करता है—इसमें संदेह नहीं है ॥ ७४—८४ ॥

एवं पुण्यो महाराज पर्वतोऽमरकण्टकः। चन्द्रसूर्योपरागे तु गच्छेद् योऽमरकण्टकम् ॥ ८५ ॥
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः। स्वर्गलोकमवाप्नोति दृष्ट्वा तत्र महेश्वरम् ॥ ८६ ॥
ब्रह्महत्या गमिष्यन्ति राहुग्रस्ते दिवाकरे। तदेवं निखिलं पुण्यं पर्वतेऽमरकण्टके ॥ ८७ ॥
मनसापि स्मरेद् यस्तं गिरिं त्वमरकण्टकम्। चान्द्रायणशतं साग्रं लभते नात्र संशयः ॥ ८८ ॥
त्रयाणामपि लोकानां विख्यातोऽमरकण्टकः। एष पुण्यो गिरिश्रेष्ठः सिद्धगन्धर्वसेवितः ॥ ८९ ॥
नानाद्रुमलताकीर्णो नानापुष्पोपशोभितः। मृगव्याघ्रसहस्रैस्तु सेव्यमानो महागिरिः ॥ ९० ॥
यत्र संनिहितो देवो देव्या सह महेश्वरः। ब्रह्मा विष्णुस्तथा चेन्द्रो विद्याधरगणैः सह ॥ ९१ ॥
ऋषिभिः किन्नरैर्यक्षैर्नित्यमेव निषेवितः। वासुकिः सहितस्तत्र क्रीडते पन्नगोत्तमैः ॥ ९२ ॥
प्रदक्षिणं तु यः कुर्याद् पर्वतेऽमरकण्टके। पौण्डरीकस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ९३ ॥

तत्र ज्वालेश्वरं नाम तीर्थं सिद्धनिषेवितम्। तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः ॥ ९४ ॥
ज्वालेश्वरे महाराज यस्तु प्राणान् परित्यजेत्। चन्द्रसूर्योपरागेषु तस्यापि शृणु यत्फलम् ॥ ९५ ॥
सर्वकर्मविनिर्मुक्तो ज्ञानविज्ञानसंयुतः। रुद्रलोकमवाप्नोति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥ ९६ ॥
अमरेश्वरदेवस्य पर्वतस्य उभे तटे। तत्र ता ऋषिकोट्यस्तु तपस्तप्यन्ति सुव्रत ॥ ९७ ॥
समंताद् योजनक्षेत्रो गिरिश्चामरकण्टकः ॥ ९८ ॥
अकामो वा सकामो वा नर्मदायां शुभे जले। स्नात्वा मुच्येत पापेभ्यो रुद्रलोकं स गच्छति॥ ९९ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

महाराज! यह अमरकण्टक पर्वत ऐसा पुण्यजनक है। जो व्यक्ति चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय अमरकण्टक पर्वतपर जाता है, वह अश्वमेध यज्ञसे दसगुना फल प्राप्त करता है और वहाँ महेश्वरका दर्शन करके स्वर्गलोकको प्राप्त करता है—ऐसा मनीषियोंने कहा है। सूर्यग्रहणके अवसरपर अमरकण्टकपर जानेसे ब्रह्महत्याएँ निवृत्त हो जाती हैं। इस प्रकार अमरकण्टक पर्वतपर अशेष पुण्य प्राप्त होता है। जो मनसे भी उस अमरकण्टक पर्वतका स्मरण करता है, उसे निःसंदेह सौ चान्द्रायण-व्रतसे भी अधिक फल मिलता है। अमरकण्टक पर्वत तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। यह पुण्यमय श्रेष्ठ पर्वत सिद्धों और गन्धर्वोंसे सेवित, विविध वृक्षों और लताओंसे व्याप्त तथा अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित है। यह महान् पर्वत हजारों मृगों और व्याघ्रोंसे सेवित है। जहाँ देवी पार्वतीके साथ महादेव, ब्रह्मा, विष्णु तथा विद्याधरोंके साथ इन्द्र सदा उपस्थित रहते हैं, वह अमरकण्टक पर्वत ऋषियों, किन्नरों और यक्षोंके द्वारा सदा सेवित रहता है। श्रेष्ठ सर्पोंके साथ वासुकि वहाँ क्रीड़ा करते रहते हैं। जो मनुष्य अमरकण्टक पर्वतकी प्रदक्षिणा करता है, वह पौण्डरीक यज्ञका फल प्राप्त करता है। वहाँ सिद्धों-द्वारा सेवित ज्वालेश्वर नामक तीर्थ है, उसमें स्नान कर मानव स्वर्गलोकको प्राप्त करते हैं और जो वहाँ शरीरका त्याग करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। महाराज! चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर जो व्यक्ति ज्वालेश्वर-में प्राणोंका परित्याग करता है, उसे जो फल प्राप्त होता है, उसे सुनिये। वह व्यक्ति सभी कर्मोंसे विनिर्मुक्त तथा ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न हो प्रलयकालपर्यन्त रुद्रलोकको प्राप्त करता है। सुव्रत! अमरकण्टकपर्वतके दोनों तटोंपर करोड़ों ऋषिगण तपस्यामें रत रहते हैं। यह अमरकण्टक-पर्वत चारों ओरसे एक योजनमें विस्तृत है। अकाम हो या सकाम, जो मनुष्य नर्मदाके शुभदायक जलमें स्नान करता है, वह सभी पापोंसे छुटकारा पा लेता है और रुद्रलोकको प्राप्त करता है ॥ ८५—९९ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नर्मदा-माहात्म्यवर्णनमें एक सौ अठासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १८८॥

एक सौ नवासीवाँ अध्याय

नर्मदा-कावेरी-संगमका माहात्म्य

सूत उवाच

पृच्छन्ति ते महात्मानो मार्कण्डेयं महामुनिम्। युधिष्ठिरपुरोगास्ते ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १ ॥
आख्याहि भगवंस्तथ्यं कावेरीसंगमो महान्। लोकानां च हितार्थाय अस्माकं च विवृद्धये ॥ २ ॥
सदा पापरता ये च नरा दुष्कृतकारिणः।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो गच्छन्ति परमं पदम्। एतदिच्छाम विज्ञातुं भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! युधिष्ठिरको आगे कर वे तपोधन महात्मा-ऋषिगण महामुनि मार्कण्डेयसे पूछने लगे—'भगवन् ! आप हमलोगोंके अभ्युदय और लोकके कल्याणके लिये इस नर्मदा और कावेरीके संगमका माहात्म्य भलीभाँति वर्णन कीजिये । भगवन् ! जिसके प्रभावसे सदा पापमें रत एवं दुराचारमें प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और परमपदको प्राप्त करते हैं, उसे हमलोग जानना चाहते हैं, आप बतानेकी कृपा करें ॥

मार्कण्डेय उवाच

शृण्वन्त्ववहिताः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः । अस्ति वीरो महायक्षः कुबेरः सत्यविक्रमः ॥ ४ ॥
इदं तीर्थमनुप्राप्य राजा यक्षाधिपोऽभवत् । सिद्धिं प्राप्तो महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५ ॥
कावेरी नर्मदा यत्र सङ्गमो लोकविश्रुतः । तत्र स्नात्वा शुचिर्भूत्वा कुबेरः सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥
तपोऽतप्यत यक्षेन्द्रो दिव्यं वर्षशतं महत् । तस्य तुष्टो महादेवः प्रादाद् वरमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
भो भो यक्ष महासत्त्व वरं ब्रूहि यथेप्सितम् । ब्रूहि कार्यं यथेष्टं तु यत्ते मनसि वर्तते ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—युधिष्ठिरसहित ऋषिगण ! आपलोग सावधान होकर सुनिये । सत्य पराक्रमी एवं शूरवीर महायक्ष कुबेरने इस तीर्थमें आकर सिद्धि प्राप्त की और वे यक्षोंके अधीश्वर बने । महाराज ! मैं उनका वर्णन कर रहा हूँ, सुनिये । किसी समय सत्यपराक्रमी यक्षपति कुबेरने जहाँ कावेरी और नर्मदाका लोक-प्रसिद्ध संगम है, वहाँ स्नान कर पवित्र हो सौ दिव्य वर्षोंतक घोर तपस्या की । तब संतुष्ट होकर महादेवजीने उन्हें उत्तम वर प्रदान करते हुए कहा—'महाबलशाली यक्ष ! तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो । तुम्हारे मनमें जो यथेष्ट कार्य वर्तमान हैं, उसे बतलाओ' ॥ ४–८ ॥

कुबेर उवाच

यदि तुष्टोऽसि मे देव यदि देयो वरो मम । अद्यप्रभृति सर्वेषां यक्षाणामधिपो भवे ॥ ९ ॥
कुबेरस्य वचः श्रुत्वा परितुष्टो महेश्वरः । एवमस्तु ततो देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १० ॥
सोऽपि लब्धवरो यक्षः शीघ्रं लब्धफलोदयः । पूजितः स तु यक्षैश्च ह्यभिषिक्तस्तु पार्थिव ॥ ११ ॥
कावेरीसङ्गमं तत्र सर्वपापप्रणाशनम् । ये नरा नाभिजानन्ति वञ्चितास्ते न संशयः ॥ १२ ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तत्र स्नायीत मानवः । कावेरी च महापुण्या नर्मदा च महानदी ॥ १३ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र ह्यर्चयेद् वृषभध्वजम् । अश्वमेधफलं प्राप्य रुद्रलोके महीयते ॥ १४ ॥
अग्निप्रवेशं यः कुर्याद् यश्च कुर्यादनाशकम् । अनिवर्त्या गतिस्तस्य यथा मे शंकरोऽब्रवीत् ॥ १५ ॥
सेव्यमानो वरस्त्रीभिः क्रीडते दिवि रुद्रवत् । षष्टिर्वर्षसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथापराः ॥ १६ ॥
मोदते रुद्रलोकस्थो यत्र तत्रैव गच्छति । पुण्यक्षयात् परिभ्रष्टो राजा भवति धार्मिकः ॥ १७ ॥
भोगवान् दानशीलश्च महाकुलसमुद्भवः । तत्र पीत्वा जलं सम्यक् चान्द्रायणफलं लभेत् ॥ १८ ॥
स्वर्गं गच्छन्ति ते मर्त्या ये पिबन्ति शुभं जलम् ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये यत्फलं प्राप्नुयान्नरः । कावेरीसंगमे स्नात्वा तत्फलं तस्य जायते ॥ १९ ॥
एवमादि तु राजेन्द्र कावेरीसंगमे महत् । पुण्यं महत्फलं तत्र सर्वपापप्रणाशनम् ॥ २० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

कुबेर बोले—देव ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मुझे वर देना चाहते हैं तो मैं आजसे सभी यक्षोंका अधीश्वर हो जाऊँ । कुबेरका वचन सुनकर महेश्वर परम प्रसन्न हुए और 'ऐसा ही हो'—यों कहकर वे देवाधिदेव वहीं अन्तर्धान हो गये । राजन् ! इस प्रकार उस यक्षने वर प्राप्त कर शीघ्र ही फलको भी प्राप्त

किया। वह यक्षोद्वारा पूजित होकर राजाके पदपर अभिषिक्त किया गया। वहीं सभी पापोंको नाश करनेवाला कावेरी-संगम है जो मनुष्य उसे नहीं जानते, वे निःसंदेह ठगे गये। इसलिये मनुष्यको सब तरहसे प्रयत्न करके वहाँ स्नान करना चाहिये। राजेन्द्र! कावेरी और नर्मदा—ये दोनों अतिशय पुण्यशालिनी महानदी हैं। उनमें स्नानकर जो मनुष्य वृषभध्वज शिवकी पूजा करता है, वह अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त करके रुद्रलोकमें पूजित होता है। जो मनुष्य वहाँ अग्निमें प्रवेश करता है या जो उपवासपूर्वक निवास करता है, उसे पुनरावृत्तिरहित गति प्राप्त होती है—ऐसा शंकरजीने मुझे बतलाया था। वह पुरुष स्वर्गलोकमें सुन्दरी स्त्रियोंद्वारा सेवित होकर रुद्रके समान साठ करोड़ साठ हजार वर्षोंतक क्रीडा करता है एवं रुद्रलोकमे स्थित होकर आनन्दका भोग करता है तथा जहाँ चाहता है वहाँ चला जाता है। पुनः पुण्य क्षीण होनेपर वह भ्रष्ट होकर उत्तम कुलमे उत्पन्न, भोगवान्, दानशील और धार्मिक राजा होता है। इस संगममें जलका सम्यक् पान कर मनुष्य चान्द्रायण-व्रतका फल प्राप्त करता है। जो मानव इसके पवित्र जलको पीते हैं, वे स्वर्गको चले जाते हैं। गङ्गा और यमुनाके संगममे स्नान करनेसे मनुष्यको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वही फल उसे कावेरीके संगममें स्नान करनेसे मिलता है। राजेन्द्र! इस तरह कावेरी और नर्मदाके संगममे स्नान करनेसे सभी पापोंका नाश करनेवाला अतिशय पुण्य और महान् फल प्राप्त होता है॥ ९–२०॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें नर्मदाका माहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ नवासीवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १८९॥

एक सौ नब्बेवाँ अध्याय

नर्मदाके तटवर्ती तीर्थ

मार्कण्डेय उवाच

नार्मदे चोत्तरे कूले तीर्थं योजनविस्तृतम्। यन्त्रेश्वरेति विख्यातं सर्वपापहरं परम्॥ १॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् दैवतैः सह मोदते। पञ्च वर्षसहस्राणि क्रीडते कामरूपधृक्॥ २॥
गर्जनं च ततो गच्छेद् यत्र मेघचयोत्थितः। इन्द्रजिन्नाम सम्प्राप्तस्तस्य तीर्थप्रभावतः॥ ३॥
मेघनादं ततो गच्छेद् यत्र मेघानुगर्जितम्। मेघनादो गणस्तत्र परमां गणतां गतः॥ ४॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तीर्थमाम्रातकेश्वरम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत्॥ ५॥
नर्मदोत्तरतीरे तु धारा तीर्थं तु विश्रुतम्। तस्मिंस्तीर्थे. नरः स्नात्वा तर्पयेत् पितृदेवताः॥ ६॥
सर्वान् कामानवाप्नोति मनसा ये विचिन्तिताः। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र ब्रह्मावर्तमिति स्मृतम्॥ ७॥
तत्र संनिहितो ब्रह्मा नित्यमेव युधिष्ठिर। तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र ब्रह्मलोके महीयते॥ ८॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! नर्मदाके उत्तर तटपर एक योजन विस्तृत यन्त्रेश्वर नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ तीर्थ है, जो सभी पापोका नाश करनेवाला है। वहाँ स्नान कर मानव देवताओंके साथ आनन्द मनाता है और इच्छानुसार रूप धारण कर पाँच हजार वर्षोंतक वहाँ क्रीड़ा करता है। वहाँ गर्जन नामक तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये, जहाँ मेघसमूह ऊपर उठते रहते हैं। इस तीर्थके प्रभावसे मेघनादको इन्द्रजित् नाम प्राप्त हुआ था। वहाँसे मेघनाद जाना चाहिये, जहाँ मेघके गर्जनकी-सी ध्वनि होती रहती है। इसी स्थानपर मेघनाद-गण गणके श्रेष्ठ पदको प्राप्त किया था। राजेन्द्र! इसके बाद आम्रातकेश्वर तीर्थमे जाना चाहिये। राजन्!

वहाँ स्नान कर मानव एक हजार गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। नर्मदाके उत्तर तटपर प्रसिद्ध धारातीर्थ है, उस तीर्थमें स्नान कर मनुष्य यदि पितरों और देवताओंका तर्पण करता है तो उसे मनोऽभिलषित कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। राजेन्द्र! इसके बाद ब्रह्मावर्त नामसे प्रसिद्ध तीर्थमें जाना चाहिये। युधिष्ठिर! वहाँ ब्रह्मा सदा विराजमान रहते हैं। राजेन्द्र! उस तीर्थमें स्नान कर मनुष्य ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ॥ १-८ ॥

ततोऽङ्गारेश्वरं गच्छेन्नियतो नियताशनः। सर्वपापविनिर्मुक्तो रुद्रलोकं स गच्छति ॥ ९ ॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र कपिलातीर्थमुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् कपिलादानमाप्नुयात् ॥ १० ॥
गच्छेत् करंजतीर्थं तु देवर्षिगणसेवितम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोलोकं समवाप्नुयात् ॥ ११ ॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र कुण्डलेश्वरमुत्तमम्। तत्र संनिहितो रुद्रस्तिष्ठते ह्युमया सह ॥ १२ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र स वन्द्यस्त्रिदशैरपि। पिप्पलेशं ततो गच्छेत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र रुद्रलोके महीयते। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र विमलेश्वरमुत्तमम् ॥ १४ ॥
तत्र देवशिला रम्या चेश्वरेण विनिर्मिता। तत्र प्राणपरित्यागाद् रुद्रलोकमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
ततः पुष्करिणीं गच्छेत् तत्र स्नानं समाचरेत्। स्नातमात्रो नरस्तत्र ह्यीन्द्रस्यार्धासनं लभेत् ॥ १६ ॥

वहाँ नियमपूर्वक संयत भोजन करता हुआ अङ्गारेश्वर जाना चाहिये। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त होकर रुद्रलोकको जाता है। राजेन्द्र! वहाँसे कपिला नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ तीर्थमें जाना चाहिये। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य कपिला गौके दानका फल प्राप्त करता है। इसके बाद देवो और ऋषियोसे सेवित करंज नामक तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। राजन्! इस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको गोलोककी प्राप्ति होती है। राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ कुण्डलेश्वर नामक तीर्थमें जाना चाहिये, वहाँ उमाके साथ रुद्र सदा निवास करते हैं। राजेन्द्र! उस तीर्थमें स्नान कर वह देवताओंद्वारा भी वन्दनीय हो जाता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् सभी पापोंके नाशक पिप्पलेश तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य रुद्रलोकमें पूजित होता है। राजेन्द्र! वहाँसे श्रेष्ठ विमलेश्वर तीर्थमें जाना चाहिये, वहाँ महेश्वरद्वारा निर्मित एक देवशिला है। उस स्थानपर प्राणोंका त्याग करनेसे रुद्रलोककी प्राप्ति होती है। तदुपरान्त पुष्करिणी-तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे, वहाँ स्नान करनेमात्रसे ही मानव इन्द्रका आधा आसन प्राप्त कर लेता है ॥ ९-१६ ॥

नर्मदा सरितां श्रेष्ठा रुद्रदेहाद् विनिःसृता। तारयेत् सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥
सर्वदेवाधिदेवेन त्वीश्वरेण महात्मना। कथिता ऋषिसंघेभ्यो ह्यस्माकं च विशेषतः ॥ १८ ॥
मुनिभिः संस्तुता ह्येषा नर्मदा प्रवरा नदी। रुद्रदेहाद् विनिष्क्रान्ता लोकानां हितकाम्यया ॥ १९ ॥
सर्वपापहरा नित्यं सर्वदेवनमस्कृता। संस्तुता देवगन्धर्वैरप्सरोभिस्तथैव च ॥ २० ॥
नमः पुण्यजले ह्याद्ये नमः सागरगामिनि। नमस्ते पापनिर्दाहे नमो देवि वरानने ॥ २१ ॥
नमोऽस्तु ते ऋषिगणसिद्धसेविते नमोऽस्तु ते शंकरदेहनिःसृते।
नमोऽस्तु ते धर्मभृतां वरप्रदे नमोऽस्तु ते सर्वपवित्रपावने ॥ २२ ॥
यस्त्विदं पठते स्तोत्रं नित्यं श्रद्धासमन्वितः। ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥ २३ ॥
वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रश्चैव शुभां गतिम्। अर्थार्थी लभते ह्यर्थं स्मरणादेव नित्यशः ॥ २४ ॥
नर्मदां सेवते नित्यं स्वयं देवो महेश्वरः। तेन पुण्या नदी ज्ञेया ब्रह्महत्यापहारिणी ॥ २५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

*

नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा रुद्रके शरीरसे निकली है, यह स्थावर और जंगम सभी जीवोंका उद्धार करती है। ऐसा सभी देवताओंके अधीश्वर महात्मा शंकरने स्वयं ऋषिगणको और विशेष कर मुझे बताया है। मुनियोंने इस श्रेष्ठ नर्मदा नदीकी स्तुति की है। यह नर्मदा संसारके हितकी कामनासे रुद्रके शरीरसे निकली है। यह सभी पापोंका क्षय करनेवाली और सभी देवोंद्वारा नमस्कृत है। देव, गन्धर्व और अप्सराओंने इसकी भलीभाँति स्तुति की है। आदि गङ्गे! तुम्हें नमस्कार है। पुण्यसलिले! तुम्हे प्रणाम है। सागरकी ओर गमनशीले! तुम्हें अभिवादन है। पापोंको नष्ट करनेवाली एवं सुन्दर मुखवाली देवि! तुम्हें नमस्कार है। तुम ऋषिसमूह एवं सिद्धोंसे सेवित हो, तुम्हें प्रणाम है। शंकरके शरीरसे निकली हुई तुम्हें अभिवादन है। तुम धर्मात्मा प्राणियोंको वर देनेवाली हो, तुम्हे नमस्कार है। सभीको पवित्र एवं निष्पाप करनेवाली तुम्हें प्रणाम है। जो श्रद्धासे समन्वित होकर इस स्तोत्रका नित्य पाठ करता है, वह ब्राह्मण हो तो वेदज्ञ और क्षत्रिय हो तो विजयी होता है। वैश्य धनका लाभ करता है और शूद्रको शुभ गतिकी प्राप्ति होती है। अर्थको चाहनेवाला सदा स्मरणमात्रसे ही अर्थ-लाभ करता है। साक्षात् महेश्वरदेव नर्मदा नदीका नित्य सेवन करते हैं, इसीलिये इस पवित्र नदीको ब्रह्महत्यारूपी पापका निवारण करनेवाली जानना चाहिये ॥१७—२५॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नर्मदा-माहात्म्यवर्णन-प्रसंगमें एक सौ नब्बेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९० ॥

एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय

नर्मदाके तटवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य

मार्कण्डेय उवाच

तदाप्रभृति ब्रह्माद्या ऋषयश्च तपोधनाः। सेवन्ते नर्मदां राजन् रागक्रोधविवर्जिताः ॥ १ ॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! तभीसे ब्रह्मा आदि देवता और तपस्वी ऋषिगण क्रोध-रागसे रहित होकर नर्मदाका सेवन करते हैं ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् निपतितं शूलं देवस्य तु महीतले। तत्र पुण्यं समाख्याहि यथावन्मुनिसत्तम ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! इस पृथ्वीपर महादेवजीका त्रिशूल किस स्थानपर गिरा था? उस स्थानका पुण्य यथार्थरूपसे बतलाइये ॥ २ ॥

मार्कण्डेय उवाच

शूलभेदमिति ख्यातं तीर्थं पुण्यतमं महत्। तत्र स्नात्वार्चयेद् देवं गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ३ ॥
त्रिरात्रं कारयेद् यस्तु तस्मिंस्तीर्थे नराधिप। अर्चयित्वा महादेवं पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ४ ॥
भीमेश्वरं ततो गच्छेन्नारदेश्वरमुत्तमम्। आदित्येशं महापुण्यं स्मृतं किल्बिषनाशनम् ॥ ५ ॥
नन्दिकेशं परिष्वज्य पर्याप्तं जन्मनः फलम्।
वरुणेशं ततः पश्येत् स्वतन्त्रेश्वरमेव च। सर्वतीर्थफलं तस्य पञ्चायतनदर्शनात् ॥ ६ ॥
ततो गच्छेत्तु राजेन्द्र युद्धं यत्र सुसाधितम्। कोटितीर्थं तु विख्यातमसुरा यत्र मोहिताः ॥ ७ ॥
यत्रैव निहता राजन् दानवा बलदर्पिताः। तेषां शिरांस्यगृह्णन्त सर्वे देवाः समागताः ॥ ८ ॥

तस्तु संस्थापितो देवः शूलपाणिर्वृषध्वजः। कोटिर्विनिहता तत्र तेन कोटीश्वरः स्मृतः॥ ९॥
दर्शनात् तस्य तीर्थस्य सदेहः स्वर्गमारुहेत्। यदा त्विन्द्रेण क्षुद्रत्वाद् वज्रं कीलेन यन्त्रितम्॥ १०॥
तदाप्रभृति लोकानां स्वर्गमार्गो निवारितः।

मार्कण्डेयजी बोले—वह महान् पुण्यमय तीर्थ शूलभेद नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ स्नानकर महादेवजीकी पूजा करे, उससे एक हजार गो-दानका फल प्राप्त होता है। नराधिप! जो मनुष्य उस तीर्थस्थानमें तीन राततक महादेवजीकी पूजा करके निवास करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। इसके बाद श्रेष्ठ भीमेश्वर और नारदेश्वर तीर्थकी यात्रा करे। आदित्येश तीर्थ महान् पुण्यशाली और पापका नाशक कहा गया है। नन्दिकेशका दर्शन करनेसे जन्म धारण करनेका पर्याप्त फल सुलभ हो जाता है। इसके बाद वरुणेश एवं स्वतन्त्रेश्वरका दर्शन करे। इस पञ्चायतनका दर्शन करनेसे सभी तीर्थोंका फल प्राप्त हो जाता है। राजेन्द्र! इसके बाद कोटितीर्थ नामसे प्रसिद्ध स्थानमें जाना चाहिये। जहाँ युद्ध हुआ था और जहाँ असुरगण मोहित हुए थे, राजन्! जहाँ बलके घमंडमें चूर दानवगण मारे गये थे और आये हुए देवगणोंने उनके सिरोंको ग्रहण कर लिया था, जहाँ देवताओंद्वारा हाथमें त्रिशूल धारण किये हुए भगवान् वृषध्वज महादेवकी प्रतिष्ठा की गयी थी, वहाँ करोड़ों दानवोंका संहार हुआ था, अतः वह कोटीश्वर तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उस तीर्थका दर्शन करनेसे सशरीर स्वर्गारोहण प्राप्त होता है। जबसे इन्द्रने कृपणताके कारण वज्रको कीलसे कीलित कर दिया तबसे साधारण लोगोंके लिये स्वर्गका मार्ग बंद हो गया॥३—१०½॥

यः स्तुतं श्रीफलं दद्यात् कृत्वा चान्ते प्रदक्षिणाम्॥ ११॥
पार्वतं सहदीपं तु शिरसा चैव धारयेत्। सर्वकामसुसम्पन्नो राजा भवति पाण्डव॥ १२॥
मृतो रुद्रत्वमाप्नोति ततोऽसौ जायते पुनः। स्वर्गादेत्य भवेद् राजा राज्यं कृत्वा दिवं व्रजेत्॥ १३॥
बहुनेत्रं ततः पश्येत् त्रयोदश्यां तु मानवः। स्नातमात्रो नरस्तत्र सर्वयज्ञफलं लभेत्॥ १४॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तीर्थं परमशोभनम्। नराणां पापनाशाय ह्यगस्त्येश्वरमुत्तमम्॥ १५॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् ब्रह्मलोके महीयते। कार्तिकस्य तु मासस्य कृष्णपक्षे चतुर्दशी॥ १६॥
घृतेन स्नापयेद् देवं समाधिस्थो जितेन्द्रियः। एकविंशकुलोपेतो न च्यवेदीश्वरात् पदात्॥ १७॥
धेनुमुपानहौ छत्रं दद्याच्च घृतकम्बलम्। भोजनं चैव विप्राणां सर्वं कोटिगुणं भवेत्॥ १८॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र बलाकेश्वरमुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् सिंहासनपतिर्भवेत्॥ १९॥
नर्मदादक्षिणे कूले तीर्थं शक्रस्य विश्रुतम्। उपोष्य रजनीमेकां स्नानं तत्र समाचरेत्॥ २०॥
स्नानं कृत्वा यथान्यायमर्चयेच्च जनार्दनम्। गोसहस्रफलं तस्य विष्णुलोकं स गच्छति॥ २१॥

पाण्डुनन्दन! जो स्तुति करनेके पश्चात् अन्तमें इस तीर्थकी प्रदक्षिणा कर बिल्वफल प्रदान करता है तथा दीपकसहित पर्वतप्रतिमा सिरपर धारण करता है, वह सभी कामनाओंसे सम्पन्न होकर राजा होता है और मृत्यु होनेपर रुद्रत्वको प्राप्त करता है। पुनः जब वह स्वर्गसे लौटकर जन्म लेता है, तब राजा होता है और राज्यका उपभोग करनेके बाद स्वर्गमें चला जाता है। इसके बाद त्रयोदशी तिथिको मानव बहुनेत्र तीर्थका दर्शन करे। वहाँ मनुष्य स्नानमात्र करनेसे सभी यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है। राजेन्द्र! तदनन्तर मनुष्योंके पापोंका नाश करनेके लिये विख्यात अगस्त्येश्वर नामक श्रेष्ठ एवं परम रमणीय तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। जो जितेन्द्रिय मानव समाहित-चित्तसे कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी

चतुर्दशी तिथिमें महादेवजीको घृतसे स्नान कराता है, उसका इक्कीस पीढ़ीतक महेश्वरके पदसे पतन नहीं होता। वहाँ यदि विप्रोंको धेनु, जूता, छाता, घी, कम्बल और भोजनका दान दिया जाय तो वह सभी करोड़गुना हो जाता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त उत्तम बलाकेश्वरतीर्थमें जाना चाहिये। राजन्! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मानव सिंहासनका अधिपति होता है। नर्मदाके दक्षिण तटपर इन्द्रका प्रसिद्ध तीर्थ है, वहाँ एक रातका उपवास कर विधि-विधानसे स्नान करे, स्नान करनेके बाद विधिपूर्वक जनार्दनकी अर्चना करे तो उसे एक हजार गौओंके दानका फल प्राप्त होता है और वह विष्णु-लोकमें जाता है ॥ ११–२१ ॥

ऋषितीर्थं ततो गच्छेत् सर्वपापहरं नृणाम्। स्नातमात्रो नरस्तत्र शिवलोकं च गच्छति ॥ २२ ॥
नारदस्य तु तत्रैव तीर्थं परमशोभनम्। स्नातमात्रो नरस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥ २३ ॥
देवतीर्थं ततो गच्छेद् ब्रह्मणा निर्मितं पुरा। तत्र स्नात्वा नरो राजन् ब्रह्मलोके महीयते ॥ २४ ॥
अमरकण्टकं गच्छेदमरैः स्थापितं पुरा। स्नातमात्रो नरस्तत्र रुद्रलोके महीयते ॥ २५ ॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र रावणेश्वरमुत्तमम्। नित्यं चायतनं दृष्ट्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ २६ ॥
ऋणतीर्थं ततो गच्छेद् ऋणेभ्यो मुच्यते ध्रुवम्। वटेश्वरं ततो दृष्ट्वा पर्याप्तं जन्मनः फलम् ॥ २७ ॥
भीमेश्वरं ततो गच्छेत् सर्वव्याधिविनाशनम्। स्नातमात्रो नरो राजन् सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥ २८ ॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तुरासङ्गमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा महादेवमर्चयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥ २९ ॥
सोमतीर्थं ततो गच्छेत् पश्येच्चन्द्रमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् भक्त्या परमया युतः ॥ ३० ॥
तत्क्षणाद् दिव्यदेहस्थः शिववन्मोदते चिरम्। षष्टिवर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् मनुष्योंके सभी पापोंके नाशक ऋषि-तीर्थकी यात्रा करे, वहाँ स्नानमात्र करनेसे मानव शिवलोकको चला जाता है। वहीं नारदजीका परम रमणीय तीर्थ है, वहाँ स्नानमात्रसे मानव एक हजार गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। राजन्! इसके बाद प्राचीनकालमे ब्रह्माद्वारा निर्मित देवतीर्थमे जाय, वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोकमे पूजित होता है। तदनन्तर प्राचीनकालमें देवोंद्वारा स्थापित अमरकण्टककी यात्रा करे। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मनुष्य रुद्रलोकमें पूजित होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ रावणेश्वर-तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ मनुष्य प्रतिदिन देवमन्दिरका दर्शन कर ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। तदुपरान्त ऋणतीर्थमें जाय, वहाँ जानेसे मानव निश्चय ही ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। इसके बाद वटेश्वरका दर्शन करके मनुष्य जन्मका पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है। राजन्! तदनन्तर सभी व्याधियोंको नाश करनेवाले भीमेश्वर-तीर्थकी यात्रा करे। उस तीर्थमे स्नान करनेमात्रसे मनुष्य सभी दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठतम तुरासङ्ग तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ स्नान कर महादेवजीकी पूजा करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसके बाद सोमतीर्थमें जाय और वहाँ परम श्रेष्ठ चन्द्रमाका दर्शन करे। राजन्! उस तीर्थमें परम भक्तिसे युक्त हो स्नान करनेसे मानव उसी क्षण दिव्य शरीर धारणकर शिवके समान चिरकाल-पर्यन्त आनन्दका अनुभव करता है और साठ हजार वर्षोंतक रुद्रलोकमे पूजित होता है ॥ २२–३१ ॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र पिङ्गलेश्वरमुत्तमम्। अहोरात्रोपवासेन त्रिरात्रफलमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥
तस्मिंस्तीर्थे तु राजेन्द्र कपिलां यः प्रयच्छति। यावन्ति तस्या रोमाणि तत्प्रसूतिकुलेषु च ॥ ३३ ॥
तावद् वर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते। यस्तु प्राणपरित्यागं कुर्यात् तत्र नराधिप ॥ ३४ ॥
अक्षयं मोदते कालं यावच्चन्द्रदिवाकरौ। नर्मदातटमाश्रित्य तिष्ठेयुर्ये नरोत्तमाः ॥ ३५ ॥

ते मृताः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा। सुरेश्वरं ततो गच्छेन्नाम्ना कर्कोटकेश्वरम् ॥ ३६॥
गङ्गावतरते तत्र दिने पुण्ये न संशयः। नन्दितीर्थं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ ३७॥
तुष्यते तस्य नन्दीशः सोमलोके महीयते। ततो दीपेश्वरं गच्छेद् व्यासतीर्थं तपोवनम् ॥ ३८॥
निवर्तिता पुरा तत्र व्यासभीता महानदी। हुंकारिता तु व्यासेन दक्षिणेन ततो गता ॥ ३९॥
प्रदक्षिणां तु यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप। अक्षयं मोदते कालं यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४०॥
व्यासस्तस्य भवेत् प्रीतः प्राप्नुयादीप्सितं फलम्। सूत्रेण वेष्टयित्वा तु दीपो देयः सवेदिकः ॥ ४१॥
क्रीडते ह्यक्षयं कालं यथा रुद्रस्तथैव च।

राजेन्द्र ! इसके बाद श्रेष्ठ पिङ्गलेश्वरतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ एक दिन-रात उपवास करनेसे त्रिरात्रका फल प्राप्त होता है। राजेन्द्र ! उस तीर्थमें जो कपिला गौका दान देता है, उस दाताके वंशके कुलवाले उस गौके शरीरमे जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक रुद्रलोकमें पूजित होते हैं। नराधिप ! उस तीर्थमें जो मानव प्राणका परित्याग करता है, वह चन्द्र और सूर्यकी स्थितिपर्यन्त अक्षय कालतक आनन्दका अनुभव करता है। जो श्रेष्ठ मानव नर्मदाके तटपर निवास करते हैं, वे मरकर सन्त और पुण्यवान् व्यक्तियोंके समान स्वर्गमें जाते हैं। तदनन्तर कर्कोटकेश्वर नामसे प्रसिद्ध सुरेश्वरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ पुण्यतिथिको गङ्गाका अवतरण होता है, इसमे संदेह नहीं है। तत्पश्चात् नन्दितीर्थमें जाय और वहाँ विधिपूर्वक स्नान करे। इससे उसपर नन्दीश्वर शिव प्रसन्न होते हैं और वह चन्द्रलोकमें पूजित होता है। तत्पश्चात् व्यासके तपोवन दीपेश्वर तीर्थकी यात्रा करे। वहाँ प्राचीनकालमें व्याससे डरकर महानदी पीछेकी ओर लौटने लगी थी, तब व्यासके हुंकारसे वह दक्षिणकी ओर प्रवाहित हुई। नराधिप ! उस तीर्थकी जो प्रदक्षिणा करता है, वह चन्द्र और सूर्यकी स्थिति-पर्यन्त अक्षय कालतक आनन्दका उपभोग करता है। उसपर व्यासदेव प्रसन्न होते हैं और उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। वहाँ वेदीपर सूतसे परिवेष्टित दीपका दान करना चाहिये। ऐसा करनेसे मानव रुद्रकी तरह अक्षय कालतक आनन्दपूर्वक जीवनयापन करता है ॥ ३२—४१½ ॥

ततो गच्छेच्च राजेन्द्र ऐरण्डीतीर्थमुत्तमम् ॥ ४२॥
संगमे तु नरः स्नात्वा मुच्यते सर्वपातकैः। ऐरण्डी त्रिषु लोकेषु विख्याता पापनाशिनी ॥ ४३॥
अथवाश्वयुजे मासि शुक्लपक्षे तु चाष्टमी। शुचिर्भूत्वा नरः स्नात्वा सोपवासपरायणः ॥ ४४॥
ब्राह्मणं भोजयेदेकं कोटिर्भवति भोजिता। ऐरण्डीसंगमे स्नात्वा भक्तिभावानुरञ्जितः।
मृत्तिकां शिरसि स्थाप्य ह्यवगाह्य च वै जलम् ॥ ४५॥
नर्मदोदकसम्मिश्रं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। प्रदक्षिणं तु यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप ॥ ४६॥
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा। ततः सुवर्णसलिले स्नात्वा दत्त्वा तु काञ्चनम् ॥ ४७॥
काञ्चनेन विमानेन रुद्रलोके महीयते। ततः स्वर्गाच्च्युतः कालाद् राजा भवति वीर्यवान् ॥ ४८॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र हीक्षुनद्यास्तु संगमम्। त्रैलोक्यविश्रुतं दिव्यं तत्र संनिहितः शिवः ॥ ४९॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गाणपत्यमवाप्नुयात्। स्कन्दतीर्थं ततो गच्छेत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५०॥
आजन्म जनितं पापं स्नानमात्राद् व्यपोहति। लिङ्गसारं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ ५१॥
गोसहस्रफलं तस्य रुद्रलोके महीयते। भङ्गतीर्थ ततो गच्छेत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५२॥
तत्र गत्वा तु राजेन्द्र स्नानं तत्र समाचरेत्। सप्तजन्मकृतैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ ५३॥

राजेन्द्र ! तदुपरान्त श्रेष्ठ ऐरण्डी तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। ऐरण्डीनदी पापनाशकके रूपमें तीनों लोकोंमें विख्यात है। उसके सङ्गममें स्नान करनेसे मनुष्य सभी पातकोंसे मुक्त हो जाता है। अथवा यदि मनुष्य

आश्विन मासके शुक्लपक्षमें अष्टमी तिथिको स्नान करके पवित्र हो उपवासपूर्वक एक ब्राह्मणको भोजन करा दे तो उसे एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल प्राप्त होता है। जो ऐरण्डी-संगममें भक्तिभावपूर्वक उसकी मिट्टीको सिरपर धारणकर नर्मदाके जलसे मिश्रित जलमें अवगाहनकर स्नान करता है, वह सभी पापोंसे छूट जाता है। नराधिप! जो उस तीर्थमें जाकर प्रदक्षिणा करता है, उसने मानो सात द्वीपोंवाली वसुन्धराकी परिक्रमा कर ली। तदनन्तर सुवर्णसलिल नामक तीर्थमें स्नानकर सुवर्णका दान करनेसे मनुष्य सुवर्णमय विमानसे जाकर रुद्रलोकमें पूजित होता है। फिर वह समयानुसार स्वर्गसे च्युत होनेपर पराक्रमी राजा होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् इक्षुनदीके सङ्गमपर जाना चाहिये। यह दिव्य तीर्थ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। वहाँ शिवजी सदा उपस्थित रहते हैं। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मानव गणाधिपतिका स्थान प्राप्त कर लेता है। तदुपरान्त स्कन्द तीर्थकी यात्रा करे। यह तीर्थ सभी पापोंका विनाशक है। यहाँ स्नान करनेमात्रसे मानव जन्मभरके किये हुए पापोंसे छूट जाता है। इसके बाद लिङ्गसार तीर्थपे जाय और वहाँ स्नान करे। इससे उसे एक हजार गौओंके दानका फल मिलता है और वह रुद्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। तदनन्तर सभी पापोंके विनाशक भङ्गतीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। राजेन्द्र! वहाँ जाकर स्नान करनेसे मानव सात जन्मोंमे किये गये पापोंसे मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४२—५३ ॥

वटेश्वरं ततो गच्छेत् सर्वतीर्थमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५४ ॥
संगमेशं ततो गच्छेत् सर्वदेवनमस्कृतम्। स्नानमात्रान्नरस्तत्र चेन्द्रत्वं लभते ध्रुवम् ॥ ५५ ॥
कोटितीर्थं ततो गच्छेत् सर्वपापहरं परम्। तत्र स्नात्वा नरो राज्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५६ ॥
तत्र तीर्थं समासाद्य दत्त्वा दानं तु यो नरः। तस्य तीर्थप्रभावेण सर्वं कोटिगुणं भवेत् ॥ ५७ ॥
अथ नारी भवेत् काचित्तत्र स्नानं समाचरेत्। गौरीतुल्या भवेत् सापि त्विन्द्रपत्नी न संशयः ॥ ५८ ॥
अङ्गारेशं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत्। स्नातमात्रो नरस्तत्र रुद्रलोके महीयते ॥ ५९ ॥
अङ्गारकचतुर्थ्यां तु स्नानं तत्र समाचरेत्। अक्षयं मोदते कालं शुचिः प्रयतमानसः ॥ ६० ॥
अयोनिसम्भवे स्नात्वा न पश्येद् योनिसंकटम्। पाण्डवेशं तु तत्रैव स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ ६१ ॥
अक्षयं मोदते कालमवध्यस्त्रिदशैरपि। विष्णुलोकं ततो गत्वा क्रीडते भोगसंयुतः ॥ ६२ ॥
तत्र भुक्त्वा महाभोगान् मर्त्यराजोऽभिजायते। कठेश्वरं ततो गच्छेत् तत्र स्नानं समाचरेत् ॥ ६३ ॥
उत्तरायणसम्प्राप्तौ यदिच्छेत् तस्य तद्भवेत्।

तदनन्तर सभी तीर्थोंमे श्रेष्ठ वटेश्वरतीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मानव एक हजार गौओंके दानका फल प्राप्त करता है। तत्पश्चात् सभी देवोंद्वारा नमस्कृत सङ्गमेश तीर्थमे जाय। वहाँ स्नान-मात्रसे मनुष्य निश्चित ही इन्द्र-पदको प्राप्त करता है। इसके बाद सभी पापोंको नष्ट करनेवाले श्रेष्ठ कोटितीर्थकी यात्रा करे। वहाँ स्नानकर मनुष्य राज्यकी प्राप्ति करता है—इसमे संदेह नहीं है। उस तीर्थमें आकर जो मनुष्य दान देता है, उसका सब कुछ उस तीर्थके प्रभावसे करोड़गुना हो जाता है। यदि वहाँ कोई स्त्री स्नान करती है तो वह निःसंदेह गौरी अथवा इन्द्र-पत्नी शचीके समान हो जाती है। इसके बाद अङ्गारेश तीर्थकी यात्रा करके वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नानमात्र करनेसे मनुष्य रुद्रलोकमे प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। जो मनुष्य पवित्र एवं संयत-मन होकर अङ्गारकचतुर्थीके दिन वहाँ स्नान करता है, वह अक्षय कालतक आनन्दका उपभोग करता है। अयोनिसम्भव नामक तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको योनिसंकटका दर्शन नहीं होता।

वहीं पाण्डवेश तीर्थ है, उसमें स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेसे वह देवताओंसे भी अवध्य होकर अक्षय कालतक आनन्दका अनुभव करता है और मरणोपरान्त विष्णु-लोकमें जाकर भोगसे परिपूर्ण हो क्रीड़ा करता है तथा वहाँ उत्तम भोगोंका भोग कर मृत्युलोकमें राजा होता है। इसके बाद उत्तरायण आनेपर कठेश्वर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेसे मानव जो इच्छा करता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है॥ ५४–६३½॥

चन्द्रभागां ततो गच्छेत् तत्र स्नानं समाचरेत् ॥ ६४ ॥
स्नातमात्रो नरो राजन् सोमलोके महीयते। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तीर्थं शक्रस्य विश्रुतम्॥ ६५ ॥
पूजितं देवराजेन देवैरपि नमस्कृतम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् दानं दत्त्वा तु काञ्चनम् ॥ ६६ ॥
अथवा नीलवर्णाभं वृषभं यः समुत्सृजेत्। वृषभस्य तु रोमाणि तत्प्रसूतिकुलेषु च ॥ ६७ ॥
तावद्वर्षसहस्राणि नरो हरपुरे वसेत्। ततः स्वर्गात् परिभ्रष्टो राजा भवति वीर्यवान् ॥ ६८ ॥
अश्वानां श्वेतवर्णानां सहस्राणां नराधिप। स्वामी भवति मर्त्येषु तस्य तीर्थप्रभावतः ॥ ६९ ॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र ब्रह्मावर्तमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजंस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥ ७० ॥
उपोष्य रजनीमेकां पिण्डं दत्त्वा यथाविधि। कन्यागते तथाऽऽदित्ये अक्षयं स्यान्नराधिप ॥ ७१ ॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र कपिलातीर्थमुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् कपिलां यः प्रयच्छति ॥ ७२ ॥
सम्पूर्णपृथिवीं दत्त्वा यत्फलं तदवाप्नुयात्। नर्मदेशं परं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥ ७३ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नश्वमेधफलं लभेत्। नर्मदादक्षिणे कूले संगमेश्वरमुत्तमम् ॥ ७४ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सर्वयज्ञफलं लभेत्। तत्र सर्वोद्यतो राजा पृथिव्यामेव जायते ॥ ७५ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णः सर्वव्याधिविवर्जितः।

राजन्! इसके बाद चन्द्रभागा नदीपर जाकर वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नानमात्रसे मनुष्य चन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है। राजेन्द्र! इसके बाद इन्द्रके प्रसिद्ध तीर्थमें जाय। वह तीर्थ साक्षात् देवराजद्वारा पूजित तथा सम्पूर्ण देवताओंद्वारा वन्दित है। राजन्! वहाँ स्नान कर जो मनुष्य सुवर्णका दान देता है अथवा नीलवर्ण-वाले वृषभका उत्सर्ग करता है तो वह वृषभके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक अपने कुलमें उत्पन्न संततिके साथ शिवपुरमें निवास करता है। इसके बाद स्वर्गसे गिरनेपर वह पराक्रमी राजा होता है। नराधिप! उस तीर्थके प्रभावसे मृत्युलोकमें आकर वह श्वेतवर्णवाले हजारों अश्वोंका स्वामी होता है। राजेन्द्र! तदनन्तर ब्रह्मावर्त नामक श्रेष्ठ तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! उस तीर्थमें स्नान कर देवताओं और पितरोंका विधिवत् तर्पण करना चाहिये। नरेश्वर! सूर्यके कन्याराशिमें स्थित होनेपर जो वहाँ एक रात उपवास करके विधिपूर्वक पिण्डदान करता है, उसका वह कर्म अक्षय हो जाता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ कपिलातीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। राजन्! उस तीर्थमें स्नान कर जो मनुष्य कपिला गौका दान करता है, उसे सम्पूर्ण पृथ्वीका दान करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह मिल जाता है। नर्मदेश उत्तम तीर्थस्थान है। इसके समान तीर्थ न हुआ है, न होगा। राजन्! उस तीर्थमें स्नान कर मानव अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त करता है। नर्मदाके दक्षिण तटपर श्रेष्ठ सङ्गमेश्वर तीर्थ है। राजन्! वहाँ स्नान करनेपर मनुष्य सभी यज्ञोंके फलको प्राप्त करता है और वह पृथ्वीपर सभी प्रकारके उद्यमोंसे सम्पन्न, सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा सभी प्रकारकी व्याधियोंसे रहित राजा होता है॥६४–७५½॥

नार्मदे चोत्तरे कूले तीर्थं परमशोभनम् ॥ ७६ ॥
आदित्यायतनं दिव्यमीश्वरेण तु भाषितम्। तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र दानं दत्त्वा तु शक्तितः।
तस्य तीर्थप्रभावेण दत्तं भवति चाक्षयम् ॥ ७७ ॥

दरिद्रा व्याधिनो ये तु ये तु दुष्कृतकर्मिणः। मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं तु यान्ति ते ॥ ७८ ॥
माघमासे तु सम्प्राप्ते शुक्लपक्षस्य सप्तमी। वसेदायतने तत्र निराहारो जितेन्द्रियः ॥ ७९ ॥
न जराव्याधितो मूको न चान्धो बधिरोऽथवा। सुभगो रूपसम्पन्नः स्त्रीणां भवति वल्लभः ॥ ८० ॥
एवं तीर्थं महापुण्यं मार्कण्डेयेन भाषितम्। ये न जानन्ति राजेन्द्र वञ्चितास्ते न संशयः ॥ ८१ ॥
गर्गेश्वरं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत्। स्नातमात्रो नरस्तत्र स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥ ८२ ॥
मोदते स्वर्गलोकस्थो यावदिन्द्राश्चतुर्दश। समीपतः स्थितं तस्य नागेश्वरतपोवनम् ॥ ८३ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र नागलोकमवाप्नुयात्। बह्वीभिर्नागकन्याभिः क्रीडते कालमक्षयम् ॥ ८४ ॥
कुबेरभवनं गच्छेत् कुबेरो यत्र संस्थितः। कालेश्वरं परं तीर्थं कुबेरो यत्र तोषितः ॥ ८५ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र सर्वसम्पदमाप्नुयात्।

नर्मदाके उत्तर तटपर अत्यन्त मनोहर आदित्यायतन नामक दिव्य तीर्थ है, ऐसा महादेवजीने कहा है। राजेन्द्र! उस तीर्थमें स्नान करके जो यथाशक्ति दान देता है, उसका वह दान उस तीर्थके प्रभावसे अक्षय हो जाता है। जो दरिद्र, रोगग्रस्त और दुष्कर्मी हैं, वे भी (यहाँ स्नान करनेसे) सभी पापोंसे मुक्त होकर सूर्यलोकको चले जाते हैं। जो मनुष्य माघ मासके शुक्ल पक्षकी सप्तमी तिथि आनेपर इन्द्रियोंका संयम कर और निराहार रहकर इस आदित्यायतन तीर्थमें निवास करता है, वह न तो वृद्धावस्था और रोगसे ही ग्रस्त होता है, न गूँगा, अंधा अथवा बहरा ही होता है, अपितु भाग्यशाली, रूपवान् और स्त्रियोंका प्रिय होता है। राजेन्द्र! इस प्रकार मार्कण्डेयजीने इस महान् पुण्यदायक तीर्थका वर्णन किया था। जो इस तीर्थको नहीं जानते, वे निःसंदेह वञ्चित ही हैं। इसके बाद गर्गेश्वर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे ही मानव स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेता है और चौदह इन्द्रोंके कार्यकालतक वह स्वर्गमें आनन्दपूर्वक निवास करता है। राजेन्द्र! उसीके समीपमें नागेश्वर नामक तपोवन है। वहाँ स्नान कर मनुष्य नागलोकको प्राप्त करता है और अनेकों नागकन्याओंके साथ अक्षय कालतक क्रीडा करता है। तदनन्तर कुबेरभवनमें जाय, जहाँ कुबेर विराजमान रहते हैं। जहाँ कुबेर सन्तुष्ट हुए थे। वह कालेश्वर नामक उत्तम तीर्थ है। राजेन्द्र! इस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ७६—८५½ ॥

ततः पश्चिमतो गच्छेन्मारुतालयमुत्तमम् ॥ ८६ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र शुचिर्भूत्वा समाहितः। काञ्चनं तु ततो दद्याद् यथाशक्ति सुबुद्धिमान् ॥ ८७ ॥
पुष्पकेण विमानेन वायुलोकं स गच्छति। यवतीर्थं ततो गच्छेन्माघमासे युधिष्ठिर ॥ ८८ ॥
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां स्नानं तत्र समाचरेत्। नक्तं भोज्यं ततः कुर्यान्न पश्येद् योनिसंकटम् ॥ ८९ ॥
अहल्यातीर्थं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत्। स्नातमात्रो नरस्तत्र ह्यप्सरोभिः प्रमोदते ॥ ९० ॥
अहल्या च तपस्तप्त्वा तत्र मुक्तिमुपागता। चैत्रमासे तु सम्प्राप्ते शुक्लपक्षे चतुर्दशी ॥ ९१ ॥
कामदेवदिने तस्मिन्नहल्यां यस्तु पूजयेत्। यत्र यत्र नरोत्पन्नो नरस्तत्र प्रियो भवेत् ॥ ९२ ॥
स्त्रीवल्लभो भवेच्छ्रीमान् कामदेव इवापरः। अयोध्यां तु समासाद्य तीर्थं रामस्य विश्रुतम् ॥ ९३ ॥
स्नातमात्रो नरस्तत्र सर्वपापैः प्रमुच्यते। सोमतीर्थं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ ९४ ॥
स्नातमात्रो नरस्तत्र सर्वपापैः प्रमुच्यते। सोमग्रहे तु राजेन्द्र पापक्षयकरं नृणाम् ॥ ९५ ॥
त्रैलोक्यविश्रुतं राजन् सोमतीर्थं महाफलम्। यस्तु चान्द्रायणं कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप ॥ ९६ ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं स गच्छति। अग्निप्रवेशेऽथ जले अथवापि ह्यनाशके ॥ ९७ ॥
सोमतीर्थे मृतो यस्तु नासौ मर्त्येऽभिजायते।

तत्पश्चात् उससे पश्चिममें स्थित श्रेष्ठ मारुतालय तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। राजेन्द्र! जो बुद्धिमान् वहाँ स्नान करके पवित्र हो सावधानीपूर्वक यथाशक्ति सुवर्णका दान करता है, वह पुष्पक विमानद्वारा वायुलोकको चला जाता है। युधिष्ठिर! तदुपरान्त माघ मासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको यवतीर्थमें जाकर स्नान करे और रातमें ही भोजन करे। ऐसा करनेवाले पुरुषको पुनः योनिसंकटका दर्शन नहीं करना पड़ता। इसके बाद अहल्यातीर्थमें जाय और वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नानमात्र करनेसे मानव अप्सराओंके साथ आनन्दका उपभोग करता है। उस तीर्थमें अहल्याने तपस्या कर मुक्ति पायी थी। चैत्रमासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी तिथि एवं सोमवारको जो मनुष्य वहाँ अहल्याकी पूजा करता है, वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, वहाँ-वहाँ सभीका प्रिय होता है। वह दूसरे कामदेवके समान स्त्रियोंका प्रियपात्र एवं श्रीसम्पन्न होता है। श्रीरामके प्रसिद्ध तीर्थ अयोध्यामें आकर स्नानमात्र करनेसे मानव सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। इसके बाद सोमतीर्थकी यात्रा करे और वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नान मात्र करनेसे मानव सभी पापोंसे छुटकारा पा जाता है। राजेन्द्र! चन्द्रग्रहणके अवसरपर स्नान करनेसे यही तीर्थ मनुष्यके सभी पापोंको नष्ट कर देता है। राजन्! महान् फल देनेवाला यह सोमतीर्थ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। नराधिप! उस तीर्थमें जो चान्द्रायण-व्रत करता है, वह सभी पापोंसे विशुद्ध होकर सोमलोकको चला जाता है। जो अग्निमें प्रवेश कर, जलमें डूबकर या भोजनका परित्याग कर इस सोमतीर्थमें प्राणका त्याग करता है, वह पुनः मृत्युलोकमें जन्म नहीं ग्रहण करता ॥८६–९७½॥

शुभतीर्थं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ ९८ ॥

स्नातमात्रो नरस्तत्र गोलोके तु महीयते। ततो गच्छेच्च राजेन्द्र विष्णुतीर्थमनुत्तमम् ॥ ९९ ॥
योधनीपुरमाख्यातं विष्णुस्थानमनुत्तमम्। असुरा योधितास्तत्र वासुदेवेन कोटिशः ॥ १०० ॥
तत्र तीर्थं समुत्पन्नं विष्णुः प्रीतो भवेदिह। अहोरात्रोपवासेन ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ १०१ ॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तापसेश्वरमुत्तमम्। हरिणी व्याधसंत्रस्ता पतिता यत्र सा मृगी ॥ १०२ ॥
जले प्रक्षिप्तगात्रा तु अन्तरिक्षं गता च सा। व्याधो विस्मितचित्तस्तु परं विस्मयमागतः ॥ १०३ ॥
तेन तापेश्वरं तीर्थं न भूतं न भविष्यति। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र ब्रह्मतीर्थमनुत्तमम् ॥ १०४ ॥
अमोहकमिति ख्यातं पितॄंश्चैवात्र तर्पयेत्। पौर्णमास्याममायां तु श्राद्धं कुर्याद् यथाविधि ॥ १०५ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पितृपिण्डं तु दापयेत्। गजरूपा शिला तत्र तोयमध्ये प्रतिष्ठिता ॥ १०६ ॥
तस्यां तु दापयेत् पिण्डं वैशाख्यां तु विशेषतः। तृप्यन्ति पितरस्तत्र यावत् तिष्ठति मेदिनी ॥ १०७ ॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र सिद्धेश्वरमनुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् गणपत्यन्तिकं व्रजेत् ॥ १०८ ॥

तदनन्तर शुभतीर्थमें जाय और वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मनुष्य गोलोकमें पूजित होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् सर्वोत्तम विष्णुतीर्थकी यात्रा करे। विष्णुका यह सर्वश्रेष्ठ स्थान योधनीपुरके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ भगवान् वासुदेवने करोड़ों असुरोंसे युद्ध किया था, इसी कारण यह तीर्थस्थान बन गया। यहाँ जानेसे विष्णु प्रसन्न होते हैं। यहाँ एक दिन-रात उपवास करनेसे यह ब्रह्महत्याके पापको नष्ट कर देता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त श्रेष्ठ तापसेश्वर तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये, जहाँ व्याधके भयसे डरी हुई मृगी गिर पड़ी थी और जलमें शरीरका परित्याग कर अन्तरिक्षमें चली गयी थी। यह देखकर आश्चर्यचकित हुए व्याधको महान् विस्मय हुआ। इसी कारण इसका नाम तापेश्वर-तीर्थ हुआ। इसके समान दूसरा तीर्थ न हुआ है, न होगा। राजेन्द्र! इसके बाद श्रेष्ठ ब्रह्मतीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। यह तीर्थ अमोहक नामसे भी प्रसिद्ध

है। यहाँ पितरोंका तर्पण तथा पूर्णिमा और अमावस्याको यथाविधि श्राद्ध करना चाहिये। राजन्! वहाँ स्नान कर मनुष्यको पितरोंको पिण्ड देना चाहिये। वहाँ जलमें गजके आकारकी एक शिला प्रतिष्ठित है। उसी शिलापर विशेषतया वैशाखकी पूर्णिमाको पिण्ड देना चाहिये। ऐसा करनेसे जबतक पृथ्वी स्थित रहती है, तबतक पितृगण तृप्त बने रहते हैं। राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ सिद्धेश्वर तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य गणपतिके समीप पहुँच जाता है ॥ ९८–१०८ ॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र लिङ्गो यत्र जनार्दनः। तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र विष्णुलोके महीयते ॥ १०९ ॥
नर्मदादक्षिणे कूले तीर्थं परमशोभनम्। कामदेवः स्वयं तत्र तपोऽतप्यत वै महत् ॥ ११० ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं तु शंकरं पर्युपासत। समाधिभङ्गदग्धस्तु शंकरेण महात्मना ॥ १११ ॥
श्वेतपर्वा यमश्चैव हुताशः शुक्रपर्वणि। एते दग्धास्तु ते सर्वे कुसुमेश्वरसंस्थिताः ॥ ११२ ॥
दिव्यवर्षसहस्रेण तुष्टस्तेषां महेश्वरः। उमया सहितो रुद्रस्तुष्टस्तेषां वरप्रदः ॥ ११३ ॥
मोक्षयित्वा तु तान् सर्वान् नर्मदातटमास्थितः। ततस्तीर्थप्रभावेण पुनर्दैवत्वमागताः ॥ ११४ ॥
ऊचुश्च परया भक्त्या देवदेवं वृषध्वजम्।
त्वत्प्रसादान्महादेव तीर्थं भवतु चोत्तमम्। अर्धयोजनविस्तीर्णं क्षेत्रं दिक्षु समंततः ॥ ११५ ॥
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा चोपवासपरायणः। कुसुमायुधरूपेण रुद्रलोके महीयते ॥ ११६ ॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् जनार्दन लिङ्गकी यात्रा करे। राजेन्द्र! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें पूजित होता है। नर्मदाके दक्षिण तटपर परम रमणीय कुसुमेश्वर तीर्थ है। वहाँ स्वयं कामदेवने कठोर तपस्या की थी। उसने एक हजार दिव्य वर्षोंतक शंकरकी सर्वभावसे उपासना की थी, किंतु महात्मा शंकरकी समाधिके भङ्ग होनेसे वह भस्म हो गया। इसी प्रकार कुसुमेश्वरमें स्थित श्वेतपर्वा, यम, हुताश और शुक्रपर्वा—ये सभी भी किसी समय जल गये थे। एक हजार दिव्य वर्षोंतक तपस्या करनेपर महेश्वर इनपर प्रसन्न हुए। इस प्रकार प्रसन्न हुए उमासहित रुद्रने इन्हें वर प्रदान किया। तब इन लोगोंको मोक्ष प्रदानकर वे नर्मदाके तटपर प्रतिष्ठित हो गये। तदनन्तर उस तीर्थके प्रभावसे उन लोगोंको पुनः देवत्व प्राप्त हो गया, तब उन्होंने अतिशय भक्तिके साथ देवाधिदेव वृषभध्वजसे कहा—'महादेव! आपकी कृपासे दिशाओंमें चारों ओर आधा योजन विस्तृत यह क्षेत्र उत्तम तीर्थ हो जाय।' उस तीर्थमें उपवासपूर्वक स्नान कर मनुष्य कामदेवके रूपमें रुद्रलोकमें पूजित होता है ॥ १०९–११६ ॥

वैश्वानरो यमश्चैव कामदेवस्तथा मरुत्। तपस्तप्त्वा तु राजेन्द्र परां सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ ११७ ॥
अङ्कोलस्य समीपे तु नातिदूरे तु तस्य वै। स्नानं दानं च तत्रैव भोजनं पिण्डपातनम् ॥ ११८ ॥
अग्निप्रवेशोऽथ जले अथवा तु ह्यनाशके। अनिवर्तिका गतिस्तस्य मृतस्यामुत्र जायते ॥ ११९ ॥
त्र्यम्बकेण तु तोयेन यश्चरुं श्रपयेन्नरः। अङ्कोलमूले दत्त्वा तु पिण्डं चैव यथाविधि ॥ १२० ॥
तृप्यन्ति पितरस्तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ। उत्तरे त्वयने प्राप्ते घृतस्नानं करोति यः ॥ १२१ ॥
पुरुषो वाथ स्त्री वापि वसेदायतने शुचिः। सिद्धेश्वरस्य देवस्य प्रातः पूजां प्रकल्पयेत् ॥ १२२ ॥
स यां गतिमवाप्नोति न तां सर्वैर्महामखैः। यदावतीर्णः कालेन रूपवान् सुभगो भवेत् ॥ १२३ ॥
मर्त्ये भवति राजा च त्वासमुद्रान्तगोचरे। क्षेत्रपालं न पश्येत् तु दण्डपाणिं महाबलम् ॥ १२४ ॥
वृथा तस्य भवेद् यात्रा ह्यदृष्ट्वा कर्णकुण्डलम्।
एवं तीर्थफलं ज्ञात्वा सर्वे देवाः समागताः। मुञ्चन्ति कुसुमैर्वृष्टिं तेन तत् कुसुमेश्वरम् ॥ १२५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

राजेन्द्र ! यहाँ वैश्वानर, यम, कामदेव और मरुत्‌ने तपस्या कर परम सिद्धि प्राप्त की थी। इस तीर्थसे थोड़ी दूरपर अंकोळके समीप स्नान, दान, भोजन तथा पिण्डदान करना चाहिये। यहाँ अग्निमें जलकर, जलमें डूबकर या अनशन करके प्राण-त्याग करनेवालेको परलोकमें अपुनर्भवकी गति प्राप्त होती है। जो व्यक्ति त्र्यम्बकतीर्थके जलसे चरु पकाकर अङ्कोळके मूलमें विधिपूर्वक पिण्डदान करता है, उसके पितृगण चन्द्र और सूर्यकी स्थितिपर्यन्त तृप्त रहते हैं। उत्तरायण आनेपर चाहे पुरुष हो या स्त्री—जो कोई भी घृतसे स्नान करता है और पवित्र होकर उस आयतनमें निवास करता है तथा प्रातःकाल सिद्धेश्वरदेवकी पूजा करता है, वह जिस गतिको प्राप्त करता है, वह सभी यज्ञोंके करनेसे भी नहीं प्राप्त हो सकती। कालान्तरसे पुनः जब वह मृत्युलोकमें जन्म ग्रहण करता है, तब सौभाग्यशाली एवं रूपसे सम्पन्न होकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राजा होता है। जो यहाँ आकर महाबली दण्डपाणि क्षेत्रपालका दर्शन नहीं करता और कर्ण-कुण्डलको नहीं देखता, उसकी यात्रा व्यर्थ हो जाती है। इस प्रकार तीर्थके फलको जानकर सभी देवगण वहाँ उपस्थित होकर कुसुमोंकी वृष्टि करने लगे, इसीसे यह कुसुमेश्वर नामसे विख्यात हुआ ॥ ११७-१२५ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नर्मदा-माहात्म्य-वर्णनमें एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९१ ॥

एक सौ बानबेवाँ अध्याय

शुक्लतीर्थका माहात्म्य

मार्कण्डेय उवाच

भार्गवेशं ततो गच्छेद् भग्नो यत्र जनार्दनः। असुरैस्तु महायुद्धे महाबलपराक्रमैः ॥ १ ॥
हुंकारितास्तु देवेन दानवाः प्रलयं गताः। तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥
शुक्लतीर्थस्य चोत्पत्तिं शृणु त्वं पाण्डुनन्दन। हिमवच्छिखरे रम्ये नानाधातुविचित्रिते ॥ ३ ॥
तरुणादित्यसंकाशे तप्तकाञ्चनसप्रभे। वज्रस्फटिकसोपाने चित्रपट्टशिलातले ॥ ४ ॥
जाम्बूनदमये दिव्ये नानापुष्पोपशोभिते। तत्रासीनं महादेवं सर्वज्ञं प्रभुमव्ययम् ॥ ५ ॥
लोकानुग्रहकर्तारं गणवृन्दैः समावृतम्।
स्कन्दनन्दिमहाकालैर्वीरभद्रगणादिभिः। उमया सहितं देवं मार्कण्डिः पर्यपृच्छत ॥ ६ ॥
देवदेव महादेव ब्रह्मविष्ण्विन्द्रसंस्तुत। संसारभयभीतोऽहं सुखोपायं ब्रवीहि मे ॥ ७ ॥
भगवन् भूतभव्येश सर्वपापप्रणाशनम्। तीर्थानां परमं तीर्थं तद् वदस्व महेश्वर ॥ ८ ॥

मार्कण्डेयजीने पूछा—राजेन्द्र ! तदनन्तर भार्गवेश-तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ एक बार भगवान् जनार्दन महायुद्धमें महाबली असुरोंके साथ युद्ध करते-करते थक गये फिर उन प्रभुके हुंकारसे ही दानवगण नष्ट हो गये थे। वहाँ स्नान करनेसे मानव सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। पाण्डुनन्दन ! अब आप शुक्लतीर्थकी उत्पत्ति सुनिये। किसी समय विविध धातुओंसे रंग-बिरंगे हिमवान् पर्वतके मनोरम शिखरपर, जो मध्याह्नकालिक सूर्यके समान देदीप्यमान, तपाये हुए सोनेकी प्रभासे युक्त, हीरक और स्फटिककी सीढ़ियोंसे सुशोभित था, एक दिव्य सुवर्णमय तथा अनेक पुष्पोंसे विभूषित शिलातलपर सर्वज्ञ, सामर्थ्यशाली, अविनाशी, लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले महादेव स्कन्द, नन्दी, महाकाल, वीरभद्र आदि गणों तथा अन्यान्य गणसमूहोंसे घिरे हुए उमाके साथ बैठे हुए थे। उसी समय मार्कण्डेयजीने उनसे पूछा—'ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रसे वन्दित,

देवाधिदेव महादेव ! मैं संसार-भयसे भीत हूँ, मुझे सुखका साधन बतलाइये। ऐश्वर्यशाली महेश्वर ! आप भूत और भविष्यके स्वामी हैं, अतः जो सभी पापोंका विनाशक एवं तीर्थोंमें श्रेष्ठ हो, वह तीर्थ मुझे बतलाइये ॥१-८॥

ईश्वर उवाच

शृणु विप्र महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद। स्नानाय गच्छ सुभगं ऋषिसंघैः समावृतः॥ ९ ॥
मन्वत्रिकश्यपाश्चैव याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः। यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥ १०॥
नारदो गौतमश्चैव सेवन्ते धर्मकाङ्क्षिणः। गङ्गा कनखले पुण्या प्रयागं पुष्करं गयाम्॥ ११॥
कुरुक्षेत्रं महापुण्यं राहुग्रस्ते दिवाकरे। दिवा वा यदि वा रात्रौ शुक्लतीर्थं महाफलम्॥ १२॥
दर्शनात् स्पर्शनाच्चैव स्नानाद् दानात् तपोजपात्। होमाच्चैवोपवासाच्च शुक्लतीर्थं महाफलम्॥ १३॥
शुक्लतीर्थं महापुण्यं नर्मदायां व्यवस्थितम्। चाणक्यो नाम राजर्षिः सिद्धिं तत्र समागतः॥ १४॥
एतत् क्षेत्रं सुविपुलं योजनं वृत्तसंस्थितम्। शुक्लतीर्थं महापुण्यं सर्वपापप्रणाशनम्॥ १५॥
पादपाग्रेण दृष्टेन ब्रह्महत्यां व्यपोहति। जगतीदर्शनाच्चैव भ्रूणहत्यां व्यपोहति॥ १६॥
अहं तत्र ऋषिश्रेष्ठ तिष्ठामि ह्युमया सह। वैशाखे चैत्रमासे तु कृष्णपक्षे चतुर्दशी॥ १७॥
कैलासाच्चापि निष्क्रम्य तत्र संनिहितो ह्यहम्।

भगवान् शंकरने कहा—महाबुद्धिमान् विप्र! तुम तो सकलशास्त्रविशारद और सौभाग्यशाली हो, तुम मेरी बात सुनो और ऋषियोंके साथ स्नान करनेके लिये शुक्लतीर्थमें जाओ। मनु, अत्रि, कश्यप, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, नारद और गौतम—ये ऋषिगण धर्मकी अभिलाषासे युक्त हो उसी तीर्थका सेवन करते हैं। गङ्गा कनखलमें पुण्यको देनेवाली है, सूर्यग्रहणके समय प्रयाग, पुष्कर, गया और कुरुक्षेत्र विशिष्ट पुण्यदायक हो जाते हैं, किंतु शुक्लतीर्थ दिन या रात—सभी समय महान् पुण्यफल देनेवाला है। यह शुक्लतीर्थ दर्शन, स्पर्श, स्नान, दान, तप, जप, हवन और उपवास करनेसे महान् फलदायक होता है। यह महान् पुण्यदायक शुक्लतीर्थ नर्मदामें अवस्थित है। चाणक्य नामक राजर्षिने यहीं सिद्धि प्राप्त की थी। यह विशाल क्षेत्र एक योजन परिमाणका गोलाकार है। यह शुक्लतीर्थ महापुण्यको प्रदान करनेवाला और सम्पूर्ण पापोंका नाशक है। यह यहाँ स्थित वृक्षके अग्रभागको देखनेसे ब्रह्महत्या और यहाँकी भूमिका दर्शन करनेसे भ्रूणहत्याके पापको नष्ट कर देता है। ऋषिश्रेष्ठ! मैं वहाँ उमाके साथ निवास करता हूँ। चैत्र तथा वैशाख मासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको मैं कैलाससे भी आकर यहाँ उपस्थित रहता हूँ ॥ ९-१७½ ॥

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याधरास्तथा॥ १८॥
गणाश्चाप्सरसो नागाः सर्वे देवाः समागताः। गगनस्थास्तु तिष्ठन्ति विमानैः सार्वकामिकैः॥ १९॥
शुक्लतीर्थं तु राजेन्द्र ह्यागता धर्मकाङ्क्षिणः। रजकेन यथा वस्त्रं शुक्लं भवति वारिणा॥ २०॥
आजन्मजनितं पापं शुक्लं तीर्थं व्यपोहति। स्नानं दानं महापुण्यं मार्कण्ड ऋषिसत्तम॥ २१॥
शुक्लतीर्थात् परं तीर्थं न भूतं न भविष्यति। पूर्वे वयसि कर्माणि कृत्वा पापानि मानवः॥ २२॥
अहोरात्रोपवासेन शुक्लतीर्थे व्यपोहति। तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैर्दानेन वा पुनः॥ २३॥
देवार्चनेन या पुष्टिर्न सा क्रतुशतैरपि। कार्तिकस्य तु मासस्य कृष्णपक्षे चतुर्दशी॥ २४॥
घृतेन स्नापयेद् देवमुपोष्य परमेश्वरम्। एकविंशत्कुलोपेतो न च्यवेदैश्वरात् पदात्॥ २५॥
शुक्लतीर्थं महापुण्यमृषिसिद्धनिषेवितम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन्न पुनर्जन्मभाग् भवेत्॥ २६॥
स्नात्वा वै शुक्लतीर्थे तु अर्चयेद् वृषभध्वजम्। कपालपूरणं कृत्वा तुष्यत्यत्र महेश्वरः॥ २७॥

राजेन्द्र ! दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, गण, अप्सराएँ और नाग—ये सभी देवगण आकर सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले विमानोंपर आरूढ़ हो गगनमें स्थित रहते हैं। धर्मकी अभिलाषा रखनेवाले ये सभी शुक्लतीर्थमें आते हैं; क्योंकि जैसे धोबी मलिन वस्त्रको जलसे धोकर उज्ज्वल कर देता है, उसी तरह शुक्लतीर्थ जन्मसे लेकर तबतकके किये गये पापोंको नष्ट कर देता है। ऋषिश्रेष्ठ मार्कण्डेय ! यहाँका स्नान और दान महान् पुण्यफलको देनेवाले होते हैं। शुक्लतीर्थसे श्रेष्ठ तीर्थ न हुआ है और न होगा। मानव बचपनमें किये गये पाप-कर्मोंको शुक्लतीर्थमें एक दिन-रात उपवास करके नष्ट कर देता है। यहाँ तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, दान और देवार्चनसे जो पुष्टि प्राप्त होती है, वह (अन्यत्र किये गये) सैकड़ों यज्ञोंसे भी नहीं मिलती। यहाँ कार्तिक मासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको उपवास कर परमेश्वर महादेवको घृतसे स्नान कराना चाहिये। ऐसा करनेसे वह अपने इक्कीस पीढ़ियोंतकके पूर्वजोंके साथ महादेवके स्थानसे च्युत नहीं होता। राजन् ! ऋषियों और सिद्धोंद्वारा सेवित यह शुक्लतीर्थ महान् पुण्यदायक है। वहाँ स्नान करनेसे मानव पुनर्जन्मका भागी नहीं होता। शुक्लतीर्थमें स्नानकर वृषभध्वजकी पूजा करे और कपालको भर दे, ऐसा करनेसे महेश्वर प्रसन्न होते हैं ॥ १८-२७ ॥

अर्धनारीश्वरं देवं पटे भक्त्या लिखापयेत्। शङ्खतूर्यनिनादैश्च ब्रह्मघोषैश्च सद्द्विजैः ॥ २८ ॥
जागरं कारयेत् तत्र नृत्यगीतादिमङ्गलैः। प्रभाते शुक्लतीर्थे तु स्नानं वै देवतार्चनम् ॥ २९ ॥
आचार्यान् भोजयेत् पश्चाच्छिवव्रतपराञ् शुचीन्। दक्षिणां च यथाशक्ति वित्तशाठ्यं विवर्जयेत् ॥ ३० ॥
प्रदक्षिणं ततः कृत्वा शनैर्देवान्तिकं व्रजेत्। एवं वै कुरुते यस्तु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३१ ॥
दिव्ययानं समारूढो गीयमानोऽप्सरोगणैः। शिवतुल्यबलोपेतस्तिष्ठत्याभूतसम्प्लवम् ॥ ३२ ॥
शुक्लतीर्थे तु या नारी ददाति कनकं शुभम्। घृतेन स्नापयेद् देवं कुमारं चापि पूजयेत् ॥ ३३ ॥
एवं या कुरुते भक्त्या तस्याः पुण्यफलं शृणु। मोदते शार्वलोकस्था यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥ ३४ ॥
पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां संक्रान्तौ विषुवे तथा। स्नात्वा तु सोपवासः सन् विजितात्मा समाहितः ॥ ३५ ॥
दानं दद्याद् यथाशक्त्या प्रीयेतां हरिशंकरौ। एवं तीर्थप्रभावेण सर्वं भवति चाक्षयम् ॥ ३६ ॥
अनाथं दुर्गतं विप्रं नाथवन्तमथापि वा। उद्वाहयति यस्तीर्थे तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३७ ॥
यावत्तद्रोमसंख्या च तत्प्रसूतिकुलेषु च। तावद्वर्षसहस्राणि शिवलोके महीयते ॥ ३८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

वस्त्रके ऊपर भक्तिके साथ अर्धनारीश्वर महादेवका चित्र लिखवाये और शङ्ख-तुरहीके शब्दों एवं उत्तम ब्राह्मणोंके द्वारा वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके साथ-साथ नृत्य, गीत आदि मङ्गल-कार्य करते हुए वहाँ रातमें जागरण कराये। प्रातःकाल शुक्लतीर्थमें स्नान करके देवताकी पूजा करे। तत्पश्चात् शिवव्रत-परायण पवित्र आचार्योंको भोजन कराये और कृपणता छोड़कर उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दे। इसके बाद उनकी प्रदक्षिणा कर धीरेसे देवताके समीप जाय। जो ऐसा करता है, उसे प्राप्त होनेवाला पुण्यफल सुनिये। वह शिवके समान बलशाली हो अप्सराओंद्वारा गाया जाता हुआ दिव्य विमानपर बैठकर प्रलयपर्यन्त स्थित रहता है। जो स्त्री शुक्लतीर्थमें शुभकारक सुवर्णका दान करती है और महादेवको घृतसे स्नान कराकर कुमार (स्कन्द) की भी पूजा करती है, भक्तिपूर्वक ऐसा करनेवाली स्त्रीको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, उसे सुनिये। वह रुद्रलोकमें स्थित रहकर चौदह इन्द्रोंके कार्यकालतक आनन्दका उपभोग करती है। जो पूर्णिमा एवं चतुर्दशी तिथि, संक्रान्तिके दिन

और विषुवयोगमें वहाँ स्नान करके मनको वशमें कर समाहित चित्तसे उपवासके साथ 'विष्णु और शंकर— दोनों प्रसन्न हों' इस भावनासे यथाशक्ति दान देता है, उसका वह सब तीर्थके प्रभावसे अक्षय हो जाता है। जो मानव उस तीर्थमें अनाथ, दुर्गतिग्रस्त अथवा सनाथ विप्रका भी विवाह कराता है उसे प्राप्त होनेवाला पुण्यफल सुनिये। वह उस ब्राह्मणके तथा उसकी वंशपरम्परामे उत्पन्न हुए लोगोंके शरीरमें जितने रोएँकी संख्या है, उतने हजार वर्षोंतक शिवलोकमें पूजित होता है॥ २८—३८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके नर्मदा-माहात्म्यमें एक सौ बानवेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १९२॥

एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय

नर्मदा-माहात्म्य-प्रसङ्गमें कपिलादि विविध तीर्थोंका माहात्म्य, भृगुतीर्थका माहात्म्य, भृगुमुनिकी तपस्या, शिव-पार्वतीका उनके समक्ष प्रकट होना, भृगुद्वारा उनकी स्तुति और शिवजीद्वारा भृगुको वरप्रदान

मार्कण्डेय उवाच

ततस्त्वनरकं गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत्। स्नातमात्रो नरस्तत्र नरकं च न पश्यति॥ १॥
तस्य तीर्थस्य माहात्म्यं शृणु त्वं पाण्डुनन्दन। तस्मिंस्तीर्थे तु राजेन्द्र यस्यास्थीनि विनिक्षिपेत्॥ २॥
विलयं यान्ति पापानि रूपवाञ्जायते नरः। गोतीर्थं तु ततो गत्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते॥ ३॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र कपिलातीर्थमुत्तमम्। तत्र गत्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत्॥ ४॥
ज्येष्ठमासे तु सम्प्राप्ते चतुर्दश्यां विशेषतः। तत्रोपोष्य नरो भक्त्या कपिलां यः प्रयच्छति॥ ५॥
घृतेन दीपं प्रज्वाल्य घृतेन स्नापयेच्छिवम्। सघृतं श्रीफलं जग्ध्वा दत्त्वा चान्ते प्रदक्षिणम्॥ ६॥
घण्टाभरणसंयुक्तां कपिलां यः प्रयच्छति। शिवतुल्यबलो भूत्वा नैवासौ जायते पुनः॥ ७॥
अङ्गारकदिने प्राप्ते चतुर्थ्यां तु विशेषतः। पूजयेत् तु शिवं भक्त्या ब्राह्मणेभ्यश्च भोजनम्॥ ८॥
अङ्गारकनवम्यां तु अमायां च विशेषतः। स्नापयेत् तत्र यत्नेन रूपवान् सुभगो भवेत्॥ ९॥
घृतेन स्नापयेल्लिङ्गं पूजयेद् भक्तितो द्विजान्। पुष्पकेण विमानेन सहस्रैः परिवारितः॥ १०॥
शैवं पदमवाप्नोति यत्र चाभिमतं भवेत्। अक्षयं मोदते कालं यथा रुद्रस्तथैव सः॥ ११॥
यदा तु कर्मसंयोगान्मर्त्यलोकमुपागतः। राजा भवति धर्मिष्ठो रूपवाञ्जायते कुले॥ १२॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र ऋषितीर्थमनुत्तमम्। तृणबिन्दुर्नाम ऋषिः शापदग्धो व्यवस्थितः॥ १३॥
तत्तीर्थस्य प्रभावेण शापमुक्तोऽभवद् द्विजः।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! तदनन्तर अनरक नामक तीर्थमे जाय और वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नान करनेमात्रसे मानवको नरकका दर्शन नहीं होता। पाण्डुनन्दन! अब आप उस तीर्थका माहात्म्य सुनिये। राजेन्द्र! उस तीर्थमें जिसकी हड्डियाँ डाल दी जाती हैं, उसके पापसमूह नष्ट हो जाते हैं और वह पुनः रूपवान् होकर जन्म ग्रहण करता है। तत्पश्चात् गोतीर्थमें जाकर मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त श्रेष्ठ कपिलातीर्थकी यात्रा करे। राजन्! जो मनुष्य ज्येष्ठ मासमे विशेषकर चतुर्दशी तिथिको वहाँ भक्तिपूर्वक स्नान और उपवासकर कपिला गौका दान करता है, उसे एक हजार गोदानका फल प्राप्त होता है। जो मनुष्य वहाँ घीसे दीपक जलाकर घीसे शिवको स्नान कराता है और घृतके साथ बेलको स्वयं खाता है एवं दान देता है तथा अन्तमें प्रदक्षिणा करके घण्टा और अलंकारसे विभूषित कपिला गौका दान करता है, वह

शिवके तुल्य बलवान् होता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। मंगलवारको विशेषकर चतुर्थी तिथिको शिवकी भक्तिपूर्वक पूजा करके ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये। मंगलवारकी नवमी एवं विशेषतया अमावास्या तिथिको यत्नपूर्वक शिवको स्नान करानेसे मनुष्य रूपवान् और भाग्यवान् होता है। जो घृतसे शिवलिङ्गको स्नान कराकर भक्तिपूर्वक ब्राह्मणोंकी पूजा करता है, वह हजारों विमानोंसे घिरे हुए पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो शिवलोकको जाता है और यहाँ अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करता है तथा रुद्रके समान ही अक्षय कालतक वहाँ आनन्दका उपभोग करता है। जब कभी कर्मवश वह मृत्युलोकमें आता है तो कुलीन वंशमें जन्म ग्रहण करता है और रूपवान् धर्मात्मा राजा होता है। राजेन्द्र! इसके बाद श्रेष्ठ ऋषितीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। यहाँ तृणबिन्दु नामक ऋषि शापसे दग्ध होकर स्थित थे, किंतु इस तीर्थके प्रभावसे वे द्विज शापसे मुक्त हो गये॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र गङ्गेश्वरमनुत्तमम्॥ १४॥
श्रावणे मासि सम्प्राप्ते कृष्णपक्षे चतुर्दशी। स्नातमात्रो नरस्तत्र रुद्रलोके महीयते॥ १५॥
पितॄणां तर्पणं कृत्वा मुच्यते च ऋणत्रयात्। गङ्गेश्वरसमीपे तु गङ्गावदनमुत्तमम्॥ १६॥
अकामो वा सकामो वा तत्र स्नात्वा तु मानवः। आजन्मजनितैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः॥ १७॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा व्रजेद् वै यत्र शंकरः। सर्वदा पर्वदिवसे स्नानं तत्र समाचरेत्॥ १८॥
पितॄणां तर्पणं कृत्वा ह्यश्वमेधफलं लभेत्। प्रयागे यत्फलं दृष्टं शंकरेण महात्मना॥ १९॥
तदेव निखिलं दृष्टं गङ्गावदनसंगमे। तस्यैव पश्चिमे स्थाने समीपे नातिदूरतः॥ २०॥
दशाश्वमेधजननं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। उपोष्य रजनीमेकां मासि भाद्रपदे तथा॥ २१॥
अमायां च नरः स्नात्वा व्रजते यत्र शंकरः। सर्वदा पर्वदिवसे स्नानं तत्र समाचरेत्॥ २२॥
पितॄणां तर्पणं कृत्वा चाश्वमेधफलं लभेत्। दशाश्वमेधात् पश्चिमतो भृगुर्ब्राह्मणसत्तमः॥ २३॥
दिव्यं वर्षसहस्रं तु ईश्वरं पर्युपासत। वल्मीकवेष्टितश्चासौ पक्षिणां च निकेतनः॥ २४॥
आश्चर्यं सुमहज्जातमुमायाः शंकरस्य च।
गौरी पप्रच्छ देवेशं कोऽयमेवं तु संस्थितः। देवो वा दानवो वाथ कथयस्व महेश्वर॥ २५॥

राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ गङ्गेश्वर तीर्थकी यात्रा करे। वहाँ श्रावण मासके कृष्णपक्षकी चतुर्दशी तिथिको स्नानमात्र कर लेनेसे मनुष्य रुद्रलोकमें पूजित होता है तथा पितरोंका तर्पण कर देव, पितर और ऋषि—इन तीनों ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। गङ्गेश्वर तीर्थके समीपमें गङ्गावदन नामक श्रेष्ठ तीर्थ है। वहाँ कामनापूर्वक या निष्काम होकर स्नान कर मनुष्य अपने जन्मभरके किये हुए पापोंसे छुटकारा पा जाता है, इसमें संदेह नहीं है। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्यको जहाँ शंकर हैं, वहीं जाना चाहिये और वहाँ सर्वदा पर्वदिनपर स्नान करना चाहिये। वहाँ पितरोंका तर्पण करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। प्रयागमें स्नान करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह सम्पूर्ण फल गङ्गावदनसङ्गममें महात्मा शंकरके दर्शनसे प्राप्त हो जाता है। उसकी पश्चिम दिशामें संनिकट ही दशाश्वमेधजनन नामक तीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। भाद्रपदमासकी अमावास्या तिथिको वहाँ एक रात उपवासकर स्नान करनेके पश्चात् शंकरके निकट जाना चाहिये और वहाँ सर्वदा पर्वके अवसरपर स्नान करना चाहिये। वहाँ पितरोंका तर्पण करनेसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है। दशाश्वमेधसे पश्चिम दिशामें ब्राह्मणश्रेष्ठ भृगुने एक हजार दिव्य वर्षोंतक शिवजीकी उपासना की थी। उनका शरीर विमवटसे परिवेष्टित हो गया था, जिससे वे पक्षियोंके निवासस्थान बन गये थे। यह देखकर उमा और

शंकरको महान् आश्चर्य उत्पन्न हुआ। तब पार्वतीने शंकरजीसे पूछा—'महेश्वर! यह कौन इस प्रकार समाधिस्थ है? यह देव है अथवा दानव? यह मुझे बतलाइये॥ १४—२५॥

महेश्वर उवाच

भृगुर्नाम द्विजश्रेष्ठ ऋषीणां प्रवरो मुनिः। मां ध्यायते समाधिस्थो वरं प्रार्थयते प्रिये॥ २६॥
ततः प्रहसिता देवी ईश्वरं प्रत्यभाषत।
धूमवत्तच्छिखा जाता ततोऽद्यापि न तुष्यसे। दुराराध्योऽसि तेन त्वं नात्र कार्या विचारणा॥ २७॥

महेश्वर बोले—प्रिये! ये द्विजश्रेष्ठ भृगु हैं, जो ऋषियोंमें श्रेष्ठ मुनि हैं। ये समाविस्थ होकर मेरा ध्यान कर रहे हैं और वर प्राप्त करना चाहते हैं। यह सुनकर पार्वतीदेवी हँस पड़ीं और महेश्वरसे बोलीं—'भगवन्! इस तपस्वीकी शिखा धुएँके समान हो गयी, फिर भी आप अभी भी संतुष्ट नहीं हो रहे हैं। इससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप महान् कष्टसे आराधित-प्रसन्न होते हैं, इस विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है॥

महेश्वर उवाच

न जानासि महादेवि ह्ययं क्रोधेन वेष्टितः। दर्शयामि यथातथ्यं प्रत्ययं ते करोम्यहम्॥ २८॥
ततः स्मृतोऽथ देवेन धर्मरूपो वृषस्तदा।
स्मरणात्तस्य देवस्य वृषः शीघ्रमुपस्थितः। वदंस्तु मानुषीं वाचमादेशो दीयतां प्रभो॥ २९॥

महेश्वरने कहा—महादेवि! तुम नहीं जानती हो, ये मुनि क्रोधसे परिपूर्ण हैं। मैं तुम्हें अभी सत्य स्थिति दिखाकर विश्वस्त कर रहा हूँ। तत्पश्चात् शिवजीने उस समय धर्मरूपी वृषभका स्मरण किया। उन देवके स्मरण करते ही वह वृष शीघ्र ही उपस्थित हो गया और मनुष्यकी वाणीमें बोला—'प्रभो! आदेश दीजिये'॥२८—२९॥

महेश्वर उवाच

वल्मीकं त्वं खनस्वैनं विप्रं भूमौ निपातय। योगस्थस्तु ततो ध्यायन् भृगुस्तेन निपातितः॥ ३०॥
तत्क्षणात् क्रोधसंतप्तो हस्तमुत्क्षिप्य सोऽशपत्।
एवं सम्भाषमाणस्तु कुत्र गच्छसि भो वृष। अद्याहं सम्प्रकोपेण प्रलयं त्वां नये वृष॥ ३१॥
धर्षितस्तु तदा विप्रश्चान्तरिक्षं गतो वृषम्। आकाशे प्रेक्षते विप्र एतदद्भुतमुत्तमम्॥ ३२॥
तत्र प्रहसितो रुद्र ऋषिरग्रे व्यवस्थितः।
तृतीयलोचनं दृष्ट्वा वैलक्ष्यात् पतितो भुवि। प्रणम्य दण्डवद् भूमौ तुष्टाव परमेश्वरम्॥ ३३॥

महेश्वरने कहा—तुम इस बिमवटको खोद डालो और विप्रको भूमिपर गिरा दो। तब वृषने ध्यान करते हुए योगस्थ भृगुको भूमिपर गिरा दिया। उसी क्षण क्रोधसे जले-भुने भृगु हाथ उठाकर शाप देते हुए इस प्रकार बोले—'भो वृष! तुम कहाँ जा रहे हो? वृष! अभी मैं क्रोधके बलसे तुम्हारा संहार कर डालता हूँ।' तब वह वृषभ उस विप्रको परास्तकर आकाशमें चला गया। उसे आकाशमें देखते हुए भृगु सोचने लगे—'यह तो महान् आश्चर्य है।' इतनेमें ही वहाँ भगवान् रुद्र हँसते हुए ऋषिके सम्मुख उपस्थित हो गये। तब तृतीय नेत्रधारी रुद्रको देखकर भृगु व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और दण्डके समान भूमिपर लेटकर प्रणाम कर भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगे॥ ३०—३३॥

प्रणिपत्य भूतनाथं भवोद्भवं त्वामहं दिव्यरूपम्।
भवातीतो भुवनपते प्रभो तु विज्ञापये किंचित्॥ ३४॥

त्वद्गुणनिकरान् वक्तुं कः शक्तो भवति मानुषो नाम।
वासुकिरपि हि कदाचिद् वदनसहस्रं भवेद् यस्य॥ ३५॥
भक्त्या तथापि शंकर भुवनपते त्वत्स्तुतौ मुखरः।
वदतः क्षमस्व भगवन् प्रसीद मे तव चरणपतितस्य॥ ३६॥
सत्त्वं रजस्तमस्त्वं स्थित्युत्पत्त्योर्विनाशने देव।
त्वां मुक्त्वा भुवनपते भुवनेश्वर नैव दैवतं किंचित्॥ ३७॥
यमनियमयज्ञदानवेदाभ्यासाश्च धारणा योगः।
त्वद्भक्तेः सर्वमिदं नार्हति हि कलासहस्रांशम्॥ ३८॥
उच्छिष्टरसरसायनखड्गाञ्जनपादुकाविवरसिद्धिर्वा।
चिह्नं भवव्रतानां दृश्यति चेह जन्मनि प्रकटम्॥ ३९॥

त्रिभुवनके स्वामी प्रभो! आप प्राणिवर्गके स्वामी, संसारके उद्भवस्थान, दिव्य रूपधारी और जन्म-मरणसे परे हैं, मैं आपको प्रणाम करके कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। यद्यपि कदाचित् किसी मानवको वासुकिके समान हजार मुख हो जाय तो भी ऐसा कोई भी मनुष्य आपके गुणसमूहोंका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, तथापि भुवनपते शंकर! मै भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करनेके लिये उद्यत हूँ। भगवन्! अपने चरणोंमें पड़े हुए मुझपर प्रसन्न हो जाइये और बोलते समय घटित हुई त्रुटियोंके लिये मुझे क्षमा कीजिये। देव! विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लयमें आप ही सत्त्व, रज और तम स्वरूप हैं। भुवनपते! आपको छोड़कर अन्य कोई देवता नहीं है। भुवनेश्वर! यम, नियम, यज्ञ, दान, वेदाभ्यास, धारणा और योग—ये सभी आपकी भक्तिकी एक कलाके हजारवें अंशकी समता नहीं कर सकते। उच्छिष्ट रस-रसायन, खड्ग, अञ्जन, पादुका और विवर-सिद्धि—ये सभी महादेवकी आराधना करनेवालोंके चिह्न हैं, जो इस जन्ममें व्यक्त रूपसे देखे जाते हैं॥ ३४—३९॥

शाठ्येन नमति यद्यपि ददासि त्वं भूतिमिच्छतो देव।
भक्तिर्भवभेदकरी मोक्षाय विनिर्मिता नाथ॥ ४०॥
परदारपरस्वरतं परपरिभवदुःखशोकसंतप्तम्।
परवदनवीक्षणपरं परमेश्वर मां परित्राहि॥ ४१॥
मिथ्याभिमानदग्धं क्षणभङ्गुरदेहविलसितं क्रूरम्।
कुपथ्याभिमुखं पतितं त्वं मां पापात् परित्राहि॥ ४२॥
दीने द्विजगणसार्थे बन्धुजनेनैव दूषिता ह्याशा।
तृष्णा तथापि शंकर किं मूढं मां विडम्बयति॥ ४३॥
तृष्णां हरस्व शीघ्रं लक्ष्मीं प्रदस्व याचदासिनीं नित्यम्।
छिन्धि मदमोहपाशानुत्तारय मां महादेव॥ ४४॥
करुणाभ्युदयं नाम स्तोत्रमिदं सर्वसिद्धिदं दिव्यम्।
यः पठति भक्तियुक्तस्तस्य तुष्येद् भृगोर्यथा च शिवः॥ ४५॥

देव! यद्यपि भक्त शठतापूर्वक नमस्कार करता है, तथापि आप उसे इच्छानुसार ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। नाथ! आपने मोक्ष प्रदान करनेके लिये संसारको नष्ट करनेवाली भक्तिका निर्माण किया है। परमेश्वर! मै परायी स्त्री और पराये धनमें रत रहनेवाला, दूसरेद्वारा किये गये अनादरसे उत्पन्न हुए दुःख और शोकसे सन्तप्त और परमुखापेक्षी हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं मिथ्या अभिमानसे सन्तप्त, क्षणभङ्गुर शरीरके विलासमें

रत, निष्ठुर, कुमार्गगामी और पतित हूँ, आप इस पापसे मेरी रक्षा कीजिये। यद्यपि द्विजगणोंके साथ-साथ मैं दीन हूँ और बन्धुजनोंने ही मेरी आशाको दूषित कर दिया है, तथापि शंकर! तृष्णा मुझ मोहग्रस्तकी विडम्बना क्यो कर रही हैं? महादेव! आप इस तृष्णाको शीघ्र दूर कर दें, नित्य चिरस्थायिनी लक्ष्मी प्रदान करें, मद और मोहके पाशको काट दें और मेरा उद्धार करें। यह 'करुणाभ्युदय' नामक दिव्य स्तोत्र सभी सिद्धियोंको देनेवाला है, जो भक्तिपूर्वक इसका पाठ करता है, उसपर भृगु (पर प्रसन्न होने) के समान ही शिवजी प्रसन्न होते हैं॥ ४०—४५॥

ईश्वर उवाच

अहं तुष्टोऽस्मि ते वत्स प्रार्थयस्वेप्सितं वरम्। उमया सहितो देवो वरं तस्य ह्यदापयत्॥४६॥

भगवान् शंकरने कहा—वत्स! मै तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम अभीष्ट वर माँग लो। इस प्रकार उमासहित महादेवजी भृगुको वरदान देनेके लिये उद्यत हुए॥ ४६॥

भृगुरुवाच

यदि तुष्टोऽसि देवेश यदि देयो वरो मम। रुद्रवेदी भवेदेवमेतत् सम्पादयस्व मे॥४७॥

भृगु बोले—देवेश! यदि आप प्रसन्न हैं और यदि मुझे वर देना चाहते हैं तो मुझे यह वरदान दीजिये कि यह स्थान रुद्रवेदीके नामसे प्रसिद्ध हो जाय॥ ४७॥

ईश्वर उवाच

एवं भवतु विप्रेन्द्र क्रोधस्त्वां न भविष्यति। न पितापुत्रयोश्चैव त्वैकमत्यं भविष्यति॥४८॥
तदाप्रभृति ब्रह्माद्याः सर्वेदेवाः सकिंनराः। उपासते भृगोस्तीर्थं तुष्टो यत्र महेश्वरः॥४९॥
दर्शनात् तस्य तीर्थस्य सद्यः पापात् प्रमुच्यते। अवशाः स्ववशा वापि म्रियन्ते यत्र जन्तवः॥५०॥
गुह्यातिगुह्या सुगतिस्तेषां निःसंशयं भवेत्। एतत् क्षेत्रं सुविपुलं सर्वपापप्रणाशनम्॥५१॥
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः। उपानहौ च छत्रं च च्यमन्नं च काञ्चनम्॥५२॥
भोजनं च यथाशक्त्या ह्यक्षयं च तथा भवेत्। सूर्योपरागे यो दद्याद् दानं चैव यथेच्छया॥५३॥
दीयमानं तु तद् दानमक्षयं तस्य तद् भवेत्। चन्द्रसूर्योपरागेषु यत्फलं त्वमरकण्टके॥५४॥
तदेव निखिलं पुण्यं भृगुतीर्थे न संशयः। क्षरन्ति सर्वदानानि यज्ञदानतपःक्रियाः॥५५॥
न क्षरेत् तु तपस्तप्तं भृगुतीर्थे युधिष्ठिर। यस्य वै तपसोग्रेण तुष्टेनैव तु शम्भुना॥५६॥
सांनिध्यं तत्र कथितं भृगुतीर्थे नराधिप। प्रख्यातं त्रिषु लोकेषु यत्र तुष्टो महेश्वरः॥५७॥
एवं तु वदतो देवी भृगुतीर्थमनुत्तमम्। न जानन्ति नरा मूढा विष्णुमायाविमोहिताः॥५८॥
नर्मदायां स्थितं दिव्यं भृगुतीर्थं नराधिप। भृगुतीर्थस्य माहात्म्यं यः शृणोति नरः क्वचित्॥५९॥
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो रुद्रलोकं स गच्छति।

शिवजीने कहा—विप्रश्रेष्ठ! ऐसा ही होगा और अब तुम्हें क्रोध नहीं होगा। साथ ही तुम पिता और पुत्रमे सहमति नहीं होगी। तभीसे किन्नरोसहित ब्रह्मा आदि सभी देवगण, जहाँ महेश्वर संतुष्ट हुए थे, उस भृगुतीर्थकी उपासना करते हैं। उस तीर्थका दर्शन करनेसे मनुष्य तत्काल ही पापसे मुक्त हो जाता है। स्वाधीन या पराधीन होकर भी जो प्राणी यहाँ मरते हैं, उन्हें निःसंदेह गुह्यातिगुह्य उत्तम गति प्राप्त होती है। यह अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र सभी पापोंका विनाशक है। यहाँ स्नान करके मानव स्वर्गको प्राप्त होते हैं तथा जो वहाँ मरते हैं, उनका पुनः संसारमें आगमन नहीं होता। वहाँ यथाशक्ति जूता, छाता, अन्न, सोना और खाद्य पदार्थका दान देना चाहिये; क्योंकि वह अक्षय हो जाता है। जो मनुष्य सूर्यग्रहणके समय वहाँ

इच्छानुसार जो कुछ दान देता है, उसका वह दिया हुआ दान अक्षय हो जाता है। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय अमरकण्टकमें जो फल प्राप्त होता है, वही सम्पूर्ण पुण्य निःसंदेह भृगुतीर्थमें सुलभ हो जाता है। युधिष्ठिर! सभी प्रकारके दान तथा यज्ञ, तप और कर्म—ये सभी नष्ट हो जाते हैं, किंतु भृगुतीर्थमें किया गया तप नष्ट नहीं होता। नराधिप! उस भृगुकी उग्र तपस्यासे संतुष्ट हुए शम्भुने उस भृगुतीर्थमें अपनी नित्य उपस्थिति बतलायी है, इसलिये वह भृगुतीर्थ तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है; क्योंकि वहाँ महेश्वर संतुष्ट हुए थे। नराधिप! इस प्रकार महेश्वरने पार्वतीसे श्रेष्ठ भृगुतीर्थके विषयमें कहा है, किंतु विष्णुकी मायासे मोहित हुए मूढ़ मनुष्य नर्मदामें स्थित इस दिव्य भृगुतीर्थको नहीं जानते। जो मनुष्य कहीं भी भृगुतीर्थका माहात्म्य सुनता है, वह सभी पापोंसे विमुक्त होकर रुद्रलोकको जाता है॥ ४८—५९½॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र गौतमेश्वरमुत्तमम्॥ ६०॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन्नुपवासपरायणः। काञ्चनेन विमानेन ब्रह्मलोके महीयते॥ ६१॥
धौतपापं ततो गच्छेत् क्षेत्रं यत्र वृषेण तु। नर्मदायां कृतं राजन् सर्वपातकनाशनम्॥ ६२॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्महत्यां विमुञ्चति। तस्मिंस्तीर्थे तु राजेन्द्र प्राणत्यागं करोति यः॥ ६३॥
चतुर्भुजस्त्रिनेत्रश्च शिवतुल्यबलो भवेत्। वसेत् कल्पायुतं साग्रं शिवतुल्यपराक्रमः॥ ६४॥
कालेन महता प्राप्तः पृथिव्यामेकराड् भवेत्। ततो गच्छेच्च राजेन्द्र ऐरण्डीतीर्थमुत्तमम्॥ ६५॥
प्रयागे यत् फलं दृष्टं मार्कण्डेयेन भाषितम्। तत् फलं लभते राजन् स्नातमात्रो हि मानवः॥ ६६॥
मासि भाद्रपदे चैव शुक्लपक्षे चतुर्दशी।
उपोष्य रजनीमेकां तस्मिन् स्नानं समाचरेत्। यमदूतैर्न बाध्येत रुद्रलोकं स गच्छति॥ ६७॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र सिद्धो यत्र जनार्दनः। हिरण्यद्वीपविख्यातं सर्वपापप्रणाशनम्॥ ६८॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धनवान् रूपवान् भवेत्। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र तीर्थं कनखलं महत्॥ ६९॥
गरुडेन तपस्तप्तं तस्मिंस्तीर्थे नराधिप। प्रख्यातं त्रिषु लोकेषु योगिनी तत्र तिष्ठति॥ ७०॥
क्रीडते योगिभिः सार्धं शिवेन सह नृत्यति। तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते॥ ७१॥

राजेन्द्र! इसके बाद श्रेष्ठ गौतमेश्वर तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नानकर उपवास करनेवाला मनुष्य सुवर्णमय विमानसे ब्रह्मलोकमें जाकर पूजित होता है। राजन्! तदनन्तर धौतपाप नामक क्षेत्रकी यात्रा करनी चाहिये। स्वयं नन्दीने नर्मदामें इस क्षेत्रका निर्माण किया था, जो सभी पातकोंका नाशक है। उस तीर्थमें स्नानकर मनुष्य ब्रह्महत्यासे विमुक्त हो जाता है। राजेन्द्र! उस तीर्थमें जो प्राण-त्याग करता है, वह चार भुजा और तीन नेत्रोंसे युक्त हो शिवके समान बलशाली हो जाता है और शिवके समान पराक्रमी होकर दस सहस्र कल्पोंसे भी अधिक कालतक स्वर्गमें निवास करता है। बहुत कालके बाद पृथ्वीपर आनेपर वह एकच्छत्र राजा होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ ऐरण्डी तीर्थमें जाना चाहिये। राजन्! मार्कण्डेयजीके द्वारा प्रयागमें जो पुण्य बतलाया गया है, वही पुण्य वहाँ स्नान मात्र करनेसे मनुष्यको सुलभ हो जाता है। जो भाद्रपद मासके शुक्लपक्षकी चतुर्दशी तिथिको एक रात उपवास कर वहाँ स्नान करता है, उसे यमदूत पीड़ित नहीं करते और वह रुद्रलोकको जाता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त सभी पापोंको नष्ट करनेवाले हिरण्यद्वीप नामसे विख्यात तीर्थमें जाना चाहिये, जहाँ भगवान् जनार्दनने सिद्धि प्राप्त की थी। राजन्! वहाँ स्नान कर मानव धनवान् और रूपवान् हो जाता है। राजेन्द्र! इसके बाद महान् कनखल तीर्थकी यात्रा करे। नराधिप!

उस तीर्थमें गरुडने तपस्या की थी। वह तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। वहाँ योगिनी रहती है, जो योगियोंके साथ क्रीडा और शिवके साथ नृत्य करती है। राजन्! वहाँ स्नान कर मनुष्य रुद्रलोकमें पूजित होता है॥ ६०—७१॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र हंसतीर्थमनुत्तमम्। हंसास्तत्र विनिर्मुक्ता गता ऊर्ध्वं न संशयः॥ ७२॥
ततो गच्छेद् तु राजेन्द्र सिद्धो यत्र जनार्दनः। वाराहं रूपमास्थाय अर्चितः परमेश्वरः॥ ७३॥
वराहतीर्थे नरः स्नात्वा द्वादश्यां तु विशेषतः। विष्णुलोकमवाप्नोति नरकं न च पश्यति॥ ७४॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र चन्द्रतीर्थमनुत्तमम्। पौर्णमास्यां विशेषेण स्नानं तत्र समाचरेत्॥ ७५॥
स्नानमात्रो नरस्तत्र चन्द्रलोके महीयते। दक्षिणेन तु द्वारेण कन्यातीर्थं तु विश्रुतम्॥ ७६॥
शुक्लपक्षे तृतीयायां स्नानं तत्र समाचरेत्। प्रणिपत्य तु चेशानं बलिस्तेन प्रसीदति॥ ७७॥
हरिश्चन्द्रपुरं दिव्यमन्तरिक्षे च दृश्यते। शक्रध्वजे समावृत्ते सुप्ते नागारिकेतने॥ ७८॥
नर्मदा सलिलौघेन तरून् सम्प्लावयिष्यति। अस्मिन् स्थाने निवासः स्याद् विष्णुः शंकरमब्रवीत्॥ ७९॥
द्वीपेश्वरे नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम्।

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम हंस तीर्थमें जाय। वहाँ हंस-समूह पापसे विनिर्मुक्त होकर निःसंदेह स्वर्गको चले गये थे। राजेन्द्र! तत्पश्चात् वाराह तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये, जहाँ भगवान् जनार्दन सिद्ध हुए थे। वहाँ वाराह-रूपधारी परमेश्वरकी पूजा हुई थी। उस वाराह-तीर्थमें विशेषकर द्वादशी तिथिको स्नान कर मनुष्य विष्णुलोकको प्राप्त करता है और उसे नरकका दर्शन नहीं करना पड़ता। राजेन्द्र! तदुपरान्त श्रेष्ठ चन्द्रतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ विशेषकर पूर्णिमा तिथिको स्नान करना चाहिये। वहाँ स्नानमात्र करनेसे मनुष्य चन्द्रलोकमें पूजित होता है। उसके दक्षिण द्वारपर विख्यात कन्या-तीर्थ है। वहाँ शुक्लपक्षकी तृतीया तिथिको स्नान करना चाहिये। वहाँ शिवजीको प्रणाम करके उन्हें बलि प्रदान करनेसे वे प्रसन्न हो जाते हैं। वहाँ हरिशयनके समय इन्द्रध्वजके निकलनेपर अन्तरिक्षमें दिव्य हरिश्चन्द्रपुर दिखायी देता है। जब नर्मदा जलसमूहसे वृक्षोंको आप्लावित कर देगी, उस समय इस स्थानमें विष्णुका निवास होगा—ऐसा विष्णुने शंकरसे कहा है। द्वीपेश्वर तीर्थमें स्नान कर मनुष्य सुवर्णराशिको प्राप्त करता है॥ ७२—७९½॥

ततो गच्छेद् तु राजेन्द्र कन्यातीर्थे सुसंगमे॥ ८०॥
स्नातमात्रो नरस्तत्र देव्याः स्थानमवाप्नुयात्। देवतीर्थं ततो गच्छेत् सर्वतीर्थमनुत्तमम्॥ ८१॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र दैवतैः सह मोदते। ततो गच्छेच्च राजेन्द्र शिखितीर्थमनुत्तमम्॥ ८२॥
यत् तत्र दीयते दानं सर्वं कोटिगुणं भवेत्। अपरपक्षे त्वमायां तु स्नानं तत्र समाचरेत्॥ ८३॥
ब्राह्मणं भोजयेदेकं कोटिर्भवति भोजिता। भृगुतीर्थे तु राजेन्द्र तीर्थकोटिर्व्यवस्थिता॥ ८४॥
अकामो वा सकामो वा तत्र स्नानं समाचरेत्। अश्वमेधमवाप्नोति दैवतैः सह मोदते॥ ८५॥
तत्र सिद्धिं परां प्राप्तो भृगुस्तु मुनिपुंगवः। अवतारः कृतस्तत्र शंकरेण महात्मना॥ ८६॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्ये त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९३॥

राजेन्द्र! इसके बाद कन्यातीर्थके सुन्दर संगमस्थान-की यात्रा करे। वहाँ स्नानमात्र करनेसे मनुष्य देवीके स्थानको प्राप्त करता है। तदनन्तर सभी तीर्थोंमें उत्तम देवतीर्थमें जाना चाहिये। राजेन्द्र! वहाँ स्नान कर मनुष्य देवताओंके साथ आनन्दका अनुभव करता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ शिखितीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ अमावस्या तिथिके तीसरे पहरमें स्नान करनेका विधान है। वहाँ जो कुछ भी दान दिया जाता है,

वह सत्र करोड़गुना हो जाता है। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर करोड़ ब्राह्मणोंके भोजन करानेका फल होता है। राजेन्द्र! भृगुतीर्थमें करोड़ों तीर्थोंकी स्थिति है। वहाँ निष्काम या सकाम होकर भी स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है और वह देवताओंके साथ आनन्दका अनुभव करता है। वहाँ मुनिश्रेष्ठ भृगुने परम सिद्धि प्राप्त की थी और महात्मा शंकर अवतीर्ण हुए थे॥८०—८६॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें नर्मदा-माहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥१९३॥

एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय

नर्मदातटवर्ती तीर्थोंका माहात्म्य

मार्कण्डेय उवाच

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र ह्यङ्कुशेश्वरमुत्तमम्। दर्शनात् तस्य देवस्य मुच्यते सर्वपातकैः॥१॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र नर्मदेश्वरमुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥२॥
अश्वतीर्थं ततो गच्छेत् स्नानं तत्र समाचरेत्। सुभगो दर्शनीयश्च भोगवाञ्जायते नरः॥३॥
पैतामहं ततो गच्छेद् ब्रह्मणा निर्मितं पुरा। तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या पितृपिण्डं तु दापयेत्॥४॥
तिलदर्भविमिश्रं तु ह्युदकं तत्र दापयेत्। तस्य तीर्थप्रभावेण सर्वं भवति चाक्षयम्॥५॥
सावित्रीतीर्थमासाद्य यस्तु स्नानं समाचरेत्। विधूय सर्वपापानि ब्रह्मलोके महीयते॥६॥
मनोहरं ततो गच्छेत् तीर्थं परमशोभनम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् पितृलोके महीयते॥७॥
ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र मानसं तीर्थमुत्तमम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते॥८॥
ततो गच्छेच्च राजेन्द्र कुब्जतीर्थमनुत्तमम्। विख्यातं त्रिषु लोकेषु सर्वपापप्रणाशनम्॥९॥
यान् यान् कामयते कामान् पशुपुत्रधनानि च। प्राप्नुयात् तानि सर्वाणि तत्र स्नात्वा नराधिप॥१०॥

मार्कण्डेयजीने कहा—राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ अङ्कुशेश्वर तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ उन देवके दर्शन मात्रसे मनुष्य सभी पापोंसे छुटकारा पा जाता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ नर्मदेश्वर तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। राजन्! वहाँ स्नानकर मनुष्य स्वर्गलोकमें पूजित होता है। तदुपरान्त अश्वतीर्थमें जाय और वहाँ स्नान करे। ऐसा करनेसे मनुष्य सौभाग्यशाली, दर्शनीय और रूपवान् हो जाता है। इसके बाद प्राचीनकालमें ब्रह्माद्वारा निर्मित पैतामह तीर्थकी यात्रा करे। वहाँ स्नानकर भक्तिपूर्वक पितरोंको पिण्डदान करे तथा तिल और कुशसे युक्त तर्पण करे; क्योंकि उस तीर्थके प्रभावसे वहाँ किया गया यह सब अक्षय हो जाता है। जो सावित्री तीर्थमें जाकर स्नान करता है, वह अपने सभी पापोंको धोकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है। राजन्! तदनन्तर अतिशय रमणीय मनोहर तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ स्नानकर मनुष्य पितृलोकमें पूजित होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् श्रेष्ठ मानसतीर्थमें जाय। राजन्! वहाँ स्नानकर मनुष्य रुद्रलोकमें पूजित होता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त श्रेष्ठ कुब्जतीर्थकी यात्रा करे। तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यह तीर्थ सभी पापोंका नाशक है। नराधिप! मनुष्य, पशु, पुत्र, धन आदि जिन-जिन वस्तुओंकी कामना करता है, वह सब उसे वहाँ स्नान करनेसे प्राप्त हो जाता है॥१—१०॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र त्रिदशज्योतिविश्रुतम्। यत्र ता ऋषिकन्यास्तु तपोऽतप्यन्त सुव्रताः॥११॥
भर्ता भवतु सर्वासामीश्वरः प्रभुरव्ययः। प्रीतस्तासां महादेवो दण्डरूपधरो हरः॥१२॥

विकृताननबीभत्सुर्व्रती तीर्थमुपागतः। तत्र कन्या महाराज वरयत् परमेश्वरः ॥ १३ ॥
कन्या ऋषेर्वरयतः कन्यादानं प्रदीयताम्। तीर्थं तत्र महाराज ऋषिकन्येति विश्रुतम् ॥ १४ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते। ततो गच्छेच्च राजेन्द्र स्वर्णबिन्दु त्विति स्मृतम् ॥ १५ ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् दुर्गतिं न च पश्यति। अप्सरेशं ततो गच्छत् स्नानं तत्र समाचरेत् ॥ १६ ॥
क्रीडते नागलोकस्थोऽप्सरोभिः सह मोदते। ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र नरकं तीर्थमुत्तमम् ॥ १७ ॥
तत्र स्नात्वार्चयेद् देवं नरकं च न पश्यति।

राजेन्द्र ! इसके बाद प्रसिद्ध त्रिदशज्योति तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये, जहाँ उत्तम व्रत धारण करनेवाली उन ऋषि-कन्याओंने तपस्या की थी। उनकी अभिलाषा थी कि अविनाशी एवं सामर्थ्यशाली महेश्वर हम सभीके पति हों। तब उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर संहारकारी महादेव, जिनका मुख विकृत और शरीर घृणास्पद था तथा जो उत्तम व्रतमें लीन थे, दण्ड धारणकर उस तीर्थमें आये। महाराज ! वहाँ शंकरजीने उन कन्याओंका वरण किया। महाराज ! वहाँ शंकरजीने ऋषिकन्याओंका वरण किया था, अतः वह स्थान ऋषिकन्या नामसे विख्यात तीर्थ हुआ। यहाँ कन्यादान करना चाहिये। राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। राजेन्द्र ! तदनन्तर स्वर्णबिन्दु नामक प्रसिद्ध तीर्थमें जाय। राजन् ! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको दुर्गति नहीं देखनी पड़ती। तत्पश्चात् अप्सरेश-तीर्थमें जाय और वहाँ स्नान करे। वहाँ स्नान करनेवाला नागलोकमें अप्सराओंके साथ आनन्दका अनुभव करता है। राजेन्द्र ! तदुपरान्त नरक नामक श्रेष्ठ तीर्थकी यात्रा करे। वहाँ स्नानकर महादेवजीकी पूजा करे तो नरक नहीं देखना पड़ता ॥ ११–१७½ ॥

भारभूति ततो गच्छेदुपवासपरो जनः ॥ १८ ॥
एतत् तीर्थं समासाद्य चावतारं तु शाम्भवम्। अर्चयित्वा विरूपाक्षं रुद्रलोके महीयते ॥ १९ ॥
अस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा भारभूतौ महात्मनः। यत्र तत्र मृतस्यापि ध्रुवं गाणेश्वरी गतिः ॥ २० ॥
कार्तिकस्य तु मासस्य ह्यर्चयित्वा महेश्वरम्। अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २१ ॥
दीपकानां शतं तत्र घृतपूर्णं तु दापयेत्। विमानैः सूर्यसंकाशैर्व्रजते यत्र शंकरः ॥ २२ ॥
वृषभं यः प्रयच्छेत् तु शङ्खकुन्देन्दुसप्रभम्। वृषयुक्तेन यानेन रुद्रलोकं स गच्छति ॥ २३ ॥
धेनुमेकां तु यो दद्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप। पायसं मधुसंयुक्तं भक्ष्याणि विविधानि च ॥ २४ ॥
यथाशक्त्या च राजेन्द्र ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः। तस्य तीर्थप्रभावेण सर्वं कोटिगुणं भवेत् ॥ २५ ॥
नर्मदाया जलं पीत्वा ह्यर्चयित्वा वृषध्वजम्। दुर्गतिं च न पश्यन्ति तस्य तीर्थप्रभावतः ॥ २६ ॥
एतत् तीर्थं समासाद्य यस्तु प्राणान् विमुञ्चति। सर्वपापविनिर्मुक्तो व्रजेद् वै यत्र शंकरः।
जलप्रवेशं यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप ॥ २७ ॥
हंसयुक्तेन यानेन रुद्रलोकं स गच्छति। यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च हिमवांश्च महोदधिः ॥ २८ ॥
गङ्गाद्याः सरितो यावत् तावत् स्वर्गे महीयते। अनाशकं तु यः कुर्यात् तस्मिंस्तीर्थे नराधिप ॥ २९ ॥
गर्भवासे तु राजेन्द्र न पुनर्जायते पुमान्।

इसके बाद भारभूति तीर्थकी यात्रा करनी चाहिये। इस तीर्थमें आकर मनुष्य उपवासपूर्वक शम्भुके अवतार विरूपाक्षकी अर्चना करके रुद्रलोकमें पूजित होता है। महात्मा शंकरके इस भारभूति तीर्थमें स्नानकर मनुष्य जहाँ-कहीं भी मरता है तो उसे निश्चय ही गणोंके अध्यक्षकी गति प्राप्त होती है। कार्तिक मासमें यहाँ महेश्वरकी पूजा करनेसे अश्वमेध-यज्ञसे दसगुना फल प्राप्त होता है—ऐसा विद्वानोंने कहा है। जो वहाँ घृतपूर्ण सौ दीपक जलाता है, वह सूर्यके समान देदीप्यमान विमानोंसे शंकरजीके निकट चला जाता है। जो वहाँ शङ्ख, कुन्द-पुष्प एवं चन्द्रमाके समान

उज्ज्वल रंगके वृषभका दान करता है, वह वृषयुक्त विमानसे रुद्रलोकको जाता है। नराधिप! उस तीर्थमें जो एक धेनुका दान देता है और यथाशक्ति मधु-संयुक्त खीर एवं विविध भोज्य पदार्थ ब्राह्मणोंको खिलाता है, राजेन्द्र! उसका वह सभी कर्म उस तीर्थके प्रभावसे करोड़गुना हो जाता है। जो लोग नर्मदाका जल पीकर शिवजीकी पूजा करते हैं, उन्हें उस तीर्थके प्रभावसे दुर्गति नहीं देखनी पड़ती। जो इस तीर्थमें आकर प्राणोंका त्याग करता है, वह सभी पापोंसे मुक्त होकर शंकरजीके समीप चला जाता है। नराधिप! उस तीर्थमें जो जलमें प्रवेश (करके प्राण-त्याग) करता है, वह हंसयुक्त विमानसे रुद्रलोकको जाता है तथा जबतक चन्द्रमा, सूर्य, हिमालय, महासागर और गङ्गा आदि नदियाँ हैं, तबतक स्वर्गमें पूजित होता है। नराधिप! जो पुरुष उस तीर्थमे अनशन करता है, राजेन्द्र! वह पुनः गर्भमें वास नहीं करता ॥ १८–२९½ ॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र आषाढीतीर्थमुत्तमम् ॥ ३० ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्निन्द्रस्यार्धासनं लभेत्। स्त्रियास्तीर्थं ततो गच्छेत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ३१ ॥
तत्रापि स्नातमात्रस्य ध्रुवं गाणेश्वरी गतिः। ऐरण्डीनर्मदयोश्च संगमं लोकविश्रुतम् ॥ ३२ ॥
तच्च तीर्थं महापुण्यं सर्वपापप्रणाशनम्। उपवासपरो भूत्वा नित्यव्रतपरायणः ॥ ३३ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र मुच्यते ब्रह्महत्यया। ततो गच्छेच्च राजेन्द्र नर्मदोदधिसंगमम् ॥ ३४ ॥
जामदग्न्यमिति ख्यातं सिद्धो यत्र जनार्दनः। यत्रेष्ट्वा बहुभिर्यज्ञैरिन्द्रो देवाधिपोऽभवत् ॥ ३५ ॥
तत्र स्नात्वा तु राजेन्द्र नर्मदोदधिसंगमे। त्रिगुणं चाश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३६ ॥
पश्चिमस्योदधेः संधौ स्वर्गद्वारविघट्टनम्। तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥ ३७ ॥
आराधयन्ति देवेशं त्रिसंध्यं विमलेश्वरम्। तत्र स्नात्वा नरो राजन् रुद्रलोके महीयते ॥ ३८ ॥
विमलेशात् परं तीर्थं न भूतं न भविष्यति। तत्रोपवासं कृत्वा ये पश्यन्ति विमलेश्वरम् ॥ ३९ ॥
सप्तजन्मकृतं पापं हित्वा यान्ति शिवालयम्।

राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ आषाढ़ी तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य इन्द्रके आधे आसनको प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् सभी पापोंके विनाशक स्त्री-तीर्थमे जाय। वहाँ भी स्नानमात्रसे निश्चय ही गाणेश्वरी गति प्राप्त होती है। ऐरण्डी और नर्मदाका संगम लोकप्रसिद्ध तीर्थ है, वह अतिशय पुण्यदायक तथा सभी पापोंका विनाश करनेवाला है। राजेन्द्र! वहाँ उपवास और नित्य व्रतोंका सम्पादन करते हुए स्नान करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है। राजेन्द्र! तदुपरान्त नर्मदा और समुद्रके संगमपर जाना चाहिये, जो जामदग्न्य नामसे प्रसिद्ध है। इसी तीर्थमें जनार्दनको सिद्धि प्राप्त हुई थी तथा इन्द्र अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान कर देवताओंके अधीश्वर हुए। राजेन्द्र! उस नर्मदा और सागरके सङ्गममें स्नान कर मनुष्य अश्वमेध यज्ञसे तिगुना फल प्राप्त करता है। पश्चिम समुद्रके संधि-स्थानपर स्वर्गद्वारविघट्टन तीर्थ है, वहाँ देवता, गन्धर्व, ऋषि, सिद्ध और चारण तीनों संध्याओमे विमलेश्वर महादेवकी आराधना करते हैं। राजन्! वहाँ स्नानकर मानव रुद्रलोकमें पूजित होता है। विमलेश्वरसे बढ़कर तीर्थ न हुआ है और न होगा। उस तीर्थमें उपवास कर जो विमलेश्वरका दर्शन करते हैं, वे सात जन्मोंके पापोंसे मुक्त होकर शिवपुरीमें जाते हैं॥

ततो गच्छेत् तु राजेन्द्र कौशिकीतीर्थमुत्तमम् ॥ ४० ॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नुपवासपरायणः। उपोष्य रजनीमेकां नियतो नियताशनः ॥ ४१ ॥
एतत्तीर्थप्रभावेण मुच्यते ब्रह्महत्यया। सर्वतीर्थाभिषेकं तु यः पश्येत् सागरेश्वरम् ॥ ४२ ॥
योजनाभ्यन्तरे तिष्ठन्नावर्ते संस्थितः शिवः। तं दृष्ट्वा सर्वतीर्थानि दृष्टान्येव न संशयः ॥ ४३ ॥

सर्वपापविनिर्मुक्तो यत्र रुद्रः स गच्छति। नर्मदासंगमं यावद् यावच्चामरकण्टकम् ॥ ४४ ॥
अत्रान्तरे महाराज तीर्थकोट्यो दश स्मृताः। तीर्थात्तीर्थान्तरं यत्र ऋषिकोटिनिषेवितम् ॥ ४५ ॥
साग्निहोत्रैस्तु विद्वद्भिः सर्वैर्ध्यानपरायणैः। सेवितानेन राजेन्द्र त्वीप्सितार्थप्रदायिका ॥ ४६ ॥
यस्त्विदं वै पठेन्नित्यं शृणुयाद् वापि भावतः। तस्य तीर्थानि सर्वाणि ह्यभिषिञ्चन्ति पाण्डव ॥ ४७ ॥
नर्मदा च सदा प्रीता भवेद् वै नात्र संशयः। प्रीतस्तस्य भवेद् रुद्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ४८ ॥
वन्ध्या चैव लभेत् पुत्रान् दुर्भगा सुभगा भवेत्।
कन्या लभेत भर्तारं यश्च वाञ्छेत् तु यत्फलम्। तदेव लभते सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥ ४९ ॥
ब्राह्मणो वेदमाप्नोति क्षत्रियो विजयी भवेत्। वैश्यस्तु लभते लाभं शूद्रः प्राप्नोति सद्गतिम् ॥ ५० ॥
मूर्खस्तु लभते विद्यां त्रिसंध्यं यः पठेन्नरः। नरकं च न पश्येत् तु वियोगं च न गच्छति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे नर्मदामाहात्म्यं नाम चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

राजेन्द्र! इसके बाद श्रेष्ठ कौशिकी तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ उपवासपूर्वक स्नान करने और नियमित भोजन करके एक रात निवास करनेसे मनुष्य इस तीर्थके प्रभावसे ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो जाता है। जो सागरेश्वरका दर्शन करता है, उसे सभी तीर्थोंके अभिषेकका फल प्राप्त हो जाता है। वहाँसे एक योजनके भीतर बर्तुलस्थानमें शिवजी संस्थित हैं, अतः उनका दर्शन कर लेनेसे सभी तीर्थोंका दर्शन हो जाता है—इसमें संशय नहीं है। वह मानव सभी पापोंसे मुक्त होकर जहाँ रुद्र रहते हैं, वहाँ चला जाता है। महाराज! नर्मदा-सङ्गमसे लेकर अमरकण्टकके मध्यमें दस करोड़ तीर्थ बतलाये जाते हैं। वहाँ एक तीर्थसे दूसरे तीर्थके मध्यमें करोड़ों ऋषिगण निवास करते हैं। राजेन्द्र! सभी ध्यानपरायण अग्निहोत्री विद्वानोंद्वारा सेवित यह तीर्थ-परम्परा अभीष्ट फल प्रदान करनेवाली है। पाण्डव! जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक इन तीर्थोंका पाठ करता है या श्रवण करता है, उसे सभी तीर्थोंमें अभिषेक करनेका फल प्राप्त होता है और उसपर नर्मदा सदा प्रसन्न होती है—इसमें संदेह नहीं है। साथ ही उसपर महामुनि मार्कण्डेय एवं रुद्र प्रसन्न होते हैं। (इस तीर्थके प्रभावसे) वन्ध्याको पुत्रकी प्राप्ति होती है, अभागिनी सौभाग्यवती हो जाती है, कन्या पतिको प्राप्त करती है तथा अन्य जो कोई जिस फलको चाहता है, उसे वह सब फल प्राप्त हो जाता है—इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मण वेदका ज्ञान प्राप्त करता है, क्षत्रिय विजयी होता है, वैश्य धन प्राप्त करता है और शूद्रको अच्छी गति प्राप्त होती है तथा मूर्ख विद्याको प्राप्त करता है। जो मनुष्य तीनों संध्याओंमें इसका पाठ करता है, उसे न तो नरकका दर्शन होता है और न प्रियजनोंका वियोग ही प्राप्त होता है ॥ ४०—५१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें नर्मदा-माहात्म्य-वर्णन नामक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९४ ॥

एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय

गोत्र-प्रवर-निरूपण*-प्रसङ्गमें भृगुवंशकी परम्पराका विवरण

सूत उवाच

इत्याकर्ण्य स राजेन्द्र ओंकारस्याभिवर्णनम्। ततः पप्रच्छ देवेशं मत्स्यरूपं जलार्णवे ॥ १ ॥

* गोत्र-प्रवर-निर्णयपर कई स्वतन्त्र निबन्ध हैं। पर वे सभी इन्हीं (१९५—२०२) अध्यायोंपर आवृत हैं। जैसे ऋक्संहिता (७।१८।६—८।३।९ तक) तथा स्कन्दपुराण माहेश्वर ख० एवं ब्रह्मखण्डमें भी इसपर विस्तृत विचार है।

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इस प्रकार ओंकारका वर्णन सुननेके पश्चात् राजेन्द्र मनुने उस जलार्णवमें स्थित मत्स्यरूपी देवेश विष्णुसे पुनः (इस प्रकार) प्रश्न किया ॥ १ ॥

मनुरुवाच

ऋषीणां नाम गोत्राणि वंशावतरणं तथा । प्रवराणां तथा साम्यमसाम्यं विस्तराद् वद ॥ २ ॥
महादेवेन ऋषयः शप्ताः स्वायम्भुवान्तरे । तेषां वैवस्वते प्राप्ते सम्भवं मम कीर्तय ॥ ३ ॥
दाक्षायणीनां च तथा प्रजाः कीर्तय मे प्रभो । ऋषीणां च तथा वंशं भृगुवंशविवर्धनम् ॥ ४ ॥

मनुजीने पूछा—प्रभो ! ऋषियोंके नाम, गोत्र, वंश, अवतार तथा प्रवरोंकी समता और विषमता—इन विषयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये । स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें महादेवजीने ऋषियोंको शाप दिया था, अतः वैवस्वत-मन्वन्तरमें उनकी पुनः उत्पत्ति कैसे हुई ? यह मुझे बतलाइये । साथ ही दक्ष प्रजापतिकी संतानोंसे उत्पन्न प्रजाओंका, ऋषियोंके वंशका तथा भृगुवंशके विस्तारका वर्णन कीजिये ॥ २—४ ॥

मत्स्य उवाच

मन्वन्तरेऽस्मिन् सम्प्राप्ते पूर्वं वैवस्वते तथा । चरित्रं कथ्यते राजन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ ५ ॥
महादेवस्य शापेन त्यक्त्वा देहं स्वयं तथा । ऋषयश्च समुद्भूता हुते शुक्रे महात्मना ॥ ६ ॥
देवानां मातरो दृष्ट्वा देवपत्न्यस्तथैव च । स्कन्नं शुक्रं महाराज ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ॥ ७ ॥
तज्जुहाव ततो ब्रह्मा ततो जाता हुताशनात् । ततो जातो महातेजा भृगुश्च तपसां निधिः ॥ ८ ॥
अङ्गारेष्वङ्गिरा जातो ह्यर्चिभ्योऽत्रिस्तथैव च । मरीचिभ्यो मरीचिस्तु ततो जातो महातपाः ॥ ९ ॥
केशैस्तु कपिशो जातः पुलस्त्यश्च महातपाः । केशैः प्रलम्बैः पुलहस्ततो जातो महातपाः ॥ १० ॥
वसुमध्यात् समुत्पन्नो वसिष्ठस्तु तपोधनः । भृगुः पुलोम्नस्तु सुतां दिव्यां भार्यामविन्दत ॥ ११ ॥
तस्यामस्य सुता जाता देवा द्वादश याज्ञिकाः । भुवनो भौवनश्चैव सुजन्यः सुजनस्तथा ॥ १२ ॥
क्रतुर्वसुश्च मूर्धा च त्याज्यश्च वसुदश्च ह । प्रभवश्चाव्ययश्चैव दक्षोऽथ द्वादशस्तथा ॥ १३ ॥
इत्येते भृगवो नाम देवा द्वादश कीर्तिताः । पौलोम्यां जनयद् विप्रान् देवानां तु कनीयसः ॥ १४ ॥
च्यवनं तु महाभागमाप्नुवानं तथैव च । आप्नुवानात्मजश्चौर्वो जमदग्निस्तदात्मजः ॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान् बोले—राजन् ! अब मैं पूर्वकालमें वैवस्वत-मन्वन्तरके प्राप्त होनेपर जो परमेष्ठी ब्रह्मा थे, उनका चरित्र बतला रहा हूँ । महादेवजीके शापसे अपने शरीरका परित्याग कर ऋषिगण महात्मा ब्रह्माद्वारा अग्निसे उत्पन्न हुए । उसी अग्निसे परम तेजस्वी तपोनिधि भृगु उत्पन्न हुए । अङ्गारोंसे अङ्गिरा, शिखाओंसे अत्रि और किरणोंसे महातपस्वी मरीचि उत्पन्न हुए । केशोंसे कपिश रंगवाले महातपस्वी पुलस्त्य प्रकट हुए । तत्पश्चात् लम्बे केशोंसे महातपस्वी पुलहने जन्म लिया । अग्निकी दीप्तिसे तपोनिधि वसिष्ठ उत्पन्न हुए । महर्षि भृगुने पुलोमा ऋषिकी दिव्य पुत्रीको भार्यारूपमें ग्रहण किया । उस पत्नीसे उनके यज्ञ करनेवाले बारह देव-तुल्य पुत्र उत्पन्न हुए । उनके नाम हैं—भुवन, भौवन, सुजन्य, सुजन, क्रतु, वसु, मूर्धा, त्याज्य, वसुद, प्रभव, अव्यय तथा बारहवें दक्ष । इस प्रकार ये बारह 'देवभृगु' नामसे विख्यात हैं । इसके बाद भृगुने पौलोमीके गर्भसे देवताओंसे कुछ निम्नकोटिके ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया । उनके नाम हैं—महाभाग्यशाली च्यवन और आप्नुवान । आप्नुवानके पुत्र और्व हैं । और्वके पुत्र जमदग्नि हुए ॥ ५—१५ ॥

और्वो गोत्रकरस्तेषां भार्गवाणां महात्मनाम् । तत्र गोत्रकरान् वक्ष्ये भृगोर्वै दीप्ततेजसः ॥ १६ ॥
भृगुश्च च्यवनश्चैव आप्नुवानस्तथैव च । और्वश्च जमदग्निश्च वात्स्यो दण्डिर्नडायनः ॥ १७ ॥

वैगायनो वीतिहव्यः पैलश्चैवात्र शौनकः । शौनकायनजीवन्तिरावेदः कार्षणिस्तथा ॥ १८ ॥
वैहीनरिर्विरूपाक्षो रौहित्यायनिरेव च । वैश्वानरिस्तथा नीलो लुब्धः सावर्णिकश्च सः ॥ १९ ॥
विष्णुः पौरोऽपि बालाकिरैलिकोऽनन्तभागिनः । मृगमार्गेयमार्कण्डजविनो नीतिनस्तथा ॥ २० ॥
मण्डमाण्डव्यमाण्डूकफेनपाः स्तनितस्तथा । स्थलपिण्डः शिखावर्णः शार्कराक्षिस्तथैव च ॥ २१ ॥
जालधिः सौधिकः क्षुभ्यः कुत्सोऽन्यो मौद्गलायनः । माङ्कायनो देवपतिः पाण्डुरोचिः सगालवः ॥ २२ ॥
सांकृत्यश्चातकिः सार्पिर्यज्ञपिण्डायनस्तथा । गार्ग्यायणो गायनश्च ऋषिर्गार्हायणस्तथा ॥ २३ ॥
गोष्ठायनो वाह्यायनो वैशम्पायन एव च । वैकर्णिनिः शार्ङ्गरवो याज्ञेयिर्भ्राष्ट्रकायणिः ॥ २४ ॥
लालाटिर्नाकुलिश्चैव लौक्षिण्योपरिमण्डलौ । आलुकिः सौचकिः कौत्सस्तथान्यः पैङ्गलायनिः ॥ २५ ॥
सात्यायनिर्मालयनिः कौटिलिः कौचहस्तिकः । सौहः सोक्तिः सकौवाक्षिः कौसिश्चान्द्रमसिस्तथा ॥ २६ ॥
नैकजिह्वो जिह्वकश्च व्याधाज्यो लौहवैरिणः । शारद्वतिकनेतिष्यौ लोलाक्षिश्चलकुण्डलः ॥ २७ ॥
वागायनिश्चानुमतिः पूर्णिमागतिकोऽसकृत् । सामान्येन यथा तेषां पञ्चैते प्रवरा मताः ॥ २८ ॥
भृगुश्च च्यवनश्चैव आप्नुवानस्तथैव च । और्वश्च जमदग्निश्च पञ्चैते प्रवरा मताः ॥ २९ ॥

और्व उन महात्मा भार्गवोंके गोत्र-प्रवर्तक हुए। अब मैं दीप्त तेजस्वी भृगुके गोत्र-प्रवर्तकोंका वर्णन कर रहा हूँ—भृगु, च्यवन, आप्नुवान, और्व, जमदग्नि, वात्स्य, दण्डि, नडायन, वैगायन, वीतिहव्य, पैल, शौनक, शौनकायन, जीवन्ति, आवेद, कार्षणि, वैहीनरि, विरूपाक्ष,-रौहित्यायनि, वैश्वानरि, नील, लुब्ध, सावर्णिक, विष्णु, पौर, वालाकि, ऐलिक, अनन्तभागिन, मृग, मार्गेय, मार्कण्ड, जविन,-नीतिन, मण्ड, माण्डव्य, माण्डूक, फेनप, स्तनित, स्थलपिण्ड, शिखावर्ण, शार्कराक्षि, जालधि, सौधिक, क्षुभ्य, कुत्स, मौद्गलायन, माङ्कायन, देवपति, पाण्डुरोचि, गालव, सांकृत्य, चातकि, सार्पि, यज्ञपिण्डायन, गार्ग्यायण, गायन, गार्हायण, गोष्ठायन, वाह्यायन, वैशम्पायन, वैकर्णिनि, शार्ङ्गरव, याज्ञेयि, भ्राष्ट्रकायणि, लालाटि, नाकुलि, लौक्षिण्य, उपरिमण्डल, आलुकि, सौचकि, कौत्स, पैंगलायनि, सात्यायनि, मालयनि, कौटिलि, कौचहस्तिक, सौह, सोक्ति, सकौवाक्षि, कौसि, चान्द्रमसि, नैकजिह्व, जिह्वक, व्याधाज्य, लौहवैरिण, शारद्वतिक, नेतिष्य, लोलाक्षि, चलकुण्डल, वागायनि, आनुमति, पूर्णिमागतिक और असकृत्। साधारणरूपसे इन ऋषियोंमे ये पाँच प्रवर कहे जाते हैं—भृगु, च्यवन, आप्नुवान, और्व और जामदग्नि॥ १६–२९ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वन्यान् भृगूद्वहान् । जमदग्निर्विदश्चैव पौलस्त्यो वैजभृत् तथा ॥ ३० ॥
ऋषिश्चोभयजातश्च कायनिः शाकटायनः । और्वेया मारुताश्चैव सर्वेषां प्रवराः शुभाः ॥ ३१ ॥
भृगुश्च च्यवनश्चैव आप्नुवानस्तथैव च । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ३२ ॥
भृगुदासो मार्गपथो ग्राम्यायणिकटायनौ । आपस्तम्बिस्तथा विल्विर्नैकशिः कपिरेव च ॥ ३३ ॥
आर्ष्टिषेणो गार्दभिश्च कार्दमायनिरेव च । आश्वायनिस्तथा रूपिः पञ्चार्षेयाः प्रकीर्तिताः ॥ ३४ ॥
भृगुश्च च्यवनश्चैव आप्नुवानस्तथैव च । आर्ष्टिषेणस्तथारूपिः प्रवराः पञ्च कीर्तिताः ॥ ३५ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः । यस्को वा वीतिहव्यो वा मथितस्तु तथा दमः ॥ ३६ ॥
जैवन्त्यायनिर्मौञ्जश्च पिलिश्चैव चलिस्तथा । भागिलो भागवित्तिश्च कौशापिस्त्वथ काश्यपिः ॥ ३७ ॥
बालपिः श्रमदागेपिः सौरस्तिथिस्तथैव च । गार्गीयस्त्वथ जावालिस्तथा पौष्ण्यायनो ह्यपिः ॥ ३८ ॥
रामोदश्च तथैतेषामार्षेयाः प्रवरा मताः । भृगुश्च वीतिहव्यश्च तथा रैवसवैवसौ ॥ ३९ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः । शालायनिः शाकटाक्षो मैत्रेयः खाण्डवस्तथा ॥ ४० ॥
द्रौणायनो रौक्मायणिरापिशिश्चापिकायनिः । हंसजिह्वस्तथैतेषां मार्षेयाः प्रवरा मताः ॥ ४१ ॥
भृगुश्चैवाथ वद्ध्र्यश्वो दिवोदासस्तथैव च । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ४२ ॥

एकायनो यज्ञपतिर्मत्स्यगन्धस्तथैव च। प्रत्यहश्च तथा सौरिश्चौक्षिर्वै कार्दमायनिः ॥ ४३ ॥
तथा गृत्समदो राजन् सनकश्च महानृषिः। प्रवरास्तु तथोक्तानामार्षेयाः परिकीर्तिताः ॥ ४४ ॥
भृगुर्गृत्समदश्चैव आर्षावेतौ प्रकीर्तितौ। परस्परमवैवाह्या इत्येते परिकीर्तिताः ॥ ४५ ॥
एते तवोक्ता भृगुवंशजाता महानुभावा नृप गोत्रकाराः।
एषां तु नाम्ना परिकीर्तितेन पापं समग्रं विजहाति जन्तुः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे भृगुवंशप्रवरकीर्तनं नाम पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इसके बाद भृगुवंशमें उत्पन्न अन्य ऋषियोंका वर्णन कर रहा हूँ, सुनिये। जमदग्नि, विद, पौलस्त्य, वैजभृत, उभयजात, कायनि, शाकटायन, और्वेय और मारुत। इनके तीन शुभ प्रवर हैं—भृगु, च्यवन और आप्नुवान। इन ऋषियोंमें परस्पर विवाहका निषेध है। भृगुदास, मार्गपथ, ग्राम्यायणि, कटायनि, आपस्तम्बि, बिल्वि, नैकशि, कपि, आर्ष्टिषेण, गार्दभि, कार्दमायनि, आश्वायनि तथा रूपि। इनके प्रवर ये पाँच हैं—भृगु, च्यवन, आप्नुवान, आर्ष्टिषेण तथा रूपि। इन पाँच प्रवरवालोंमें भी विवाह-कर्म निषिद्ध है। यस्क, वीतिहव्य, मथित, दम, जैवन्त्यायनि, मौञ्ज, पिलि, चलि, भागिल, भागवित्ति, कौशापि, काश्यपि, बालपि, श्रमदागेपि, सौर, तिथि, गार्गीय, जाबालि, पौष्णायन और रामोद। इन वंशोंमें ये प्रवर हैं—भृगु, वीतिहव्य, रेवस और वैवस। इनमें भी परस्पर विवाह नहीं होते। शालायनि, शाकटाक्ष, मैत्रेय, खाण्डव, द्रौणायन, रौक्मायणि, आपिशि, आपिकायनि और हंसजिह्व। इनके प्रवर इन ऋषियोंके हैं—भृगु, वध्र्यश्व और दिवोदास। इनमें भी परस्पर विवाह निषिद्ध है। राजन्! एकायन, यज्ञपति, मत्स्यगन्ध, प्रत्यह, सौरि, औक्षि, कार्दमायनि, गृत्समद और महर्षि सनक। इन वंशोंके दो ऋषियोंके प्रवर हैं—भृगु तथा गृत्समद। इन वंशोंमें भी परस्पर विवाह निषिद्ध है। राजन्! इस प्रकार मैंने आपसे भृगुवंशमें उत्पन्न महानुभाव गोत्रप्रवर्तक ऋषियोंका वर्णन कर दिया। इनके नामोंका कीर्तन करनेसे प्राणी सभी पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ३०—४६ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें भृगुवंश-प्रवर-वर्णन नामक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९५ ॥

एक सौ छानबेवाँ अध्याय

प्रवरानुकीर्तनमें महर्षि अङ्गिराके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

मरीचितनया राजन् सुरूपा नाम विश्रुता। भार्या चाङ्गिरसो देवास्तस्याः पुत्रा दश स्मृताः ॥ १ ॥
आत्मायुर्दमनो दक्षः सदः प्राणस्तथैव च। हविष्मांश्च गविष्ठश्च ऋतः सत्यश्च ते दश ॥ २ ॥
एते चाङ्गिरसो नाम देवा वै सोमपायिनः। सुरूपा जनयामास ऋषीन् सर्वेश्वरानिमान् ॥ ३ ॥
बृहस्पतिं गोतमं च संवर्तमृषिमुत्तमम्। उतथ्यं वामदेवं च अजस्यमृषिजं तथा ॥ ४ ॥
इत्येते ऋषयः सर्वे गोत्रकाराः प्रकीर्तिताः। तेषां गोत्रसमुत्पन्नान् गोत्रकारान् निबोध मे ॥ ५ ॥
उतथ्यो गौतमश्चैव तौलेयोऽभिजितस्तथा। सार्धनेमिः सलौगाक्षिः क्षीरः कौष्टिकिरेव च ॥ ६ ॥
राहुकर्णिः सौपुरिश्च कैरातिः सामलोमकिः। पौषाजितिर्भार्गवतो ह्यैरिडश्चैरीडवस्तथा ॥ ७ ॥
कारोटकः सजीवी च उपबिन्दुसुरैषिणौ। वाहिनीपतिवैशाली क्रोष्टा चैवारुणायनिः ॥ ८ ॥
सोमोऽत्रायनिकासोरुकौशल्याः पार्थिवस्तथा। रौहिण्यायनिरेवाग्नी मूलपः पाण्डुरेव च ॥ ९ ॥
क्षपाविश्वकरोऽरिश्च पारिकारारिरेव च। आर्षेयाः प्रवराश्चैव तेषां च प्रवराञ् शृणु ॥ १० ॥

अङ्गिराः सुवचोतथ्य उशिजश्च महानृषिः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ११ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! महर्षि मरीचिकी कन्या सुरूपा नामसे विख्यात थी। वह महर्षि अङ्गिराकी पत्नी थी। उसके दस देव-तुल्य पुत्र थे। उनके नाम हैं—आत्मा, आयु, दमन, दक्ष, सद, प्राण, हविष्मान्, गविष्ठ, ऋत, और सत्य। ये दस अङ्गिराके पुत्र सोमरसके पान करनेवाले देवता माने गये हैं। सुरूपाने इन सर्वेश्वर ऋषियोंको उत्पन्न किया था। बृहस्पति, गौतम, ऋषिश्रेष्ठ संवर्त, उतथ्य, वामदेव, अजस्य तथा ऋषिज—ये सभी ऋषि गोत्रप्रवर्तक कहे गये हैं। अब इनके गोत्रोंमें उत्पन्न हुए गोत्रप्रवर्तकोंको मैं बतला रहा हूँ, सुनिये। उतथ्य, गौतम, तौलेय, अभिजित, सार्धनेमि, सलौगाक्षि, क्षीर, कौष्टिकि, राहुकर्णि, सौपुरि, कैराति, सामलोमकि, पौषाजिति, भार्गवत, चैरीडव, कारोटक, सजीवी, उपबिन्दु, सुरैषिण, वाहिनीपति, वैशाली, क्रोष्टा, आरुणायनि, सोम, अत्रायनि, कासोरु, कौशल्य, पार्थिव, रौहिण्यायनि, रेवाग्नि, मूलप, पाण्डु, क्षया, विश्वकर, अरि और पारिकारारि—ये सभी श्रेष्ठ ऋषि गोत्रप्रवर्तक हैं। अब इनके प्रवरोंको सुनिये—अङ्गिरा सुवचोतथ्य तथा महर्षि उशिज। इन ऋषियोंके वंशवाले आपसमें विवाह नहीं करते थे ॥ १—११ ॥

आत्रेयायणिसौवेष्ट्यावग्निवेश्यः शिलास्थलिः। बालिशायनिश्चैकेपी वाराहिर्बाष्कलिस्तथा ॥ १२ ॥
सौटिश्च तृणकर्णिश्च प्रावहिश्चाश्वलायनिः। वाराहिर्बर्हिसादी च शिखाग्रीविस्तथैव च ॥ १३ ॥
कारकिश्च महाकापिस्तथा चोडुपतिः प्रभुः। कौचकिर्धमितश्चैव पुष्पान्वेपिस्तथैव च ॥ १४ ॥
सोमतन्विर्ब्रह्मतन्विः सालडिर्बालडिस्तथा। देवरारिर्देवस्थानिर्हारिकर्णिः सरिद्भुविः ॥ १५ ॥
प्रावेपिः साद्यसुग्रीविस्तथा गोमेदगन्धिकः। मत्स्याच्छाद्यो मूलहरः फलाहारस्तथैव च ॥ १६ ॥
गाङ्गोदधिः कौरुपतिः कौरुक्षेत्रिस्तथैव च। नायकिर्जैत्यद्रौणिश्च जैह्वलायनिरेव च ॥ १७ ॥
आपस्तम्बिर्मौञ्जवृष्टिर्मार्ष्टपिङ्गलिरेव च। पैलश्चैव महातेजाः शालंकायनिरेव च ॥ १८ ॥
द्व्याख्येयो मारुतश्चैषां सर्वेषां प्रवरो नृप। अङ्गिराः प्रथमस्तेषां द्वितीयश्च बृहस्पतिः ॥ १९ ॥
तृतीयश्च भरद्वाजः प्रवराः परिकीर्तिताः। परस्परमवैवाह्या इत्येते परिकीर्तिताः ॥ २० ॥

आत्रेयायणि, सौवेष्ट्य, अग्निवेश्य, शिलास्थलि, बालिशायनि, चैकेपी, वाराहि, बाष्कलि, सौटि, तृणकर्णि, प्रावहि, आश्वलायनि, वाराहि, बर्हिसादी, शिखाग्रीवि, कारकि, महाकापि, उडुपति, कौचकि, धमित, पुष्पान्वेपि, सोमतन्वि, ब्रह्मतन्वि, सालडि, बालडि, देवरारि, देवस्थानि, हारिकर्णि, सरिद्भुवि, प्रावेपि, साद्यसुग्रीवि, गोमेदगन्धिक, मत्स्याच्छाद्य, मूलहर, फलाहार, गाङ्गोदधि, कौरुपति, कौरुक्षेत्रि, नायकि, जैत्यद्रौणि, जैह्वलायनि, आपस्तम्बि, मौञ्जवृष्टि, मार्ष्टपिङ्गलि, महातेजस्वी पैल, शालङ्कायनि, द्व्याख्येय तथा मारुत। नृप! इन ऋषियोंके प्रवर प्रथम अङ्गिरा, दूसरे बृहस्पति तथा तीसरे भरद्वाज कहे गये हैं। इन गोत्रवालोंमें भी परस्पर विवाह-कर्म नहीं होते ॥ १२—२० ॥

काण्वायनाः कोपचयास्तथा वात्स्यतरायणाः। भ्राष्ट्रकृद् राष्ट्रपिण्डी च लैन्द्राणिः सायकायनिः ॥ २१ ॥
क्रोष्टाक्षी बहुवीती च तालकृन्मधुरावहः। लावकृद् गालविद् गाथी मार्कण्डिः पौलिकायनिः ॥ २२ ॥
स्कन्दसश्च तथा चक्री गार्ग्यः श्यामायनिस्तथा। बलाकिः साहरिश्चैव पञ्चार्षेयाः प्रकीर्तिताः ॥ २३ ॥
अङ्गिराश्च महातेजा देवाचार्यो बृहस्पतिः। भरद्वाजस्तथा गर्गः सैत्यश्च भगवानृषिः ॥ २४ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः। कपीतरः स्वस्तितरो दाक्षिः शक्तिः पतञ्जलिः ॥ २५ ॥
भूयसिर्जलसंधिश्च बिन्दुर्मादिः कुसीदकिः। ऊर्वस्तु राजकेशी च वौपडिः शंसपिस्तथा ॥ २६ ॥
शालिश्च कलशीकण्ठ ऋषिः कारीरयस्तथा। काट्यो धान्यायनिश्चैव भावास्यायनिरेव च ॥ २७ ॥

भरद्वाजिः सौवुधिश्च लघ्वी देवमतिस्तथा। त्र्यार्षेयोऽभिमतस्तेषां प्रवरो भूमिपोत्तम ॥ २८ ॥
अङ्गिरा दमवाह्यश्च तथा चैवाप्युरुक्षयः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ २९ ॥

काण्वायन, कोपचय, वात्स्यतरायण, भ्राष्ट्रकृत, राष्ट्रपिण्डी, लैन्द्राणि, सायकायनि, क्रोटाक्षी, बटुवीती, तालकृत, मधुरावह, लावकृत, गालवित, गार्गी, मार्कटि, पौल्कायनि, स्कन्दस, चक्री, गार्ग्य, श्यामायनि, बलाकि तथा साहरि। इनके भी निम्नलिखित पाँच ऋषि प्रवर कहे गये हैं—महातेजस्वी अङ्गिरा, देवाचार्य बृहस्पति, भरद्वाज, गर्ग तथा ऐश्वर्यशाली महर्षि सैत्य। इनके वंशवालोंमें भी परस्पर विवाह नहीं होता। कपीतर, स्वस्तितर, दाक्षि, शक्ति, पतञ्जलि, भूयसि, जलसन्धि, बिन्दु, मादि, कुसीदकि, ऊर्व, राजकेशी, वौषडि, शंसपि, शालि, कलशीकण्ठ, कारीरय, काट्य, धान्यायनि, भावास्यायनि, भरद्वाजि, सौवुधि, लघ्वी तथा देवमनि। राजसत्तम! इन ऋषियोंके तीन प्रवर बतलाये गये हैं—अङ्गिरा, दमवाह्य तथा उरुक्षय। इन गोत्रवालोंमें परस्पर विवाह नहीं होता॥

संकृतिश्च त्रिमार्ष्टिश्च मनुः सम्बधिरेव च। तण्डिश्चैनातकिश्चैव तैलकः दक्ष एव च ॥ ३० ॥
नारायणिश्चार्षिणिश्च लौक्षिर्गार्ग्यहरिस्तथा। गालवश्च अनेहश्च सर्वेषां प्रवरो मतः ॥ ३१ ॥
अङ्गिराः संकृतिश्चैव गौरवीतिस्तथैव च। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ३२ ॥
कात्यायनो हरितकः कौत्सः पिंगस्तथैव च। हुण्डिदासो वात्स्यायनिर्माद्रिर्मौलिः कुबेरणिः ॥ ३३ ॥
भीमवेगः शाश्वदर्भिः सर्वे त्रिप्रवराः स्मृताः। अङ्गिरा बृहदश्वश्च जीवनाश्वस्तथैव च ॥ ३४ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः। बृहदुक्थो वामदेवस्तथा त्रिप्रवरा मताः ॥ ३५ ॥
अङ्गिरा बृहदुक्थश्च वामदेवस्तथैव च। परस्परमवैवाह्या इत्येते परिकीर्तिताः ॥ ३६ ॥
कुत्सगोत्रोद्भवाश्चैव तथा त्रिप्रवरा मताः।
अङ्गिराश्च सदस्युश्च पुरुकुत्सस्तथैव च। कुत्साः कुत्सैरवैवाह्या एवमाहुः पुरातनाः ॥ ३७ ॥
रथीतराणां प्रवरास्त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः।
अङ्गिराश्च विरूपश्च तथैव च रथीतरः। रथीतरा ह्यवैवाह्या नित्यमेव रथीतरैः ॥ ३८ ॥
विष्णुसिद्धिः शिवमतिर्जतृणः कतृणस्तथा। पुत्रवश्च महातेजास्तथा वैरपरायणः ॥ ३९ ॥
त्र्यार्षेयोऽभिमतस्तेषां सर्वेषां प्रवरो नृप।
अङ्गिराश्च विरूपश्च वृषपर्वस्तथैव च। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ४० ॥

संकृति, त्रिमार्ष्टि, मनु, सम्बधि, तण्डि, एनातकि (नाचिकेत), तैलक, दक्ष, नारायणि, आर्षिणि, लौक्षि, गार्ग्य, हरि, गालव तथा अनेह—इन सबके प्रवर अङ्गिरा, संकृति तथा गौरवीति माने गये हैं। इनमें भी परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। कात्यायन, हरितक, कौत्स, पिङ्ग, हुण्डिदास, वात्स्यायनि, माद्रि, मौलि, कुबेरणि, भीमवेग तथा शाश्वदर्भि—इन सभीके तीन प्रवर कहे गये हैं। उनके नाम हैं—अङ्गिरा, बृहदश्व तथा जीवनाश्व। इनके वंशवालोंमें भी परस्पर विवाह नहीं होता। बृहदुक्थ तथा वामदेवके भी तीन प्रवर माने गये हैं। उनके नाम हैं—अङ्गिरा, बृहदुक्थ तथा वामदेव। इन वंशवालोंमे परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। कुत्सगोत्रमे उत्पन्न होनेवालोंके तीन प्रवर हैं—अङ्गिरा, सदस्यु तथा पुरुकुत्स। प्राचीन लोग बतलाते हैं कि कुत्सगोत्रवालोंसे कुत्सगोत्रवालोंका विवाह नहीं होता। रथीतरके वंशमें उत्पन्न होनेवालोंके भी तीन प्रवर हैं—अङ्गिरा, विरूप तथा रथीतर। ये लोग आपसमे विवाह नहीं करते। विष्णुसिद्धि, शिवमति, जतृण, कतृण, महातेजस्वी पुत्र तथा वैरपरायण—ये सभी अङ्गिरा, विरूप और वृषपर्व—इन तीन ऋषियोंके प्रवरवाले माने गये हैं। राजन्! इन ऋषियोंके वंशमें परस्पर विवाह-कर्म नहीं होता॥ ३०—४०॥

सात्यमुग्रिर्महातेजा हिरण्यस्तम्बिमुद्गलौ। त्र्यार्षेयो हि मतस्तेषां सर्वेषां प्रवरो नृप ॥४१॥
अङ्गिरा मत्स्यदग्धश्च मुद्गलश्च महातपाः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥४२॥
हंसजिह्वो देवजिह्वो ह्यग्निजिह्वो विराडपः। अपाग्नेयस्त्वश्वयुश्च परण्यस्ता विमौद्गलाः ॥४३॥
त्र्यार्षेयाभिमतास्तेषां सर्वेषां प्रवराः शुभाः। अङ्गिराश्चैव ताण्डिश्च मौद्गल्यश्च महातपाः ॥४४॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः।
अपाण्डुश्च गुरुश्चैव तृतीयः शाकटायनः। ततः प्रागाथमा नारी मार्कण्डो मरणः शिवः ॥४५॥
कटुर्मर्कटपश्चैव तथा नाडायनो ह्यृषिः। श्यामायनस्तथैवैषां त्र्यार्षेयाः प्रवराः शुभाः ॥४६॥
अङ्गिराश्चाजमीढश्च कत्यश्चैव महातपाः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥४७॥
तित्तिरिः कपिभूश्चैव गार्ग्यश्चैव महानृषिः। त्र्यार्षेयो हि मतस्तेषां सर्वेषां प्रवरः शुभः ॥४८॥
अङ्गिरास्तित्तिरिश्चैव कपिभूश्च महानृषिः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥४९॥
अथ ऋक्षभरद्वाजौ ऋषिवान् मानवस्तथा। ऋषिर्मैत्रवरश्चैव पञ्चार्षेयाः प्रकीर्तिताः ॥५०॥
अङ्गिरा सभरद्वाजस्तथैव च बृहस्पतिः।
ऋषिर्मैत्रवरश्चैव ऋषिवान् मानवस्तथा। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥५१॥
भारद्वाजो हुतः शौङ्गः शैशिरेयस्तथैव च। इत्येते कथिताः सर्वे द्व्यामुष्यायणगोत्रजाः ॥५२॥
पञ्चार्षेयास्तथा ह्येषां प्रवराः परिकीर्तिताः। अङ्गिराश्च भरद्वाजस्तथैव च बृहस्पतिः ॥५३॥
मौद्गल्यः शैशिरश्चैव प्रवराः परिकीर्तिताः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥५४॥
एते तवोक्ताङ्गिरसस्तु वंशे महानुभावा ऋषिगोत्रकाराः।
येषां तु नाम्ना परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥५५॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तनेऽङ्गिरोवंशकीर्तनं नाम षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९६॥

महातेजस्वी सात्यमुग्रि, हिरण्यस्तम्बि तथा मुद्‌गल—ये सभी अङ्गिरा, मत्स्यदग्ध तथा महातपस्वी मुद्‌गल—इन तीन ऋषियोंके प्रवर माने गये है। इन तीन ऋषियोके गोत्रोंमें उत्पन्न होनेवालोंका परस्पर विवाह नहीं होता। हसजिह्व, देवजिह्व, अग्निजिह्व, विराडप, अपाग्नेय, अश्वयु, परण्यस्त तथा विमौद्‌गल—ये सभी अङ्गिरा, ताण्डि तथा महातपस्वी मौद्‌गल्य—इन तीनों ऋषियोंके प्रवर माने गये हैं। इनके वंशधरोमे भी विवाह नहीं होता। अपाण्डु, गुरु, शाकटायन, प्रागाथमा, नारी, मार्कण्ड, मरण, शिव, कटु, मर्कटप, नाडायन तथा श्यामायन—ये सभी अङ्गिरा, अजमीढ तथा महातपस्वी कत्य—इन तीन ऋषियोंके प्रवरवाले माने गये है। इनमे भी परस्पर विवाह नहीं होते। तित्तिरि, कपिभू और महर्षि गार्ग्य—इन सबके अङ्गिरा, तित्तिरि तथा कपिभू नामक तीन प्रवर कहे गये हैं, जिनमें एक दूसरेका विवाह निषिद्ध है। ऋक्ष, भरद्वाज, ऋषिवान्, मानव तथा मैत्रवर—ये पाँच आर्षेय कहे गये हैं। इनके अङ्गिरा, भरद्वाज, बृहस्पति, मैत्रवर, ऋषिवान् तथा मानव नामक पाँच प्रवर हैं। इनमें परस्पर विवाह नहीं होता। भारद्वाज, हुत, शौङ्ग तथा शैशिरेय—ये सभी द्व्यामुष्यायण गोत्रमे उत्पन्न कहे गये हैं। इन सबके अङ्गिरा, भरद्वाज, बृहस्पति, मौद्‌गल्य तथा शैशिर नामक पाँच प्रवर है। इनमें भी परस्पर विवाह नहीं होता। इस प्रकार मैंने आपसे इस अङ्गिरा-वंशमें उत्पन्न होनेवाले गोत्रप्रवर्तक महानुभाव ऋषियोंका वर्णन कर दिया, जिनके नामका उच्चारण करनेसे पुरुष अपने सभी पापोसे छुटकारा पा लेता है ॥ ४१—५५ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तनप्रसङ्गमे अङ्गिरावंशवर्णन नामक एक सौ छानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९६ ॥

एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय

महर्षि अत्रिके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

अत्रिवंशसमुत्पन्नान् गोत्रकारान् निबोध मे। कर्दमायनशाखेयास्तथा शारायणाश्च ये ॥ १ ॥
उद्दालकिः शौणकर्णिरथः शौक्तवश्च ये। गौरग्रीवो गौरजिनस्तथा चैत्रायणाश्च ये ॥ २ ॥
अर्धपण्या वामरथ्या गोपनास्तकिबिन्दवः। कर्णजिह्वो हरप्रीतिर्लैद्राणिः शाकलायनिः ॥ ३ ॥
तैलपश्च सवैलेयो अत्रिर्गोणीपतिस्तथा। जलदो भगपादश्च सौपुष्पिश्च महातपाः ॥ ४ ॥
छन्दोगेयस्तथैतेषां त्र्यार्षेयाः प्रवरा मताः। श्यावाश्वश्च तथात्रिश्च आर्चनानश एव च ॥ ५ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः। दाक्षिर्बलिः पर्णविश्च ऊर्णुनाभिः शिलार्दनिः ॥ ६ ॥
बीजवापी शिरीषश्च मौञ्जकेशो गविष्ठिरः। भलन्दनस्तथैतेषां त्र्यार्षेयाः प्रवरा मताः ॥ ७ ॥
अत्रिर्गविष्ठिरश्चैव तथा पूर्वातिथिः स्मृतः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ८ ॥
आत्रेयपुत्रिकापुत्रानत ऊर्ध्वं निबोध मे। कालेयाश्च सवालेया वामरथ्यास्तथैव च ॥ ९ ॥
धात्रेयाश्चैव मैत्रेयास्त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः।
अत्रिश्च वामरथ्यश्च पौत्रिश्चैव महानृषिः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १० ॥
इत्यत्रिवंशप्रभवास्तवोक्ता महानुभावा नृप गोत्रकाराः।
येषां तु नाम्ना परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥ ११ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तनेऽत्रिवंशानुकीर्तनं नाम सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजेन्द्र ! अब मुझसे महर्षि अत्रिके वंशमें उत्पन्न हुए कर्दमायन तथा शारायणशाखीय गोत्रकर्ता मुनियोंका वर्णन सुनिये। ये हैं—उद्दालकि, शौणकर्णिरथ, शौक्तव, गौरग्रीव, गौरजिन, चैत्रायण, अर्धपण्य, वामरथ्य, गोपन, अस्तकि, बिन्दु, कर्णजिह्व, हरप्रीति, लैद्राणि, शाकलायनि, तैलप, सवैलेय, अत्रि, गोणीपति, जलद, भगपाद, महातपस्वी सौपुष्पि तथा छन्दोगेय—ये शारायणके वंशमें कर्दमायनशाखामें उत्पन्न हुए ऋषि हैं। इनके प्रवर श्यावाश्व, अत्रि और आर्चनानश—ये तीन हैं। इनमें परस्परमें विवाह नहीं होता। दाक्षि, बलि, पर्णवि, ऊर्णुनाभि, शिलार्दनि, बीजवापी, शिरीष, मौञ्जकेश, गविष्ठिर तथा भलन्दन—इन ऋषियोंके अत्रि, गविष्ठिर तथा पूर्वातिथि—ये तीन ऋषि प्रवर माने गये हैं। इनमें भी परस्पर विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध है। इसके बाद अब मुझसे अत्रिकी पुत्रिका आत्रेयीसे उत्पन्न प्रवरकर्ता ऋषियोंका विवरण सुनिये—कालेय, वालेय, वामरथ्य, धात्रेय तथा मैत्रेय—इन ऋषियोंके अत्रि, वामरथ्य और महर्षि पौत्रि—ये तीन प्रवर ऋषि माने गये हैं। इनमें भी परस्पर विवाह नहीं होता। राजन् ! इस प्रकार मैंने आपको इन अत्रिवंशमें उत्पन्न होनेवाले गोत्रकार महानुभाव ऋषियोंका नाम सुना दिया, जिनके नाम-संकीर्तनमात्रसे मनुष्य अपने सभी पाप-कर्मोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १—११ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तनप्रसङ्गमें अत्रिवंशवर्णन नामक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९७ ॥

एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय

प्रवरानुकीर्तनमें महर्षि विश्वामित्रके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

अत्रेरेवापरं वंशं तव वक्ष्यामि पार्थिव । अत्रेः सोमः सुतः श्रीमांस्तस्य वंशोद्भवो नृप ॥ १ ॥
विश्वामित्रस्तु तपसा ब्राह्मण्यं समवाप्तवान् । तस्य वंशमहं वक्ष्ये तन्मे निगदतः शृणु ॥ २ ॥
वैश्वामित्रो देवरातस्तथा वैकृतिगालवः । वतण्डश्च शलंकश्च ह्यभयश्चायतायनः ॥ ३ ॥
श्यामायना याज्ञवल्क्या जावालाः सैन्धवायनाः । वाभ्रव्याश्च करीषाश्च संश्रुत्या अथ संश्रुताः ॥ ४ ॥
उलूपा औपहावाश्च पयोदजनपादपाः । खरवाचो हलयमाः साधिता वास्तुकौशिकाः ॥ ५ ॥
त्र्यार्षेयाः प्रवरास्तेषां सर्वेषां परिकीर्तिताः । विश्वामित्रो देवरात उद्दालश्च महायशाः ॥ ६ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः । देवश्रवाः सुजातेयाः सौमुकाः कारुकायणाः ॥ ७ ॥
तथा वैदेहराताः ये कुशिकाश्च नराधिप । त्र्यार्षेयोऽभिमतस्तेषां सर्वेषां प्रवरः शुभः ॥ ८ ॥
देवश्रवा देवरातो विश्वामित्रस्तथैव च । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ९ ॥
धनंजयः कपर्देयः परिकूटश्च पार्थिव । पाणिनिश्चैव त्र्यार्षेयाः सर्व एते प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥
विश्वामित्रस्तथाद्यश्च माधुच्छन्दस एव च । त्र्यार्षेयाः प्रवरा ह्येते ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ ११ ॥
विश्वामित्रो मधुच्छन्दास्तथा चैवाघमर्षणः । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १२ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन् ! अब मैं आपसे महर्षि अत्रिके ही वंशमे उत्पन्न अन्य शाखाका वर्णन कर रहा हूँ । नरेश्वर ! महर्षि अत्रिके पुत्र श्रीमान् सोम हुए । उनके वंशमे विश्वामित्र उत्पन्न हुए, जिन्होने अपनी तपस्याके बलसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त किया । अब मै उनके वंशका वर्णन कर रहा हूँ, सुनिये । वैश्वामित्र (मधुच्छन्दा), देवरात, वैकृति, गालव, वतण्ड, शलंक, अभय, आयतायन, श्यामायन, याज्ञवल्क्य, जाबाल, सैन्धवायन, बाभ्रव्य, करीष, संश्रुत्य, संश्रुत, उलूप, औपहाय, पयोद, जनपादप, खरवाच्, हलयम, साधित तथा वास्तुकौशिक—इन सभी ऋषियोंके वंशमें उत्पन्न होनेवालोंमें विश्वामित्र, देवरात तथा महायशस्वी उद्दाल—ये तीन ऋषि प्रवर माने गये हैं । इनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता । नराधिप ! देवश्रवा, सुजातेय, सौमुक, कारुकायण, वैदेहरात तथा कुशिक—इन सभी महर्षियोंके वंशमे देवश्रवा, देवरात तथा विश्वामित्र—ये तीनों प्रवर माने गये है । इन वंशजोंमें परस्पर विवाह निषिद्ध है । राजन् ! धनंजय, कपर्देय, परिकूट तथा पाणिनि*—इनके वंशमें विश्वामित्र, धनंजय और माधुच्छन्दस—ये तीन प्रवर माने गये हैं । विश्वामित्र, मधुच्छन्दा और अघमर्षण—इन तीन ऋषियोंके वंशजोंमें भी परस्पर विवाह नहीं होते ॥ १–१२ ॥

कामलायनिजश्चैव अश्मरथ्यस्तथैव च । वञ्जुलिश्चापि त्र्यार्षेयः सर्वेषां प्रवरो मतः ॥ १३ ॥
विश्वामित्रश्चाश्मरथ्यो वञ्जुलिश्च महातपाः । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १४ ॥
विश्वामित्रो लोहितश्च अष्टकः पूरणस्तथा । विश्वामित्रः पूरणश्च तयोर्द्वौ प्रवरौ स्मृतौ ॥ १५ ॥
परस्परमवैवाह्याः पूरणाश्च परस्परम् । लोहिता अष्टकाश्चैषां त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः ॥ १६ ॥
विश्वामित्रो लोहितश्च अष्टकश्च महातपाः । अष्टका लोहितैर्नित्यमवैवाह्याः परस्परम् ॥ १७ ॥
उदरेणुः क्रथकश्च ऋषिश्चोदावहिस्तथा । आर्षेयोऽभिमतस्तेषां सर्वेषां प्रवरः स्मृतः ॥ १८ ॥
ऋणवन्गतिनश्चैव विश्वामित्रस्तथैव च । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १९ ॥
उदुम्बरः सैषिरिटिर्ऋषिस्त्राक्षापणिस्तथा ॥

* इससे सिद्ध है कि व्याकरण-कर्ता पाणिनि भी बहुत प्राचीन है ।

शाट्यायनिः करीराशी शालंकायनिलावकी । मौञ्जायनिश्च भगवांस्त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः ॥ २० ॥
खिलिखिलिस्तथा विद्यो विश्वामित्रस्तथैव च । परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ २१ ॥
एते तवोक्ताः कुशिका नरेन्द्र महानुभावाः सततं द्विजेन्द्राः ।
येषां तु नाम्नां परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥ २२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तने विश्वामित्रवंशानुवर्णनं नामाष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

कामलायनिज, अश्मरथ्य और वञ्जलि—इन ऋषियोंके विश्वामित्र, अश्मरथ्य और महातपस्वी वञ्जुलि—ये तीनों प्रवर माने गये हैं । इनमें भी परस्पर विवाह निषिद्ध है । विश्वामित्र, लोहित, अष्टक और पूरण—इनके विश्वामित्र और पूरण—ये दो प्रवर माने गये हैं । इनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध है । पूरण, लोहित तथा अष्टक—इन ऋषियोंके विश्वामित्र, लोहित तथा महातपस्वी अष्टक प्रवर माने गये हैं । इनमें अष्टक वंशवालोंका लोहित वंशवालोंके साथ परस्पर विवाह नहीं होता । उदरेणु, क्रथक तथा उदावहि—इन सबके ऋणवान्, गतिन तथा विश्वामित्र—ये तीन प्रवर माने गये हैं । इनमें परस्पर विवाह निषिद्ध है । उदुम्बर, शैविरिटि, त्राक्षायणि, शाट्यायनि, करीराशी, शालंकायनि, लावकि तथा ऐश्वर्यशाली मौञ्जायनि—इन ऋषियोंके खिलिखिलि, विद्य तथा विश्वामित्र—ये तीन ऋषि प्रवर माने गये हैं । इनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता । नरेन्द्र ! मैंने आपसे इन कुशिकवंशी महानुभाव द्विजेन्द्रोंका वर्णन कर चुका । इनके नाम-संकीर्तनसे मनुष्य समग्र पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३-२२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तन-प्रसङ्गमें विश्वामित्रवंशानुवर्णन नामक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९८ ॥

एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय

गोत्रप्रवर-कीर्तनमें महर्षि कश्यपके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य तथा कुले । गोत्रकारानृषीन् वक्ष्ये तेषां नामानि मे शृणु ॥ १ ॥
आश्रायणिऋषिगणो मेषकीरिटकायनाः । उदग्रजा माठराश्च भोजा विनयलक्षणाः ॥ २ ॥
शालाहलेयाः कौरिष्ठाः कन्यकाश्चासुरायणाः । मन्दाकिन्यां वै मृगयाः श्रोतना भौतपायनाः ॥ ३ ॥
देवयाना गोमयाना ह्यधश्छायाभयाश्च ये । कात्यायनाः शक्रयणा बर्हियोगगदायनाः ॥ ४ ॥
भवनन्दिर्महाचक्रिर्दाक्षपायण एव च । योधयानाः कार्तिक्यो हस्तिदानास्तथैव च ॥ ५ ॥
वात्स्यायना निकृतजा ह्याश्वलायनिनस्तथा । प्रागायणाः पैलमौलिराश्ववातायनस्तथा ॥ ६ ॥
कौबेरकाश्च श्याकारा अग्निशर्मायणाश्च ये । मेषपाः कैकरसपास्तथा चैव तु बभ्रवः ॥ ७ ॥
प्राचेयो ज्ञानसंज्ञेया आग्ना प्रासेव्य एव च । श्यामोदरा वैवशपास्तथा चैवोद्वलायनाः ॥ ८ ॥
काष्ठाहारिणमारीचा आजिहायनहास्तिकाः । वैकर्णेयाः काश्यपेयाः सासिसाहारितायनाः ॥ ९ ॥
मातङ्गिनश्च भृगवस्त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः । वत्सरः कश्यपश्चैव निधुवश्च महातपाः ॥ १० ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ।

*

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! महर्षि मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। अब मैं उन्हीं कश्यपके कुलमें जन्म लेनेवाले गोत्र-प्रवर्तक ऋषियोंका वर्णन कर रहा हूँ, उनके नाम मुझसे सुनिये—आश्रायणि, मेषकीरिटिकायन, उदग्रज, माठर, भोज, विनयलक्षण, शालाहलेय, कौरिष्टि, कन्यक, आसुरायण, मन्दाकिनीमें उत्पन्न मृगय, श्रोतन, मौतपायन, देवयान, गोमयान, अधश्छाय, अभय, कात्यायन, शाक्रायण, बर्हियोग, गदायन, भवनन्दि, महाचक्रि, दाक्षपायण, बोधयान, कार्तिक्य, हस्तिदान, वात्स्यायन, निकृतज, आश्वलायनी, प्रागायण, पैलमौलि, आश्ववातायन, कौवेरक, श्याकार, अग्निशर्मायण, मेषप, कैकरसप, बभ्रु, प्राचेय, ज्ञानसंज्ञेय, आग्न, प्रासेव्य, श्यामोदर, वैवशप, उद्वलायन, काष्ठाहारिण, मारीच, आजिहायन, हास्तिक, वैकर्णेय, काश्यपेय, सासि, साहारितायन, तथा मातङ्गी भृगु—इन ऋषियोंके वत्सर, कश्यप तथा महातपस्वी निध्रुव—ये तीन प्रवर माने गये हैं। इनमें भी आपसमें विवाह नहीं होता ॥१–१०½॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि द्व्यामुष्यायणगोत्रजान् ॥ ११ ॥
अनसूयो नाकुरयः स्नातपो राजवर्तपः। शैशिरोदवहिश्चैव सैरन्ध्री रौपसेवकिः ॥ १२ ॥
यामुनिः काद्रुपिङ्गाक्षिः सजातम्बिस्तथैव च। दिवावष्टाश्च इत्येते भक्त्या ज्ञेयाश्च काश्यपाः ॥ १३ ॥
त्र्यार्षेयाश्च तथैवेषां सर्वेषां प्रवराः शुभाः। वत्सरः कश्यपश्चैव वसिष्ठश्च महातपाः ॥ १४ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः। संयातिश्च नभश्चोभौ पिप्पल्योऽथ जलंधरः ॥ १५ ॥
भुजातपूरः पूर्यश्च कर्दमो गर्दभीमुखः। हिरण्यबाहुकैरातावुभौ काश्यपगोभिलौ ॥ १६ ॥
कुलहो वृषकण्डश्च मृगकेतुस्तथोत्तरः। निदाघमसृणौ भर्त्स्यौ महान्तः केरलाश्च ये ॥ १७ ॥
शाण्डिल्यो दानवश्चैव तथा वै देवजातयः। पैप्पलादिः सप्रवरा ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥
त्र्यार्षेयाभिमताश्चैषां सर्वेषां प्रवराः शुभाः।
असितो देवलश्चैव कश्यपश्च महातपाः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥ १९ ॥
ऋषिप्रधानस्य च कश्यपस्य दाक्षायणीभ्यः सकलं प्रसूतम्।
जगत्समग्रं मनुसिंह पुण्यं किं ते प्रवक्ष्याम्यहमुत्तरं तु ॥ २० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तने कश्यपवंशवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इसके उपरान्त अब मैं द्व्यामुष्यायणके गोत्रमें उत्पन्न ऋषियोंके नामोंको बतला रहा हूँ—अनसूय, नाकुरय, स्नातप, राजवर्तप, शैशिर, उदवहि, सैरन्ध्री, रौपसेवकि, यामुनि, काद्रुपिंगाक्षि, सजातम्बि तथा दिवावष्ट—इन्हें भक्तिपूर्वक कश्यपके वंशमे उत्पन्न समझना चाहिये। इन सभी ऋषियोंके वत्सर, कश्यप तथा महातपस्वी वसिष्ठ—ये तीनों प्रवर माने गये हैं। इनमें भी परस्पर विवाह निषिद्ध है। संयाति, नभ, पिप्पल्य, जलंधर, भुजातपूर, पूर्य, कर्दम, गर्दभीमुख, हिरण्यबाहु, कैरात, काश्यप, गोभिल, कुलह, वृषकण्ड, मृगकेतु, उत्तर, निदाघ, मसृण, भर्त्स्य, महान्, केरल, शाण्डिल्य, दानव, देवजाति तथा पैप्पलादि—इन सभी ऋषियोंके असित, देवल तथा महातपस्वी कश्यप—ये तीनों ऋषि प्रवर माने गये हैं। इनमे भी परस्पर विवाह निषिद्ध है। मनुओंमें श्रेष्ठ राजन्! ऋषियोंमें प्रमुख कश्यपद्वारा दाक्षायणीके गर्भसे इस समग्र जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। अतः उनके वंशका यह विवरण अति पुण्यदायक है। इसके पश्चात् अब मैं तुमसे किस पवित्र कथाका वर्णन करूँ? ॥ ११–२० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तन-प्रसङ्गमें कश्यप-वंश-वर्णन नामक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १९९ ॥

वसिष्ठवंशेऽभिहिता मयैते ऋषिप्रधानाः सततं द्विजेन्द्राः।
येषां तु नाम्नां परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥ २० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तने वसिष्ठगोत्रानुवर्णनं नाम द्विशततमोऽध्यायः ॥२०० ॥

नरोत्तम ! औपस्थल, अस्वस्थलय, वाल, हाल, हल, मध्यन्दिन, माक्षतय, पैप्पलादि, विचक्षुष, त्रैशुङ्गायण, सैबल्क तथा कुण्डिन—इन सभी ऋषियोंके वसिष्ठ, मित्रावरुण तथा महातपस्वी कुण्डिन—ये तीन प्रवर माने गये हैं। दानकाय, महावीर्य, नागेय, परम, आलम्ब, वायन तथा चक्रोड आदि—इनमे परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। राजन् ! शिवकर्ण, वय तथा पादप—इन सभीके जातूकर्ण्य, वसिष्ठ तथा अत्रि—ये तीन प्रवर कहे गये हैं। इनमें परस्पर विवाह नहीं होता। इस प्रकार महर्षि वसिष्ठके गोत्रमें उत्पन्न हुए ऋषियोंकी नामावलि मै आपसे बता चुका। इनके नामोंके संकीर्तन-से मनुष्य सभी पापोसे मुक्त हो जाता है ॥१४—२०॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तन-प्रसङ्गमें वसिष्ठगोत्रानुवर्णन नामक दो सौवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥२००॥

दो सौ एकवाँ अध्याय

प्रवरानुकीर्तनमें महर्षि पराशरके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

वसिष्ठस्तु महातेजा निमेः पूर्वपुरोहितः। बभूवुः पार्थिवश्रेष्ठ यज्ञास्तस्य समंततः ॥ १ ॥
श्रान्तात्मा पार्थिवश्रेष्ठ विशश्राम तदा गुरुः। तं गत्वा पार्थिवश्रेष्ठो निमिर्वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
भगवन् यष्टुमिच्छामि तन्मां याजय मा चिरम्। तमुवाच महातेजा वसिष्ठः पार्थिवोत्तमम् ॥ ३ ॥
कंचित्कालं प्रतीक्षस्व तव यज्ञैः सुसत्तमैः। श्रान्तोऽस्मि राजन् विश्रम्य याजयिष्यामि ते नृप ॥ ४ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच वसिष्ठं नृपसत्तमः। पारलौकिककार्ये तु कः प्रतीक्षितुमुत्सहेत् ॥ ५ ॥
न च मे सौहृदं ब्रह्मन् कृतान्तेन बलीयसा। धर्मकार्ये त्वरा कार्या चलं यस्माद्धि जीवितम् ॥ ६ ॥
धर्मपथ्यौदनो जन्तुर्मृतोऽपि सुखमश्नुते। श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ॥ ७ ॥
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं चास्य न वाकृतम्। क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्रगतमानसम् ॥ ८ ॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति। न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते ॥ ९ ॥
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम्। प्राणवायोश्चलत्वं च त्वया विदितमेव च ॥ १० ॥
यदत्र जीव्यते ब्रह्मन् क्षणमात्रं तदद्भुतम्। शरीरं शाश्वतं मन्ये विद्याभ्यासे धनार्जने ॥ ११ ॥
अशाश्वतं धर्मकार्ये ऋणवानस्मि संकटे। सोऽहं सम्भृतसम्भारो भवन्मूलमुपागतः ॥ १२ ॥
न चेद् याजयसे मां त्वमन्यं यास्यामि याजकम्।

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजसत्तम ! महातेजस्वी वसिष्ठजी निमिके पूर्व पुरोहित थे। उनके सदा चारों ओर यज्ञ होते रहते थे। पार्थिवश्रेष्ठ ! किसी समय यज्ञोका सम्पादन करानेसे श्रान्त हुए गुरु वसिष्ठ विश्राम कर रहे थे, उसी समय राजाओंमें श्रेष्ठ निमिने उनके पास जाकर इस प्रकार कहा—'भगवन् ! मै यज्ञ करना चाहता हूँ, अतः मेरा यज्ञ कराइये, देर मत कीजिये।' यह सुनकर महातेजस्वी वसिष्ठजीने राजश्रेष्ठ निमिसे कहा—'राजन् ! मै आपके श्रेष्ठ यज्ञोका अनुष्ठान करानेसे थक गया हूँ, अतः कुछ कालतक प्रतीक्षा कीजिये। नरेश ! विश्राम कर लेनेके बाद मै पुनः आपका यज्ञ कराऊँगा।' ऐसा कहे जानेपर राजश्रेष्ठ निमिने

वसिष्ठजीको इस प्रकार उत्तर दिया—'ब्रह्मन् ! परलोक-सम्बन्धी कार्यमें कौन मनुष्य प्रतीक्षा करना चाहेगा ? बलवान् यमराजसे मेरी कोई मित्रता तो है नहीं, अतः धर्मकार्यमें शीघ्रता ही करनी चाहिये; क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है। धर्मरूप ओदनको पथ्य बनानेवाला प्राणी मरनेपर भी सुखका उपभोग करता है। इसलिये कल होनेवाले कार्यको आज ही एवं दूसरे प्रहरमें सम्पादित होनेवाले कार्यको पूर्वप्रहरमें ही सम्पन्न कर लेना चाहिये; क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कार्य कर लिया है अथवा नहीं। अतः मृत्यु खेत, बाजार और गृहमें आसक्त या अन्यत्र कहीं आसक्त मनवाले मनुष्यको उसी प्रकार लेकर चल देती है, जैसे भेड़िया मृगके बच्चेको लेकर चला जाता है। कालका न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेष्य ही है। आयुके साधक कर्मके क्षीण होते ही वह बलपूर्वक मनुष्यका अपहरण कर लेता है। प्राणवायुकी चञ्चलता तो आप भी जानते ही हैं। ब्रह्मन् ! ऐसी दशामें जो क्षणमात्र भी जीवित रहता है, यही आश्चर्य है। विद्याके अभ्यास और धनके उपार्जनमें शरीरको चिरस्थायी समझना चाहिये, किंतु धर्म-कार्यमें उसे क्षणभङ्गुर मानना चाहिये। ऐसे संकटके समय मैं ऋणी बन गया हूँ, अतः मैं सभी द्रव्योंका आयोजन कर आपके चरणोंके निकट आया हूँ। यदि इस समय आप मेरा यज्ञ नहीं करायेंगे तो मैं किसी अन्य याजकके पास जाऊँगा' ॥१—१२½॥

एवमुक्तस्तदा तेन निमिना ब्राह्मणोत्तमः ॥ १३ ॥
शशाप तं निमिं क्रोधाद् विदेहस्त्वं भविष्यसि। श्रान्तं मां त्वं समुत्सृज्य यस्मादन्यं द्विजोत्तमम् ॥ १४ ॥
धर्मज्ञस्तु नरेन्द्र त्वं याजकं कर्तुमिच्छसि। निमिस्तं प्रत्युवाचाथ धर्मकार्यरतस्य मे ॥ १५ ॥
विघ्नं करोषि नान्येन याजनं च तथेच्छसि। शापं ददामि तस्मात् त्वं विदेहोऽद्य भविष्यसि ॥ १६ ॥
एवमुक्ते तु तौ जातौ विदेहौ द्विजपार्थिवौ। देहहीनौ तयोर्जीवौ ब्रह्माणमुपजग्मतुः ॥ १७ ॥
तावागतौ समीक्ष्याथ ब्रह्मा वचनमब्रवीत्। अद्यप्रभृति ते स्थानं निमिजीव ददाम्यहम् ॥ १८ ॥
नेत्रपक्ष्मसु सर्वेषां त्वं वसिष्यसि पार्थिव। त्वत्सम्बन्धात् तथा तेषां निमेषः सम्भविष्यति ॥ १९ ॥
चालयिष्यन्ति तु तदा नेत्रपक्ष्माणि मानवाः। एवमुक्तो मनुष्याणां नेत्रपक्ष्मसु सर्वशः ॥ २० ॥
जगाम निमिजीवस्तु वरदानात् स्वयम्भुवः।

तब उन निमिद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर ब्राह्मण-श्रेष्ठ वसिष्ठने क्रोधपूर्वक निमिको शाप देते हुए कहा—'नरेन्द्र ! यदि तुम धर्मके ज्ञाता होकर भी मुझ थके हुए पुरोहितका परित्याग कर किसी अन्य ब्राह्मणश्रेष्ठको याजक बनाना चाहते हो तो तुम शरीररहित हो जाओगे।' तब निमिने उत्तर दिया—'मैं धार्मिक कार्यके लिये उद्यत हूँ, किंतु आप इसमें विघ्न डाल रहे हैं तथा दूसरेके द्वारा यज्ञ सम्पन्न होने देना भी नहीं चाहते, अतः मैं भी आपको शाप दे रहा हूँ कि आप भी विदेह हो जायँगे।' ऐसा कहते ही वे दोनों ब्राह्मण और राजा शरीररहित हो गये। तब उन दोनोंके देहहीन जीव ब्रह्माके पास गये। उन दोनोंको आया हुआ देखकर ब्रह्मा इस प्रकार बोले—'निमिरूप जीव ! आजसे मैं तुम्हारे लिये एक स्थान दे रहा हूँ। राजन् ! तुम सभी प्राणियोंके नेत्रोंके पलकोंमें निवास करोगे। तुम्हारे संयोगसे ही उनके निमेष-उन्मेष (आँखका खुलना और बंद होना) होंगे। तब सभी मानव नेत्रोंके पलकोंको चलाते रहेंगे।' इस प्रकार कहे जानेपर निमिका जीव ब्रह्माके वरदानसे सभी मनुष्योंके नेत्र-पलकोंपर स्थित हो गया ॥१३—२०½॥

वसिष्ठजीवो भगवान् ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रो वसिष्ठ त्वं भविष्यसि। वसिष्ठेति च ते नाम तत्रापि च भविष्यति ॥ २२ ॥

जन्मद्वयमतीतं च तत्रापि त्वं स्मरिष्यसि। एतस्मिन्नेव काले तु मित्रश्च वरुणस्तथा ॥ २३ ॥
बदर्याश्रममासाद्य तपस्तेपतुरव्ययम्। तपस्यतोस्तयोरेवं कदाचिन्माधवे ऋतौ ॥ २४ ॥
पुष्पितद्रुमसंस्थाने शुभे दयितमारुते। उर्वशी तु वरारोहा कुर्वती कुसुमोच्चयम् ॥ २५ ॥
सुसूक्ष्मरक्तवसना तयोर्दृष्टिपथं गता। तां दृष्ट्वेन्दुमुखीं सुभ्रूं नीलनीरजलोचनाम् ॥ २६ ॥
उभौ चुक्षुभतुर्देवौ तद्रूपपरिमोहितौ। तपस्यतोस्तयोर्वीर्यमस्खलच्च मृगासने ॥ २७ ॥
स्कन्नं रेतस्ततो दृष्ट्वा शापभीता वराप्सरा। चकार कलशे शुक्रं तोयपूर्णे मनोरमे ॥ २८ ॥
तस्मादृषिवरौ जातौ तेजसाप्रतिमौ भुवि। वसिष्ठश्चाप्यगस्त्यश्च मित्रावरुणयोः सुतौ ॥ २९ ॥
वसिष्ठस्तूपयेमेऽथ भगिनीं नारदस्य तु। अरुंधतीं वरारोहां तस्यां शक्तिमजीजनत् ॥ ३० ॥
शक्तेः पराशरः पुत्रस्तस्य वंशं निबोध मे। यस्य द्वैपायनः पुत्रः स्वयं विष्णुरजायत ॥ ३१ ॥
प्रकाशो जनितो लोके येन भारतचन्द्रमाः।
येनाज्ञानतमोऽन्धस्य लोकस्योन्मीलनं कृतम्। पराशरस्य तस्य त्वं शृणु वंशमनुत्तमम् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भगवान् ब्रह्माने वसिष्ठके जीवसे कहा—'वसिष्ठ ! तुम मित्रावरुणके पुत्र होओगे। वहाँ भी तुम्हारा नाम वसिष्ठ ही होगा और तुम्हें बीते हुए दो जन्मोंका स्मरण बना रहेगा।' इसी समय मित्र और वरुण—दोनों बदरिकाश्रममें आकर दुष्कर तपस्यामें तत्पर थे। इस प्रकार उन दोनोंके तपस्यामें रत रहनेपर किसी समय वसन्त ऋतुमें जब सभी वृक्ष और लताएँ पुष्पित थीं, मन्द-मन्द मनोहर पवन प्रवाहित हो रहा था, सुन्दरी उर्वशी पुष्पोंको चुनती हुई वहाँ आयी। वह महीन लाल वस्त्र धारण किये हुए थी। संयोगवश वह उन दोनों तपस्वियोंकी आँखोंके सामने आ गयी। उसके नेत्र नील कमलके समान थे तथा मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर था। उस सुन्दर भौंहोंवाली उर्वशीको देखकर उसके रूपपर मोहित हो उन दोनों तपस्वियोंका मन क्षुब्ध हो उठा। तब तपस्या करते हुए ही उन दोनोंका वीर्य मृगासनपर स्खलित हो गया। तब शापसे भयभीत हुई सुन्दरी उर्वशीने उस वीर्यको जलपूर्ण मनोरम कलशमें रख दिया। उस कलशसे वसिष्ठ और अगस्त्य नामक दो ऋषिश्रेष्ठ उत्पन्न हुए, जो भूतलपर अनुपम तेजस्वी थे। वे मित्र और वरुणके पुत्र कहलाये। तदनन्तर वसिष्ठने देवर्षि नारदकी बहन सुन्दरी अरुन्धतीसे विवाह किया और उसके गर्भसे शक्ति नामक पुत्रको उत्पन्न किया। शक्तिके पुत्र पराशर हुए। अब मुझसे उनके वंशका वर्णन सुनिये। स्वयं भगवान् विष्णु पराशरके पुत्र-रूपमें द्वैपायन नामसे उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस लोकमें भारतरूपी चन्द्रमाको प्रकाशित किया, जिससे अज्ञानान्धकारसे अन्धे हुए लोगोंके नेत्र खुल गये। अब उन पराशरके श्रेष्ठ वंशकी परम्परा सुनिये ॥ २१—३२ ॥

काण्डशयो वाहनपो जैह्मपो भौमतापनः। गोपालिरेषां पञ्चम एते गौराः पराशराः ॥ ३३ ॥
प्रपोहया वाह्यमयाः ख्यातेयाः कौतुजातयः। हर्यश्विः पञ्चमो ह्येषां नीला ज्ञेयाः पराशराः ॥ ३४ ॥
कार्ष्णायनाः कपिमुखाः काकेयस्था जपातयः। पुष्करः पञ्चमश्चैषां कृष्णा ज्ञेयाः पराशराः ॥ ३५ ॥
श्राविष्ठायनवालेयाः स्वायष्टाश्चोपयाश्च ये। इषीकहस्तश्चैते वै पञ्च श्वेताः पराशराः ॥ ३६ ॥
वाटिको वादरिश्चैव स्तम्बा वै क्रोधनायनाः। क्षैमिरेषां पञ्चमस्तु एते श्यामाः पराशराः ॥ ३७ ॥
खल्यायना वार्ष्णायनास्तैलेयाः खलु यूथपाः। तन्तिरेषां पञ्चमस्तु एते धूम्राः पराशराः ॥ ३८ ॥
पराशराणां सर्वेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो मतः।
पराशरश्च शक्तिश्च वसिष्ठश्च महातपाः। परस्परमवैवाह्या सर्वे एते पराशराः ॥ ३९ ॥
उक्तास्त्वेते नृप वंशमुख्याः पराशराः सूर्यसमप्रभावाः।
येषां तु नाम्नां परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥ ४० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तने पराशरवंशवर्णनं नामैकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

काण्डशय, वाहनप, जैह्मप, भौमतापन और पाँचवें गोपालि—ये गौर पराशर नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रपोहय, वाह्यमय, ख्यातेय, कौतुजाति और पाँचवें हर्यश्वि—इन्हें नील पराशर जानना चाहिये। कार्ष्णायन, कपिमुख, काकेयस्थ, जपाति और पाँचवें पुष्कर—इन्हें कृष्ण पराशर समझना चाहिये। श्राविष्ठायन, वालेय, स्वायष्ट, उपय और इषीकहस्त—ये पाँच श्वेत पराशर हैं। वाटिक, बादरि, स्तम्ब, क्रोधनायन और पाँचवें क्षैमि—ये श्याम पराशर हैं। खल्यायन, वार्ष्णायन, तैलेय, यूथप और पाँचवें तन्ति—ये धूम्र पराशर हैं। इन सभी पराशरोंके पराशर, शक्ति और महातपस्वी वसिष्ठ—ये तीन ऋषि प्रवर माने गये हैं। इन सभी पराशरोंका परस्पर विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध है। राजन्! मैंने आपसे सूर्यके समान प्रभावशाली पराशरवंशी गोत्रप्रवर्तक ऋषियोंका वर्णन कर दिया। इनके नामोंके परिकीर्तनसे मनुष्य सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥३३—४०॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तनमें पराशर-वंश-वर्णन नामक दो सौ एकवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥२०१॥

दो सौ दोवाँ अध्याय

गोत्रप्रवरकीर्तनमें महर्षि अगस्त्य, पुलह, पुलस्त्य और क्रतुकी शाखाओंका वर्णन

मत्स्य उवाच

अतः परमगस्त्यस्य वक्ष्ये वंशोद्भवान् द्विजान्। अगस्त्यश्च करम्भश्च कौसल्याः शकटास्तथा ॥ १ ॥
सुमेधसो मयोभुवस्तथा गान्धारकायणाः। पौलस्त्याः पौलहाश्चैव क्रतुवंशभवास्तथा ॥ २ ॥
त्र्यार्षेयाभिमताश्चैषां सर्वेषां प्रवराः शुभाः। अगस्त्यश्च महेन्द्रश्च ऋषिश्चैव मयोभुवः ॥ ३ ॥
परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः। पौर्णमासाः पारणाश्च त्र्यार्षेयाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥
अगस्त्यः पौर्णमासश्च पारणश्च महातपाः। परस्परमवैवाह्याः पौर्णमासास्तु पारणैः ॥ ५ ॥
एवमुक्तो ऋषीणां तु वंश उत्तमपौरुषः। अतः परं प्रवक्ष्यामि किं भवानद्य कथ्यताम् ॥ ६ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! इसके बाद अब मैं अगस्त्यके वंशमें उत्पन्न हुए द्विजोंका वर्णन कर रहा हूँ। अगस्त्य, करम्भ, कौसल्य, शकट, सुमेधा, मयोभुव, गान्धारकायण, पौलस्त्य, पौलह तथा क्रतु-वंशोत्पन्न—इनके अगस्त्य, महेन्द्र और महर्षि मयोभुव—ये तीन शुभ प्रवर माने गये हैं। इनमें परस्पर विवाह नहीं होता। पौर्णमास और पारण—इन ऋषियोंके अगस्त्य, पौर्णमास और महातपस्वी पारण—ये तीन प्रवर हैं। पौर्णमासोंका पारणोंके साथ विवाह निषिद्ध है। राजन्! इस प्रकार मैंने ऋषियोंके उत्तम पुरुषोंसे परिपूर्ण वंशका वर्णन कर दिया। इसके बाद अब मैं किसका वर्णन करूँ, यह अब आप बतलाइये ॥ १—६ ॥

मनुरुवाच

पुलहस्य पुलस्त्यस्य क्रतोश्चैव महात्मनः। अगस्त्यस्य तथा चैव कथं वंशस्तदुच्यताम् ॥ ७ ॥

मनुजीने पूछा—भगवन्! पुलह, पुलस्त्य, महात्मा क्रतु और अगस्त्यका वंश कैसा था, इसे बतलाइये ॥ ७ ॥

मत्स्य उवाच

क्रतुः खल्वनपत्योऽभूद् राजन् वैवस्वतेऽन्तरे। इध्मवाहं स पुत्रत्वे जग्राह ऋषिसत्तमः ॥ ८ ॥
अगस्त्यपुत्रं धर्मज्ञमागस्त्याः क्रतवस्ततः। पुलहस्य तथा पुत्रास्त्रयश्च पृथिवीपते ॥ ९ ॥
तेषां तु जन्म वक्ष्यामि उत्तरत्र यथाविधि। पुलहस्तु प्रजां दृष्ट्वा नातिप्रीतमनाः स्वकाम् ॥ १० ॥
अगस्त्यजं दृढास्यं तु पुत्रत्वे वृतवांस्ततः। पौलहाश्च तथा राजन्नागस्त्याः परिकीर्तिताः ॥ ११ ॥

पुलस्त्यान्वयसम्भूतान् दृष्ट्वा रक्षःसमुद्भवान्। अगस्त्यस्य सुतं धीमान् पुत्रत्वे वृतवांस्ततः ॥ १२ ॥
पौलस्त्याश्च तथा राजन्नागस्त्याः परिकीर्तिताः। सगोत्रत्वादिमे सर्वे परस्परमनन्वयाः ॥ १३ ॥
एते तवोक्ताः प्रवरा द्विजानां महानुभावा नृप वंशकाराः।
एषां तु नाम्नां परिकीर्तितेन पापं समग्रं पुरुषो जहाति ॥ १४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे प्रवरानुकीर्तने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

मत्स्यभगवान् बोले—राजन्! वैवस्वत-मन्वन्तरमें क्रतु जब संतानहीन हो गये, तब उन ऋषिश्रेष्ठने अगस्त्यके धर्मज्ञ पुत्र इध्मवाहको पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया। तभीसे अगस्त्यवंशी क्रतुवंशी कहलाने लगे। भूपाल! पुलहके तीन पुत्र थे, उनका जन्मवृत्तान्त मैं आगे विधिपूर्वक वर्णन करूँगा। पुलहका मन अपनी संतानको देखकर प्रसन्न नहीं रहता था, अतः उन्होंने अगस्त्यके पुत्र दृढास्यको पुत्ररूपमें वरण कर लिया। राजन्! इसीलिये पुलहवंशी अगस्त्यवंशीके नामसे कहे जाते हैं। पुलस्त्य ऋषि अपनी संततिको राक्षसोंसे उत्पन्न होते देखकर अत्यन्त दुःखी हुए। तब उन बुद्धिमान्ने अगस्त्यके पुत्रको पुत्ररूपमें वरण कर लिया। राजन्! तभीसे पुलस्त्यवंशी भी अगस्त्यवंशी कहलाने लगे। सगोत्र होनेके कारण इन सभीमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध वर्जित है। नरेश! इस प्रकार मैंने ब्राह्मणोंके वंशप्रवर्तक महानुभाव प्रवरोंका वर्णन कर दिया। इन लोगोंके नामोंका कीर्तन करनेसे मानवके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ८—१४ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके प्रवरानुकीर्तनमें अगस्त्यवंश-वर्णन नामक दो सौ दोवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥२०२॥

दो सौ तीनवाँ अध्याय

प्रवरकीर्तनमें धर्मके वंशका वर्णन

मत्स्य उवाच

अस्मिन् वैवस्वते प्राप्ते शृणु धर्मस्य पार्थिव। दाक्षायणीभ्यः सकलं वंशं दैवतमुत्तमम् ॥ १ ॥
पर्वतादिमहादुर्गशरीराणि नराधिप। अरुन्धत्याः प्रसूतानि धर्माद् वैवस्वतेऽन्तरे ॥ २ ॥
अष्टौ च वसवः पुत्राः सोमपाश्च विभोस्तथा। धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैवानलानिलौ ॥ ३ ॥
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः। धरस्य पुत्रो द्रविणः कालः पुत्रो ध्रुवस्य तु ॥ ४ ॥
कालस्यावयवानां तु शरीराणि नराधिप। मूर्तिमन्ति च कालाद्धि सम्प्रसूतान्यशेषतः ॥ ५ ॥
सोमस्य भगवान् वर्चाः श्रीमांश्चापस्य कीर्त्यते। अनेकजन्मजननः कुमारस्त्वनलस्य तु ॥ ६ ॥
पुरोजवाश्चानिलस्य प्रत्यूषस्य तु देवलः। विश्वकर्मा प्रभासस्य त्रिदशानां स वर्धकिः ॥ ७ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! इस वैवस्वत मन्वन्तरके प्राप्त होनेपर धर्मने दक्षकी कन्याओंके गर्भसे जिस उत्तम देव-वंशका विस्तार किया, उसका वर्णन सुनिये। नरेश्वर! इस वैवस्वत मन्वन्तरमें धर्मके द्वारा अरुन्धतीके गर्भसे पर्वत आदि एवं महादुर्गके समान विशालकाय संतान उत्पन्न हुए तथा उन्हीं सर्वव्यापी धर्मसे आठ सोमपायी पुत्र उत्पन्न हुए, जो वसु कहलाते हैं। उनके नाम हैं—धर, ध्रुव, सोम, आप, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं। धरका पुत्र द्रविण और ध्रुवका पुत्र काल हुआ। नरेश! कालके अवयवोंके जितने मूर्तिमान् शरीर हैं, वे सभी कालसे ही उत्पन्न हुए हैं। सोमके प्रभावशाली पुत्रको वर्चा और आपके पुत्रको श्रीमान् कहा जाता

है। अनेक जन्म धारण करनेवाला कुमार अनलका देवल हुआ। प्रभासका पुत्र विश्वकर्मा हुआ जो पुत्र हुआ। अनिलका पुत्र पुरोजव और प्रत्युपका पुत्र देवताओंका बढ़ई है ॥१–७॥

समीहितकराः प्रोक्ता नागवीथ्यादयो नव। लम्बापुत्रः स्मृतो घोषो भानोः पुत्राश्च भानवः ॥ ८ ॥
ग्रहर्क्षाणां च सर्वेषामन्येषां चामितौजसाम्। मरुत्वत्यां मरुत्वन्तः सर्वे पुत्राः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥
संकल्पायाश्च संकल्पस्तथा पुत्रः प्रकीर्तितः। मुहूर्ताश्च मुहूर्तायाः साध्याः साध्यासुताः स्मृताः ॥ १० ॥
मनो मनुश्च प्राणश्च नरोपा नोच वीर्यवान्। चित्तहार्योऽयनश्चैव हंसो नारायणस्तथा ॥ ११ ॥
विभुश्चापि प्रभुश्चैव साध्या द्वादश कीर्तिताः। विश्वायाश्च तथा पुत्रा विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥
क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालकामो मुनिस्तथा। कुरजो मनुजो वीजो रोचमानश्च ते दश ॥ १३ ॥
एतावदुक्तस्तव धर्मवंशः संक्षेपतः पार्थिववंशमुख्य।
व्यासेन वक्तुं न हि शक्यमस्ति राजन् विना वर्षशतैरनेकैः ॥ १४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे धर्मवंशवर्णने धर्मप्रवरानुकीर्तनं नाम त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

नागवीथी आदि नव सन्तति अभीष्टको पूर्ण करनेवाली है। लम्बाका पुत्र घोष और भानुके पुत्र भानव (बारह आदित्य) कहे गये हैं, जो ग्रहों, नक्षत्रों एवं अन्य सभी अमित ओजस्वियोंमें बढ़-चढ़कर हैं। सभी मरुद्गण मरुत्वतीके पुत्र हैं तथा संकल्पाका पुत्र संकल्प कहा जाता है। मुहूर्ताके पुत्र मुहूर्त और साध्याके पुत्र साध्यगण कहे गये हैं। मन, मनु, प्राण, नरोपा, नोच, वीर्यवान्, चित्तहार्य, अयन, हंस, नारायण, विभु और प्रभु—ये बारह साध्य कहे गये हैं। विश्वाके पुत्र विश्वेदेव कहे जाते हैं। क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, कालकाम, मुनि, कुरज, मनुज, वीज और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं। राजवंशश्रेष्ठ! मैंने आपसे यहाँतक धर्मके वंशका संक्षेपसे वर्णन कर दिया। राजन्! अनेक सैकड़ों वर्षोंके विना इसका विस्तारसे वर्णन करना सम्भव नहीं है ॥८–१४॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके धर्मवंशवर्णनमें धर्म-प्रवरानुकीर्तन नामक दो सौ तीनवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २०३ ॥

दो सौ चारवाँ अध्याय

श्राद्धकल्प—पितृगाथा-कीर्तन

मत्स्य उवाच

एतद्वंशभवा विप्राः श्राद्धे भोज्याः प्रयत्नतः। पितॄणां वल्लभं यस्मादेषु श्राद्धं नरेश्वर ॥ १ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृभिर्याः प्रकीर्तिताः। गाथाः पार्थिवशार्दूल कामयद्भिः पुरे स्वके ॥ २ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यो नो दद्याज्जलाञ्जलिम्। नदीषु बहुतोयासु शीतलासु विशेषतः ॥ ३ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यः श्राद्धं नित्यमाचरेत्। पयोमूलफलैर्भक्ष्यैस्तिलतोयेन वा पुनः ॥ ४ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्। पायसं मधुसर्पिर्भ्यां वर्षासु च मघासु च ॥ ५ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं खड्गमांसेन यः सकृत्। श्राद्धं कुर्यात् प्रयत्नेन कालशाकेन वा पुनः ॥ ६ ॥
कालशाकं महाशाकं मधु मुन्यन्नमेव च। विषाणवर्ज्या ये खड्गा आसूर्यं तदशीमहि ॥ ७ ॥
गयायां दर्शने राहोः खड्गमांसेन योगिनाम्। भोजयेत् कः कुलेऽस्माकं छायायां कुञ्जरस्य च ॥ ८ ॥
आकल्पकालिकी तृप्तिस्तेनास्माकं भविष्यति। दाता सर्वेषु लोकेषु कामचारो भविष्यति ॥ ९ ॥
आभूतसम्प्लवं कालं नात्र कार्या विचारणा। यदेतत्पञ्चकं तस्मादेकेनापि वयं सदा ॥ १० ॥
तृप्तिं प्राप्स्याम चानन्तां किं पुनः सर्वसम्पदा। अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं दद्यात् कृष्णाजिनं च यः ॥ ११ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—नरेश्वर ! इन धर्मके वंशमें उत्पन्न हुए विप्रोंको श्राद्धमें प्रयत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिये; क्योंकि इन ब्राह्मणोंके सम्बन्धसे किया हुआ श्राद्ध पितरोंको अतिशय प्रिय है। राजसिंह ! इसके बाद अब मैं उस गाथाका वर्णन कर रहा हूँ, जिसका अपने पुरमें स्थित कामना करनेवाले पितरोंने कथन किया था। क्या हमलोगोंके वंशमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो अधिक एवं शीतल जलवाली नदियोंमें जाकर हमलोगोंको जलाञ्जलि देगा ? क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो दूध, मूल, फल और खाद्य सामग्रियोंसे या तिलसहित जलसे नित्य श्राद्ध करेगा ? क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो वर्षा ऋतुके मघानक्षत्रकी त्रयोदशी तिथिको मधु और घीसे मिश्रित दूधमें पका हुआ खाद्य पदार्थ हमें समर्पित करेगा ? क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो कालशाकसे श्राद्ध करेगा ? कालशाक, महाशाक, मधु और मुनिजनोंके अनुकूल अन्नोंको हमलोग सूर्यास्तसे पूर्व ही ग्रहण करते हैं। हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कौन व्यक्ति सूर्यग्रहणके अवसरपर अर्थात् राहुके दर्शनकालतक गयातीर्थमें एवं गजच्छाया-योगमें योगियोंको फलके गूदेका भोजन करायेगा ? इन खाद्य पदार्थोंसे हमलोगोंको कल्पपर्यन्त तृप्ति बनी रहती है और दाता प्रलयकालपर्यन्त सभी लोकोंमें स्वेच्छानुसार विचरण करता है—इसमें अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। पूर्वकथित इन पाँचोंमेंसे एकसे भी हमलोग सदा अनन्त तृप्ति प्राप्त करते हैं, फिर सभीके द्वारा करनेपर तो कहना ही क्या है ? क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होगा, जो कृष्णमृगचर्मका दान देगा ? ॥ १—११ ॥

अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं कश्चित् पुरुषसत्तमः। प्रसूयमानां यो धेनुं दद्याद् ब्राह्मणपुंगवे ॥ १२ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं वृषभं यः समुत्सृजेत्। सर्ववर्णविशेषेण शुक्लं नीलं वृषं तथा ॥ १३ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं यः कुर्याच्छ्रद्धयान्वितः। सुवर्णदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ॥ १४ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं कश्चित् पुरुषसत्तमः। कूपारामतडागानां वापीनां यश्च कारकः ॥ १५ ॥
अपि स्यात् स कुलेऽस्माकं सर्वभावेन यो हरिम्। प्रयायाच्छरणं विष्णुं देवेशं मधुसूदनम् ॥ १६ ॥
अपि नः स कुले भूयात् कश्चिद् विद्वान् विचक्षणः। धर्मशास्त्राणि यो दद्याद् विधिना विदुषामपि ॥ १७ ॥
एतावदुक्तं तव भूमिपाल श्राद्धस्य कल्पं मुनिसम्प्रदिष्टम्।
पापापहं पुण्यविवर्धनं च लोकेषु मुख्यत्वकरं तथैव ॥ १८ ॥
इत्येतां पितृगाथां तु श्राद्धकाले तु यः पितॄन्। श्रावयेत्तस्य पितरो लभन्ते दत्तमक्षयम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे पितृगाथाकीर्तनं नाम चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा नरश्रेष्ठ पैदा होगा, जो ब्राह्मणश्रेष्ठको ब्याती हुई गायका दान देगा ? क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेगा, जो वृषभका उत्सर्ग करेगा ? वह वृष विशेषरूपसे सभी रङ्गोंकी अपेक्षा नील अथवा शुक्ल वर्णका होना चाहिये। क्या हमलोगोंके कुलमें कोई ऐसा व्यक्ति उत्पन्न होगा, जो श्रद्धासम्पन्न होकर सुवर्ण-दान, गो-दान और पृथ्वीदान करेगा ? क्या हमारे वंशमें कोई ऐसा पुरुषश्रेष्ठ पैदा होगा, जो कूप, बगीचा, सरोवर और बावलियोंका निर्माण करायेगा ? क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ग्रहण करेगा, जो सभी प्रकारसे मधु दैत्यके नाशक देवेश भगवान् विष्णुकी शरण ग्रहण करेगा ? क्या हमारे कुलमें कोई ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान् होगा, जो विद्वानोंको विधिपूर्वक धर्मशास्त्रकी पुस्तकोंका दान देगा ? भूपाल ! मैंने इस प्रकार आपसे मुनियोंद्वारा कही गयी इस श्राद्धकर्मकी विधिका वर्णन कर दिया। यह पाप-नाशिनी, पुण्यको बढ़ानेवाली एवं संसारमें प्रमुखता प्रदान करनेवाली है। जो श्राद्धके समय पितरोंको यह पितृगाथा सुनाता है, उसके पितर दिये गये पदार्थोंको अक्षय रूपमें प्राप्त करते हैं ॥ १२—१९ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें पितृगाथानुकीर्तन नामक दो सौ चारवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २०४ ॥

दो सौ पाँचवाँ अध्याय

धेनु-दान-विधि

मनुरुवाच

प्रसूयमाना दातव्या धेनुर्ब्राह्मणपुंगवे। विधिना केन धर्मज्ञ दानं दद्याच्च किं फलम्॥ १॥

मनुजीने पूछा—धर्मके तत्त्वोंको जाननेवाले भगवन्! श्रेष्ठ ब्राह्मणको ब्याती हुई गौका दान किस विधिसे देना चाहिये और उस दानसे क्या फल प्राप्त होता है?॥ १॥

मत्स्य उवाच

स्वर्णशृङ्गीं रौप्यखुरां मुक्तालाङ्गूलभूषिताम्। कांस्योपदोहनां राजन् सवत्सां द्विजपुंगवे॥ २॥
प्रसूयमानां गां दत्त्वा महत्पुण्यफलं लभेत्। यावद्वत्सो योनिगतो यावद्गर्भं न मुञ्चति॥ ३॥
तावद् वै पृथिवी ज्ञेया सशैलवनकानना। प्रसूयमानां यो दद्याद् धेनुं द्रविणसंयुताम्॥ ४॥
ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना। चतुरन्ता भवेद् दत्ता पृथिवी नात्र संशयः॥ ५॥
यावन्ति धेनुरोमाणि वत्सस्य च नराधिप। तावत्संख्यं युगगणं देवलोके महीयते॥ ६॥
पितॄन् पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान्। उद्धरिष्यत्यसंदेहं नरकाद् भूरिदक्षिणः॥ ७॥
घृतक्षीरवहाः कुल्या दधिपायसकर्दमाः।
यत्र तत्र गतिस्तस्य द्रुमाश्चेप्सितकामदाः। गोलोकः सुलभस्तस्य ब्रह्मलोकश्च पार्थिव॥ ८॥
स्त्रियश्च तं चन्द्रसमानवक्त्राः प्रतप्तजाम्बूनदतुल्यरूपाः।
महानितम्बास्तनुवृत्तमध्या भजन्त्यजस्रं नलिनाभनेत्राः॥ ९॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे धेनुदानं नाम पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०५॥

मत्स्यभगवान् बोले—राजन्! जिसके सींग सुवर्णजटित हों, खुर चाँदीमें मढ़े गये हों, जिसकी पूँछ मोतियोंसे सुशोभित हो तथा जिसके निकट काँसेकी दोहनी रखी हो, ऐसी सवत्सा गौका दान श्रेष्ठ ब्राह्मणको देना चाहिये। ब्याती हुई गायका दान करनेपर महान् पुण्यफल प्राप्त होता है। जबतक बछड़ा योनिके भीतर रहता है एवं जबतक गर्भको नहीं छोड़ता, तबतक उस गौको वन-पर्वतोंसहित पृथ्वी समझना चाहिये। जो व्यक्ति द्रव्यसहित ब्याती हुई गायका दान देता है, उसने मानो सभी समुद्र, गुफा, पर्वत और जंगलोंके साथ चतुर्दिग्व्याप्त पृथ्वीका दान कर दिया, इसमें संदेह नहीं है। नरेश्वर! उस बछड़ेके तथा गौके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने युगोंतक दाता देवलोकमें पूजित होता है। विपुल दक्षिणा देनेवाला मनुष्य निश्चय ही अपने पिता, पितामह तथा प्रपितामहका नरकसे उद्धार कर देता है। वह जहाँ-कहीं जाता है, वहाँ उसे दही और पायसरूपी कीचड़से युक्त घृत एवं क्षीरकी नदियाँ प्राप्त होती हैं तथा मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाले वृक्ष प्राप्त होते रहते हैं। राजन्! उसे गोलोक और ब्रह्मलोक सुलभ हो जाते हैं तथा चन्द्रमुखी, तपाये हुए सुवर्णके समान वर्णवाली, स्थूल नितम्बवाली, पतली कमरसे सुशोभित, कमलनयनी स्त्रियाँ निरन्तर उसकी सेवा करती हैं॥ २—९॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें धेनु-दान-माहात्म्य नामक दो सौ पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २०५॥

दो सौ छठा अध्याय

कृष्णमृगचर्मके दानकी विधि और उसका माहात्म्य

मनुरुवाच

कृष्णाजिनप्रदानस्य विधिकालौ ममानघ । ब्राह्मणं च तथाऽऽचक्ष्व तत्र मे संशयो महान् ॥ १ ॥

मनुजीने पूछा—निष्पाप परमात्मन् ! कृष्ण मृगचर्म प्रदान करनेकी विधि, उसका समय तथा कैसे ब्राह्मणको दान देना चाहिये—इसका विधान मुझे बताइये । इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

वैशाखी पौर्णमासी च ग्रहणे शशिसूर्ययोः । पौर्णमासी तु या माघी ह्याषाढी कार्तिकी तथा ॥ २ ॥
उत्तरायणे च द्वादश्यां तस्यां दत्तं महाफलम् । आहिताग्निर्द्विजो यस्तु तद् देयं तस्य पार्थिव ॥ ३ ॥
यथा येन विधानेन तन्मे निगदतः शृणु । गोमयेनोपलिप्ते तु शुचौ देशे नराधिप ॥ ४ ॥
आदावेव समास्तीर्य शोभनं वस्त्रमाविकम् । ततः सशृङ्गं सखुरमास्तरेत् कृष्णमार्गकम् ॥ ५ ॥
कर्तव्यं रुक्मशृङ्गं तद् रौप्यदन्तं तथैव च । लाङ्गूलं मौक्तिकैर्युक्तं तिलच्छन्नं तथैव च ॥ ६ ॥
तिलैः सुपूरितं कृत्वा वाससाऽऽच्छादयेद् बुधः । सुवर्णनाभं तत् कुर्यादलंकुर्याद् विशेषतः ॥ ७ ॥
रत्नैर्गन्धैर्यथाशक्त्या तस्य दिक्षु च विन्यसेत् । कांस्यपात्राणि चत्वारि तेषु दद्याद् यथाक्रमम् ॥ ८ ॥
मृण्मयेषु च पात्रेषु पूर्वादिषु यथाक्रमम् । घृतं क्षीरं दधि क्षौद्रमेवं दद्याद् यथाविधि ॥ ९ ॥
चम्पकस्य तथा शाखामव्रणं कुम्भमेव च । बाह्योपस्थानकं कृत्वा शुभचित्तो निवेशयेत् ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान् बोले—राजन् ! वैशाखकी पूर्णिमाको, चन्द्रमा एवं सूर्यके ग्रहणके अवसरपर, माघ, आषाढ तथा कार्तिककी पूर्णिमा तिथिमें, सूर्यके उत्तरायण रहनेपर तथा द्वादशी तिथिमें (कृष्णमृगचर्मके) दानका महाफल कहा गया है । जो ब्राह्मण नित्य अग्न्याधान करनेवाला हो, उसीको वह दान देना चाहिये । अब जिस प्रकार और जिस विधानसे वह दान देना चाहिये, उसे मैं बतला रहा हूँ, सुनिये । नरेश्वर ! पवित्र स्थानपर गोबरसे लिपी हुई पृथ्वीपर सर्वप्रथम सुन्दर ऊनी वस्त्र बिछाकर फिर खुर और सींगोंसे युक्त उस कृष्णमृगचर्मको बिछा दे । उस मृगचर्मके सींगोंको सुवर्णसे, दाँतोंको चाँदीसे, पूँछको मोतियोंसे अलङ्कृत कर उसे तिलोंसे आवृत कर दे । बुद्धिमान् पुरुष उस मृगचर्मको तिलोंसे पूरित कर वस्त्रसे ढक दे । उसकी सुवर्णमय नाभि बनाकर उसे अपनी शक्तिके अनुकूल रत्नों तथा सुगन्धित पदार्थोंसे विशेषरूपसे अलंकृत कर दे । फिर क्रमानुसार काँसेके बने हुए चार पात्रोंको उसकी चारों दिशाओंमें रखे । फिर पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमशः चार मिट्टीके पात्रोंमें घृत, दुग्ध, दही तथा मधु विधिवत् भर दे । तदुपरान्त चम्पककी एक डाल तथा छिद्ररहित एक कलश बाहर पूर्वकी ओर मङ्गलमय भावनासे स्थापित करे ॥ २–१० ॥

सूक्ष्मवस्त्रं शुभं पीतं मार्जनार्थं प्रयोजयेत् । तथा धातुमयं पात्रं पादयोस्तस्य दापयेत् ॥ ११ ॥
यानि कानि च पापानि मया लोभात् कृतानि वै । लौहपात्रादिदानेन प्रणश्यन्तु ममाशु वै ॥ १२ ॥
तिलपूर्णं ततः कृत्वा वामपादे निवेशयेत् । यानि कानि च पापानि कर्मोत्थानि कृतानि च ॥ १३ ॥
कांस्यपात्रप्रदानेन तानि नश्यन्तु मे सदा । मधुपूर्णं तु तत् कृत्वा पादे वै दक्षिणे न्यसेत् ॥ १४ ॥
परापवादपैशुन्याद् वृथा मांसस्य भक्षणात् । तत्रोत्थितं च मे पापं ताम्रपात्रात् प्रणश्यतु ॥ १५ ॥
कन्यानृताद् गवां चैव परदाराभिमर्षणात् । रौप्यपात्रप्रदानाद्धि क्षिप्रं नाशं प्रयातु मे ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वपादे त्विमे कार्ये ताम्रस्य रजतस्य च। जन्मान्तरसहस्रेषु कृतं पापं कुबुद्धिना ॥ १७ ॥
सुवर्णपात्रदानात् तु नाशयाशु जनार्दन। हेममुक्ता विद्रुमं च दाडिमं बीजपूरकम् ॥ १८ ॥
प्रशस्तपात्रे श्रवणे खुरे शृङ्गाटकानि च। एवं कृत्वा यथोक्तेन सर्वशाकफलानि च ॥ १९ ॥
तत्प्रतिग्रहविद् विद्वानाहिताग्निर्द्विजोत्तमः। स्नातो वस्त्रयुगच्छन्नः स्वशक्त्या चाप्यलङ्कृतः ॥ २० ॥
प्रतिग्रहश्च तस्योक्तः पुच्छदेशे महीपते। तत एवं समीपे तु मन्त्रमेनमुदीरयेत् ॥ २१ ॥
कृष्णाजिनेति कृष्णान् हिरण्यं मधुसर्पिषी। ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥ २२ ॥

मार्जनके लिये एक सुन्दर महीन पीले वस्त्रका प्रयोग करे तथा धातु-निर्मित पात्र उसके दोनों पैरोंके पास रख दे। तत्पश्चात् ऐसा कहे कि 'मैंने लोभमें पड़कर जिन-जिन पापोंको किया है, वे लौहमय पात्रादिका दान करनेसे शीघ्र ही नष्ट हो जायँ।' फिर काँसेके पात्रको तिलोंसे भरकर बायें पैरके पास रखे और कहे कि 'मैंने प्रसङ्गवश जिन-जिन पापोंका आचरण किया है, मेरे वे सभी पाप इस कांस्य-पात्रके दानसे सदाके लिये नष्ट हो जायँ।' फिर ताम्र-पात्रमें मधु भरकर दाहिने पैरके पास रखे और कहे कि 'दूसरेकी निन्दा या चुगुली करने अथवा किसी अवैध मांसका भक्षण करनेसे उत्पन्न हुआ मेरा पाप इस ताम्र-पात्रका दान करनेसे नष्ट हो जाय।' 'कन्या और गौके लिये मिथ्या कहनेसे तथा परकीय स्त्रीका स्पर्श करनेसे जो पाप उत्पन्न हुआ हो, मेरा वह पाप चाँदीके पात्रदानसे शीघ्र ही नष्ट हो जाय।' चाँदी तथा ताँबेके बने हुए पात्रोंको पैरके ऊपरी भागमें रखना चाहिये। 'जनार्दन! मैंने अपनी दुष्ट बुद्धिके द्वारा हजारों जन्मोंमें जो पाप किया है, उसे आप सुवर्णपात्रके दानसे शीघ्र ही नष्ट कर दें।' यह मन्त्र सुवर्णपात्र दान करते समय कहे। उस समय सुवर्ण, मोती, मूँगा, अनार और बिजौरा नींबूको अच्छे पात्रमें रखकर उस मृगचर्मके कान, खुर और सींगपर स्थापित कर दे। यथोक्त विधिके अनुसार ऐसा करके सभी प्रकारके शाक-फलोंको भी रख दे। महीपते! तत्पश्चात् जो ब्राह्मणश्रेष्ठ प्रतिग्रहकी विधिका ज्ञाता, विद्वान् और अग्न्याधान करनेवाला हो तथा स्नानके पश्चात् दो सुन्दर वस्त्रको धारणकर अपनी शक्तिके अनुसार अलंकृत भी हो, ऐसे ब्राह्मणको उस मृगचर्मके पुच्छदेशमें दान देनेका विधान है। उस समय उसके समीप इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। जो 'कृष्णाजिनेति'—इस मन्त्रका उच्चारण कर कृष्णमृगचर्म, सुवर्ण, मधु और घृत ब्राह्मणको दान करता है, वह सभी दुष्कर्मोंसे छूट जाता है ॥ ११—२२ ॥

यस्तु कृष्णाजिनं दद्यात् सखुरं शृङ्गसंयुतम्। तिलैः प्रच्छाद्य वासोभिः सर्ववस्त्रैरलंकृतम् ॥ २३ ॥
वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु विशाखायां विशेषतः। ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ॥ २४ ॥
सप्तद्वीपान्विता दत्ता पृथिवी नात्र संशयः। कृष्णकृष्णाङ्गलो देवः कृष्णाजिन नमोऽस्तु ते ॥ २५ ॥
सुवर्णदानात् त्वद्दानाद् धूतपापस्य प्रीयताम्। त्रयस्त्रिंशत्सुराणां त्वमाधारस्त्वे व्यवस्थितः ॥ २६ ॥
कृष्णोऽसि मूर्तिमान् साक्षात् कृष्णाजिन नमोऽस्तु ते। सुवर्णनाभिकं दद्यात् प्रीयतां वृषभध्वजः ॥ २७ ॥
कृष्णः कृष्णगलो देवः कृष्णाजिनधरस्तथा। तद्दानाद्धुतपापस्य प्रीयतां वृषभध्वजः ॥ २८ ॥
अनेन विधिना दत्त्वा यथावत् कृष्णमार्गकम्। न स्पृश्योऽसौ द्विजो राजंश्चितियूपसमो हि सः ॥ २९ ॥
तं दाने श्राद्धकाले च दूरतः परिवर्जयेत्। स्वगृहात् प्रेष्य तं विप्रं मङ्गलस्नानमाचरेत् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य खुर तथा सींगसहित कृष्णमृगचर्मको तिलोंसे ढककर एवं सभी प्रकारके वस्त्रोंसे अलङ्कृत कर विशेषतया विशाखा नक्षत्रसे युक्त वैशाख मासकी पूर्णिमा तिथिको दान करता है, उसने निःसंदेह समुद्रों, गुफाओं,

पर्वतों एवं जंगलोंसमेत सातों द्वीपोंसे युक्त पृथ्वीका दान कर दिया। कृष्णाजिन ! तुम कृष्णस्वरूपधारी देवता हो, तुम्हें नमस्कार है। सुवर्णदान तथा तुम्हारे दानसे जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे मुझपर तुम प्रसन्न हो जाओ। कृष्णाजिन ! तुम तैंतीस देवताओंके आधार-स्वरूप निश्चित किये गये हो और साक्षात् मूर्तिमान् श्रीकृष्ण हो, तुम्हें प्रणाम है। पुनः वृषभध्वज शंकर मुझपर प्रसन्न हो जायँ—इस भावनासे सुवर्णयुक्त नाभिवाले मृगचर्मका दान करना चाहिये। जो श्याम-वर्ण, कृष्णकण्ठ तथा कृष्णचर्म धारण करनेवाले देवता हैं, आपके दानसे पापशून्य हुए मुझपर वे शंकर प्रसन्न हों। राजन् ! उपर्युक्त विधिसे कृष्णमृगचर्मका दान देनेके पश्चात् उस प्रतिगृहीता ब्राह्मणका स्पर्श नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह (श्मशानस्था अस्पृश्या) चिताके खूँटेके समान हो जाता है। उसका श्राद्ध और दानके समय दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये। उस ब्राह्मणको अपने घरसे विदाकर फिर मङ्गलस्नान करनेका विधान है ॥ २२–३० ॥

पूर्णकुम्भेन राजेन्द्र शाखया चम्पकस्य तु। कृत्वाऽऽचार्यश्च कलशं मन्त्रेणानेन मूर्धनि ॥ ३१ ॥
आप्यायस्व समुद्रज्येष्ठा ऋचा संस्नाप्य षोडश। अहते वाससी वीत आचान्तः शुचितामियात् ॥ ३२ ॥
तद्वासः कुम्भसहितं नीत्वा क्षेप्यं चतुष्पथे। ततो मण्डलमाविशेत् कृत्वा देवान् प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥
पीते वृत्ते सपत्नीकं मार्जयेद् याज्यकं द्विजः। मार्जयेन्मुक्तिकामं तु ब्राह्मणेन घटेन वै ॥ ३४ ॥
श्रीकामं वैष्णवेनेह कलशेन तु पार्थिव। राज्यकामं तथा मूर्ध्नि ऐन्द्रेण कलशेन तु ॥ ३५ ॥
द्रव्यप्रतापकामं तु आग्नेयघटवारिणा। मृत्युंजयविधानाय याम्येन कलशेन तु ॥ ३६ ॥
ततस्तु तिलकं कार्यं ब्राह्मणेभ्यस्तु दक्षिणाम्। दत्त्वा तत्कर्मसिद्ध्यर्थं ग्राह्याऽऽशीस्तु विशेषतः ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् आचार्य चम्पककी शाखासे युक्त जलपूर्ण कलशके जलसे दाताके मस्तकपर **'आप्यायस्व समुद्रज्येष्ठा'** आदि सोलह ऋचाओंसे अभिषेचन करे, तब वह दो बिना फटे वस्त्रोंको पहनकर आचमन करके पवित्र होता है। पुनः उस वस्त्रको कलशमें डालकर उसे चौराहेपर फेंक दे। इसके बाद देवताओंकी प्रदक्षिणा कर मण्डपमें प्रवेश करे। तदनन्तर ब्राह्मण उस पीत वस्त्रधारी सपत्नीक यजमानका मार्जन करे। यदि यजमान मुक्तिकी इच्छा रखता हो तो ब्राह्मण-सम्बन्धी घटसे उसका मार्जन करे। राजन् ! यदि यजमान लक्ष्मीका अभिलाषी हो तो विष्णुसम्बन्धी कलशके जलसे उसका मार्जन करे। यदि राज्यकी कामना हो तो इन्द्रसम्बन्धी कलशके जलसे यजमानके मस्तकपर अभिषेक करे। द्रव्य और प्रतापकी कामना करनेवाले यजमानका अग्निसम्बन्धी कलशके जलसे सिंचन करे। मृत्युपर विजय पानेके विधानके लिये यमसम्बन्धी कलशके जलसे अभिषेक करे। तत्पश्चात् यजमानको तिलक लगाये। दाता ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर कृष्णमृगचर्म-दानकी सिद्धिके लिये उनसे विशेष रूपसे आशीर्वाद ग्रहण करे ॥ ३१–३७ ॥

कृतेनानेन या तुष्टिर्न सा शक्या सुरैरपि। वक्तुं हि नृपतिश्रेष्ठ तथाप्युद्देशतः शृणु ॥ ३८ ॥
समग्रभूमिदानस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्। सर्वाल्लोकांश्च जयति कामचारी विहङ्गवत् ॥ ३९ ॥
आभूतसम्प्लवं तावत् स्वर्गमाप्नोत्यसंशयम्। न पिता पुत्रमरणं वियोगं भार्यया सह ॥ ४० ॥
धनदेशपरित्यागं न चैवेहाप्नुयात् क्वचित्।
कृष्णेप्सितं कृष्णमृगस्य चर्म दत्त्वा द्विजेन्द्राय समाहितात्मा।
यथोक्तमेतन्मरणं न शोचेत् प्राप्नोत्यभीष्टं मनसः फलं तत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे कृष्णाजिनप्रदानं नाम षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

नृपनिश्रेष्ठ ! इसके करनेसे जो तुष्टि प्राप्त होती है, उसका वर्णन करनेकी शक्ति यद्यपि देवताओंमें भी नहीं है तथापि मैं संक्षेपसे बतला रहा हूँ, सुनिये। वह दाता निश्चय ही समग्र पृथ्वीके दानका फल प्राप्त करता है, सभी लोकोंको जीत लेता है, पक्षीके समान सर्वत्र स्वेच्छानुसार विचरण करता है, महाप्रलयकालपर्यन्त निःसंदेह स्वर्गलोकमें स्थित रहता है, पिता पुत्रकी मृत्यु और पत्नीके वियोगको नहीं देखता। उसे मर्त्यलोकमें कहीं भी धन और देशके परित्यागका अवसर नहीं प्राप्त होता। जो मनुष्य समाहित-चित्त हो कुलीन ब्राह्मणको श्रीकृष्णकी प्रिय वस्तु कृष्ण-मृगचर्मका दान करता है, वह कभी मृत्युकी चिन्तासे शोकग्रस्त नहीं होता और अपने मनके अनुकूल सभी फलोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३८–४१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें कृष्णमृगचर्मप्रदान नामक दो सौ छठा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २०६ ॥

दो सौ सातवाँ अध्याय

उत्सर्ग किये जानेवाले वृषके लक्षण, वृषोत्सर्गका विधान और उसका महत्त्व

मनुरुवाच

भगवञ् श्रोतुमिच्छामि वृषभस्य च लक्षणम्। वृषोत्सर्गविधिं चैव तथा पुण्यफलं महत् ॥ १ ॥

मनुजीने कहा—भगवन् ! अब मैं उत्सर्ग किये जानेवाले वृषभके लक्षणों, वृषोत्सर्गकी विधि और वृषोत्सर्गसे प्राप्त होनेवाले महान् पुण्यफलको सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

धेनुमादौ परीक्षेत सुशीलां च गुणान्विताम्। अव्यङ्गामपरिक्लिष्टां जीववत्सामरोगिणीम् ॥ २ ॥
स्निग्धवर्णां स्निग्धखुरां स्निग्धशृङ्गीं तथैव च। मनोहराकृतिं सौम्यां सुप्रमाणामनुद्धताम् ॥ ३ ॥
आवर्तैर्दक्षिणावर्तैर्युक्तां दक्षिणतस्तथा। वामावर्तैर्वामतश्च विस्तीर्णजघनां तथा ॥ ४ ॥
मृदुसंहतताम्रोष्ठीं रक्तग्रीवासुशोभिताम्। अश्यामदीर्घा स्फुटिता रक्तजिह्वा तथा च या ॥ ५ ॥
विस्रावामलनेत्रा च शफैरविरलैर्दृढैः। वैदूर्यमधुवर्णैश्च जलबुद्बुदसंनिभैः ॥ ६ ॥
रक्तस्निग्धैश्च नयनैस्तथा रक्तकनीनिकैः। सप्तचतुर्दशदन्ता तथा वा श्यामतालुका ॥ ७ ॥
षडुन्नता सुपार्श्वोरुः पृथुपञ्चसमायता। अष्टायतशिरोग्रीवा या राजन् सा सुलक्षणा ॥ ८ ॥

मत्स्यभगवान् बोले—राजन् ! सर्वप्रथम धेनुकी परीक्षा करनी चाहिये। जो सुशीला, गुणवती, अविकृत अङ्गोंवाली, मोटी-ताजी, जिसके बछड़े जीते हों, रोगरहित, मनोहर रंगवाली, चिकने खुरवाली, चिकने सींगोंवाली, सुदृश्य, सीधी-सादी, न अधिक ऊँची, न अधिक नाटी अर्थात् मध्यम कदवाली, अचञ्चल, भँवरीवाली, विशेषतः दाहिनी ओरकी भँवरियाँ दाहिनी ओर और बायीं ओरकी बायीं ओर हों, विस्तृत जाँघोंवाली, मुलायम एवं सटे हुए लाल होठोंवाली, लाल गलेसे सुशोभित, काली एवं लम्बी न हो ऐसी स्फुटित लाल जिह्वावाली, अश्रुरहित निर्मल नेत्रोंवाली, सुदृढ एवं सटे हुए खुरोंवाली, वैदूर्य, मधु अथवा जलके बुद्बुदके समान रंगोंवाली, लाल चिकने नेत्र और लाल कनीनिकासे युक्त, इक्कीस दाँत और श्यामवर्णके तालुसे सम्पन्न हो, जिसके छः स्थान उच्च, पाँच स्थान समान, सिर, ग्रीवा और आठ स्थान विस्तृत तथा बगल और ऊरु देश सुन्दर हो, वह गौ शुभ लक्षणोंसे युक्त मानी गयी है ॥ २–८ ॥

मनुरुवाच

षडुन्नताः के भगवन् के च पञ्च समायताः। आयताश्च तथैवाष्टौ धेनूनां के शुभावहाः ॥ ९ ॥

मनुने पूछा—भगवन् ! आपने जो यह बतलाया कि स्थान आयत होने चाहिये, वे शुभदायक स्थान गौओंके छः स्थान उन्नत, पाँच स्थान सम तथा आठ कौन-कौन हैं ? ॥ ९ ॥

मत्स्य उवाच

उरः पृष्ठं शिरः कुक्षी श्रोणी च वसुधाधिप। षडुन्नतानि धेनूनां पूजयन्ति विचक्षणाः ॥ १० ॥
कर्णौ नेत्रे ललाटं च पञ्च भास्करनन्दन। समायतानि शस्यन्ते पुच्छं सास्ना च सक्थिनी ॥ ११ ॥
चत्वारश्च स्तना राजन् ज्ञेया ह्यष्टौ मनीषिभिः। शिरो ग्रीवायताश्चैते भूमिपाल दश स्मृताः ॥ १२ ॥
तस्याः सुतं परीक्षेत वृषभं लक्षणान्वितम्। उन्नतस्कन्धककुदमृजुलाङ्गूलकम्बलम् ॥ १३ ॥
महाकटितटस्कन्धं वैदूर्यमणिलोचनम्। प्रवालगर्भश्रृङ्गाग्रं सुदीर्घपृथुवालधिम् ॥ १४ ॥
नवाष्टादशसंख्यैर्वा तीक्ष्णाग्रैर्दशनैः शुभैः। मल्लिकाक्षश्च मोक्तव्यो गृहेऽपि धनधान्यदः ॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—पृथ्वीपते ! छाती, पीठ, सिर, दोनों कोख तथा कमर—इन छः उन्नत स्थानोवाली धेनुओंको विज्ञलोग श्रेष्ठ मानते है। सूर्यपुत्र ! दोनों कान, दोनो नेत्र तथा ललाट—इन पाँच स्थानोका सम-आयत होना प्रशंसित है। पूँछ, गलकम्बल, दोनों सक्थियाँ(घुटनोंसे नीचेके भाग)और चारों स्तन—ये आठ तथा सिर और गर्दन—ये दो मिलाकर दस स्थान आयत होनेपर श्रेष्ठ माने गये हैं। भूपते ! ऐसी सर्वलक्षणसम्पन्न धेनुके शुभ लक्षणोंसे युक्त बछडेकी भी परीक्षा करनी चाहिये। जिसका कंधा और ककुद् ऊँचा हो, पूँछ और गलेका कम्बल (चमड़ा) कोमल हो, कटितट और स्कन्ध विशाल हो, वैदूर्य मणिके समान नेत्र हों, सींगोंका अग्रभाग प्रवाल (मूँगे) के सदृश हो, पूँछ लम्बी तथा मोटी हो, तीखे अग्रभागवाले नौ या अठारह सुन्दर दाँत हों तथा मल्लिका-पुष्पोंकी तरह श्वेत आँखें हो, ऐसे वृषका उत्सर्ग करना चाहिये, उसके गृहमें रहनेसे भी धन-धान्यकी वृद्धि होती है ॥१०–१५॥

वणतस्ताम्रकपिलो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते। श्वेतो रक्तश्च कृष्णश्च गौरः पाटल एव च ॥ १६ ॥
मद्रिकस्ताम्रपृष्ठश्च शबलः पञ्चवालकैः।
पृथुकर्णो महास्कन्धः श्लक्ष्णरोमा च यो भवेत्। रक्ताक्षः कपिलो यश्च रक्तश्रृङ्गतलो भवेत् ॥ १७ ॥
श्वेतोदरः कृष्णपार्श्वो ब्राह्मणस्य तु शस्यते। स्निग्धो रक्तेन वर्णेन क्षत्रियस्य प्रशस्यते ॥ १८ ॥
काञ्चनाभेन वैश्यस्य कृष्णेनाप्यन्त्यजन्मनः। यस्य प्रागायते श्रृङ्गे भ्रूमुखाभिमुखे सदा ॥ १९ ॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वः सर्वार्थसाधकः। मार्जारपादः कपिलो धन्यः कपिलपिङ्गलः ॥ २० ॥
श्वेतो मार्जारपादस्तु धन्यो मणिनिभेक्षणः। करटः पिङ्गलश्चैव श्वेतपादस्तथैव च ॥ २१ ॥
सर्वपादसितो यश्च द्विपादश्वेत एव च। कपिञ्जलनिभो धन्यस्तथा तित्तिरिसंनिभः ॥ २२ ॥

ब्राह्मणके लिये ताम्रके समान लाल अथवा कपिल वर्णका वृषभ उत्तम है। जो सफेद, लाल, काला, भूरा, पाटल, पूराऊँचा लाल पीठवाला, पाँच प्रकारके रोएँसे चितकबरा, स्थूल कानोंवाला विशाल कंधेसे युक्त, चिकने रोमोवाला, लाल ऑखोंवाला, कपिल, सींगका निचला भाग लाल रंगवाला, सफेद पेट और कृष्ण पार्श्वभागवाला हो, ऐसा वृषभ ब्राह्मणके लिये श्रेष्ठ कहा गया है। लाल रंगके चिकने रोमवाला वृषभ क्षत्रिय जातिके लिये, सुवर्णके समान वर्णवाला वृषभ वैश्यके लिये और काले रंगका वृष शूद्रके लिये उत्तम माना गया है। जिस वृषभके सींग आगेकी ओर विस्तृत तथा भौहे मुखकी ओर झुकी हों, वह सभी वर्णोंके लिये सर्वार्थ-सिद्ध करनेवाला होता है। बिलावके समान पैरोंवाला, कपिल या पीले रंगका मिश्रित वृषभ

धन्य होता है। श्वेत रंगका, बिल्लीके समान पैरोवाला और मणिके समान आँखोवाला वृषभ धन्य है। कबूतरके समान काले और पीले रंगवाला तथा श्वेत पैरोवाला वृष धन्य है। जिसके सभी पैर अथवा दो पैर श्वेतवर्णके हो और जिसका रंग कपिञ्जल अथवा तीतरके समान हो, वह भी धन्य है॥ १९–२२॥

आकर्णमूलं श्वेतं तु मुखं यस्य प्रकाशते। नन्दीमुखः स विज्ञेयो रक्तवर्णो विशेषतः॥ २३॥
श्वेतं तु जठरं यस्य भवेत् पृष्ठं च गोपतेः। वृषभः स समुद्राक्षः सततं कुलवर्धनः॥ २४॥
मल्लिकापुष्पचित्रश्च धन्यो भवति पुंगवः। कमलैर्मण्डलैश्चापि चित्रो भवति भाग्यदः॥ २५॥
अतसीपुष्पवर्णश्च तथा धन्यतरः स्मृतः। एते धन्यास्तथाधन्यान् कीर्तयिष्यामि ते नृप॥ २६॥
कृष्णतालुः कृष्णवदना रूक्षशृङ्गशफाश्च ये। अव्यक्तवर्णा ह्रस्वाश्च व्याघ्रसिंहनिभाश्च ये॥ २७॥
ध्वाङ्क्षगृध्रसवर्णाश्च तथा मूषकसंनिभाः। कुण्ठाः काणास्तथा खञ्जाः केकराक्षास्तथैव च॥ २८॥
विषमश्वेतपादाश्च उद्भ्रान्तनयनास्तथा। नैते वृषाः प्रमोक्तव्या न च धार्यास्तथा गृहे॥ २९॥
मोक्तव्यानां च धार्याणां भूयो वक्ष्यामि लक्षणम्। स्वस्तिकाकारशृङ्गाश्च तथा मेघौघनिःस्वनाः॥ ३०॥
महाप्रमाणाश्च तथा मत्तमातङ्गगामिनः।
महोरस्का महोच्छ्राया महाबलपराक्रमाः। शिरः कर्णौ ललाटं च वालधिश्चरणास्तथा॥ ३१॥
नेत्रे पार्श्वे च कृष्णानि शस्यन्ते चन्द्रभासिनाम्। श्वेतान्येतानि शस्यन्ते कृष्णस्य तु विशेषतः॥ ३२॥
भूमौ कर्षति लाङ्गूलं प्रलम्बस्थूलवालधिः। पुरस्तादुन्नतो नीलो वृषभश्च प्रशस्यते॥ ३३॥

जिस वृषभका मुख कानतक श्वेत दिखायी पड़ता हो तथा विशेषतया वह लाल वर्णका हो, उसे नन्दीमुख जानना चाहिये। जिस वृषभका पेट तथा पीठ श्वेतवर्ण हो, वह समुद्राक्ष नामक वृषभ कहा जाता है। वह सर्वदा कुलकी वृद्धि करनेवाला होता है। जो वृष मल्लिकाके फूलके समान चितकबरे रंगवाला होता है, वह धन्य है। जो कमल-मण्डलके समान चितकबरा होता है, वह सौभाग्यवर्द्धक होता है तथा अलसीके फूलके समान नीले रंगवाला बैल धन्यतर कहा गया है। राजन्! ये उत्तम लक्षणोवाले वृष हैं। अब मै आपसे अशुभ लक्षण-सम्पन्न वृषभोंका वर्णन कर रहा हूँ। जो काले तालु, ओठ और मुखवाले, रूखे सींगों एवं खुरोवाले, अव्यक्त रंगवाले, नाटे, बाघ तथा सिंहके समान भयानक, कौवे और गृध्रके समान रंगवाले या मूषकके समान अल्पकाय, मन्द स्वभाववाले, काने, लँगड़े, नीची-ऊँची आँखोवाले, विषम (तीन या एक) पैरोमें श्वेत रंगवाले तथा चञ्चल नेत्रोवाले हों, ऐसे वृषभोका न तो उत्सर्ग करना चाहिये और न उन्हे अपने घरमे ही रखना ठीक है। मै पुनः उत्सर्ग करने तथा पालने योग्य (श्रेष्ठ) वृषभोका लक्षण बतला रहा हूँ। जिनके सींग स्वस्तिकके आकारके हो और स्वर बादलकी गर्जनाके सदृश हो, जो ऊँचे कदवाले, हाथीके समान चलनेवाले, विशाल छातीवाले, बहुत ऊँचे, महान् बल-पराक्रमसे युक्त हों तथा चन्द्रमाके समान श्वेत वर्णके जिन वृषभोके सिर, दोनो कान, ललाट, पूँछ, चारों पैर, दोनों नेत्र, दोनो बगलें काले रंगके हो एवं काले रंगवाले वृषभोके ये स्थान श्वेत हो तो वे उत्तम माने गये है। जिसकी लम्बी और मोटी पूँछ पृथ्वीपर रगड़ खाती हो और जिसका अगला भाग उठा हुआ हो, वह नील वृषभ प्रशंसनीय माना गया है॥ २३–३३॥

शक्तिध्वजपताकाढ्या येषां राजी विराजते। अनड्वाहस्तु ते धन्याश्चित्रसिद्धिजयावहाः॥ ३४॥
प्रदक्षिणं निवर्तन्ते स्वयं ये विनिवर्तिताः। समुन्नतशिरोग्रीवा धन्यास्ते यूथवर्धनाः॥ ३५॥
रक्तशृङ्गाग्रनयनः श्वेतवर्णो भवेद् यदि। शफैः प्रवालसदृशैर्नास्ति धन्यतरस्ततः॥ ३६॥

*

एते धार्याः प्रयत्नेन मोक्तव्या यदि वा वृषाः। धारिताश्च तथा मुक्ता धनधान्यप्रवर्धनाः ॥ ३७ ॥
चरणानि मुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः। लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत् ॥ ३८ ॥
वृष एवं स मोक्तव्यो न सन्धार्यो गृहे भवेत्। तदर्थमेषा चरति लोके गाथा पुरातनी ॥ ३९ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्। गौरीं चाप्युद्वहेत् कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ ४० ॥
एवं वृषं लक्षणसम्प्रयुक्तं गृहोद्भवं क्रीतमथापि राजन्।
मुक्त्वा न शोचेन्मरणं महात्मा मोक्षं गतश्चाहमतोऽभिधास्ये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे वृषभलक्षणं नाम सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

जिनके शरीरमें शक्ति, ध्वज और पताकाओंकी रेखा बनी हो, वे वृषभ धन्य हैं और विचित्र सिद्धि एवं विजय प्रदान करनेवाले है। जो घुमाये जानेपर या स्वयं घूमनेपर दाहिनी ओर घूमते हों तथा जिनके सिर एवं कंधे समुन्नत हों, वे धन्य तथा अपने समूहके वृद्धिकारक हैं। जिसके सींगोके अग्रभाग तथा नेत्र लाल हो और वह यदि श्वेतवर्णका हो तथा उसके खुर प्रवालके समान लाल हों तो उससे श्रेष्ठ कोई वृषभ नहीं होता। ऐसे वृषभोंका प्रयत्नपूर्वक पालन अथवा उत्सर्ग करना चाहिये; क्योंकि ये रखने अथवा उत्सर्ग करने—दोनो दशाओमे धन-धान्यको बढ़ाते हैं। जिस वृषभके चारों चरण, मुख और पूँछ श्वेत हो तथा शेष शरीरका रंग लाह-रसके समान हो, उसे नील वृषभ कहते हैं। ऐसा वृषभ उत्सर्ग कर देना चाहिये, उसे घरमे पालना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसे वृषभके लिये लोकमे एक ऐसी पुरानी गाथा प्रचलित है कि बहुतेरे पुत्रोकी कामना करनी चाहिये; क्योंकि उनमेसे कोई भी तो गयाकी यात्रा करेगा या गौरी कन्याका दान करेगा या नीले वृषभका उत्सर्ग करेगा। राजन्! ऐसे लक्षणयुक्त वृषभका चाहे वह घरमे उत्पन्न हुआ हो या खरीदा गया हो, उत्सर्ग कर महात्मा पुरुष कभी मृत्युके भयसे शोकग्रस्त नहीं होता; उसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये मै आपसे कह रहा हूँ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें वृषभलक्षण नामक दो सौ सातवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २०७ ॥

दो सौ आठवाँ अध्याय

सावित्री और सत्यवान्का चरित्र

सूत उवाच

ततः स राजा देवेशं पप्रच्छामितविक्रमः। पतिव्रतानां माहात्म्यं तत्सम्बद्धां कथामपि ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर अपरिमित पराक्रमी राजा मनुने भगवान् मत्स्यसे पतिव्रता स्त्रियोंके माहात्म्य तथा तत्सम्बन्धी कथाके विषयमे प्रश्न किया ॥ १ ॥

मनुरुवाच

पतिव्रतानां का श्रेष्ठा कया मृत्युः पराजितः।
नामसंकीर्तनं कस्याः कीर्तनीयं सदा नरैः। सर्वपापक्षयकरमिदानीं कथयस्व मे ॥ २ ॥

मनुजीने पूछा—(प्रभो!) पतिव्रता स्त्रियोंमे कौन श्रेष्ठ है? किस स्त्रीने मृत्युको पराजित किया है? तथा मनुष्योंको सदा किस (सती नारी)का नामोच्चारण करना चाहिये? आप अब मुझसे सभी पापोंको नष्ट करनेवाली इस कथाका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

मत्स्य उवाच

वैलोम्यं धर्मराजोऽपि नाचरत्यथ योषिताम्। पतिव्रतानां धर्मज्ञ पूज्यास्तस्यापि ताः सदा ॥ ३ ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि कथां पापप्रणाशिनीम्। यथा विमोक्षितो भर्ता मृत्युपाशगतः स्त्रिया ॥ ४ ॥
मद्रेषु शाकलो राजा बभूवाश्वपतिः पुरा। अपुत्रस्तप्यमानोऽसौ पुत्रार्थी सर्वकामदाम् ॥ ५ ॥
आराधयति सावित्रीं लक्षितोऽसौ द्विजोत्तमैः। सिद्धार्थकैर्हूयमानां सावित्रीं प्रत्यहं द्विजैः ॥ ६ ॥
शतसंख्यैश्चतुर्थ्यां तु दशमासागते दिने। काले तु दर्शयामास स्वां तनुं मनुजेश्वरम् ॥ ७ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—धर्मज्ञ ! धर्मराज भी पतिव्रता स्त्रियोंके प्रतिकूल कोई व्यवहार नहीं कर सकते; क्योंकि वे उनके लिये भी सर्वदा सम्माननीय हैं। इस विषयमें मैं तुमसे पापोंको नष्ट करनेवाली वैसी कथाका वर्णन कर रहा हूँ कि किस प्रकार पतिव्रता स्त्रीने मृत्युके पाशमें पड़े हुए अपने पतिको बन्धनमुक्त कराया था। प्राचीन समयमें मद्रदेश (वर्तमान स्यालकोट जनपद) में शाकल्यवंशी अश्वपति नामक एक राजा थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। तब ब्राह्मणोंके निर्देशपर वे पुत्रकी कामनासे सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली सावित्रीकी आराधना करने लगे। वे प्रतिदिन सैकड़ों ब्राह्मणोंके साथ सावित्रीदेवीकी प्रसन्नताके लिये सफेद सरसोंका हवन करते थे। दस महीना बीत जानेपर चतुर्थी तिथिको सावित्री (गायत्री) देवीने राजाको दर्शन दिया ॥ ३—७ ॥

सावित्र्युवाच

राजन् भक्तोऽसि मे नित्यं दास्यामि त्वां सुतां सदा। तां दत्तां मत्प्रसादेन पुत्रीं प्राप्स्यसि शोभनाम्॥ ८ ॥
एतावदुक्त्वा सा राज्ञः प्रणतस्यैव पार्थिव। जगामादर्शनं देवी खे तथा नृप चञ्चला ॥ ९ ॥
मालती नाम तस्यासीद् राज्ञः पत्नी पतिव्रता। सुषुवे तनयां काले सावित्रीमिव रूपतः ॥ १० ॥
सावित्र्याहुतया दत्ता तद्रूपसदृशी तथा। सावित्री च भवत्वेषा जगाद नृपतिर्द्विजान् ॥ ११ ॥
नामाकुर्वन् द्विजश्रेष्ठाः सावित्रीति नृपोत्तम। कालेन यौवनं प्राप्तां ददौ सत्यवते पिता ॥ १२॥
नारदस्तु ततः प्राह राजानं दीप्ततेजसम्।
संवत्सरेण क्षीणायुर्भविष्यति नृपात्मजः। सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते चिन्तयित्वा नराधिपः ॥ १३ ॥
तथापि प्रददौ कन्यां द्युमत्सेनात्मजे शुभे। सावित्र्यपि च भर्तारमासाद्य नृपमन्दिरे ॥ १४॥
नारदस्य तु वाक्येन दूयमानेन चेतसा। शुश्रूषां परमां चक्रे भर्तृश्वशुरयोर्वने ॥ १५॥
राज्याद् भ्रष्टः सभार्यस्तु नष्टचक्षुर्नराधिपः। न तुतोष समासाद्य राजपुत्रीं तथा स्नुषाम् ॥ १६ ॥
चतुर्थेऽहनि मर्तव्यं तथा सत्यवता द्विजाः। श्वशुरेणाभ्यनुज्ञाता तदा राजसुतापि सा ॥ १७॥
चक्रे त्रिरात्रं धर्मज्ञा व्रतं तस्मिंस्तदा दिने। दारुपुष्पफलाहारी सत्यवांस्तु ययौ वनम् ॥ १८॥
श्वशुरेणाभ्यनुज्ञाता याचनाभङ्गभीरुणा। सावित्र्यपि जगामार्ता सह भर्त्रा महद्वनम् ॥ १९॥
चेतसा दूयमानेन गूहमाना महद्भयम्। वने पप्रच्छ भर्तारं द्रुमांश्चासदृशांस्तथा ॥ २० ॥
आश्वासयामास स राजपुत्रीं क्लान्तां वने पद्मविशालनेत्राम्।
संदर्शनेनाथ द्रुमद्विजानां तथा मृगाणां विपिने नृवीरः ॥ २१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने सावित्रीवनप्रवेशो नामाष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

सावित्रीने कहा—राजन् ! तुम मेरे नित्य भक्त हो, अतः मैं तुम्हें कन्या प्रदान करूँगी। मेरी कृपासे तुम्हें मेरी दी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या प्राप्त होगी। राजन् ! चरणोंमें पड़े हुए राजासे इतना कहकर वह देवी आकाशमें बिजलीकी भाँति अदृश्य हो गयी। नरेश ! उस राजाकी मालती नामकी पतिव्रता पत्नी थी। समय आनेपर उसने सावित्रीके समान रूपवाली एक कन्याको जन्म दिया। तब राजाने ब्राह्मणोंसे कहा—तपके द्वारा आवाहन किये जानेपर सावित्रीने इसे मुझे दिया है तथा यह सावित्रीके समान रूपवाली है, अतः इसका नाम सावित्री

होगा।' नृपश्रेष्ठ! तब उन ब्राह्मणोंने उस कन्याका सावित्री नाम रख दिया। समयानुसार सावित्री युवती हुई, तब पिताने उसका सत्यवान्‌के लिये वाग्दान कर दिया। इसी बीच नारदने उस उद्दीप्त तेजस्वी राजासे कहा कि 'उस राजकुमारकी आयु एक ही वर्षमे समाप्त हो जायगी।' (नारदजीकी वाणी सुनकर) यद्यपि राजाके मनमें चिन्ता तो हुई, पर यह विचारकर कि 'कन्यादान एक ही बार किया जाता है' उन्होंने अपनी कन्या सावित्रीको द्युमत्सेनके सुन्दर पुत्र सत्यवान्‌को प्रदान कर दिया। सावित्री भी पतिको पाकर अपने भवनमें नारदकी अशुभ वाणी सुनकर दुःखित मनसे काल व्यतीत करने लगी। वह वनमें सास-श्वशुर तथा पतिदेवकी बड़ी शुश्रूषा करती थी; किंतु राजा द्युमत्सेन अपने राज्यसे च्युत हो गये थे तथा पत्नीसहित अन्धा होनेके कारण वैसी गुणवती राजपुत्रीको पुत्रवधू-रूपमें प्राप्तकर संतुष्ट नहीं थे। 'आजसे चौथे दिन सत्यवान् मर जायगा' ऐसा ब्राह्मणोंके मुखसे सुनकर धर्मपरायणा राजपुत्री सावित्रीने श्वशुरसे आज्ञा लेकर त्रिरात्र-व्रतका अनुष्ठान किया। चौथा दिन आनेपर जब सत्यवान्‌ने लकड़ी, पुष्प एवं फलकी टोहमें जंगलकी ओर प्रस्थान किया, तब याचनाभङ्गसे डरती हुई सावित्री भी सास-श्वशुरकी आज्ञा लेकर दुःखित मनसे पतिके साथ उस भयंकर जंगलमें गयी। (नारदके वचनका ध्यान कर) चित्तमें अतिशय कष्ट रहनेपर भी उसने अपने इस महान् भयको अपने पतिसे व्यक्त नहीं किया, किंतु मन-बहलावके लिये वनमें छोटे-बड़े वृक्षोंके बारेमें पतिसे झूठ-मूठ पूछ-ताछ करती रही। शूरवीर सत्यवान् उस भयंकर वनमें विशाल वृक्षों, पक्षियों एवं पशुओंके दलको दिखला-दिखलाकर थकी हुई एवं कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली राजकुमारी सावित्रीको आश्वासन देता रहा॥ ८—२१॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमें सावित्रीवनप्रवेश नामक दो सौ आठवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥२०८॥

दो सौ नवाँ अध्याय

सत्यवान्‌का सावित्रीको वनकी शोभा दिखाना

सत्यवानुवाच

वनेऽस्मिञ् शाद्वलाकीर्णे सहकारं मनोहरम्। नेत्रघ्राणसुखं पश्य वसन्ते रतिवर्धनम्॥ १॥
वनेऽप्यशोकं दृष्ट्वैनं रागवन्तं सुपुष्पितम्। वसन्तो हसतीवायं मामेवायतलोचने॥ २॥
दक्षिणे दक्षिणेनैतां पश्य रम्यां वनस्थलीम्। पुष्पितैः किंशुकैर्युक्तां ज्वलितानलसप्रभैः॥ ३॥
सुगन्धिकुसुमामोदो वनराजिविनिर्गतः। करोति वायुर्दाक्षिण्यमावयोः क्लमनाशनम्॥ ४॥
पश्चिमेन विशालाक्षि कर्णिकारैः सुपुष्पितैः। काञ्चनेन विभात्येषा वनराजी मनोरमा॥ ५॥
अतिमुक्तलताजालरुद्धमार्गा वनस्थली। रम्या सा चारुसर्वाङ्गि कुसुमोत्करभूषणा॥ ६॥
मधुमत्तालिझंकारव्याजेन वरवर्णिनि। चापाकृष्टिं करोतीव कामः पान्थजिघांसया॥ ७॥
फलास्वादलसद्वक्त्रपुंस्कोकिलविनादिता। विभाति चारुतिलका त्वमिवैषा वनस्थली॥ ८॥
कोकिलश्चूतशिखरे मञ्जरीरेणुपिञ्जरः। गदितैर्व्यक्ततां याति कुलीनश्चेष्टितैरिव॥ ९॥
पुष्परेणुविलिप्ताङ्गीं प्रियामनुसरन् वने। कुसुमं कुसुमं याति कूजन् कामी शिलीमुखः॥ १०॥

सत्यवान्‌ने कहा—विशाल नेत्रोंवाली सावित्री! हरी-हरी घासोंसे भरे हुए इस वनमे वसन्तमे रतिकी वृद्धि करनेवाले एवं नेत्र तथा नासिकाको सुख प्रदान करनेवाले इस मनोहर आमके वृक्षको देखो। इस वनमे फूलोंसे लदे हुए इस लाल अशोक-वृक्षको भी देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो यह वसन्त मेरा ही परिहास कर

रहा है। दाहिनी ओर दक्षिण दिशामें जलते हुए अंगारकी-सी कान्तिवाले फूलोंसे लदे हुए किंशुक-वृक्षोंसे युक्त इस रमणीय वनस्थलीको देखो। सुगन्धित पुष्पोंकी सुगन्धसे युक्त वन-पंक्तियोंसे निकली हुई वायु उदारतापूर्वक हमलोगोंकी थकावटका नाश कर रही है। विशाललोचने! इधर पश्चिममें फूले हुए कनेरके पुष्पोंसे युक्त स्वर्णिम शोभावाली वनपङ्क्ति शोभायमान हो रही है। सुन्दरि! तिनिसके लतासमूहोंसे वनस्थलीका मार्ग अवरुद्ध हो गया है। पुष्पोंके समूहोंसे विभूषित हुई यह पृथ्वी कितनी मनोहर लग रही है। मधुसे उन्मत्त हुए भ्रमर-समूहोंकी गुञ्जारके व्याजसे मालूम पड़ता है कि कामदेव (इन-जैसे) पथिकोंको मारनेके लिये धनुषकी प्रत्यञ्चा खींच रहा है। नाना प्रकारके फलोंके आस्वादनसे उल्लसित मुखवाले कोकिलोंके स्वरसे निनादित एवं सुन्दर तिलक-वृक्षोंसे सुशोभित यह वनस्थली तुम्हारे ही समान शोभा दे रही है। आमकी ऊँची डालीपर बैठी हुई कोकिला मञ्जरीकी भूलसे पीत वर्ण होकर अपने सुरीले शब्दोंसे नेत्रोंद्वारा कुलीन पुरुषकी भाँति अपना परिचय दे रही है। कामी मधुकर वनमें गुनगुनाता हुआ प्रत्येक पुष्पपर पुष्पोंकी धूलिसे धूसरित प्रियतमाका अनुसरण करता हुआ उड़ रहा है ॥ १—१० ॥

मञ्जरीं सहकारस्य कान्ताचञ्च्वाग्रखण्डिताम्। स्वदते बहुपुष्पेऽपि पुंस्कोकिलयुवा वने ॥ ११ ॥
काकः प्रसूतां वृक्षाग्रे स्वामेकाग्रेण चञ्चुना। काकीं सम्भावयत्येष पक्षाच्छादितपुत्रिकाम् ॥ १२ ॥
भूभागं निम्नमासाद्य दयितासहितो युवा। नाहारमपि चादत्ते कामाक्रान्तः कपिंजलः ॥ १३ ॥
कलविंकस्तु रमयन् प्रियोत्सङ्गं समास्थितः। मुहुर्मुहुर्विशालाक्षि उत्कण्ठयति कामिनः ॥ १४ ॥
वृक्षशाखां समारूढः शुकोऽयं सह भार्यया। भरेण लम्बयञ्शाखां करोति सफलामिव ॥ १५ ॥
वनेऽत्र पिशितास्वादतृप्तो निद्रामुपागतः। शेते सिंहयुवा कान्ता चरणान्तरगामिनी ॥ १६ ॥
व्याघ्रयोर्मिथुनं पश्य शैलकन्दरसंस्थितम्। ययोर्नेत्रप्रभालोके गुहा भिन्नेव लक्ष्यते ॥ १७ ॥
अयं द्वीपी प्रियां लेढि जिह्वाग्रेण पुनः पुनः। प्रीतिमायाति च तया लिह्यमानः स्वकान्तया ॥ १८ ॥
उत्सङ्गकृतमूर्धानं निद्रापहृतचेतसम्। जन्तूद्धरणतः कान्तं सुखयन्त्येव वानरी ॥ १९ ॥
भूमौ निपतितां रामां मार्जारो दर्शितोदरीम्। नखैर्दन्तैर्दशत्येष न च पीडयते तथा ॥ २० ॥

वनमें तरुण पुंस्कोकिल अनेक पुष्पोंके रहते हुए भी अपनी प्रियतमाकी चोंचके अग्रभागसे खण्डित हुई आम्र-मञ्जरीका स्वाद ले रहा है। कौआ वृक्षके अग्रभाग-पर बैठकर पंखोंसे बच्चेको छिपाकर बैठी हुई अपनी प्रसूता पत्नीको चोंचके अग्रभागसे आनन्दित कर रहा है। अपनी पत्नीके साथ कामदेवसे अभिभूत हुआ तरुण कपिंजल (तीतर) निचले भूभागपर बैठा हुआ आहार भी नहीं ग्रहण कर रहा है। विशालनेत्रे! चटक (गौरैया) अपनी प्रियाकी गोदमें स्थित हो बारंबार रमण करता हुआ कामीजनोंको उत्कण्ठित कर रहा है। अपनी प्रियाके साथ वृक्षकी डालीपर बैठा हुआ यह शुक पंजेसे शाखाको खींचता हुआ उसे फलयुक्त-सा कर रहा है। इस वनमें मांसाहारसे तृप्त युवा सिंह निद्रामें लीन हो सो रहा है और उसकी प्रियतमा उसके पैरोंके मध्यभागमें शयन कर रही है। पर्वतकी कन्दरामें बैठे हुए व्याघ्र-दम्पत्तिको देखो, जिनके नेत्रोंकी कान्तिसे गुफा भिन्न-सी दिखायी दे रही है। यह गैंडा अपनी प्रियाको जीभके अग्रभागसे बारंबार चाट रहा है और अपनी उस प्रियाद्वारा चाटे जानेपर आनन्दका अनुभव कर रहा है। यह वानरी अपनी गोदमें सिर रखकर गाढ निद्रामें सोते हुए पतिको जूक आदि जन्तुओंको निकालकर सुख दे रही है। यह बिलाव पृथ्वीपर लेटकर पेटको दिखाती हुई अपनी प्रियतमाको नखों और दाँतोंसे काट रहा है, परंतु वास्तवमें वह पीडा नहीं दे रहा है ॥ ११—२० ॥

शशकः शशकी चोभे संसुप्ते पीडिते इमे। संलीनगात्रचरणे कर्णैर्व्यक्तिमुपागते ॥ २१ ॥
स्नात्वा सरसि पद्माढ्ये नागस्तु मदनप्रियः। सम्भावयति तन्वङ्गि मृणालकवलैः प्रियाम् ॥ २२ ॥
कान्तप्रोथसमुत्थानैः कान्तमार्गानुगामिनी। करोति कवलं मुस्तैर्वराही पोतकानुगा ॥ २३ ॥
दृढाङ्गसंधिर्महिषः कर्दमाक्ततनुर्वने। अनुव्रजति धावन्तीं प्रियामुद्धतमुत्सुकः ॥ २४ ॥
पश्य चार्वङ्गि सारङ्गं त्वं कटाक्षविभावनैः। सभार्यं मां हि पश्यन्तं कौतूहलसमन्वितम् ॥ २५ ॥
पश्य पश्चिमपादेन रोही कण्डूयते मुखम्। स्नेहार्द्रभावात् कर्षन्ती भर्तारं शृङ्गकोटिना ॥ २६ ॥
द्रागिमां चमरीं पश्य सितवालानुगच्छतीम्। अन्वास्ते चमरः कामी मां च पश्यति गर्वितः ॥ २७ ॥
आतपे गवयं पश्य प्रकृष्टं भार्यया सह। रोमन्थनं प्रकुर्वाणं काकं ककुदि वारयन् ॥ २८ ॥
पश्याजं भार्यया सार्धं न्यस्ताग्रचरणद्वयम्। विपुले बदरीस्कन्धे बदराशनकाम्यया ॥ २९ ॥
हंसं सभार्यं सरसि विचरन्तं सुनिर्मलम्। सुसुक्तस्येन्दुबिम्बस्य पश्य वै श्रियमुद्वहन् ॥ ३० ॥
सभार्यश्चक्रवाकोऽयं कमलाकरमध्यगः। करोति पद्मिनीं कान्तां सुपुष्पामिव सुन्दरि ॥ ३१ ॥
मया फलोच्चयः सुभ्रु त्वया पुष्पोच्चयः कृतः। इन्धनं न कृतं सुभ्रु तत्करिष्यामि साम्प्रतम् ॥ ३२ ॥
त्वमस्य सरसस्तीरे द्रुमच्छायां समाश्रिता। क्षणमात्रं प्रतीक्षस्व विश्रमस्व च भामिनि ॥ ३३ ॥

ये खरगोश-दम्पति पीड़ित होकर अपने पैरोंको शरीरमें छिपाकर सो रहे हैं। ये कानोंद्वारा ही जाने जा सकते हैं। सूक्ष्माङ्गि ! कामार्त हाथी कमलयुक्त सरोवरमें स्नान कर कमल-डंठलोंके ग्रासोंसे प्रियाको संतुष्ट कर रहा है। पीछे-पीछे चलनेवाले अपने बच्चोंसे घिरी हुई शूकरी प्रियतमके मार्गपर चलती हुई प्रियतमके द्वारा उखाड़े गये मोथोंको खाती जा रही है। इस वनमे दृढ़ अङ्गोंवाला एवं शरीरमें कीचड़ पोते हुए कामार्त महिष भागती हुई प्रियाके पीछे दौड़ रहा है। सुन्दरि ! अपनी प्रियाके सहित इस मृगको देखो, जो कुतूहलवश मुझे मनोहर कटाक्षोंसे देख रहा है। देखो, वह मृगी स्नेहयुक्त हो अपने सींगोंके अग्रभागसे प्रियतमको ढकेलती हुई पिछले पैरसे मुखको खुजला रही है। अरे, उस श्वेत चमरी गायको देखो, जो चमरके पीछे चली जा रही है। इधर कामार्त चमर खडा है और गर्वके साथ मेरी ओर देख रहा है। धूपमे बैठे हुए उस नीलगायको देखो, जो अपनी प्रियाके साथ आनन्दपूर्वक जुगाली कर रहा है और ककुद्‌पर बैठे हुए कौवेका निवारण कर रहा है। प्रियाके साथ उस बकरेको देखो, जो बेर वृक्षकी मोटी शाखापर फल खानेकी इच्छासे अगले दोनो पैरोंको रखे हुए है। सरोवरमें विचरण करते हुए हंसिनीसहित उस अत्यन्त निर्मल हंसको देखो, जो सुप्रकाशित चन्द्रबिम्बकी शोभा धारण कर रहा है। सुन्दरि ! चक्रवाक अपनी प्रियाके साथ कमलोंसे सुशोभित सरोवरमे अपनी प्रियाको फूली हुई पद्मिनीके समान कर रहा है। (ऐसा कहकर सत्यवान्‌ने फिर कहा—) सुन्दर भौहोंवाली ! मै फलोको एकत्र कर चुका तथा तुम पुष्पोको एकत्र कर चुकी, किंतु अभी ईंधनका कोई प्रबन्ध नहीं किया गया, अतः अब मे उसे एकत्र करूँगा। भामिनि ! तबतक तुम इस सरोवरके तटपर वृक्षकी छायामे बैठकर क्षणभर प्रतीक्षा करते हुए विश्राम करो ॥ २१–३३ ॥

सावित्र्युवाच

एवमेतत् करिष्यामि मम दृष्टिपथस्त्वया। दूरं कान्त न कर्तव्यो बिभेमि गहने वने ॥ ३४ ॥

सावित्री बोली—कान्त ! जैसा आप कहेगे, मै वैसा ही करूँगी, परंतु आप मेरे नेत्रोके सामनेसे दूर न जायँ; क्योंकि मै इस घने वनमे डर रही हूँ ॥ ३४ ॥

मत्स्य उवाच

ततः स काष्ठानि चकार तस्मिन् वने तदा राजसुतासमक्षम्।
तस्या ह्यदूरे सरसस्तदानीं मेने च सा तं मृतमेव राजन्॥ ३५॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने वनदर्शनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०९॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! सावित्रीके ऐसा कहने-पर सत्यवान् उस वनमें राजपुत्रीके सम्मुख ही उस सरोवरसे थोड़ी ही दूरपर काष्ठ एकत्र करने लगे, परंतु राजपुत्री उतनी दूर जानेपर भी उन्हें मरा हुआ-सा मानने लगी।

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमें वनदर्शन नामक दो सौ नवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २०९॥

दो सौ दसवाँ अध्याय

यमराजका सत्यवान्‌के प्राणको बाँधना तथा सावित्री और यमराजका वार्तालाप

मत्स्य उवाच

तस्य पाटयतः काष्ठं जज्ञे शिरसि वेदना। स वेदनार्तः संगम्य भार्यां वचनमब्रवीत्॥ १॥
आयासेन ममानेन जाता शिरसि वेदना। तमश्च प्रविशामीव न च जानामि किंचन॥ २॥
त्वदुत्सङ्गे शिरः कृत्वा स्वप्तुमिच्छामि साम्प्रतम्। राजपुत्रीमेवमुक्त्वा तदा सुष्वाप पार्थिव॥ ३॥
तदुत्सङ्गे शिरः कृत्वा निद्रयाऽऽविललोचनः। पतिव्रता महाभागा ततः सा राजकन्यका॥ ४॥
ददर्श धर्मराजं तु स्वयं तं देशमागतम्। नीलोत्पलदलश्यामं पीताम्बरधरं प्रभुम्॥ ५॥
विद्युल्लतानिबद्धाङ्गं सतोयमिव तोयदम्। किरीटेनार्कवर्णेन कुण्डलाभ्यां विराजितम्॥ ६॥
हारभारार्पितोरस्कं तथाङ्गदविभूषितम्। तथानुगम्यमानं च कालेन सह मृत्युना॥ ७॥
स तु सम्प्राप्य तं देशं देहात् सत्यवतस्तदा। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं पाशबद्धं वशं गतम्॥ ८॥
आकृष्य दक्षिणामाशां प्रययौ सत्वरं तदा। सावित्र्यपि वरारोहा दृष्ट्वा तं गतजीवितम्॥ ९॥
अनुवव्राज गच्छन्तं धर्मराजमतन्द्रिता। कृताञ्जलिरुवाचाथ हृदयेन प्रवेपता॥ १०॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया चैव ब्रह्मलोकं समश्नुते॥ ११॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ १२॥
यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्। तेषां च नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः॥ १३॥
तेषामनुपरोधेन पारतन्त्र्यं यदा चरेत्।
तत्तन्निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः। त्रिष्वप्येतेषु कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते॥ १४॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! लकड़ी काटते हुए सत्यवान्‌के सिरमें पीड़ा उत्पन्न हुई, तब वे पीड़ासे व्याकुल हो पत्नीके पास आकर इस प्रकार कहने लगे—'इस परिश्रमसे मेरे सिरमें बहुत पीड़ा हो रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मै अन्धकारमें प्रविष्ट हो रहा हूँ। मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा है। इस समय में तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सोना चाहता हूँ।' राजन्! राजपुत्रीसे ऐसा कहकर सत्यवान् उस समय उसकी गोदमें सो गये। जब सावित्रीकी गोदमें सिर रखकर सोते हुए सत्यवान्‌के नेत्र निद्रावश मुँद गये, तब उस पतिव्रता महाभागा राजपुत्री सावित्रीने उस स्थानपर आये हुए सामर्थ्यशाली स्वयं धर्मराजको देखा, जो नीले कमलके-से श्यामवर्णसे सुशोभित और पीताम्बर धारण किये हुए थे। वे चमकती हुई बिजलियोंसे युक्त जलपूर्ण

मेघ-जैसे दीख रहे थे तथा सूर्यके समान तेजस्वी मुकुट और दो कुण्डलोंसे सुशोभित थे। उनके वक्षःस्थलपर हार लटक रहा था। वे बाजूबंदसे विभूषित थे तथा उनके पीछे मृत्युसहित महाकाल भी था। धर्मराजने उस स्थानपर पहुँचकर उस समय सत्यवान्‌के शरीरसे अंगूठेके परिमाणवाले पुरुषको पाशमें बाँधकर अपने अधीन किया और उसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया। तब आलस्यरहित हो सुन्दरी सावित्री पतिको प्राणरहित देखकर जाते हुए धर्मराजके पीछे-पीछे चली और काँपते हुए हृदयसे अञ्जलि बाँधकर धर्मराजसे बोली—'माताकी भक्तिसे इस लोक, पिताकी भक्तिसे मध्यम लोक और गुरुकी शुश्रूषासे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। जो इन तीनोंका आदर करता है, उसने मानो सभी धर्मोंका पालन कर लिया तथा जिसने इन तीनोंका आदर नहीं किया, उसकी सारी सत्क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। जबतक ये तीनों जीवित रहें, तबतक किसी अन्य धर्मके पालनकी आवश्यकता नहीं है। उनके प्रिय एवं सुखके कार्योंमें तत्पर रहकर नित्य उनकी शुश्रूषा करनी चाहिये। उनकी आज्ञासे यदि कभी परतन्त्रता भी स्वीकार करनी पड़े तो वह सब मन-वचन-कर्मद्वारा उन्हें निवेदित कर देना चाहिये। पुरुषके सारे कर्म माता, पिता और गुरु—इन्हीं तीनोंमें समाप्त हो जाते हैं ॥ १–१४ ॥

यम उवाच

कृतेन कामेन निवर्तयाशु धर्मो न तेभ्योऽपि हि उच्यते च।
ममोपरोधस्तव च क्लमः स्यात्तथाधुना तेन तव ब्रवीमि ॥ १५ ॥
गुरुपूजारतिर्भर्ता त्वं च साध्वी पतिव्रता। विनिवर्तस्व धर्मज्ञे ग्लानिर्भवति तेऽधुना ॥ १६ ॥

यमराजने कहा—तुम हमसे जिस कामनाको पूर्ण करानेके लिये आ रही हो उस कामनाको छोड़ दो और शीघ्र लौट जाओ। सचमुच संसारमें माता-पिता तथा गुरुकी सेवासे बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है। तुम्हारे इस प्रकार पीछे-पीछे आनेसे मेरे काममें विघ्न पड़ रहा है और तुम भी थकावटसे चूर हो रही हो। इसलिये मैं इस समय तुमसे ऐसा कह रहा हूँ। धर्मज्ञे! तुम्हारा पति सचमुच गुरुजनोंकी पूजामें प्रेम करनेवाला है और तुम भी पतिव्रता साध्वी हो। इस समय तुम्हें कष्ट हो रहा है, अतः तुम लौट जाओ ॥१५–१६॥

सावित्र्युवाच

पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्। अनुगम्यः स्त्रिया साध्व्या पतिः प्राणधनेश्वरः ॥ १७ ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य प्रदातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ १८ ॥
नीयते यत्र भर्ता मे स्वयं वा यत्र गच्छति। मयापि तत्र गन्तव्यं यथाशक्ति सुरोत्तम ॥ १९ ॥
पतिमादाय गच्छन्तमनुगन्तुमहं यदा। त्वां देव न हि शक्ष्यामि तदा त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥
मनस्विनी तु या काचिद्वैधव्याक्षरदूषिता। मुहूर्तमपि जीवेत मण्डनार्हा ह्यमण्डिता ॥ २१ ॥

सावित्री बोली—स्त्रियोंका पति ही देवता है, पति ही उसको शरण देनेवाला है, इसलिये साध्वी स्त्रियोंको प्राणपति प्रियतमका अनुगमन करना चाहिये। पिता, भाई तथा पुत्र परिमित सम्पत्ति देनेवाले हैं, किंतु पति अपरिमित सम्पत्तिका दाता है। भला, ऐसे पतिकी कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी। सुरोत्तम! आप मेरे पतिको जहाँ ले जा रहे हैं अथवा स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी यथाशक्ति जाना चाहिये। देव! मेरे प्राणपतिको ले जाते हुए आपके पीछे चलनेमें यदि मै समर्थ न हो सकूँगी तो प्राणोंको त्याग दूँगी। जो कोई मनस्विनी स्त्री वैधव्य-धर्मसे दूषित होकर मुहूर्तभर जीवित रहती है तो वह सभी आभूषणोसे अलंकृत होते हुए भी भाग्यहीन है ॥ १७–२१ ॥

यम उवाच

पतिव्रते महाभागे परितुष्टोऽस्मि ते शुभे। विना सत्यवतः प्राणैर्वरं वरय मा चिरम्॥ २२॥

यमने कहा—महाभाग्यशालिनी पतिव्रते! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, अतः शुभे! सत्यवान्‌के प्राणोंको छोड़कर कोई भी वरदान माँग लो, देर मत करो॥ २२॥

सावित्र्युवाच

विनष्टचक्षुषो राज्यं चक्षुषा सह कारय। च्युतराज्यस्य धर्मज्ञ श्वशुरस्य महात्मनः॥ २३॥

सावित्री बोली—धर्मज्ञ! जो राज्यसे च्युत हो गये हैं तथा जिनकी आँखें नष्ट हो गयी हैं, ऐसे मेरे महात्मा श्वशुरको राज्य और नेत्रसे संयुक्त कर दीजिये॥ २३॥

यम उवाच

दूरे पथे गच्छ निवर्त भद्रे भविष्यतीदं सकलं त्वयोक्तम्।
ममोपरोधस्तव च क्लमः स्यात्तथाधुना तेन तव ब्रवीमि॥ २४॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने प्रथमवरलाभो नाम दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१०॥

यमराजने कहा—भद्रे! तुम बहुत दूरतक चली आयी हो, अतः अब लौट जाओ। तुम्हारी यह सब अभिलाषा पूर्ण होगी। तुम्हारे चलनेसे मेरे काममें विघ्न पड़ेगा और तुम्हें भी थकावट होगी, इसीलिये इस समय मैं तुमसे ऐसा कह रहा हूँ॥ २४॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमें प्रथम वरलाभ नामक दो सौ दसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥२१०॥

दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय

सावित्रीको यमराजसे द्वितीय वरदानकी प्राप्ति

सावित्र्युवाच

कुतः क्लमः कुतो दुःखं सद्भिः सह समागमे। सतां तस्मान्न मे ग्लानिस्त्वत्समीपे सुरोत्तम॥ १॥
साधूनां वाप्यसाधूनां संत एव सदा गतिः। नैवासतां नैव सतामसन्तो नैवमात्मनः॥ २॥
विषाग्निसर्पशस्त्रेभ्यो न तथा जायते भयम्। अकारणजगद्वैरिखलेभ्यो जायते तथा॥ ३॥
संतः प्राणानपि त्यक्त्वा परार्थं कुर्वते यथा। तथासंतोऽपि संत्यज्य परपीडासु तत्पराः॥ ४॥
त्यजत्यसूनयं लोकस्तृणवद् यस्य कारणात्। परोपघातशक्तास्तं परलोकं तथासतः॥ ५॥
निकायेषु निकायेषु तथा ब्रह्मा जगद्गुरुः। असतामुपघाताय राजानं सृष्टवान् स्वयम्॥ ६॥
नरान् परीक्षयेद् राजा साधून् सम्मानयेत् सदा। निग्रहं चासतां कुर्यात् स लोके लोकजित्तमः॥ ७॥
निग्रहेणासतां राजा सतां च परिपालनात्। एतावदेव कर्तव्यं राज्ञा स्वर्गमभीप्सुना॥ ८॥
राजकृत्यं हि लोकेषु नास्त्यन्यज्जगतीपते। असतां निग्रहादेव सतां च परिपालनात्॥ ९॥
राजभिश्चाप्यशास्तानामसतां शासिता भवान्। तेन त्वमधिको देवो देवेभ्यः प्रतिभासि मे॥ १०॥
जगत्तु धार्यते सद्भिः सतामप्यस्तथा भवान्। तेन त्वामनुयान्त्या मे क्लमो देव न विद्यते॥ ११॥

सावित्रीने कहा—देवश्रेष्ठ! सत्पुरुषोंके साथ समागम होनेपर कैसा परिश्रम? और कैसा दुःख? आप-जैसे महानुभावोंके समीपमें मुझे किसी प्रकारकी भी ग्लानि नहीं है। चाहे साधु प्रकृतिके हो या असाधु प्रकृतिके,

सभीके निर्वाहक सदा सत्पुरुष ही होते हैं, किंतु असत्पुरुष न तो सज्जनोंके काम आ सकते हैं, न असत्पुरुषोंके ही और न स्वयं अपना ही कल्याण कर सकते हैं। विष, अग्नि, सर्प तथा शस्त्रसे लोगोंको उतना भय नहीं होता, जितना अकारण जगत्से वैर करनेवाले दुष्टोंसे होता है। जैसे सत्पुरुष अपने प्राणोंका विसर्जन करके भी परोपकार करते हैं, उसी प्रकार दुर्जन भी अपने प्राणोंका परित्याग कर दूसरेको कष्ट देनेमे तत्पर रहते हैं। जिस परलोककी प्राप्तिके लिये सत्पुरुष अपने प्राणोंको भी तृणके समान त्याग देते हैं, उसी परलोककी परायी हानिमे निरत रहनेवाले दुर्जन कुछ भी चिन्ता नहीं करते। स्वयं जगद्गुरु ब्रह्माने सभी प्राणि-समूहोंमे असत्प्राणियोंके निग्रहके लिये राजाको नियुक्त किया है। राजा सर्वदा पुरुषोंकी परीक्षा करे। जो सज्जन हों, उनका आदर करे और दुष्टोंको दण्ड दे। जो ऐसा करता है, वह सभी लोकविजेता राजाओंमें श्रेष्ठ है। सत्पुरुषोंको सम्मान देने तथा दुष्टोंका निग्रह करनेके कारण ही वह राजा है। स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले राजाको इन दोनों कार्योंका पालन करना चाहिये। जगतीपते! राजाओंके लिये सत्पुरुषोके परिपालन तथा दुष्टोंके नियमनके अतिरिक्त दूसरा कोई राजधर्म संसारमें नहीं है। उन राजाओंद्वारा भी जो दुष्ट शासित नहीं किये जा सकते, ऐसे दुर्जनोंके शासक आप हैं, इसी कारण आप मुझे सभी देवताओसे अधिक महत्त्वशाली देवता प्रतीत हो रहे हैं। यह जगत् सत्पुरुषोंद्वारा धारण किया जाता है तथा आप उन सत्पुरुषोके अग्रणी हैं, इसलिये देव! आपके पीछे चलते हुए मुझे कुछ भी क्लेश नहीं है ॥१—११॥

यम उवाच

तुष्टोऽस्मि ते विशालाक्षि वचनैर्धर्मसङ्गतैः। विना सत्यवतः प्राणाद् वरं वरय मा चिरम्॥ १२॥

यमराज बोले—विशालाक्षि! तुम्हारे इन धर्मयुक्त वचनोंसे मै प्रसन्न हूँ, अतः सत्यवान्के प्राणोंके अतिरिक्त दूसरा वर माँग लो, देर न करो ॥ १२ ॥

सावित्र्युवाच

सहोदराणां भ्रातॄणां कामयामि शतं विभो। अनपत्यः पिता प्रीतिं पुत्रलाभात् प्रयातु मे॥ १३॥
तामुवाच यमो गच्छ यथागतमनिन्दिते। और्ध्वदेहिककार्येषु यत्नं भर्तुः समाचर॥ १४॥
नानुगन्तुमयं शक्यस्त्वया लोकान्तरं गतः। पतिव्रतासि तेन त्वं मुहूर्तं मम यास्यसि॥ १५॥
गुरुशुश्रूषणाद् भद्रे तथा सत्यवता महत्। पुण्यं समर्जितं येन नयाम्येनमहं स्वयम्॥ १६॥
एतावदेव कर्तव्यं पुरुषेण विजानता। मातुः पितुश्च शुश्रूषा गुरोश्च वरवर्णिनि॥ १७॥
तोषितं त्रयमेतच्च सदा सत्यवता वने। पूजितं विजितः स्वर्गस्त्वयानेन चिरं शुभे॥ १८॥
तपसा ब्रह्मचर्येण अग्निशुश्रूषया शुभे। पुरुषाः स्वर्गमायान्ति गुरुशुश्रूषया तथा॥ १९॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः। नाचैतेऽप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन तु विशेषतः॥ २०॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता वै मूर्तिरात्मनः॥ २१॥
जन्मना पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ २२॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य तु सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ २३॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न च तैरननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥ २४॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। त एव च त्रयो वेदास्तथैवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥ २५॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माता दक्षिणतः स्मृतः। गुरुराहवनीयश्च साग्नित्रेता गरीयसी॥ २६॥

त्रिषु प्रमाद्यते नैषु त्रींल्लोकान् जयते गृही। दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ॥ २७ ॥
कृतेन कामेन निवर्त्त भद्रे भविष्यतीदं सकलं त्वयोक्तम्।
ममोपरोधस्तव च क्लमः स्यात्तथाधुना तेन तव ब्रवीमि ॥ २८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने द्वितीयवरलाभो नामैकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

सावित्रीने कहा—विभो! मैं सौ सहोदर भाइयोंकी अभिलाषिणी हूँ। मेरे पिता पुत्रहीन हैं, अतः वे पुत्र-लाभसे प्रसन्न हों। तब यमराजने सावित्रीसे कहा—'अनिन्दिते! तुम जैसे आयी हो, वैसे ही लौट जाओ तथा अपने पतिके और्ध्वदैहिक क्रियाओंके लिये यत्न करो। अब यह दूसरे लोकमें चला गया है, अतः तुम इसके पीछे नहीं चल सकती। चूँकि तुम पतिव्रता हो, अतः दो घड़ीतक और मेरे साथ चल सकती हो। भद्रे! सत्यवान्‌ने गुरुजनोंकी शुश्रूषा कर महान् पुण्य अर्जित किया है, अतः मैं स्वयं इसे ले जा रहा हूँ। सुन्दरि! विद्वान् पुरुषको माता, पिता तथा गुरुकी सेवामें सदा तत्पर रहना चाहिये। सत्यवान्‌ने वनमें इन तीनोंको अपनी शुश्रूषासे प्रसन्न किया है। शुभे! इसके साथ तुमने भी स्वर्गको जीत लिया है। शुभे! मनुष्य तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा अग्नि और गुरुकी शुश्रूषासे स्वर्गको प्राप्त करते हैं, अतः विशेषरूपसे ब्राह्मणको आचार्य, पिता, माता तथा बड़े भाईका कभी अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि आचार्य ब्रह्माका, पिता प्रजापतिका, माता पृथ्वीका और भाई अपना ही स्वरूप है। मनुष्यके जन्मके समय माता और पिता जो कष्ट सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता। अतः मनुष्यको माता, पिता तथा आचार्यका सर्वदा प्रिय कार्य करना चाहिये; क्योंकि इन तीनोंके संतुष्ट होनेपर सभी तपस्याएँ सम्पन्न हो जाती हैं। इन तीनोंकी शुश्रूषा परम तपस्या कही गयी है, अतः उनकी आज्ञाके बिना किसी अन्य धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। वे ही तीनों लोक हैं, वे ही तीनों आश्रम हैं, वे ही तीनों वेद हैं तथा तीनों अग्नियाँ भी वे ही कहलाते हैं। पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि तथा गुरु आहवनीयाग्नि है। ये तीनों अग्नियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। जो गृहस्थ इन तीनों गुरुजनोंकी सेवामें कभी असावधानी नहीं करता, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है और अपने शरीरसे देवताओंके समान देदीप्यमान होते हुए स्वर्गमें आनन्दका अनुभव करता है। भद्रे! तुम्हारा काम पूरा हो गया, अब तुम लौट जाओ। तुम्हारेद्वारा कही हुई वे सारी बातें पूर्ण होंगी। इस प्रकार हमारे पीछे आनेसे मेरे कार्यमें विघ्न पड़ता है और तुम्हें भी कष्ट हो रहा है, इसीलिये मैं इस समय तुमसे ऐसा कह रहा हूँ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमें द्वितीय वरका लाभ नामक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २११ ॥

दो सौ बारहवाँ अध्याय

यमराज-सावित्री-संवाद तथा यमराजद्वारा सावित्रीको तृतीय वरदानकी प्राप्ति

सावित्र्युवाच

धर्मार्जने सुरश्रेष्ठ कुतो ग्लानिः क्लमस्तथा। त्वत्पादमूलसेवा च परमं धर्मकारणम् ॥ १ ॥
धर्मार्जनं तथा कार्यं पुरुषेण विजानता। तल्लाभः सर्वलाभेभ्यो यदा देव विशिष्यते ॥ २ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रिवर्गो जन्मनः फलम्। धर्महीनस्य कामार्थौ वन्ध्यासुतसमौ प्रभो ॥ ३ ॥

धर्मादर्थस्तथा कामो धर्माल्लोकद्वयं तथा। धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचनगामिनम्॥ ४ ॥
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति। एको हि जायते जन्तुरेक एव विपद्यते॥ ५ ॥
धर्मस्तमनुयात्येको न सुहृन्न च बान्धवाः। क्रिया सौभाग्यलावण्यं सर्वं धर्मेण लभ्यते॥ ६ ॥
ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रसर्वेन्दुयमार्काग्न्यनिलाम्भसाम्। वस्वश्विधनदाद्यानां ये लोकाः सर्वकामदाः॥ ७ ॥
धर्मेण तानवाप्नोति पुरुषः पुरुषान्तक। मनोहराणि द्वीपानि वर्षाणि सुसुखानि च॥ ८ ॥
प्रयान्ति धर्मेण नरास्तथैव नरगण्डिकाः। नन्दनादीनि मुख्यानि देवोद्यानानि यानि च॥ ९ ॥
तानि पुण्येन लभ्यन्ते नाकपृष्ठं तथा नरैः। विमानानि विचित्राणि तथैवाप्सरसः शुभाः॥१०॥

सावित्रीने कहा—देवश्रेष्ठ! धर्मोपार्जनके कार्यमे कैसी ग्लानि और कैसा कष्ट? आपके चरणमूलकी सेवा ही परम धर्मका कारण है। देव! ज्ञानी पुरुषको सर्वदा धर्मोपार्जन करना चाहिये; क्योंकि उसका लाभ सभी लाभोंसे विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रभो! धर्म, अर्थ और काम—ये तीनो एक साथ संसारमे जन्म लेनेके फल हैं; क्योंकि धर्महीन पुरुषके अर्थ और काम वन्ध्याके पुत्रकी भाँति निष्फल है। धर्मसे अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है तथा धर्मसे ही दोनों लोक सिद्ध होते हैं। जहाँ-कहीं भी जानेवाले प्राणीके पीछे अकेले धर्म ही जाता है। अन्य सभी वस्तुएँ शरीरके साथ ही नष्ट हो जाती हैं। प्राणी अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरकर जाता है। एक धर्म ही उसके पीछे-पीछे जाता है, मित्र एवं भाई-बन्धु कोई भी साथ नहीं देता। कार्योंमे सफलता, सौभाग्य और सौन्दर्य आदि सब कुछ धर्मसे ही प्राप्त होते हैं। पुरुषान्तक! ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, शिव, चन्द्रमा, यम, सूर्य, अग्नि, वायु, वरुण, वसुगण, अश्विनीकुमार एवं कुबेर आदि देवताओंके जो सभी मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले लोक हैं, उन सबको मनुष्य धर्मके द्वारा ही प्राप्त करता है। मनुष्य मनोहर द्वीपो एवं सुखदायी वर्षोंको धर्मके द्वारा ही प्राप्त करते हैं। देवताओके जो नन्दनादि मुख्य उद्यान हैं, वे भी मनुष्योंको पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार स्वर्ग, विचित्र विमान और सुन्दर अप्सराएँ पुण्यसे ही प्राप्त होती हैं॥ १—१० ॥

तैजसानि शरीराणि सदा पुण्यवतां फलम्। राज्यं नृपतिपूजा च कामसिद्धिस्तथेप्सिता॥११॥
संस्काराणि च मुख्यानि फलं पुण्यस्य दृश्यते। रुक्मवैदूर्यदण्डानि चण्डांशुसदृशानि च॥१२॥
चामराणि सुराध्यक्ष भवन्ति शुभकर्मणाम्। पूर्णेन्दुमण्डलाभेन रत्नांशुकविकासिना॥१३॥
धार्यतां याति छत्रेण नरः पुण्येन कर्मणा। जयशङ्खस्वरौघेण सूतमागधनिःस्वनैः॥१४॥
वरासनं सभृङ्गारं फलं पुण्यस्य कर्मणः। वरान्नपानं गीतं च भृत्यमाल्यानुलेपनम्॥१५॥
रत्नवस्त्राणि मुख्यानि फलं पुण्यस्य कर्मणः। रूपौदार्यगुणोपेताः स्त्रियश्चातिमनोहराः॥१६॥
वासाः प्रासादपृष्ठेषु भवन्ति शुभकर्मिणाम्। सुवर्णकिङ्किणीमिश्रचामरापीडधारिणः॥१७॥
वहन्ति तुरगा देव नरं पुण्येन कर्मणा। हैमकक्षैश्च मातङ्गैश्चलत्पर्वतसंनिभैः॥१८॥
खेलद्भिः पादविन्यासैर्यान्ति पुण्येन कर्मणा। सर्वकामप्रदे देव सर्वाघदुरितापहे॥१९॥
वहन्ति भक्तिं पुरुषः सदा पुण्येन कर्मणा। तस्य द्वाराणि यजनं तपो दानं दमः क्षमा॥२०॥
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यं तीर्थानुसरणं शुभम्। स्वाध्यायसेवा साधूनां सहवासः सुरार्चनम्॥२१॥
गुरूणां चैव शुश्रूषा ब्राह्मणानां च पूजनम्। इन्द्रियाणां जयश्चैव ब्रह्मचर्यममत्सरम्॥२२॥
तस्माद् धर्मः सदा कार्यो नित्यमेव विजानता। न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाकृतम्॥२३॥
बाल एव चरेद् धर्ममनित्यं देव जीवितम्। को हि जानाति कस्याद्य मृत्युरेवा पतिष्यति॥२४॥
पश्यतोऽप्यस्य लोकस्य मरणं पुरतः स्थितम्। अमरस्येव चरितमत्याश्चर्यं सुरोत्तम॥२५॥

युवत्वापेक्षया बालो वृद्धत्वापेक्षया युवा। मृत्युरुत्सङ्गमारूढः स्थविरः किमपेक्षते ॥ २६ ॥
तत्रापि विन्दतस्त्राणं मृत्युना तस्य का गतिः।
न भयं मरणं चैव प्राणिनामभयं क्वचित्। तत्रापि निर्भयाः सन्तः सदा सुकृतकारिणः ॥ २७ ॥

पुण्यशाली मनुष्योंके तेजस्वी शरीर पुण्यके ही फल हैं। राज्यकी प्राप्ति, राजाओंद्वारा सम्मान, अभीष्ट मनोरथोंकी सिद्धि तथा मुख्य संस्कार---ये सभी पुण्यके ही फल देखे जाते हैं। देवाध्यक्ष! पुण्यवान् पुरुषोंके चँवर सुवर्ण तथा वैदूर्यके बने हुए डंडेवाले तथा सूर्यके समान तेजोमय होते हैं। पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके समान कान्तिमान् एवं रत्नजटित वस्त्रसे सुशोभित छत्र मनुष्यको पुण्य कर्मसे ही प्राप्त होता है। विजयकी सूचना देनेवाले शङ्ख-स्वरों तथा मागध-बन्दियोंकी माङ्गलिक ध्वनियोंके साथ अभिषेक-पात्रसहित श्रेष्ठ सिंहासनका प्राप्त होना पुण्यकर्मका ही फल है। उत्तम अन्न, जल, गीत, अनुचर, मालाएँ, चन्दन, रत्न तथा बहुमूल्य वस्त्र---ये सब पुण्यकर्मोंके फल हैं। सुन्दरता और औदार्य गुणोंसे युक्त अतिशय मनोहर स्त्रियाँ और उच्च महलोंपर निवास शुभ कर्मियोंको प्राप्त होते हैं। देव! मस्तकपर स्वर्णकी घंटियोंसे युक्त चमर धारण करनेवाले घोडे पुण्यकर्मसे ही मनुष्यको वहन करते हैं। चलते हुए पर्वतोंके समान, सुवर्णनिर्मित अम्बारीसे सुशोभित तथा चञ्चल पादविन्याससे युक्त हाथियोंकी सवारी पुण्य-कर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होती है। देव! सभी मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले एवं सभी पापोंको दूर करनेवाले स्वर्गमें पुरुष सदा पुण्यकर्मोंके प्रभावसे ही भक्ति प्राप्त करते हैं। उसकी प्राप्तिके उपाय हैं---यज्ञ, तप, दान, इन्द्रियनिग्रह, क्षमाशीलता, ब्रह्मचर्य, सत्य, शुभदायक तीर्थोंकी यात्रा, स्वाध्याय, सेवा, सत्पुरुषोंकी संगति, देवार्चन, गुरुजनोंकी शुश्रूषा, ब्राह्मणोंकी पूजा, इन्द्रियोंको वशमें रखना तथा मत्सररहित ब्रह्मचर्य। इसलिये विद्वान् पुरुषको सर्वदा धर्माचरण करना चाहिये; क्योंकि मृत्यु इसकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कार्य पूरा किया अथवा नहीं। देव! मनुष्यको बाल्यावस्थासे ही धर्माचरण करना चाहिये; क्योंकि यह जीवन नश्वर है। यह कौन जानता है कि आज किसकी मृत्यु हो जायगी। सुरोत्तम! इस जीवके देखते हुए भी मृत्यु सामने खड़ी रहती है, फिर भी वह मृत्युरहित की भाँति आचरण करता है---यह महान् आश्चर्य है। युवककी अपेक्षा बालक और वृद्धकी अपेक्षा युवक अपनेको मृत्युसे दूर मानता है, किंतु मृत्युकी गोदमें बैठा हुआ वृद्ध किसकी अपेक्षा करता है। इतनेपर भी जो मृत्युसे रक्षाके उपाय सोचते हैं, उनकी क्या गति होगी? प्राणधारियोंको इस जगत्में केवल मृत्युसे भय ही नहीं है, उनके लिये कहीं अभयस्थान भी नहीं है। तथापि पुण्यवान् सत्पुरुष सर्वदा निर्भय होकर संसारमें जीवित रहते हैं ॥ ११--२७ ॥

यम उवाच

तुष्टोऽस्मि ते विशालाक्षि वचनैर्धर्मसंगतैः। विना सत्यवतः प्राणान् वरं वरय मा चिरम् ॥ २८ ॥

यमराज बोले---विशालाक्षि! तुम्हारी इन धर्मयुक्त बातोंसे मैं विशेष संतुष्ट हूँ, अतः तुम सत्यवान्‌के प्राणोंके अतिरिक्त अन्य वर माँग लो, देर मत करो ॥ २८ ॥

सावित्र्युवाच

वरयामि त्वया दत्तं पुत्राणां शतमौरसम्। अनपत्यस्य लोकेषु गतिः किल न विद्यते ॥ २९ ॥

सावित्रीने कहा---देव! मैं आपसे अपनी कोखसे उत्पन्न होनेवाले सौ पुत्रोंका वरदान माँगती हूँ; क्योंकि लोकोंमें पुत्रहीनकी सद्गति नहीं होती ॥ २९ ॥

यम उवाच

कृतेन कामेन निवर्त भद्रे भविष्यतीदं सफलं यथोक्तम्।
ममोपरोधस्तव च क्लमः स्यात् तथाधुना तेन तव ब्रवीमि ॥ ३० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने तृतीयवरलाभो नाम द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

यमराज बोले—भद्रे ! अब तुम शेष अभीष्ट कामनाको छोड़कर लौट जाओ, तुम्हारी यह याचना भी सफल होगी। इस प्रकार तुम्हारे अनुगमनसे मेरे कार्योंमे विघ्न होगा और तुम्हे भी कष्ट होगा, इसीलिये मै तुमसे इस समय ऐसा कह रहा हूँ ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमे तृतीयवर-लाभ नामक दो सौ बारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २१२ ॥

दो सौ तेरहवाँ अध्याय

सावित्रीकी विजय और सत्यवान्‌की बन्धन-मुक्ति

सावित्र्युवाच

धर्माधर्मविधानज्ञ सर्वधर्मप्रवर्तक। त्वमेव जगतो नाथः प्रजासंयमनो यमः ॥ १ ॥
कर्मणामनुरूपेण यस्माद् यमयसे प्रजाः। तस्माद् वै प्रोच्यसे देव यम इत्येव नामतः ॥ २ ॥
धर्मेणेमाः प्रजाः सर्वा यस्माद् रञ्जयसे प्रभो। तस्मात् ते धर्मराजेति नाम सद्भिर्निगद्यते ॥ ३ ॥
सुकृतं दुष्कृतं चोभे पुरोधाय यदा जनाः। त्वत्सकाशं मृता यान्ति तस्मात् त्वं मृत्युरुच्यते ॥ ४ ॥
कालं कलार्धं कलयन् सर्वेषां त्वं हि तिष्ठसि। तस्मात् कालेति ते नाम प्रोच्यते तत्त्वदर्शिभिः ॥ ५ ॥
सर्वेषामेव भूतानां यस्मादन्तकरो महान्। तस्मात् त्वमन्तकः प्रोक्तः सर्वदेवैर्महाद्युते ॥ ६ ॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रथमं परिकीर्तितः। तस्माद् वैवस्वतो नाम्ना सर्वलोकेषु कथ्यसे ॥ ७ ॥
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे गृह्णासि प्रसभं जनम्। तदा त्वं कथ्यसे लोके सर्वप्राणहरेति वै ॥ ८ ॥
तव प्रसादाद् देवेश त्रयीधर्मो न नश्यति।
तव प्रसादाद् देवेश धर्मे तिष्ठन्ति जन्तवः। तव प्रसादाद् देवेश संकरो न प्रजायते ॥ ९ ॥
सतां सदा गतिर्देव त्वमेव परिकीर्तितः। जगतोऽस्य जगन्नाथ मर्यादापरिपालकः ॥ १० ॥
पाहि मां त्रिदशश्रेष्ठ दुःखितां शरणागताम्। पितरौ च तथैवास्य राजपुत्रस्य दुःखितौ ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—धर्म-अधर्मके विधानको जाननेवाले एवं सभी धर्मोंके प्रवर्तक देव ! आप ही जगत्‌के स्वामी तथा प्रजाओंका नियमन करनेवाले यम हैं। देव ! चूँकि आप कर्मोंके अनुरूप प्रजाओका नियमन करते हैं, इसलिये 'यम' नामसे पुकारे जाते हैं। प्रभो ! चूँकि आप धर्मपूर्वक इस सारी प्रजाको आनन्दित करते हैं, इसीलिये सत्पुरुष आपको धर्मराज नामसे पुकारते हैं। लोग मरनेपर अपने सत्-असत्—दोनों प्रकारके कर्मोंको अपने आगे रखकर आपके समीप जाते हैं, इसलिये आप मृत्यु कहलाते हैं। आप सभी प्राणियोके क्षण, कला आदिसे कालकी गणना करते रहते हैं, इसीलिये तत्वदर्शी लोग आपको 'काल' नामसे पुकारते हैं। महादीप्ति-सम्पन्न ! चूँकि आप संसारके सभी चराचर जीवोंके महान् अन्तकर्ता हैं, इसीलिये आप सभी देवताओंद्वारा 'अन्तक' कहे जाते हैं। आप विवस्वान्‌के प्रथम पुत्र कहे गये है, अतः सम्पूर्ण विश्वमें वैवस्वत नामसे कहे जाते हैं। आयुकर्मके

क्षीण हो जानेपर आप लोगोंको हठात् पकड़ लेते हैं, इसी कारण लोकमे सर्वप्राणहर नामसे कहे जाते हैं। देवेश! आपकी कृपासे ऋक्, साम और यजुः—इन तीनों वेदोंद्वारा प्रतिपादित धर्मका विनाश नहीं होता। देवेश! आपकी महिमासे सभी प्राणी अपने-अपने धर्मोंमें स्थित रहते हैं। देवेश! आपकी सत्कृपासे वर्णसंकर संततिकी उत्पत्ति नहीं होती। देव! आप ही सदा सत्पुरुषोंकी गति बतलाये गये हैं। जगन्नाथ! आप इस जगत्की मर्यादाका पालन करनेवाले हैं। देवताओंमें श्रेष्ठ! अपनी शरणमे आयी हुई मुझ दुखियाकी रक्षा कीजिये। इस राजपुत्रके माता-पिता भी दुःखी हैं ॥ १—११ ॥

यम उवाच

स्तवेन भक्त्या धर्मज्ञे मया तुष्टेन सत्यवान्। तव भर्त्ता विमुक्तोऽयं लब्धकामा व्रजाबले ॥ १२ ॥
राज्यं कृत्वा त्वया सार्धं वर्षाणां शतपञ्चकम्। नाकपृष्ठमथारुह्य त्रिदशैः सह रंस्यते ॥ १३ ॥
त्वयि पुत्रशतं चापि सत्यवान् जनयिष्यति। ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ १४ ॥
मुख्यास्त्वन्नाम पुत्रस्ते भविष्यन्ति हि शाश्वताः। पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ॥ १५ ॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः। भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ॥ १६ ॥
स्तोत्रेणानेन धर्मज्ञे कल्यमुत्थाय यस्तु माम्। कीर्तयिष्यति तस्यापि दीर्घमायुर्भविष्यति ॥ १७ ॥

यमराज बोले—धर्मज्ञे! तुम्हारी स्तुति तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हारे पति इस सत्यवान्को विमुक्त कर दिया है। अबले! अब तुम सफलमनोरथ होकर लौट जाओ। यह सत्यवान् तुम्हारे साथ पाँच सौ वर्षोंतक राज्य-सुख भोगकर अन्तकालमें स्वर्गलोकमे जायगा और देवताओंके साथ विहार करेगा। सत्यवान् तुम्हारे गर्भसे सौ पुत्रोंको भी उत्पन्न करेगा, वे सब-के-सब देवताओंके समान तेजस्वी तथा क्षत्रिय राजा होंगे। वे चिरकालतक जीवित रहते हुए तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होंगे। तुम्हारे पिताको भी तुम्हारी माताके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे। वे तुम्हारे भाई मालवा (मध्यदेश-)में उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे विख्यात होंगे और चिरकालतक जीवित रहते हुए पुत्र-पौत्रादिसे युक्त होंगे तथा देवताओंके समान ऐश्वर्यसम्पन्न एवं क्षत्रियोचित गुणोंका पालन करेंगे। धर्मज्ञे! जो कोई पुरुष प्रातःकाल उठकर इस स्तोत्रद्वारा मेरा स्तवन करेगा, उसकी भी आयु दीर्घ होगी ॥ १२—१७ ॥

मत्स्य उवाच

एतावदुक्त्वा भगवान् यमस्तु प्रमुच्य तं राजसुतं महात्मा।
अदर्शनं तत्र यमो जगाम कालेन सार्धं सह मृत्युना च ॥ १८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्याने यमस्तुतिसत्यवज्जीवितलाभो नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! इतनी बातें कहकर ऐश्वर्यशाली महात्मा यमराज उस राजपुत्र सत्यवान्को छोड़कर काल तथा मृत्युके साथ वहीं अदृश्य हो गये ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके सावित्री-उपाख्यानमें यमस्तुति और सत्यवान्का जीवन-लाभ नामक दो सौ तेरहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २१३ ॥

दो सौ चौदहवाँ अध्याय

सत्यवान्‌को जीवन-लाभ तथा पत्नीसहित राजाको नेत्रज्योति एवं राज्यकी प्राप्ति

मत्स्य उवाच

सावित्री तु ततः साध्वी जगाम वरवर्णिनी। पथा यथागतेनैव यत्रासीत् सत्यवान् मृतः॥ १॥
सा समासाद्य भर्तारं तस्योत्सङ्गगतं शिरः। कृत्वा विवेश तन्वङ्गी लम्बमाने दिवाकरे॥ २॥
सत्यवानपि निर्मुक्तो धर्मराजाच्छनैः शनैः। उन्मीलयत नेत्राभ्यां प्रास्फुरच्च नराधिप॥ ३॥
ततः प्रत्यागतप्राणः प्रियां वचनमब्रवीत्। क्वासौ प्रयातः पुरुषो यो मामप्यपकर्षति॥ ४॥
न जानामि वरारोहे कश्चासौ पुरुषः शुभे। वनेऽस्मिंश्चारुसर्वाङ्गि सुप्तस्य च दिनं गतम्॥ ५॥
उपवासपरिश्रान्ता दुःखिता भवती मया।
अस्मद्दुर्हृदयेनाद्य पितरौ दुःखितौ तथा। द्रष्टुमिच्छाम्यहं सुभ्रु गमने त्वरिता भव॥ ६॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—तदनन्तर पतिव्रता सुन्दरी सावित्री वहाँसे जिस मार्गसे गयी थी, उसी मार्गसे लौटकर उस स्थानपर आयी, जहाँ सत्यवान्‌का मृत शरीर पड़ा हुआ था। तब कृशाङ्गी सावित्री पतिके निकट जाकर उसके सिरको अपनी गोदमे रखकर पूर्ववत् बैठ गयी। उस समय भगवान् भास्कर अस्ताचलको जा रहे थे। नरेश्वर! धर्मराजसे मुक्त हुए सत्यवान्‌ने भी धीरे-धीरे आँखें खोलीं और अँगड़ाई ली। तत्पश्चात् प्राणोंके लौट आनेपर उसने अपनी स्त्री सावित्रीसे इस प्रकार कहा—'वह पुरुष कहाँ चला गया, जो मुझे खींचकर लिये जा रहा था। सुन्दरि! मै नहीं जानता कि वह पुरुष कौन था! सर्वाङ्गसुन्दरि! इस वनमे सोते हुए मेरा पूरा दिन बीत गया और शुभे! तुम भी उपवाससे परिश्रान्त एवं दुःखी हुई तथा मुझ-जैसे दुष्टसे आज माता-पिताको भी दुःख भोगना पड़ा। सुन्दर भौंहोंवाली! मैं उन्हें देखना चाहता हूँ, चलो, जल्दी चलो'॥१-६॥

सावित्र्युवाच

आदित्योऽस्तमनुप्राप्तो यदि ते रुचितं प्रभो। आश्रमं तु प्रयास्यावः श्वशुरौ हीनचक्षुषौ॥ ७॥
यथावृत्तं च तत्रैव तव वक्ष्ये यथाश्रमे। एतावदुक्त्वा भर्तारं सह भर्त्रा तदा ययौ॥ ८॥
आससादाश्रमं चैव सह भर्त्रा नृपात्मजा। एतस्मिन्नेव काले तु लब्धचक्षुर्महीपतिः॥ ९॥
द्युमत्सेनः सभार्यस्तु पर्यतप्यत भार्गव। प्रियं पुत्रमपश्यन् वै स्नुषां चैवाथ कर्शिताम्॥१०॥
आश्वास्यमानस्तु तथा स तु राजा तपोधनैः। ददर्श पुत्रमायान्तं स्नुषया सह काननात्॥११॥
सावित्री तु वरारोहा सह सत्यवता तदा। ववन्दे तत्र राजानं सभार्यं क्षत्रपुंगवम्॥१२॥
परिष्वक्तस्तदा पित्रा सत्यवान् राजनन्दनः। अभिवाद्य ततः सर्वान् वने तस्मिंस्तपोधनान्॥१३॥
उवास तत्र तां रात्रिमृषिभिः सर्वधर्मवित्। सावित्र्यपि जगादाथ यथावृत्तमनिन्दिता॥१४॥
व्रतं समापयामास तस्यामेव तदा निशि। ततस्तूर्यैस्त्रियामान्ते ससैन्यस्तस्य भूपतेः॥१५॥
आजगाम जनः सर्वो राज्यार्थाय निमन्त्रणे। विज्ञापयामास तदा तत्र प्रकृतिशासनम्॥१६॥
विचक्षुषस्ते नृपते येन राज्यं पुरा हृतम्। अमात्यैः स हतो राजा भवांस्तस्मिन् पुरे नृपः॥१७॥
एतच्छ्रुत्वा ययौ राजा बलेन चतुरङ्गिणा। लेभे च सकलं राज्यं धर्मराजान्महात्मनः॥१८॥
भ्रातॄणां तु शतं लेभे सावित्र्यपि वराङ्गना। एवं पतिव्रता साध्वी पितृपक्षं नृपात्मजा॥१९॥
उज्जहार वरारोहा भर्तृपक्षं तथैव च। मोक्षयामास भर्तारं मृत्युपाशवशं गतम्॥२०॥

सावित्री बोली—प्रभो! सूर्य तो अस्त हो गये। पर यदि आपको पसंद हो तो हमलोग आश्रमको लौट चलें; क्योंकि मेरे सास-श्वशुर अंधे हैं। मै वहीं आश्रममे यह सब घटित हुआ वृत्तान्त आपको बतलाऊँगी। सावित्री उस

समय पतिसे ऐसा कहकर पतिके साथ ही चल पड़ी और वह राजकुमारी पतिके साथ आश्रमपर आ पहुँची। भार्गव! इसी समय पत्नीसहित द्युमत्सेनको नेत्र-ज्योति प्राप्त हो गयी! वे अपने प्रिय पुत्र और दुबली-पतली पुत्रवधूको न देखकर दुःखी हो रहे थे। उस समय तपस्वी ऋषि राजाको सान्त्वना दे रहे थे। इतनेमें ही उन्होंने पुत्रवधूके साथ पुत्रको वनसे आते हुए देखा। उस समय सुन्दरी सावित्रीने सत्यवान्‌के साथ सपत्नीक क्षत्रिय-श्रेष्ठ राजा द्युमत्सेनको प्रणाम किया। पिताने राजकुमार सत्यवान्‌को गले लगाया। तब सभी धर्मोंको जाननेवाले सत्यवान्‌ने उस वनमें निवास करनेवाले तपस्वियोंको अभिवादनकर रातमें ऋषियोंके साथ वहीं निवास किया। उस समय अनिन्दितचरित्रा सावित्रीने जैसी घटना घटित हुई थी, उसका वर्णन किया और उसी रातमें अपने व्रतको भी समाप्त किया। तदनन्तर तीन पहर बीत चुकनेपर राजाकी सारी प्रजा सेनासहित तुरुही आदि बाजोंको बजाते हुए राजाको पुनः राज्य करनेके लिये निमन्त्रण देने आयी और यह सूचना दी कि राज्यमें आपका शासन अब पूर्ववत् हो। राजन्! नेत्रहीन होनेके कारण जिस राजाने आपके राज्यको छीन लिया था, वह राजा मन्त्रियोंद्वारा मार डाला गया। अब उस नगरमें आप ही राजा हैं। यह सुनकर राजा चतुरंगिणी सेनाके साथ वहाँ गये और महात्मा धर्मराजकी कृपासे पुनः अपने सम्पूर्ण राज्यको प्राप्त किये। सुन्दरी सावित्रीने भी सौ भाइयोंको प्राप्त किया। इस प्रकार साध्वी पतिव्रता सुन्दरी राजकुमारी सावित्रीने अपने पितृपक्ष तथा पतिपक्ष—दोनोंका उद्धार किया और मृत्युके पाशमें बँधे हुए अपने पतिको मुक्त किया॥ ७—२०॥

तस्मात् साध्व्यः स्त्रियः पूज्याः सततं देववन्नरैः। तासां राजन् प्रसादेन धार्यते वै जगत्त्रयम्॥२१॥
तासां तु वाक्यं भवतीह मिथ्या न जातु लोकेषु चराचरेषु।
तस्मात् सदा ताः परिपूजनीयाः कामान् समग्रानभिकामयानैः॥ २२॥
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं सावित्र्याख्यानमुत्तमम्। स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः॥ २३॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे सावित्र्युपाख्यानसमाप्तिर्नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१४॥

राजन्! इसलिये मनुष्योंको सदा साध्वी स्त्रियोंकी देवताओंके समान पूजा करनी चाहिये; क्योंकि उनकी कृपासे ये तीनों लोक स्थित हैं। उन पतिव्रता स्त्रियोंके वाक्य इस चराचर जगत्‌में कभी भी मिथ्या नहीं होते, इसलिये सभी मनोरथोंकी कामना करनेवालोंको सर्वदा इनकी पूजा करनी चाहिये। जो मनुष्य सावित्रीके इस सर्वोत्तम आख्यानको नित्य सुनता है, वह सभी प्रयोजनोंमें सफलता प्राप्तकर सुखका अनुभव करता है और कभी भी दुःखका भागी नहीं होता॥ २१—२३॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें सावित्री-उपाख्यान-समाप्ति नामक दो सौ चौदहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २१४॥

दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय*

राजाका कर्तव्य, राजकर्मचारियोंके लक्षण तथा राजधर्मका निरूपण

मनुरुवाच

राज्ञोऽभिषिक्तमात्रस्य किं नु कृत्यतमं भवेत्। एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सम्यग् वेत्ति यतो भवान्॥ १॥

* चण्डेश्वरादिके 'राजनीतिरत्नाकर' आदि संग्रह बड़े श्रेष्ठ हैं। वे रामायण, महाभारत तथा पुराणादिसे ही संगृहीत हैं। उनमें भी मत्स्यपुराणोक्त इस राजनीतिप्रकरणका स्थान श्रेष्ठतर है, अतः यह अंश आजके राजनेताओंके लिये विशेष मननीय है।

*

मनुने पूछा—भगवन् ! अभिषेक होनेके बाद राजाको तुरंत कौन-सा कर्म करना आवश्यक है ? वह सब मुझे बतलाइये; क्योंकि आप इसे अच्छी तरह जानते हैं ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

अभिषेकार्द्रशिरसा राज्ञा राज्यावलोकिना । सहायवरणं कार्यं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ ३ ॥
तस्मात् सहायान् वरयेत् कुलीनान् नृपतिः स्वयम् । शूरान् कुलीनजातीयान् बलयुक्ताञ्छ्रियान्वितान् ॥ ४ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेतान् सज्जनान् क्षमयान्वितान् । क्लेशक्षमान् महोत्साहान् धर्मज्ञांश्च प्रियंवदान् ॥ ५ ॥
हितोपदेशकालज्ञान् स्वामिभक्तान् यशोऽर्थिनः । एवंविधान् सहायांश्च शुभकर्मसु योजयेत् ॥ ६ ॥
गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम् । कर्मस्वेव नियुञ्जीत यथायोग्येषु भागशः ॥ ७ ॥
कुलीनः शीलसम्पन्नो धनुर्वेदविशारदः । हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्णभाषितः ॥ ८ ॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सिते । कृतज्ञः कर्मणां शूरस्तथा क्लेशसहस्त्वृजुः ॥ ९ ॥
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् । राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन् ! राज्यकी रक्षा करनेवाले राजाको चाहिये कि वह अभिषेकके जलसे सिरके भीगते ही सहायकों (मन्त्रियों) की नियुक्ति करे; क्योंकि राज्य उन्हींपर प्रतिष्ठित रहता है । जो छोटे-से-छोटा भी कार्य होता है, वह भी सहायकरहित अकेले व्यक्तिके लिये दुष्कर होता है, फिर राज्य-जैसे महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यके लिये तो कहना ही क्या है ! इसलिये राजाको चाहिये कि जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूर, उच्च जातिमें उत्पन्न, बलवान्, श्रीसम्पन्न, रूपवान्, सत्त्वगुणसे युक्त, सज्जन, क्षमाशील, कष्टसहिष्णु, महोत्साही, धर्मज्ञ, प्रियभाषी, हितोपदेशके कालका ज्ञाता, स्वामिभक्त तथा यशके अभिलाषी हों, ऐसे सहायकोंका स्वयं वरण करे और उन्हें माङ्गलिक कार्योंमें नियुक्त करे । उसी प्रकार स्वयं राजाको कुछ गुणहीन सहायकोंको भी जान-बूझकर उन्हें यथायोग्य कार्योंमें विभागपूर्वक नियुक्त करना चाहिये । राजाको उत्तम कुलोत्पन्न, शीलवान्, धनुर्वेदमें प्रवीण, हाथी और अश्वकी शिक्षामें कुशल, मृदुभाषी, शकुन और अन्यान्य शुभाशुभ कारणों तथा ओषधियोंको जाननेवाला, कृतज्ञ, शूरतामें प्रवीण, कष्टसहिष्णु, सरल, व्यूह-रचनाके विधानको जाननेवाला, निस्तत्त्व एवं सारतत्त्वका विशेषज्ञ, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय पुरुषको सेनापति-पदपर नियुक्त करना चाहिये ॥ २—१० ॥

प्रांशुः सुरूपो दक्षश्च प्रियवादी न चोद्धतः । चित्तग्राहश्च सर्वेषां प्रतीहारो विधीयते ॥ ११ ॥
यथोक्तवादी दूतः स्याद् देशभाषाविशारदः । शक्तः क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभागवित् ॥ १२ ॥
विज्ञातदेशकालश्च दूतः स स्यान्महीक्षितः । वक्ता नयस्य यः काले स दूतो नृपतेर्भवेत् ॥ १३ ॥
प्रांशवो व्यायताः शूरा दृढभक्ता निराकुलाः । राज्ञा तु रक्षिणः कार्याः सदा क्लेशसहा हिताः ॥ १४ ॥
अनाहार्योऽनृशंसश्च दृढभक्तिश्च पार्थिवे । ताम्बूलधारी भवति नारी वाप्यथ तद्गुणा ॥ १५ ॥
षाड्गुण्यविधितत्त्वज्ञो देशभाषाविशारदः । [illegible] कार्यो राज्ञा नयविशारदः ॥ १६ ॥
कृताकृतज्ञो भृत्यानां ज्ञेयः स्याद् देशरक्षिता । [illegible] लोकज्ञो देशोत्पत्तिविशारदः ॥ १७ ॥
सुरूपस्तरुणः प्रांशुर्दृढभक्तिः कुलोचितः [illegible] खड्गधारी प्रकीर्तितः ॥ [illegible]
शूरश्च बलयुक्तश्च गजाश्वरथकोविदः [illegible] राज्ञः सर्वक्लेशसहः शुचिः
निमित्तशकुनज्ञानी हयशिक्षावि[illegible] [illegible] भुवो भागवि[illegible]
बलाबलज्ञो रथिनः स्थिरदृष्टिः [illegible] [illegible] सारथिः [illegible]

ऊँचे कदवाला, सौन्दर्यशाली, कार्यकुशल, प्रियवक्ता, गम्भीर तथा सबके चितको आकर्षित करनेवालेको प्रतिहारी बनानेका विधान है। जो सत्यवादी, देशी भाषामें प्रवीण, सामर्थ्यशाली, सहिष्णु, वक्ता, देश-कालके विभागको जाननेवाला, देश-कालका जानकार तथा मौकेपर नीतिकी बातें कहनेवाला हो, वह राजाका दूत हो सकता है। जो लम्बे कदवाले, कम सोनेवाले, शूर, दृढ भक्ति रखनेवाले, धैर्यवान्, कष्टसहिष्णु और हितैषी हों, ऐसे पुरुषोंको राजाद्वारा अङ्गरक्षाके कार्यमें नियुक्त किया जाना चाहिये। जो दूसरोंद्वारा बहकाया न जा सके, दुष्ट स्वभावका न हो, राजामें अगाध भक्ति रखता हो—ऐसा पुरुष ताम्बूलधारी हो सकता है, अथवा ऐसे गुणवाली स्त्री भी नियुक्त की जा सकती है। राजाको नीतिशास्त्रके छः गुणोंके तत्त्वोंको जाननेवाले, देशी भाषामें प्रवीण एवं नीतिनिपुणको सन्धि-विग्रहिक बनाना चाहिये। भृत्योंके कृत-अकृत कार्योंको जाननेवाले, आय-व्ययके ज्ञाता, लोकका जानकार और देशोत्पत्तिमें निपुण पुरुषको देशरक्षक बनाना चाहिये। सुन्दर आकृतिवाले, लम्बे कदवाले, राज्यभक्त, कुलीन, शूर-वीर तथा कष्टसहिष्णुको खड्गधारी बनाना चाहिये। शूर, बलवान्, हाथी, घोड़े और रथकी विशेषताको जाननेवाला, सभी प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेमें समर्थ तथा पवित्र व्यक्ति राजाका धनुर्धारी हो सकता है। शुभाशुभ शकुनको जाननेवाला, अश्वशिक्षामें विशारद, अश्वोंके आयुर्वेद-विज्ञानको जाननेवाला, पृथ्वीके समस्त भागोंका ज्ञाता, रथियोंके बलाबलका पारखी, स्थिरदृष्टि, प्रियभाषी, शूर-वीर तथा विद्वान् पुरुष सारथिके योग्य कहा गया है॥ ११—२१॥

अनाहार्यः शुचिर्दक्षश्चिकित्सितविदां वरः। सूपशास्त्रविशेषज्ञः सूदाध्यक्षः प्रशस्यते॥ २२॥
सूदशास्त्रविधानज्ञाः पराभेद्याः कुलोद्गताः। सर्वे महानसे धार्याः कृत्तकेशनखा नराः॥ २३॥
समः शत्रौ च मित्रे च धर्मशास्त्रविशारदः। विप्रमुख्यः कुलीनश्च धर्माधिकरणो भवेत्॥ २४॥
कार्यास्तथाविधास्तत्र द्विजमुख्याः सभासदः। सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः॥ २५॥
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै। शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् समश्रेणिगतान् समान्॥ २६॥
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः। उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः॥ २७॥
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम। वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित्॥ २८॥
अनाहार्ये भवेत्सक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम। पुरुषान्तरतत्त्वज्ञाः प्रांशवश्चाप्यलोलुपाः॥ २९॥
धर्माधिकारिणः कार्या जना दानकरा नराः। एवंविधास्तथा कार्या राज्ञा दौवारिका जनाः॥ ३०॥
लोहवस्त्राजिनादीनां रत्नानां च विधानवित्। विज्ञाता फल्गुसाराणामनाहार्यः शुचिः सदा॥ ३१॥
निपुणश्चाप्रमत्तश्च धनाध्यक्षः प्रकीर्तितः॥ ३२॥

दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाले, पवित्र, प्रवीण, ओषधियोंके गुण-दोषोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, भोजनकी विशेषताओंके जानकारको उत्तम भोजनाध्यक्ष कहा जाता है। जो भोजनशास्त्रके विधानोंमें कुशल, वंश-परम्परासे चले आनेवाले, दूसरोंद्वारा अभेद्य तथा कटे हुए नख-केशवाले हों, ऐसे सभी पुरुषोंको चौकेमें नियुक्त करना चाहिये। शत्रु और मित्रमें समताका व्यवहार करनेवाले, धर्मशास्त्रमें विशारद, कुलीन श्रेष्ठ ब्राह्मणको धर्माध्यक्षका पद सौंपना चाहिये। ऊपर कही हुई विशेषताओंसे युक्त ब्राह्मणोंको सभासद् नियुक्त करना चाहिये। जो सभी देशोंकी भाषाओंका ज्ञाता तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पटु हो, ऐसा व्यक्ति सभी विभागोंमें राजाका लेखक कहा गया है। जो ऊपरकी शिरोरेखासे पूर्ण, पूर्ण अवयववाले, समश्रेणीमें प्राप्त एवं समान आकृतिवाले अक्षरोंको लिखता है, वह अच्छा लेखक कहा जाता है। नृपश्रेष्ठ! जो उपाययुक्त वाक्योंमें प्रवीण, सम्पूर्ण

शास्त्रोमे विशारद तथा थोडे शब्दोमे अधिक प्रयोजनकी बात कहनेकी क्षमता रखता हो, उसे लेखक बनाना चाहिये । नृपोत्तम ! जो वाक्योके अभिप्रायको जाननेवाला, देश-कालके विभागका ज्ञाता तथा अभेदज्ञ यानी भेद न करनेवाला हो, उसे लेखक बनाना चाहिये । मनुष्योके हृदयकी बातो तथा भावोको परखनेवाले, दीर्घकाय, निर्लोभ एवं दानशील व्यक्तियोंको धर्माधिकारी बनाना चाहिये तथा राजाद्वारा इसी प्रकारके लोगोको द्वारपालका पद भी सौंपा जाना चाहिये । लोह, वस्त्र, मृग-चर्मादि तथा रत्नोकी परख करनेवाला, अच्छी-बुरी वस्तुओका जानकार, दूसरोके बहकावेमें न आनेवाला, पवित्र, निपुण एव सावधान व्यक्तिको धनाध्यक्ष बनाना चाहिये॥

आयद्वारेपु सर्वेपु धनाध्यक्षसमा नराः । व्ययद्वारेपु च तथा कर्तव्याः पृथिवीक्षिता ॥ ३३ ॥
परम्परागतो यः स्यादष्टाङ्गे सुचिकित्सिते । अनाहार्यः स वैद्यः स्याद् धर्मात्मा च कुलोद्गतः॥ ३४ ॥
प्राणाचार्यः स विज्ञेयो वचनं तस्य भूभुजा । राजन् राज्ञा सदा कार्यं यथा कार्यं पृथग्जनैः ॥ ३५ ॥
हस्तिशिक्षाविधानज्ञो वनजातिविशारदः । क्लेशक्षमस्तथा राज्ञो गजाध्यक्षः प्रशस्यते ॥ ३६ ॥
एतैरेव गुणैर्युक्तः स्थविरश्च विशेपतः । गजारोही नरेन्द्रस्य सर्वकर्मसु शस्यते ॥ ३७ ॥
हयशिक्षाविधानज्ञश्चिकित्सितविशारदः । अश्वाध्यक्षो महीभर्तुः स्वासनश्च प्रशस्यते ॥ ३८ ॥
अनाहार्यश्च शूरश्च तथा प्राज्ञः कुलोद्गतः । दुर्गाध्यक्षः स्मृतो राज्ञ उद्युक्तः सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥
वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः । दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ॥ ४० ॥
यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते विमुक्ते मुक्तधारिते । अस्त्राचार्यो निरुद्वेगः कुशलश्च विशिष्यते ॥ ४१ ॥
वृद्धः कुलोद्गतः सूक्तः पितृपैतामहः शुचिः । राज्ञामन्तःपुराध्यक्षो विनीतश्च तथेष्यते ॥ ४२ ॥

राजाद्वारा आय तथा व्ययके सभी स्थानोपर धनाध्यक्षके समान गुणवाले पुरुषोको नियुक्त करना चाहिये । जो वंशपरम्परासे आनेवाला, आठो अङ्गोकी चिकित्साको अच्छी तरह जाननेवाला, स्वामिभक्त, धर्मात्मा एव सत्कुलोत्पन्न हो, ऐसे व्यक्तिको वैद्य बनाना चाहिये । राजन् ! उसे प्राणाचार्य जानना चाहिये और सर्वसाधारणकी भाँति उसके वचनोका सदा पालन करना चाहिये । जो जगली जातिवालोके रीति-रस्मोका ज्ञाता, हस्तिशिक्षाका विशेषज्ञ, सहिष्णुतामे समर्थ हो, ऐसा व्यक्ति राजाका श्रेष्ठ गजाध्यक्ष हो सकता है । उपर्युक्त गुणोसे युक्त तथा अवस्थामे वृद्ध व्यक्ति राजाका गजारोही होकर सभी कार्यांमे श्रेष्ठ कहा गया है । अश्व-शिक्षाके विधानमें प्रवीण, उनकी चिकित्सामे विशारद तथा स्थिर आसनसे बैठनेवाला व्यक्ति राजाका श्रेष्ठ अश्वाध्यक्ष कहा गया है । जो स्वामि-भक्त, शूर-वीर, बुद्धिमान्, कुलीन, सभी कार्योंमे उद्यत हो, वह राजाका दुर्गाध्यक्ष कहा गया है । वास्तुविद्याके विधानमें प्रवीण, फुर्तीला, परिश्रमी, दीर्घदर्शी एवं शूर व्यक्तिको श्रेष्ठ कारीगर कहा गया है । यन्त्रमुक्त (तोप-बन्दूक) आदि, पाणिमुक्त (शक्ति आदि), विमुक्त, मुक्तधारित आदि अस्त्रोके परिचालनकी विशेषताओमे सुनिपुण, उद्वेगरहित व्यक्ति श्रेष्ठ अस्त्राचार्य कहा गया है । वृद्ध, सत्कुलोत्पन्न, मधुरभाषी, पिता-पितामहके समयसे उसी कार्यपर नियुक्त होनेवाले, पवित्र एवं विनीत व्यक्तिको राजाओंके अन्तःपुरके अध्यक्ष-पदपर नियुक्त करना उचित है ॥३३–४२॥

एवं सप्ताधिकारेपु पुरुषाः सप्त ते पुरे ।
परीक्ष्य चाधिकार्याः स्यू राज्ञा सर्वेपु कर्मसु । स्थापलाजातितत्त्वज्ञाः सततं प्रतिजागृताः ॥ ४३ ॥
राज्ञः स्यादायुधागारे दक्षः कर्मसु चोद्यतः । कर्माण्यपरिमेयानि राज्ञो नृपकुलोद्वह ॥ ४४ ॥
उत्तमाधममध्यानि बुद्ध्वा कर्माणि पार्थिवः । उत्तमाधममध्येपु पुरुपेपु नियोजयेत् ॥ ४५ ॥
नरकर्मविपर्यासाद् राजा नाशमवाप्नुयात् । नियोगं पौरुषं भक्तिं श्रुतं शौर्यं कुलं नयम् ॥ ४६ ॥
ज्ञात्वा वृत्तिर्विधातव्या पु [illegible] तरविज्ञानतत्त्वसारनिबन्धनात् ॥ ४७ ॥
बहुभिर्मन्त्रयेत् कामं राजा मन्त्र [illegible] मपि नो कुर्यान्मन्त्रिमन्त्रप्रकाशनम् ॥ ४८ ॥

क्वचिन्न कस्य विश्वासो भवतीह सदा नृणाम् । निश्चयस्तु सदा मन्त्रे कार्यो नैकेन सूरिणा ॥ ४९ ॥
भवेद् वा निश्चयावाप्तिः परबुद्धयुपजीवनात् । एकस्यैव महीभर्तुर्भूयः कार्यो विनिश्चयः ॥ ५० ॥
ब्राह्मणान् पर्युपासीत त्रयीशास्त्रसुनिश्चितान् । नासच्छास्त्रवतो मूढांस्ते हि लोकस्य कण्टकाः ॥ ५१ ॥
वृद्धान् हि नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् ।
तेभ्यः शिक्षेत विनयं विनीतात्मा च नित्यशः । समग्रां वशगां कुर्यात् पृथिवीं नात्र संशयः ॥ ५२ ॥
बहवोऽविनयाद् भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः । वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥ ५३ ॥
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं त्वात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः ॥ ५४ ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद् दिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ५५ ॥
यजेत राजा बहुभिः क्रतुभिश्च सदक्षिणैः । धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च ॥ ५६ ॥

इस प्रकार राजाको इन सात अधिकार-पदोपर सभी कार्योंमें भलीभाँति परीक्षा कर सातों व्यक्तियोंको अधिकारी बनाना चाहिये । कार्योंमें नियुक्त किये गये व्यक्तियोंको उद्योगशील, जागरूक तथा पटु होना चाहिये । राजकुलोत्पन्न ! राजाओंके अस्त्रागारमें दक्ष तथा उद्यमशील व्यक्ति होना चाहिये । राजाके कार्योंकी गणना नहीं की जा सकती, अतः राजाको उत्तम, मध्यम तथा अधम कार्योंको भलीभाँति समझ-बूझकर वैसे ही उत्तम, मध्यम एवं अधम पुरुषोंको सौंपना चाहिये । सौंपे गये कार्योंमे परिवर्तन अर्थात् अधमको उत्तम और उत्तमको अधम कार्य सौंप देनेसे राजाका विनाश हो जाता है । राजाको चाहिये कि अपने पुरुषोंके निश्चय, पौरुष, भक्ति, शास्त्रज्ञान, शूरता, कुल और नीतिको जान-कर उनका वेतन निश्चित करे । कोई दूसरा व्यक्ति न जान सके—इस अभिप्रायसे राजा अनेकों मन्त्रियोंके साथ अलग-अलग मन्त्रणा करे, परंतु एक मन्त्रीकी मन्त्रणाको दूसरे मन्त्रियोंपर प्रकट न होने दे । इस संसारमें मनुष्योंका सदा कहीं भी किसीका विश्वास नहीं होता, अतः राजाको एक ही विद्वान् मन्त्रीकी मन्त्रणाका निश्चय नहीं करना चाहिये । अन्यथा दूसरेकी बुद्धिके सहारे निश्चयकी प्राप्ति हो जाती है । उस अकेले किये गये निश्चयमें भी राजाको चाहिये कि फिरसे विचार कर ले । उसे त्रयीधर्ममें अटल निश्चय रखनेवाले ब्राह्मणोंकी सेवा करनी चाहिये । जो शास्त्रज्ञ नहीं हैं, उन मूर्खोंकी पूजा न करे; क्योंकि वे लोकके लिये कण्टकस्वरूप हैं । पवित्र आचरणवाले, वेदवेत्ता, वृद्ध ब्राह्मणोंकी नित्य सेवा करनी चाहिये और उन्हींसे सदा विनम्र होकर विनयकी शिक्षा लेनी चाहिये । ऐसा करनेसे वह (राजा) निःसंदेह सम्पूर्ण वसुंधराको वशमें कर सकता है । बहुत-से राजा उद्दण्डताके कारण अपने परिजन एवं अनुचरोंके साथ नष्ट हो गये और अनेकों वनस्थ राजाओंने विनयसे पुनः राज्यश्रीको प्राप्त किया है । राजाओंको वेदवेत्ताओंसे तीनो वेद, शाश्वती दण्डनीति, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) तथा आत्मविद्या ग्रहण करनी चाहिये और सर्वसाधारणसे लौकिक वार्ताओंकी सूचना प्राप्त करनी चाहिये । राजाको दिन-रात इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेकी युक्ति करते रहना चाहिये; क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओंको वशमें रखनेमे समर्थ हो सकता है । राजाको दक्षिणायुक्त बहुत-से यज्ञोका अनुष्ठान करना चाहिये तथा ब्राह्मणोंको धर्मकी प्राप्तिके लिये भोग्य सामग्रियाँ और धन देना चाहिये ॥ ४३—५६ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् । स्यात् स्वाध्यायपरो लोके वर्तेत पितृवन्धुवत् ॥ ५७ ॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद् द्विजानां पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ५८ ॥
तं च स्तेना नवामित्रा हरन्ति न विनश्यति । तस्माद् राज्ञा विधातव्यो ब्राह्मो वै ह्यक्षयो निधिः* ॥ ५९ ॥

* ये सभी प्रायः २० श्लोक मनुयाज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी हैं । तदनुसार शुद्ध किये गये हैं । इधर मत्स्यपुराणका पाठ कुछ अशुद्ध है ।

समोत्तमाधमै राजा ह्याहूय पालयेत् प्रजाः । न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ ६० ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां परिपालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां निःश्रेयस परम् ॥ ६१ ॥
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च पालनम् । योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥ ६२ ॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानं तथा कार्यं विशेषतः । स्वधर्मप्रच्युतान् राजा स्वधर्मे स्थापयेत् तथा ॥ ६३ ॥
आश्रमेषु तथा कार्यमन्नं तैलं च भाजनम् । स्वयमेवानयेद् राजा सत्कृतान् नावमानयेत् ॥ ६४ ॥
तापसे सर्वकार्याणि राज्यमात्मानमेव च । निवेदयेत् प्रयत्नेन देववच्चिरमर्चयेत् ॥ ६५ ॥
द्वे प्रज्ञे वेदितव्ये च ऋज्वी वक्रा च मानवैः । वक्रां ज्ञात्वा न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ६६ ॥
नास्य च्छिद्रं परो विन्द्याद् विन्द्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ६७ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् । विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ ६८ ॥

बुद्धिमान् कर्मचारियोंद्वारा राज्यसे वार्षिक कर वसूल कराये । उसे सर्वदा स्वाध्यायमे लीन तथा लोगोंके साथ पिता और भाईका-सा व्यवहार करना चाहिये । राजाको गुरुकुलसे लौटे हुए ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये । राजाओंके लिये यह अक्षय ब्राह्म-निधि (कोश-खजाना) कही गयी है । चोर अथवा शत्रुगण उसका हरण नहीं कर सकते और न उसका विनाश ही होता है । इसलिये राजाको इस अक्षय ब्राह्म-निधि (खजाने)का संचय अवश्य करना चाहिये । राजाको चाहिये कि वह अपने उत्तम, मध्यम तथा अधम अनुचरोंद्वारा प्रजाको बुलाकर उनका पालन करे और अपने क्षात्रधर्मका स्मरण कर संग्रामसे कभी विचलित न हो । युद्धविमुख न होना, प्रजाओंका परिपालन तथा ब्राह्मणोकी शुश्रूषा—ये तीनो धर्म राजाओंके लिये परम कल्याणकारी हैं । उसी प्रकार दुर्दशाग्रस्त, असहाय और वृद्धोंके तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेम एवं जीविकाका प्रबन्ध करना चाहिये । राजाको वर्णाश्रमकी व्यवस्था विशेष-रूपसे करनी चाहिये तथा अपने धर्मसे भ्रष्ट हुए लोगोको पुनः अपने-अपने धर्मोंमें स्थापित करना चाहिये । चारों आश्रमोंपर भी उसी प्रकारकी देख-रेख रखनी चाहिये । राजाके लिये उचित है कि वह अतिथिके लिये अन्न, तैल और पात्रोंकी व्यवस्था स्वयं करे एवं सम्माननीय व्यक्तियोंका अपमान न करे तथा तपस्वीके लिये अपने सभी कर्मोंको तथा राज्य एवं अपने-आपको समर्पित कर दे और देवताके समान चिरकालतक उनकी पूजा करे । मनुष्यके द्वारा सरल (सुमति) और कुटिल (कुमति) दो प्रकारकी बुद्धियोंको जानना चाहिये । उनमें कुटिल बुद्धिको जान लेनेपर उसका सेवन न करे, किंतु यदि आ गयी हो तो उसे दूर हटा दे । राजाके छिद्रको शत्रु न जान सके, किंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले । वह कछुएकी भाँति अपने अङ्गोंको छिपाये रखे और अपने छिद्रकी रक्षा करे । अविश्वसनीय व्यक्तिका विश्वास न करे और विश्वसनीयका भी बहुत विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मूलको भी काट डालता है ॥ ५७–६८ ॥

विश्वासयेच्चाप्यपरं तत्त्वभूतेन हेतुना । बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥ ६९ ॥
वृकवच्चाविलुम्पेत शशवच्च विनिक्षिपेत् । दृढप्रहारी च भवेत् तथा शूकरवन्नृपः ॥ ७० ॥
चित्राकारश्च शिखिवद् दृढभक्तस्तथा श्ववत् । तथा च मधुराभाषी भवेत् कोकिलवन्नृपः ॥ ७१ ॥
काकशङ्की भवेन्नित्यमज्ञातवसतिं वसेत् ।
नापरीक्षितपूर्वं च भोजनं शयनं व्रजेत् । वस्त्रं पुष्पमलंकारं यच्चान्यन्मनुजोत्तम ॥ ७२ ॥
न गाहेज्जनसम्बाधं न चाज्ञातजलाशयम् । अपरीक्षितपूर्वं च पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ७३ ॥
नारोहेत् कुञ्जरं व्यालं नादान्तं तुरगं तथा । नाविज्ञातां स्त्रियं गच्छेन्नैव देवोत्सवे वसेत् ॥ ७४ ॥
नरेन्द्रलक्ष्म्या धर्मज्ञ त्राता यत्तो भवेन्नृपः । सद्भृत्याश्च तथा पुष्टाः सततं प्रतिमानिताः ॥ ७५ ॥

राज्ञा सहायाः कर्तव्याः पृथिवीं जेतुमिच्छता । यथार्हं चाप्यसम्भृतो राजा कर्मसु योजयेत् ॥ ७६ ॥
धर्मिष्ठान् धर्मकार्येषु शूरान् संग्रामकर्मसु । निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्रैव तथा शुचीन् ॥ ७७ ॥
स्त्रीषु षण्डं नियुञ्जीत तीक्ष्णं दारुणकर्मसु । धर्मे चार्थे च कामे च नये च रविनन्दन ॥ ७८ ॥
राजा यथार्हं कुर्याच्च उपधाभिः परीक्षणम् । समतीतोपधान् भृत्यान् कुर्याच्चस्तवनेचरान् ॥ ७९ ॥
तत्पादान्वेषिणो यत्तांस्तदध्यक्षांस्तु कारयेत् । एवमादीनि कर्माणि नृपैः कार्याणि पार्थिव ॥ ८० ॥
सर्वथा नेष्यते राज्ञस्तीक्ष्णोपकरणक्रमः । कर्माणि पापसाध्यानि यानि राज्ञो नराधिप ॥ ८१ ॥
संतस्तानि न कुर्वन्ति तस्मात्तानि त्यजेन्नृपः । नेष्यते पृथिवीशानां तीक्ष्णोपकरणक्रिया ॥ ८२ ॥
यस्मिन् कर्मणि यस्य स्याद् विशेषेण च कौशलम् ।
तस्मिन् कर्मणि तं राजा परीक्ष्य विनियोजयेत् । पितृपैतामहान् भृत्यान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८३ ॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि समागताः ।

राजाको चाहिये कि वह यथार्थ कारणको प्रकाशित करके दूसरोको अपनेपर विश्वस्त करे । वह बगुलेकी भाँति अर्थका चिन्तन करे, सिंहकी तरह पराक्रम करे, भेड़ियेके समान लूट-पाट कर ले, खरगोशकी तरह छिपा रहे तथा शूकरके सदृश दृढ प्रहार करनेवाला हो । राजा मोरकी भाँति विचित्र आकारवाला, कुत्तेकी तरह अनन्यभक्त तथा कोकिलकी भाँति मृदुभाषी हो । नरश्रेष्ठ ! राजाको चाहिये कि वह सर्वदा कौएकी भाँति सशङ्कित रहे । वह गुप्त स्थानपर निवास करे, पहले बिना परीक्षा किये भोजन, शय्या, वस्त्र, पुष्प, अलंकार एवं अन्यान्य सामग्रियोको न ग्रहण करे । विश्वस्त पुरुषोद्वारा पहले बिना परीक्षा किये हुए मनुष्योंकी भीड़ तथा अज्ञात जलाशयमे प्रवेश न करे । दुष्ट हाथी एवं बिना सिखाये घोड़ेपर न चढे, न बिना जानी हुई स्त्रीके साथ समागम करे और न देवोत्सवमें निवास करे । धर्मज्ञ ! राजाको सर्वदा राजलक्ष्मी (चिह्न) से सुसम्पन्न, दीनरक्षक और उद्यमी होना चाहिये । पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको सर्वदा सम्मानित एवं पालित उत्तम अनुचरोको सहायक बनाना चाहिये । वह प्राणियोंको यथायोग्य कर्मोंमे नियुक्त करे । उसे धर्म-कार्योंमें धर्मात्माओंको, युद्धकर्मोंमे शूर-वीरोंको, अर्थ-कार्योंमें उसके विशेषज्ञोंको, सच्चरित्रोंको सर्वत्र, स्त्रियोके मध्यमें नपुसकको और भीषण कर्मोंमे निर्दयको नियुक्त करना चाहिये । रविनन्दन ! राजाको धर्म, अर्थ, काम और नीतिके कार्योंमें गुप्त पारिश्रमिक देकर अनुचरोंकी परीक्षा करनी चाहिये । उत्तीर्ण होनेवालेको श्रेष्ठ गुप्तचर बनाये और उनके कार्योंकी देखरेख करनेवालोंको उनका अध्यक्ष बनाये । राजन् ! इस प्रकार राजाको राज्यके कार्योंका संचालन करना चाहिये । राजाको सर्वथा उग्र कर्मोवाला नहीं होना चाहिये । नरेश्वर ! राजाके जो पापाचरणद्वारा सिद्ध होनेवाले कर्म हैं, उन्हें सत्पुरुष नहीं करते, अतः राजाको भी उनका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि राजाओके लिये क्रूर कर्माचरण उचित नहीं हैं । राजाको चाहिये कि जिस कार्यमें जिसकी विशेष कुशलता है, उसे उसी कार्यमे परीक्षा लेकर नियुक्त करे; किंतु पिता-पितामहसे चले आते हुए नौकरोको सभी कर्मोंमें नियुक्त करे, परंतु अपने जातीय कार्योंमे उन्हें न रखे ॥ ६९–८३½ ॥

राजा दायादकृत्येषु परीक्ष्य तु कृतान् नरान् । नियुञ्जीत महाभाग तस्य ते हितकारिणः ॥ ८४ ॥
परराजगृहात् प्राप्ताञ्जनसंग्रहकाम्यया । दुष्टान् वाप्यथवादुष्टानाश्रयीत प्रयत्नतः ॥ ८५ ॥
दुष्टं विज्ञाय विश्वासं न कुर्यात्तत्र भूमिपः । वृत्तिं तस्यापि वर्तेत जनसंग्रहकाम्यया ॥ ८६ ॥
राजा देशान्तरप्राप्तं पुरुषं पूजयेद् भृशम् । ममायं देशसम्प्राप्तो बहुमानेन चिन्तयेत् ॥ ८७ ॥
कामं भृत्यार्जनं राजा नैव कुर्यान्नराधिप । न च वासविभक्तांस्तान् भृत्यान् कुर्यात् कथंचन ॥ ८८ ॥

शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पो निस्त्रिंश इति चैकतः। भृत्या मनुजशार्दूल रुपिताश्च तथैकतः ॥ ८९ ॥
तेषां चारेण चारित्रं राजा विज्ञाय नित्यशः।
गुणिनां पूजनं कुर्यान्निर्गुणानां च शासनम्। कथिताः सततं राजन् राजानश्चारचक्षुषः ॥ ९० ॥
स्वके देशे परे देशे ज्ञानशीलान् विचक्षणान्। अनाहार्यान् क्लेशसहान् नियुञ्जीत तथा चरान् ॥ ९१ ॥
जनस्याविदितान् सौम्यांस्तथाज्ञातान् परस्परम्।
वणिजो मन्त्रकुशलान् सांवत्सरचिकित्सकान्। तथा प्रव्राजिताकारांश्चारान् राजा नियोजयेत् ॥ ९२ ॥
नैकस्य राजा श्रद्दध्याच्चारस्यापि सुभाषितम्। द्वयोः सम्बन्धमाज्ञाय श्रद्दध्यान्नृपतिस्तदा ॥ ९३ ॥
परस्परस्याविदितौ यदि स्यातां च तावुभौ। तस्माद् राजा प्रयत्नेन गूढांश्चारान् नियोजयेत् ॥ ९४ ॥

महाभाग! राजाको पारिवारिक कार्योंमें परीक्षा करके मनुष्योंको नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि वे उसके कल्याण करनेवाले होते हैं। अनुचरोंका संग्रह करनेकी भावनासे राजाको चाहिये कि जो अनुचर दूसरे राजाकी ओरसे उनके यहाँ आये—चाहे वे दुष्ट हो अथवा सज्जन, उन्हें प्रयत्नपूर्वक अपने यहाँ आश्रय दे; किंतु दुष्टको समझकर राजा उसका विश्वास न करे, परंतु जनसंग्रहकी इच्छासे उसे भी जीविका देनी चाहिये। राजाको चाहिये कि दूसरे देशसे आये हुए व्यक्तिका विशेष स्वागत करे और 'यह मेरे देशमें आया है' ऐसा समझकर उसका अधिक सम्मान करे। नराधिप! राजाको अधिक नौकर नहीं रखना चाहिये। साथ ही जो पहले अपने पदसे पृथक् कर दिये गये हों, ऐसे नौकरोंको किसी प्रकार भी नियुक्त न करे। नरशार्दूल! शत्रु, अग्नि, विष, सर्प तथा नंगी तलवार—ये सब एक ओर हैं तथा क्रुद्ध अनुचर एक ओर है। (अर्थात् दोनों समान हैं।) राजाको चाहिये कि गुप्तचरद्वारा नित्य उन अनुचरोंके चरित्रकी जानकारी प्राप्त कर उनमें गुणवानोंका सत्कार और निर्गुणोंका अनुशासन करता रहे। राजन्! इसी कारण राजालोग सर्वदा चारचक्षु (अर्थात् गुप्तचर ही जिनकी आँखें हैं ऐसा) कहलाते हैं। अपने देशमें या पराये देशमें ज्ञानी, निपुण, निर्लोभी और कष्टसहिष्णु गुप्तचरोंको नियुक्त करना चाहिये। जिन्हें साधारण जनता न पहचानती हो, जो सरल दिखायी पड़ते हों, जो एक-दूसरेसे परिचित न हों तथा वणिक्, मन्त्री, ज्योतिषी, वैद्य और संन्यासीके वेशमें भ्रमण करनेवाले हों, राजा ऐसे गुप्तचरोंको नियुक्त करे। राजा एक गुप्तचरकी बातपर, यदि वह अच्छी लगनेवाली भी हो तो भी विश्वास न करे। उस समय उसे दो गुप्तचरोंकी बातोंपर उनके आपसी सम्बन्धको जानकर ही विश्वास करना चाहिये। यदि वे दोनों आपसमें अपरिचित हों तो विश्वास करना चाहिये। इसीलिये राजाको गुप्त रहनेवाले चरोंको नियुक्त करना चाहिये ॥ ८४–९४ ॥

राज्यस्य मूलमेतावद् या राज्ञश्चारदर्शिता। चाराणामपि यत्नेन राज्ञा कार्यं परीक्षणम् ॥ ९५ ॥
रागापरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणान्। सर्वं राज्ञां चरायत्तं तेषु यत्नपरो भवेत् ॥ ९६ ॥
कर्मणा केन मे लोके जनः सर्वोऽनुरज्यते। विरज्यते केन तथा विज्ञेयं तन्महीक्षिता ॥ ९७ ॥
अनुरागकरं लोके कर्म कार्यं महीक्षिता। विरागजनकं लोके वर्जनीयं विशेषतः ॥ ९८ ॥
जनानुरागप्रभवा हि लक्ष्मी राज्ञां यतो भास्करवंशचन्द्र।
तस्मात् प्रयत्नेन नरेन्द्रमुख्यैः कार्योऽतिरागो भुवि मानवेषु ॥ ९९ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राज्ञां सहायसम्पत्तिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

राज्यके मूलाधार गुप्तचर ही हैं, क्योंकि गुप्तचर ही राजाके नेत्र हैं। अतः राजाको गुप्तचरोंकी भी यत्नपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। राज्यमें अनुचरोंका अनुराग एवं वैर तथा प्रजाके गुण और अवगुण—राजाओंके

ये सभी कार्य गुप्तचरोंपर ही निर्भर हैं, अतः उनके प्रति यत्नशील रहना चाहिये। राजाको यह बात सर्वदा ध्यानमे रखनी चाहिये कि लोकमें मेरे किस कामसे सभी लोग अनुरक्त रहेंगे और किस कामसे विरक्त हो जायँगे। इसे समझकर राजाको लोकमे अनुरागजनक कार्यका सम्पादन और विरागोत्पादक कर्मका विशेषरूपसे त्याग करना चाहिये। सूर्यकुलचन्द्र! चूँकि राजाओंकी लक्ष्मी उनकी प्रजाओंके अनुरागसे उत्पन्न होनेवाली होती है, इसलिये श्रेष्ठ राजाओंको पृथ्वीपर मानवोंके प्रति प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त अनुराग करना चाहिये ॥९५–९९॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमे राजाकी सहायक-सम्पत्ति नामक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २१५ ॥

दो सौ सोलहवाँ अध्याय

राजकर्मचारियोंके धर्मका वर्णन

मत्स्य उवाच

यथा च वर्तितव्यं स्यान्मनो राज्ञोऽनुजीविभिः। तथा ते कथयिष्यामि निबोध गदतो मम ॥ १ ॥
ज्ञात्वा सर्वात्मना कार्यं स्वशक्त्या रविनन्दन। राजा यत्तु वदेद् वाक्यं श्रोतव्यं तत् प्रयत्नतः।
आक्षिप्य वचनं तस्य न वक्तव्यं तथा वचः ॥ २ ॥
अनुकूलं प्रियं तस्य वक्तव्यं जनसंसदि। रहोगतस्य वक्तव्यमप्रियं यद्धितं भवेत् ॥ ३ ॥
परार्थमस्य वक्तव्यं स्वस्थे चेतसि पार्थिव। स्वार्थः सुहृद्भिर्वक्तव्यो न स्वयं तु कथंचन ॥ ४ ॥
कार्यातिपातः सर्वेषु रक्षितव्यः प्रयत्नतः। न च हिंस्यं धनं किंचिन्नियुक्तेन च कर्मणि ॥ ५ ॥
नोपेक्ष्यस्तस्य मानश्च तथा राज्ञः प्रियो भवेत्। राज्ञश्च न तथा कार्यं वेशभाषितचेष्टितम् ॥ ६ ॥
राजलीला न कर्तव्या तद्विद्विष्टं च वर्जयेत्। राज्ञः समोऽधिको वा न कार्यो वेशो विजानता ॥ ७ ॥
द्यूतादिषु तथैवान्यत् कौशलं तु प्रदर्शयेत्। प्रदर्श्य कौशलं चास्य राजानं तु विशेषयेत् ॥ ८ ॥
अन्तःपुरजनाध्यक्षैर्वैरिदूतैर्निराकृतैः। संसर्गं न व्रजेद् राजन् विना पार्थिवशासनात् ॥ ९ ॥
निःस्नेहतां चावमानं प्रयत्नेन तु गोपयेत्। यच्च गुह्यं भवेद् राज्ञो न तल्लोके प्रकाशयेत् ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—मनु महाराज! अब मैं आपसे राजाके अनुचरोंको उनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, यह बतला रहा हूँ, आप इसे सुनिये। रविनन्दन! राजाद्वारा राजकार्यमे नियुक्त व्यक्तिको चाहिये कि वह कार्यको सब तरहसे जानकर यथाशक्ति उसका पालन करे। राजा जो बात कह रहे हों, उसे वह प्रयत्नपूर्वक सुने, बीचमे उनकी बात काटकर अपनी बात न कहे। जनसमाजमे राजाके अनुकूल एवं प्रिय बाते कहनी चाहिये, किंतु एकान्तमें बैठे हुए राजासे अप्रिय बात भी कही जा सकती है, यदि वह हितकारी हो। राजन्! जिस समय राजाका चित्त स्वस्थ हो, उस समय दूसरोके हितकी बातें उससे कहनी चाहिये। अपने स्वार्थकी बात राजासे स्वयं कभी भी न कहे, अपने मित्रोसे कहलाये। सभी कार्योंमें कार्यका दुष्प्रयोग न हो, इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये तथा नियुक्त होनेपर धनका थोड़ा भी अपव्यय न होने दे। राजाके सम्मानकी उपेक्षा न करे, सर्वदा राजाके प्रियकी चिन्ता करे, राजाकी वेश-भूषा, बात-चीत एवं आकार-प्रकारकी नकल न करे। राजाके लीला-कलापोंका भी अनुकरण न करे, वह राजाके अभीष्ट विषयोंको सर्वथा छोड़ दे। ज्ञानवान् पुरुषको राजाके समान अथवा उससे बढ़कर भी अपनी वेशभूषा नहीं बनानी चाहिये। द्यूतक्रीड़ा आदिमे तथा अन्यत्र भी राजाकी अपेक्षा अपने कौशलका प्रदर्शन करे और उसी प्रसङ्गमें अपनी कुशलता दिखाकर राजाकी विशेषता प्रकट करे। राजन्! राजाकी आज्ञाके बिना अन्तःपुरके अध्यक्षों, शत्रुओंके दूतों तथा

निकाले हुए अनुचरोंके निकट न जाय। अपने प्रति राजाकी स्नेहहीनता तथा अपमानको प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखे और राजाकी जो गोपनीय बात हो, उसे सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट न करे॥ १-१०॥

नृपेण श्रावितं यत् स्याद् वाच्यावाच्यं नृपोत्तम। न तत् संश्रावयेल्लोके तथा राज्ञोऽप्रियो भवेत्॥ ११॥
आज्ञाप्यमाने वान्यस्मिन् समुत्थाय त्वरान्वितः। किमहं करवाणीति वाच्यो राजा विजानता॥ १२॥
कार्यावस्थां च विज्ञाय कार्यमेव यथा भवेत्। सततं क्रियमाणेऽस्मिँल्लाघवं तु व्रजेद् ध्रुवम्॥ १३॥
राज्ञः प्रियाणि वाक्यानि न चात्यर्थं पुनः पुनः। न हास्यशीलस्तु भवेन्न चापि भृकुटीमुखः॥ १४॥
नातिवक्ता न निर्वक्ता न च मात्सरिकस्तथा। आत्मसम्भावितश्चैव न भवेत् तु कथंचन॥ १५॥
दुष्कृतानि नरेन्द्रस्य न तु सङ्कीर्तयेत् क्वचित्। वस्त्रमस्त्रमलंकारं राज्ञा दत्तं तु धारयेत्॥ १६॥
औदार्येण न तद् देयमन्यस्मै भूतिमिच्छता। न चैवात्यशनं कार्यं दिवा स्वप्नं न कारयेत्॥ १७॥
नानिर्दिष्टे तथा द्वारे प्रविशेत् तु कथंचन। न च पश्येत् तु राजानमयोग्यासु च भूमिषु॥ १८॥
राज्ञस्तु दक्षिणे पार्श्वे वामे चोपविशेत् तदा। पुरस्ताच्च तथा पश्चादासनं तु विगर्हितम्॥ १९॥
जृम्भां निष्ठीवनं कासं कोपं पर्यस्तिकाश्रयम्। भृकुटिं वान्तमुद्गारं तत्समीपे विवर्जयेत्॥ २०॥
स्वयं तत्र न कुर्वीत स्वगुणाख्यापनं बुधः। स्वगुणाख्यापने युक्त्या परमेव प्रयोजयेत्॥ २१॥
हृदयं निर्मलं कृत्वा परां भक्तिमुपाश्रितैः। अनुजीविगणैर्भाव्यं नित्यं राज्ञामतन्द्रितैः॥ २२॥
शाठ्यं लौल्यं च पैशुन्यं नास्तिक्यं क्षुद्रता तथा। चापल्यं च परित्याज्यं नित्यं राज्ञोऽनुजीविभिः॥ २३॥
श्रुतिविद्यासुशीलैश्च संयोज्यात्मानमात्मना। राजसेवां ततः कुर्याद् भूतये भूतिवर्धनीम्॥ २४॥
नमस्कार्याः सदा चास्य पुत्रवल्लभमन्त्रिणः। सचिवैश्चास्य विश्वासो न तु कार्यः कथंचन॥ २५॥

नृपोत्तम! राजपुरुष राजाद्वारा कही गयी गुप्त या प्रकट बातको सर्वसाधारणके समक्ष कभी न सुनाये। ऐसा करनेसे वह राजाका विरोधी हो जाता है। जिस समय राजा दूसरे व्यक्तिसे किसी कामके लिये कहे, उस समय बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्रतापूर्वक स्वयं उठकर राजासे कहे कि 'मैं क्या करूँ?' कार्यकी अवस्थाको देखकर जैसा करना उपयुक्त हो, वैसा ही करना चाहिये, क्योंकि सदा एक-सा करते रहनेपर निश्चित ही वह राजाकी दृष्टिमें हेय हो जाता है। राजाको प्रिय लगनेवाली बातोंको भी उनके सामने बार-बार न कहे, न ठठाकर हँसे और न भृकुटी ही ताने। न बहुत बोले, न एकदम चुप ही रहे, न असावधानी प्रकट करे और न कभी आत्मसम्मानी होनेका भाव ही प्रदर्शित करे। राजाके दुष्कर्मकी चर्चा कभी नहीं करनी चाहिये। राजाद्वारा दिये गये वस्त्र, अस्त्र और अलंकारको धारण करे। ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले भृत्यको उन वस्त्रादि सामग्रियोंको उदारतावश दूसरेको नहीं देना चाहिये। (राजाके सम्मुख यदि कभी भोजन करनेका अवसर आये तो) न अधिक भोजन करे और न दिनमें शयन करे। जिससे प्रवेश करनेका निर्देश नहीं है, उस द्वारसे कभी प्रवेश न करे और अयोग्य स्थानपर स्थित राजाकी ओर न देखे। राजाके दाहिने या बायें पार्श्वमें बैठना चाहिये। सम्मुख या पीछेकी ओर बैठना निन्दित है। राजाके समीप जमुआई लेना, थूकना, खखारना, खाँसना, क्रोधित होना, आसनपर तकिया लगाकर बैठना, भृकुटी चढ़ाना, वमन करना या उद्गार निकालना—ये सभी कार्य नहीं करने चाहिये। बुद्धिमान् भृत्य राजाके सम्मुख अपने गुणोंकी श्लाघा न करे। अपने गुणको सूचित करनेके लिये युक्तिपूर्वक दूसरेको ही प्रयुक्त करना चाहिये। अनुचरोंको हृदय निर्मल करके परम भक्तिके साथ राजाओंके प्रति नित्य सावधान रहना चाहिये। राजाके अनुचरोंको शठता, लोभ, छल, नास्तिकता, क्षुद्रता,

चञ्चलता आदिका नित्य परित्याग कर देना चाहिये। शास्त्रज्ञ एवं विद्याभ्यासियोसे स्वयं अपना सम्पर्क स्थापित करके ऐश्वर्य बढ़ानेवाली राजसेवाको अपनी समृद्धिके लिये करनी चाहिये। राजाके पुत्र, प्रिय परिजन और मन्त्रियोंको नमस्कार करना चाहिये, किंतु उनके मन्त्रियोंका कभी विश्वास न करे ॥ ११—२५ ॥

अपृष्टश्चास्य न ब्रूयात् कामं ब्रूयात्तथा यदि । हितं तथ्यं च वचनं हितैः सह सुनिश्चितम् ॥ २६ ॥
चित्तं चैवास्य विज्ञेयं नित्यमेवानुजीविभिः । भर्तुराराधनं कुर्याच्चित्तज्ञो मानवः सुखम् ॥ २७ ॥
रागापरागौ चैवास्य विज्ञेयौ भूतिमिच्छता । त्यजेद् विरक्तं नृपतिं रक्ताद् वृत्तिं तु कारयेत् ॥ २८ ॥
विरक्तः कारयेन्नाशं विपक्षाभ्युदयं तथा । आशावर्धनकं कृत्वा फलनाशं करोति च ॥ २९ ॥
अकोपोऽपि सकोपाभः प्रसन्नोऽपि च निष्फलः । वाक्यं च समदं वक्ति वृत्तिच्छेदं करोति च ॥ ३० ॥
प्रदेशवाक्यमुदितो न सम्भावयतेऽन्यथा । आराधनासु सर्वासु सुप्तवच्च विचेष्टते ॥ ३१ ॥
कथासु दोषं क्षिपति वाक्यभङ्गं करोति च । लक्ष्यते विमुखश्चैव गुणसंकीर्तनेऽपि च ॥ ३२ ॥
दृष्टिं क्षिपति चान्यत्र क्रियमाणे च कर्मणि । विरक्तलक्षणं चैतच्छृणु रक्तस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

बिना पूछे राजासे कुछ न कहे, यदि कहे भी तो जो राजाके हितके रूपमें सुनिश्चित हितकर और यथार्थ बात हो वह कहे। अनुचरोंको नित्य राजाकी मनोदशाका पता लगाते रहना चाहिये। मनोभावोंको समझनेवाला अनुचर ही अपने स्वामीकी सुखपूर्वक सेवा कर सकता है। अपने कल्याणकी कामना करनेवाले अनुचरको राजाके अनुराग और विरागका पता लगाते रहना चाहिये। विरक्त राजाको छोड़ दे और अनुरक्तकी सेवामें सदा तत्पर रहना चाहिये; क्योंकि विरक्त राजा उसका नाश कर विपक्षियोंको उन्नत बनाता है, आशाको बढ़ाकर उसके फलका नाश कर देता है, क्रोधका अवसर न रहनेपर भी वह क्रुद्ध ही दिखायी पड़ता है तथा प्रसन्न होकर भी कुछ फल नहीं देता, दर्पयुक्त बातें करता है और जीविकाका उच्छेद कर देता है। प्रसंगकी बातोंमें प्रसन्न होकर भी वह पूर्ववत् सम्मान नहीं करता, सभी सेवाओंमें उपेक्षा व्यक्त करता है। कोई बात छिड़नेपर बीचमें दोष प्रकट करता है और वहीं वाक्यको काट देता है। गुणोंका कीर्तन करनेपर भी विमुख ही लक्षित होता है। काम करते समय दृष्टि दूसरी ओर घुमा लेता है—ये सभी विरक्त राजाके लक्षण हैं। अब अनुरक्त राजाके लक्षण सुनिये ॥ २६—३३ ॥

दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृह्णाति चादरात् । कुशलादिपरिप्रश्नं सम्प्रयच्छति चासनम् ॥ ३४ ॥
विविक्तदर्शने चास्य रहस्येनं न शङ्कते । जायते हृष्टवदनः श्रुत्वा तस्य तु तत्कथाम् ॥ ३५ ॥
अप्रियाण्यपि वाक्यानि तदुक्तान्यभिनन्दते । उपायनं च गृह्णाति स्तोकमप्यादरात्तथा ॥ ३६ ॥
कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टवदनस्तथा ।
इति रक्तस्य कर्तव्या सेवा रविकुलोद्वह । आपत्सु न त्यजेत् पूर्वं विरक्तमपि सेवितम् ॥ ३७ ॥
मित्रं न चापत्सु तथा च भृत्यं त्यजन्ति ये निर्गुणमप्रमेयम् ।
विभुं विशेषेण च ते व्रजन्ति सुरेन्द्रधामामरवृन्दजुष्टम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मेऽनुजीविवृत्तं नाम षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

अनुरक्त राजा भृत्योंको देखकर प्रसन्न होता है, उसकी बातको आदरपूर्वक ग्रहण करता है और कुशल-मङ्गल पूछकर आसन देता है। एकान्तमें अथवा अन्तःपुरमें भी उसे देखकर कभी संशय नहीं करता और उसकी कही हुई बातें सुनकर प्रसन्न होता है। उसके द्वारा कही हुई अप्रिय बातोंका भी अभिनन्दन करता है और उसकी थोड़ी-सी भी भेंट आदरपूर्वक स्वीकार करता है। दूसरी कथाके प्रसंगपर उसका स्मरण करता

है और सर्वदा उसे देखकर प्रसन्न रहता है। सूर्य-कुलोत्पन्न ! ऐसे अनुरक्त राजाकी सेवा करनी चाहिये। किंतु पूर्वकालमे सेवा किये गये विरक्त राजाका भी आपत्तिकालमे त्याग नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य अपने निर्गुण एवं अनुपम मित्र, भृत्य तथा विशेष-रूपसे स्वामीको आपत्तिके अवसरपर नहीं छोड़ते, वे देवता-वृन्दोंके द्वारा सेवित देवराज इन्द्रके धामको जाते हैं ॥३४-३८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रसगमें भृत्य-व्यवहार नामक दो सौ सोलहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥२१६॥

दो सौ सतरहवाँ अध्याय

दुर्ग-निर्माणकी विधि तथा राजाद्वारा दुर्गमें संग्रहणीय उपकरणोंका विवरण

मत्स्य उवाच

राजा सहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम्। रम्यमानतसामन्तं मध्यमं देशमावसेत् ॥ १ ॥
वैश्यशूद्रजनप्रायमनाहार्यं तथा परैः। किंचिद् ब्राह्मणसंयुक्तं बहुकर्मकरं तथा ॥ २ ॥
अदेवमातृकं रम्यमनुरक्तजनान्वितम्। करैरपीडितं चापि बहुपुष्पफलं तथा ॥ ३ ॥
अगम्यं परचक्राणां तद्वासगृहमापदि। समदुःखसुखं राज्ञः सततं प्रियमास्थिनम् ॥ ४ ॥
सरीसृपविहीनं च व्याघ्रतस्करवर्जितम्। एवंविधं यथालाभं राजा विषयमावसेत् ॥ ५ ॥
तत्र दुर्गं नृपः कुर्यात् षण्णामेकतमं बुधः। धन्वदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥ ६ ॥
वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च पार्थिव। सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते ॥ ७ ॥
दुर्गं च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतम्। शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतशश्च समावृतम् ॥ ८ ॥
गोपुरं सकपाटं च तत्र स्यात् सुमनोहरम्। सपताकं गजारूढो येन राजा विशेत् पुरम् ॥ ९ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! जहाँ प्रचुर मात्रामें घास-भूसा और लकड़ी वर्तमान हो, स्थान रमणीय हो, पड़ोसी राजा विनम्र हो, वैश्य और शूद्रलोग अधिक मात्रामें रहते हों, जो शत्रुओंद्वारा हरण किये जाने योग्य न हो एवं कुछ विप्रों तथा अधिकांश कर्मकरोंसे संयुक्त तथा नदी-कूपादि जलसाधनयुक्त एवं अनुरक्तजनोंसे समन्वित हो, जहाँके निवासी करके भारसे पीडित न हों, पुष्प और फलकी बहुतायत हो, आपत्तिके समय वह वासस्थान शत्रुओंके लिये अगम्य हो, जहाँ निरन्तर समानरूपसे राजाके सुख-दुःखके भागी एवं प्रेमीजन निवास करते हो, जो सर्प, बाघ और चोरसे रहित हो तथा सरलतासे उपलब्ध हो, इस प्रकारके देशमें राजाको अपने सहायकोंसहित निवास करना चाहिये। वहाँ बुद्धिमान् राजाको धन्व या धनुदुर्ग (जहाँ चारों ओरसे मरुभूमि हो), महीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग तथा पर्वतदुर्ग—इन छः दुर्गोंमेंसे किसी एककी रचना करनी चाहिये। राजन् ! इन सभी दुर्गोमें गिरि (पर्वत) दुर्ग श्रेष्ठ माना गया है*। वह गिरिदुर्ग खाई, चहारदीवारी तथा ऊँची अट्टालिकाओंसे युक्त एवं तोप आदि सैकड़ों प्रधान यन्त्रोंसे घिरा होना चाहिये। उसमें किंवाड़सहित मनोहर फाटक लगा हो, जिससे हाथीपर बैठा हुआ पताकासमेत राजा नगरमें प्रविष्ट हो सके ॥१-९॥

---

* गिरिदुर्ग चारों ओरसे पर्वतोंसे घिरे हुए पर्वतोंके मध्य किसी चौरस पर्वतपर ही स्थित होता है। इसके भी चारों ओर मरुभूमि, जलराशि, खाई, वृक्षादिके दुर्ग होते हैं। मनुनिर्मित रोहिताश्वदुर्ग तथा कलिंजर, चरणाद्रिके दुर्ग ऐसे ही हैं। मनु० ७। ७०-७७ आदिमें इनका विस्तृत उल्लेख है।

चतस्रश्च तथा तत्र कार्यास्त्वायतवीथयः। एकस्मिंस्तत्र वीथ्यग्रे देववेश्म भवेद् दृढम् ॥ १० ॥
वीथ्यग्रे च द्वितीये च राजवेश्म विधीयते। धर्माधिकरणं कार्यं वीथ्यग्रे च तृतीयके ॥ ११ ॥
चतुर्थे त्वथ वीथ्यग्रे गोपुरं च विधीयते। आयतं चतुरस्रं वा वृत्तं वा कारयेत् पुरम् ॥ १२ ॥
मुक्तिहीनं त्रिकोणं च यवमध्यं तथैव च। अर्धचन्द्रप्रकारं च वज्राकारं च कारयेत् ॥ १३ ॥
अर्धचन्द्रं प्रशंसन्ति नदीतीरेषु तद्वसन्। अन्यत्र तन्न कर्तव्यं प्रयत्नेन विजानता ॥ १४ ॥
राज्ञा कोशगृहं कार्यं दक्षिणे राजवेश्मनः। तस्यापि दक्षिणे भागे गजस्थानं विधीयते ॥ १५ ॥
गजानां प्राङ्मुखी शाला कर्तव्या वाप्युदङ्मुखी। आग्नेये च तथा भागे आयुधागारमिष्यते ॥ १६ ॥
महानसं च धर्मज्ञ कर्मशालास्तथापराः। गृहं पुरोधसः कार्यं वामतो राजवेश्मनः ॥ १७ ॥
मन्त्रिवेदविदां चैव चिकित्साकर्तुरेव च। तत्रैव च तथा भागे कोष्ठागारं विधीयते ॥ १८ ॥
गवां स्थानं तथैवात्र तुरगाणां तथैव च। उत्तराभिमुखा श्रेणी तुरगाणां विधीयते ॥ १९ ॥
दक्षिणाभिमुखा वाथ परिशिष्टास्तु गर्हिताः। तुरगास्ते तथा धार्याः प्रदीपैः सार्वरात्रिकैः ॥ २० ॥
कुक्कुटान् वानरांश्चैव मर्कटांश्च विशेषतः। धारयेदश्वशालासु सवत्सां धेनुमेव च ॥ २१ ॥
अजाश्च धार्या यत्नेन तुरगाणां हितैषिणा। गोगजाश्वादिशालासु तत्पुरीषस्य निर्गमः ॥ २२ ॥
अस्तं गते न कर्तव्यो देवदेवे दिवाकरे। तत्र तत्र यथास्थानं राजा विज्ञाय सारथीन् ॥ २३ ॥
दद्यादावसथस्थानं सर्वेषामनुपूर्वशः। योधानां शिल्पिनां चैव सर्वेषामविशेषतः ॥ २४ ॥
दद्यादावसथान् दुर्गे कालमन्त्रविदां शुभान्। गोवैद्यानश्ववैद्यांश्च गजवैद्यांस्तथैव च ॥ २५ ॥
आहरेत भृशं राजा दुर्गे हि प्रबला रुजः। कुशीलवानां विप्राणां दुर्गे स्थानं विधीयते ॥ २६ ॥

वहाँ चार लम्बी-चौड़ी गलियाँ बनवानी चाहिये। जिनमें एक गलीके अग्रभागमें सुदृढ़ देव-मन्दिरका निर्माण कराये। दूसरी गलीके आगे राजमहल बनानेका विधान है। तीसरी गलीके अग्रभागमें धर्माधिकारीका आवास-स्थान हो। चौथी गलीके अग्रभागमें दुर्गका मुख्य प्रवेश-द्वार हो। उस दुर्गको चौकोना, आयताकार, गोलाकार, मुक्तिहीन, त्रिकोण, यवमध्य, अर्धचन्द्राकार अथवा वज्राकार बनवाना चाहिये। नदी-तटपर बनाये गये अर्धचन्द्राकार दुर्गको उत्तम माना जाता है। विद्वान् राजाको अन्य स्थानोंपर ऐसे दुर्गका निर्माण नहीं करना चाहिये। राजाको राजमहलके दाहिने भागमे कोशगृह बनवाना चाहिये। उसके भी दाहिने भागमें गजशाला बनवानेका विधान है। गजोंकी शाला पूर्व अथवा उत्तराभिमुखी होनी चाहिये। अग्निकोणमे आयुधागार बनवाना उचित है। धर्मज्ञ! उसी दिशामे रसोईघर तथा अन्यान्य कर्मशालाओंकी भी रचना करे। राजभवन-की बायीं ओर पुरोहितका भवन होना चाहिये तथा उसी स्थलपर एवं उसी दिशामें मन्त्रियों और वैद्यका निवास-स्थान एवं कोष्ठागार बनानेका विधान है। उसी स्थानके समीप गौओं तथा अश्वोंके निवासकी व्यवस्था करनी चाहिये। अश्वोंकी पंक्ति उत्तराभिमुखी अथवा दक्षिणाभिमुखी हो सकती है, अन्य दिशाभिमुखी निन्दित मानी गयी है। जहाँ अश्व रखे जायँ वहाँ रातभर दीपक जलते रहना चाहिये। अश्वशालामे मुर्गा, बंदर, मर्कट तथा बछड़ेसहित गौ भी रखनेका विधान है। अश्वोका कल्याण चाहनेवाला अश्वशालामे बकरियोंको भी रखे। गौ, हाथी और अश्वादि शालाओंमे उनके गोबर निकालनेकी व्यवस्था सूर्य अस्त हो जानेपर नहीं करनी चाहिये। राजा उन-उन स्थानोंमे यथायोग्य समझकर क्रमशः सभी सारथियोको आवासस्थान प्रदान करे। इसी प्रकार सबसे बढ़कर योद्धाओं, शिल्पियों और कालमन्त्रके वेत्ताओं-को दुर्गमें उत्तम निवास-स्थान दे। इसी प्रकार राजाको गौ-वैद्य, अश्व-वैद्य तथा गज-वैद्यको भी रखना चाहिये; क्योंकि दुर्गमे कभी रोगोकी प्रबलता हो सकती है। दुर्गमे चारणों, संगीतज्ञों और ब्राह्मणोंके स्थानका विधान है ॥ १०—२६ ॥

न बहूनामतो दुर्गे विना कार्यं तथा भवेत्। दुर्गे च तत्र कर्तव्या नानाप्रहरणान्विताः ॥ २७॥
सहस्रघातिनो राजंस्तैस्तु रक्षा विधीयते। दुर्गे द्वाराणि गुप्तानि कार्याण्यपि च भूभुजा ॥ २८॥
संचयश्चात्र सर्वेषामायुधानां प्रशस्यते। धनुषां क्षेपणीयानां तोमराणां च पार्थिव ॥ २९॥
शराणामथ खड्गानां कवचानां तथैव च। लगुडानां गुडानां च हुडानां परिघैः सह ॥ ३०॥
अश्मनां च प्रभूतानां मुद्गराणां तथैव च। त्रिशूलानां पट्टिशानां कुठाराणां च पार्थिव ॥ ३१॥
प्रासानां च सशूलानां शक्तीनां च नरोत्तम। परश्वधानां चक्राणां वर्मणां चर्मभिः सह ॥ ३२॥
कुद्दालरज्जुवेत्राणां पीठकानां तथैव च। तुषाणां चैव दात्राणामङ्गाराणां च संचयः ॥ ३३॥
सर्वेषां शिल्पिभाण्डानां संचयश्चात्र चेष्यते। वादित्राणां च सर्वेषामोषधीनां तथैव च ॥ ३४॥
यवसानां प्रभूतानामिन्धनस्य च संचयः। गुडस्य सर्वतैलानां गोरसानां तथैव च ॥ ३५॥
वसानामथ मज्जानां स्नायूनामस्थिभिः सह। गोचर्मपटहानां च धान्यानां सर्वतस्तथा ॥ ३६॥
तथैवाभ्रपटानां च यवगोधूमयोरपि। रत्नानां सर्ववस्त्राणां लौहानामप्यशेषतः ॥ ३७॥
कलायमुद्गमाषाणां चणकानां तिलैः सह। तथा च सर्वसस्यानां पांसुगोमययोरपि ॥ ३८॥
शणसर्जरसं भूर्जं जतु लाक्षा च टङ्कणम्। राजा संचिनुयाद् दुर्गे यच्चान्यदपि किंचन ॥ ३९॥
कुम्भाश्चाशीविषैः कार्या व्यालसिंहादयस्तथा। मृगाश्च पक्षिणश्चैव रक्ष्यास्ते च परस्परम् ॥ ४०॥
स्थानानि च विरुद्धानां सुगुप्तानि पृथक् पृथक्। कर्तव्यानि महाभाग यत्नेन पृथिवीक्षिता ॥ ४१॥
उक्तानि चाप्यनुक्तानि राजद्रव्याण्यशेषतः। सुगुप्तानि पुरे कुर्याज्जनानां हितकाम्यया ॥ ४२॥

इनके अतिरिक्त दुर्गमें निरर्थक बहुत-से व्यक्तियोंको नहीं रखना चाहिये। राजन्! दुर्गमें विविध प्रकारके शस्त्रास्त्रसे युक्त एवं हजारोंको मारनेमे समर्थ योद्धाओंको रखना चाहिये; क्योंकि उन्हींसे रक्षा होती है। राजाको दुर्गमें गुप्तद्वार भी बनवाना चाहिये। राजन्! दुर्गमें सभी प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहकी विशेष प्रशंसा की गयी है। नृपश्रेष्ठ राजन्! राजाको दुर्गमें धनुष, ढेलवाँस, तोमर, बाण, तलवार, कवच, लाठी, गुड (हाथीको फँसानेका एक फंदा), हुड (चोरोंको फँसानेका खूँटा), परिघ, पत्थर, बहुसंख्यक मुद्गर, त्रिशूल, पट्टिश, कुठार, प्रास (भाला), शूल, शक्ति, फरसा, चक्र, चर्मके साथ ढाल, कुदाल, रस्सी, बेंत, पीठक, भूसी, हँसिया, कोयला—इन सबका संचय करना चाहिये। दुर्गमें सभी प्रकारके शिल्पीय पात्रोंका भी संचय रहना चाहिये। वह सभी प्रकारके वाद्यों तथा ओषधियोंका भी संचय करे। वहाँ प्रचुरमात्रामें घास-भूसा, ईंधन, गुड, सभी प्रकारके तेल तथा गोरसका भी संचय हो। राजाको दुर्गमे वसा, मज्जा, हड्डियोंसहित स्नायु, गोचर्मसे बने नगाड़े, धान्य, तम्बू, जौ, गेहूँ, रत्न, सभी प्रकारके वस्त्र, लौह, कुरथी, मूँग, उड़द, चना, तिल, सभी प्रकारके अन्न, धूल, गोबर, सन, भोजपत्र, जस्ता, लाह, पत्थर तोड़नेकी छेनी तथा अन्य भी जो कुछ आवश्यक पदार्थ हों, उनका संचय करना चाहिये। सर्पोके विषसे भरे घड़े, साँप, सिंह आदि हिंसक जन्तु, मृग तथा पक्षी रखे जाने चाहिये, किंतु वे एक दूसरेसे सुरक्षित रहें। महाभाग! राजाको विरोधी जीवोंकी रक्षाके लिये यत्नपूर्वक पृथक्-पृथक् स्थान बनवाना चाहिये। राजाको प्रजाकी कल्याण-भावनासे कही गयी अथवा न कही गयी सम्पूर्ण राजवस्तुओंको दुर्गमे गुप्तरूपसे संग्रहीत करना चाहिये ॥

जीवकर्षभकाकोलमामलक्याटरूषकान्। शालपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी तथैव च ॥ ४३॥
माषपर्णी च मेदे द्वे शारिवे द्वे बलात्रयम्। वीरा श्वसन्ती वृष्या च बृहती कण्टकारिका ॥ ४४॥
शृङ्गी शृङ्गाटकी द्रोणी वर्षाभूर्दर्भरेणुका। मधुपर्णी विदार्यौ द्वे महाक्षीरा महातपाः ॥ ४५॥
धन्वनः सहदेवाह्वा कटुकैरण्डकं विषः। पर्णी शताह्वा मृद्वीका फल्गुखर्जूरयष्टिकाः ॥ ४६॥

शुक्रातिशुक्रकाश्मर्यश्छत्रातिच्छत्रवीरणाः । इक्षुरिक्षुविकाराश्च फाणिताद्याश्च सत्तम ॥ ४७ ॥
सिंही च सहदेवी च विश्वेदेवाश्वरोधकम् । मधुकं पुष्पहंसाख्या शतपुष्पा मधूलिका ॥ ४८ ॥
शतावरीमधूके च पिप्पलं तालमेव च । आत्मगुप्ता कट्फलाख्या दार्विका राजशीर्पकी ॥ ४९ ॥
राजसर्षपधान्याकमृष्यप्रोक्ता तथोत्कटा । कालशाकं पद्मबीजं गोवल्ली मधुवल्लिका ॥ ५० ॥
शीतपाकी कुलिङ्गाक्षी काकजिह्वोरुपुष्पिका । पर्वतत्रपुसौ चोभौ गुञ्जातकपुनर्नवे ॥ ५१ ॥
कसेरुका तु काश्मीरी बिल्वशालूककेसरम् । तुषधान्यानि सर्वाणि शमी धान्यानि चैव हि ॥ ५२ ॥
क्षीरं क्षौद्रं तथा तक्रं तैलं मज्जा वसा घृतम् । नीपश्चारिष्टकश्चोडवानामसोमवाणकम् ॥ ५३ ॥
एवमादीनि चान्यानि विज्ञेयो मधुरो गणः । राजा संचिनुयात् सर्वं पुरे निरवशेषतः ॥ ५४ ॥

जीवक, ऋषभक, काकोल, इमली, आटरूप, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, मापपर्णी, दोनों प्रकारकी मेदा, दोनों प्रकारकी शारिवा, तीनों बलाएँ (एक ओषधि), वीरा, श्वसन्ती, वृष्या, बृहती, कण्टकारिका, शृङ्गी, शृङ्गाटकी, द्रोणी, वर्षाभू, कुश, रेणुका, मधुपर्णी, दोनों विदारी, महाक्षीरा, महातपा, धन्वन, सहदेवी, कटुक, रेंड, विष, शतपर्णी, मृद्वीका, फल्गु, खजूर, यष्टिका, शुक्र, अतिशुक्र, काश्मरी, छत्र, अतिछत्र, वीरण, ईख और ईखसे होनेवाली अन्य वस्तुएँ, फाणित आदि, सिंही, सहदेवी, विश्वदेव, अश्वरोधक, एक प्रकारका अशोक, पुष्पहंसा, शतपुष्पा, मधूलिका, शतावरी, महुआ, पिप्पल, ताल, आत्मगुप्ता, कटफल, दार्विका, राजशीर्पकी, श्वेत सरसों, धनिया, ऋष्यप्रोक्ता, उत्कटा, कालशाक, पद्मबीज, गोवल्ली, मधुवल्लिका, शीतपाकी, कुलिंगाक्षी, काकजिह्वा, उरुपुष्पिका, दोनों पर्वत और त्रपुष, गुंजातक, पुनर्नवा, कसेरुका, काश्मीरी, बिल्व, शालूक, केसर, सभी प्रकारकी भूसियाँ, शमी, अन्न, दुग्ध, शहद, मट्ठा, तेल, मज्जा, वसा, घी, कदम्ब, अरिष्टक, अक्षोट, बादाम, सोम और वाणक—इन सबको तथा इसी प्रकार अन्य पदार्थोंको मधुर जानना चाहिये। राजा इन सबका पूर्णरूपसे दुर्गमें संग्रह करे ॥ ४३—५४ ॥

दाडिमाम्रातकौ चैव तिन्तिडीकाम्लवेतसम् । भव्यकर्कन्धुलकुचकरमर्दकरूपकम् ॥ ५५ ॥
बीजपूरककण्डूरे मालती राजबन्धुकम् । कोलकद्वयपर्णानि द्वयोराम्रातयोरपि ॥ ५६ ॥
पारावतं नागरकं प्राचीनारुकमेव च । कपित्थामलकं चुक्रफलं दन्तशठस्य च ॥ ५७ ॥
जाम्बवं नवनीतं च सौवीरकतुपोदके । सुरासवं च मद्यानि मण्डतक्रदधीनि च ॥ ५८ ॥
शुक्लानि चैव सर्वाणि ज्ञेयमाम्लगणं द्विज । एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात् पुरे ॥ ५९ ॥
सैन्धवोद्भिदपाठेयपाक्यसामुद्रलोमकम् । कुप्यसौवर्चलाबिल्वं वालकेयं यवाह्वकम् ॥ ६० ॥
और्वं क्षारं कालभस्म विज्ञेयो लवणो गणः । एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात् पुरे ॥ ६१ ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् । कुबेरकं च मरिचं शिग्रुभल्लातसर्षपाः ॥ ६२ ॥
कुष्ठाजमोदा किणिही हिङ्गुमूलकधान्यकम् । कारवी कुञ्चिका याज्या सुमुखा कालमालिका ॥ ६३ ॥
फणिज्झकोऽथ लशुनं भूस्तृणं सुरसं तथा । कायस्था च वयःस्था च हरितालं मनःशिला ॥ ६४ ॥
अमृता च रुदन्ती च रोहिषं कुङ्कुमं तथा । जया एरण्डकाण्डीरं शल्लकी हञ्जिका तथा ॥ ६५ ॥
सर्वपित्तानि मूत्राणि प्रायो हरितकानि च । संगतानि च मूलानि यष्टिश्चातिविषाणि च ।
फलानि चैव हि तथा सूक्ष्मैला हिङ्गुपत्रिका ॥ ६६ ॥
एवमादीनि चान्यानि गणः कटुकसंज्ञितः । राजा संचिनुयाद् दुर्गे प्रयत्नेन नृपोत्तम ॥ ६७ ॥
मुस्तं चन्दनह्रीवेरकृतमालकदारवः । हरिद्रानलदोशीरनक्तमालकदम्बकम् ॥ ६८ ॥
दूर्वा पटोलकटुका दन्तीत्वक् पत्रकं वचा । किराततिक्तभूतुम्बी विषा चातिविषा तथा ॥ ६९ ॥
तालीसपत्रनगरं सप्तपर्णविकङ्कताः । काकोदुम्बरिका दिव्यास्तथा चैव सुरोद्भवा ॥ ७० ॥
षड्ग्रन्था रोहिणी मांसी पर्पटश्चाथ दन्तिका । रसाञ्जनं भृङ्गराजं पतङ्गी परिपेलवम् ॥ ७१ ॥
दुःस्पर्शा गुरुणी कामा श्यामाकं गन्धनाकुली । रूपपर्णी व्याघ्रनखं मञ्जिष्ठा चतुरङ्गुला ॥ ७२ ॥

रम्भा चैवाङ्कुरास्फीता तालास्फीता हरेणुका। वेत्राग्रवेतसस्तुम्बी विषाणी लोध्रपुष्पिणी ॥ ७३ ॥
मालती करकृष्णाख्या वृश्चिका जीविता तथा। पर्णिका च गुडूची च स गणस्तिक्तसंज्ञकः ॥ ७४ ॥
एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात् पुरे।

अनार, आम्रातक, इमली, अम्लवेतस, सुन्दर बेर, बड़हर, करमर्द, करूषक, बिजौरा, कण्डूर, मालती, राज-बन्धुक, दोनो कोल्कों और अमड़ोंके पत्ते, पारावत, नागरक, प्राचीन अरुक, कैथ, ऑवला, चुक्रफल, दन्तशठ, जामुन, मक्खन, सौवीरक, रुषोदक, सुरा, आसव आदि मद्य, मॉड, मट्ठा, दही एवं ऐसे सभी प्रकारके श्वेत पदार्थोंको खट्टा समझना चाहिये। राजा इनका तथा ऐसे अन्यान्य पदार्थोंका अपने दुर्गमें संचय करे। सैन्धव, उद्भिद्, पाठेय, पाक्य, सामुद्र (सॉभर) लोमक, कुप्य, सौवर्चल, अबिल्व, वालकेय, यव, भौम, क्षार, कालभस्म—ये सभी लवणके भेदोपभेद हैं। राजा इन सबका तथा अन्य लवणोंका दुर्गमें संग्रह करे। पीपर, पीपरका मूल, चव्य, शीता, सौंठ, कुबेरक, मिर्च, सहजना, भिलावा, सरसो, कुष्ठ, अजमोदा, ओगा, हींग, मूली, धनियॉ, सौंफ, अजवाइन, मंजीठ, जवीर, कल्माल्लिका, कणिज्झक, लहसुन, पाला-के आकारवाला जलीय तृण, हरड़, कायस्था, वयःस्था, हरताल, मैनसिल, गिलोय, रुदंती, रोहिष, केशर, जया, रेडी, नरकट, शल्लकी, भारंगी, सभी प्रकारके पित्त और मूत्र, हर्रे, आवश्यक मूल, मुलहठी, अतिविष, छोटी इलायची, तेजपात आदि कटु ओषधियॉ हैं। राजश्रेष्ठ! राजा दुर्गमें प्रयत्नपूर्वक इनका संग्रह करे। नागरमोथा, चन्दन, ह्रीवेर, कृतहारक, दारुहल्दी, हल्दी, नलद, खश, नक्तमाल, कदम्ब, दूर्वा, परवल, तेजपात, वच, चिरायता, भूतुम्बी, विषा, अतिविषा, तालीसपत्र, तगर, छितवन, खैर, काली गूलर, दिव्या, सुरोद्भवा, षड्ग्रन्थी, रोहिणी, जटामासी, पर्पट, दन्ती, रसांजन, भृंगराज, पतंगी, परिपेलव, दुःस्पर्शा, अगुरुद्वय, कामा, श्यामाक, गंधनाकुली, तुषपर्णी, व्याघ्रनख, मंजीठ, चतुरंगुला, केला, अंकुरास्फीता, तालास्फीता, रेणुकबीज, बेतका अग्रभाग, बेत, तुम्बी, कँकरासींगी, लोध्रपुष्पिणी, मालती, करकृष्णा, वृश्चिका, जीविता, पर्णिका तथा गुडुच—यह तिक्त ओषधियोंका समूह है। राजा इनका तथा इसी प्रकारके अन्य तिक्त पदार्थोंका दुर्गमें संग्रह रखे॥

अभयामलके चोभे तथैव च विभीतकम् ॥ ७५ ॥
प्रियङ्गुधातकीपुष्पं मोचाख्या चार्जुनासनाः। अनन्ता स्त्री तुवरिका श्योणाकं कट्फलं तथा ॥ ७६ ॥
भूर्जपत्रं शिलापत्रं पाटलापत्रलोमकम्। समङ्गात्रिवृतामूलकार्पासगैरिकाञ्जनम् ॥ ७७ ॥
विद्रुमं समधूच्छिष्टं कुम्भिका कुमुदोत्पलम्। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकिंशुकाः शिंशपा शमी ॥ ७८ ॥
प्रियालपीलुकासारिशिरीषाः पद्मकं तथा। बिल्वोऽग्निमन्थः प्लक्षश्च श्यामाकं च वको धनम् ॥ ७९ ॥
राजादनं करीरं च धान्यकं प्रियकस्तथा। कङ्कोलाशोकबदराः कदम्बखदिरद्वयम् ॥ ८० ॥
एषां पत्राणि साराणि मूलानि कुसुमानि च। एवमादीनि चान्यानि कषायाख्यो गणो मतः ॥ ८१ ॥
प्रयत्नेन नृपश्रेष्ठ राजा संचिनुयात् पुरे। कीटाश्च मारणे योग्या व्यङ्गतायां तथैव च ॥ ८२ ॥
वातधूमाम्बुमार्गाणां दूषणानि तथैव च। धार्याणि पार्थिवैर्दुर्गे तानि वक्ष्यामि पार्थिव ॥ ८३ ॥
विषाणां धारणं कार्यं प्रयत्नेन महीभुजा। विचित्राश्चागदा धार्या विषस्य शमनास्तथा ॥ ८४ ॥
रक्षोभूतपिशाचघ्नाः पापघ्नाः पुष्टिवर्धनाः। कलाविदश्च पुरुषाः पुरे धार्याः प्रयत्नतः ॥ ८५ ॥
भीतान् प्रमत्तान् कुपितांस्तथैव च विमानितान्। कुभृत्यान् पापशीलांश्च न राजा वासयेत् पुरे ॥ ८६ ॥
यन्त्रायुधाट्टालचयोपपन्नं समग्रधान्यौषधिसम्प्रयुक्तम्।
वणिग्जनैश्चावृतमावसेत दुर्गं सुगुप्तं नृपतिः सदैव ॥ ८७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे दुर्गनिर्माणौषध्यादिसंचयकथनं नाम सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

हर्रे, बहेड़ा, आँवला, मालकागुन, धायके फूल, मोचरस, अर्जुन, असन, अनन्ता, कामिनी, तुवरिका, श्योणाक, जायफल, भोजपत्र, शिलाजीत, पाटलवृक्ष, लोहबान, समंगा, त्रिवृता, मूल, कपास, गेरु, अंजन, विद्रुम, शहद, जलकुम्भी, कुमुदिनी, कमल, बरगद, गूलर, पीपल, पालाश, शीशम, शमी, प्रियाल, पीलु, कासारि, शिरीष, पद्म, बेल, अरणी, पाकड़, श्यामाक, वक, धन, राजादन, करीर, धनिया, प्रियक, कंकोल, अशोक, बेर, कदंब, दोनों प्रकारके खैर—इन वृक्षोंके पत्ते, सारभाग (सत्त्व), मूल तथा पुष्प काषाय माने गये हैं। राजश्रेष्ठ! राजाको ये काषाय ओषधियाँ दुर्गमें रखनी चाहिये। राजन्! मारने एवं घायल करनेवाले कीट-पतंग तथा वायु, धूम, जल तथा मार्गको दूषित करनेवाली ओषधियोंको, जिन्हें मैं आगे बतलाऊँगा, राजाको दुर्गमें रखनी चाहिये। राजाको प्रयत्नपूर्वक सभी विषोंका संग्रह करना चाहिये तथा विष-प्रभावको शान्त करनेवाली विचित्र ओषधियोंको भी धारण करना उचित है। राक्षस, भूत तथा पिशाचोंके प्रभावको नष्ट करनेवाले, पापनाशक, पुष्टिकारक पदार्थों तथा कलाविज्ञ पुरुषोंको भी दुर्गमें प्रयत्नपूर्वक स्थापित करना चाहिये। राजाको चाहिये कि उस दुर्गमें डरकर भागे हुए, उन्मत्त, क्रुद्ध, अपमानित तथा पापी दुष्ट मनुष्योंको न ठहरने दे। सभी प्रकारके यन्त्र, अस्त्र तथा अट्टालिकाओंके समूहसे संयुक्त, सभी प्रकारके अन्न तथा ओषधियोंसे सुसम्पन्न और व्यवसायी जनोंसे परिपूर्ण दुर्गमें राजाको सदैव सुखपूर्वक निवास करना चाहिये॥ ७५—८७॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें राजाओंके लिये दुर्गनिर्माण और ओषधि आदिके संचयका वर्णन नामक दो सौ सतरहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २१७॥

दो सौ अठारहवाँ अध्याय

दुर्गमें संग्राह्य ओषधियोंका वर्णन

मनुरुवाच

रक्षोघ्नानि विषघ्नानि यानि धार्याणि भूभुजा। अगदानि समाचक्ष्व तानि धर्मभृतां वर॥ १॥

मनुने पूछा—धार्मिकश्रेष्ठ! राजाको राक्षस, विष और रोगको दूरकर स्वस्थ करनेवाली जिन ओषधियोंका दुर्गमें संग्रह करना चाहिये, उनका वर्णन कीजिये॥ १॥

मत्स्य उवाच

बिल्वाटकी यवक्षारं पाटला बाह्लिकोषणा। श्रीपर्णी शल्लकीयुक्तो निक्वाथः प्रोक्षणं परम्॥ २॥
सविषं प्रोक्षितं तेन सद्यो भवति निर्विषम्। यवसैन्धवपानीयवस्त्रशय्यासनोदकम्॥ ३॥
कवचाभरणं क्षत्रं बालव्यजनवेश्मनाम्। शेलुः पाटलातिविषा शिग्रु मूर्वा पुनर्नवा॥ ४॥
समङ्गा वृषमूलं च कपित्थवृषशोणितम्। महादन्तंशठंतद्वत् प्रोक्षणं विषनाशनम्॥ ५॥
लाक्षाप्रियङ्गुमञ्जिष्ठा सममेला हरेणुका। यष्ट्याह्वा मधुरा चैव बभ्रुपित्तेन कल्पिताः॥ ६॥
निखनेद् गोविषाणस्थं सप्तरात्रं महीतले। ततः कृत्वा मणिं हेम्ना बद्धं हस्तेन धारयेत्॥ ७॥
संस्पृष्टं सविषं तेन सद्यो भवति निर्विषम्। मनोह्वया शमीपत्रं तुम्बिका श्वेतसर्षपाः॥ ८॥
कपित्थकुसुममञ्जिष्ठाः पित्तेन श्लक्ष्णकल्पिताः। शुनो गोः कपिलायाश्च सौम्याक्षिसोऽपरो गदः॥ ९॥
विषजित्परमं कार्य मणिरत्नं च पूर्ववत्। मूषिका जतुका चापि हस्ते बध्वा विषापहा॥ १०॥

*

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—विल्वाटकी, जवाखार, पाटला, वाह्लिक, ऊषणा, श्रीपर्णी और शल्लकी—इन ओषधियोंका काढ़ा उत्तम प्रोक्षण है। विषग्रस्त प्राणीद्वारा उसका सेवन करनेसे वह तुरंत ही विषरहित हो जाता है। उसी प्रकार इनके द्वारा सेवन करनेसे यव, सैन्धव, पानीय, वस्त्र, शय्या, आसन, जल, कवच, आभरण, छत्र, चामर और गृह आदि विषरहित हो जाते हैं। शेलु, पाटली, अतिविषा, शिग्रु, मूर्वा, पुनर्नवा, समंगा, वृषमूल, कपित्थ, वृषशोणित तथा महादन्तशठ—इन ओषधियोंके काढ़ेका सेवन भी उसी प्रकार विषनाशक होता है। लाह, प्रियंगु, मंजीठ, समान भागमें इलायची, हर्रे, जेठीमधु और मधुरा—इन्हें नकुल-पित्तसे संयुक्त करके गायके सींगमें रखकर सात राततक पृथ्वीमें गाड़ दे। इसके बाद उसे सुवर्णजटित मणिकी अंगूठीमें रखकर हाथमें धारण कर ले। उसका स्पर्श करनेसे विषयुक्त प्राणी तुरंत ही निर्विष हो जाता है। जटामांसी, शमीके पत्ते, तुम्बी, श्वेत सरसो, कपित्थ, कुष्ठ और मंजीठ—इन ओषधियोंको कुत्ते अथवा कपिला गौके पित्तके साथ भावना दे। यह सौम्याक्षित नामक दूसरी विषनाशक ओषधि है। इसे भी पूर्ववत् मणि एवं रत्ननिर्मित अंगूठीमें रखकर धारण करना चाहिये। इसी प्रकार मूषिका और लाहको भी हाथमें बाँधनेसे विषका शमन होता है॥

हरेणुमांसी मञ्जिष्ठा रजनी मधुका मधु। अक्षत्वक् सुरसं लाक्षा श्वपित्तं पूर्ववद् भुवि ॥ ११ ॥
वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेतैः प्रलेपिताः। श्रुत्वा दृष्ट्वा समाघ्राय सद्यो भवति निर्विषः ॥ १२ ॥
त्र्यूषणं पञ्चलवणं मञ्जिष्ठा रजनीद्वयम्। सूक्ष्मैला त्रिवृतापत्रं विडङ्गानीन्द्रवारुणी ॥ १३ ॥
मधूकं वेतसं क्षौद्रं विषाणे च निधापयेत्। तस्मादुष्णाम्बुना मात्रं प्रासुक्तं योजयेत् ततः ॥ १४ ॥
विषभुक्तं ज्वरं याति निर्विषं पित्तदोषकृत्। शुक्लंसर्जरसोपेतं सर्षपा एलवालुकैः ॥ १५ ॥
सुवेगा तस्करसुरौ कुसुमैरर्जुनस्य तु। धूपो वासगृहे हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥ १६ ॥
न तत्र कीटा न विषं दर्दुरा न सरीसृपाः। न कृत्या कर्मणां चापि धूपोऽयं यत्र दह्यते ॥ १७ ॥
कल्पितैश्चन्दनक्षीरपलाशद्रुमवल्कलैः। मूर्वैलावालुसरसानाकुलीतण्डुलीयकैः ॥ १८ ॥
क्वाथः सर्वोदकार्येषु काकमाचीयुतो हितः। रोचनापत्रनेपालीकुङ्कुमैस्तिलकान् वहन् ॥ १९ ॥
विषैर्न बाध्यतेऽस्माच्च नरनारीनृपप्रियः।

हर्रे, जटामांसी, मंजिष्ठा, हरिद्रा, महुआ, मधु, अक्षत्वक्, सुरसा और लाह—इन्हें भी पूर्ववत् कुत्तेके पित्तसे संयुक्त करके पृथ्वीमें गाड़ दे। फिर इनके लेपसे बाजों तथा पताकाओंपर लेप कर दे तो (विषाक्त प्राणी) उन्हें सुनकर, देखकर और सूँघकर तुरंत विषरहित हो जाता है। तीनों कटु (आँवला, हर्रे, बहेरा), पाँचों नमक, मंजीठ, दोनों रजनी, छोटी इलायची, त्रिवृताका पत्ता, विडंग, इन्द्रवारुणि, मधूक, वेतस तथा मधु—इन सबको सींगमें स्थापित कर दे, फिर वहाँसे निकालकर गर्म जलमें मिला दे। इसके द्वारा विष-भक्षणसे उद्भूत पित्तदोष उत्पन्न करनेवाला ज्वर शान्त हो जाता है। श्वेत धूप, सरसों, एलवालुक, सुवेगा, तस्कर, सुर और अर्जुनके पुष्प—इन ओषधियोंका धूपवास करनेवाले घरमें स्थित स्थावर-जङ्गम सभी विषको नष्ट कर देता है। जहाँ वह धूप जलाया जाता है, वहाँ कीट, विष, मेढ़क, रेंगनेवाले सर्पादि जीव तथा कर्मोंकी कृत्या—ये कोई भी नहीं रह सकते। चन्दन, दुग्ध, पलाश-वृक्षकी छाल, मूर्वा, एलावालुक, सरसों, नाकुली, तण्डुलीयक एवं काकमाचीका काढ़ा सभी प्रकारके विषयुक्त जलमें कल्याणकारी होता है। रोचनापत्र, नेपाली, केसर-तिलक—इन ओषधियोंको धारण करनेसे मनुष्यको विषका कष्ट नहीं होता, विषदोष नष्ट हो जाता है और वह इसके प्रभावसे स्त्री, पुरुष और राजाका प्रिय हो जाता है॥ ११—१९½ ॥

चूर्णैर्हरिद्रामञ्जिष्ठाकिणिहीकणनिम्बजैः ॥ २० ॥
दिग्धं निर्विषतामेति गात्रं सर्वविषार्दितम्। शिरीषस्य फलं पत्रं पुष्पं त्वङ्मूलमेव च ॥ २१ ॥
गोमूत्रघृष्टो ह्यगदः सर्वकर्मकरः स्मृतः। एकवीर महौषध्यः शृणु चातः परं नृप ॥ २२ ॥
वन्ध्या कर्कोटकी राजन् विष्णुकान्ता तथोत्कटा। शतमूली सितानन्दा बला मोचा पटोलिका ॥ २३ ॥
सोमा पिण्डा निशा चैव तथा दग्धरुहा च या। स्थले कमलिनी या च विशाली शङ्खमूलिका ॥ २४ ॥
चाण्डाली हस्तिमगधा गोऽजापर्णी करम्भिका। रक्ता चैव महारक्ता तथा बर्हिशिखा च या ॥ २५ ॥
कौशातकी नक्तमालं प्रियालं च सुलोचनी। वारुणी वसुगन्धा च तथा वै गन्धनाकुली ॥ २६ ॥
ईश्वरी शिवगन्धा च श्यामला वंशनालिका। जतुकाली महाश्वेता श्वेता च मधुयष्टिका ॥ २७ ॥
वज्रकः पारिभद्रश्च तथा वै सिन्धुवारकः। जीवानन्दा वसुच्छिद्रा नतनागरकण्टका ॥ २८ ॥
नालं जाली च जाती च तथा च वटपत्रिका। कार्तस्वरं महानीला कुन्दुरुर्हंसपादिका ॥ २९ ॥
मण्डूकपर्णी वाराही द्वे तथा तण्डुलीयकम्। सर्पाक्षी लवली ब्राह्मी विश्वरूपा सुखाकरा ॥ ३० ॥
रुजापहा वृद्धिकरी तथा चैव तु शल्यदा। पत्रिका रोहिणी चैव रक्तमाला महौषधी ॥ ३१ ॥
तथामलकवृन्दाकं श्यामचित्रफला च या। काकोली क्षीरकाकोली पीलुपर्णी तथैव च ॥ ३२ ॥
केशिनी वृश्चिकाली च महानागा शतावरी। गरुडी च तथा वेगा जले कुमुदिनी तथा ॥ ३३ ॥
स्थले चोत्पलिनी या च महाभूमिलता च या। उन्मादिनी सोमराजी सर्वरत्नानि पार्थिव ॥ ३४ ॥
विशेषान्मरकतादीनि कीटपक्षं विशेषतः। जीवजाताश्च मणयः सर्वे धार्याः प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥
रक्षोघ्नाश्च विषघ्नाश्च कृत्या वेतालनाशनाः। विशेषान्नरनागाश्च गोखरोष्ट्रसमुद्भवाः ॥ ३६ ॥
सर्पतित्तिरगोमायुबभ्रुमण्डूकजाश्च ये।
सिंहव्याघ्रर्क्षमार्जारद्वीपिवानरसम्भवाः। कपिञ्जला गजा वाजिमहिषैणभवाश्च ये ॥ ३७ ॥
इत्येवमेतैः सकलैरुपेतैर्द्रव्यैः परार्ध्यैः परिरक्षितः स्यात्।
राजा वसेत् तत्र गृहं सुशुभ्रं गुणान्वितं लक्षणसम्प्रयुक्तम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽगदाध्यायो नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

हल्दी, मजीठ, किणिही, पिप्पली और नीमके चूर्णका लेप करनेसे सभी प्रकारके विषसे पीडित शरीर विषरहित हो जाता है। शिरीष-वृक्षका फल, पत्ता, पुष्प, छाल और जड़—इन सबको गो-मूत्रमें घिसकर तैयार की गयी ओषधि सभी प्रकारके विषकर्ममें हितकारी कही गयी है। सर्वोत्कृष्ट शूरवीर राजन्! इसके उपरान्त सर्वश्रेष्ठ ओषधियोंका वर्णन कर रहा हूँ, सुनिये। राजन्! वन्ध्या, कर्कोटकी, विष्णुक्रान्ता, उत्कटा, शतमूली, सिता, आनन्दा, बला, मोचा, पटोलिका, सोमा, पिण्डा, निशा, दग्धरुहा, स्थलपद्म, विशाली, शंखमूलिका, चाण्डाली, हस्तिमगधा, गोपर्णी, अजापर्णी, करम्भिका, रक्ता, महारक्ता, बर्हिशिखा, कौशातकी, नक्तमाल, प्रियाल, सुलोचनी, वारुणी, वसुगन्धा, गन्धनाकुली, ईश्वरी, शिवगन्धा, श्यामला, वंशनालिका, जतुकाली, महाश्वेता, श्वेता, मधुयष्टिका, वज्रक, पारिभद्र, सिन्दुवारक, जीवानन्दा, वसुच्छिद्रा, नतनागर, कण्टकारि, नाल, जाली, जाती, वटपत्रिका, सुवर्ण, महानीला, कुन्दुरु, हंसपादिका, मण्डूकपर्णी, दोनों प्रकारकी वाराही, तण्डुलीयक, सर्पाक्षी (नकुलकंद), लवली, ब्राह्मी, विश्वरूपा, सुखाकरा, रुजापहा, वृद्धिकरी, शल्यदा, पत्रिका, रोहिणी, रक्तमाला, आमलक, वृन्दाक, श्यामा, चित्रफला, काकोली, क्षीरकाकोली, पीलुपर्णी, केशिनी, वृश्चिकाली, महानागा, शतावरी, गरुडी, वेगा, जलकुमुदिनी, स्थलोत्पल, महाभूमिलता, उन्मादिनी, सोमराजी, सभी प्रकारके रत्न—विशेषकर मरकत आदि

बहुमूल्य रत्न, अनेक प्रकारकी कीटज मणियाँ, जीवोंसे उत्पन्न होनेवाली मणियाँ—इन सभीको प्रयत्नपूर्वक दुर्गमें संचित करे। इसी प्रकार राक्षस, विष, कृत्या, वैताल आदिकी नाशक—विशेषकर मनुष्य, सर्प, गौ, गर्दभ, ऊँट, साँप, तीतर, शृगाल, नेवला, मेढक, सिंह, बाघ, रीछ, बिलाव, गैड़ा, वानर, कपिंजल, हस्ती, अश्व, महिष और हरिण आदि जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपयोगी वस्तुओंका भी राजा संचय करे। इस प्रकार इन सभी बहुमूल्य पदार्थोंसे युक्त रहनेपर वह सुरक्षित रहता है। तब राजा उनमें बने हुए अत्यन्त निर्मल, उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न तथा गुणयुक्त भवनमें निवास करे ॥ २०—३८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें अगदाध्याय नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २१८ ॥

दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय

विष-युक्त पदार्थोंके लक्षण एवं उससे राजाके बचनेके उपाय

मनुरुवाच

राजरक्षारहस्यानि यानि दुर्गे निधापयेत्। कारयेद् वा महीभर्ता ब्रूहि तत्त्वानि तानि मे ॥ १ ॥

मनुने पूछा—भगवन्! राजाको राज्यकी रक्षाके लिये जिन रहस्यपूर्ण साधनोंको दुर्गमे संगृहीत या प्रस्तुत करना चाहिये, उन तत्त्वोंका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

शिरीषोदुम्बरशमीबीजपूरं घृतप्लुतम्। क्षुद्योगः कथितो राजन् मासार्धस्य पुरातनैः ॥ २ ॥
कशेरुफलमूलानि इक्षुमूलं तथा विषम्। दूर्वाक्षीरघृतैर्मण्डः सिद्धोऽयं मासिकः परः ॥ ३ ॥
नरं शस्त्रहतं प्राप्तो न तस्य मरणं भवेत्। कल्माषवेणुना तत्र जनयेत्तु विभावसुम् ॥ ४ ॥
गृहे त्रिरपसव्यं तु क्रियते यत्र पार्थिव। नान्योऽग्निर्ज्वलते तत्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ५ ॥
कार्पासास्थ्ना भुजङ्गस्य तेन निर्मोचनं भवेत्। सर्पनिर्वासने धूपः प्रशस्तः सततं गृहे ॥ ६ ॥
सामुद्रसैन्धवयवा विद्युद्दग्धा च मृत्तिका। तयानुलिप्तं यद्वेश्म नाग्निना दह्यते नृप ॥ ७ ॥
दिवा च दुर्गे रक्ष्योऽग्निर्वाति वाते विशेषतः। विषाच्च रक्ष्यो नृपतिस्तत्र युक्तिं निबोध मे ॥ ८ ॥
क्रीडानिमित्तं नृपतिर्धारयेन्मृगपक्षिणः। अन्नं वै प्राक् परीक्षेत वह्नौ चान्यतरेषु च ॥ ९ ॥
वस्त्रं पुष्पमलङ्कारं भोजनाच्छादनं तथा। नापरीक्षितपूर्वं तु स्पृशेदपि महीपतिः ॥ १० ॥
स्याच्चासौ वक्त्रसंतप्तः सोद्वेगं च निरीक्षते। विषदोऽथ विषं दत्तं यच्च तत्र परीक्षते ॥ ११ ॥
स्रस्तोत्तरीयो विमनाः स्तम्भकुड्यादिभिस्तथा। प्रच्छादयति चात्मानं लज्जते त्वरते तथा ॥ १२ ॥
भुवं विलिखति ग्रीवां तथा चालयते नृप। कण्डूयति च मूर्धानं परिलेढ्याननं तथा ॥ १३ ॥
क्रियासु त्वरितो राजन् विपरीतास्वपि ध्रुवम्। एवमादीनि चिह्नानि विषदस्य परीक्षयेत् ॥ १४ ॥
समीपैर्विक्षिपेद् वह्नौ तदन्नं त्वरयान्वितः। इन्द्रायुधसवर्णं तु रूक्षं स्फोटसमन्वितम् ॥ १५ ॥
एकावर्तं तु दुर्गन्धि भृशं चटचटायते। तद्धूमसेवनाज्जन्तोः शिरोरोगश्च जायते ॥ १६ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! शिरीष, गूलर, शमी और बिजौरा नीबू—इनको घृतमे परिप्लुतकर पंद्रह दिनों बाद सेवन करे, प्राचीन लोग इसे 'क्षुद्योग' कहते हैं। कशेरुके मूल भाग तथा फल, ईखके मूल भाग और विषको दूब, दूध और घीके साथ सिद्ध करनेसे बना हुआ पदार्थ मण्ड कहलाता है। एक मास बाद इसका सेवन करना चाहिये। इसके सेवनसे हथियारो-से घायल हुआ मनुष्य मर नहीं सकता। वहाँ चितकबरे

रंगवाले बाँसके टुकड़ेसे अग्नि उत्पन्न करे। राजन्! उस अग्निको जिस घरमें अपसव्य होकर तीन बार प्रदक्षिणा करे, वहां कोई अन्य अग्नि नहीं जल सकती—इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। कपासके साथ सर्पकी हड्डी जलानेसे घरोंसे सर्पोंका निष्कासन होता है। घरमें निरन्तर इस वस्तुकी धूप करना साँपको निकालनेके लिये विशेष प्रसिद्ध है। राजन्! सामुद्री नमक, सेन्धा नमक और यवा—ये तीन प्रकारके लवण तथा विद्युत्से जली हुई मिट्टी—इन वस्तुओंसे जिस भवनकी लिपाई होती है, उसे अग्नि नहीं जला सकती। दुर्गमे दिनके समय विशेपकर जब वायुका प्रकोप हो, अग्निकी रक्षा करनी चाहिये। विषसे राजाकी रक्षा करनी चाहिये। उस विषयमें मैं युक्ति बतलाता हूँ, सुनिये। राजाको चाहिये कि दुर्गमें क्रीड़ाके लिये कुछ पशु तथा पक्षियोंको रखे। सर्वप्रथम उसे अग्निमें डालकर अथवा अन्य किन्हीं उपायोंसे अन्नकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। वस्त्र, पुष्प, आभरण, भोजन तथा आच्छादन (वस्त्र)को राजा पहले परीक्षा किये बिना स्पर्श भी न करे। विष देनेवाले मनुष्यने यदि विष दे दिया है तो उसकी परीक्षाके ये निम्नकथित लक्षण होते हैं—वह मलिनमुख, उद्वेग-पूर्वक देखनेवाला, खिसकती हुई चादरवाला, उदास, खम्भे और भीतकी आड़में अपनेको छिपानेकी चेष्टा करनेवाला, लज्जित तथा शीघ्रता करनेवाला होता है। राजन्! वह पृथ्वीपर रेखा खींचने लगता है, गर्दन हिलाने लगता है तथा मुखको मलकर सिर खुजलाने लगता है। राजन्! निश्चय ही वह विपरीत कार्योंमें भी शीघ्रता करनेकी चेष्टा करता है। विषदाताके ऐसे ही लक्षण होते हैं। राजाको उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। उसके द्वारा दिये गये अन्नको शीघ्रता-पूर्वक समीपस्थ अग्निमें डाल देना चाहिये। विषैला अन्न अग्निमें पड़ने ही इन्द्रधनुष-जैसे रंगवाला हो जाता है तथा तुरंत ही सूख जाता है। उसमें स्फोट होने लगता है। वह एक ही ओरसे निकलता है, दुर्गन्धयुक्त होता है और अत्यन्त चटचटाने लगता है। उसके धुँएका सेवन करनेसे जीवके सिरमें रोग उत्पन्न हो जाता है॥

सविषेऽन्ने निलीयन्ते न च पार्थिव मक्षिकाः। निलीनाश्च विपद्यन्ते संस्पृष्टे सविषे तथा॥ १७॥
विरज्यति चकोरस्य दृष्टिः पार्थिवसत्तम। विकृतिं च स्वरो याति कोकिलस्य तथा नृप॥ १८॥
गतिः स्खलति हंसस्य भृङ्गराजश्च कूजति। क्रौञ्चो मदमथाभ्येति कृकवाकुर्विरौति च॥ १९॥
विक्रोशति शुको राजन् सारिका वमते ततः। चामीकरोऽन्यतो याति मृत्युं कारण्डवस्तथा॥ २०॥
मेहते वानरो राजन् ग्लायते जीवजीवकः। हृष्टरोमा भवेद् बभ्रुः पृषतश्चैव रोदिति॥ २१॥
हर्षमायाति च शिखी विषसंदर्शनान्नृप। अन्नं च सविषं राजंश्चिरेण च विपच्यते॥ २२॥
तदा भवति निःश्राव्यं पक्वपर्युषितोपमम्। व्यापन्नरसगन्धं च चन्द्रिकाभिस्तथा युतम्॥ २३॥
व्यञ्जनानां तु शुष्कत्वं द्रवाणां बुद्बुदोद्भवः। ससैन्धवानां द्रव्याणां जायते फेनमालिता॥ २४॥
शस्यराजिश्च ताम्रा स्यान्नीला च पयसस्तथा। कोकिलाभा च मद्यस्य तोयस्य च नृपोत्तम॥ २५॥
धान्याम्लस्य तथा कृष्णा कपिला कोद्रवस्य च। मधुश्यामा च तक्रस्य नीला पीता तथैव च॥ २६॥

राजन्! विषयुक्त अन्नके ऊपर मक्खियाँ नहीं बैठतीं, यदि बैठ गयीं तो विषसंयुक्त अन्नका स्पर्श होनेके कारण तुरंत ही मर जाती हैं। पार्थिवश्रेष्ठ! विषयुक्त अन्नको देखते ही चकोरकी दृष्टि विरक्त हो जाती है अर्थात् वह अपनी आँखें फेर लेता है, कोकिलका स्वर विकृत हो जाता है, हंसकी गति लड़खड़ाने लगती है, भौंरे जोरसे गूँजने लगते हैं, क्रौंच (कुरर) मदमत्त हो जाता है और मुर्गा जोर जोरसे बोलने लगता है।

राजन्! शुक चें-चें करने लगता है, सारिका वमन करने लगती है, चामीकर भाग खड़ा होता है और कारण्डव मर जाता है। राजन्! वानर मूत्र-त्याग करने लगता है, जीवजीवक ग्लानियुक्त हो जाता है, नेवलेके रोएँ खड़े हो जाते हैं, पृषत् मृग रोने लगता है। राजन्! विषको देखते ही मयूर हर्षित हो जाता है; क्योंकि वह चिरकालसे विषयुक्त अन्नका भोजन करनेवाला है। राजन्! वह विषयुक्त अन्न कहने योग्य नहीं रह जाता, पंद्रह दिनके बासी अन्नकी तरह दीख पड़ता है। उसका रस तथा गन्ध नष्ट हो जाती है तथा ऊपरसे वह चन्द्रिकाओंसे युक्त रहता है। नृपोत्तम! विषके मिलनेसे बना हुआ व्यञ्जन सूख जाता है, द्रव वस्तुओंमे बुल्ले उठने लगते हैं, लवणसहित पदार्थोंमें फेन उठने लगते हैं। अन्नोसे बना हुआ विषैला भोजन ताम्रवर्णका, दूधवाला नीले रंगका, मदिरा तथा जलयुक्त कोकिलके समान काला, अम्ल अन्नवाला काला, कोदोका कपिल तथा मट्ठायुक्त भोजन मधुके समान श्यामल, नीला और पीला हो जाता है ॥ १७–२६ ॥

घृतस्योदकसंकाशा कपोताभा च मस्तुनः। हरिता माक्षिकस्यापि तैलस्य च तथारुणा ॥ २७ ॥
फलानामप्यपक्वानां पाकः क्षिप्रं प्रजायते। प्रकोपश्चैव पक्वानां माल्यानां म्लानता तथा ॥ २८ ॥
मृदुता कठिनानां स्यान्मृदूनां च विपर्ययः। सूक्ष्माणां रूपदलनं तथा चैवातिरङ्गता ॥ २९ ॥
श्याममण्डलता चैव वस्त्राणां वै तथैव च। लौहानां च मणीनां च मलपङ्कोपदिग्धता ॥ ३० ॥
अनुलेपनगन्धानां माल्यानां च नृपोत्तम।
विगन्धता च विज्ञेया वर्णानां म्लानता तथा। पीतावभासता ज्ञेया तथा राजन् जलस्य तु ॥ ३१ ॥
दन्ता ओष्ठौ त्वचः श्यामास्तनुसत्त्वास्तथैव च। एवमादीनि चिह्नानि विज्ञेयानि नृपोत्तम ॥ ३२ ॥
तस्माद् राजा सदा तिष्ठेन्मणिमन्त्रौषधागदैः। उक्तैः संरक्षितो राजा प्रमादपरिवर्जकः ॥ ३३ ॥
प्रजातरोर्मूलमिहावनीशस्तद्रक्षणाद् राष्ट्रमुपैति वृद्धिम्।
तस्मात् प्रयत्नेन नृपस्य रक्षा सर्वेण कार्या रविवंशचन्द्र ॥ ३४ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे राजरक्षा नामैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

विषयुक्त घृतका वर्ण जलकी भाँति, विषमिश्रित छाछका कबूतरकी तरह, मधुयुक्तका हरा और तेलमिश्रित विषका लाल रंग हो जाता है। विषके संसर्गसे न पके हुए फल शीघ्र ही पक जाते हैं और पका हुआ फल विकृत हो जाता है। पुष्प-मालाएँ मलिन हो जाती हैं। कठोर वस्तु कोमल तथा कोमल वस्तु कठोर हो जाती है। सूक्ष्म वस्तुओंका रूप नष्ट हो जाता है और रंग बदल जाता है। वस्त्रोंमें विशेषकर काले धब्बे पड़ जाते हैं। लोहे और मणियोंपर मैल जम जाती है। नृपश्रेष्ठ! शरीरमे लेपन किये जानेवाले द्रव्यो एवं उपयोगमे आनेवाली पुष्प-मालाओंमें दुर्गन्धि तथा रंगकी मलिनता समझनी चाहिये। राजन्! उसी प्रकार जलमें भी पीलेपनका आभास आने लगता है। नृपोत्तम! विषके सेवनसे दाँत, होंठ और चमड़े श्यामल वर्णके हो जाते हैं और शरीरमें क्षीणताका अनुभव होने लगता है—इस प्रकार ये लक्षण जानने चाहिये। इसलिये राजाको सर्वदा मणि, मन्त्र और उपर्युक्त ओषधियोसे सुरक्षित तथा सावधान रहना चाहिये। सूर्यवंशके चन्द्र! इस पृथ्वीपर प्रजारूपी वृक्षकी जड़ राजा है, अतः उसीकी रक्षासे राष्ट्रकी वृद्धि होती है। इसलिये सभीको प्रयत्नपूर्वक राजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २७–३४ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमें राजरक्षा नामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २१९ ॥

दो सौ बीसवाँ अध्याय

राजधर्म एवं सामान्यनीतिका वर्णन

मत्स्य उवाच

राजन् पुत्रस्य रक्षा च कर्तव्या पृथिवीक्षिता। आचार्यश्चात्र कर्तव्यो नित्ययुक्तश्च रक्षिभिः॥ १॥
धर्मकामार्थशास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत्। रथे च कुञ्जरे चैनं व्यायामं कारयेत् सदा॥ २॥
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनं नाप्तैर्मिथ्याप्रियं वदेत्। शरीररक्षाव्याजेन रक्षिणोऽस्य नियोजयेत्॥ ३॥
न चास्य सङ्गो दातव्यः क्रुद्धलुब्धावमानितैः। तथा च विनयेदेनं यथा यौवनगोचरे॥ ४॥
इन्द्रियैर्नापकृष्येत सतां मार्गात् सुदुर्गमात्। गुणाधानमशक्यं तु यस्य कर्तुं स्वभावतः॥ ५॥
बन्धनं तस्य कर्तव्यं गुप्तदेशे सुखान्वितम्। अविनीतं कुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ ६॥
अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत्। आदौ स्वल्पे ततः पश्चात् क्रमेणाथ महत्स्वपि॥ ७॥
मृगयापानमक्षांश्च वर्जयेत् पृथिवीपतिः। एतांस्तु सेवमानास्तु विनष्टाः पृथिवीक्षितः॥ ८॥
बहवो नृपशार्दूल तेषां संख्या न विद्यते। वृथाटनं दिवास्वप्नं विशेषेण विवर्जयेत्॥ ९॥
वाक्पारुष्यं न कर्तव्यं दण्डपारुष्यमेव च। परोक्षनिन्दा च तथा वर्जनीया महीक्षिता॥ १०॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! राजाको अपने पुत्रकी रक्षा करनी चाहिये। उसकी शिक्षाके लिये पहरेदारोंकी देख-रेखमें एक ऐसे आचार्यकी नियुक्ति करनी चाहिये, जो उसे धर्म, काम एवं अर्थशास्त्र, धनुर्वेद तथा रथ एवं हाथीकी सवारीकी शिक्षा दे और सदा व्यायाम कराये। साथ ही उसे शिल्पकलाएँ भी सिखलाये। उसपर ऐसा प्रभाव पड़े कि वह गुरुजनोंके सम्मुख असत्य एवं अप्रिय बात न बोले। उसके शरीरकी रक्षाके व्याजसे रक्षक नियुक्त कर दे। इसे क्रोधी, लोभी और तिरस्कृत व्यक्तियोंकी संगतिमें नहीं जाने देना चाहिये। उसे इस प्रकार जितेन्द्रिय बनाना चाहिये कि जिससे वह युवावस्था आनेपर इन्द्रियोंद्वारा अत्यन्त दुर्गम सत्पुरुषोंके मार्गसे अपकृष्ट न किया जा सके। जिस राजकुमारमें स्वभाववश गुणाधान करना अशक्य हो, उसे गुप्तस्थानमें सुखपूर्वक अवरुद्ध कर देना चाहिये, क्योंकि उद्दण्ड राजकुमारसे युक्त कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राजाको सभी अधिकारोंपर सुशिक्षित व्यक्तिको नियुक्त करना चाहिये। प्रथमतः उसे छोटे पदपर नियुक्त करे, तत्पश्चात् क्रमशः अधिक शिक्षितकर ऊँचे पदोंपर भी पहुँचा दे। राजसिंह! राजाको शिकार, मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ाका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि पूर्वकालमें इनके सेवनसे बहुत-से राजा नष्ट हो चुके हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। राजाके लिये व्यर्थ घूमना तथा विशेषकर दिनमें शयन करना वर्जित है। राजाको कटुवचन बोलना और कठोर दण्ड देना—ये दोनों कर्म नहीं करना चाहिये। राजाको परोक्षमें किसीकी निन्दा करना उचित नहीं है॥ १—१०॥

अर्थस्य दूषणं राजा द्विप्रकारं विवर्जयेत्। अर्थानां दूषणं चैकं तथार्थेषु च दूषणम्॥ ११॥
प्राकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया। अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च॥ १२॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च। अर्थेषु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम्॥ १३॥
कामः क्रोधो मदो मानो लोभो हर्षस्तथैव च। एते वर्ज्याः प्रयत्नेन सादरं पृथिवीक्षिता॥ १४॥
एतेषां विजयं कृत्वा कार्यो भृत्यजयस्ततः। कृत्वा भृत्यजयं राजा पौरान् जानपदान् जयेत्॥ १५॥
कृत्वा च विजयं तेषां शत्रून् बाह्यांस्ततो जयेत्। बाह्याश्च विविधा ज्ञेयास्तुल्याभ्यन्तरकृत्रिमाः॥ १६॥
गुरवस्ते यथापूर्वं तेषु यत्नपरो भवेत्। पितृपैतामहं मित्रममित्रं च तथा रिपोः॥ १७॥
कृत्रिमं च महाभाग मित्रं त्रिविधमुच्यते। तथापि च गुरुः पूर्वं भवेत् तत्रापि चादृतः॥ १८

स्वाम्यमात्यौ जनपदो दुर्गं दण्डस्तथैव च। कोशो मित्रं च धर्मज्ञ सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ १९॥
सप्ताङ्गस्यापि राज्यस्य मूलं स्वामी प्रकीर्तितः। तन्मूलत्वात् तथाङ्गानां स तु रक्ष्यः प्रयत्नतः ॥ २०॥

राजाको दो प्रकारके अर्थदोषोंसे बचना चाहिये—एक अर्थका दोष और दूसरा अर्थ-सम्बन्धी दोष। अपने दुर्गके परकोटोका तथा मूलदुर्ग आदिकी उपेक्षा और अस्त-व्यस्तता—ये अर्थके दोष कहे गये हैं। उसी प्रकार कुदेश और कुसमयमें दिया गया दान, कुपात्रको दिया गया दान और असत्कर्मका प्रचार—ये अर्थ-सम्बन्धी दोष कहे गये है। राजाको आदरसहित काम, क्रोध, मद, मान, लोभ तथा हर्षका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। राजाको इनपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् अनुचरोंको जीतना चाहिये। इस प्रकार अनुचरोंको जीतनेके बाद पुरवासियो और देशवासियोंको अपने अधिकारमे करे। उनको जीतनेके पश्चात् बाहरी शत्रुओंको परास्त करे। तुल्य, आभ्यन्तर और कृत्रिम-भेदसे बाह्य शत्रुओंको अनेकों प्रकारका समझना चाहिये। उनमेसे क्रमशः एक-एकको बढ़कर समझना चाहिये और उनको जीतनेमें यत्नशील रहे। महाभाग! मित्र तीन प्रकारके होते हैं—प्रथम वे हैं, जो पिता-पितामह आदिके कालसे मित्रताका व्यवहार करते चले आ रहे हैं। दूसरे वे हैं, जो शत्रुके शत्रु हैं तथा तीसरे वे हैं, जो किन्हीं कारणोसे पीछे मित्र बनते हैं। इन तीनो मित्रोमें प्रथम मित्र उत्तम होता है, उसका आदर करना चाहिये। धर्मज्ञ! स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना, कोश तथा मित्र—ये राज्यके सात अङ्ग कहे गये हैं। इस सप्ताङ्गयुक्त राज्यका भी मूल स्वयं राजा कहा गया है। राज्यका तथा राज्याङ्गोंका मूल होनेके कारण वह प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय है ॥ ११—२० ॥

षडङ्गरक्षा कर्तव्या तथा तेन प्रयत्नतः। अङ्गेभ्यो यस्तथैकस्य द्रोहमाचरतेऽल्पधीः ॥ २१॥
वधस्तस्य तु कर्तव्यः शीघ्रमेव महीक्षिता। न राज्ञा मृदुना भाव्यं मृदुर्हि परिभूयते ॥ २२॥
न भाव्यं दारुणेनातितीक्ष्णादुद्विजते जनः। काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ॥ २३॥
राजा लोकद्वयापेक्षी तस्य लोकद्वयं भवेत्। भृत्यैः सह महीपालः परिहासं विवर्जयेत् ॥ २४॥
भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षवशं गतम्। व्यसनानि च सर्वाणि भूपतिः परिवर्जयेत् ॥ २५॥
लोकसंग्रहणार्थाय कृतकव्यसनी भवेत्। शौण्डीरस्य नरेन्द्रस्य नित्यमुद्रिक्तचेतसः ॥ २६॥
जना विरागमायान्ति सदा दुःसेव्यभावतः। स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सर्वस्यैव महीपतिः ॥ २७॥
वध्येष्वपि महाभाग भ्रुकुटिं न समाचरेत्। भाव्यं धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थूललक्ष्येण भूभुजा ॥ २८॥
स्थूललक्षस्य वशगा सर्वा भवति मेदिनी। अदीर्घसूत्रश्च भवेत् सर्वकर्मसु पार्थिवः ॥ २९॥
दीर्घसूत्रस्य नृपतेः कर्महानिर्ध्रुवं भवेत्। रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ॥ ३०॥
अप्रिये चैव कर्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते।

फिर राजाके द्वारा राज्यके शेष छः अङ्गोंकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जानी चाहिये। जो मूर्ख इन छः अङ्गोंमेसे किसी एकके साथ द्रोह करता है उसे राजाको शीघ्र ही मार डालना चाहिये। राजाको कोमल वृत्तिवाला नहीं होना चाहिये; क्योंकि कोमल वृत्तिवाला राजा पराजयका भागी होता है। साथ ही अधिक कठोर भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि अधिक कठोर शासकसे लोग उद्विग्न हो जाते हैं। जो लोकद्वयापेक्षी राजा समयपर मृदु तथा समयपर कठोर हो जाता है, वह दोनों लोकोंपर विजयी हो जाता है। राजाको अपने अनुचरोंके साथ परिहास नहीं करना चाहिये; क्योकि उस समय आनन्दमें निमग्न हुए राजाका अनुचर-गण अपमान कर बैठते हैं। राजाको सभी प्रकारके व्यसनोंसे दूर रहना चाहिये, किंतु लोकसंग्रहके लिये उसे कुछ ऊपरसे अच्छी बातोंका व्यसन करना उचित है। गर्वीले एवं नित्य ही उद्धत स्वभाववाले राजासे लोग कठिनतासे अनुकूल होनेके कारण विरक्त हो जाते हैं,

अतः राजाको सभीसे मुसकानपूर्वक बातें करनी चाहिये। महाभाग! यहाँतक कि प्राणदण्डके अपराधीको भी वह भृकुटि न दिखलाये। धार्मिकश्रेष्ठ! राजाको महान् लक्ष्ययुक्त होना चाहिये; क्योंकि सारी पृथ्वी स्थूललक्ष्य रखनेवाले राजाके अधीन हो जाती है। राजाको सभी कार्योंके निर्वाहमें विलम्ब नहीं करना चाहिये; क्योंकि विलम्ब करनेवाले राजाके कार्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। केवल अनुराग, दर्प, आत्मसम्मान, द्रोह, पापकर्म तथा अप्रिय कार्योंमें दीर्घसूत्री प्रशंसित माना गया है ॥ २१–३०½ ॥

राज्ञा संवृतमन्त्रेण सदा भाव्यं नृपोत्तम ॥ ३१ ॥
तस्यासंवृतमन्त्रस्य राज्ञः सर्वापदो ध्रुवम्। कृतान्येव तु कार्याणि ज्ञायन्ते यस्य भूपतेः ॥ ३२ ॥
नारब्धानि महाभाग तस्य स्याद् वसुधा वशे। मन्त्रमूलं सदा राज्यं तस्मान्मन्त्रः सुरक्षितः ॥ ३३ ॥
कर्तव्यः पृथिवीपालैर्मन्त्रभेदभयात् सदा। मन्त्रवित्साधितो मन्त्रः सम्पत्तीनां सुखावहः ॥ ३४ ॥
मन्त्रच्छलेन बहवो विनष्टाः पृथिवीक्षितः। आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥ ३५ ॥
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः। न यस्य कुशलैस्तस्य वशे सर्वा वसुंधरा ॥ ३६ ॥
भवतीह महीभर्तुः सदा पार्थिवनन्दन।

नृपोत्तम! राजाको सदा अपनी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये; क्योंकि प्रकट मन्त्रणावाले राजाको निश्चय ही सभी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। महाभाग! जिस राजाके कार्योंको आरम्भके समय नहीं, अपितु पूरा होनेपर ही लोग जान पाते हैं, उसके वशमें वसुंधरा हो जाती है। मन्त्र ही सर्वदा राज्यका मूल है, अतः मन्त्रभेदके भयसे राजाओंको उसे सदा सुरक्षित रखना चाहिये। मन्त्रज्ञ मन्त्रीद्वारा दिया गया मन्त्र सभी सम्पत्तियों तथा सुखोंको देनेवाला होता है। मन्त्रके छलसे बहुत-से राजा विनष्ट हो चुके हैं। आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, वचन, नेत्र तथा मुखके विकारोंसे अन्तःस्थित मनोभावोंका पता लगता है। राजपुत्र! जिस राजाके मनका इन उपर्युक्त उपायोंद्वारा कुशल लोग भी पता न लगा सकें, वसुंधरा उसके वशमें सदा बनी रहती है ॥ ३१–३६½ ॥

नैकस्तु मन्त्रयेन्मन्त्रं राजा न बहुभिः सह ॥ ३७ ॥
नारोहेद् विषमां नावमपरीक्षितनाविकाम्। ये चास्य भूमिजयिनो भवेयुः परिपन्थिनः ॥ ३८ ॥
तानानयेद् वशे सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः। यथा न स्यात् कृशीभावः प्रजानामनवेक्षया ॥ ३९ ॥
तथा राज्ञा प्रकर्तव्यं स्वराष्ट्रं परिरक्षता। मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः कर्शयत्यनवेक्षया ॥ ४० ॥
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः। भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत् ॥ ४१ ॥
तथा राष्ट्रं महाभाग भृतं कर्मसहं भवेत्। यो राष्ट्रमनुगृह्णाति राज्यं स परिरक्षति ॥ ४२ ॥
संजातमुपजीवेत् तु विन्दते स महत्फलम्। राष्ट्राद्धिरण्यं धान्यं च महीं राजा सुरक्षिताम् ॥ ४३ ॥
महता तु प्रयत्नेन स्वराष्ट्रस्य च रक्षिता। नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ४४ ॥
गोपितानि सदा कुर्यात् संयतानीन्द्रियाणि च। अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं तेभ्यस्तथैव च ॥ ४५ ॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे। तयोर्दैवमचिन्त्यं च पौरुषे विद्यते क्रिया ॥ ४६ ॥
एवं महीं पालयतोऽस्य भर्तुर्लोकानुरागः परमो भवेत्तु।
लोकानुरागप्रभवा च लक्ष्मीर्लक्ष्मीवतश्चापि परा च कीर्तिः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मानुकीर्तने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

राजाको कभी केवल एक व्यक्तिके या एक ही साथ अनेक लोगोंके साथ मन्त्रणा नहीं करनी चाहिये। राजा जिसकी परीक्षा न की गयी हो, ऐसी विषम नौकापर सवार न हो। राजाके जो भूमिविजेता

शत्रु हों, उन सबको सामादि उपायोंद्वारा वशमें लाना चाहिये। अपने राष्ट्रकी रक्षामे तत्पर राजाका यह कर्तव्य है कि वह उपेक्षाके कारण प्रजाओंको दुर्बल न होने दे। जो अज्ञानवश असावधानीसे अपने राष्ट्रको दुर्बल कर देता है, वह शीघ्र ही भाई-बन्धुओंसहित राज्य एवं जीवनसे च्युत हो जाता है। महाभाग! जिस प्रकार पालतू बछड़ा बलवान् होनेपर कार्य करनेमें समर्थ होता है, उसी तरह पालन-पोषणकर समृद्ध किया हुआ राष्ट्र भी भविष्यमे कार्यक्षम हो जाता है। जो अपने राष्ट्रके ऊपर अनुग्रहकी दृष्टि रखता है, वस्तुतः वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। जो उत्पन्न हुई प्रजाओकी रक्षा करता है, वह महान् फलका भागी होता है। राजा राष्ट्रसे सुवर्ण, अन्न और सुरक्षित पृथ्वी प्राप्त करता है। माता और पिताके समान अपने राष्ट्रकी रक्षामे तत्पर रहनेवाला नृपति विशेष प्रयत्नसे नित्यप्रति स्वकीय एवं परकीय दोनों ओरसे होनेवाली बाधाओंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा करे। अपनी इन्द्रियोंको संयत तथा गुप्त रखे और सर्वदा उनका प्रयोग गोपनीय रूपसे करे, तभी उनसे उत्तम फल प्राप्त होता है। जीवनके सभी कार्य दैव और पौरुष—इन दोनोंके अधिकारमे रहते हैं। उन दोनोंमे दैव तो अचिन्त्य है, किंतु पौरुषमें क्रिया विद्यमान रहती है। इस प्रकार पृथ्वीका पालन करनेवाले राजाके प्रति प्रजाका परम अनुराग हो जाता है। प्रजाके अनुरागसे राजाको लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा लक्ष्मीवान् राजाको ही परम यशकी प्राप्ति होती है ॥ ३७—४७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें राजधर्मकीर्तन नामक दो सौ बीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २२० ॥

दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय

दैव और पुरुषार्थका वर्णन

मनुरुवाच

दैवे पुरुषकारे च किं ज्यायस्तद् ब्रवीहि मे। अत्र मे संशयो देव छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥ १ ॥

मनुने पूछा—देव! भाग्य और पुरुषार्थ—इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? यह मुझे बतलाइये। इस विषयमें मुझे संदेह है, अतः आप उसका सम्पूर्णरूपसे निवारण कीजिये ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम्। तस्मात् पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥ २ ॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते। मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥ ३ ॥
येषां पूर्वकृतं कर्म सात्त्विकं मनुजोत्तम। पौरुषेण विना तेषां केषांचिद् दृश्यते फलम् ॥ ४ ॥
कर्मणा प्राप्यते लोके राजसस्य तथा फलम्। कृच्छ्रेण कर्मणा विद्धि तामसस्य तथा फलम् ॥ ५ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! अन्य जन्ममें अपनेद्वारा किया गया पुरुषार्थ (कर्म) ही दैव कहा जाता है, इसी कारण इन दोनोंमें मनीषियोंने पौरुषको ही श्रेष्ठ माना है; क्योंकि माङ्गलिक आचरण करनेवाले एवं नित्य-प्रति अभ्युदयशील पुरुषोंका प्रतिकूल दुर्दैव भी पुरुषार्थद्वारा नष्ट हो जाता है। मानवश्रेष्ठ! जिन्होंने पूर्वजन्ममें सात्त्विक कर्म किया है, उन्हींमें किन्हीं-किन्हींको पुरुषार्थके बिना भी अच्छे फलकी प्राप्ति देखी जाती है। लोकमें रजोगुणी पुरुषको कर्म करनेसे फलकी प्राप्ति होती है और तमोगुणी पुरुषको कठिन कर्म करनेसे फलकी प्राप्ति जाननी चाहिये ॥ २—५ ॥

पौरुषेणाप्यते राजन् प्रार्थितव्यं फलं नरैः। दैवमेव विजानन्ति नराः पौरुषवर्जिताः॥ ६ ॥
तस्मात् त्रिकालं संयुक्तं दैवं तु सफलं भवेत्। पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति पार्थिव॥ ७ ॥
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम। त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात् फलावहम्॥ ८ ॥
कृषेर्वृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः। तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथंचन॥ ९ ॥
तस्मात् सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः। विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम्॥ १० ॥
नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न च दैवपरायणाः। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पौरुषे यत्नमाचरेत्॥ ११ ॥
त्यक्त्वाऽऽलसान् दैवपरान् मनुष्यानुत्थानयुक्तान् पुरुषान् हि लक्ष्मीः।
अन्विष्य यत्नाद्वृणुयान्नृपेन्द्र तस्मात् सदोत्थानवता हि भाव्यम्॥ १२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे दैवपुरुषकारवर्णनं नामैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२१ ॥

राजन्! मनुष्योंको पुरुषार्थद्वारा अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होती है, किंतु जो लोग पुरुषार्थसे हीन हैं, वे दैवको ही सब कुछ मानते हैं। अतः तीनों कालोंमें पुरुषार्थयुक्त दैव ही सफल होता है। राजन्! भाग्ययुक्त मनुष्यका पुरुषार्थ समयपर फल देता है। पुरुषोत्तम! दैव, पुरुषार्थ और काल—ये तीनों संयुक्त होकर मनुष्यको फल देनेवाले होते हैं। कृषि और वृष्टिका संयोग होनेसे फलकी सिद्धियाँ देखी जाती हैं, किंतु वे भी समय आनेपर ही दिखायी पड़ती हैं, बिना समयके किसी प्रकार भी नहीं। इसलिये मनुष्यको सर्वदा धर्मयुक्त पुरुषार्थ करना चाहिये। उसके इस लोकमें आपत्तियोंमें पड़ जानेपर भी परलोकमें उसे निश्चय ही फल प्राप्त होगा। आलसी और भाग्यपर निर्भर रहनेवाले पुरुषोंको अर्थोंकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये सभी प्रयत्नोंसे पुरुषार्थ करनेमें तत्पर रहना चाहिये। राजेन्द्र! लक्ष्मी भाग्यपर भरोसा रखनेवाले एवं आलसी पुरुषोंको छोड़कर पुरुषार्थ करनेवाले पुरुषोंको यत्नपूर्वक ढूँढ़कर वरण करती है, इसलिये सर्वदा पुरुषार्थशील होना चाहिये॥ ६—१२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें दैव-पुरुषका वर्णन नामक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २२१ ॥

दो सौ बाईसवाँ अध्याय

साम-नीतिका वर्णन

मनुरुवाच

उपायांस्त्वं समाचक्ष्व सामपूर्वान् महाद्युते। लक्षणं च तथा तेषां प्रयोगं च सुरोत्तम॥ १ ॥

मनुने पूछा—महान् द्युतिशील भगवन्! अब साथ ही उनका लक्षण और प्रयोग भी बतलाइये आप साम आदि उपायोंका वर्णन कीजिये। देवश्रेष्ठ! ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच

साम भेदस्तथा दानं दण्डश्च मनुजेश्वर। उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च पार्थिव॥ २ ॥
प्रयोगाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु। द्विविधं कथितं साम तथ्यं चातथ्यमेव च॥ ३ ॥
तत्राप्यतथ्यं साधूनामाक्रोशायैव जायते। तत्र साधुः प्रयत्नेन सामसाध्यो नरोत्तम॥ ४ ॥
महाकुलीना ऋजवो धर्मनित्या जितेन्द्रियाः। सामसाध्या न चातथ्यं तेषु साम प्रयोजयेत्॥ ५ ॥
तथ्यं साम च कर्तव्यं कुलशीलादिवर्णनम्। तथा तदुपचाराणां कृतानां चैव वर्णनम्॥ ६ ॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञाख्यापनं स्वकम्। एवं साम्ना च कर्तव्या वशगा धर्मतत्पराः॥ ७ ॥

साम्ना यद्यपि रक्षांसि गृह्णन्तीति परा श्रुतिः। तथाप्येतदसाधूनां प्रयुक्तं नोपकारकम्॥ ८ ॥
अतिशङ्कितमित्येवं पुरुषं सामवादिनम्। असाधवो विजानन्ति तस्मात् तेषु वर्जयेत्॥ ९ ॥
ये शुद्धवंशा ऋजवः प्रणीता धर्मे स्थिताः सत्यपरा विनीताः।
ते सामसाध्याः पुरुषाः प्रदिष्टा मानोन्नता ये सततं च राजन्॥ १० ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे सामबोधो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२२ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—मनुजेश्वर! (राजनीतिमें) साम (स्तुति-प्रशंसा), भेद, दान, दण्ड, उपेक्षा, माया तथा इन्द्रजाल—ये सात प्रयोग बतलाये गये हैं। राजन्! उन्हें मैं बतला रहा हूँ, सुनिये! साम तथ्य और अतथ्यभेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उनमें भी अतथ्य (झूठी प्रशंसा) साधु पुरुषोंकी अप्रसन्नताका ही कारण बन जाती है। नरोत्तम! इसलिये सज्जन व्यक्तिको प्रयत्नपूर्वक तथ्य साम (सच्ची प्रशंसा)से वशमें करना चाहिये। जो उन्नत कुलमें उत्पन्न, सरल-प्रकृति, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय हैं, वे (तथ्य) सामसे ही साध्य होते हैं, अतः उनके प्रति अतथ्य सामका प्रयोग नहीं करना चाहिये। उनके प्रति तथ्य सामका प्रयोग, उनके कुल और शील-स्वभावका वर्णन, किये गये उपकारोंकी चर्चा तथा अपनी कृतज्ञताका कथन करना चाहिये। इसी युक्ति तथा इस प्रकारके सामसे धर्ममें तत्पर रहनेवालोंको अपने वशमें करना चाहिये। यद्यपि राक्षस भी साम-नीतिके द्वारा वशमें किये जाते हैं—ऐसी पराश्रुति है, तथापि असत्पुरुषोंके प्रति इसका प्रयोग उपकारी नहीं होता। दुर्जन पुरुष सामकी बातें करनेवालेको अतिशय डरा हुआ समझते हैं, इसलिये उनके प्रति इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। राजन्! जो पुरुष शुद्ध वंशमें उत्पन्न, सरलप्रकृतिवाले, विनम्र, धर्मिष्ठ, सत्यवादी, विनयी एवं सम्मानी हैं, वे ही निरन्तर सामद्वारा साध्य बतलाये गये हैं॥ २—१० ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमें सामबोध नामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २२२ ॥

दो सौ तेईसवाँ अध्याय

नीति चतुष्टयीके अन्तर्गत भेद-नीतिका वर्णन

मत्स्य उवाच

परस्परं तु ये दुष्टाः क्रुद्धा भीतावमानिताः। तेषां भेदं प्रयुञ्जीत भेदसाध्या हि ते मताः॥ १ ॥
ये तु येनैव दोषेण परस्मान्नापि बिभ्यति। ते तु तद्दोषपातेन भेदनीया भृशं ततः॥ २ ॥
आत्मीयां दर्शयेदाशां परस्माद् दर्शयेद् भयम्। एवं हि भेदयेद् भिन्नान् यथावद् वशमानयेत्॥ ३ ॥
संहता हि विना भेदं शक्रेणापि सुदुःसहाः। भेदमेव प्रशंसन्ति तस्मान्नयविशारदाः॥ ४ ॥
स्वमुखेनाश्रयेद् भेदं भेदं परमुखेन च। परीक्ष्य साधु मन्येत भेदं परमुखाच्छ्रुतम्॥ ५ ॥
सद्यः स्वकार्यमुद्दिश्य कुशलैर्ये हि भेदिताः। भेदितास्ते विनिर्दिष्टा नैव राज्ञार्थवादिभिः॥ ६ ॥
अन्तःकोपो बहिःकोपो यत्र स्यातां महीक्षिताम्। अन्तःकोपो महांस्तत्र नाशकः पृथिवीक्षिताम्॥ ७ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन्! जो परस्पर वैर रखनेवाले, क्रोधी, भयभीत तथा अपमानित हैं, उनके प्रति भेद-नीतिका प्रयोग करना चाहिये; क्योंकि वे भेदद्वारा साध्य माने गये हैं। जो लोग जिस दोषके कारण दूसरेसे भयभीत नहीं होते, उन्हें उसी दोषके द्वारा भेदन करना चाहिये। उनके प्रति अपनी ओरसे आशा प्रकट करे और दूसरेसे भयकी आशङ्का दिखलाये। इस प्रकार उन्हें फोड़ ले तथा फूट जानेपर उन्हें अपने वशमें

कर ले। संगठित लोग भेद-नीतिके बिना इन्द्रद्वारा भी दुःसाध्य होते हैं। इसीलिये नीतिज्ञलोग भेद-नीतिकी ही प्रशंसा करते हैं। इस नीतिको अपने मुखसे तथा दूसरेके मुखसे भेद्य व्यक्तिसे कहे या कहलाये, परंतु अपने विषयमें दूसरेके मुखसे सुनी हुई भेदनीतिको परीक्षा करके ठीक मानना चाहिये। अपने कार्यके उद्देश्यसे सुनिपुण नीतिज्ञोंद्वारा जो तुरंत भेदित किये जाते हैं, वे ही सच्चे अर्थमें भेदित कहे जाते हैं, अर्थवादियों एवं राजाद्वारा किये गये नहीं। जहाँ राजाओंके सम्मुख आन्तरिक (दुर्गके अन्तर्गतका) कोप और बाहरी कोप—दोनों उपस्थित हों, वहाँ आन्तरिक कोप ही महान् है; क्योंकि वह राजाओंके लिये विनाशकारी होता है॥

सामन्तकोपो बाह्यस्तु कोपः प्रोक्तो महीभृतः। महिषीयुवराजाभ्यां तथा सेनापतेर्नृप॥ ८॥
अमात्यमन्त्रिणां चैव राजपुत्रे तथैव च। अन्तःकोपो विनिर्दिष्टो दारुणः पृथिवीक्षिताम्॥ ९॥
बाह्यकोपे समुत्पन्ने सुमहत्यपि पार्थिवः। शुद्धान्तस्तु महाभाग शीघ्रमेव जयी भवेत्॥ १०॥
अपि शक्रसमो राजा अन्तःकोपेन नश्यति। सोऽन्तःकोपः प्रयत्नेन तस्माद् रक्ष्यो महीभृता॥ ११॥
परतः कोपमुत्पाद्य भेदेन विजिगीषुणा। ज्ञातीनां भेदनं कार्यं परेषां विजिगीषुणा॥ १२॥
रक्ष्यश्चैव प्रयत्नेन ज्ञातिभेदस्तथात्मनः। ज्ञातयः परितप्यन्ते सततं परितापिताः॥ १३॥
तथापि तेषां कर्तव्यं सुगम्भीरेण चेतसा। ग्रहणं दानमानाभ्यां भेदस्तेभ्यो भयंकरः॥ १४॥
न ज्ञातिमनुगृह्णन्ति न ज्ञातिं विश्वसन्ति च। ज्ञातिभिर्भेदनीयास्तु रिपवस्तेन पार्थिवैः॥ १५॥
भिन्ना हि शक्या रिपवः प्रभूताः स्वल्पेन सैन्येन निहन्तुमाजौ।
सुसंहतानां हि ततस्तु भेदः कार्यो रिपूणां नयशास्त्रविद्भिः॥ १६॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे भेदप्रशंसा नाम त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२३॥

छोटे राजाओंका क्रोध राजाके लिये बाह्य क्रोध कहा गया है तथा रानी, युवराज, सेनापति, अमात्य, मन्त्री और राजकुमारके द्वारा किया गया क्रोध आन्तरिक कोप कहा गया है। इन सबोंका कोप राजाओंके लिये भयानक बतलाया गया है। महाभाग! अत्यन्त भीषण बाह्य कोपके उत्पन्न होनेपर भी यदि राजाका अन्तःपुर (दुर्गस्थ महारानी, युवराज, मन्त्री आदि प्रकृति) शुद्ध एवं अनुकूल है तो वह शीघ्र ही विजय-लाभ करता है। यदि राजा इन्द्रके समान हो तो भी वह अन्तः- (दुर्गस्थ रानी, युवराज, मन्त्री आदिके) कोपसे नष्ट हो जाता है। इसलिये राजाको प्रयत्नपूर्वक उस आन्तरिक कोपकी रक्षा करनी चाहिये। शत्रुओंको जीतनेकी इच्छावाले राजाको चाहिये कि दूसरेसे भेद-नीतिद्वारा क्रोध पैदा कराकर उसकी जातिमें भेद उत्पन्न कर दे और प्रयत्नपूर्वक अपने जाति-भेदकी रक्षा करे। यद्यपि संतप्त भाई-बन्धु राजाकी उन्नति देखकर जलते रहते हैं, तथापि राजाको दान और सम्मानद्वारा उनको मिलाये रखना चाहिये; क्योंकि जातिगत भेद बड़ा भयंकर होता है। जातिवालोंपर प्रायः लोग अनुग्रहका भाव नहीं रखते और न उनका विश्वास ही करते हैं, इसलिये राजाओंको चाहिये कि जातिमें फूट डालकर शत्रुको उनसे अलग कर दें। इस भेद-नीतिद्वारा भिन्न किये गये शत्रुओंके विशाल समूहको भी संग्राम-भूमिमें थोड़ी-सी सुसंगठित सेनासे ही नष्ट किया जा सकता है, अतएव नीतिकुशल लोगोंको सुसंगठित शत्रुओंके प्रति भी भेदनीतिका ही प्रयोग करना चाहिये॥८—१६॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमें भेद-प्रशंसा नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २२३॥

भगवान् कूर्मरूप में

दो सौ चौबीसवाँ अध्याय

दान-नीतिकी प्रशंसा

मत्स्य उवाच

सर्वेषामप्युपायानां दानं श्रेष्ठतमं मतम्। सुदत्तेनेह भवति दानेनोभयलोकजित्॥ १॥
न सोऽस्ति राजन् दानेन वशगो यो न जायते। दानेन वशगा देवा भवन्तीह सदा नृणाम्॥ २॥
दानमेवोपजीवन्ति प्रजाः सर्वा नृपोत्तम। प्रियो हि दानवाँल्लोके सर्वस्यैवोपजायते॥ ३॥
दानवानचिरेणैव तथा राजा परान् जयेत्। दानवानेव शक्नोति संहतान् भेदितुं परान्॥ ४॥
यद्यप्यलुब्धगम्भीराः पुरुषाः सागरोपमाः। न गृह्णन्ति तथाप्येते जायन्ते पक्षपातिनः॥ ५॥
अन्यत्रापि कृतं दानं करोत्यन्यान् यथा वशे। उपायेभ्यः प्रशंसन्ति दानं श्रेष्ठतमं जनाः॥ ६॥
दानं श्रेयस्करं पुंसां दानं श्रेष्ठतमं परम्। दानवानेव लोकेषु पुत्रत्वे ध्रियते सदा॥ ७॥
न केवलं दानपरा जयन्ति भूर्लोकमेकं पुरुषप्रवीराः।
जयन्ति ते राजसुरेन्द्रलोकं सुदुर्जयं यो विबुधाधिवासः॥ ८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मदानप्रशंसा नाम चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२४॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—दान सभी उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ है। प्रचुर दान देनेसे मनुष्य दोनों लोकोंको जीत लेता है। राजन्! ऐसा कोई नहीं है, जो दानद्वारा वशमें न किया जा सके। दानसे देवतालोग भी सदाके लिये मनुष्योंके वशमें हो जाते हैं। नृपोत्तम! सारी प्रजाएँ दानके बलसे ही पालित होती हैं। दानी मनुष्य संसारमे सभीका प्रिय हो जाता है। दानशील राजा शीघ्र ही शत्रुओंको जीत लेता है। दानशील ही संगठित शत्रुओंका भेदन करनेमे समर्थ हो सकता है। यद्यपि निर्लोभ तथा समुद्रके समान गम्भीर स्वभाववाले मनुष्य स्वयं दानको अङ्गीकार नहीं करते, तथापि वे (-भी दानी व्यक्तिके) पक्षपाती हो जाते हैं। अन्यत्र किया गया दान भी अन्य लोगोंको अपने वशमें कर लेता है, इसलिये लोग सभी उपायोंमें श्रेष्ठतम दानकी प्रशंसा करते हैं। दान पुरुषोंका कल्याण करनेवाला तथा परम श्रेष्ठ है। लोकमें दानशील व्यक्तिकी सर्वदा पुत्रकी भाँति प्रतिष्ठा होती है। दानपरायण पुरुषश्रेष्ठ केवल एक भूलोकको ही अपने वशमें नहीं करते, प्रत्युत वे अत्यन्त दुर्जय देवराज इन्द्रके लोकको भी, जो देवताओंका निवास-स्थान है, जीत लेते हैं॥ १–८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमें दान-प्रशंसा नामक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ २२४॥

दो सौ पचीसवाँ अध्याय

दण्डनीतिका वर्णन

मत्स्य उवाच

न शक्या ये वशे कर्तुमुपायत्रितयेन तु। दण्डेन तान् वशीकुर्याद् दण्डो हि वशकृन्नृणाम्॥ १॥
सम्यक् प्रणयनं तस्य तथा कार्यं महीक्षिता। धर्मशास्त्रानुसारेण सुसहायेन धीमता॥ २॥
तस्य सम्यक् प्रणयनं यथा कार्यं महीक्षिता। वानप्रस्थांश्च धर्मज्ञान् निर्ममान् निष्परिग्रहान्॥ ३॥
स्वदेशे परदेशे वा धर्मशास्त्रविशारदान्। समीक्ष्य प्रणयेद् दण्डं सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ ४॥

आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाथ गुरुर्महान्। नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मेण तिष्ठति ॥ ५ ॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। इह राज्यात् परिभ्रष्टो नरकं च प्रपद्यते ॥ ६ ॥
तस्माद् राज्ञा विनीतेन धर्मशास्त्रानुसारतः। दण्डप्रणयनं कार्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥ ७ ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥ ८ ॥
बालवृद्धातुरयतिद्विजस्त्रीविधवा यतः। मात्स्यन्यायेन भक्ष्येरन् यदि दण्डं न पातयेत् ॥ ९ ॥
देवदैत्योरगगणाः सर्वे भूतपतत्रिणः। उत्क्रामयेयुर्मर्यादां यदि दण्डं न पातयेत् ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! जो (पूर्वोक्त सामादि) तीनों उपायोंके द्वारा वशमें नहीं किये जा सकते, उन्हें दण्ड-नीतिके द्वारा वशमें करे; क्योंकि दण्ड मनुष्योंको निश्चयरूपसे वशमें करनेवाला है। बुद्धिमान् राजाको सम्यक् रूपसे उस दण्डनीतिका प्रयोग धर्म-शास्त्रके अनुसार पुरोहित आदिकी सहायतासे करना चाहिये। उस दण्डनीतिका सम्यक् प्रयोग जिस प्रकार करना चाहिये, उसे सुनिये। राजाको अपने देशमें अथवा पराये देशमें वानप्रस्थाश्रमी, धर्मशील, ममतारहित, परिग्रहहीन और धर्मशास्त्रप्रवीण विद्वान् पुरुषोंकी परिषद्-द्वारा भलीभाँति विचार कर दण्डनीतिका प्रयोग करना चाहिये; क्योंकि सब कुछ दण्डपर ही प्रतिष्ठित है। सभी आश्रमधर्मके व्यक्ति, ब्रह्मचारी, पूज्य, गुरु, महापुरुष तथा अपने धर्ममें स्थित रहनेवाला कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो राजाके द्वारा दण्डनीय न हो; किंतु अदण्डनीय पुरुषोंको दण्ड देने तथा दण्डनीय पुरुषोंको दण्ड न देनेसे राजा इस लोकमें राज्यसे च्युत हो जाता है और मरनेपर नरकमें पड़ता है। इसलिये विनयशील राजाको लोकानुग्रहकी कामनासे धर्मशास्त्रके अनुसार ही दण्डनीतिका प्रयोग करना चाहिये। जिस राज्यमें श्यामवर्ण, लाल नेत्रवाला और पापनाशक दण्ड विचरण करता है तथा राजा ठीक-ठीक निर्णय करनेवाला होता है, वहाँ प्रजाएँ कष्ट नहीं झेलतीं। यदि राज्यमें दण्डनीतिकी व्यवस्था न रखी जाय तो बालक, वृद्ध, आतुर, संन्यासी, ब्राह्मण, स्त्री और विधवा—ये सभी मात्स्यन्यायके अनुसार आपसमें एक दूसरेको खा जायँ। यदि राजा दण्डकी व्यवस्था न करे तो सभी देवता, दैत्य, सर्पगण, प्राणी तथा पक्षी मर्यादाका उल्लङ्घन कर जायँगे ॥ १–१० ॥

एष ब्रह्माभिशापेषु सर्वप्रहरणेषु च। सर्वविक्रमकोपेषु व्यवसाये च तिष्ठति ॥ ११ ॥
पूज्यन्ते दण्डिनो देवैर्न पूज्यन्ते त्वदण्डिनः। न ब्रह्माणं विधातारं न पूषार्यमणावपि ॥ १२ ॥
यजन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्वकर्मसु। रुद्रमग्निं च शक्रं च सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥ १३ ॥
विष्णुं देवगणांश्चान्यान् दण्डिनः पूजयन्ति च। दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ॥ १४ ॥
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः। राजदण्डभयादेव पापाः पापं न कुर्वते ॥ १५ ॥
यमदण्डभयादेके परस्परभयादपि। एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डं न पातयेत्।
यस्माद् दण्डो दमयति दुर्मदान् दण्डयत्यपि। दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥ १७ ॥
दण्डस्य भीतैस्त्रिदशैः समेतैर्भागो धृतः शूलधरस्य यज्ञे।
दत्तं कुमारे ध्वजिनीपतित्वं वरं शिशूनां च भयाद् बलस्थम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे दण्डप्रशंसा नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

यह दण्ड ब्राह्मणके शाप, सभीके अस्त्र-शस्त्र, सभी प्रकारके पराक्रमपूर्वक क्रोधसे किये गये क्रिया-कलाप और व्यवसायमें स्थित रहता है। दण्ड देनेवाले व्यक्ति देवताओंद्वारा पूज्य हैं, किंतु दण्ड न देनेवालोंकी पूजा

कहीं भी नहीं होती। ब्रह्मा, पूषा और अर्यमा सभी कार्योंमे शान्त रहते हैं, इसलिये कोई भी मनुष्य उनकी पूजा नहीं करता। साथ ही दण्ड देनेवाले रुद्र, अग्नि, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु एवं अन्य देवगणोंकी सभी लोग पूजा करते है। दण्ड सभी प्रजाओंपर शासन करता है तथा दण्ड ही सबकी रक्षा करता है। दण्ड सभीके सो जानेपर भी जागता रहता है, अतएव बुद्धिमान् लोग दण्डको धर्म मानते हैं। कुछ पापी राजदण्डके भयसे, कुछ यमराजके दण्डके भयसे और कतिपय पारस्परिक भयसे भी पापकर्म नहीं करते। इस प्रकार इस प्राकृतिक जगत्मे सभी कुछ दण्डपर ही प्रतिष्ठित है। यदि दण्ड न दिया जाय तो प्रजा घोर अंधकारमें डूब जाय। चूँकि दण्ड दमन करता है और दुर्मदोंको दण्ड भी देता है, इसलिये दमन करने तथा दण्ड देनेके कारण बुद्धिमान् लोग उसे दण्ड मानते है। दण्डके भयसे डरे हुए समस्त देवताओंने यज्ञमें शिवजीका भाग निश्चित किया है और भयके कारण ही स्वामी कार्तिकेयको शैशवावस्थामें ही सारी देवसेनाका सेनापतित्व और वरदान प्रदान किया गया है॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमे दण्ड-प्रशंसा नामक दो सौ पचीसवॉ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥२२५॥

दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय

सामान्य राजनीतिका निरूपण

मत्स्य उवाच

दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयम्भुवा। देवभागानुपादाय सर्वभूतादिगुप्तये॥ १॥
तेजसा यदमुं कश्चिन्नैव शक्नोति वीक्षितुम्। ततो भवति लोकेषु राजा भास्करवत्प्रभुः॥ २॥
यदास्य दर्शने लोकः प्रसादमुपगच्छति। नयनानन्दकारित्वात् तदा भवति चन्द्रमाः॥ ३॥
यथा यमः प्रियद्वेष्ये प्राप्ते काले प्रयच्छति। तथा राज्ञा विधातव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥ ४॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एव प्रदृश्यते। तथा पापान् निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम्॥ ५॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यति मानवः। तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चन्द्रप्रतिमो नृपः॥ ६॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! ब्रह्माने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके निमित्त दण्डका प्रयोग करनेके लिये देवताओंके अंशोंको लेकर राजाकी सृष्टि की है। चूँकि तेजसे देदीप्यमान होनेके कारण कोई भी उसकी ओर देख नहीं सकता, इसीलिये राजा लोकमे सूर्यके समान प्रभावशाली होता है। जिस समय इसे देखनेसे लोग हर्षको प्राप्त होते हैं, उस समय वह नेत्रोंके लिये आनन्दकारी होनेके कारण चन्द्रमाके समान हो जाता है। जिस प्रकार यमराज समय आनेपर शत्रु-मित्र—सबको दण्ड देते हैं, उसी तरह राजाको प्रजाके साथ व्यवहार करना चाहिये, यह यम-व्रत है। जिस तरह वरुणद्वारा पाशसे बँधे हुए लोग दिखायी पड़ते हैं; उसी प्रकार पापाचरण करनेवालोंको पाशबद्ध करना चाहिये, यह वरुण-व्रत है। जैसे मनुष्य पूर्ण चन्द्रको देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार जिसे देखकर प्रजा प्रसन्न होती है, वह राजा चन्द्रमाके समान है॥ १—६॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात् पापकर्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रेषु राजाग्नेयव्रते स्थितः॥ ७॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते स्वयम्। तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्॥ ८॥
इन्द्रस्यार्कस्य वातस्य यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोव्रतं नृपश्चरेत्॥ ९॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽप्यभिवर्षति। तथाभिवर्षेत् स्वं राज्यं काममिन्द्रव्रतं स्मृतम्॥ १०॥

अष्टौ मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः । तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ११ ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे राज्ञो लोकपालसाम्यनिर्देशो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

अग्नि-व्रतमें स्थित राजाको पापियों, दुष्ट सामन्तों तथा हिंसकोंके प्रति नित्य प्रतापशाली एवं तेजस्वी होना चाहिये । जिस प्रकार स्वयं पृथ्वी समस्त जीवोंको धारण करती है, उसी प्रकार राजा भी सम्पूर्ण प्राणियों-का पालन-पोषण करता है । यह पार्थिव-व्रत है । राजाको इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि तथा पृथ्वीके तेजोव्रतका आचरण करना चाहिये । जिस प्रकार इन्द्र वर्षके चार महीनोंमें वृष्टि करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी अपने राष्ट्रमें स्वेच्छापूर्वक दानवृष्टि करनी चाहिये, यह इन्द्र-व्रत है । जिस प्रकार सूर्य आठ महीनेतक अपनी किरणोंसे जलका अपहरण करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी नित्य राज्यसे कर-ग्रहण करना चाहिये । यह सूर्य-व्रत है । जिस प्रकार मारुत सभी प्राणियोंमें प्रवेश करके विचरण करता है, उसी प्रकार राजाको भी गुप्तचरोंद्वारा सभी प्राणियोंमें प्रविष्ट होनेका विधान है । यह मारुत-व्रत है ॥ ७–१२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके राजधर्म-प्रकरणमें प्रजापालन नामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ २२६ ॥

दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय

दण्डनीतिका निरूपण

मत्स्य उवाच

निक्षेपस्य समं मूल्यं दण्ड्यो निक्षेपभुक् तथा । वस्त्रादिकसमस्तस्य तथा धर्मो न हीयते ॥ १ ॥
यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते । तावुभौ चोरवच्छास्यौ दाप्यौ वा द्विगुणं धनम् ॥ २ ॥
उपधाभिश्च यः कश्चित् परद्रव्यं हरेन्नरः । ससहायः स हन्तव्यः प्रकामं विविधैर्वधैः ॥ ३ ॥
यो याचितं समादाय न तद् दद्याद् यथाक्रमम् । स निगृह्य बलाद् दाप्यो दण्ड्यो वा पूर्वसाहसम् ॥ ४ ॥
अज्ञानाद् यदि वा कुर्यात् परद्रव्यस्य विक्रयम् । निर्दोषो ज्ञानपूर्वं तु चोरवद् वधमर्हति ॥ ५ ॥
मूल्यमादाय यो विद्यां शिल्पं वा न प्रयच्छति । दण्ड्यः स मूल्यं सकलं धर्मज्ञेन महीक्षिता ॥ ६ ॥
द्विजभोज्ये तु सम्प्राप्ते प्रतिवेश्ममभोजयन् । हिरण्यमाषकं दण्ड्यः पापे नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ७ ॥
आमन्त्रितो द्विजो यस्तु वर्तमानश्च स्वे गृहे ।
निष्कारणं न गच्छेद् यः स दाप्योऽष्टशतं दमम् । प्रतिश्रुत्याप्रदातारं सुवर्णं दण्डयेन्नृपः ॥ ८ ॥
भृत्यश्चाज्ञां न कुर्याद् यो दर्पात् कर्म यथोदितम् । स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ ९ ॥
संगृहीतं न दद्याद् यः काले वेतनमेव च । अकाले तु त्यजेद् भृत्यं दण्ड्यः स्याच्छतमेव च ॥ १० ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! (रत्न-धन-) वस्त्रादि धरोहरको हड़प जानेवाले व्यक्तिको उसके मूल्यके अनुरूप दण्ड देनेपर राजाका धर्म नष्ट नहीं होता । जो व्यक्ति रखी हुई धरोहरको वापस नहीं करता और जो बिना धरोहर रखे ही माँगता है, वे दोनों ही चोरके समान दण्डनीय हैं । उनसे मूल्यसे दुगुना धन दिलाना चाहिये । जो कोई उपधा*—डाका डालकर या छल-कपटसे दूसरेके धनको चुरा लेता है, उसे अनेकों वधोपायोंद्वारा सहायकोंसहित प्राण-दण्ड देना चाहिये । जो व्यक्ति दूसरेसे माँगकर ली गयी

* कामन्दक आदिने उपधाको छल, साहस (डाका) आदि चार प्रकारका बतलाया है ।

वस्तुको समयपर वापस नहीं करता तो उसे बलपूर्वक पकड़कर वह वस्तु दिला देने अथवा पूर्वसाहस*का दण्ड देनेका विधान है। जो कोई अनजानमे किसी दूसरेकी वस्तुको वेंच देता है, वह तो निर्दोष है, किंतु जो जानते हुए दूसरेकी वस्तुको बेचता है, वह चोरके समान दण्डनीय है। जो मूल्य लेकर विद्या या शिल्प-ज्ञानको नहीं देता, उसे धर्मज्ञ राजाको रकमवापसीका दण्ड देना चाहिये। जो ब्रह्मभोजका अवसर प्राप्त होनेपर अपने पड़ोसियोंको भोजन नहीं कराता, उसे एक माशा सुवर्णका दण्ड देना चाहिये। अपराधियोंको दण्ड देनेमे व्यतिक्रमका विधान नहीं है। जो निमन्त्रित ब्राह्मण अपने घरपर रहते हुए भी विना किसी कारणके भोजन करने नहीं जाता, उसे एक सौ आठ माशा सुवर्णका दण्ड देना चाहिये। जो किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा कर उसे नहीं देता; उसे राजा एक सुवर्ण-मुद्राका दण्ड दे। जो नौकर अभिमानवश आज्ञापालन तथा कहा हुआ कर्म नहीं करता, उसे राजा आठ कृष्णलका† दण्ड दे और उसका वेतन भी रोक दे। जो स्वामी अपने नौकरको उसके संचित धन तथा वेतनको समयपर नहीं देता और कुसमयमे उसे छोड़ देता है, उसे सौ मुद्राका दण्ड देना चाहिये॥

यो ग्रामदेशसस्यानां कृत्वा सत्येन संविदम्। विसंवदेन्नरो लोभात् तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत्॥११॥
क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद् यस्येहानुशयी भवेत्। सोऽन्तर्दशाहात् तत्साम्यं दद्याच्चैवाददीत वा॥१२॥
परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नैव दापयेत्। आददद्धिददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥१३॥
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति। तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान्॥१४॥
अकन्यैवेति यः कन्यां ब्रूयाद् दोषेण मानवः। स शतं प्राप्नुयाद् दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥१५॥
यस्त्वन्यां दर्शयित्वान्यां वोढुः कन्यां प्रयच्छति। उत्तमं तस्य कुर्वीत राजा दण्डं तु साहसम्॥१६॥
वरो दोषाननाख्याय यः कन्यां वरयेदिह। दत्ताप्यदत्ता सा तस्य राज्ञा दण्ड्यः शतद्वयम्॥१७॥
प्रदाय कन्यां योऽन्यस्मै पुनस्तां सम्प्रयच्छति। दण्डः कार्यो नरेन्द्रेण तस्याप्युत्तमसाहसः॥१८॥
सत्यंकारेण वा वाचा युक्तं पण्यमसंशयम्। लुब्धो ह्यन्यत्र विक्रेता षट्शतं दण्डमर्हति॥१९॥
दुहितुः शुल्कविक्रेता सत्यंकारात् तु संत्यजेत्। द्विगुणं दण्डयेदेनमिति धर्मो व्यवस्थितः॥२०॥
मूल्यैकदेशं दत्त्वा तु यदि क्रेता धनं त्यजेत्। स दण्ड्यो मध्यमं दण्डं तस्य पण्यस्य मोक्षणम्॥२१॥
दुह्याद् धेनुं च यः पालो गृहीत्वा भुक्तवेतनम्। स तु दण्ड्यः शतं राज्ञा सुवर्णं चाप्यरक्षिता॥२२॥
दण्डं दत्त्वा तु विरमेत् स्वामितः कृतलक्षणः। वद्धः कार्ष्णायसैः पाशैस्तस्य कर्मकरो भवेत्॥२३॥

जो मनुष्य सत्यतापूर्वक किये गये देश, ग्राम और अन्नके बँटवारेको लोभके कारण पुनः असत्य बतलाता है, उसे देशसे निकाल देना चाहिये। किसी वस्तुको खरीदने या वेंचनेके बाद यदि कुछ मूल्य शेष रह जाता है तो उसे दस दिनके भीतर दे देना या ले लेना चाहिये। यदि दस दिन बीत जानेके बाद कोई शेष मूल्यको न देता है न दिलाता है तो राजा उन न देने और दिलानेवाले दोनोंको छः सौ मुद्राओंका दण्ड दे। जो व्यक्ति अपनी दोषसे युक्त कन्याको बिना दोष सूचित किये किसीको दान कर देता है तो स्वयं राजा उसे छियानबे पणोंका दण्ड दे। जो मनुष्य बिना दोषके ही किसी दूसरेकी कन्याको दोषयुक्त बतलाता है और उस कन्याके दोषको दिखानेमे असमर्थ हो जाता है तो राजा उसे सौ मुद्राका दण्ड दे। जो व्यक्ति अन्य कन्याको दिखलाकर वरको दूसरी कन्याका दान करता है तो राजाको उसे उत्तम साहसिक दण्ड देना चाहिये। जो वर अपने दोषको न बतलाकर किसी कन्याका पाणिग्रहण करता है तो वह कन्या देनेके बाद भी

*दण्डनीति एवं मन्त्रादि शास्त्रोंके अनुसार वध (फाँसी), वनवास, अग्निचिन्हपूर्वक देशनिष्कासन अथवा सहस्रपणका दण्ड पूर्व या उत्तमसाहस दण्ड कहलाता है। † १३/४ दानेकी स्वर्णमुद्रा (कौटलीय अर्थशास्त्र, लीलावती आदि)।

न दी हुईके समान है। राजाको उसपर दो सौ मुद्राओंका दण्ड लगाना चाहिये। जो एक ही कन्याको किसीको दान कर देनेके बाद फिर किसी दूसरेको दान करता है, उसे भी राजाको उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये। जो अपने मुखसे 'निश्चय ही मैं इतने मूल्यपर अमुक वस्तु आपको दे दूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर फिर लोभके कारण उसे दूसरेके हाथ बेच देता है, वह छः सौ मुद्राओंके दण्डका भागी होता है। जो व्यक्ति कन्याका मूल्य लेकर विक्रय नहीं करता या प्रतिज्ञासे हटता है तो उसे लिये हुए मूल्यसे दुगुने द्रव्यका दण्ड देना चाहिये, यह धर्मकी व्यवस्था है। मूल्यका कुछ भाग देनेके पश्चात् यदि लेनेवाला व्यक्ति उसे लेना नहीं चाहता तो उसे मध्यम साहसका दण्ड देना चाहिये और उसे दिये हुए द्रव्यको लौटा देना चाहिये। जो गोपाल वेतन लेकर गायको दुहता है और उसकी ठीकसे रक्षा नहीं करता, उसे राजाको सौ सुवर्ण मुद्राओंका दण्ड देना चाहिये। राजा दण्ड देनेके बाद विराम ले ले। तदनन्तर राजाद्वारा चिह्नित अपराधीको काले लोहेकी जंजीरसे आबद्ध कर दिया जाय और पुनः किसी अपने ही कार्यपर नियुक्त कर लिया जाय ॥ १२—२३ ॥

धनुःशतपरीणाहो ग्रामस्य तु समंततः। द्विगुणं त्रिगुणं वापि नगरस्य तु कल्पयेत्॥ २४॥
वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत्। छिद्रं वा वारयेत् सर्वं श्वशूकरमुखानुगम्॥ २५॥
यत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि। न तत्र कारयेद् दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणे॥ २६॥
अनिर्दशाहां गां सूतां वृषं देवपशुं तथा। छिद्रं वा वारयेत् सर्वं न दण्ड्यो मनुरब्रवीत्॥ २७॥
अथोऽन्यथा विनष्टस्य दशांशं दण्डमर्हति। पाल्यस्य पालकस्वामी विनाशे क्षत्रियस्य तु॥ २८॥
भक्षयित्वोपविष्टस्तु द्विगुणं दण्डमर्हति। विशं दण्ड्याद् दशगुणं विनाशे क्षत्रियस्य तु॥ २९॥
गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वापि समाहरन्। शतानि पञ्च दण्डः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः॥ ३०॥
सीमावन्धनकाले तु सीमान्तं यो हि कारयेत्। तेषां संज्ञां ददानस्तु जिह्वाच्छेदनमाप्नुयात्॥ ३१॥
अथैनामपि यो दद्यात् संविदं वाधिगच्छति। उत्तमं साहसं दण्ड्य इति स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ ३२॥

ग्रामके बाहर चारों ओरसे सौ धनुषके विस्तारकी और नगरके लिये उससे दुगुने या तिगुने विस्तारकी ऐसी प्राचीर बनाये, जिसके भीतरकी वस्तुको ऊँट भी न देख सके। उसमें कुत्ते तथा सूअरके मुख घुसने योग्य सभी छिद्रोंको बंद करा देना चाहिये। यदि पशु बिना घेरेके खेतके अन्नको हानि पहुँचाते हैं तो राजाको पशुके चरवाहेको दण्ड नहीं देना चाहिये। दस दिनके भीतरकी व्यायी गायद्वारा तथा देवताके उद्देश्यसे छोड़े गये वृषद्वारा घेरा रहनेपर भी यदि खेतके अन्नकी हानि होती है तो उसके लिये पशुपालक दण्डनीय नहीं है—ऐसा मनुने कहा है। इन उपर्युक्त कारणोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे नष्ट हुए द्रव्यके दशांशका दण्ड लगाना चाहिये। कोई पशु फसलको खाकर यदि वहीं बैठा हुआ मिलता है तो उसके स्वामीके ऊपर उक्त दण्डसे दुगुना दण्ड लगाना चाहिये। यदि खेतका स्वामी क्षत्रिय है और वैश्यका पशु हानि पहुँचाता है तो उसे हानिका दस गुना दण्ड देना चाहिये। यदि किसीके घर, तालाब, बगीचे या खेतको कोई दूसरा छीन लेता है तो उसे पाँच सौ मुद्राका तथा बिना जाने यदि इनको हानि पहुँचाता है तो दो सौ मुद्राका दण्ड देना चाहिये। किसी खेत आदिकी सीमा बाँधनेके समय यदि कोई सीमाका उल्लङ्घन करता है या सम्मति देता है तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिये। जो सीमाका उल्लङ्घन करनेवाले व्यक्तिकी बातोंका शपथपूर्वक समर्थन करता है, उसे उत्तम साहसका दण्ड देना चाहिये—ऐसा स्वायम्भुव मनुने कहा है॥ २४—३२॥

नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

पुराण भारतीय संस्कृतिकी अमूल्य निधि हैं। शास्त्रोंमें वेदोंके बाद सर्वमान्य एवं सबसे प्राचीन ग्रन्थ पुराण ही हैं। वेदोंका स्वाध्याय और उनके तात्पर्यको समझनेकी क्षमता सर्वसाधारणको प्राप्त होना सम्भव नहीं है, इसलिये वेदोंके निगूढ अर्थोंको पुराणोंकी सहायतासे ही हृदयंगम किया जा सकता है। कहा भी गया है—'**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**' भारतीय वाङ्मयमें उपनिषदोंको वेदोंका सार माना जाता है। पुराणोंमें उपनिषदोंके निगूढ़ तत्त्वकी ही विशदरूपसे व्याख्या की गयी है। उपनिषदोंने जो वस्तु बीजरूपमें हैं, वही पुराणोंमें पल्लव-पुष्पके रूपमें विकसित हुई है। आज पुराणोंका जो स्वरूप हमें उपलब्ध है, वह एक संक्षिप्त रूप है। फिर भी पुराणोंमें इतने अधिक विषयोंका समावेश हुआ है कि इस संक्षिप्तरूपमें भी सम्पूर्ण पुराणोंका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेके लिये पूरा जीवन भी कदाचित् अपर्याप्त ही सिद्ध होगा। जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये—'**पुराणं शृणुयान्नित्यम्।**' पुराणोमे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण मिलता है। चारों पुरुषार्थोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह भी इस प्रकार बताया गया है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते। नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता। जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

(श्रीमद्भागवत १।२।९-१०)

धर्मका फल है—संसारके बन्धनोंसे मुक्ति, भगवान्‌की प्राप्ति। उससे यदि कुछ सांसारिक सम्पत्ति-उपार्जित कर ली तो यह उसकी कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं है। इसी प्रकार धनका फल है—एकमात्र धर्मका अनुष्ठान, वह न करके यदि कुछ भोग-सामग्रियाँ एकत्र कर लीं तो यह कोई विशेष लाभ नहीं है। भोगकी सामग्रियोंका भी यह फल नहीं है कि उनसे इन्द्रियोंको तृप्त किया जाय, जितने भोगोंसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतने ही भोग हमारे लिये पर्याप्त है। और जीवन-निर्वाहका—जीवित रहनेका—फल यह नहीं है कि अनेक प्रकारके पचड़ोंमे पड़कर इस लोक या परलोकका नश्वर सुख प्राप्त किया जाय। उसका यथार्थ फल तो यह है कि वास्तविक तत्त्वको—भगवत्तत्त्वको जाननेकी शुद्ध इच्छा हो।

यह तत्त्व-जिज्ञासा पुराणोंके पठन-श्रवणसे भलीभाँति जाग्रत् की जा सकती है। इतना ही नहीं, सारे साधनों-का फल है भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना। यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवण-पठनसे सहजमे प्राप्त हो सकती है। पद्मपुराणमे लिखा है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः। श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणः॥

(पद्म० स्वर्ग० ६२।६२)

'इसलिये यदि भगवान्‌को प्रसन्न करनेका मनमें सङ्कल्प हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रीकृष्णके अङ्गभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये।' यही कारण है कि हमारे यहाँ पुराणोंकी अत्यधिक महिमा है।

पुराणोंमें मत्स्यपुराणका अपना एक विशेष स्थान है। इसकी गणना मुख्य पुराणोमे की गयी है। इसमे जीवनकी गुत्थियोंको बहुत ही रोचक एवं हृदयग्राही ढंगसे सुलझाया गया है। साथ ही भगवान्‌के निर्गुण-निराकार,

सगुण-साकार आदि विविध रूपोंमेंसे किसी भी एक रूपको अपना लक्ष्य बनाकर उनकी ओर अग्रसर होनेका सुगम मार्ग भी दिखलाया गया है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार एवं निष्काम कर्मकी महिमाके साथ-साथ यज्ञ, दान, तप, तीर्थ-सेवन, देवपूजन, श्राद्ध-तर्पण आदि शास्त्र-विहित शुभ कर्मोंमें जन-साधारणको प्रवृत्त करनेके लिये उनके लौकिक एवं पारलौकिक फलोंका भी वर्णन हमें यहाँ मिलता है। मत्स्यपुराणमें हमारे जीवनके प्रायः सभी अङ्गों—राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, व्यावहारिक विषयोंपर पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है। इसमें भारतीय राजनीति तथा शासन-प्रणालीका वर्णन, राजतन्त्रका स्वरूप, राजाओंके कर्तव्य और अधिकार, मन्त्रियोंका निर्वाचन, कर-व्यवस्था, न्यायपद्धति आदि विषयोंका भी विवेचन हुआ है। शिल्पकला तथा गृह-निर्माण-कलाका वर्णन भी यहाँ पर्याप्त मात्रामें मिलता है। पाश्चात्त्य लेखक फर्ग्यूसन महोदयके कथनानुसार अशोकके पूर्व भारतमें लकड़ीके ही घर बनते थे। किंतु पुराणोंमें वेदोंके ही समयानुसार पत्थर और ईंटोंके प्रासादों, प्राङ्गणों तथा मन्दिरोंका स्थान-स्थानपर वर्णन मिलता है। मन्दिरोंके वर्णनसे मूर्तिपूजाकी महिमा प्रमाणित होती है। मन्दिरोंकी स्थापना, मूर्तियोंका निर्माण तथा उनकी प्रतिष्ठा-जैसे विषय मत्स्यपुराणमें निपुणतासे वर्णित हैं। भारतके धार्मिक एवं दार्शनिक इतिहासकी दृष्टिसे यह पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह हिंदूधर्मके बहुविध स्वरूपको उपस्थित करता है। मूर्तिपूजा, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, व्रत-उत्सव, देवनार्चन, जनताकी धार्मिक एवं नैतिक मनोवृत्ति-जैसे विषयोंके परिज्ञानके लिये इस पुराणमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

मत्स्यपुराणका पूर्वार्ध पिछले वर्ष पाठकोंकी सेवामें विशेषाङ्कके रूपमें प्रस्तुत किया गया था। उसके साथ ही फरवरी मासका एक अङ्क परिशिष्टाङ्कके रूपमें दिया गया था। इनमें कुल मिलाकर १३२ अध्यायतक ही दिये जा सके; जब कि सम्पूर्ण मत्स्यपुराण २९१ अध्यायतकमें समाप्त होता है। इस वर्ष मत्स्यपुराण (उत्तरार्ध) विशेषाङ्कके रूपमें प्रस्तुत है। इसमे १३३ वें अध्यायसे २२७ वें अध्यायके कुछ अंशतककी सामग्री दी गयी है। बाकी अध्याय परिशिष्टाङ्कके रूपमे ही देने पड़ेंगे, जो आगेके अङ्कोंमे फरवरीसे अप्रैल या मईतक पूर्ण हो सकेंगे। फरवरी मासका परिशिष्टाङ्क विशेषाङ्कके साथ ही भेजा जा रहा है। इसके आगेके सभी परिशिष्टाङ्क पाठकोंकी सुविधाकी दृष्टिसे एक साथ भेजनेका विचार है। विशेषाङ्कके रूपमे मूल अनुवाद सहित सम्पूर्ण मत्स्यपुराणका प्रकाशन 'कल्याण'का तृतीय प्रयास है। इस प्रकारका प्रथम प्रयास नृसिंहपुराणके सानुवादके प्रकाशनका था। इनके अतिरिक्त जो भी पुराण विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित हुए, वे सभी संक्षिप्त पुराणाङ्कके रूपमें ही प्रकाशित हुए हैं। कुछ महानुभावोंका यह आग्रह था कि भगवान् वेदव्यासकी वाणी अनुवादसहित मूलरूपमे भी प्रकाशित की जाय, जिससे पुराणोंकी मूलरूपमें रक्षा भी हो सके, साथ ही जनता-जनार्दनमें इनके प्रचार-प्रसार भी हों। तदनुसार ही प्रयोगरूपमें यह प्रयास किया गया है।

आज मानव-जीवन त्यागमय न रहकर भोगपरायण हो चला है। पाश्चात्त्योंकी-सी विलासिता, उन्हींका-सा रहन-सहन तथा जीवन-यापनका ढंग, वैसा ही खान-पान, वैसी ही वेष-भूषा तथा रीति-नीति आज भारतीय-समाजमें घर कर रही है। इससे उसका जीवन बाह्याडम्बरपूर्ण, बहुत खर्चीला, दम्भभरा तथा केवल अधिकार-लिप्सा और अर्थलिप्सामें ही संलग्न रहनेवाला बन रहा है। भारतीय धर्म तथा संस्कृतिमें भौतिकता या भोगोंका निषेध नहीं है, वरं उनको मानव-जीवनके एक क्षेत्रमें आवश्यकता बतायी गयी है; पर वे होने चाहिये धर्मके द्वारा नियन्त्रित तथा मोक्ष या भगवत्प्रेम-प्राप्तिके साधनरूप'। केवल भोग तो आसुरी

सम्पदाकी वस्तु है और वह मनुष्यका अधःपतन करनेवाली है। आधिभौतिक उन्नति हो, पर वह हो अध्यात्मकी भूमिकापर—आध्यात्मिक लक्ष्यकी पूर्तिके लिये। ऐसा न होनेपर केवल **'कामोपभोगपरायणता'** तो मनुष्यको असुर-राक्षस बनाकर उसके अपने तथा जगत्के अन्यान्य प्राणियोंके लिये घोर संताप, अशान्ति, चिन्ता, पाप तथा दुर्गतिकी प्राप्ति करानेवाली होती है। आजके भौतिकवादी भोगपरायण मानव-जगत्में यही हो रहा है और इसी कारण नये-नये उपद्रव, अशान्ति, पाप तथा दुःख बढ़ रहे है। कीट-पतङ्गकी तरह सहस्रों मानवोंका जीवन एक क्षणमे अनायास एक साथ समाप्त हो जाता है। अपने देशमे इस अनर्थका उत्पादन करनेवाली भोगपरायणताका विस्तार बड़े जोरोंसे हो रहा है। अतः इस समय इसकी बड़ी आवश्यकता है कि मानव पतनके प्रवाहसे निकलकर—पाप-पथसे लौटकर फिर वास्तविक उत्थान, प्रगति तथा पुण्यके पथपर आरूढ़ हो। इस दिशामें यदि उचितरूपसे अध्ययन तथा तदनुसार कार्य किये जायँ तो यह विशेषाङ्क बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

विशेषाङ्कके प्रकाशनमें कुछ कठिनाइयोंका आना तो स्वाभाविक है ही, पर परम कृपालु आशुतोष प्रभुके अनुग्रहसे सब कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। ग्रन्थके अनुवादका कार्य प्रारम्भसे ही पं० श्रीरामाधारजी शुक्लको सौंपा गया था, जिन्होने मनोयोगपूर्वक इसे सम्पन्न करनेका प्रयत्न भी किया; परंतु बीचमे अनायास उनके कुछ समयके लिये अस्वस्थ हो जानेके कारण अनुवाद-कार्य अधूरा रह गया था, जिसे आदरणीय श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी (दर्शन विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) द्वारा सम्पन्न कराया गया। इस कार्यमें उनके द्वारा जो सहयोग हमे प्राप्त हुआ है, उसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। अनुवादकी आवृत्ति, प्रूफ-संशोधन तथा सम्पादनके कार्योंमें सम्पादकीय विभागके मेरे सहयोगी विद्वानोंने तथा अन्य सब लोगोंने मनोयोगपूर्वक सहयोग प्रदान किया है। फिर भी अनुवाद, छपाई, संशोधन आदिमें कुछ भूलें रह सकती है। इन भूलोंके लिये हमारा अपना अज्ञान तथा प्रमाद ही कारण है। अतः हम उनके लिये अपने पाठक-पाठिकाओंसे क्षमाप्रार्थी हैं।

पाठक-पाठिकागण इस पुण्य-पुराणको पढ़कर लाभ उठावें और लोक-परलोकमें सुख-शान्ति और मानव-जीवनके परम और चरम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त करें—यही प्रार्थना है। हमारे धर्मका लक्ष्य है—'अभ्युदय और निःश्रेयस्की सिद्धि'। ये दोनो ही सिद्धियॉ इन पुराणोंमें वर्णित आचारोंके श्रद्धापूर्वक सेवनसे प्राप्त हो सकती हैं।

मत्स्यपुराणकी समस्त कथाओं और उपदेशोंका सार यही है कि हमें आसक्तिका त्याग कर कर्तव्य कर्मोंको करते हुए वैराग्यकी ओर प्रवृत्त होना चाहिये तथा सासारिक बन्धनोसे मुक्त होनेके लिये एकमात्र विश्वस्रष्टा परमात्माकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। यह लक्ष्यप्राप्ति कर्मयोग, ज्ञान और भक्तिद्वारा किस प्रकार हो सकती है, इसकी विशद व्याख्या भी इस पुराणमे वर्णित हुई है। यदि इस विशेषाङ्कके अध्ययनसे हमारे देश-वासियोंको मनुष्यजीवनके वास्तविक ध्येयको हृदयंगम करने तथा उसकी ओर बढ़नेमे कुछ भी सहायता मिली तो यह भगवान्की बड़ी कृपा होगी और हम इसे अपना सौभाग्य मानेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—राधेश्याम खेमका (सम्पादक)

ब्रह्माजीद्वारा भगवान् वामनकी स्तुति

ब्रह्मोवाच

जयाधेश जयाजेय जय सर्वात्मकात्मक। जय जन्मजरापेत जयानन्त जयाच्युत ॥
जयाजित जयामेय जयाव्यक्तस्थिते जय। परमार्थार्थ सर्वज्ञ ज्ञानज्ञेयात्मनिःसृत ॥
जयाशेषजगत्साक्षिन् जगत्कर्त्तर्जगद्गुरो। जगतोऽस्यन्तकृद् देव स्थितिं पालयितुं जय ॥
जय शेष जयाशेष जयाखिलहृदिस्थित। जयादिमध्यान्त जय सर्वज्ञाननिधे जय ॥
मुमुक्षुभिरनिर्देश्य स्वयंदृष्ट जयेश्वर। योगिनां मुक्तिफलद दमादिगुणभूषण ॥
जयातिसूक्ष्म दुर्ज्ञेय जय स्थूल जगन्मय। जय स्थूलातिसूक्ष्म त्वं जयातीन्द्रिय सेन्द्रिय ॥
जय स्वमायायोगस्थ शेषभोगशयाक्षर। जयैकदंष्ट्राप्रान्ताग्रसमुद्धृतवसुंधर ॥
नृकेसरिन् जयारातिवक्षःस्थलविदारण। साम्प्रतं जय विश्वात्मन् जय वामन केशव ॥
निजमायापटच्छन्न जगन्मूर्ते जनार्दन। जयाचिन्त्य जयानेकस्वरूपैकविध प्रभो ॥
वर्धस्व वर्धताशेषविकारप्रकृते हरे। त्वय्येषा जगतामीशे संस्थिता धर्मपद्धतिः ॥
न त्वामहं न चेशानो नेन्द्राद्यास्त्रिदशा हरे। न ज्ञातुमीशा मुनयः सनकाद्या न योगिनः ॥
त्वन्मायापटसंवीतो जगत्यत्र जगत्पते। कस्त्वां वेत्स्यति सर्वेश त्वत्प्रसादं विना नरः ॥
त्वमेवाराधितो येन प्रसादसुमुख प्रभो। स एव केवलो देव वेत्ति त्वां नेतरे जनाः ॥
नन्दीश्वरेश्वरेशान प्रभोवर्धस्व वामन। प्रभवायास्य विश्वस्य विश्वात्मन् पृथुलोचन ॥

(मत्स्यपुराण २४५ । ६७–८०)

ब्रह्माजी बोले—आदिपरमेश्वर ! आपकी जय हो । अजेय ! आपकी जय हो । सर्वात्मस्वरूप ! आपकी जय हो । आप जन्म एवं वृद्धतासे मुक्त, अनन्त तथा कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं, आपकी जय हो, जय हो, जय हो । आप अजित, अमेय और अव्यक्त स्थितिवाले हैं, आपकी जय हो, जय हो, जय हो । आप परमार्थके प्रयोजनस्वरूप, सर्वज्ञ, ज्ञानद्वारा जाननेयोग्य और अपनी महिमासे प्रकट होनेवाले हैं, आपकी जय हो । आप सम्पूर्ण जगत्के साक्षी, जगत्के कर्ता और जगत्के गुरु हैं, आपकी जय हो । देव ! आप जगत्की स्थिति, पालन और अन्त करनेवाले हैं, आपकी जय हो । आप शेषरूप, अशेषरूप तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित रहनेवाले हैं, आपकी जय जो, जय हो, जय हो । आप जगत्के आदि, मध्य और अन्त हैं, आपकी जय हो । सर्वज्ञाननिधे ! आपकी जय हो । आप मोक्षार्थीजनोंद्वारा अज्ञात, स्वयंदृष्ट, ईश्वर, योगियोंको मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले और दम आदि गुणोंसे विभूषित हैं, आपकी जय हो । आप अत्यन्त सूक्ष्म, दुर्ज्ञेय, स्थूल, जगन्मय, इन्द्रियवान् और अतीन्द्रिय हैं, आपकी बारंबार जय हो । आप अपनी योगमायामें स्थित रहनेवाले, शेषनागके फणपर शयन करनेवाले अव्यय विष्णु हैं, आपकी जय हो । आप ही एक दाँतके अग्रभागपर वसुंधराको उठाकर रख लेनेवाले (आदि वाराह) हैं, आपकी जय हो । शत्रुके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले नृसिंह ! आपकी जय हो । विश्वात्मन् ! इस समय आप वामनरूपमें प्रकट हैं, आपकी जय हो । केशव ! आपकी जय हो । जगन्मूर्ति जनार्दन ! आप अपनी मायाके आवरणसे छिपे रहते हैं, आपकी जय हो । प्रभो ! आप अचिन्त्य एवं अनेक स्वरूप धारण करनेवाले और एकरूप हैं, आपकी जय हो । हरे ! आप सम्पूर्ण प्रकृतिके विकारोंसे युक्त हैं, आपकी वृद्धि हो । आप परमेश्वरमें जगत्की यह धर्म-मर्यादा स्थित है । हरे ! न मैं, न शंकर, न इन्द्रादि देवगण, न सनकादि मुनिगण और न योगीजन ही आपको जाननेमें समर्थ हैं । जगदीश्वर सर्वेश ! इस जगत्में आपकी मायारूपी वस्त्रसे लिपटा हुआ कौन मनुष्य आपकी कृपाके बिना आपको जान सकता है । प्रसन्नतासे सुन्दर मुखवाले देव ! जिसने आपकी आराधना की है, केवल वही आपको जानता है, अन्य लोग नहीं । विश्वात्मन् ! आप बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित एवं नन्दीश्वरके स्वामी शंकररूप हैं । सामर्थ्यशाली वामन ! आप इस विश्वकी उन्नतिके लिये वृद्धिको प्राप्त हों ।